History of the Modern World

DHIS402

LOVELY
PROFESSIONAL
UNIVERSITY

आधुनिक विश्व का इतिहास

THE HISTORY OF MODERN WORLD

Copyright © 2013 Laxmi Publications (P) Ltd.
All rights reserved

Produced & Printed by
LAXMI PUBLICATIONS (P) LTD.
113, Golden House, Daryaganj,
New Delhi-110002
for
Lovely Professional University
Phagwara

पाठ्यक्रम

(SYLLABUS)

आधुनिक विश्व का इतिहास

(THE HISTORY OF MODERN WORLD)

उद्देश्य

- छात्रों को आधुनिक विश्व के सिद्धांतों, आवश्यक घटकों तथा आधुनिक राज्य व उसकी राजनीति की अवधारणाओं से परिचित कराना।
- छात्रों में पूँजीवाद, औद्योगिकीकरण और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के प्रति समझ व जागरुकता पैदा करना।
- छात्रों को क्रान्ति, हिंसा व दमन तथा विकास से जुड़ी दुविधाओं से अवगत करवाना।

Objectives

- To make the students aware of the theories of the modern world, requisite factors, and the modern state and the concepts of its politics.
- To inculcate among them an awakening for the capitalism, industrialization and international relations.
- To make them aware of the revoltion, violence and repression, and the problems associated with the development.

Sr. No.	Topics
1	**Theories of the Modern World** : Renaissance and the Idea of the Individual, The Enlightenment, Critiques of Enlightenment
2	**Modern World: Essential Component :** Theories of the State, Capitalist Economy and Its Critique, The Social Structure
3	**The Modern State and Politics:** Bureaucratization, Democratic Politics, Modern State and Welfare, Nationalism
4	**Capitalism and Industrializations:** Commercial Capitalism, Capitalist Industrialization, Socialist Industrialization, Underdevelopment
5	**Expansion of Europe:** Conquest and Appropriation, Migrations and Settlements, Imperialism
6	**Colonization:** Colonialism, Decolonization
7	**International Relations:** Nation-State System, International Rivalries of Twentieth Century, The Unipolar World and Counter-Currents
8	**Revolutions:** Political Revolution: France, Political Revolution: Russia, Knowledge Revolution: Printing and Informatics, Technological Revolution: Communications and Medical
9	**Violence and Repression:** Modern Warfare, Total War, Violence by Non-State Actors
10	**Dilemmas of Development:** Demography, Ecology, Consumerism

विषय-सूची

इकाई (Units)	(CONTENTS)	पृष्ठ संख्या (Page No.)
1.	पुनर्जागरण एवं व्यक्तिगत विचार (Renaissance and the Idea of the Individual)	1
2.	प्रबोधन (The Enlightenment)	21
3.	प्रबोधन के आलोचक (Critiques of Enlightenment)	29
4.	राज्य के सिद्धांत (Theories of State)	42
5.	पूँजीवादी अर्थव्यवस्था एवं उसकी समालोचना (Capitalist Economy and its Critique)	52
6.	सामाजिक संरचना (The Social Structure)	62
7.	नौकरशाहीकरण (Bureaucratization)	72
8.	लोकतांत्रिक राजनीति (Democratic Politics)	85
9.	आधुनिक कल्याणकारी राज्य (Modern State and Welfare)	115
10.	राष्ट्रवाद (Nationalism)	132
11.	वाणिज्यिक पूँजीवाद (Commercial Capitalism)	141
12.	पूँजीवादी औद्योगिकीकरण (Capitalist Industrialization)	158
13.	समाजवादी औद्योगिकीकरण (Socialist Industrialization)	164
14.	अल्प-विकसित (Under-Developed)	170
15.	विजय और विनियोग (Conquest and Appropriation)	182
16.	प्रव्रजन और समझौता (Migrations and Settlements)	191
17.	साम्राज्यवाद (Imperialism)	214
18.	उपनिवेशवाद (Colonialism)	223
19.	गैर-उपनिवेशीय (Decolonization)	233
20.	राष्ट्र-राज्य व्यवस्था (Nation-State System)	246
21.	बीसवीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्वी (International Rivalries of Twentieth Century)	269
22.	एकल ध्रुवीय विश्व : वर्तमान-विरोधी (The Unipolar World : Counter-Currents)	285
23.	राजनीतिक क्रान्ति : फ्रांस (Political Revolution : France)	293
24.	राजनीतिक क्रान्ति : रूस (The Political Revolution : Russia)	314
25.	ज्ञान क्रान्ति : मुद्रण एवं सूचना (Knowledge Revolution: Printing and Information)	328
26.	प्रौद्योगिकीय क्रान्ति : संचार-व्यवस्था एवं चिकित्सा (Technological Revolution: Communication and Medical)	334
27.	आधुनिक युद्ध (Modern Warfare)	346
28.	सर्वांगिक युद्ध (Total War)	361
29.	जनांकिकी (Demography)	376
30.	पर्यावरण-विज्ञान (Ecology)	393

नोट

इकाई 1: पुनर्जागरण एवं व्यक्तिगत विचार (Renaissance and the Idea of the Individual)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

1.1 पुनर्जागरण का अर्थ (Meaning of Renaissance)

1.2 पुनर्जागरण की विशेषताएँ (Characteristics of Renaissance)

1.3 पुनर्जागरण के कारण (Causes of Renaissance)

1.4 इटली में ही पुनर्जागरण की शुरुआत क्यों हुई? (Why Renaissance started from Italy?)

1.5 मानववाद का उदय (Rising of Humanism)

1.6 साहित्य के क्षेत्र में पुनर्जागरण (Renaissance in the Field of Literature)

1.7 कला के क्षेत्र में पुनर्जागरण (Renaissance in the Field of Art)

1.8 विज्ञान के क्षेत्र में पुनर्जागरण (Renaissance in the Field of Science)

1.9 भौगोलिक अनुसंधान (Geographical Research)

1.10 पुनर्जागरण के परिणाम और महत्त्व (Effect and Significance of Renaissance)

1.11 सारांश (Summary)

1.12 शब्दकोश (Keywords)

1.13 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1.14 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- पुनर्जागरण का अर्थ जानने में।
- मानववाद का उदय जानने में।
- पुनर्जागरण के परिणाम और महत्त्व जानने में।

नोट

प्रस्तावना (Introduction)

यूरोप में तेरहवीं सदी के उत्तरार्द्ध से सत्रहवीं सदी के मध्य जो सांस्कृतिक उन्नति हुई और जीवन मूल्य में परिवर्तन आये उसके फलस्वरूप एक नये युग का सूत्रपात हुआ। युग परिवर्तन इतने धीरे-धीरे स्वाभाविक गति से होता है जो भी लोग इस समय में मौजूद होते हैं, उनको इस परिवर्तन का आभास ही नहीं होता। इसका कारण यह है कि इतिहास के युगों के मध्य सदा एक संक्रमण काल होता है, जिसमें पुराने विचार मर रहे होते हैं और नये विचार जन्म ले रहे होते हैं। ये नये विचार ही नये युग के आगमन का सन्देश देते हैं। आधुनिक युग का प्रारम्भ पुनर्जागरण काल से होता है। भौगोलिक खोजों, वैज्ञानिक प्रगति, व्यापारिक एवं औद्योगिक क्रान्ति, धर्म-सुधार आन्दोलन, राष्ट्रीयता की भावना का विकास तथा लोकतन्त्र की स्थापना के निमित्त हुई राजनीतिक क्रान्तियों जैसी घटनाओं ने आधुनिक युग के उदय तथा विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

1.1 पुनर्जागरण का अर्थ (Meaning of Renaissance)

पुनर्जागरण एक फ्रेंच शब्द (रेनेसाँ) है, जिसका शाब्दिक अर्थ है– 'फिर से जागना'। इसे 'नया जन्म' अथवा 'पुनर्जन्म' भी कह सकते हैं। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इसे मानव समाज की बौद्धिक चेतना और तर्कशक्ति का पुनर्जन्म कहना ज्यादा उचित होगा। प्राचीन यूनान और रोमन युग में यूरोप में सांस्कृतिक मूल्यों का उत्कर्ष हुआ था। परन्तु मध्यकाल में यूरोपवासियों पर चर्च तथा सामान्तों का इतना अधिक प्रभाव बढ़ गया था कि लोगों की स्वतंत्र चिन्तन-शक्ति तथा बौद्धिक चेतना ही लुप्त हो गई। लैटिन तथा यूनानी भाषाओं को लगभग भुला दिया गया। शिक्षा का प्रसार रुक गया था। परिणामस्वरूप सम्पूर्ण यूरोप सदियों तक गहन अन्धकार में डूबा रहा। ईश्वर, चर्च और धर्म के प्रति यूरोपवासियों की आस्था चरम बिन्दु पर पहुँच गई थी। धर्मशास्त्रों में जो कुछ सच्चा-झूठा लिखा हुआ था अथवा चर्च के प्रतिनिधि जो कुछ बतलाते थे, उसे पूर्ण सत्य मानना पड़ता था। विरोध करने पर मृत्युदण्ड दिया जाता था। इस प्रकार, लोगों के जीवन पर चर्च का जबरदस्त प्रभाव कायम था। चर्च धर्मग्रन्थों के स्वतन्त्र चिन्तन और बौद्धिक विश्लेषण का विरोधी था। सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में भी चर्च और सामन्त व्यवस्था लोगों को जकड़े हुए थी। किसान लोग सामन्त की स्वीकृति के बिना मेनर (जागीर) छोड़कर नहीं जा सकते थे।

मध्ययुग के अन्त में मानवीय दृष्टिकोणों में आमूल परिवर्तन आया। जब भूमि के द्वारा उदर-पोषण का स्रोत उपलब्ध न रहा तो लोग मेनर से अपना सम्बन्ध तोड़कर कृषि फार्मों पर स्वतंत्र रूप से मजदूरी करने लगे या गाँवों में जाकर अन्य कोई काम करने लगे अथवा कस्बों या गाँवों में अपनी स्वयं की दुकानें खोलने लगे। इन्हीं लोगों से 'मध्यम वर्ग' का उदय हुआ जिसने पुनर्जागरण के उदय में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। अब प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन से पुनः नई आस्था का जन्म हुआ। पीढ़ियों से निर्विरोध चले आ रहे विचारों को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा। चर्च तथा धर्मशास्त्रों की बातों पर शंका की जाने लगी। परिणामस्वरूप कला, साहित्य, विज्ञान, दर्शन एवं जीवन के प्रायः सभी दृष्टिकोणों में महान् परिवर्तन आ गया। इस सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवर्तन को ही इतिहास में 'पुनर्जागरण' की संज्ञा दी गई है।

1.2 पुनर्जागरण की विशेषताएँ (Characteristics of Renaissance)

पुनर्जागरण काल में प्राचीन आदर्शों, मूल्यों और विचारों का तत्कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति से समन्वय स्थापित करके एक नई संस्कृति का विकास किया गया। इस दृष्टि से पुनर्जागरण की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार थीं–

(1) पुनर्जागरण की प्रथम विशेषता धार्मिक आस्था के स्थान पर स्वतंत्र चिन्तन को प्रतिष्ठित करके तर्कशक्ति का विकास करना था। मध्ययुग में व्यक्ति के चिन्तन एवं मनन पर धर्म का कठोर अंकुश लगा हुआ था। पुनर्जागरण ने आलोचना को नई गति एवं विचारधारा को नवीन निडरता प्रदान की।

नोट

(2) दूसरी विशेषता मनुष्य को अन्धविश्वासों, रूढ़ियों तथा चर्च द्वारा आरोपित बन्धनों से छुटकारा दिलाकर उसके व्यक्तित्व का स्वतंत्र रूप से विकास करना था।

(3) तीसरी विशेषता मानववादी विचारधारा थी। मध्ययुग में चर्च ने लोगों को उपदेश दिया था कि इस संसार में जन्म लेना ही घोर पाप है। अत: तपस्या तथा निवृत्ति मार्ग को अपनाकर मनुष्य को इस पाप से मुक्त होने का सतत् प्रयास करना चाहिए। इसके विपरीत पुनर्जागरण में मानव जीवन को सार्थक बनाने की शिक्षा दी।

(4) चौथी विशेषता देशज भाषाओं का विकास थी। अब तक केवल यूनानी और लैटिन भाषाओं में लिखे गये ग्रन्थों को ही महत्त्वपूर्ण समझ जाता था। पुनर्जागरण ने लोगों की बोलचाल की भाषा को गरिमा एवं सम्मान दिया, क्योंकि इन भाषाओं के माध्यम से सामान्य लोग बहुत जल्दी ज्ञानार्जन कर सकते थे। अपने विचारों को सुगमता के साथ अभिव्यक्त कर सकते थे।

(5) चित्रकला के क्षेत्र में पुनर्जागरण की विशेषता थी–यथार्थ का चित्रण, वास्तविक सौन्दर्य का अंकन। इसी प्रकार, विज्ञान के क्षेत्र में पुनर्जागरण की विशेषता थी–निरीक्षण, अन्वेषण, जाँच और परीक्षण।

क्या आप जानते हैं यूरोप के पुनर्जागरण में अरब और मंगोल लोगों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

1.3 पुनर्जागरण के कारण (Causes of Renaissance)

पुनर्जागरण किसी एक व्यक्ति, एक स्थान, एक घटना, एक विचारधारा अथवा आन्दोलन के कारण सम्भव नहीं हो पाया था। इसके उदय एवं विकास में असंख्य व्यक्तियों के सामूहिक ज्ञान एवं विविध देशों की विभिन्न परिस्थितियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। फिर भी, निम्न कारणों को इसके लिए उत्तरदायी माना जा सकता है–

(1) धर्मयुद्ध (क्रूसेड)–ईसाई धर्म के पवित्र तीर्थ-स्थान जेरूसलम के अधिकार को लेकर ईसाइयों और मुसलमानों (सैल्जुक तुर्क) के बीच लड़े गये युद्ध इतिहास में 'धर्मयुद्धों' के नाम से विख्यात हैं। ये युद्ध लगभग दो सदियों तक चलते रहे। इन धर्मयुद्धों के परिणामस्वरूप यूरोपवासी पूर्वी रोमन साम्राज्य (जो इन दिनों में बाइजेन्टाइन साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध था) तथा पूर्वी देशों के सम्पर्क में आये। इस समय में जहाँ यूरोप अज्ञान एवं अन्धकार में डूबा हुआ था, पूर्वी देश ज्ञान के प्रकाश से आलोकित थे। पूर्वी देशों में अरब लोगों ने यूनान तथा भारतीय सभ्यताओं के सम्पर्क से अपनी एक नई समृद्ध सभ्यता का विकास कर लिया था। इस नवीन सभ्यता के सम्पर्क में आने पर यूरोपवासियों ने अनेक वस्तुएं देखीं तथा उन्हें बनाने की पद्धति भी सीखी। इससे पहले वे लोग अरबों से कुतुबनुमा, वस्त्र बनाने की विधि, कागज और छापाखाने की जानकारी प्राप्त कर चुके थे।

धर्मयुद्धों के परिणामस्वरूप यूरोपवासियों को नवीन मार्गों की जानकारी मिली और यूरोप के कई साहसिक लोग पूर्वी देशों की यात्रा के लिए चल पड़े। उनमें से कुछ ने पूर्वी देशों की यात्राओं के दिलचस्प वर्णन लिखे, जिन्हें पढ़कर यूरोपवासियों की कूप-मंडूकता दूर हुई।

मध्ययुग में लोग अपने सर्वोच्च धर्माधिकारी पोप को ईश्वर का प्रतिनिधि मानने लगे थे। परन्तु जब धर्मयुद्धों में पोप की सम्पूर्ण शुभकामनाओं एवं आशीर्वाद के बाद भी ईसाइयों की पराजय हुई तो लाखों लोगों की धार्मिक आस्था डगमगा गई और वे सोचने लगे कि पोप भी हमारी तरह एक साधारण मनुष्य मात्र है।

(2) व्यापारिक समृद्धि–धर्मयुद्धों के समय में अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण इतालवी नगरों ने व्यावसायिक समृद्धि का लाभ उठाया। मुस्लिम बन्दरगाहों पर वेनिसी तथा अन्य इतालवी व्यापारिक बेड़े सुदूरपूर्व से आने वाली विलास-सामग्रियाँ उठाते थे। वेनिस के रास्ते वे सामग्रियाँ अन्ततोगत्वा फ्लैंडर्स और जर्मनी के नगरों तक पहुँच जाती

नोट

थीं। कालान्तर में जर्मनी के नगर भी व्यापारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण बन गये। यूरोप के बढ़ते हुए व्यापार-वाणिज्य से उसकी व्यापारिक समृद्धि बढ़ती गई। इस धन-सम्पदा ने पुनर्जागरण की आर्थिक पृष्ठभूमि तैयार कर दी।

(3) धनी मध्यम वर्ग का उदय–व्यापार-वाणिज्य के विकास ने नगरों में धनी मध्यम वर्ग को जन्म दिया। धनिक वर्ग ने अपने लिये भव्य एवं विशाल भवन बनवाये। समाज में अपनी शान-शौकत तथा प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए इस वर्ग ने मुक्त हाथों से धन खर्च किया। भविष्य में अपनी ख्याति को चिरस्थायी बनाने के लिए विद्वानों और कलाकारों को आश्रय प्रदान किया। इसमें फ्लोरेन्स के मैडीसी परिवार का नाम उल्लेखनीय है।

नगरों के विकास ने एक और दृष्टि से भी सहयोग दिया। चूँकि ये नगर व्यापार-वाणिज्य के केन्द्र बन गये थे, अत: विदेशों से व्यापारी लोग इन नगरों में आते-जाते रहते थे। इन विदेशी व्यापारियों से नगरवासी विचारों का आदान-प्रदान किया करते थे। देश-विदेश की बातों पर भी विचार-विमर्श होता रहता था जिससे नगरवासियों का दृष्टिकोण अधिक व्यापक होता था।

(4) अरब और मंगोल–यूरोप के पुनर्जागरण में अरब और मंगोल लोगों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। अरबों के माध्यम से ही यूरोप को कुतुबनुमा, कागज और छापेखाने की जानकारी मिली थी। यूरोप के बहुत से क्षेत्रों विशेषकर स्पेन, सिसली और सार्डिनिया में अरबों के बस जाने से पूर्व यूरोपवासियों को बहुत-सी बातें सीखने को मिलीं। अरब लोग स्वतन्त्र चिन्तन के समर्थक थे और उन्हें यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिकों–प्लेटो तथा अरस्तु की रचनाओं से विशेष लगाव था। ये दोनों विद्वान् स्वतंत्र विचारक थे और उनकी रचनाओं में धर्म का कोई सम्बन्ध न होता था। अरबों के सम्पर्क से यूरोपवासियों का ध्यान भी प्लेटो तथा अरस्तु की ओर आकर्षित हुआ।

तेरहवीं सदी के मध्य में कुबलाई खाँ ने एक विशाल मंगोल साम्राज्य स्थापित किया और उसने अपने ही तरीके से यूरोप और एशिया को एक-दूसरे से परिचित कराने का प्रयास किया। उसके दरबार में जहाँ पोप के दूत तथा यूरोपीय देशों के व्यापारी एवं दस्तकार रहते थे, वहीं भारत तथा अन्य एशियाई देशों के विद्वान् भी रहते थे।

(5) पांडित्यवाद–मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में यूरोपीय दर्शन के क्षेत्र में एक नई विचारधारा प्रारम्भ हुई जिसे 'विद्वतावाद' (स्कालिस्टिक) अथवा पांडित्यावाद के नाम से पुकारा जाता है। इस पर अरस्तु के तर्कशास्त्र का गहरा प्रभाव था। बाद में इसमें सेन्ट आगस्टाइन के तत्वज्ञान को भी सम्मिलित कर दिया गया। अब इसमें धार्मिक विश्वास और तर्क दोनों सम्मिलित हो गये। पेरिस, ऑक्सफोर्ड, बोलो न आदि विश्वविद्यालयों ने इस विचारधारा को तेजी से आगे बढ़ाया और उसी बात को सही मानने का निर्णय किया जो तर्क की सहायता से सही पाई जा सके। कालान्तर में इस विचारधारा का प्रभाव जाता रहा परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि इसने यूरोपवासियों की चिन्तनशक्ति को विकसित करके उनकी तर्कशक्ति को भी सबल बनाया था।

(6) कागज और छापाखाना–चीन ने प्राचीन युग में ही कागज और छापाखाना का आविष्कार कर लिया था। मध्ययुग में अरबों के माध्यम से यूरोपवासियों को भी इन दोनों की जानकारी मिली। कागज और छापाखाना ने पुनर्जागरण को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया जिसके पूर्व हस्तलिखित (हाथ से लिखी हुई) पुस्तकों का प्रचलन था जो काफी मूल्यवान होती थीं और जिनकी संख्या भी काफी कम होती थी। अत: ज्ञान-विज्ञान के इन साधनों पर कुछ धनी लोगों का ही एकाधिकार था। परन्तु कागज और छापाखाना के कारण अब पुस्तकों की कमी न रही और वे अब काफी सस्ती भी मिलने लगीं। अब सामान्य लोग भी पुस्तकों को पढ़ने में रुचि लेने लगे। इससे जनता में ज्ञान का प्रसार हुआ। विज्ञान और तकनीकी की प्रगति का रास्ता खुल गया। यही कारण है कि इन दोनों को इतना अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है।

(7) कुस्तुनतुनिया पर तुर्कों का अधिकार–1453 ई. में तुर्की लोगों ने पूर्वी रोमन साम्राज्य (बाइजेन्टाइन साम्राज्य) की राजधानी कुस्तुनतुनिया पर अधिकार कर लिया और बाल्कन प्रदेशों में भी प्रवेश करने लगे। कुस्तुनतुनिया गत दो सदियों से यूनानी ज्ञान, कला और कारीगरी का केन्द्र बना हुआ था। परन्तु बर्बर तुर्कों को सांस्कृतिक मूल्यों से विशेष लगाव नहीं था और उन्होंने इस क्षेत्र के सभी लोगों को समान रूप से लूटना-खसोटना शुरू कर दिया। इन

नोट

बर्बर विधियों से बचने के लिए बहुत से यूनानी विद्वान प्राचीन पांडुलिपियों को अपने साथ लेकर वहाँ से भाग निकले और इटली, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में जा बसे। उनके बस जाने से यूरोपीय देशों में यूनानी ग्रन्थों के संग्रह तथा पठन-पाठन की तरफ रुचि बढ़ी। यूनानी साहित्य के अध्ययन-अध्यापन से यूरोपवासियों का दृष्टिकोण व्यापक होता चला गया जिससे पुनर्जागरण में महत्त्वपूर्ण योगदान मिला।

नोट्स मानववाद अथवा मानववादी विचारधारा पुनर्जागरण का एक प्रमुख लक्षण था।

1.4 इटली में ही पुनर्जागरण की शुरुआत क्यों हुई? (Why Renaissance started from Italy?)

यूरोप में पुनर्जागरण का वास्तविक प्रारम्भ इटली में हुआ और वहाँ से फ्रांस, इंग्लैण्ड आदि अन्य देशों में पुनर्जागरण फैला। यहाँ पर हमारे सामने यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि पुनर्जागरण की शुरुआत इटली से ही क्यों हुई? इसके लिए निम्न परिस्थितियाँ उत्तरदायी थीं–

(1) बारहवीं सदी के प्रारम्भ में इटली के बहुत से राज्य पवित्र रोमन साम्राज्य के नियन्त्रण से मुक्त होने लग गये थे और इन राज्यों ने अपनी शासन व्यवस्था, मुद्रा, व्यापार और उद्योग स्थापित कर लिये थे। इसके अलावा उत्तरी यूरोप से आने वाले व्यापारी इटली होकर ही पश्चिमी एशिया जाते थे और एशियाई वस्तुएँ भी इटली होकर ही अन्य यूरोपीय देशों में जाती थीं। 12वीं से लेकर 16वीं सदी तक यूरोप के व्यापार और औद्योगिक विकास का केन्द्र इटली ही था। व्यापार और उद्योग के कारण इटली यूरोप का सर्वाधिक धनाढ्य देश बन गया था। अत: यहाँ के धनिक लोग कला, साहित्य और विज्ञान को संरक्षण देने में समर्थ थे। वे लोग ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे। उन्होंने अपने रहने के लिए विशाल भव्य भवन बनवाये और उन भवनों को चित्रों तथा मूर्तियों से सजाने के लिए कलाकारों को आश्रय दिया।

(2) व्यापार-वाणिज्य के विकास के परिणामस्वरूप इटली के लोग अनेक विदेशी संस्कृति के लोगों के सम्पर्क में आये। नवीन जलमार्गों की खोज के पहले भूमध्य सागर पश्चिम और पूर्वी देशों के व्यापार का केन्द्र था। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण इटली ने भूमध्य सागरीय व्यापार पर अपना एकाधिकार जमा रखा था। इटली के व्यापारी बाल्कन प्रायद्वीप, बाइजेन्टाइन, पश्चिमी एशिया तथा मिस्र की यात्रा करते थे। इन देशों के साथ सम्पर्क होने से उन लोगों की अपने धर्म (ईसाई धर्म) के प्रति रूढ़िगत कट्टरता में काफी कमी आ गई।

(3) इटली के नगरीय जीवन ने भी पुनर्जागरण को आहूत करने में महत्त्वपूर्ण योग प्रदान किया। मध्ययुग के उत्तरार्द्ध में जब अधिकांश यूरोपीय नगर तथाकथित अन्धकार में डूबे हुए थे, तब भी इटली नगर जीवित थे। इतावली नगर विशेषकर फ्लोरेन्स, वेनिस और मिलान समृद्ध तथा उन्नत हो रहे थे। पवित्र रोमन साम्राज्य की पतनोन्मुख स्थिति का लाभ उठाकर इटली के बहुत से नगर उसके प्रभुत्व से स्वतंत्र हो गये थे। अब उनके सामने अपनी स्वतंत्रता को बनाये रखने का सवाल था। इसके अलावा अन्य नगरों के साथ व्यापारिक प्रतिस्पर्धा भी शुरू हो गई थी। ऐसी स्थिति में नगरवासियों को एकजुट होकर संघर्ष और त्याग के लिए सतर्क होना पड़ा जिससे उन लोगों में नया उत्साह उत्पन्न हुआ। अब वे एक-दूसरे के साथ विचारों का आदान-प्रदान करने लगे। एक-दूसरे के साथ सहयोग करने लगे। इससे उनके दृष्टिकोण में बड़ा परिवर्तन आ गया। यही पुनर्जागरण की पृष्ठभूमि थी।

इतावली नगरों में पुनर्जागरण के प्रारम्भ होने के लिए कुछ अन्य कारण भी उत्तरदायी थे। इटली रोमन सभ्यता से जुड़ा हुआ था। वह प्राचीन रोमन साम्राज्य और संस्कृति का प्रतीक था। इतालवी नगरों में प्राचीन रोमन सभ्यता के

नोट

बहुत से स्मारक अब भी लोगों को उसकी स्मृति का आभास कराते थे। पुनर्जागरण को प्राचीन रोमन संस्कृति से प्रेरणा मिलती रही। इस दृष्टि से इतालवी नगर पुनर्जागरण के लिए उपयुक्त क्षेत्र थे। दूसरा कारण यह था कि रोम अब भी सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोपीय ईसाई जगत् का केन्द्र बना हुआ था। रोमन कैथोलिक चर्च का सर्वोच्च धर्माधिकारी 'पोप' रोम में ही रहता था। संयोगवश कुछ पोप भी पुनर्जागरण की भावना से प्रभावित हुए और उन्होंने विख्यात विद्वान् तथा कलाकारों को रोम में बसने के लिए आमन्त्रित किया और उन लोगों से यूनानी ग्रन्थों का लैटिन भाषा में अनुवाद करवाया।

1453 ई. में जब तुर्कों ने कुस्तुनतुनिया पर अधिकार कर लिया तो वहाँ से भागकर आने वाले यूनानी विद्वानों, कलाकारों तथा व्यापारियों ने सर्वप्रथम इतालवी नगरों में ही आश्रय लिया था और उनमें से बहुत से लोग तो इटली के विभिन्न नगरों में स्थायी रूप से बस भी गये थे। उनके माध्यम से यूनानी ज्ञान-विज्ञान का व्यापक अध्ययन एवं मनन इन्हीं नगरों में शुरू हुआ था। इससे लोगों में एक नई चेतना का प्रादुर्भाव हुआ। संक्षेप में, भूमध्य सागरीय व्यापार के द्वारा इटली के नगर काफी समृद्ध हो गये थे। सांस्कृतिक उन्नति के लिए आर्थिक समृद्धि आवश्यक होती है। समृद्ध लोगों ने विद्वानों तथा कलाकारों को आश्रय एवं प्रोत्साहन दिया। राजनीतिक दृष्टि से भी इतालवी नगर उपयुक्त थे। इटली के नगर पवित्र रोमन साम्राज्य के नियन्त्रण से मुक्त हो चुके थे। यूरोप के अन्य नगरों की भाँति इटली के नगरों में सामन्त प्रथा पनप नहीं पाई थी। यूनानियों की धर्मनिरपेक्ष शिक्षा ने चर्च के प्रति कट्टर आस्था को सहिष्णु बना दिया था। इसलिए इन नगरों का स्वतंत्र वातावरण पुनर्जागरण के लिए अनुकूल सिद्ध हुआ।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. पं. नेहरू ने पुनर्जागरण को ..... कहा है।
2. मध्य युग में लोग पोप को ..... मानने लगे थे।

1.5 मानववाद का उदय (Rising of Humanism)

मानववाद अथवा मानववादी विचारधारा पुनर्जागरण का एक प्रमुख लक्षण था। शिक्षा के प्रसार के कारण इस विचारधारा का दर्शन सर्वप्रथम इटली में ही होता है। इस विचारधारा का सीधा-सादा अर्थ है–मानव जीवन में रुचि लेना, मानव जीवन को सुखी, समृद्ध एवं उन्नत बनाकर उसके व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करना। प्राचीन यूनानी साहित्य में जीवन के प्रति एक विशेष रुचि झलकती है क्योंकि यूनानी लोग उस संसार में गहरी रुचि रखते थे, जिसमें वे लोग जी रहे थे। पुनर्जागरण काल में जो विद्वान मानव एवं प्रकृति की रुचियों का विवेचन करके उसमें रुचि लेने लगे थे, उन्हें 'मानववादी' के नाम से पुकारा जाता है। उन्होंने मौजूदा संसार और उसमें रहने वाले लोगों की समस्याओं पर अपनी लेखनी उठाई थी, जबकि मध्ययुग के लेखकों का दृष्टिकोण ठीक इसके विपरीत था। मध्ययुगीन लेखकों के लिए मानव तथा उसके संसार का विशेष स्थान न था। उनके विचारों पर चर्च एवं धर्म का जबरदस्त प्रभाव छाया हुआ था और धर्म की ओट में अन्धविश्वासों तथा रूढ़ियों को प्रश्रय मिल रहा था।

इटली के नगरों की आर्थिक समृद्धि और विदेशों के साथ बढ़ते हुए सम्पर्क ने मानववादी विचारधारा को जन्म दिया। इस विचारधारा के विकास के परिणामस्वरूप मध्ययुगीन वातावरण में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आ गये। अब धार्मिक विषयों के स्थान पर इतिहास, भूगोल, विज्ञान, सौन्दर्यशास्त्र जैसे विषयों के अध्ययन पर जोर दिया जाने लगा और लेखकों ने भी मानव जीवन की विभिन्न समस्याओं–प्रेम, घृणा, विरह, मिलन, दाम्पत्य जीवन, नारी सौन्दर्य आदि पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। मानववादियों का कहना था कि परलोक की चिन्ता छोड़कर इस लोक को ही स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार किसी भी धर्म की उपासना करने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए और राष्ट्र के प्रति निष्ठा का विकास होना चाहिए।

नोट

मानववादी आन्दोलन के प्रारम्भिक समर्थकों में पेट्राक का स्थान सर्वोपरि है। कुछ विद्वानों ने तो उसे 'मानववाद का पिता' कहा है। वह फ्लोरेन्स नगर का निवासी था। लोगों में यूनानी तथा लेटिन साहित्य के प्रति अभिरुचि पैदा करना उसकी सबसे बड़ी देन है। उसने ईसाई मठों के बन्द कमरों में पड़ी प्राचीन पांडुलिपियों की खोज का काम हाथ में लिया क्योंकि मौजूदा पांडुलिपियों में बहुत-सी त्रुटियाँ सम्मिलित हो गई थी। पेट्राक ने पुरानी पांडुलिपियों की सहायता से इन त्रुटियों को सुधारने का काम किया। उसका दूसरा महत्त्वपूर्ण काम था–पुस्तकालयों की स्थापना। इटली के दूसरे मानववादियों ने पेट्राक के अधूरे काम को पूरा करने का अथक प्रयास किया। परिणामस्वरूप मानववादी विचारधारा का यूरोप के अन्य देशों में भी प्रसार हुआ। इंग्लैण्ड में इसका नेतृत्व वहाँ के विश्वविद्यालयों ने किया था।

1.6 साहित्य के क्षेत्र में पुनर्जागरण (Renaissance in the Field of Literature)

पुनर्जागरण के तत्व मुख्य रूप से साहित्य, कला, विज्ञान और राजनीतिक के क्षेत्र में दिखाई देते हैं। वैसे तो इतिहास के हर युग में साहित्य की रचना हुई, परन्तु पुनर्जागरण काल में जिस साहित्य की रचना हुई है, उसका अपना एक विशिष्ट महत्त्व है। इससे पूर्व विद्वान् लोग केवल लेटिन अथवा यूनानी भाषा में ही लिखते आये थे। वे लोग बोलचाल की भाषाओं को असभ्य तथा पिछड़ी हुई मानते थे। इसलिये बोलचाल की भाषाओं में साहित्य का सृजन नहीं हो पाया। परन्तु पुनर्जागरण काल में बोलचाल की भाषाओं को सम्मान एवं गरिमा प्राप्त हुई। पश्चिमी यूरोप में बोलचाल की दो भाषाओं का विकास हुआ। एक थी 'रोमन भाषा' जिसके अन्तर्गत इटालियन, फ्रेंच, स्पेनिश और पुर्तगाली भाषाएँ आती हैं और दूसरी थी 'जर्मनिक भाषा' जिसमें जर्मन, अंग्रेजी, नार्वेजियन, डच और स्वीडिश भाषाएँ सम्मिलित थीं। इन्हीं को हम देशज भाषाएँ भी कहते हैं। पुनर्जागरण काल के लेखक अब दैनिक बोलचाल की इन्हीं भाषाओं में साहित्य का सृजन करने लगे थे। बोलचाल की भाषा में साहित्य की रचना, पुनर्जागरण की मुख्य विशेषता थी। दूसरी विशेषता थी विषय वस्तु की। मध्यकालीन साहित्य का मुख्य विषय धर्म था। अधिकांश रचनाएँ धार्मिक विषयों पर ही आधारित होती थीं और उन रचनाओं पर धर्म की गहरी छाप होती थी। परन्तु अब जो साहित्य लिखा गया उस पर धर्म के स्थान पर मानववादी विचारधारा का प्रभाव था और अधिकांश रचनाओं के लिए सांसरिक जीवन पर आधारित थे।[1] यही बात इस युग के साहित्य को मध्ययुगीन साहित्य से अलग करती है।

इतालवी साहित्य– जिन इतालवी साहित्यकारों की रचनाओं में पुनर्जागरण के तत्व निहित हैं, उनमें दांते, पेट्राक और बुकासियों के नाम अग्रणी हैं। बोलचाल की भाषा में साहित्य की रचना करने वाला पहला व्यक्ति दांते था। इटली के तुस्कानी प्रदेश में बोली जाने वाली 'तुस्कान' भाषा में दांते ने 'द डिवाइन कॉमेडी' नामक महाकाव्य की रचना की। यही तुस्कानी भाषा आगे चलकर इटली की साहित्यिक भाषा बन गई। दांते न केवल समस्त इटालियन कवियों में ही श्रेष्ठ गिना जाता है, अपितु उसकी गणना विश्व के महान् कवियों में की जाती है।

दांते का जन्म 1265 ई. में फ्लोरेन्स नगर के एक समृद्ध परिवार में हुआ था। उसने लगभग सभी विषयों-गणित, नक्षत्र-विज्ञान, धर्म, कला, साहित्य एवं संगीत का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास किया था। युवावस्था में उसने अपने नगर की राजनीति में सक्रिय भाग लिया परन्तु राजनीति के दाँव-पेंचों ने उसे शीघ्र ही राजनीति से बाहर धकेल दिया। वह एक सच्चा देशभक्त था और इटली की राजनीतिक-एकता का स्वप्न देखा करता था। देश की एकता को छिन्न-भिन्न करने वाले सभी तत्वों एवं प्रवृत्तियों का वह कटु आलोचक था। 1302 ई. में उसे फ्लोरेन्स नगर छोड़ना पड़ा और तब से अपना मृत्युपर्यन्त (1321 ई.) वह इधर-उधर भ्रमण करता रहा। यद्यपि दांते एक सामान्य व्यक्ति था, फिर भी वह काफी पढ़ा लिखा था। उसे प्राचीन साहित्य की पर्याप्त जानकारी थी और लेटिन भाषा पर उसका जबरदस्त नियंत्रण था। उसने अपनी गम्भीर रचनाएँ 'द मोनरशिया' और 'द वल्गरी इलोक्योशिया' लेटिन भाषा में ही लिखी थीं। परन्तु अपनी सर्वोपरि रचना 'द डिवाइन कॉमेडी' की रचना उसने अपनी मातृभाषा में की थी। इस दृष्टि

1. ई एक्टन-लेक्चर्स ऑन मॉडर्न हिस्ट्री, पृष्ठ 73.

नोट

से दांते को पुनर्जागरण का संदेशवाहक कहा जाता है, अन्यथा उस पर धर्म का गहरा प्रभाव था और उसके विचार भी मध्ययुगीन थे। 'द डिवाइन कॉमेडी' की विषयवस्तु मृत्यु के बाद आत्मा की स्थिति है आत्मा की नरक और स्वर्ग की काल्पनिक यात्रा का वृत्तान्त है। वास्तव में उसका ध्येय लोगों को नैतिक जीवन से विमुख करना था। अपनी इस रचना के माध्यम से लोगों को मानवता, प्रेम, एकता, प्रकृति-प्रेम और देश-प्रेम का संदेश दिया। इसी प्रकार उसने अपनी रचनाओं के माध्यम से स्वतंत्रता और व्यक्तिवाद की भावना पर जोर दिया।

'मानववाद के पिता' पेट्राक का जन्म 1302 ई. में फ्लोरेन्स से कुछ दूर एरेजोगर में हुआ था। मानववादी आन्दोलन के प्रारम्भिक विचारकों में पेट्राक का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। वह प्रेम गीतों का कवि था। लेटिन और यूनानी साहित्य के प्रति उसकी गहरी अभिरुचि थी और इन भाषाओं के पुराने हस्तलिखित ग्रन्थों को खोज निकालने तथा उनका संग्रह करने में उसने अपनी पूरी शक्ति लगा दी थी। इसके लिए पुस्तकालयों की स्थापना का सिलसिला शुरू किया गया और थोड़े ही समय में यूरोप भर में अनेकों पुस्तकालय स्थापित हो गए। कविता के अतिरिक्त प्राचीन लेखकों–होमर, सिसरो, लोवी आदि की रचनाओं में उसकी गहरी अभिरुचि थी। उसने इन प्राचीन लेखकों के साथ काल्पनिक पत्राचार किया। इन लेखकों के नाम लिखे पत्र उसकी मृत्यु के बाद ही प्रकाशित हुए।

पेट्राक ने अपनी युवावस्था में इटालियन भाषा में रचनाएँ की थीं। परन्तु बाद में उन्होंने लेटिन भाषा में भी रचनाएँ कीं। उसने विख्यात रोमन कवि वर्जिल की शैली का अनुकरण करते हुए 'अफ्रीका' नामक एक लम्बा गीत लिखा जिसमें रोम के प्रसिद्ध सेनानायक सीपीओं के जीवन का अभूतपूर्व विवरण दिया गया है। वैसे पेट्राक अपने 'सोनेटो' (चौदह पंक्तियों का गीत) लिए प्रसिद्ध है और इन्हीं के द्वारा उसने इटालियन साहित्य को यूरोपीय साहित्य में सर्वश्रेष्ठ बना दिया था। उसकी रचनाओं में पुनर्जागरण के अनेक तत्व छिपे पड़े हैं। इस पर भी ईसाई धर्म के प्रति उसकी गहरी आस्था बनी रहीं। वस्तुत: उसने मानववाद और ईसाई धर्म के मध्य समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया था। उसने भौतिकवादियों की आलोचना की, आगस्टीन के विचारों का समर्थन किया, इतिहास-लेखन की नई पद्धति को जन्म दिया और राष्ट्रवाद की प्रेरणा दी। अपने इन्हीं कार्यों के कारण पुनर्जागरण के क्षेत्र में उसका योगदान महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

फ्रांसीसी साहित्य– फ्रांसीसी शासकों ने इतालवी पुनर्जागरण की कृतियों में पर्याप्त रुचि ली और अपने देश अपने देश में उनके अध्ययन की व्यवस्था की। इतालवी साहित्यकारों और चित्रकारों को आमन्त्रित करके उन्हें आदर दिया गया और फ्रांसीसी विद्वानों तथा कलाकारों को इटली जाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। परिणामस्वरूप फ्रांसीसियों के सांसारिक दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आया और मानववादी भावना का विकास हुआ।

पुनर्जागरण की भावना से प्रभावित होकर फ्रांस के कई लेखकों एवं कवियों ने अपनी मातृभाषा फ्रेंच में अपनी रचनाएँ लिखीं। ऐसे लोगों में फ्रायर्सट (1339-1410), विलो (1311-1404), रैवेलास (1494-1553) तथा मौत्ये (1533-1592) की रचनाएँ अधिक विख्यात हैं। फ्रायसर्ट ने फ्रेंच भाषा में काव्य तथा गद्य दोनों ही क्षेत्रों में रचनाएँ कीं। विलो एक लोकप्रिय कवि हुआ। रैंवेलास ने हास्य और व्यंग्य मिश्रित शैली का अनुसरण किया। उसने अधिकार-सम्पन्न लोगों तथा धार्मिक कट्टरता और अन्धविश्वासों की खिल्ली उड़ाई।

अंग्रेजी साहित्य– पुनर्जागरण की लहर ने इंग्लैण्ड को भी प्रभावित किया और रानी एलिजाबेथ का युग (1558-1603) पुनर्जागरण का चरमोत्कर्ष काल माना जाता है। तेरहवीं सदी में इंग्लैण्ड के कुलीन लोग फ्रेंच भाषा में और सामान्य लोग सैक्सन भाषा में बोलते थे। परन्तु शीघ्र ही दोनों भाषाओं का महत्त्व कम होता गया इंग्लैण्ड में जर्मनिक तथा रोमन्स भाषाओं से प्रभावित एक नई भाषा 'अंग्रेजी' का उद्‌य हुआ जिसने आगे चलकर साहित्य भाषा का रूप भी ले लिया। 'विजन ऑफ पियर्स फ्लोमेन' नामक रचना प्रारम्भिक अंग्रेजी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण कृति मानी जाती है। परन्तु अंग्रेजी साहित्य की सबसे महान् विभूति कवि चौसर (1340-1400) था। उसे अंग्रेजी कविता का पिता कहा जाता है। उसने अपने समय की प्रचलित भाषा का प्रयोग किया, जो 'आंग्ल सैक्सन' और

नोट

आधुनिक अंग्रेजी भाषा के बीच की कड़ी थी। चौसर की सुप्रसिद्ध रचना का नाम है–'कैण्टरबरी टेल्स'।[1] इस रचना में कैण्टरबरी की यात्रा पर निकले लोगों के वास्तविक गुण-दोषों का विनोदपूर्ण वर्णन किया गया है। चौसर की रचनाओं में इंग्लैण्ड के मध्यकालीन समाज की छवि के दर्शन होते हैं। चौसर के बाद जॉन कोलेट (1466-1519) और टॉमस मूर (1478-1535) ने पुनर्जागरण की धारा को आगे बढ़ाया। जॉन कोलेट लंदन में स्थित 'सेंट पाल केथेड्रल' का डीन था। संत पाल के विचारों पर उनके आलोचनात्मक व्याख्यानों ने उसे काफी विख्यात बना दिया था। उसके व्याख्यान मानवाद में धार्मिक विश्वास के उत्तम उदाहरण माने जाते हैं। उसने अपने निजी खर्च से सेंट पाल में एक ग्रामर स्कूल स्थापित किया जिसमें नई शिक्षा की व्यवस्था की गई। टॉमस मूर अपने युग का एक अत्यधिक व्यस्त व्यक्ति था। वह एक विख्यात वकील तथा राजनैतिक नेता था और इंग्लैण्ड का लार्ड चांसलर भी रहा। उसने 'यूटोपिया' नामक ग्रन्थ की रचना की। यूटोपिया का अर्थ है 'कल्पित लोक'। यद्यपि मूर ने इस ग्रन्थ की रचना लेटिन भाषा में की थी परन्तु शीघ्र ही अंग्रेजी भाषा में इसका अनुवाद कर दिया गया। इस ग्रन्थ में मूर ने अपने युग के समाज और सरकार की हास्यपूर्ण आलोचना की। उसने प्लेटो का अनुकरण करते हुए अपनी रचना में एक आदर्श नगर का विवरण प्रस्तुत किया और अपने युग के इंग्लैण्ड के नगरों में पाई जाने वाली कुरूपता तथा क्रूरता का चित्र भी प्रस्तुत किया। मूर ईसाई धर्म का कट्टर अनुयायी थी। उसे चर्च में गहरी आस्था थी और इसके लिए उसे अपने प्राण भी खोने पड़े।[2]

पुनर्जागरण काल का एक महान् कवि एडमण्ड स्पेन्सर (1552-1599) हुआ। उसने 'फेयरी क्वीन' की रचना की। इस रचना में उसके नायक राजकुमार आर्थर की अच्छाइयों का वर्णन किया गया है। इस पुस्तक के सन्दर्भ में ओरगन तथा ऐपल ने लिखा है। "हर अच्छाई, पवित्रता, संयम, सुचिता, मित्रता, न्याय और विनय, एक नाइट के रूप में उपस्थित होती हैं और अपने विरोधी दुर्गुण से लड़ती हैं।" दूसरी चीजों के साथ-साथ इस रचना में मध्य युग की खेल-प्रतियोगिता और तमाशों का भी वर्णन है।

गद्य लेखन के क्षेत्र में फ्रांसिस बेकन (1561-1626) हुआ। वह एक वकील, दरबारी, अधिकारी और लेखक था। वह अपने युग का सर्वोत्तम निबन्धकार था और अपने असंख्य निबन्धों के माध्यम से उसने विज्ञान पर आधारित एक नई दार्शनिक विचारधारा को स्थापित करने का प्रयास किया। उसका कहना था कि लोगों को मध्यकालीन दर्शन का अध्ययन कम कर देना चाहिए और उसके स्थान पर प्रकृति तथा भौतिक विज्ञानों के अध्ययन पर जोर देना चाहिए। अपने विचारों का प्रतिपादन उसने अपनी रचना 'द एडवान्समेन्ट ऑफ लर्निंग' (शिक्षा की उन्नति) में किया। अपनी एक अन्य रचना 'द न्यू अटलाण्टिस' के माध्यम से बेकन ने इस बात पर विशेष जोर दिया कि स्कूलों और विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में विज्ञान के अध्ययन को सम्मिलित किया जाना चाहिए।

नाटक के क्षेत्र में क्रिस्टोफर मार्लो (1564-1593) ने भी काफी नाम कमाया। उसके नाटकों में 'टेम्बूर लेन', 'द ज्यू ऑफ माल्टा' तथा 'डॉक्टर फोस्टर' बहुत प्रसिद्ध हुए। उसने मंच पर भाव-प्रदर्शन की एक नई शैली का विकास किया। परन्तु इस क्षेत्र में पुनर्जागरण को इंग्लैण्ड की सबसे बड़ी देन विलियम शेक्सपियर (1564-1661) है। संयोगवश इस महान् साहित्यकार के व्यक्तिगत जीवन की प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। वह अपने युग का प्रसिद्ध नाटककार और कवि माना जाता है और आज संसार की अधिकांश भाषाओं में उसकी रचनाओं का अध्ययन किया जाता है। मानव जीवन के हर पहलू और स्थिति का अंकन करने में शेक्सपियर को जितनी सफलता मिली, उतनी शायद ही किसी को मिल पाई है। शेक्सपियर ने समाज के प्रत्येक वर्ग-साधु-संत, सेवक-सेविका, राजा-सम्राट, सैनिक-सेनापति, वैश्या-गायिका, भिखमंगा-निर्धन, हत्यारा-परमार्थी इत्यादि का अत्याधिक स्वाभाविक चित्रण किया है। उनके चित्रण में मानवी करुणा और मानवी स्वभाव का शानदार उल्लेख मिलता है। हर श्रेणी के नाटक में उसने पूर्ण दक्षता का परिचय दिया जैसे कि दु:खान्त नाटकों में 'ओथेलियो', 'मैकबेथ' और 'हेमलेट'; ऐतिहासिक नाटकों

1. कीथ फेलिंग-ए हिस्ट्री ऑफ इंग्लैण्ड, पृष्ठ 252-53.

2. वही, पृष्ठ 339-40.

नोट

में 'हेनरी चतुर्थ' और 'रिचार्ड द्वितीय', 'सुखान्त नाटकों' में 'द मेरी वाईवस ऑफ विण्डसर', 'ट्वेल्थ नाइट' और 'द टेम्पेस्ट'। शेक्सपियर के साहित्य में इस जीवन का चित्रण है। पारलौकिक जीवन में उसकी रुचि नहीं थी। 'मेकबेथ' में यह बताया है कि एक बुरे से बुरे व्यक्ति में भी कुछ न कुछ 'मानवीय करुणा का दूध' विद्यमान रहता है। 'रोमियो-जूलियट' के माध्यम से उसने प्रेमी लोगों की समस्याओं को उठाने का प्रयास किया तो 'जूलियस सीजर' के माध्यम से राजनीति में लिप्त अधिनायकों एवं दिशाहीन राजनीतिज्ञों का चित्र प्रस्तुत किया है। यह सत्य है कि शेक्सपियर के नाटक सभी युगों के लिये हैं; फिर भी शेक्सपियर अपने ही युग का व्यक्ति था। उसमें अपने देश के प्रति अगाध भक्ति और रानी के प्रति पर्याप्त सम्मान की भावना विद्यमान थी। वह कैथोलिक युग के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी नये विचारों और आदर्शों तथा पुनर्जागरण की बात करता है और आने वाली पीढ़ियों के लिए महत्त्वपूर्ण संदेश छोड़ जाता है। वह निश्चय ही एक महान् विभूति था।

अन्य भाषाओं का साहित्य– स्पेन, पुर्तगाल, जर्मनी, हालैण्ड आदि देशों पर भी पुनर्जागरण का गहरा प्रभाव पड़ा और इन देशों की भाषाओं में भी महत्त्वपूर्ण मानववादी ग्रन्थों की रचना हुई। स्पेन में सर्वान्तेस (सरवेन्टीज) (1547-1616) हुआ, जिसने 'डानक्विक्सोट' नामक पुस्तक की रचना की। उसे स्पेन का एक महान् लेखक माना जाता है। इस रचना का नायक डानक्विक्सोट अपने आपको नाइट समझता है और दुनिया को सुधारने की कोशिश में दुर्गति का शिकार बनता है। दूसरे शब्दों में, इस रचना में अलभ्य स्वप्नों के लिए कशमकश करती हुई मानव जाति का चित्रण है। आपने ये उक्तियाँ अवश्य पढ़ी या सुनी होंगी–'हर कुत्ते का अपना दिन आता है।' 'खीर का प्रमाण खाने में है।' और 'एक से पंखों के पक्षी एक साथ रहते हैं।' ये सभी सर्वान्तस की लेखनी से ही निकली हैं। स्पेनिश भाषा के अन्य विख्यात साहित्यकार हुए–लोपेडी वेगे और केल्डेन। लोपेडी वेगे ने स्पेन के रंगमंच को जन्म दिया। केल्डेन एक विख्यात कवि था।

पुर्तगाल में केमोन्स ने प्रसिद्धि प्राप्त की। उसने वास्को-डी-गामा की खोज पर 'लूसियाड' नामक महाकाव्य की रचना की। पुर्तगाली साहित्य में लूसियाड का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जर्मनी में रूडोल्फ एग्री कोला और कोनार्ड केल्टस ने मानववादी विचारधारा को आगे बढ़ाया। एग्री कोला हेडलबर्ग विश्वविद्यालय में प्राचीन साहित्य एवं संस्कृति का प्रोफेसर था। पुनर्जागरण की नई दिशा एवं विचारों की पर्याप्त जानकारी प्राप्त करने के लिये वह इटली भी गया। जर्मनी के अन्य विद्वानों में रियूकलीन और मेलांकथन उल्लेखनीय हैं।

हालैण्ड देश रोटरडम नगर का निवासी टेसिडेरियस इरैस्मस (1466-1536) अपने युग का सर्वप्रथम मानववादी था। प्रारम्भ में उसने मठ का जीवन पसन्द किया, परन्तु धीरे-धीरे उसे पांडित्यवाद से अरुचि उत्पन्न हो गई और पुनर्जागरण की नई विचारधारा की ओर अग्रसर हुआ। अपनी विद्वता तथा शालीनता के कारण वह इतना अधिक लोकप्रिय हो गया कि यूरोप के सभी विश्वविद्यालय और राजवंशीय लोग उसे अपने यहाँ आमन्त्रित करने में गर्व का अनुभव करने लगे थे। इरैस्मस ने इंग्लैण्ड में बहुत से वर्ष व्यतीत किये और इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान् जॉन कोलेट और टॉमस मूर उसके घनिष्ठ मित्र बन गये थे। इरैस्मस ने अपनी रचनाओं के माध्यम से अन्धविश्वासों, असहिष्णुता और अज्ञान के विरुद्ध सतत् संघर्ष किया। उसने विश्वशान्ति का समर्थन किया और निरंकुश अत्याचारी शासकों की आलोचना की। अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'मूर्खत्व की प्रशंसा' (इन दी प्रेज ऑफ फाली) में उसने व्यंग्यपूर्ण शैली में धर्माधिकारियों का उपहास उड़ाया। इरैस्मस ने बाइबिल का शुद्ध अनुवाद भी किया।

राजनीतिक साहित्य– 12वीं और 13वीं सदियों में यूरोपीय चिन्तकों को एक अजीब समस्या का सामना करना पड़ा। वह समस्या थी–पोप की सत्ता सर्वोपरि है अथवा राजा की। पोप को राज्य में हस्तक्षेप का अधिकार है अथवा नहीं। मध्ययुग का राजनीतिक चिन्तन इसी बिन्दु के आसपास परिक्रमा करता रहा। इसका मूल कारण यह था कि अब राजा शक्तिशाली बनते जा रहे थे और पुनर्जागरण की भावना ने भी शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना पर जोर दिया था। व्यापार और उद्योग से समृद्ध बने मध्यम वर्ग ने भी राजाओं की शक्ति को सबल बनाने में पूरा-पूरा सहयोग दिया। ऐसी स्थिति में राजाओं ने पोप की सत्ता से पूर्ण स्वतन्त्र होने का प्रयास किया। राजाओं की इस नई स्थिति का चित्रण उस युग के लेखकों की कृतियों में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

नोट

राजनीतिक चिन्तकों में दांते का नाम सबसे पहले लिया जाता है। उसने अपनी पुस्तक 'द मोनार्क्या' में यह प्रतिपादित किया कि अधार्मिक विषयों में राजा की शक्ति को ही सर्वोच्च होना चाहिए। मर्सिग्लियो ने 'डिफेन्डर ऑफ पीस' की रचना की और उसने पोप के राजनीतिक हस्तक्षेप को अनुचित बताया। उसके अनुसार शान्ति स्थापना के लिए राजा ही उत्तरदायी होना चाहिए। उसने यह प्रमाणित करने का प्रयास भी किया कि पोप इस प्रकार के राजनीतिक अधिकार कभी नहीं रहे थे। राजाओं की विकसित शक्ति का चित्रण उस युग के सुप्रसिद्ध लेखक मैक्यावली की कृतियों में स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। वह अपने युग का एक बड़ा राजनीतिक चिन्तक भी था। वह फ्लोरेन्स का निवासी था और कई राजाओं का सचिव रह चुका था। अत: उसे राजनीति के सूक्ष्म दाँवपेंचों का अध्ययन एवं मनन करने के पर्याप्त अवसर मिले। उसकी कृतियों में 'द प्रिन्स', 'डिस्कोसिर्स ऑफ लिपि' तथा 'हिस्ट्री ऑफ फ्लोरेन्स' अधिक प्रसिद्ध हैं। 'द प्रिन्स' की रचना में उसे लगभग पन्द्रह वर्ष का समय लगा और इसका प्रकाशन उसकी मृत्यु के पाँच वर्ष बाद हुआ। मैक्यावली का मानना था कि धर्म राज्यों की शक्ति को निर्बल बनाता है। अत: राजनीति को धर्म के प्रभाव से दूर रखना चाहिए। क्योंकि धर्म के अनुसार झूठ बोलना, धोखा देना आदि बातें अनैतिक हैं जबकि राज्य की सुरक्षा एवं उसके हित में ये बातें अति आवश्यक हैं। उसके अनुसार आवश्यकता पड़ने पर राजाओं को अपना वायदा तोड़ने में जरा भी नहीं हिचकिचना चाहिए।

इंग्लैण्ड का हॉब्स भी एक प्रसिद्ध राजनीतिक चिन्तक तथा दार्शनिक था। उसने भौतिकवादी दर्शन का प्रतिपादन किया। उसके सृष्टि सर्वथा भौतिक पदार्थ है और इसे वह गत्यात्मक भूत मात्र मानता था। उसके अनुसार इसमें किसी अलौकिक सत्ता या आध्यात्मिकता का स्थान नहीं है। हॉब्स ने राजनीति विज्ञान पर भी 'लेवियाथाँ' नामक एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी थी। इस पुस्तक में उसने राज्य की उत्पत्ति का नया सिद्धान्त प्रतिपादित किया। हॉब्स राज्य की सार्वभौमिकता तथा राज्य के सर्वोपरि नियन्त्रण तथा अधिकार में विश्वास रखता था।[1]

उपर्युक्त लेखकों की रचनाओं का सामूहिक प्रभाव यह पड़ा कि लोगों में प्राचीन यूनानी तथा लेटिन ग्रन्थों का अध्ययन करना तथा मानववादी विचारधारा को समझने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई। इसके साथ ही साथ लोगों का लौकिक-पारलौकिक जीवन से सम्बन्धित मध्ययुगीन मान्यताओं से विश्वास उठने लगा। पुनर्जागरण के कारण अब लोगों ने तर्क के आधार पर नई मान्यताओं को प्रतिष्ठित किया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

3. पुनर्जागरण की लहर ने ..... को भी प्रभावित किया।
   (क) इंग्लैण्ड (ख) फ्रांस (ग) पुर्तगाल (घ) अमेरिका
4. फ्रेंच गद्य को प्रभावशाली बनाने में सर्वाधिक योगदान धर्म-सुधारक ..... का है।
   (क) विलो (ख) जॉन काल्विन (ग) फ्रायर्सट (घ) रैवेलास
5. यूटोपिया का अर्थ है .....।
   (क) स्वप्न लोक (ख) भूलोक (ग) गंधर्व लोक (घ) कल्पित लोक

1.7 कला के क्षेत्र में पुनर्जागरण (Renaissance in the field of Art)

मध्ययुगीन में कला का अपना स्वतन्त्र एवं पृथक् स्थान नहीं था। वह धर्म के साथ जुड़ी हुई थी। पुनर्जागरण काल में कलाकार धार्मिक बन्धनों से मुक्त होकर यथार्थवादी बन गया। अब धर्म का स्थान सांसरिकता ने, वैराग्य का स्थान

1. कीथ फेलिंग-ए हिस्ट्री ऑफ इंग्लैण्ड, पृष्ठ 529.

नोट

सौन्दर्य ने और विरक्ति का स्थान आसक्ति ने ले लिया। यदि पुनर्जागरण को मध्ययुगीन परम्परा तथा नियमों के विरुद्ध एक विद्रोह मान लिया जाए तो इस विद्रोह की सर्वाधिक झलक कला के क्षेत्र में देखने को मिलती है।

स्थापत्य कला– मध्ययुग में स्थापत्य कला के क्षेत्र में गोथिक शैली का बोलबाला रहा था और यूरोप में इसी शैली के आधार पर अधिकांश भवनों का निर्माण हुआ था। परन्तु पुनर्जागरण काल में प्राचीन स्थापत्य कला के प्रति आकर्षण बढ़ा और रोमन, यूनानी तथा अरबी स्थापत्य शैलियों का समन्वय करके एक नई शैली विकसित की गई। इस नवीन शैली की मुख्य विशेषताएँ थीं–शृंगार, सज्जा, डिजाइन, विशालता और भव्यता। इस शैली में सजावट और आकृति को विशेष महत्त्व दिया जाता था। इसके अलावा गोल मेहराबों का उपयोग किया जाने लगा। डोरिक, आयोनिक और कोरिन्थियन शैली के शीर्ष भागों का उपयोग चर्च तथा सार्वजनिक भवनों में किया जाने लगा।

इटली के धनी परिवारों ने इस नवीन शैली को संरक्षण प्रदान किया। ऐसे लोगों में फ्लोरेन्स के लोरेन्जो द मेडिसी का नाम विशेष विख्यात है। उसने एक विशाल तथा सुन्दर उद्यान बनवाया तथा उच्च कोटि की मूर्तियों का संग्रह किया। उसका महल मूल्यवान सजावटी वस्तुओं से भरा पड़ा था। लोरेन्ज ने फ्लोरेन्स के बहुत से कलाकारों को भी संरक्षण दिया। फ्लोरेन्स में नवीन स्थापत्य शैली के विकास में फिलियों ब्रूनेलेस्की का योगदान भी महत्त्वपूर्ण था। उसने इटली तथा आसपास के क्षेत्रों में घूम-घूम कर प्राचीन रोमन मन्दिरों, नाट्यशालाओं तथा अन्य भवनों के अवशेषों का अध्ययन किया और रोमन स्थापत्य शैली की विशेषताओं के आधार पर नवीन शैली का विकास किया। उसकी नई शैली में मेहराबों तथा स्तम्भों की प्रधानता थी। अब नुकीले मेहराबों के स्थान पर गोल मेहराबों का निर्माण किया जाने लगा। भवनों की ऊँचाई को भी कम किया जाने लगा और गुम्बदों को प्रधानता दी जाने लगी। फ्लोरेन्स के गिरजाघर का विशाल गुम्बद ब्रूनेलेस्की की ही कृति है।

पुनर्जागरण काल की स्थापत्य कला का सर्वोत्कृष्ट नमूना रोम में निर्मित सन्त पीटर का नया गिरजा है। ईसाई जगत् के इस पवित्र स्मारक को नये सिरे से क्लासिकल शैली में निर्मित कराने सम्बन्धी पोप के निर्णय में पुनर्जागरण की मानववादी तथा क्लासिकल भावना के प्रभाव की गहराई को पहचाना जा सकता है। गिरजे का विशाल एवं भव्य गुम्बद पुनर्जागरण कालीन कला की अमूल्य देन है।[1]

इटली के बाद इस नवीन शैली का प्रसार पश्चिमी यूरोप के देशों में हुआ। फ्रांस के सम्राट फ्रांसिस प्रथम ने इसे प्रश्रय दिया और इटली के बहुत से कलावन्तों को अपने यहाँ आमन्त्रित किया। इन लोगों की निगरानी में निर्मित पेरिस का 'लूब्रे का प्रसाद' अत्यधिक भव्य है। यहाँ सफेद तथा नीले रंग का टेराकोट कार्य देखते ही बनता है। जर्मनी स्पेन में भी इस शैली का प्रसार हुआ। स्पेन के 'इस्कोरियल प्रसाद' पर इस शैली का जबरदस्त प्रभाव देखने को मिलता है। पश्चिमी यूरोप के कलावन्तों में डच वास्तुकार क्लाउस शलूटर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ब्रगेण्डी के ड्यूक ने उसे संरक्षण प्रदान किया था। उसकी देखरेख में निर्मित 'बेल ऑफ मोसेज' तथा ब्रगेण्डी के शासकों की समाधियों पर उत्कीर्ण मूर्तिकला की दृष्टि से अनुपम मानी जाती हैं। इंग्लैण्ड में इस शैली का प्रसार थोड़ा बाद में हुआ। 1669 ई. में इनिगोजन्स ने 'ह्वाइट हॉल' में जिस दावतघर का निर्माण करवाया वह एक आश्चर्यजनक कृति मानी जाती है। इस प्रकार, लन्दन में क्रिस्टोफर की देखरेख में निर्मित 'सन्तपाल का गिरजा' भी एक भव्य कृति है।

चित्रकला–पुनर्जागरण काल की चित्रकला के क्षेत्र में भी इटली के चित्रकारों ने अन्य देशों के चित्रकारों का मार्ग प्रशस्त किया। यह सही है कि पुनर्जागरण काल के प्रारम्भिक दिनों में चित्रकला के विषय सामान्यत: धार्मिक ही रहे, परन्तु अब उनका निर्माण केवल चर्च के लिए ही नहीं किया जाता था। अब मेडोना, सन्तों, बाइबिल के दृश्यों के साथ-साथ प्राचीन गाथाओं के नायक-नायिकाओं और यूनानी तथा रोमन साहित्य के सुन्दर दृश्यों के चित्र भी बनने लगे। जो थोड़े बहुत धार्मिक चित्र बनाये जाते थे वे भी गिरजाघरों के लिए न बनाये जाकर व्यक्तिगत भवनों की सजावट के लिये बनाये जाते थे। चौदहवीं सदी के शुरू तक अधिकांश चित्रकार बाइजेन्टाइन कला से चिपके रहे थे। बाइजेन्टाइन कला में आकृति, डिजाइन और अंकन में परम्परावादी शैली पर अधिक ध्यान दिया जाता था और

1. ऐपल, एम.-ए हिस्ट्री ऑफ वर्ल्ड, पृष्ठ 232.

नोट

चित्रों के विषय पूर्णत: धार्मिक होते थे। चित्रकला का क्षेत्र भी सीमित था और उसका उपयोग गिरजाघरों की दीवारों को सजाने के लिये किया जाता था।

सर्वप्रथम जियटो (1336 ई. के आसपास) ने परम्परागत बाइजेन्टाइन शैली के स्थान पर प्राकृतिक क्षेत्र को अपनाकर चित्रकला को नई दिशा प्रदान की। यद्यपि जियटो में प्राकृतिक चित्र बनाने की कला में थोड़ी कमी रह गई थी और उसके चित्रों की पृष्ठभूमि भी प्रभावशाली नहीं बन पाई थी; फिर भी उनके चित्रों ने उस युग के अनेक चित्रकार को प्रेरणा दी। पुनर्जागरण काल के चित्रकारों ने मानव शरीर का सूक्ष्म अध्ययन किया और यह जानकारी हासिल की कि मनुष्य के शरीर की पेशियाँ और जोड़ कैसे उभरते हैं। इसलिये वे अपनी कलाकृतियों को अधिक सजीव बना सके। इसके अलावा उन्होंने धार्मिक दृश्यों के स्थान पर सामान्य दृश्यों तथा यथार्थवादी पृष्ठभूमि पर जोर दिया था।

इस नई शैली के चित्रकारों में फ्रान्जेलिको (1378–1445) और मेशेशियो (1401–1429) के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। फ्रान्जेलिको एक प्रतिभासम्पन्न संन्यासी था और यद्यपि उसकी शैली पर जियटो का प्रभाव था; फिर भी, उसने तकनीकी दृष्टि से इस शैली का विकास किया था। उसने छोटे गिरजों और मठों के लिए बहुत से भित्ति-चित्र बनाये। पोप ने भी उसे वेटिकन के कुछ भागों को सजाने के लिए रोम आमंत्रित किया था। यद्यपि उसने धार्मिक विषयवस्तु को लेकर ही चित्र बनाये थे, परन्तु उसकी गहन आत्मिक खूबियों के कारण वे बेजोड़ माने जाते हैं। मेशेशियो एक यथार्थवादी कलाकार था। उसने अपने चित्रों में आकृति तथा रंगों के सम्बन्ध में सदा ही प्रकृति का अनुसरण किया था। पन्द्रहवीं सदी के अन्त में बोटीशैली (1444–1510) हुआ जिसने विविध विषय-वस्तु को लेकर बेजोड़ चित्र बनाये। उपर्युक्त सभी चित्रकार फ्लोरेन्स नगर के थे। अत: उनकी चित्रकला शैली को 'फ्लोरेन्स शैली' कहा जाने लगा। इटली में 'फ्लोरेन्स शैली' के अलावा अन्य शैलियों का भी विकास हुआ था, जिनमें 'उम्ब्रीयन शैली' और 'वेनेशियन शैली' मुख्य थीं। उम्ब्रीयन शैली का प्रमुख चित्रकार पीएट्रो पेरूजिनो (1446–1524) सर्वाधिक विख्यात है। वेनेशियन शैली में टिटियन (1477–1576) काफी लोकप्रिय रहा।

लियोनार्दो द विंसी (1452–1519)– लियोनार्दो बहुमुखी प्रतिभा का व्यक्ति था। वह गणित, शरीर-रचना शास्त्र, भूगर्भ शास्त्र का अच्छा ज्ञाता था। वह एक कुशल इन्जीनियर, वैज्ञानिक, आविष्कारक और सैनिक भी था। परन्तु एक चित्रकार के रूप में उसे सर्वाधिक लोकप्रियता तथा सम्मान मिला था। उसने अपने जीवनकाल में असंख्य चित्र बनाये होंगे परन्तु उनमें केवल 17 चित्र प्राप्त हैं जिनमें उसके अधूरे चित्र भी सम्मिलित हैं। उसके चित्रों को देखकर यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि एक चित्रकार भी बाह्य दृश्य या मानव आकृति का कैमरे की भाँति कितना सही अंकन कर सकता है। उसके उपलब्ध चित्रों में 'मोनालिसा' और 'लास्ट सपर' (अंतिम भोजन) सर्वश्रेष्ठ चित्र हैं और उन्हें विश्व के सर्वश्रेष्ठ चित्रों की पंक्ति में रखा जा सकता है। लियोनार्दो की शैली विविध रूप से विकसित थी और उसमें मौलिकता का पुट था। 'मोनालिसा' का चित्र अत्यन्त सुन्दर और मोहक भावों से युक्त है। मोनालिसा की मुस्कान इतनी मधुर है कि वह मानवी न लगकर दैवी लगती है। 'लास्ट सपर' सेन्ट मेरिया के गिरजाघर (मिलान) की भित्ति पर चित्रित है। शान्त वातावरण में महात्मा ईसा को अपने अनुयायियों के साथ एक मेज पर आखिरी भोजन के समय बैठा दिखाया गया है। इस अवसर पर ईसा ने अपने अनुयायियों से कहा था कि यहाँ पर उपस्थित लोगों में से ही एक मुझे धोखा देगा। ईसा ने चेहरे पर शान्ति का भाव है परन्तु उनके शिष्य हतप्रभ दिखाई देते हैं और एक व्यक्ति के चेहरे पर अपराध की झलक दिखाई देती हैं। उसकी चित्रकला की मुख्य विशेषताएँ हैं– प्रकाश और छाया, रंगों का चयन तथा शारीरिक अंगों का सबल प्रदर्शन। अपने चित्रों को अधिक आकर्षक बनाने के लिए उसने रंगों और चित्रण की विधियों के समन्वय में प्रयोग किये। उसने मानव शरीर का बहुत ही मनोयोग के साथ अध्ययन किया और मानव को विभिन्न मुद्राओं में चित्रित किया। वस्तुत: वह पुनर्जागरण काल का एक महान् कलाकार था।[1]

1. रिदहर जोसेफ-वर्ल्ड हिस्ट्री एट ए ग्लान्स, पृष्ठ 234.

नोट

माइकल एंजेलो (1475-1564)– इटली का दूसरा बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न चित्रकार माइकल एंजेलो था। एंजेलो अपने आपको मूलत: एक मूर्तिकार मानता था। परन्तु वह एक श्रेष्ठ चित्रकार भी था। उसकी कृतियों में जहाँ एक तरफ मध्यकालीन धार्मिक विश्वास की झलक देखने को मिलती है, तो साथ में पुनर्जागरण की सभी विशेषताएँ भी परिलक्षित होती हैं। अपनी मूर्तियों तथा चित्रों को यथार्थवादी रूप देने के लिए उसने भी मानव शरीर विज्ञान का गहन अध्ययन किया था। उसका मानना था कि मनुष्य सृष्टि की सुन्दर अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम नमूना है। उन दिनों रोम में पोप, पीटर का दूसरा कैथेड्रल बनवा रहा था। उसके निमन्त्रण पर एंजेलो रोम गया। इस केथेड्रल के गुम्बद की रूपरेखा एंजेलो ने ही बनाई थी और विद्वान् लोग इस गुम्बद को दुनिया की आश्चर्यजनक कृतियों में मानते हैं। एंजेलो ने अनेक मूर्तियों का निर्माण किया जिसमें दो बहुत प्रसिद्ध हैं। एक पेंता जिसका निर्माण रोम में किया गया था और उसे सेन्ट पीटर गिरजाघर के मुख्य द्वार पर रखा गया। उसकी दूसरी कृति है डेविड की विशाल मूर्ति जिसे फ्लोरेन्स के नागरिकों ने बनवाई थी।[1] चित्रकला के क्षेत्र में भी उसका योगदान काफी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। पोप ने उसे वेटिकन के सिस्टाइन गिरजाघर की छत को चित्रित करने का आदेश दिया। इस काम को उसने साढ़े चार साल की अत्यधिक परिश्रमयुक्त साधना के साथ पूरा किया। इसके द्वारा छत पर बनाये गये चित्र आज भी लोगों के लिए विस्मय की वस्तु बने हुए हैं। इन चित्रों में उसके सर्वश्रेष्ठ चित्र का नाम है– 'लास्ट जजमेन्ट'। यह चित्र घोर निराशा और वेदना की अभिव्यक्ति करता है। अनेक आकृतियों वाले इस विशाल चित्र में जीवन के अनेक रूप अपने मूल स्वरूप में विद्यमान हैं। महात्मा ईसा के अतिरिक्त अन्य सभी व्यक्ति भय और आतंक से ग्रस्त हैं और लगता है कि उन्हें भगवान से भी दया की कोई आशा नहीं दिखाई पड़ती।

राफेल (1483-1520)– राफेल एक कवि, चित्रकार और वास्तुकार था। उसकी कृतियों पर लियोनार्दो और एंजेलो-दोनों का प्रभाव पड़ा था। उसके चित्रों में दोनों की शैलियों का समन्वय दिखाई देता है। राफेल ने सन्त पीटर के कैथेड्रल की रूपरेखा तैयार की थी। परन्तु उसकी ख्याति उसके चित्रों के कारण है। 17 वर्ष की आयु से ही वह अच्छे चित्र बनाने लग गया था। उसके चित्रों की मुख्य विशेषताएँ थीं– आकृतियों में सहजता, सजीवता तथा चेहरों पर माधुर्य और कोमलता। उसके चित्रों में मातृत्व, वात्सल्य और भक्ति की प्रधानता देखने को मिलती है। उसने मोडेना और शिशु के पचास से भी अधिक महान् चित्र और अनेक पोट्रेट तैयार किये थे। 'कोलोना मोडेना' (सिस्टाइन मोडेना) नामक चित्र उसकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है।

अन्य कलाकार– पोट्रेट बनाने वाले चित्रकारों में इटली का तिशन (1477-1576) सर्वोपरि था। वह वेनिस का निवासी था और वृद्धावस्था में भी कला की सेवा करता रहा। उसने पोपों, पादरियों, सामन्तों और सम्पन्न परिवारों की महिलाओं के चेहरे (पोट्रेट) बनाये थे। वह हल्के रंगों का प्रयोग अधिक करता था और इस क्षेत्र में उसकी तुलना में अन्य कोई कलाकार नहीं पहुँचा पाया। 15वीं सदी के चित्रकार अपने रंगों को घोलने के लिए अण्डे की सफेदी का प्रयोग किया करते थे। बेल्जियम के वान तथा आइक बन्धुओं हर्बर्ट और जॉन ने रंगों को मिश्रिण करने की एक नवीन पद्धति ढूँढ़कर चित्रकला को एक नया मोड़ दे दिया। वे रंगों के मिश्रण के लिए तेल का प्रयोग करने लगे जिससे चित्रों का रूप और अधिक निखर गया। फ्रांस हाल्स (1505-1556) की गणना भी विश्व के महान् पोट्रेट चित्रकारों में की जाती है। उसने सामन्तों के बहुत से पोट्रेट बनाये थे। वह अपने चित्रों के विषय की खोज में प्राय: शराबखानों तथा अन्धेरी सड़कों का चक्कर लगाया करता था। रेम्ब्रा वान रिन (1606-1669) बेल्जियम का एक अन्य प्रमुख चित्रकार था। वह रेखाचित्रों के लिए अधिक विख्यात है। रंगों, प्रकाश तथा छाया के अंकन में उसे विशेष निपुणता प्राप्त थी। स्पेन में टीगोवेलेस कैथ (1599-1660) हुआ जिसने राजवंशी लोगों के अनेक आकर्षक पोट्रेट बनाये। जर्मनी के ड्योरार तथा हैन्स दाल्वीन ने लकड़ी तथा ताँबे के पत्तरों पर आश्चर्यजनक चित्रों को अंकित किया।

मूर्तिकला– पुनर्जागरण ने मूर्ति-निर्माण कला को भी प्रभावित किया। मूर्ति निर्माण के क्षेत्र में फ्लोरेन्स के मूर्तिकार दोनोतेलो (1386-1466) ने एक नई शैली का विकास किया। उसने प्राचीन यूनानी तथा रोमन मूर्तियों का गहन अध्ययन किया था। उसके द्वारा निर्मित मूर्तियों का विषय मानव जीवन था जबकि मध्यकाल के मूर्तिकारों ने धर्म

1. रिदहर जोसेफ-वर्ल्ड हिस्ट्री एट ए ग्लान्स, पृष्ठ 235.

नोट

को आधार माना था। वे लोग गिरजाघरों की सजावट के लिए साधु-सन्तों की मूर्तियाँ बनाते थे। परन्तु पुनर्जागरण से प्रभावित मूर्तिकारों ने अब मानव-जीवन से ही विषय का चयन किया। अब खेलते हुए बच्चों की अथवा सामान्य मनुष्य के चेहरों की भी मूर्तियाँ बनाई जाने लगीं। दोनोतेलो द्वारा निर्मित वेनिस की सन्त मार्क की आदमकद मूर्ति उस काल की सर्वश्रेष्ठ कला-कृति मानी जाती है। उस युग का दूसरा प्रमुख मूर्तिकार लोरेंजो गिवर्टी (1378-1455) था। फ्लोरेन्स की बैप्टिस्ट्री (धर्म संस्कार बपतिस्मा का भवन) के दो दरवाजों पर जो अद्‌भुत नक्काशी का काम किया हुआ है, वह गिवर्टी की ही देन है। दरवाजे काँसे के हैं और उनके दस लम्बे फलकों पर नक्काशी की गई है। इस काम को पूरा करने में गिवर्टी को बीस वर्ष का समय लगा था। एंजेलो की मूर्तिकला की चर्चा पिछले पृष्ठों में की जा चुकी है।

वास्तुशिल्प के क्षेत्र में पुनर्जागरण ने 'वास्तुविद' (आर्किटेक्ट) के रूप में एक नये कलावन्त को जन्म दिया।[1] उसका काम था–भवनों का डिजाइन तैयार करना। वास्तविक निर्माण कार्य अन्य कारीगर लोग करते थे। इससे लोगों को अपने मनपसन्द आवास बनाने की सुविधा मिल गई। उस युग के भवनों में यूनानी स्तम्भों, अलंकारयुक्त शिलापट्टों, रोमन मेहराबों और गुम्बदों का अधिक प्रयोग किया जाता था।

संगीत– पुनर्जागरण काल में संगीत के क्षेत्र में भी पर्याप्त प्रगति हुई। मध्यकालीन वाद्ययन्त्रों के स्थान पर नये-नये वाद्ययन्त्रों का निर्माण किया गया जिनमें हार्प्सीकार्ड और वायलिन मुख्य थे। हार्प्सीकार्ड पियानो का पूर्व रूप था। इस युग की दूसरी विशेषता स्वर संगीत की प्रधानता थी। पुनर्जागरण के प्रभाव से धार्मिक तथा लौकिक संगीत का भेदभाव समाप्त हो गया। संगीत के क्षेत्र में पुनर्जागरण ने एक गायक की ध्वनियों द्वारा सम्पादित की जाने वाली दो प्रकार की लम्बी नाटकीय रचनाओं को जन्म दिया। एक नाम था 'औरतोरिये' (परिकीर्तन) और दूसरे का नाम था 'ओपेरा'। औरतोरिये का विषय विशुद्ध धार्मिक होता था और उसमें कार्य व्यापार वेशभूषा तथा दृश्यावली का प्रयोग नहीं किया जाता था। ओपेरा आमतौर पर सांसरिक विषयों से सम्बन्धित होता था। इसमें अभिनय, वेशभूषा, गायन, दृश्यवाली आदि का उपयोग किया जाता था। सबसे पहला ओपेरा 1594 ई. में प्रस्तुत किया गया था। इस युग में छोटे-छोटे प्रेम गीतों का प्रचार बढ़ा। 'मास्किनदस' इस युग का प्रसिद्ध संगीतज्ञ हुआ। गिओवानी पालेस्ट्राइना भी एक सिद्ध संगीत-रचयिता हुआ। पालेस्ट्राइना ने सामूहिक संगीत पर एक पुस्तक भी लिखी जो 1554 ई. में प्रकाशित हुई थी। यह पुस्तक इतनी अच्छी एवं उपयोगी सिद्ध हुई कि पश्चिमी संसार में आज भी इसका महत्त्व बना है।

1.8 विज्ञान के क्षेत्र में पुनर्जागरण (Renaissance in the Field of Science)

मध्यकालीन यूरोप के जीवन पर धर्म और चर्च का जबरदस्त प्रभाव था और मानव-जीवन का मुख्य ध्येय परलोक को सुधारना था। इस दृष्टिकोण को अपनाकर चलने वाले लोगों की इस संसार की खोजबीन में अधिक रुचि नहीं थी। वे लोग पीढ़ियों से चले आ रहे ज्ञान-विज्ञान को ही प्रामाणिक मानते रहे। समय के साथ-साथ परम्परागत ज्ञान में अन्धविश्वासों तथा जादू-टोने का इतना अधिक मिश्रण हो गया था कि वास्तविक सत्य को पहचाना भी दुष्कर हो गया। इस प्रकार की स्थिति के लिए बहुत-कुछ अंशों में चर्च तथा धर्माधिकारी उत्तरदायी थे। धर्माधिकारी स्वतन्त्र चिन्तन के विरोधी थे और विज्ञान को एक प्रकार की नास्तिकता समझते थे। परन्तु पुनर्जागरण की भावना ने किसी भी सिद्धान्त को स्वीकार करने के पहले उसके विषय में निरीक्षण, अन्वेषण, जाँच और परीक्षण करने पर जोर दिया।

मध्ययुग में विज्ञान की प्रगति क्यों नहीं हो पाई? इसके उत्तर में रोजन बेकन ने चार कारणों का उल्लेख किया है–(1) अज्ञानी लोगों की भीड़ का निश्चित मत, (2) प्रथा, जो नये विचारों के प्रति शंकालु होती है, (3) यह दिखाने की आदत कि हम सब कुछ जानते हैं और (4) दुर्बल तथा अयोग्य प्रमाण पर निर्भर रहना।[2] ऐसी स्थिति में वैज्ञानिक बनना तथा नई खोजें करना वास्तव में जीवट का काम था। ऐसे ही लोगों में रोजन बेकन था। उसने एक

1. प्लैट व ड्रमंड-विश्व का इतिहास, पृष्ठ 259.

2. प्लैट व ड्रमंड-विश्व का इतिहास, पृष्ठ 261.

नोट

साधारण सूक्ष्मदर्शी का निर्माण किया और धातुओं तथा रसायनों पर भी प्रयोग किये। उसने ऐसे बहुत से सिद्धातों का प्रतिपादन किया जिन पर चलते हुए बाद के वैज्ञानिकों ने शानदार सफलताएँ हासिल कीं।

दूसरी शताब्दी में मिस्त्र के यूनानी खगोलशास्त्री टॉलेमी ने यह मत प्रतिपादित किया था कि हमारी पृथ्वी ब्रह्माण्ड के बीचोंबीच स्थित है और यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का स्थिर केन्द्र है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र तथा अन्य ग्रह पृथ्वी की परिक्रमा करते हैं। चूँकि ईसाई चर्च ने भी इस सिद्धान्त को सत्य मान लिया था, अत: शताब्दियों तक यही पढ़ाया जाता रहा और लोगों ने भी इस पर विश्वास कर लिया था। परन्तु जब पोलैण्ड के वैज्ञानिक कोपर्निकस (1473-1543) ने टॉलेमी के सिद्धात को असत्य सिद्ध कर दिखाया तो लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ और वे सहसा इस पर विश्वास न कर सके। कोपर्निकस ने बताया कि सूर्य हमारे इस ग्रहमण्डल की नाभि है और पृथ्वी सहित अन्य बहुत से ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं। कुछ लोगों ने इन विचारों की यह कहकर खिल्ली उड़ाई कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है तो फिर हम लोग लुढ़क क्यों नहीं जाते? पोप तथा चर्च ने कोपर्निकस के इस नए सिद्धान्त को बाइबिल और चर्च की शिक्षा के विरुद्ध मानकर इसे अस्वीकार कर दिया। पोप के आदेशों से कोपर्निकस को अपने नये विचारों का प्रचार बन्द करना पड़ा। परन्तु इटली के एक अन्य वैज्ञानिक जाइडिनी ब्रूनों (1548-1600) ने कोपर्निकस के विचार का प्रचार किया और पोप के आदेश से उसे प्राण दण्ड की सजा मिली। धार्मिक अत्याचार के उपरान्त भी वैज्ञानिक प्रगति का मार्ग अवरुद्ध नहीं हुआ। बाद में जर्मनी के वैज्ञानिक कैप्लर ने भी कोपर्निकस के विचारों की पुष्टि की। कैप्लर ने गति सम्बन्धी सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया जो आगे चलकर आधुनिक गणित का आधारस्तम्भ बने।

इटली के प्रसिद्ध वैज्ञानिक गैलीलियो (1564-1642) ने एक दूरदर्शी (दूरबीन) बनाया जिसकी सहायता से पचास मील दूर के जहाजों को भी स्पष्टता के साथ देखा जा सकता था। इस दूरदर्शी यन्त्र से ज्योतिष-शास्त्र के अध्ययन में बहुत सहायता मिली। गैलीलियो अपने युग का अत्यधिक लोकप्रिय वक्ता और लेखक भी था। उसने कोपर्निकस के सिद्धान्त को सही बताया। गैलीलियो ने यह सिद्ध किया कि गिरते हुए पिंडों की गति उनके भार पर नहीं अपितु दूरी पर निर्भर करती है, जहाँ से वे गिरते हैं। अर्थात् भारी और हल्की चीजें एक ही गति से धरती पर गिरती हैं। इससे अरस्तु का सिद्धान्त गलत प्रमाणित हो गया। गैलीलियो ने पेंडुलम के जिन नियमों की खोज की थी उनके आधार पर आगे चलकर दीवार घड़ियों का बनाना सम्भव हो गया।

उपर्युक्त वैज्ञानिकों के सिद्धातों और नियमों पर काम करते हुए बाद के वैज्ञानिकों ने प्रकृति को समझने की दिशा में महत्त्वपूर्ण काम किया और यह काम 17वीं तथा 18वीं सदियों में भी जारी रहा। इस काल के वैज्ञानिकों में सर आइजक न्यूटन (1642-1727) का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। एक सामान्य परिवार में पैदा होने वाले न्यूटन ने गणित में इतनी अधिक कुशलता तथा योग्यता का परिचय दिया कि 27 वर्ष की अल्पायु में ही उसे कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में गणित का प्रोफेसर नियुक्त कर दिया गया। भौतिक विज्ञान की सभी शाखाओं पर न्यूटन के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। न्यूटन का सर्वाधिक महान् और अत्यधिक प्रभावशाली योगदान 'गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त' है। जब वह युवा था तभी उसने यह जानकारी प्राप्त कर ली थी कि वह शक्ति जिसके द्वारा चन्द्रमा पृथ्वी का चक्कर लगाता है और अन्य ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं, वही है जो छोड़ी गई वस्तुओं को नीचे गिराती है। परन्तु उसने अपनी यह जानकारी संसार को काफी देर बाद सन् 1687 ई. में अपनी पुस्तक 'प्रिंसीपिआ' (प्राकृतिक दर्शन के गणित सम्बन्धी सिद्धान्त) के माध्यम से दी। गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त ने सम्पूर्ण वैज्ञानिक जगत् में हलचल मचा दी। न्यूटन ने सिद्ध किया कि प्रत्येक वस्तु पृथ्वी की आकर्षण शक्ति के कारण ऊपर से पृथ्वी की ओर खिंचती है। पृथ्वी अन्य सभी ग्रहों को भी अपनी ओर खींचे रहती है। इस सिद्धान्त का लोगों पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। न्यूटन ने प्रकाश-किरणों के स्पेक्ट्रम के छह रंगों में बँट जाने का भी अध्ययन किया था।

नोट

रसायन शास्त्र के क्षेत्र में 1630 ई. में वॉल हेलमाट के कार्बन डाइऑक्साइड नामक गैस को बनाने की खोज की। उसने यह भी सिद्ध किया कि गैस और हवा अलग-अलग हैं। कोडेस नामक वैज्ञानिक ने गन्धक और अलकोहल को मिलाकर ईथर का निर्माण किया। राबर्ट ब्राइस नामक विद्वान् ने गैसों के विस्तार क्षेत्र में नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये। चिकित्सा शास्त्र के क्षेत्र में भी काफी प्रगति हुई। 1543 ई. में नीदरलैण्ड के पेसेडियम ने 'मानव शरीर की बनावट' नामक पुस्तक लिखी। उसने यह बताया कि मानव शरीर की बनावट को समझने के लिए केवल पुस्तकीय ज्ञान पर्याप्त नहीं होता। इसके लिए शल्य-चिकित्सा का व्यावहारिक ज्ञान अधिक लाभदायक एवं महत्त्वपूर्ण होता है। इंग्लैण्ड के विलियम हार्वे (1579-1657) ने पता लगाया कि हृदय रक्त को धमनियों के द्वारा सारे शरीर में फेंकता है और शिराओं द्वारा वापस लेता रहता है। इस खोज के कारण ही रक्त चढ़ाने तथा हृदय और ग्रन्थियों के रोगों की चिकित्सा सम्भव हो पायी। इस प्रकार, इन वैज्ञानिकों ने अपनी खोजों के द्वारा मानव समाज के सामने एक नया मार्ग प्रशस्त किया।

टास्क गैलीलियो ने पेंडुलम के जिन नियमों की खोज की थी उनके आधार पर आगे चलकर क्या बनाना संभव हुआ?

1.9 भौगोलिक अनुसंधान (Geographical Research)

पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप यूरोपवासियों में भूगोल के प्रति अभिरुचि का विकास हुआ जिससे भौगोलिक अनुसंधान को प्रोत्साहन मिला। कुछ ईसाई धर्म प्रचारक नये-नये देशों में जाकर महात्मा ईसा की शिक्षाओं का प्रसार करने की जिज्ञासा रखते थे तो व्यापारिक वर्ग पूर्वी देशों का सीधा जलमार्ग खोज निकालने को उत्सुक था। क्योंकि यूरोप में नये नगरों के उदय के परिणामस्वरूप पूर्वी देशों से आने वाले मसालों, रेशम, रत्नों औषधियों, सुगन्धित पदार्थों आदि की माँग बढ़ती जा रही थी और स्थल मार्ग पर तुर्कों का नियन्त्रण हो जाने के कारण जो थोड़ा-बहुत व्यापार भूमध्य सागर के मार्ग से होता था उस पर इटली के नगरों ने एकाधिकार जमा रखा था।

पुनर्जागरण काल में उपलब्ध नई जानकारी से नौका-नायकों की स्थिति भी अब काफी सुधर गई थी। अब वे लोग पहले की भाँति यह विश्वास नहीं करते थे कि समुद्री दानव जहाजों को निगल जायेंगे अथवा यह कि उष्ण कटिबन्धी समुद्रों का पानी उबलता रहता है। अब उन्हें इस बात का भय नहीं रह गया था कि यदि वे समुद्र में बहुत दूर निकल गये तो पृथ्वी के किनारे से गिर जायेंगे। अब उनका साहस बढ़ा हुआ था। उनके जहाज भी बड़े-बड़े थे। मानचित्रों में भी काफी सुधार हो गया था। नौ-चालन उपकरण भी सुधर गये और उनके पास अच्छा दिशा सूचक यन्त्र (कुतुबनुमा) और एक सुधरा हुआ ऐस्ट्रोलेब (वह उपकरण जिससे अक्षांश जाना जाता है) था।

मार्कोपोलो– तेरहवीं सदी के अन्त में मंगोल नेता कुबलाई खाँ ने चीन में एक विशाल साम्राज्य स्थापित कर लिया था। इटली के बहुत से व्यापारी चीन के साथ व्यापार करने के इच्छुक थे। वेनिस के मार्कोपोलो को इसी उद्देश्य से चीन जाना पड़ा। कुबलाई खाँ के दरबार में उसे उचित सम्मान मिला और वह कई वर्ष तक उसके पास रहा। वेनिस लौटने पर उसने यात्रा-वृत्तान्त को प्रकाशित करवाया जिसमें पूर्वी देशों के महान् वैभव का विस्तृत वर्णन किया। पूर्वी देशों में मिलने वाले कपास, चीनी, मसालों, सोना और रत्न आदि के विवरण ने यूरोपवासियों को आकर्षित किया और वे पूर्वी देशों के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित करने की बात सोचने लगे। इससे भौगोलिक अनुसन्धान को प्रोत्साहन मिला।

पुर्तगालियों की खोजें– अपनी अनुकूल भौगोलिक स्थिति के कारण पुर्तगाल जैसे छोटे से देश ने भौगोलिक अनुसन्धान में अन्य देशों का मार्ग प्रशस्त किया। वहाँ के राजकुमार हेनरी ने प्रारम्भिक खोज-यात्राओं को प्रोत्साहित

नोट

किया। उसने समुद्री नाविकों के लिए विद्यालय कायम किया और फिर प्रशिक्षित नाविकों को अटलांटिक महासागर में अजोर्स तथा मडोरा द्वीपों की ओर अफ्रीका के पश्चिमी समुद्री तट की खोज करने को भेजा था।[1] उन लोगों ने अफ्रीका का गाइना तट खोज निकाला। इसके बाद बार्थो लोम्यूडाइज ने केप कोलोनी (उत्तमांशा अंतरीप) तक का चक्कर लगाकर भारत पहुँचने का मार्ग खोजने का अथक प्रयास किया परन्तु उसे सफलता नहीं मिली।

भौगोलिक अनुसंधान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सफलता प्राप्त करने का श्रेय वास्को-डी-गामा को है। 1497 ई. में वह अपने साथियों सहित पूर्वी द्वीप समूह की खोज के लिए निकल पड़ा। केप-कोलोनी पहुँचने के बाद वह जंजीबार की तरफ मुड़ गया। संयोगवश यहाँ उसे एक अरब नाविक की सहायता मिल गई जो उसे 1498 ई. में सीधा भारत के विख्यात बन्दरगाह कालीकट तक ले आया।[2] वास्को-डी-गामा एक विजेता की भाँति घर लौटा। वह अपने अभियान खर्च से आठ गुनी अधिक कीमत का सामान लेकर लौटा था।

स्पेनियों की खोजें– पूर्वी देशों के लिए जलमार्ग खोजने में स्पेन के नाविकों ने भी गहरी रुचि ली और अनजाने में ही नई दुनिया (अमेरिका) को खोज निकाला। इसका श्रेय क्रिस्टोफर कोलम्बस को है। वह जिनोआ का नागरिक था। कुछ दिनों तक पुर्तगाल में रहा और बाद में स्पेन चला गया। मार्कोपोलो के यात्रा-वृत्तान्त से प्रेरित होकर उसने भारत का जलमार्ग खोजने का निश्चय किया। उसका विचार था कि भारत पहुँचने के लिए पश्चिम की ओर से समुद्र के आर-पार यात्रा करनी चाहिए। अन्त में, स्पेन की रानी आइसबेला ने उसे आर्थिक सहयोग देकर नया मार्ग खोजने की प्रेरणा दी। 3 अगस्त, 1492 ई. के दिन कोलम्बस ने अपनी महान् यात्रा के लिए प्रस्थान किया। कैनेरी द्वीप पहुँचने के बाद वह पश्चिम दिशा की ओर बढ़ता ही चला गया। पाँच सप्ताह तक धरती के दर्शन नहीं हुए। 6 अक्टूबर को दूर क्षितिज पर पक्षी उड़ते दिखाई दिये और पाँच दिन बाद कोलम्बस ने अमेरिका की धरती पर पहला कदम 'बहामा समूह' पर रखा। इसके बाद कुछ दिन उसने क्यूबा, हेट्टी आदि स्थानों की खोज में बिताये। कोलम्बस अपनी इस खोज की महानता को नहीं जान पाया क्योंकि उसने सोचा था कि वह एशिया के दक्षिण-पूर्व में स्थित भारत (इंडीज) द्वीप समूह में पहुँच गया है। इसलिए उसने वहाँ के मूल निवासियों को 'इंडियन' कहा। स्पेन लौटने पर उसका शानदार स्वागत किया गया। 1493 ई. में कोलम्बस पुनः अमेरिका गया। परन्तु वह अपनी इस महान् खोज से स्पेन का राजकोष न भर सका। दुःख और क्षोभ में 1506 ई. में इस महान् नाविक की मृत्यु हो गई। उसकी खोज का महत्त्व उसकी मृत्यु के बाद ही स्पष्ट हो पाया और तभी लोगों को शेष आधी दुनिया की जानकारी मिल पाई।[3]

कोलम्बस की साहसिक यात्रा से अन्य लोगों को भी प्रेरणा मिली और वे नई दुनिया के अन्वेषण में लग गये। अमेरिगो वेस्पूची नामक एक इटालियन ने कोलम्बस के काम को आगे बढ़ाया और यह सिद्ध किया कि नई दुनिया एशिया का भाग न होकर एक नई दुनिया है। इसी कारण से बाद के लोगों ने इस नई दुनिया का नाम उसके सम्मान में 'अमेरिका' रखा। उसके बाद वास्को नूनेज डि बालबोआ नामक साहसिक व्यक्ति सोने की खोज में नई दुनिया के जंगलों और पहाड़ों में भटकता रहा और पनामा के आसपास घूमकर दक्षिण सागर का पता लगाया। बाद के अन्वेषकों में पोथे दा लेआन ने फ्लोरिडा की खोज की। हरनांडो कोर्टेज ने मैक्सिको का पता लगाया।

अंग्रेजों और फ्रांसीसियों की खोजें– प्रारम्भ में अंग्रेज नाविक नई दुनिया से स्पेन आने वाले जहाजों को लूटकर धन अर्जित करने में लगे रहे। इन साहसिक अंग्रेज नाविकों को लोग 'समुद्री कुत्ते' (Sea dogs) के नाम से पुकारने लगे थे। इनमें ड्रेक, हाकिन्स, रेले आदि मुख्य थे। इन लोगों के पूर्व इंग्लैण्ड के शासन हेनरी सप्तम ने जॉन कैबट को चीन और भारत का जलमार्ग खोजने के लिए भेजा था। परन्तु कैबट पूर्वी-उत्तरी अमेरिका के तट पर जा पहुँचा और उसने इस द्वीप को 'न्यू फाउंडलैंड' नाम प्रदान किया।[4] बाद में, कुछ अन्य अंग्रेजी नाविकों ने भी उत्तर-पश्चिमी जलमार्ग खोजने का प्रयास किया परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली।

---

1. रिदहर जोसेफ-वर्ल्ड हिस्ट्री एट ए ग्लान्स, पृष्ठ 225.
2. डाडवेल-दी कैम्ब्रिज ऑफ इण्डिया, खण्ड 5.
3. रिदहर जोसेफ-वर्ल्ड हिस्ट्री एट ए ग्लान्स, पृष्ठ 228
4. कीथ फेलिंग-ए हिस्ट्री ऑफ इंग्लैण्ड, पृष्ठ 322.

नोट

फ्रांसीसी भी एशिया के लिए पश्चिमी मार्ग खोजने में रुचि रखते थे। 1524 ई. में फ्रांस के राजा ने वेरात्सानी नामक नाविक को इस काम पर भेजा। परन्तु वह भी नई दुनिया पहुँच गया और उसने नार्थ कैरोलिना से लेकर न्यूयार्क तक के क्षेत्र की खोजबीन की।

भौगोलिक अनुसंधान का काम धीरे-धीरे राष्ट्रीय गौरव का प्रतीक बन गया। इसके महत्त्वपूर्ण परिणाम निकले। एक तरफ तो व्यापार-वाणिज्य का विकास हुआ और दूसरी तरफ उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का प्रसार हुआ जिसके कारण यूरोपीय देशों में आपसी झगड़ों का सूत्रपात हुआ। अब बड़ी नौसेना रखना आवश्यक हो गया। दूसरा परिणाम विज्ञान का विकास है। वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ भौगोलिक अनुसंधान का क्षेत्र भी बढ़ता चला गया। तीसरा; अमेरिका, अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया में यूरोपवासियों ने वहाँ के मूल निवासियों पर बर्बर अत्याचार किये। उन लोगों की मूल सभ्यताओं को नष्ट कर दिया और ईसाई धर्म तथा पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रसार किया गया। वस्तुतः भौगोलिक अनुसंधानों ने यूरोप को दो सदियों तक सम्पूर्ण विश्व का भाग्य-विद्यता बना दिया।

1.10 पुनर्जागरण के परिणाम और महत्त्व (Effect and Significance of Renaissance)

पुनर्जागरण के परिणाम महत्त्वपूर्ण तथा दूरगामी सिद्ध हुए। इसके कारण यूरोपीय जीवन पद्धति में आमूल परिवर्तन आ गया। मध्यकालीन मान्यताओं, आस्थाओं और अन्धविश्वासों का अन्त हुआ और आधुनिक युग का प्रारम्भ हुआ। इसके कुछ महत्त्वपूर्ण परिणाम इस प्रकार थे–

(1) विचार-स्वातन्त्र्य और वैज्ञानिक दृष्टिकोण – पुनर्जागरण ने लोगों को चिन्तन की स्वतन्त्रता प्रदान की जिससे विचार-स्वातन्त्र्य का विकास हुआ। मध्ययुग में धार्मिक आस्था के कारण लोगों को धर्मग्रन्थों में लिखी बातों तथा धर्माधिकारियों द्वारा बतलाई जाने वाली बातों पर विश्वास करना पड़ता था। क्योंकि धार्मिक आस्था एवं चर्च की सत्ता उन्हें स्वतन्त्रतापूर्वक चिन्तन एवं विचार करने की छूट देने को तत्पर ना थी। इससे लोगों की बुद्धि कुण्ठित हो गई और प्रगति का मार्ग भी अवरुद्ध हो गया। पुनर्जागरण ने लोगों को तर्क शक्ति का महत्त्व समझाया। जो वस्तु एवं विचार, तर्क एवं विवेक की कसौटी पर खरे उतरे, उन्हीं में विश्वास करने की शिक्षा दी। इसी से वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हुआ। लोगों ने वैज्ञानिक पद्धति के सत्य को जानने का प्रयास किया।

1.11 सारांश (Summary)

मानववाद अथवा मानववादी विचारधारा पुनर्जागरण का एक प्रमुख लक्षण था। शिक्षा के प्रसार के कारण इस विचारधारा का दर्शन सर्वप्रथम इटली में ही होता है। इस विचारधारा का सीधा-सादा अर्थ है-मानव जीवन में रुचि लेना, मानव जीवन को सुखी, समृद्ध एवं उन्नत बनाकर उसके व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करना। प्राचीन यूनानी साहित्य में जीवन के प्रति एक विशेष रुचि झलकती है क्योंकि यूनानी लोग उस संसार में गहरी रुचि रखते थे, जिसमें वे लोग जी रहे थे। पुनर्जागरण काल में जो विद्वान मानव एवं प्रकृति की रुचियों का विवेचन करके उसमें रुचि लेने लगे थे, उन्हें 'मानववादी' के नाम से पुकारा जाता है। उन्होंने मौजूदा संसार और उसमें रहने वाले लोगों की समस्याओं पर अपनी लेखनी उठाई थी, जबकि मध्ययुग के लेखकों का दृष्टिकोण ठीक इसके विपरीत था। मध्ययुगीन लेखकों के लिए मानव तथा उसके संसार का विशेष स्थान न था। उनके विचारों पर चर्च एवं धर्म का जबरदस्त प्रभाव छाया हुआ था और धर्म की ओट में अन्धविश्वासों तथा रूढ़ियों को प्रश्रय मिल रहा था। अध्ययन-अध्यापन का केन्द्रबिन्दु धर्म ही था और धर्मग्रन्थों के पठन-पाठन पर ही अधिक जोर दिया जाता था, क्योंकि जीवन का मुख्य ध्येय परलोक को सुधारना था। इस संसार के दैहिक और भौतिक सुखों के स्थान पर आध्यात्मिक एवं स्वर्ग के सुखों को प्राप्त करना था। ऐसी स्थिति में न तो स्वतन्त्र चिन्तन का विकास हो पाया और न ही अन्य विषयों के अध्ययन को प्रोत्साहन मिल पाया।

नोट

1.12 शब्दकोश (Keywords)

1. पुनर्जागरण (Renaissance)–फिर से जागना।
2. आलोचना (Criticism)–निंदा।

1.13 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. पुनर्जागरण का अर्थ एवं विशेषताएँ बताइये।
2. मानववाद के उदय से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
3. 'भौगोलिक अनुसंधान' पर टिप्पणी लिखिए।
4. पुनर्जागरण के परिणाम और महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. 'बौद्धिक चेतना'
2. ईश्वर का प्रतिनिधि
3. (क) इंग्लैण्ड
4. (ख) जॉन काल्विन
5. (घ) कल्पित लोक

1.14 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
2. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
4. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
5. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
6. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
7. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*

नोट

इकाई 2: प्रबोधन
(The Enlightenment)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

2.1 फ्रांस का लुई चौदहवाँ (Louis XIV of France)

2.2 प्रशिया का फ्रेडरिक महान् (Frederick the Great of Prussia)

2.3 रूस का पीटर महान् (Peter the Great of Russia)

2.4 आस्ट्रिया का जोसफ द्वितीय (Joseph II of Austria)

2.5 स्पेन का चार्ल्स तृतीय (Charles III of Spain)

2.6 सारांश (Summary)

2.7 शब्दकोश (Keywords)

2.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

2.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- फ्रांस के लुई चौदहवें को जानने में।
- रूस के पीटर महान् को जानने में।
- स्पेन के चार्ल्स द्वितीय को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

यूरोप के इतिहास में तेरहवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी तक के काल की एक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इस काल में यूरोप में राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय राज्यों और प्रबुद्ध स्वेच्छाचारी शासकों को बढ़ावा मिला। राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय राज्यों और प्रबुद्ध स्वेच्छाचारी शासकों के विकास में निम्नलिखित बातों से बड़ा योगदान मिला–

(1) पुनर्जागरण के कारण यूरोप के लोगों का दृष्टिकोण व्यापक हो गया था। लोग हर बात को तर्क की कसौटी पर कसने लगे थे। पोप की सत्ता, चर्च की कुरीतियों और सामन्तवाद की जंजीरें टूट रही थीं। विज्ञान, साहित्य और शिक्षा के ज्ञान ने मनुष्य को शान्तिपूर्ण ढंग से जीवन व्यतीत करना तथा उन्नति की ओर अग्रसर किया।

नोट

(2) सामन्तवाद का पतन होने के कारण अब राजाओं की शक्ति बढ़ गयी थी। राजा जनता का हृदय जीतने के लिए अनेक उपयोगी कार्य कर रहे थे। वे चाहते थे कि उनकी शक्ति जमी रहे। इसी उद्देश्य के लिये वे शान्ति चाहते थे। शान्ति रखने के लिये उन्हें जन-हितकारी कार्य करने पड़ते थे। इसके अतिरिक्त जनता में जो नई जागृति पैदा हो रही थी, उसे भी वे समझते थे और शासन में उसका ध्यान रखते थे।

(3) यूरोप की प्राकृतिक अवस्था ने भी राष्ट्रीय राज्यों के विकास में योग दिया। इंग्लैण्ड एक पृथक् भौगोलिक इकाई है। पेरनीज पर्वत और आल्पस पर्वत स्पेन और इटली को शेष यूरोप से भौगोलिक दृष्टि से अलग बनाते हैं। फ्रांस और जर्मनी के बीच में प्राकृतिक सीमा के रूप में पर्वत श्रेणी हैं। इसके परिणामस्वरूप अलग-अलग राज्य बने और उनमें अपनी राष्ट्रीय भावना विकसित हुई।

(4) युद्धों ने भी राष्ट्रीयता की भावना और राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना में योगदान किया। फ्रांस और इंग्लैण्ड के बीच तो दीर्घकाल तक युद्ध होते रहे। इन युद्धों ने दोनों देशों में अपने राष्ट्र के प्रति राष्ट्रीय भावनाओं को बढ़ाया। स्पेन, फ्रांस, प्रशिया और आस्ट्रिया के बीच युद्धों ने ही इन देशों में राष्ट्रीय भावना को बढ़ाया तथा राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण किया।

राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय राज्यों के विकास के फलस्वरूप सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में अनेक सम्राट हुए जिन्हें महान सम्राट (Grand Monarch) कहा जाता है। ये शासक निरंकुश अवश्य थे किन्तु जनता की भलाई का लक्ष्य भी उनके सामने रहता था। इन शासकों को प्रबुद्ध स्वेच्छाचारी शासक कहा जाता है।

2.1 फ्रांस का लुई चौदहवाँ (Louis XIV of France)

चित्र 1 लुई चौदहवाँ

फ्रांस का सम्राट लुई चौदहवाँ (Louis XIV) एक सुयोग्य, परिश्रमी और गुणग्राही सम्राट था। उसको आन-बान, बढ़िया वस्त्र तथा आभूषणों का बड़ा शौक था। वह इस समय के निरंकुश शासन की जीती-जागती प्रतिमा था। उसके दरबार में शानदार दरबारियों का जमघट रहता था। उसके शासनकाल में साहित्य और ललित कला में बड़ी उन्नति हुई। उसी के समय में फ्रांस में तीन बड़े लेखक कार्नील (Corneille), रेसिन (Racine) और मोलियरी (Moliere) हुए जिन्होंने उसके दरबार के गौरव में चार चाँद लगा दिये। इसके अतिरिक्त बोयलू (Boileau) तथा लाफॉन्टेन (La Fontaine) जैसे कवि व पैस्कल (Pascal) व डेकार्टे (Descates) जैसे दार्शनिक भी उसके काल में हुये। उसके परामर्श दाताओं में सुप्रसिद्ध कौलबर्ट (Colbert) था। इसने अपनी कुशल नीति और बुद्धिमानी से राज्य की आय में वृद्धि की और फ्रांस में कला-कौशल की उन्नति की। उसने फ्रांस की दूर-दूर देशों में कोठियाँ तथा उपनिवेश स्थापित करने के लिये उत्साहित किया, जिससे फ्रांस को आगे चलकर बहुत लाभ हुआ। परन्तु लुई चौदहवें ने प्रोटेस्टैन्टों या ह्युगोनॉट्स (Hugonots) को, जो फ्रांस के बड़े चतुर कारीगर एवं व्यापारी थे, अपनी कठोर और क्रूर नीति से देश छोड़ने के लिये विवश कर दिया। ये इंग्लैण्ड, जर्मनी, हॉलैण्ड और अमेरीका में जाकर बस गये जहाँ के शासकों ने इसका खुले हृदय से स्वागत किया।

लुई चौदहवें ने देश का व्यापार बढ़ाया। इस प्रकार देश में धन की वृद्धि हुई। लुई चौदहवाँ अपने समय में यूरोप का सबसे समृद्ध सम्राट था। उसने उस धन को अपने दरबार की शान-शौकत के साथ ही अपनी सेना को शक्तिशाली बनाने के लिये भी खर्च किया।* पेरिस नगर के निकट ही वर्साई (Versailles) में उसने एक शानदार राजमहल बनवाया। अन्य भी अनेक शानदार इमारतें उसके शासन काल में बनीं।

* The French king became the monarch in Europe. But he spent lavishly, not only on the grandeur of his Court but also on the army and the navy. –George Guest

नोट

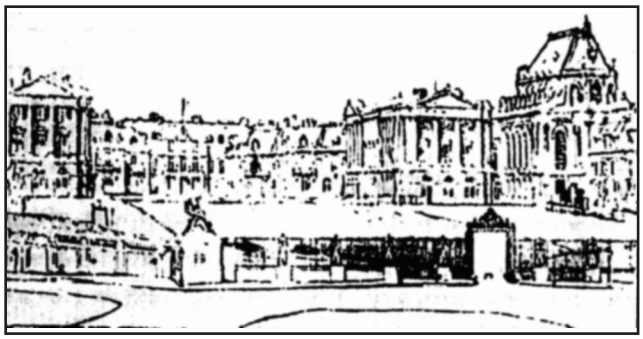

चित्र 2 वर्साई का महल

उसके शासनकाल में फ्रांस का व्यापार बहुत बढ़ा। भारत के साथ फ्रांस की व्यापारी कम्पनी व्यापार करके खूब धन कमा रही थी। अमरीका के साथ फ्रांस का व्यापार खूब होता था और वहाँ फ्रांस का प्रभुत्व भी जम रहा था।

क्या आप जानते हैं राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय राज्यों के विकास के फलस्वरूप सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में अनेक सम्राट हुए जिन्हें महान सम्राट कहा जाता है।

2.2 प्रशिया का फ्रेडरिक महान (Frederick the Great of Prussia)

प्रशिया का शासक फ्रेडरिक महान् (Frederick the Great) 1740 ई. में सम्राट बना। वह साम्राज्यवादी नीति में विश्वास करता था और उसने अनेक युद्धों में विजय प्राप्त की। वह अपने काल का महान् सेनानी कहलाता था। युद्ध प्रेमी होते हुए भी उसे कला से बड़ा प्रेम था। वह स्वयं एक अच्छा संगीतज्ञ था। फ्लूट (बांसुरी) बजाने में वह दक्ष था। अनेक विद्वान उसके दरबार में रहते थे। वालटेयर (Voltaire) बहुत समय तक फ्रेडरिक के साथ रहा और वाल्टेयर के बिछुड़ने पर उसकी मृत्यु तक सम्राट ने उसके साथ पत्रव्यवहार रखा। फ्रेडरिक ने बर्लिन के समीप एक महल बनवाया था। उस महल को वह Sans Souci कहता था, जिसका अभिप्राय था 'चिन्ता से मुक्त'। उस महल के एक कक्ष में उसने बहुत सी अच्छी पुस्तकों का संग्रह किया था। राजकार्यों में व्यस्त रहने पर भी वह पुस्तकों का अध्ययन किया करता था।

चित्र 3 फ्रेडरिक महान्

फ्रेडरिक की धार्मिक सहिष्णुता: धार्मिक मामलों में फ्रेडरिक बड़ा सहनशील था। उसकी यह धारणा थी कि प्रजा को परमात्मा की पूजा में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। मनुष्य अपने आराध्य देव की अर्चना किसी भी प्रकार कर सकता है। यद्यपि उसके राज्य में अधिकांश लोग प्रोटेस्टैन्ट थे, तथापि कैथोलिकों को धार्मिक मामलों में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी। जैसुइट (Jesuits) और ह्यूगोनाट्स (Huguenots) को भी वह आदर की दृष्टि से देखता था। उसका कहना था कि "मैं रोम और जिनेवा के बीच तटस्थ खड़ा हूँ।" उसने इस बात की स्पष्ट घोषणा कर दी थी कि मेरे राज्य में धर्म के आधार पर किसी के साथ अत्याचार करने वाला मनुष्य दण्ड से नहीं बच सकेगा। इस प्रकार उसने अपने शासन काल में राज्य के सभी धर्मों को पनपने दिया और अपने से पूर्व के निरंकुश शासकों की भाँति उसने किसी भी धर्म को नष्ट करने का प्रयास नहीं किया।

नोट

फ्रेडरिक और दास प्रथा: फ्रेडरिक दास प्रथा का समर्थक नहीं था। परन्तु वह उस समय विद्यमान दास-प्रथा के उन्मूलन का भी पक्षपाती न था। उसने घोषणा की कि कृषक केवल अपनी भूमि तथा स्वामी का दास है। उसने अपनी समस्त प्रजा को तीन वर्गों में विभक्त किया। उसने आदेश निकाला कि कोई सामन्त कृषक की भूमि नहीं ले सकता। इसी प्रकार कृषक वर्ग सामन्त की भूमि पर अधिकार नहीं कर सकता। स्पष्ट है कि फ्रेडरिक दास-प्रथा रखना अवश्य चाहता था, पर शोचनीय अवस्था में नहीं। वह चाहता था कि दासों का जीवन सुखमय हो।

फ्रेडरिक की कार्य क्षमता: फ्रेडरिक की यह मान्यता थी कि राजा अपनी प्रजा का प्रथम सेवक होता है। वह कहा करता था कि चूंकि राजा प्रजा से अनेक करों के रूप में धन लेता है, अत: उसे अपने को प्रजा का ऋणी समझकर उसकी सेवा के लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये। यह सत्य है कि उसने जनता को राज्यकार्यों में कोई भाग नही लेने दिया, परन्तु प्रजा के भले के लिये वह स्वयं कठोर परिश्रम करता था। वह प्रात:काल बहुत जल्दी उठता और दिन भर राज्य-कार्यों में व्यस्त रहता था। वह अपना प्रधानमन्त्री स्वयं था और राज्य के प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष था। सेनापति की हैसियत से युद्ध में वह अपनी सेना का नेतृत्व करता था तथा शासक की हैसियत से वह अपनी प्रजा की दशा को जानने तथा सुधारने का प्रयास करता था। विदेशी मामलों को वह स्वयं देखता था तथा अपने-अपने अधिकारियों को नैतिकता की जांच-पड़ताल भी वह स्वयं करता था।

फ्रेडरिक और उसके कानून: वह अपने समस्त साम्राज्य के लिए समान व स्पष्ट कानून बनाना चाहता था। यद्यपि वह अपनी कानून-पुस्तक के पूर्ण होने से पूर्व ही इस लोक से विदा हो गया, तथापि उसके कानून आज भी उसके प्रखर प्रतिभा के परिचायक बने हुये हैं। उसने अपने कानून द्वारा स्पष्ट किया कि सरकार का उद्देश्य जनता का भला करना है। उसने यह भी बताया कि प्रत्येक मनुष्य को अपने उद्देश्य व अधिकारों की प्राप्ति के लिए तब तक प्रयास करना चाहिये जब तक की उसके प्रयत्न से दूसरे मनुष्यों को हानि न पहुँचे। राज्य के दरिद्र एवं बेरोजगार मनुष्यों का पालन करना वह सरकार का कर्तव्य समझता था। इसके विपरीत उसने जनता को राज-कार्यों में कोई अधिकार प्रदान नहीं किया। वह अपने विरोधियों को दबाने में हर प्रकार के साधनों का उपयोग करता था। जन-साधारण को अपने विचार स्वतन्त्र रूप से व्यक्त करने की स्वतन्त्रता न थी। वह सरकारी-विरोधी पुस्तकों के प्रकाशन पर भी नियन्त्रण रखता था। इस प्रकार से फ्रेडरिक की कानूनी-पुस्तक प्रबुद्ध स्वेच्छाचारी शासकों का सजिव चित्र प्रस्तुत करती है। इस पुस्तक से फ्रेडरिक जनता के सुधारों के लिए आतुर अवश्य दिखाई देता है, पर साथ ही पुस्तक यह भी स्पष्ट करती है कि वह जनता को भाषण की स्वतन्त्रता देने का पक्षपाती न था।

फ्रेडरिक का चरित्र: उसका बाल्यकाल सुखद नहीं रहा, क्योंकि उसकी मनोवृत्तियाँ उसके पिता के प्रतिकूल थीं। उसका पिता फ्रेडरिक विलियम प्रथम फ्रांस तथा उसके निवासियों से घृणा करता था। परन्तु फ्रेडरिक महान् (Frederick the Great) फ्रेन्च साहित्य, फ्रेन्च-संगीत आदि का महान् प्रशंसक था। अत: पिता ने पुत्र के साथ जब अधिक सख्ती करना आरम्भ किया तो उसने इंग्लैण्ड भाग जाने का इरादा किया। इस बात का पता लगने पर विलियम ने फ्रेडरिक को नजरबन्द कर दिया। पर फ्रेडरिक का नजरबंद होना उसके भविष्य के लिए एक वरदान सिद्ध हुआ। इस काल में फ्रेडरिक ने शासन करने की शिक्षा पायी और यही कारण था कि वह अपने को एक योग्य प्रशासक सिद्ध करने में समर्थ हुआ।

फ्रेडरिक एक योग्य राजनीतिज्ञ, पटु प्रशासक एवं उच्च कोटि का सेनानायक था। राजानीति में वह धूर्तता को बुरा नहीं समझता था। वह कभी अपने शब्दों पर दृढ़ नहीं रहता था—जैसा कि मेरिया थेरेसा (Maria Theresa) के साथ किये गये उसके व्यवहार से प्रकट होता है। वह जब किसी देश के शासक के साथ कोई सन्धि करता था तो उस सन्धि-पत्र की किसी शर्त का विरोध नहीं करता था। परन्तु समय आ पड़ने पर वह उस सन्धि-पत्र की किसी शर्त का आचरण नहीं करता था। फ्रेडरिक महान् अति परिश्रमी शासक था। वह कानून का एक अच्छा ज्ञाता था जैसा कि उसकी कानून-पुस्तक से ज्ञात होता है। योग्य प्रशासक के साथ एक अच्छा संगीतज्ञ तथा व्यंग्यपूर्ण रचना करने वाला कवि था। वह 1786 ई॰ में नि:संतान मरा। अत: उसके देहान्त के उपरान्त ही राज्य में अशान्ति के बादल मंडराने लग गये।

नोट

नोट्स फ्रेडरिक दासप्रथा का समर्थक नहीं था। वह चाहता था कि दासों का जीवन सुखमय हो।

2.3 रूस का पीटर महान् (Peter the Great of Russia)

रूस का पीटर महान् (Peter the Great, 1689–1725 ई॰): यूरोप का महान् शासक था। रूस इस समय तक यूरोप का एक पिछड़ा हुआ देश था। रूस के पास न अच्छी सेना थी और न अच्छे जहाज थे। सभ्यता और समृद्धि की दृष्टि से भी रूस उन्नत नहीं था। रूस का मुख्य व्यवसाय कृषि था। अत: पीटर ने अपने देश की उन्नति करने का दृढ़ निश्चय किया।

चित्र 4 पीटर महान्

पीटर तेज स्वभाव का और परिश्रमी मनुष्य था। उसने निश्चय कर लिया कि वह अपने देश को यूरोप के अन्य देशों की भाँति प्रगतिशील बनाएगा। वह इसी विचार से जर्मनी, इंग्लैण्ड और हॉलैण्ड की यात्रा करने भी गया। अपनी यूरोप यात्रा से लौटते समय वह अपने साथ अच्छे-अच्छे कारीगर, कलाकार, जहाज बनाने एवं चलाने वाले और वैज्ञानिकों को लाया था। रूस की सेना में अब तक सरकारी सैनिक नहीं थे। अब उसने अपनी एक अलग सेना बनायी, जो उसके लिये प्राण न्योछावर करने को सदैव तत्पर रहती थी उसने उसके सहयोग से अपने प्रत्येक उद्देश्य में सफलता पायी। वह अपने देश में यूरोप की नई सभ्यता लाना चाहता था। अत: उसने अपने देश की प्रजा को यूरोपियन ढंग के कपड़े पहनने को विवश किया। अपने बड़े-बड़े सरदारों की दाढ़ी-मूँछें अपने हाथ से काट डालीं और दाढ़ी का रखना एक अपराध घोषित कर दिया। वह उन लोगों पर जुर्माने करता था जो दाढ़ी रखने के लिए अन्य लोगों की प्रोत्साहन देते थे। उसने लम्बे लबादे हटवा दिये और उसके स्थान पर सब लोगों को जाकिट या कोट पहनने की आज्ञा दी। उसने बहुत से पुराने रीति-रिवाज भी समाप्त कर दिये।

धर्म के विषय में भी उसने अच्छा सुधार किया। चर्च का शासन उसने प्रधान पैट्रियार्क के हाथ से लेकर एक धार्मिक समिति (Holy Synod) को सौंप दिया, जिसके सदस्य जार रूस के शासक के प्रभाव में थे। इस सुधार से रूस का चर्च जार का समर्थक एवं सहायक बन गया। अपने देश का विस्तार करने एवं शक्ति बढ़ाने के लिये उसने काले सागर के तट पर तुर्की के बन्दरगाह 'एजोफ' को ले लिया। उसने यह निश्चय कर लिया था कि यदि उसका देश उन्नति करना चाहता है, तो उसको समुद्र के तट पर कहीं न कहीं अपने जहाजों के लिये बन्दरगाह प्राप्त करने चाहिए। अच्छे बन्दरगाह की खोज में उसने बाल्टिक सागर के तट पर पेट्रोग्राड (Petrograd) नामक नगर बसाया, जो अब लेनिनग्राड (Leningrad) कहलाता है। इसके विषय में पीटर कहा करता था कि मैंने पश्चिम की ओर एक खिड़की खोल दी है। उसने बन्दरगाहों की प्राप्ति के लिये कई देशों से लड़ाइयाँ भी कीं। उसने स्वीडन से कई ऐसे क्षेत्र छीन लिए जो रूस और बाल्टिक सागर के बीच में थे। इससे रूस को अब समुद्र तक पहुँचने का मौका मिल गया। पीटर महान् के समय से रूस की गणना यूरोप के महान् शक्तिशाली देशों में होने लगी। उसने इतने सुधार किये कि रूस में इतने कभी नहीं हुये थे। उसने रूस की सीमा को बाल्टिक सागर तथा काला सागर तक पहुँचा दिया। रूस जो अब तक केवल एक कृषि-प्रधान देश था, अब देश उद्योग-धन्धे और वाणिज्य में उन्नति करने लगा।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. प्रशिया का शासक फ्रेडरिक महान ..... में विश्वास करता था।
2. लुई चौदहवां अपने समय में ..... का सबसे समृद्ध सम्राट था।
3. फ्रेडरिक ..... का समर्थक नहीं था।

2.4 आस्ट्रिया का जोसफ द्वितीय (Joseph II of Austria)

जोसफ द्वितीय (Joseph II, 1780-90 ई.) मेरिया थेरेसा का पुत्र था। मेरिया थेरेसा की मृत्यु 1780 ई. में हुई और उसी वर्ष उसका पुत्र जोसफ आस्ट्रिया का राजा बना। गद्दी पर बैठते ही उसने सर्वप्रथम आस्ट्रिया साम्राज्य के अन्तर्गत रियासतों को संगठित करने का प्रयास किया। उसने अपने साम्राज्य की विभिन्न जातियों में पारस्परिक प्रेम उत्पन्न किया और उनमें एकता की भावना उत्पन्न करने के हेतु जर्मन, इटेलियन, बेल्जियम आदि सब भाषाओं को राज्य भाषा घोषित कर दिया। राज्य में फैली अशान्ति को दूर करने के लिए उसने अपने सम्पूर्ण साम्राज्य को तेरह प्रान्तों में विभक्त किया और उन सबमें एक-सा शासन स्थापित किया।

जोसफ के सुधार: जोसफ स्वयं फ्रांस गया और वहाँ जाकर रूसो और टुरगो (Turgot) आदि से सम्पर्क स्थापित किया। उनके सम्पर्क का उस पर महान् प्रभाव पड़ा। उसने अपने राज्य में दार्शनिकों के विचार प्रसारित होने दिए।

चित्र 6 जोसफ द्वितीय

उसने कहा था कि, "मैंने दर्शन को अपने साम्राज्य का व्यवस्थापक बनाया है; तर्कयुक्त दार्शनिक सिद्धान्त आस्ट्रिया को बदल देंगे।" उसने इस आदर्श की पूर्ति के लिए कई सुधार किए। यद्यपि वह एक पक्का कैथोलिक था, परन्तु उसने धर्माधिकारियों की बुराईयों की कटु आलोचना की। उसने स्पष्ट रूप से कहा कि मठों के सिद्धान्त मानव-तर्क के विरोधी हैं और धर्माधिकारी राज्य में व्यर्थ के नागरिक हैं। इसके अतिरिक्त उसने पादरियों को राज्य के लिए खतरनाक व्यक्ति बताया। इसी कारण उसने 600 मठों को नष्ट करा दिया और उनसे प्राप्त पूँजी को स्कूलों की स्थापना में व्यय किया। उसने अपने राज्य में पोप की अनुमति के बिना पादरियों की नियुक्ति करना आरम्भ कर दिया और रोम को धन भेजना भी बन्द कर दिया। शादियों को सामाजिक कार्य समझा गया। अत: विवाह कार्य को धर्माधिकारियों के नियन्त्रण से मुक्त कर दिया गया।

टास्क जोसफ ने कृषक वर्ग को किससे मुक्त कर दिया?

जोसफ और सामन्तवाद- जोसफ ने अपने राज्य में लड़खड़ाते सामन्तवाद को धराशायी करने के लिए सक्रिय कदम उठाया। उसने बोहमिया, हंगरी, मोरविया और गलेसिया में सामन्तों की भूमि खेती करने वालों किसानों को जमीन का स्वामी बना दिया। कृषक वर्ग को बेगार देने से मुक्त कर दिया। इसके अतिरिक्त उसने उच्च वर्ग और धर्माधिकारियों पर कर लगाया। राज्य का उत्पादन बढ़ाने के लिए उसने गृह उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन दिया। उसने आदेश दिया कि सामन्तों को अपनी-अपनी जागीर के लिए नियम बनाकर लागू करने का अधिकार नहीं है। इस प्रकार जोसफ ने आस्ट्रिया के सामन्तों को पूर्णतया शक्तिहीन बना दिया।

नोट

नि:सन्देह जोसफ के सुधार कठोर थे। अत: उनका चारों तरफ से विरोध होने लगा। पादरियों ने उसे आततायी घोषित किया। नीदरलैण्ड ने उसके प्रभुत्व के विरुद्ध बगावत की और 1780 ई. में जोसफ के प्रभुत्व से मुक्त हो गया। 1780 ई. में जोसफ का देहान्त हो गया।

जोसफ द्वितीय का चरित्र: जोसफ द्वितीय की गणना यूरोप के प्रबुद्ध स्वेच्छाचारी शासकों में की जाती है। यह ठीक है कि वह आस्ट्रिया में सच्चे हृदय से सुधार करना चाहता था, परन्तु वह उनमें अधिक सफल नहीं हो सका। इसका प्रथम कारण उसका अल्प शासन-काल था। दूसरा यह था कि आस्ट्रिया में विभिन्न भाषा-भाषी तथा विभिन्न धर्मावलम्बी लोग रहते थे। उसने शिक्षा का प्रसार अवश्य किया परन्तु उस पर सरकार का नियन्त्रण रखना चाहता था। धर्म के सम्बन्ध में उसकी धारणा थी कि धर्म राज्य के अधिकार में रहना चाहिए। इसी कारण उसने पोप से झगड़ा किया था। वह भी पूर्व तथा दक्षिण में साम्राज्य को बढ़ाना चाहता था, पर उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. जोसफ ने ..... को बेगार देने से मुक्त कर दिया।
   (क) पूंजीपति वर्ग (ख) कृषक वर्ग (ग) सामंत वर्ग (घ) शासक वर्ग
5. जोसफ II ..... का पुत्रा था।
   (क) मेरिया थेरेसा (ख) कैथराइन (ग) पीटर महान (घ) फ्रेडरिक
6. जोसफ II की गणना यूरोप के प्रबुद्ध ..... शासकों में की जाती है।
   (क) सदाचारी (ख) दुराचारी (ग) स्वेच्छाचारी (घ) महान

2.5 स्पेन का चार्ल्स तृतीय (Charles III of Spain)

चार्ल्स तृतीय (Charles III) 1759 ई. में स्पेन (Spain) का शासक बना। उसने भी फ्रेडरिक महान् की भाँति शासन के समस्त अधिकार अपने हाथों में ही रखे। जनता को राज्य-कार्यों में हस्तक्षेप करने का अधिकार उसने प्रदान नहीं किया। अपने राज्यों को सम्पन्न बनाने के लिए सर्वप्रथम उसने राष्ट्र के उत्पादन की ओर ध्यान दिया। उसने राज्य में एक कृषि-कालेज तथा बहुत से ट्रेड स्कूल खोले। व्यापार को सम्मुनत बनाने के लिए उसने यातायात के साधनों को सुगम बनाया। स्पेन के सारे बन्दरगाह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए खोल दिये गये।

शिक्षा प्रसार के लिए उसने विश्वविद्यालय स्थापित किये। स्कूलों में विज्ञान और दर्शन-शास्त्र को पर्याप्त महत्त्व दिया। उसने स्कूलों को धर्माधिकारियों के प्रभाव से मुक्त रखा।

चार्ल्स तृतीय और धर्म- स्पेन साम्राज्य धर्माधिकारियों का एक दृढ़ गढ़ था। यहाँ चार्ल्स तृतीय के समय में 66 हजार पादरी और 63 हजार मठ थे। स्पेन साम्राज्य की कुल भूमि का $\frac{1}{5}$ भाग धर्माधिकारियों को जागीर के रूप में स्वीकृत था। चार्ल्स ने इन पादरियों पर टैक्स लगाया। वह भी अपने को जोसफ की तरह पक्का कैथोलिक समझता था, पर वह तत्कालीन धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध था। उसने अपने राज्य में पोप की सत्ता कम कर दी। उसने आदेश निकाला कि उसके राज्य में पोप के आदेश तभी लागू होंगे, जब वह (चार्ल्स तृतीय) उन्हें स्वीकार करके उनको लागू करेगा। पोप ने इस पर क्रुद्ध होकर जब उससे इसका स्पष्टीकरण मांगा तो चार्ल्स ने उत्तर दिया कि वह अपने कार्यों के लिए केवल परमात्मा के प्रति उत्तरदायी हैं।

नोट

2.6 सारांश (Summary)

फ्रेडरिक की यह मान्यता थी कि राजा अपनी प्रजा का प्रथम सेवक होता है। वह कहा करता था कि चूंकि राजा प्रजा से अनेक करों के रूप में धन लेता है, अत: उसे अपने को प्रजा का ऋणी समझकर उसकी सेवा के लिये सदैव तत्पर रहना चाहिये। यह सत्य है कि उसने जनता को राज्यकार्यों में कोई भाग नही लेने दिया, परन्तु प्रजा के भले के लिये वह स्वयं कठोर परिश्रम करता था। वह प्रात:काल बहुत जल्दी उठता और दिन भर राज्य-कार्यों में व्यस्त रहता था। वह अपना प्रधानमन्त्री स्वयं था और राज्य के प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष था। सेनापति की हैसियत से युद्ध में वह अपनी सेना का नेतृत्व करता था तथा शासक की हैसियत से वह अपनी प्रजा की दशा को जानने तथा सुधारने का प्रयास करता था। विदेशी मामलों को वह स्वयं देखता था तथा अपने-अपने अधिकारियों को नैतिकता की जांच-पड़ताल भी वह स्वयं करता था।

2.7 शब्दकोश (Keywords)

1. शासक (Ruler) : शासन करने वाला।
2. ड्यूमा (Duma) : रूस की पार्लियामेंट

2.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. प्रबुद्ध स्वेच्छाचारी शासक का अर्थ बताइए।
2. लुई चौदहवां के शासनकाल का वर्णन कीजिए।
3. प्रशिया का फ्रेडरिक महान का चरित्र-चित्रण कीजिए।
4. जोसफ के सुधारों का वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer : Self Assessment)

1. साम्राज्यवादी नीति
2. यूरोप
3. दास प्रथा
4. (ख) कृषक वर्ग
5. (क) मेरिया थेरेसा
6. (ग) स्वेच्छाचारी

2.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
2. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
4. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
5. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
6. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
7. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*

नोट

इकाई 3: प्रबोधन के आलोचक (Critiques of Enlightenment)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

3.1 धर्म सुधार के कारण (Causes of Religious Reformation)

3.2 धर्म सुधार आंदोलन का आरंभ (Beginning of Religious Reformation Movement)

3.3 धर्म सुधार के आरम्भिक प्रयत्न (Elementary Effort of Religious Reformation)

3.4 मार्टिन लूथर और धर्म सुधार आंदोलन (Martin Luther and Religious Reformation Movement)

3.5 यूरोप के अन्य देशों में धर्म सुधार आंदोलन (Religious Reformation Movement in other Countries of Europe)

3.6 इंग्लैण्ड में धर्म सुधार (Religious Reformation in England)

3.7 धर्म सुधार आंदोलन को रोकने के प्रयास (Efforts to Restrain the Religious Reformation Movement)

3.8 सारांश (Summary)

3.9 शब्दकोश (Keywords)

3.10 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

3.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- धर्म सुधार के कारण जानने में।
- यूरोप के अन्य देशों में धर्म सुधार आंदोलन को जानने में।
- इंग्लैंड में धर्म सुधार को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

मध्य युग के बाद यूरोप के इतिहास ने एक नई करवट ली। पुनर्जागरण, भौगोलिक खोजें और धर्म सुधार आंदोलन आदि सब उसी करवट के परिणाम हैं। भव्य युग में चर्च का प्रभुत्व बहुत बढ़ा हुआ था। पोप और पादरियों का जीवन

नोट

सरल, सात्विक और आदर्श नहीं रह गया था। बल्कि उनका जीवन विलासितापूर्ण और पाखण्डों से भरा हुआ था। धर्म सुधार आंदोलन जनता का एक आंदोलन था जो गिरजाघर की त्रुटियों, दोषों तथा पादरियों के दुराचारों, भोगविलास, अत्याचार एवं अन्याय के विरुद्ध था। यह भी कहा जाता है कि यह आंदोलन एक प्रकार से पोप के विरुद्ध राजाओं का संघर्ष था, क्योंकि उस समय पोप राजाओं एवं महाराजाओं को भी कुछ नहीं समझते थे तथा अपने को उनका शिरोमणि एवं स्वामी होने का दावा करते थे। दूसरी ओर राजा-महाराजा अपने को पोप से स्वतंत्र समझते थे। व्यवस्थित जीवन की वृद्धि होने से तथा विद्या-कला के विकास से एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि अब पोप का यह दावा निराधार प्रतीत होने लगा था कि वह पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है तथा उसके पास स्वर्ग और नर्क की चाबियाँ हैं।

पोप की सत्ता: सोलहवीं शताब्दी के आरंभ तक यूरोप के धार्मिक एवं राजनीतिक विषयों पर रोम के पोप का पूरा प्रभुत्व था। यूरोप के राज्य परिवार के समान थे। सब एक धर्म के अनुयायी थे। सब का एक-सा रहन-सहन था। सब रोम के पोप को अपना धर्म पिता मानते थे। आपस में जब कोई झगड़ा हो जाता था, तो उसका फैसला पोप के दरबार में होता था।

धर्म के सुधार के समय यूरोप की धार्मिक अवस्था: वास्तव में देखा जाए तो धर्म सुधार पुनर्जागरण से संबंधित ही एक घटना है। इस घटना को मूल प्रेरणा तत्कालीन यूरोप की धार्मिक अवस्था से प्राप्त हुई थी। उस समय पोप तथा उसके सहयोगी पादरियों का मानव समाज पर अकथनीय प्रभाव था। पोप केवल धार्मिक क्षेत्र में ही सर्वोच्चाधिकारी नहीं था वरन् राजनैतिक क्षेत्र में भी उसका प्रभुत्व था। किसी को सम्राट बनाना व गद्दी से उतारना उसके बायें हाथ का खेल था। किन्तु पोप का व्यक्तिगत जीवन पवित्र न था। पास में अपार धनराशि होने के कारण पोप और धर्माधिकारियों का जीवन विलासी हो गया था। धन-संग्रह के लिए चर्च द्वारा जनता पर कर लगाए जाते थे और उसको स्वर्ग भेजने का प्रलोभन देकर नियत मूल्य पर क्षमापत्र (Indulgence) बेचे जाते थे। जनसाधारण को पादरियों के आदेश का पालन करना पड़ता था। उनके आदेश पर टीका-टिप्पणी करना धर्म-द्रोह था और इस पर मृत्युदण्ड तक दिया जा सकता था। उस समय कैथोलिक (Catholic) धर्म लोक-धर्म बना हुआ था।

धर्म सुधार आंदोलन एक प्रकार की जन-क्रान्ति थी। मध्य युग में धर्माधिकारियों द्वारा जनसाधारण पर निर्मम अत्याचार किये जाते थे। पुनर्जागरण के कारण मानव का बौद्धिक विकास हो रहा था। अत: भ्रष्टाचार में डूबे हुए और वैभव के नशे में चूर पोप के अत्याचारों को अब जनता सहन करने को तैयार नहीं थी। कैथोलिक-धर्म तथा उसके संचालकों में व्याप्त बुराइयों को समाप्त करने के लिए जनता ने जो प्रयत्न किये, उसे ही धर्म सुधार आंदोलन का नाम दिया जाता है।

3.1 धर्म सुधार के कारण (Causes of Religious Reformation)

धर्म सुधार आंदोलन एक जनजागृति का प्रतीक था। इसके अनेक कारण थे। महत्त्वपूर्ण कारणों का वर्णन नीचे किया जाता है–

1. पुनर्जागरण का प्रभाव: पुनर्जागरण के प्रभाव से जनता में राष्ट्रीय भावना प्रबल हो गई थी। इसका परिणाम यह हुआ कि समस्त ईसाई समाज का सर्वोच्चाधिकारी पोप भी विदेशी समझा जाने लगा। कई देश इस बात के विरुद्ध थे कि उनके देश का धन करों के रूप में रोम भेजा जाये। समझदार व्यक्तियों को पोप के विलासी जीवन से घृणा होती जा रही थी। पोप धर्म के नाम पर भोली जनता का शोषण करता था और उससे प्राप्त अपार धन-राशि को वह अपने जीवन के लौकिक सुख की वस्तुओं में खर्च करता था। लौकिक सुख, ऐश्वर्य व विलास की बाढ़ में सदाचार लुप्त होता जा रहा था। पोपों के इतिहास (History of the Popes) में पेस्टर (Paster) लिखता है–"पॉल द्वितीय के समय से पोपों का भ्रष्टाचार आरंभ हुआ और इंनोसेंट सप्तम के काल में पर्याप्त बढ़ गया तथा पोप एलेक्जेंडर छठे के समय में भ्रष्टाचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया।"

नोट

2. पोप और पादरियों का चरित्र: पादरी लोगों का जीवन आदर्श नहीं था। उनका जीवन अनेक दृष्टियों से दूषित था। अधिकतर पादरी या अन्य पुरोहित, बेपढ़े, दुराचारी एवं भोग विलासी थे, जिन्हें अपने धर्म, कर्म एवं कर्तव्य का तनिक भी ध्यान नहीं था। इनके प्रति कई सौ वर्षों से अविश्वास की भावनाएँ साधारण मनुष्यों के मन में उठ रही थीं। बहुत से विद्वान एवं विचारक गिरजाघरों पुजारियों तथा पादरियों की इन सब त्रुटियों की खुले शब्दों में आलोचना और निन्दा करते थे। इन्होंने जनता में जागृति की ज्योति जला दी और सांस्कृतिक पुनर्जागरण ने तो एक प्रकार की आग ही लगा दी।

3. चर्च में फूट: चर्च में भी फूट पड़ गई थी। इनमें संगठन संबंधी और विचार संबंधी दोनों प्रकार की फूट थी। मिस्र और मेसोपोटामिया में अलग चर्च संगठन स्थापित हो गया था। चर्च में ग्रीक भाषा वाले क्षेत्रों और लैटिन भाषा वाले क्षेत्रों के बीच भी मतभेद हो रहे थे। यद्यपि बाहर से देखने में ये बातें छोटी-छोटी थीं और पोप किसी-न-किसी प्रकार इन प्रवृत्तियों को दबाकर अपना प्रभुत्व बनाये हुए था किन्तु अंदर-अंदर ही विस्फोटक स्थिति पैदा हो रही थी। यह फूट चर्च की शक्ति को नष्ट कर रही थी। चर्च में फूट पड़ जाने से कुछ समय तक (1378-1415 ई.) दो पोप रहे–एक रोम में और दूसरा एविग्नान (फ्रांस) में। इस घटना से भी जनता के मन में पोप के लिए प्रतिष्ठा कम हो गई।

4. पादरियों के जीवन की सामान्य बुराइयाँ: पादरियों का जीवन अनेक दृष्टियों से पतित, घृणित और अधम था। मुख्य-मुख्य बुराइयों का वर्णन नीचे किया जाता है–

(*i*) बहुत से पादरी अच्छे धनी जागीदार थे क्योंकि सामन्त प्रथा के अंतर्गत वे ड्यूकों की भाँति जागीरों के स्वामी थे। वे राजनैतिक मामलों में अधिक धन व्यय करते थे और भाग लेते थे। कई पादरी कई-कई गिरजाघरों के पुजारी या पुरोहित बन जाते थे–इसलिए नहीं कि जनता का कुछ उद्धार कर सकें वरन् इसलिए कि वे उनसे लाभ उठा सकें।

(*ii*) बहुत से लोग पादरी पद पर नियुक्त किये जाने के लिए राजाओं और जागीरदारों की अधीनता स्वीकार कर लेते थे तथा उन्हें नजराना, रिश्वत आदि भी देते थे। इस प्रकार पादरी पद रिश्वत के आधार पर मिलता था।

(*iii*) पादरियों को विवाह नहीं करने दिया जाता था। डर यह था कि कहीं विवाहित होने के बाद वे पारिवारिक जीवन में फंसकर अपना धर्म-कर्म भुला न बैठें। परन्तु इस प्रथा का एक बुरा परिणाम यह हुआ कि पादरियों का जीवन दुराचारी तथा व्यभिचारपूर्ण हो गया। धन-सम्पत्ति की वृद्धि के कारण बड़े-छोटे सब पादरी भोग-विलासी हो गए।

(*iv*) बहुत से पादरी धर्म-प्रचार करने एवं उपदेश देने के बजाय राजनैतिक कार्यों में अधिक भाग लेने लगे। कई पोप तो सदा राजनैतिक झगड़ों में ही पड़े रहते थे और राजाओं को आपस में लड़ा कर अपना मतलब साधने में ही आनंद लेते थे। वे समझते थे कि इसी प्रकार हमारा प्रभुत्व बना रह सकता है। बहुत से पादरी बड़े-बड़े जागीरदार थे जिनको भोग-विलास का जीवन व्यतीत करने के अतिरिक्त अन्य किसी काम के लिए समय ही नहीं मिलता था।

(*v*) प्रत्येक देश से प्रति वर्ष रोम के पोप को लाखों रुपया भेंट में भेजा जाता था। हर एक नया पादरी अपने गिरजे की पहले वर्ष की आमदनी पोप को भेंट में भेजता था। प्रत्येक देश से गिरजों की आय का दशमांश पोप को भेजा जाता था। इनके अतिरिक्त अन्य कई प्रकार के कर व भेंट-उपहार का धन भी रोम जाता था।

(*vi*) चर्च की कुछ और भी कुरीतियाँ थीं, जैसे अपराधों के प्रायश्चित की बजाय पादरियों की ओर से क्षमापत्रों (Indulgences) की बिक्री, पोप द्वारा प्राय: राजाओं को एवं अन्य विरोधियों को धर्म बहिष्कृत कर देने तथा गद्दी से उतार देने की धमकी देना, या उनकी जनता द्वारा उनके विरुद्ध विद्रोह की आग भड़कवाना एवं एक राजा को गद्दी से हटाकर किसी अन्य व्यक्ति को राजा बनाना। इससे भी बहुत से देशों में बहुत खलबली मची हुई थी।

क्या आप जानते हैं पुनर्जागरण के प्रभाव से जनता में राष्ट्रीय भावना प्रबल हो गई थी।

नोट

3.2 धर्म सुधार आंदोलन का आरंभ (Beginning of Religions Reformation Movement)

धर्म सुधार आंदोलन सांस्कृतिक पुनरुत्थान या पुनर्जागरण (Renaissance) का मुख्य फल या परिणाम था, और इससे लोगों के सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक जीवन में बड़ा परिवर्तन होना अत्यन्त आवश्यक था। नवीन आविष्कारों और नये देशों की खोज द्वारा प्राप्त हुए ज्ञ ान के कारण भी साधारण मनुष्यों के हृदय में धार्मिक सुध ार की भावनाएँ उत्पन्न हुईं। साधारण लोग अंधविश्वास को छोड़कर स्वतंत्र रूप से सब बातों को सोचने एवं समझने लगे और अपने मत के अनुसार कार्य करने लगे। धर्म में लोगों की श्रद्धा, जो अब तक अंधविश्वास पर निर्भर थी, प्रतिदिन कम होने लगी।

यूरोप में अनेक देशों के सम्राट और शासक मध्य काल से ही चर्च के अधिकारों और राजनैतिक मामलों में उसके हस्तक्षेप के विरोधी थे। इसके बाद जब इंग्लैंड, फ्रांस, स्पेन एवं दूसरे देशों में राष्ट्रीय राज्य स्थापित हुए तो सम्राटों और राजाओं की विरोध भावना में और भी वृद्धि हुई और वे चर्च एवं पोप के नियंत्रण से मुक्त करने की चेष्टा करने लगे। वे चर्च की जागीरों पर कर लगाने लगे, पोप की आज्ञाओं का उल्लंघन करने लगे, गिरजाघरों के न्यायालयों के अधिकारों में कमी करने लगे और चर्च के अधिकारियों की नियुक्ति भी स्वयं करने लगे। राष्ट्रीय भावनाओं के विकास के फलस्वरूप साधारण लोग यह मांग करने लगे कि एक रोमन चर्च के स्थान पर प्रत्येक देश में एक राष्ट्रीय चर्च होना चाहिए। ये मांगें कहाँ तक उचित थीं, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु इन सब बातों से यह अवश्य स्पष्ट है कि रोमन चर्च के प्रति विरोधी भावना लोगों में दिन पर दिन बढ़ रही थी।

नोट्स धर्म सुधार आंदोलन एक जनजागृति का प्रतीक था।

3.3 धर्म सुधार के आरम्भिक प्रयत्न (Elementary Efforts of Religious Reformation)

धर्म सुधारक आंदोलन के उद्देश्य: धर्म सुधार आंदोलन किसी व्यक्ति या संस्था का विरोधी नहीं था। धर्म सुधार चाहने वाला वास्तव में पोप, चर्च और पादरियों के जीवन में व्याप्त बुराइयाँ समाप्त करना चाहते थे। सुधारकों के उद्देश्य निम्नलिखित थे–

1. धर्म सुधारकों का पहला उद्देश्य धर्म की बुराइयों व धर्माधिकारियों के भ्रष्टाचार को दूर करना था।

2. धार्मिक क्षेत्र में प्रविष्ट मिथ्याडम्बरों को दूर करना भी सुधारकों का एक उद्देश्य था। सुधारकों की दृष्टि से पादरियों का जीवन और उनमें व्याप्त बुराइयाँ छिपी नहीं थी।

3. जो व्यक्ति वास्तव में पवित्र जीवन व्यतीत करना चाहते थे, वे इन विलासी पुजारियों (पादरी) के संसर्ग में रहकर ईश्वरोपासना नहीं करना चाहते थे। अत: वे व्यक्ति तत्कालीन गिरजों के प्रति उदासीन रहने लगे और उनमें सुधार करने की मांग करने लगे।

प्राय: ऐसा समझा जाता है कि धर्म सुधार आंदोलन आरंभ करने वाला व्यक्ति मार्टिन लूथर था। किन्तु यह धारणा उचित नहीं है। लूथर से पहले भी अनेक सुधारकों ने धर्म व चर्च की बुराइयों और पोप व पादरियों के भ्रष्ट जीवन की आलोचना की और उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट सहने पड़े। यहाँ हम मार्टिन लूथर से पहले के सुधारकों और उनके प्रयत्नों का संक्षिप्त अध्ययन करेंगे।

1. आरनाल्ड: सन् 1155 ई. में इटली के ब्रेशिया नगर के एक सर्वप्रिय और विद्वान पादरी आरनाल्ड ने पोप के दुराचारी एवं भोग-विलासी होने के विरुद्ध लोगों में भाषण दिये थे। उनका कहना था कि पादरियों को जीविका,

नोट

जायदाद, धन-सम्पत्ति से कोई सरोकार नहीं होना चाहिए। उनको साधारण जीवन व्यतीत करना चाहिए न कि भोग-विलास का। वे धर्म प्रचारक हैं अतः उनको सांसारिक झगड़ों से अलग रहना चाहिए। आरनाल्ड को बंदी बना लिया गया और उस पर नास्तिक होने का आरोप लगाकर उसे जीवित जला दिया गया। इससे विदित होता है कि पोप के विरुद्ध लोगों के मन में भावनाएँ बहुत पहले से उत्पन्न होने लगी थीं।

2. जॉन वाईक्लिफः (1320-1368 ई.) इंग्लैण्ड का साधु जॉन वाईक्लिफ उन पहले व्यक्तियों में से एक था जिन्होंने साहस किया था कि चर्च और पोप के विरुद्ध खुले रूप से आवाज उठाई जाए। उसकी आत्मा ने धर्म और चर्च के इस पतन और अत्याचार के दोष प्रकट करने पर उसे बाध्य किया। वह ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी में एक प्रोफेसर था। वह बड़ा योग्य विद्वान था। सन् 1366 ई. में पोप अरबन (Urban) ने इंग्लैण्ड से उस कर की मांग की जो इंग्लैण्ड के सम्राट जॉन ने देने का वचन दिया था। वाईक्लिफ ने इसका विरोध किया। इसके अतिरिक्त वह इस बात को भी पसंद नहीं करता था कि उसके देश के चर्च पर एक विदेशी (पोप) का इतना प्रभाव हो। उसका कथन था कि पोप पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं है और न ही वह ईसा मसीह के सिद्धांतों के अनुसार जीवन व्यतीत करता है। उसका कहना था कि ईसाइयों को केवल बाइबिल के सिद्धांतों का पालन करना चाहिए और प्रत्येक देश का गिरजाघर वहाँ के सम्राट के अधीन होना चाहिए वाईक्लिक ने पादरियों के दुराचार एवं दोषपूर्ण जीवन और लौकिक वासनाओं की भी बड़ी निंदा की। उसका कहना था कि पोप या कोई पादरी क्षमापत्र (Indulgences) प्रदान करने का अधिकार नहीं रखता है। उसने बाइबिल का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करके एक महान काम किया।

3. जॉन हस (1365-1415 ई.) : वाईक्लिफ (Wycliff) का सबसे विख्यात शिष्य जैक (Czech) जाति का बोहेमिया निवासी जॉन हस (John Huss) था। यह प्राग (Prague) विश्वविद्यालय में प्रोफेसर था। इस पर वाईक्लिफ के उपदेशों का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। उसने चर्च में सुधार की मांग करते हुए कई भाषण दिये। उसके भाषणों का बोहेमिया और उसके आस-पास के क्षेत्रों में रहने वालों पर गहरा असर पड़ा। पोप ने क्रुद्ध होकर उस पर अभियोग लगाया। इस अपराध में उसे धर्म से बहिष्कृत कर दिया गया। किन्तु पोप इतने से संतुष्ट नहीं था। उसने जॉन हस की सुरक्षा का झूठा आश्वासन देकर कान्सटेंस के धर्म-सम्मेलन में आमंत्रित किया। यहाँ उसे पकड़कर 1415 ई. में जीवित जलवा दिया गया। किन्तु जॉन हस के अनुयायी भयभीत न हुए उन्होंने पोप के विरुद्ध आंदोलन जारी रखा। पोप और पादरियों के सब प्रयत्न भी उनको दबा न पाये।

4. सैवोनारोला (Savonarola, 1452-98)**:** सैवोनारोला का जन्म 1452 ई. में फेरारा (Ferrara) नामक स्थान पर इटली में हुआ था। वह बाल्यावस्था से ही एक गंभीर प्रकृति का मनुष्य था। अतः अपना अधिकांश समय ईश्वरोपासना में ही व्यतीत किया करता था। 1475 ई. में वह सैंट डोमीनिक का अनुयायी बन गया। उसने कई वर्ष मठ में व्यतीत किए। 1490 ई. में वह पादरी बन गया। वह धर्म में सुधार करना चाहता था। वह पोप के राजसी ठाठ-बाट की आलोचना करता था। पोप एलेक्जेन्डर छठे (Alexander VI) ने उसे फूसलाने का बहुत प्रयास किया। अंत में जब पोप अपने उद्देश्य में असफल रहा तो 1495 ई. में उसने उसे पादरी के पद से हटा दिया। 1496 ई. में सैवोनारोला ने एक बड़ा प्रभावोत्पादक भाषण दिया, जिसमें उसने धर्माधिकारियों की कटु आलोचना की। 1497 ई. में पोप ने उसे धर्म से बहिष्कृत कर दिया। 23 मई 1498 ई. की पैजा (Paizza) नामक स्थान पर इस धर्म-सुधारक को फांसी के तख्ते पर झुलाकर तथा उसको जलाने के लिए उसके नीचे आग जलाकर पोप ने अपना क्रोध शान्त किया।

3.4 मार्टिन लूथर और धर्म सुधार आंदोलन (Martin Luther and Religious Reformation Movement)

मार्टिन लूथर का आरम्भिक जीवनः धर्म सुधार आंदोलन का सफल संचालक और नेता मार्टिन लूथर था। उसका जन्म जर्मनी के सैक्सेनी प्रान्त में 1483 ई. में हुआ था। वह एक किसान का पुत्र था और इसको अपनी बाल्यावस्था में बहुत निर्धनता और कठिनाइयाँ सहनी पड़ी थीं। बालिग होने पर वह एरफर्ट (Erfurt) नगर के एक मठ में भिक्षु

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

1. जॉन कैल्विन का जन्म ..... में 1502 में हुआ था।
   (क) फ्रांस (ख) इटली (ग) अमेरिका (घ) रूस
2. धर्म सुधार आंदोलन का सफल संचालक और नेता ..... था।
   (क) एरफर्ट (ख) मार्टिन लूथर (ग) जॉनहस (घ) आरनाल्ड
3. धर्म सुधार आंदोलन थी .....।
   (क) जन-क्रान्ति (ख) आंदोलन (ग) रूढ़ि (घ) रिवाज

3.5 यूरोप के अन्य देशों में धर्म सुधार आंदोलन (Religious Reformation Movements in other Countries of Europe)

1. हॉलैण्ड इरैस्मस (1467-1536 ई.): इरैस्मस का जन्म हॉलैण्ड में हुआ था। वह हॉलैण्ड में प्रोटेस्टैंट धर्म का प्रमुख प्रचारक था। परन्तु उसने अपने जीवन का अधिकतर भाग इटली, जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैण्ड मे बिताया। वह बड़ा विद्वान और धर्म शास्त्री था। उसको ईसाई धर्म तथा पादरियों की दुर्दशा देखकर बड़ा दु:ख होता था। वह ईसाई धर्म की त्रुटियों की बहुत निन्दा किया करता था। उसने अपने एक प्रसिद्ध ग्रंथ Praise of Folly में पादरियों के दोषमय जीवन की बड़ी हँसी उड़ाई है। कहते हैं कि उसके इस ग्रंथ ने प्राचीन कैथोलिक धर्म और पोप के मान एवं मर्यादा को इतनी हानि पहुँचाई, जितनी लूथर के आंदोलन और विद्रोह ने भी नहीं पहुँचाई। लोग कहने लगे कि इरैस्मस की हंसी की इस पुस्तक ने पोप को लूथर के क्रोध से भी अधिक हानि पहुँचायी है। इरैस्मस इस ग्रंथ द्वारा ईसाई धर्म की निन्दा नहीं करना चाहता था। उसका तात्पर्य तो इस धर्म में सुधार करने का था। उसका कहना था कि हमारे धर्म का सारांश शान्ति और एकता है और ये बातें तभी हो सकती है जब सिद्धांत थोड़े हों और आडम्बर बिल्कुल न हों। प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचारानुसार अपना मत प्रकट करने और भगवान की पूजा करने की पूर्ण स्वतंत्रता हो। उसका कहना था कि हमें धार्मिक उत्साह में अंधा नहीं हो जाना चाहिए और चर्च में सुधार धीरे-धीरे होने चाहिए। वह रोमन कैथोलिक चर्च में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का विरोधी था। उसकी तो एकमात्र इच्छा यह थी कि किसी प्रकार चर्च के दोष दूर हो जायें। वह चर्च के विरुद्ध विद्रोह करने के पक्ष में न था। वास्तव में वह पादरियों के सांसारिक जीवन, वैभव-विलासिता एवं धन-लोलुपता का घोर विरोधी था और धर्म में शान्तिमय उपायों से धीरे-धीरे सुधार करने के पक्ष में था।

चित्र 3 इरैस्मस

2. स्विट्जरलैण्ड जिंगली (1484-1531 ई.): जिंगली स्विट्जरलैण्ड में नवीन धर्म का सबसे प्रसिद्ध प्रचारक था। वह बड़ा उदारचित एवं विद्वान था। वह युवावस्था में ही भिक्षु बन गया। वह अपने विचार समाचार-पत्रों द्वारा प्रकाशित करता रहता था। वह कहता था कि गिरजाघर सच्चे ईसाइयों का गणतंत्र राज्य है। वह पादरियों की अनुचित बातों जैसे क्षमा-पक्ष बेचने का अधिकार, पादरियों के अविवाहित रहने और तीर्थ-यात्रा करने आदि का बड़ा विरोधी था।

3. स्काटलैण्ड नौक्स (1505-1572): जॉन नॉक्स कैल्विन का शिष्य था। उसने नवीन धर्म का प्रचार स्कॉटलैण्ड में किया। वह पोप और पोपतंत्र का घोर विरोधी था। उसके भारी परिश्रम और उत्साह से स्कॉटलैंड वाले केवल प्रोटेस्टैण्ट ही नहीं। बल्कि पक्के प्यूरिटन हो गये। इसका चलाया हुआ धर्म प्रेस बिटीरियन धर्म कहलाता था। स्कॉटलैण्ड में 300 वर्ष तक इसका

नोट

कृषकों का विद्रोह (1525 ई.): लूथर का कहना था कि भगवान के सामने सब मनुष्य समान और बराबर हैं। इस विचार का प्रचार होने से जर्मनी में एक बड़ा भयंकर आंदोलन खड़ा हो गया। कृषकों ने इसका यह अर्थ समझा कि वे और उनके सामन्त या जागीरदार बराबर हैं। फिर वे जागीरदारों को अपना स्वामी तथा अपने को उनका सेवक क्यों समझें? उन्होंने एकदम विद्रोह कर दिया एवं भूमिदास (Serfdom) प्रथा को समाप्त करने की मांग शुरू कर दी। लूथर ने उनको समझाने की बहुत चेष्टा की परन्तु वह इसमें असफल रहा। इसका कारण यह था कि निर्धन किसान सामंतों के अत्याचारों और भारी करों से बड़े दु:खी थे। सामंतों ने किसानों के विद्रोह को बड़ी कठोरता से दमन करना चाहा। लूथर ने इस मामले में सामंतों का पक्ष लिया। इससे साधारण लोग लूथर से घृणा करने लगे।

जॉन कैल्विन

जॉन कैल्विन लूथर से भी उग्र सुधारक था। वह चाहता था कि ईसाई लोग बाइबिल की शिक्षा के अनुसार ही जीवन व्यतीत करें। लूथर का तो मतभेद केवल सैद्धांतिक था तथा वह गिरजाघरों के प्रबंध में अधिक परिवर्तनों के पक्ष में नहीं था, परन्तु कैल्विन इस क्षेत्र में भी आमूल परिवर्तन करने के पक्ष में था।

आरम्भिक जीवन: जॉन कैल्विन का जन्म फ्रांस में 1502 में हुआ था। उसके पिता ने प्रारंभ से ही उसको पादरी बनाने की ठानी थी। जब कैल्विन बड़ा हुआ तो वह चर्च के विद्रोह का पक्षपाती बन गया। सरकार ने उसको नास्तिक होने के नाते हर प्रकार का दण्ड देना चाहा, परन्तु वह फ्रांस से भाग निकला और बहुत दिनों तक विदेशों में घूमता रहा। बेसील (Basel) नगर में रहते हुए उसने 'The Institute of The Christian Religion' नामक ग्रंथ की रचना की, जिसमें उसने ईसाई धर्म के विषय में अपना मत प्रकट किया। वह मार्टिन लूथर से भी अधिक विद्वान और धर्मशास्त्र का पण्डित था। 1536 ई. में वह स्विट्जरलैण्ड के जैनेवा नगर में पहुँचा और वहाँ धर्म का प्रचार करने लगा। धीरे-धीरे जैनेवा निवासियों और वहाँ के धार्मिक लोगों पर उसका इतना गहरा प्रभाव हो गया मानों वह उस नगर का शासक हो। नगर की सफाई, व्यवसाय, उद्योग-धन्धे, शिक्षा आदि सब कार्य उसके हाथ में था। वह हर कार्य के करने में बड़ा निपुण था। उसका शासन बड़ा कठोर था जिसमें शोख कपड़े पहनना, नाचना-कूदना, शराब पीना निषिद्ध था। ऐसा करने वालों को कड़ा दण्ड दिया जाता था। दुराचार का दण्ड मृत्यु था। नास्तिकों को जीवित ही जलवा दिया जाता था।

चित्र 2 जॉन कैल्विन

कैल्विन के सिद्धांत (Calvinism): कैल्विन संसार के भोग-विलास के विरुद्ध था। वह कट्टर भाग्यवादी था। उसका कथन था कि जैसा मनुष्य के भाग्य में भगवान् ने लिख दिया है उसको संसार की कोई शक्ति मिटा नहीं सकती। कुछ लोग जन्म से मरण तक सुख भोगने के लिए और कुछ दु:ख भोगने के लिए पैदा होते हैं। संसार में समानता कभी नहीं हो सकती। कुछ जन्म से ही बड़े तथा कुछ जन्म से ही छोटे एवं कुछ जन्म से ही भाग्यशाली होते हैं। उसका यह कथन लोगों को सदा भयभीत रखता था।

कैल्विन का प्रभाव: यदि कैल्विन की शिक्षाएँ एवं प्रभाव केवल जैनेवा तक ही सीमित रहते तो संसार में वह इतनी कीर्ति प्राप्त न कर पाता। लेकिन जैनेवा उस समय में कई देशों के शरणार्थियों का केन्द्र था, जो अपने देश के धार्मिक अत्याचारों से जान बचाकर वहाँ आ गये थे। उन सब व्यक्तियों पर कैल्विन का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वे कैल्विन के शिष्य बन गए और जब वे वापिस अपने देश लौटे, तो वहाँ उन्होंने कैल्विन के सिद्धांतों (Calvinism) का प्रचार किया। इंग्लैण्ड से जो लोग मेरी ट्यूडर के अत्याचारों से बचकर भाग आये थे, उन्होंने इंग्लैण्ड वापिस जाकर कैल्विन के सिद्धांतों के आधार पर एक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की, जो प्यूरिटन (Puritan) धर्म कहलाया। प्यूरिटन सम्प्रदाय वालों ने इंग्लैंड के इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया। स्कॉटलैण्ड, हॉलैण्ड और फ्रांस में जिन लोगों ने इन सिद्धांतों को अपनाया, वे अपने दृढ़ विश्वास, दृढ़ संकल्प, कठिन परिश्रम तथा शुद्ध आचरण के लिए आज तक प्रसिद्ध हैं।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

1. जॉन कैल्विन का जन्म ..... में 1502 में हुआ था।
   (क) फ्रांस (ख) इटली (ग) अमेरिका (घ) रूस
2. धर्म सुधार आंदोलन का सफल संचालक और नेता ..... था।
   (क) एरफर्ट (ख) मार्टिन लूथर (ग) जॉनहस (घ) आरनाल्ड
3. धर्म सुधार आंदोलन थी .....।
   (क) जन-क्रान्ति (ख) आंदोलन (ग) रूढ़ि (घ) रिवाज

3.5 यूरोप के अन्य देशों में धर्म सुधार आंदोलन (Religious Reformation Movements in other Countries of Europe)

1. हॉलैण्ड इरैस्मस (1467-1536 ई.): इरैस्मस का जन्म हॉलैण्ड में हुआ था। वह हॉलैण्ड में प्रोटेस्टैंट धर्म का प्रमुख प्रचारक था। परन्तु उसने अपने जीवन का अधिकतर भाग इटली, जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैण्ड मे बिताया। वह बड़ा विद्वान और धर्म शास्त्री था। उसको ईसाई धर्म तथा पादरियों की दुर्दशा देखकर बड़ा दु:ख होता था। वह ईसाई धर्म की त्रुटियों की बहुत निन्दा किया करता था। उसने अपने एक प्रसिद्ध ग्रंथ Praise of Folly में पादरियों के दोषमय जीवन की बड़ी हँसी उड़ाई है। कहते हैं कि उसके इस ग्रंथ ने प्राचीन कैथोलिक धर्म और पोप के मान एवं मर्यादा को इतनी हानि पहुँचाई, जितनी लूथर के आंदोलन और विद्रोह ने भी नहीं पहुँचाई। लोग कहने लगे कि इरैस्मस की हंसी की इस पुस्तक ने पोप को लूथर के क्रोध से भी अधिक हानि पहुँचायी है। इरैस्मस इस ग्रंथ द्वारा ईसाई धर्म की निन्दा नहीं करना चाहता था। उसका तात्पर्य तो इस धर्म में सुधार करने का था। उसका कहना था कि हमारे धर्म का सारांश शान्ति और एकता है और ये बातें तभी हो सकती है जब सिद्धांत थोड़े हों और आडम्बर बिल्कुल न हों। प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचारानुसार अपना मत प्रकट करने और भगवान की पूजा करने की पूर्ण स्वतंत्रता हो। उसका कहना था कि हमें धार्मिक उत्साह में अंधा नहीं हो जाना चाहिए और चर्च में सुधार धीरे-धीरे होने चाहिए। वह रोमन कैथोलिक चर्च में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का विरोधी था। उसकी तो एकमात्र इच्छा यह थी कि किसी प्रकार चर्च के दोष दूर हो जायें। वह चर्च के विरुद्ध विद्रोह करने के पक्ष में न था। वास्तव में वह पादरियों के सांसारिक जीवन, वैभव-विलासिता एवं धन-लोलुपता का घोर विरोधी था और धर्म में शान्तिमय उपायों से धीरे-धीरे सुधार करने के पक्ष में था।

चित्र 3 इरैस्मस

2. स्विट्जरलैण्ड जिंगली (1484-1531 ई.): जिंगली स्विट्जरलैण्ड में नवीन धर्म का सबसे प्रसिद्ध प्रचारक था। वह बड़ा उदारचित एवं विद्वान था। वह युवावस्था में ही भिक्षु बन गया। वह अपने विचार समाचार-पत्रों द्वारा प्रकाशित करता रहता था। वह कहता था कि गिरजाघर सच्चे ईसाइयों का गणतंत्र राज्य है। वह पादरियों की अनुचित बातों जैसे क्षमा-पक्ष बेचने का अधिकार, पादरियों के अविवाहित रहने और तीर्थ-यात्रा करने आदि का बड़ा विरोधी था।

3. स्काटलैण्ड नौक्स (1505-1572): जॉन नॉक्स कैल्विन का शिष्य था। उसने नवीन धर्म का प्रचार स्कॉटलैण्ड में किया। वह पोप और पोपतंत्र का घोर विरोधी था। उसके भारी परिश्रम और उत्साह से स्कॉटलैंड वाले केवल प्रोटेस्टैण्ट ही नहीं। बल्कि पक्के प्यूरिटन हो गये। इसका चलाया हुआ धर्म प्रेस बिटीरियन धर्म कहलाता था। स्कॉटलैण्ड में 300 वर्ष तक इसका

बड़ा जोर रहा। इसके कुछ शिष्य आयरलैण्ड में भी आ पहुँचे और वहाँ भी नवीन धर्म के विचार फैलाने लगे।

नोट

4. फ्रांस में प्रोटेस्टैंट धर्म: फ्रांस में प्रोटेस्टैण्ट धर्म (फ्रांस में कैल्विन के अनुयायी ह्यगोनांट्स कहलाते थे) ने कुछ अधिक बल नहीं पकड़ा। इसका कारण एक तो फ्रांस की स्थिति थी। दूसरा कारण फ्रांस के शासक लुई बारहवां (1515–1547 ई.) का मंत्री रिशलू (Richelieu, 1585-1642 ई.) था। वह फ्रांस को धार्मिक झगड़ों से दूर रखना चाहता था। इसलिए उसने सदा पोप का पक्ष लिया एवं ह्यगोनोट्स को दबाये रखा। जब कभी भी ह्यगोनोट्स ने किसी प्रकार का उपद्रव किया, उसने बड़ी कठोरता से उनका दमन किया। परन्तु उसने अपनी राजनीति से जर्मनी के प्रोटेस्टैण्टों को सदा प्रोत्साहन एवं सहायता दी। उसकी नीति यह थी कि जर्मनी में सदा घरेलू युद्ध होता रहे जिससे जर्मनी इतना निर्बल हो जाए कि फ्रांस को उसकी ओर से कोई भय न रहे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks) :

4. सैवोनारोता का जन्म ..... में फेरारा नामक स्थान पर इटली में हुआ था।
5. पादरी लोगों का जीवन ..... नहीं था।
6. धर्म सुधार आंदोलन एक ..... का प्रतीक था।

3.6 इंग्लैण्ड में धर्म सुधार (Religious Reformation in England)

इंग्लैण्ड के निवासी रोमन कैथोलिक थे। मध्यकाल में चर्च और पादरियों के जीवन में कई दोष और त्रुटियाँ दिखाई देने लगी और भिन्न-भिन्न स्थानों पर कई विद्वान, भाषणदाता, लेखक और आलोचक इनकी निन्दा करने लगे, तो इंग्लैण्ड में भी ऐसा होने लगा। इंग्लैण्ड में कैथोलिक धर्म के आलोचकों में सबसे अधिक प्रसिद्ध जॉन वाईक्लिफ था, जो ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अध्यापक था। उसके समय में बहुत से विद्वान एवं समझदार लोग यह अवश्य सोचने लगे थे कि हमारे धर्म में तथा पादरियों के जीवन में कुछ त्रुटियाँ तथा दोष ऐसे आ गये हैं जिनका सुधार होना आवश्यक है। परन्तु वाईक्लिफ तथा उसके अनुयायियों (उसके अनुयायी लोलार्ड्स (Lollards) कहलाते थे।) या अन्य चर्च-विरोधियों के परिश्रम का कोई फल उस समय नहीं निकला। इसके पश्चात् इरैस्मस (Erasmas), कालेट (Colet) तथा सर थामस मूर (Sir Thomas Moore) ने भी इस विषय में कुछ विचार एवं प्रचार किया। परन्तु इन सबका तात्पर्य केवल धर्म सुधार का था। वे प्राचीन कैथोलिक धर्म को छोड़ने या नष्ट करने एवं गिरजा की धन-सम्पत्ति को लूटने की बात बिल्कुल भी नहीं सोचते थे। ऐसी स्थिति बहुत दिनों तक चलती रही। छापेखाने के आविष्कार, पुस्तकों की भरमार, विचारकों के विचार एवं समस्त सुधारकों के प्रचार से साधारण जनता में जागृति प्रतिदिन बढ़ती गई। वास्तविक स्थिति यह थी कि इंग्लैण्ड के लोग शिक्षा एवं साहित्य में इतने पिछड़े हुए थे कि उन्हें धर्म सुधार में अधिक दिलचस्पी न थी। परन्तु यहाँ के राजा हेनरी अष्टम का पोप से झगड़ा हो गया। उसने पोप से संबंध तोड़ लिया किन्तु धर्म के सिद्धांतों में कोई सुधार नहीं किया।

चित्र 4 हेनरी अष्टम

(1) इंग्लैण्ड में प्रोटेस्टैंट धर्म रानी कैथरीन: इंग्लैण्ड में नवीन धर्म या प्रोटेस्टैंट धर्म का प्रचार हेनरी अष्टम के शासनकाल में आरंभ हुआ। हेनरी अष्टम (1509–1547 ई.) ने पोप की विशेष आज्ञा से अपनी विधवा भावज अर्थात् अपने भाई आर्थर की विधवा से विवाह कर लिया था। उसका नाम महारानी कैथरीन (Queen Catherine) था। परन्तु कैथरीन के कोई पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ और केवल एक कन्या ही हुई। यह सदा बीमार रहती थी। हेनरी को इस बात की चिन्ता हुई कि कदाचित् उसकी मृत्यु बिना किसी पुत्र के हो गई, तो इस राज्य के लिए बड़े झगड़े होंगे और देश में घरेलू युद्ध छिड़ जायेगा, जिससे देश में अशान्ति एवं

नोट

चित्र 5 कार्डिनल वुल्जे

अराजकता फैल जायेगी तथा बाहरी आक्रमणों का भय हो जायेगा। इसके अतिरिक्त एक विशेष बात यह थी कि उसको अपने दरबार की एक नर्तकी से प्रेम हो गया था तथा वह उससे विवाह करना चाहता था। महारानी कैथरीन के होते हुए वह ऐसा कर नहीं सकता था। इसलिए उसने पोप से, अपनी पहली शादी ईसाई धर्म के नियमों के विपरीत होने के कारण, रानी कैथरीन को तलाक देने की आज्ञा मांगी। पोप यह आज्ञा दो कारणों से नहीं देना चाहता था। पहला कारण यह था कि जब हेनरी का कैथरीन से विवाह हुआ था, उस समय पोप ने इसको धर्म विपरीत समझकर विधवा भाभी से विवाह करने की विशेष आज्ञा (Special Dispensation) दी थी। दूसरा कारण यह था कि कैथरीन स्पेन के सम्राट चार्ल्स पंचम की बुआ थी और चार्ल्स पंचम उस समय यूरोप में सबसे शक्तिशाली शासक था। पोप को भय था कि कैथरीन के तलाक की आज्ञा देने पर चार्ल्स पंचम उससे अवश्य अप्रसन्न हो जायेगा तथा उसका शत्रु हो जाएगा। पोप हेनरी अष्टम को भी अप्रसन्न नहीं करना चाहता था। इसलिए उसने टालमटोल की नीति अपनायी।

हेनरी अष्टम कैथरीन को तलाक देने पर तुला हुआ था। पोप की चुप्पी उसे बुरी लगी। अन्त में तलाक के प्रश्न को तय करने के लिए गिरजा के दो उच्च अधिकारी, एक इटली का कार्डीनल कोम्पेजियो (Cardinal Compegeo) और एक इंग्लैण्ड के कार्डीनल वुल्जे को नियुक्त किया गया। इस दोनों ने कई वर्षों तक कुछ भी निर्णय नहीं किया। इसके भी कई कारण थे।

2. रानी कैथरीन को तलाक: जब कई वर्ष बीत गये और तलाक के मामले का कुछ निर्णय नहीं हुआ तो हेनरी को बड़ा क्रोध आया। उसने वुल्जे (Wolsey) को सब पदों से हटा दिया एवं उस पर कोई दोष लगाकर अभियोग चलाने की योजना बनायी। परन्तु सौभाग्य से इसी बीच वुल्जे की मृत्यु हो गयी। हेनरी ने अपने नये सलाहकार टॉमस क्रामवेल की सलाह से इंग्लैण्ड के कुछ विद्वान धर्म-शास्त्रियों से निर्णय लेकर 1534 ई. में बिना पोप की आज्ञा के महारानी कैथरीन को तलाक दे दिया एवं अपनी प्रेमिका नर्तकी ऐन बुलीन (Anne Boleyn) से विवाह कर लिया।

3. पोप से संबंध तोड़ना: कैथरीन को तलाक देकर ऐन बुलीन से विवाह कर लेने की घटना से पोप क्रुद्ध हो गया। उसने इस बात पर अपनी अप्रसन्नता प्रकट की एवं हेनरी अष्टम को धर्म बहिष्कृत (excommunicated) कर दिया। हेनरी ने रुष्ट होकर पोप से अपना संबंध तोड़ दिया। उसने कई कानून बनाकर इंग्लैण्ड का रोम के पोप से संबंध समाप्त कर दिया। पहले नियम (Act of Annates) के अनुसार उसने इंग्लैण्ड से पोप को भेजी जाने वाली राशि बंद कर दी। इस प्रकार उसने पोप की उस आय का साधन बंद कर दिया, जो उसे इंग्लैंड से हुआ करती थी। वह साधन यह था कि जब कभी किसी पादरी की किसी बड़े गिरजा में नियुक्ति होती थी, तो उस गिरजा की पहले वर्ष की आय वह पोप को भेंट किया करता था। दूसरे नियम 'Act of Appeals' से इंग्लैण्ड के धार्मिक मामलों की अपीलें सुनने का अधिकार भी पोप से छीन लिया। अब इंग्लैण्ड में किसी धार्मिक मामले में भी पोप से सलाह या आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं थी। तीसरे नियम Act of Supremacy के अनुसार हेनरी अष्टम ने स्वयं को पोप के स्थान पर इंग्लैण्ड के चर्च का प्रधान घोषित कर दिया।

इंग्लैण्ड में प्रोटेस्टैण्ट धर्म की उन्नति: धीरे-धीरे इंग्लैण्ड के चर्च के स्वरूप एवं उसके सिद्धांतों में परिवर्तन होने लगा। हेनरी अष्टम के पुत्र एडवर्ड षष्टम (1547-1553 ई.) के समय में कई आवश्यक सुधार हुये और लगातार दो नवीन प्रार्थना पुस्तकें (Prayer Books) प्रकाशित की गयीं और इंग्लैण्ड के गिरजाघरों में इनका प्रयोग किया जाना अनिवार्य कर दिया गया और प्रोटेस्टैंट धर्म इंग्लैण्ड का राज धर्म घोषित कर दिया गया। कैथोलिक धर्म के कुछ कट्टर सिद्धांतों को हटा दिया गया। Mass की पुरानी प्रथा बंद कर दी गयी। एडवर्ड की बहन मेरी (1553-1558 ई.) ने अपने

नोट

शासन-काल में फिर से इंग्लैण्ड में कैथोलिक धर्म प्रचलित करना चाहा। उसने पोप की प्रधानता स्वीकार कर ली परन्तु उसका मनोरथ सफल न हो सका। उसकी बहन एलिजाबेथ प्रथम (1558-1603 ई.) के शासनकाल में ऐंग्लिकैन या इंगलिश चर्च दृढ़ता के साथ स्थापित हो गया। इंग्लैण्ड में नवीन धर्म और ऐंग्लिकैन चर्च के अनुयायी हैं।

धर्म-सुधार आंदोलन के प्रभाव: धर्म-सुधार आंदोलन यूरोप का एक महान क्रान्तिकारी आंदोलन था। उससे यूरोप में महान् परिवर्तन हुए। पोप ने अपनी सत्ता को सुरक्षित रखने का भरसक प्रयास किया, परन्तु प्रोटेस्टैंट धर्म के आंदोलन ने पोप की सार्वभौमिक सत्ता की नींव खोखली कर दी। जनसाधारण में नैतिकता की वृद्धि हुई। धर्म ने यूरोप के मानव समाज को छोटे-छोटे संघों में विभक्त कर दिया। उन संघों में एकता की भावना उत्पन्न हुई और फिर अपने देश के धर्म की रक्षा करने को वे सदैव तत्पर रहने लगे। इस प्रकार यूरोप में राष्ट्रीय भावना ने जन्म लिया पर इसके साथ ही लोगों में असहिष्णुता की भावना की अंकुरित हुई। धर्म आन्दोलन के बाद मनुष्य केवल अपने धर्म को ही चाहने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोप में धार्मिक युद्ध होने लगे। धार्मिक एकता नष्ट हो गयी। प्रोटेस्टैन्ट धर्म की सादगी ने कला पर भी प्रभाव दिखाया। सामन्तों ने भी इस नवीन धर्म को प्रोत्साहन दिया। वे पोप के प्रभाव से मुक्त हो गए और पोप का राजनैतिक प्रभुत्व कम हो गया।

टास्क धर्म सुधारकों का पहला उद्देश्य क्या था ?

3.7 धर्म सुधार आन्दोलन को रोकने के प्रयास (Efforts to Restrain the Religious Reformation Movement)

लूथर के जीवन-काल में ही धर्म-सुधार के कार्य में इतनी शीघ्र एवं आश्चर्यजनक सफलता और उन्नति हुई कि लोग चकित रह गये। इटली एवं स्पेन जैसे कट्टर कैथोलिक देशों में भी लोग विचार करने लगे कि धर्म में सुधार अवश्य होना चाहिए नहीं तो पोप और कैथोलिक धर्म ही समाप्त हो जायेगा। पोप, कैथोलिक धर्मावलम्बी सम्राट तथा कैथोलिक धर्म मानने वाले लोग निरन्तर धर्म-सुधार के प्रसार और उसके वेग को रोकने के लिये विचार कर रहे थे। इस बीच यह नवीन धर्म जर्मनी, इंग्लैंड, स्विटजरलैण्ड, फ्रांस आदि में भी स्थापित हो गया। इस नवीन धर्म के प्रचार को रोकने तथा उसके प्रभाव को समाप्त करने के लिए किये गये उपायों को काउण्टर रिफार्मेशन (Counter Reformation) कहते हैं।*

काउण्टर रिफार्मेशन (Counter Reformation)–जब यूरोप के बहुत से देश एवं वहाँ के निवासी रोम के चर्च से अलग हो गये तो पोप एवं उसके अनुयायियों ने यह मान लिया कि हमको चर्च के संगठन में सुधार अवश्य करना होगा और धर्म सुधार आन्दोलन (Reformation) को रोकना होगा। काउन्टर रिफार्मेशन का अर्थ यह नहीं है कि यह धर्म सुधार के विरुद्ध एक आन्दोलन था, वरन् यह तो धर्म सुधार आन्दोलन के दमन करने की एक चेष्टा थी। इस प्रकार काउन्टर रिफार्मेशन धर्म सुधार आन्दोलन की एक प्रतिक्रिया थी।

सुधार का प्रश्न–सर्वप्रथम कैथोलिक चर्च में कई प्रकार के संगठन सम्बन्धी सुधार किये गये। गिरजों के शासन और संगठन में भी कई परिवर्तन किये गये और कुछ दिनों के लिए कैथोलिक लोगों तथा कैथोलिक धर्म में एक

*The spread of Protestantism caused the Roman Church to make a determined attempt to reform itself from within, and this we have what is known as the Counter Reformation.

–II.A. Davies

नोट

नई जान-सी पड़ गई। पोप से आग्रह किया गया कि वह अपने व्यक्तिगत जीवन और अपनी रियासत के शासन-प्रबन्ध में आवश्यक सुधार करे। पोप से लेकर साधारण कैथोलिक लोग तक सोचने लगे कि नवीन धर्म के प्रचार और विस्तार को किस प्रकार रोका जाए। इस सम्बन्ध में 16वीं शताब्दी के कई पोपों ने अच्छा कार्य किया। कई पादरियों ने भी कई प्रकार की सुधार की बातें सोचीं और लागू कीं। चर्च की ट्रैन्ट की कौंसिल (Council of Trient) ने कई सम्मेलनों में इस विषय पर पर्याप्त विचार किया। काउन्टर रिफार्मेशन में कार्य करने वाले न केवल नवीन धर्म के प्रचार और विस्तार को ही रोकने के प्रयत्न में थे वरन् वे तो यह चाहते थे और कोशिश भी करते थे कि जो लोग या जो देश प्रोटेस्टैंट हो गये हैं उनको भी फिर से कैथोलिक बना लिया जाये।

इगनेशियस लोयला (1491-1556 ई.)–कैथोलिक धर्म को पुनर्जन्म देने वाले कई सम्प्रदायों एवं महन्तों (Monks) के मठ अथवा आश्रम (Monastries) थे। इनमें से प्रत्येक कोई विशेष काम करता था। कोई रोगियों की चिकित्सा एवं सेवा करता था, कोई निर्धनों को नि:शुल्क शिक्षा देता था, कोई पादरियों के आचरण सुधारने का यत्न करते थे तथा कोई केवल पोप की सेवा ही करते थे। इन संस्थाओं में सबसे प्रसिद्ध जीसस का साधु समाज (Society of Jesus) था। इसको स्थापित करने वाला इगनेश्यिस लोयला था। उसका जन्म स्पेन में सन् 1491 में हुआ था। यह एक सिपाही एवं योद्धा था और एक बार पैम्पीलू (Pampcluna) के युद्ध में सन् 1521 में घायल हो गया था और इस प्रकार अब वह सैनिक सेवा के लिये असमर्थ था। इसलिये अब उसने ईसाई धर्म का प्रचारक बनने का निर्णय कर लिया। मैनरीस (Manerisa) नगर के पास एक गुफा में एक वर्ष तक एकान्त में तपस्या करके और सैलेमंका (Salamanca) और बारसीलोना (Barcelona) नामक विश्वविद्यालय में उच्चकोटि की शिक्षा प्राप्त करके वह सन् 1538 ई. में एक पादरी बन गया।

जीसस का साधु समाज–कुछ दिनों पश्चात् साधु इगनेशियस लोयला ने अपने चारों और बहुत से शिष्य एकत्रित कर लिए जो पोप की हर प्रकार से सेवा करने के लिये तत्पर थे। इस प्रकार सन् 1540 ई. में ईसा मसीह के साधु समाज (Order of St. Jesus) की स्थापना हुई। पोप पॉल ने इसको स्वीकृत किया। कैथोलिक धर्म के सुधार के क्षेत्र में इस संस्था या समाज के सदस्यों ने बड़ा संतोषजनक एवं सराहनीय कार्य किया। जिस समय इस साधु-समाज के प्रतिनिधि ट्रेन्ट की कौंसिल में पहुंचे उस समय वहाँ कैथोलिक धर्म के सिद्धान्तों में सुधार करने का प्रश्न चल रहा था। जीसस के साधु-समाज ने कहा कि इस प्रकार का धर्म सुधार सबसे अधिक दुर्बलता दिखाना होगा तथा शास्त्रों के विरुद्ध भी होगा।

3.8 सारांश (Summary)

यूरोप में अनेक देशों के सम्राट और शासक मध्यकाल से ही चर्च के अधिकारों और राजनैतिक मामलों में उसके हस्तक्षेप के विरोधी थे। इसके बाद जब इंग्लैंड, फ्रांस, स्पेन एवं दूसरे देशों में राष्ट्रीय राज्य स्थापित हुए तो सम्राटों और राजाओं की विरोध भावना में और भी वृद्धि हुई और वे चर्च एवं पोप के नियंत्रण से मुक्त करने की चेष्टा करने लगे। वे चर्च की जागीरों पर कर लगाने लगे, पोप की आज्ञाओं का उल्लंघन करने लगे, गिरजाघरों के न्यायालयों के अधिकारों में कमी करने लगे और चर्च के अधिकारियों की नियुक्ति भी स्वयं करने लगे। राष्ट्रीय भावनाओं के विकास के फलस्वरूप साधारण लोग यह मांग करने लगे कि एक रोमन चर्च के स्थान पर प्रत्येक देश में एक राष्ट्रीय चर्च होना चाहिए। ये मांगें कहाँ तक उचित थीं, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु इन सब बातों से यह अवश्य स्पष्ट है कि रोमन चर्च के प्रति विरोधी भावना लोगों में दिन पर दिन बढ़ रही थी।

3.9 शब्दकोश (Keywords)

1. गिरजाघर (Church) – ईसाइयों का उपासना-गृह
2. महंत (Monk) – मठ का प्रधान

3.10 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

नोट

1. धर्म-सुधार के प्रमुख कारण बताइए।
2. धर्म सुधार के आरम्भिक प्रयत्नों का वर्णन कीजिए।
3. 'मार्टिन लूथर और धर्म सुधार आंदोलन' पर टिप्पणी लिखिए।
4. धर्म सुधार आंदोलन को रोकने के प्रयासों का वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. (क) फ्रांस
2. (ख) मार्टिन लूथर
3. (क) जन-क्रान्ति
4. 1452 ई.
5. आदर्श
6. जनजागृति

3.11 संदर्भ पुस्तकें (Futher Readings)

बुक्स

1. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
2. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
4. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
5. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
6. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
7. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*

नोट

इकाई 4: राज्य के सिद्धान्त (Theories of State)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

4.1 निरंकुश राजतंत्र का सामाजिक आधार (Social Base of Autocratic Monarchy)

4.2 फिलीप द्वितीय, 1556-1598 (Philip II, 1556–1598)

4.3 फिलीप द्वितीय एवं नीदरलैण्ड (Philip II and Netherland)

4.4 सारांश (Summary)

4.5 शब्दकोश (Keywords)

4.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

4.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- निरंकुश राजतंत्र का सामाजिक आधार जानने में।
- फिलिप द्वितीय का शासनकाल जानने में।
- फिलिप द्वितीय के समय में नीदरलैण्ड में स्पेन के विरुद्ध विद्रोह को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

यूरोप में आधुनिक युग के उदय के साथ जो प्रमुख राजनीतिक विकास हुआ वह है चौदहवीं एवं पंद्रहवीं शताब्दियों में मध्ययुगीन विकेन्द्रित सामंती व्यवस्था की समाप्ति और इसके स्थान पर राजवंशीय राज्यों का उदय जिसमें आमतौर पर राजाओं के पास निरंकुश सत्ता थी। मध्ययुगीन व्यवस्था के साथ तीन विशिष्ट संस्थाएँ जुड़ी हुई थीं–**सार्वभौमिक चर्च व्यवस्था एवं सैद्धांतिक रूप से सार्वभौमिक पवित्र रोमन साम्राज्य तथा भू-स्वामित्व एवं स्थानीय प्रशासन की सामंती व्यवस्था।** मध्ययुगीन व्यवस्था के विच्छिन्न होने के कई कारण थे। नगरीय अर्थव्यवस्था के विकास, मेनर-प्रणाली (manor-system) के पतन, क्रूसेड और तथाकथित "ब्लैक डैथ" तथा शतवर्षीय युद्धों ने कुलीन सामंतों की स्थिति को बहुत कमजोर कर दिया था। फिर भी इन कारणों का अवश्यंभावी परिणाम निरंकुश राजतंत्र का उदय ही नहीं कहा जा सकता। उनका परिणाम सामान्य अव्यवस्था अथवा जनराज्य भी हो सकता था। अत: आधुनिक राजवंशीय राज्यों के उदय के लिए अन्य कारणों की खोज आवश्यक है। संभवत: इनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है व्यापारिक क्रान्ति। औपनिवेशिक साम्राज्यों के उदय तथा वाणिज्यवादी नीतियों के उपयोग ने राजाओं को प्रचुर धनराशि प्रदान की जिसका प्रयोग वे सेनाओं को सुसंगठित करने एवं अपनी राजनीतिक सत्ता के विस्तार के

नोट

लिए कर सकते थे। व्यापार के विस्तार ने भी सुदृढ़ सरकार की अनिवार्यता को बढ़ावा दिया। पंद्रहवीं शती तक व्यापारी, बैंकर तथा निर्माणकर्ता इस स्थिति में नहीं थे कि वे स्वतंत्र रूप से खड़े हो सकें। समुद्री व्यापार को समुद्री डाकुओं से खतरा था तथा नवोदित उद्योगों को वह संरक्षण चाहिए था जो केवल एक सुदृढ़ सरकार ही प्रदान कर सकती थी।

नोट्स स्पेन के निरंकुश राजतंत्र के वंशीय हित यूरोप के विभिन्न भागों में फैले हुए थे।

4.1 निरंकुश राजतंत्र का सामाजिक आधार (Social Base of Autocratic Monarchy)

वह सामंतवाद का उच्चतम चरण था या फिर पूँजीवाद का प्रथम चरण? कुल मिलाकर यह कहना उचित होगा कि वह सामंतवाद का उच्चतम चरण था, पूँजीवाद का प्रथम चरण नहीं क्योंकि यूरोप के अधिकांश भागों में संकट के कारण निरंकुश राज्यों का राजनीतिक तंत्र अभिजात वर्गों (aristocrat classes) के पक्ष में झुका हुआ था। वास्तव में निरंकुश सम्राटों के नेतृत्व में राजनीतिक नियंत्रण की शैली में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आए थे। यूरोपीय महाद्वीप में रोमन विधि-व्यवस्था अपनाए जाने के दो पहलू थे। जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं, सिविल कानून के क्षेत्र में उसने पूर्णरूप से निजी संपत्ति की अवधारणा को सुदृढ़ किया। सार्वजनिक कानून (public law) के क्षेत्र में (जो राज्य एवं प्रजा के पारस्परिक संबंधों को व्यवस्था नियंत्रित करता था) रोमन विधि-व्यवस्था ने सम्राट की सर्वोच्च सत्ता (sovreignty) के निरंकुश स्वरूप को मान्यता प्रदान की। इसकी सहायता से सम्राट ने करारोपण (taxation) की केंद्रीकृत (centralised system) का विकास किया और कुलीन वर्ग की स्थानीय राजनीतिक शक्ति को कम कर दिया। जब शक्ति का यह संकेंद्रण चल रहा था, राजाओं ने शहरवासियों, विधि में पारंगत पादरियों और आवश्यकता पड़ने पर कृषक वर्गों में से अनेक व्यक्तियों एवं सामाजिक गुटों का समर्थन प्राप्त किया।

स्पेन– यह एक विडंबना है कि स्पेन, जो आज यूरोप के राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से सबसे पिछड़े हुए देशों में से एक था, आधुनिक काल के प्रारंभ में यूरोप के सबसे शक्तिशाली एवं उन्नत देशों में से था। स्पेन का अतीत प्रेरणादायक रहा है किंतु बहुत थोड़े समय तक, क्योंकि स्पेन की महानता के भौतिक स्रोत उस देश में नहीं थे। आधुनिक स्पेन के इतिहास में 1469 में कास्तील की इज़ाबेला एवं अरागान के राजा फ़र्डिनेंड के विवाह के फलस्वरूप इन दोनों राज्यों का एकीकरण महत्त्वपूर्ण घटना थी। इससे पूर्व स्पेन के कई छोटे-छोटे राज्य यूरोप की गतिविधियों में भाग लेने की स्थिति में नहीं थे। पूर्व में अरागान का राज्य था जिसमें केटेलोनिया एवं बेलोन्शिया की काउंटियाँ भी सम्मिलित थीं; उत्तर पूर्व में नवारे का राज्य था; मध्य में लिओन (Leon) एवं कास्तील (Castile) का संयुक्त क्षेत्र (United Realm) था। लिओन में ऑस्ट्रेशिया एवं गैलोशिया की पूर्ववर्ती काउंटियाँ भी सम्मिलित थीं। यह मध्यवर्ती ही नहीं सबसे महत्त्वपूर्ण राज्य भी था जिसके उत्तर-पश्चिम में अटलांटिक सागर, उत्तर में विस्के की खाड़ी एवं दक्षिण-पूर्व में अरागान एवं ग्रेनेडा राज्य की सीमाओं के बीच भूमध्य सागर की सीमा थी। दक्षिण में एक छोटे से भाग में ग्रेनेडा (Granada) का मुस्लिम राज्य था। तेरहवीं शती के मध्य तक उनकी समस्त शक्ति 'मूरों' के विरुद्ध युद्ध में लगी रहती थी। स्वयं कास्तील एवं अरागान के राज्यों में भी सामंत शक्तिशाली एवं अविजित थे। इन राज्यों की वैवाहिक एकता ने उन्हें उपद्रवी तत्वों को नियंत्रित करने में सहायता प्रदान की तथा उन राज्यों के प्रभाव में वृद्धि हुई। उनके द्वारा स्पेनिश राज्य में कैथोलिक एवं राजनीतिक भावनाएँ इस सीमा तक परस्पर संबद्ध हो गई कि उन्हें पृथक् करना कठिन था। राजतंत्र ने अपने प्रजाजनों की प्राचीन कट्टरता का सहारा लिया एवं स्वयं को धर्म के उद्देश्य के लिए एकरूप कर दिया। धार्मिक कट्टरता के प्रति इस राजवंश के उत्साह ने ही इसे अत्यधिक

नोट

राष्ट्रीय बना दिया। कट्टर लोगों से घिरे इस राज्य की असहिष्णुता ही इसकी सफलता का रहस्य बन गई। 1480 के उपरांत धर्माधिकरण (inquisitor) अथवा धर्म परिवर्तन करने वाले यहूदियों के ऊपर निगरानी रखना एक धार्मिक कृत्य के साथ-साथ राजकीय संस्था भी बन गया क्योंकि इस अधिकारी की नियुक्ति, जिसे महाधर्माधिकारी (Grand Inquisitor) कहा जाता था, राज्य द्वारा ही की जाती थी एवं उसके द्वारा घोषित निर्णयों के ऊपर रोम को अपील नहीं की जा सकती थी। इस संदर्भ में फ़र्डिनेंड एवं इजाबेला के नाम के साथ ही एक और नाम अविच्छिन्न रूप से जुड़ा है– टार्क्यूमेडा (Torquemada) का। ये तीनों ही धर्म-विरोधियों (heresy) से अत्याधिक घृणा करते थे। सम्राट उन व्यक्तियों की संपत्ति जब्त कर लेता था जो इस अभियान की अवधि में मारे जाते थे एवं इस धन का प्रयोग वह उन नए उद्यमों में करता था जो स्वयं राजतंत्र के साथ-साथ चर्च के लिए भी लाभदायक हों। 'मूरों' के विरुद्ध धार्मिक युद्ध एक बार फिर प्रारंभ कर दिए गए, साथ ही यहूदियों के विरुद्ध भी क्योंकि मुसलमानों के साथ-साथ वे भी तो ईसा मसीह के दुश्मन थे। 1492 में ग्रेनेडा के मुसलिम राज्य पर विजय प्राप्त कर ली गई। उसी वर्ष यहूदियों को निकाला जाने लगा। इन विजयों एवं निर्वासन से राजकोष को प्रचुर धन और राजनीतिक तथा धार्मिक विस्तार के लिए साधन भी प्राप्त हुए। एक ओर कोलंबस एक नई दुनिया की खोज के लिए चल पड़ा जिसे जीतने के साथ-साथ ईसाई धर्म में दीक्षित किया जाना था; दूसरी ओर मोरक्को के तट पर अल्जीरिया एवं ट्यूनिस आदि के विरुद्ध स्पेनिश सेनाओं के अभियान प्रारंभ हुए जो यह घोषणा करते हुए प्रतीत होते थे कि स्पेन की समस्त शक्ति इस्लाम के विरुद्ध की जा रही है। 14वीं व 15वीं शती में तुर्की के बढ़ते प्रभाव से आक्रांत ईसाई जगत में जहाँ पूर्व में मुसलमानों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था और साम्राज्य की राजधानी विएना तक खतरे में पड़ती जा रही थी वहाँ पश्चिम में स्पेन के सैनिकों ने मुसलमानों के सदियों पुराने प्रभाव का अंत कर दिया और ईसाई प्रभाव की पुन: स्थापना कर दी।

क्या आप जानते हैं पंद्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दी में स्पेन में पराश्रय के विभिन्न प्रकार विकसित हो गए थे।

यूरोप के राजवंशीय झगड़ों में स्पेन के हस्तक्षेप का प्रारंभ देखने के लिए हमें चौदहवीं शती के मध्य में जाना होगा जब अरागान ने सिसली के मामलों में हस्तक्षेप किया था। वहाँ अरागान वंश का एक संबंधी राजवंश राज्य कर रहा था जिसके समर्थन में हस्तक्षेप करके अरागान ने ड्यूक ऑफ़ एनजू (Duke of Anjou) को वहाँ से खदेड़ दिया। उसी समय से एनजू वंश (जिसका राज्य पर अधिकार था) एवं अरागान वंश (जिसका प्रायद्वीप पर अधिकार था) दोनों में निरंतर संघर्ष चलता रहा। 1480 में अपनी मृत्यु के समय एनजू ने नेपल्स के अपने समस्त अधिकार फ्रांस के राजवंश को दे दिए। फ्रांस का राजा चार्ल्स अष्टम अपने अधिकार को दृढ़ करने का इच्छुक था। उसने 1494 में एल्प्स पार करके नेपल्स का राजमुकुट लेने के लिए अभियान प्रारंभ किया। इस समय फ़र्डिनेंड तथा इज़ाबेला ने द्वीप के अपने संबंधी राजा के समर्थन के लिए चार्ल्स के विरुद्ध युद्ध में भाग लिया। इसी समय हैप्सबर्ग वंश का मैक्सिमिलियन (Maximillion) नीदरलैंड में फ्रांस के विरुद्ध संघर्ष कर रहा था; उसकी एवं स्पेन के शासकों की फ्रांस के प्रति शत्रुता ने दोनों राजवंशों के बीच राजनीतिक और फिर वैवाहिक गठबंधन स्थापित कर लिया। 1496 में स्पेन के उत्तराधिकारी डान जुआन का मैक्सिमिलियन की पुत्री मार्गरेट के साथ एवं मैक्सिमिलियन के पुत्र फिलिप का विवाह स्पेन की राजकुमारी इनफेंटा जुआना के साथ होने से दोहरा संबंध क़ायम हो गया। उस समय तक यह अप्रत्याशित था कि इन राजाओं के राज्य एक ही व्यक्ति के अधीन हो जाएँगे किंतु 1497 में डान जुआन की, 1498 में उसकी बड़ी बहन इज़ाबेला की तथा 1500 में उसके पुत्र डान मिगुइल की मृत्यु के कारण स्पेनिश राज्य के उत्तराधिकार-संबंधी अधिकार भी मैक्सिमिलियन के पुत्र फिलिप एवं उसकी पत्नी जुआना को प्राप्त हो गए। 1506 में फिलिप की भी मृत्यु हो गई तथा उत्तराधिकार अब उसके सातवर्षीय पुत्र चार्ल्स को प्राप्त हुआ। 1516 में फ़र्डिनेंड की मृत्यु के समय चार्ल्स बस वयस्क ही हुआ था। चार्ल्स पंचम के नाम से स्पेनिश राजसिंहासन पर बैठने वाला

नोट

यह शासक लगभग उतना ही प्रसिद्ध हुआ जितना उससे पूर्व शार्ले मैन (Charle Magne) एवं उसके बाद नेपोलियन (Nepolean), यद्यपि उसकी प्रसिद्धि का कारण उसकी अपनी योग्यता नहीं अपितु विशाल विरासत थी। चार्ल्स की मृत्यु से पूर्व ही दक्षिणी अमेरिका की विस्मयजनक विजय, पूर्ण हो चुकी थी। यद्यपि उसके जीवनकाल में यह विजय अभी बहुत नई थी, अत: उसके साधनों का चार्ल्स अपनी सत्ता के विस्तार के लिए उपयोग नहीं कर सका और न ही इसका कोई प्रभाव उसकी नीतियों पर पड़ सका। नई विजय के प्रभाव उसके पुत्र के समय में ही परिलक्षित हो सके–चार्ल्स की सभी योजनाएँ एवं साधन यूरोप से ही प्रभावित थे।

फ़र्डिनेंड की मृत्यु (1516) ने जब उसे स्पेन का एवं मैक्सिमिलियन की मृत्यु (1519) ने जब उसे ऑस्ट्रिया का स्वामी बनाया, उस समय, चार्ल्स दोनों ही देशों की परिस्थितियों से बिल्कुल अनभिज्ञ था। उसकी शिक्षा-दीक्षा नीदरलैंड में बेल्जियमी शिक्षकों द्वारा हुई थी जो उसे केवल अपने ही देश का राजकुमार समझते थे तथा उन्होंने उसे न तो जर्मन भाषा पढ़ाई न ही स्पेनिश। 1517 में जब वह अपने लैमिश तथा वलून (Walloon) चहेतों से घिरा एवं फ्रेंच भाषा बोलता हुआ पहली बार अपनी कस्तीलियाई प्रजा के सम्मुख उपस्थित हुआ तो उन्हें इतना अधिक धक्का लगा कि उसका स्वागत एक 'जन-विद्रोह' (Revolt of the Comuneros) से किया गया।

स्पेन के यूरोपीय राजवंशों के आपसी संघर्षों में हस्तक्षेप करने का प्रारंभ फ़र्डिनेंड एवं इज़ाबेला ने कर ही दिया था। चार्ल्स ने इसे और आगे बढ़ाया। यद्यपि अफ्रीका के तटीय प्रदेशों पर भी स्पेनिश अभियान जारी रहे किंतु उसकी नीति मूलत: हैप्सबर्ग हितों से प्रेरित रही एवं उसके अधीन स्पेन ऐसी योजनाओं में फँस गया जो उसके अपने राष्ट्रीय हितों के विरुद्ध थीं। कई ओर से उसके (चार्ल्स के) राज्य से घिरे फ्रांस के लिए यह स्वाभाविक था कि वह उससे संघर्ष करे। मैक्सिमिलियन की मृत्यु से (1519) स्थिति और भी गंभीर हो गई क्योंकि चार्ल्स ने स्वयं को ऑस्ट्रियाई साम्राज्य के लिए प्रत्याशी घोषित कर दिया। फ्रांस के राजा फ्रांसिस प्रथम ने इसे रोकने की चेष्टा की किंतु असफल रहा। 1521 में दोनों में संघर्ष छिड़ गया। अंतत: 1556 में चार्ल्स को शांति समझौते के लिए बाध्य होना पड़ा।

फ़र्डिनेंड एवं इज़ाबेला स्पेन में कोई सामान्य कर-व्यवस्था अथवा न्यायिक प्रणाली स्थापित करने में सफल नहीं हो सके थे। फ़र्डिनेंड एवं इज़ाबेला के विवाह से उत्पन्न एकीकरण के बावजूद उनकी प्रजा अपने को कास्तीलियाई, अरागानी, कैटोलोनियाई (Catalants) इत्यादि ही अधिक समझती थी, स्पेनिश नहीं और एक प्रकार से इसका कोई विकल्प भी नहीं था। फ़र्डिनेंड एवं इज़ाबेला ने स्पेन को एक सामान्य सरकार जरूर प्रदान कर दी थी। किंतु एक जैसा प्रशासन नहीं। दो सिंहासनों का एकीकरण वैयक्तिक था, सांस्थानिक नहीं। प्रत्येक राज्य ने अपना पृथक् अस्तित्व और कानून बनाए रखे थे यद्यपि उनकी उपाधि 'कास्तील, लिओन, अरागान एवं सिसली के शासक' थी। किंतु फिर भी उनमें से प्रत्येक अपने ही राज्य का शासक अधिक था, स्पेन का सम्राट कम। स्पेन के विभिन्न राष्ट्रों में एकता स्वभावत: नहीं थी : उसे ऊपर से लाना था। अपनी नीति को क्रियान्वित करने के लिए दोनों अपने-अपने राज्य के साधनों का मिलकर उपयोग कर सकते थे–विशेषकर कास्तील राज्य के साधनों का जहाँ एकीकरण स्थापना के कुछ स्पष्ट माध्यम मौजूद थे, जैसे एक अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली साम्राज्य जिस पर प्रतिनिधि संस्थाओं का नियंत्रण भी नहीं था और जो कुलीनतंत्र की सत्ता को चुनौती देने की सामर्थ्य रखता था। इसकी सहायता से वह एक समन्वित राज्य (unified state) और फिर एक साम्राज्य की स्थापना कर सकते थे। किंतु इन साधनों की सुसंगठित करने एवं विभिन्न प्रांतों की प्रजा को इनका अभ्यस्त बनाने की आवश्यकता थी, इसलिए पहले उन्हें अपनी सत्ता को कास्तील में दृढ़ करने की आवश्यकता थी। एकीकरण में कास्तील अधिक प्रभावशाली हिस्सेदार (partner) था क्योंकि भौगोलिक दृष्टि से यह अरागान से लगभग तीन गुना था, इसकी स्थिति अधिक केंद्रीय थी और मानवीय शक्ति की दृष्टि से भी यह अधिक श्रेष्ठ था। राजा (Crown) को संघर्षरत गुटों से बचाने के लिए और शांति एवं व्यवस्था की आधारभूत स्थिति स्थापित करने के लिए फ़र्डिनेंड एवं इज़ाबेला को अपनी प्रजा के सबसे शक्तिशाली वर्ग से संघर्ष करना पड़ा। यह वर्ग था कुलीन वर्ग जो पंद्रहवीं शती तक आते-आते मूरों के विरुद्ध विजयों के परिणामस्वरूप भूमि एवं प्रशासकीय पद दोनों ही प्राप्त करके और राजकीय भूमि पर भी कब्जा करके इतना

नोट

शक्तिशाली हो गया था कि राजवंश बदलने तक की शक्ति प्राप्त कर चुका था। अत: ये दोनों कुलीन वर्ग की शक्ति कम करके ही अपनी शक्ति बढ़ा सकते थे। नई संस्थाओं को स्थापित करने में वे हिचक रहे थे और उन्होंने उन्हीं अभिकरणों (agencies) का प्रयोग किया जिनसे उनकी प्रजा परिचित थी। उनमें से एक थी हरमेंदाद (Hermandad) अथवा अनेक नगरों में संगठित की जाने वाली पुलिस सेना। इसे उन्होंने सान्ता हरमेंदाद अथवा पवित्र भाईचारे (holy brotherhood) के रूप में पुनर्गठित कर लिया। समाज के प्रत्येक वर्ग–यहाँ तक कि पादरी (clergy) एवं कुलीन वर्ग से भी इस पुलिस सेना के व्यय-बहन के लिए अनुदान लिए गए और एक कौंसिल के माध्यम से इस पर राजकीय नियंत्रण स्थापित कर दिया गया जिसका नाम था 'कौंसेज द ला हरमेंदाद (Conseja-De-La-Hermandad 1476)।' इस सेना (force) ने कुलीन वर्ग की शक्ति को कम करने में तथा अपराधियों को पकड़ने में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। किंतु कुलीनों की शक्ति को पूरी तरह नष्ट करने के लिए कुछ और अधिक सीधी कार्यवाही अपेक्षित थी, अत: सामंती दुर्गों को नष्ट कर दिया गया, विभिन्न सामंतों के पारस्परिक युद्धों को अवैध घोषित कर दिया गया, राजकीय भूमि को पुन: राजकीय कब्जे में लाया गया तथा राजा अपनी प्रजा के मुकाबले अधिक वैभव-संपन्न और धनी हो गया। 'मास्टर-शिप्स ऑफ़ द मिलिटरी ऑर्डस' का, जो अर्थव्यवस्था का एक मुख्य आधार था, राजकीय सेवा में विलय कर लिया गया और उसे एक राजकीय 'कौंसिजो द ला ऑर्दरे' (Consejo De Las Ordares, 1495) के अधीन कर दिया गया। इससे भी बढ़कर बात यह हुई कि न्याय-व्यवस्था में सुधार लाया गया और सामंती न्यायालयों की तुलना में शाही न्यायालयों को अधिक शक्तिसंपन्न किया गया।

कैथोलिक राजाओं (फ़र्डिनेंड तथा इज़ाबेला) के समय से पूर्व राजा शहरी वर्ग के साथ मिलकर कुलीन वर्ग के नियंत्रण से स्वयं को मुक्त करने में असमर्थ रहा क्योंकि उस समय नगर भी कुलीनतंत्र के अधीनस्थ या उनके समर्थक थे। किंतु 15वीं शती के मध्य तक शहरी लोग सामंती अव्यवस्था से तंग आ गए थे और उनके विरुद्ध नेतृत्व की आशा में थे। प्रारंभिक हरमेंदाद शहरी लोगों की ही देन थे और यह शांति, सुरक्षा एवं व्यापारिक सुविधाओं के लिए नगरवासियों की आकांक्षा का ही परिणाम था कि कुलीन वर्ग के विरुद्ध राजकीय कार्यक्रमों को सफलता मिल सकी। कास्तील में शहरों में भी शाही प्रतिनिधियों की नियुक्ति करके फ़र्डिनेंड और इज़ाबेला ने उन्हें भी राजकीय नियंत्रण में ले लिया, किंतु पूर्वी राज्यों में ये इतने सफल नहीं रहे। फ़र्डिनेंड इन राज्यों को कास्तील में ही मिला देना चाहता था। उसने कास्तील एवं इन राज्यों में परस्पर विवाह संबंधों को बढ़ावा दिया। कैटेलोनिया (Catalonia) आदि में कास्तीलियाई अधिकारी नियुक्त किए किंतु स्पेनी धर्माधिकरण (inquisition) ही एकमात्र ऐसी संस्था थी जो इन दोनों क्षेत्रों में विद्यमान थी। इसके अतिरिक्त ये पूर्वी राज्य इतने निर्धन थे और मानवीय शक्ति में भी इतने कम थे कि इनकी अपनी संस्थाएँ तोड़कर अगर राजकीय केंद्रीकरण लादा जाता तो उससे भी कोई लाभ नहीं होता। इसके बाद हैप्सबर्ग ने कैथोलिक राजाओं से एक अखंड शासन-व्यवस्था नहीं अपितु एक वैविध्यपूर्ण विकेंद्रित व्यक्तिगत संघ (variegated decentralised personnel union) ही उत्तराधिकार में प्राप्त किया था। फ़र्डिनेंड एवं इज़ाबेला ने स्पेनिश चर्च की स्वतंत्रता को क्षति पहुँचाकर उसे भी अपने नियंत्रण में लाने की कोशिश की। बैनीफिसों (Benefices) पर पोप की जगह राजकीय नियंत्रण स्थापित कर दिया गया। कुलीन वर्ग, पादरी तथा शहरी वर्ग तीनों की महत्ता को कम करने का अवश्यंभावी परिणाम था उस संस्था 'कार्टेस' का भी पतन जिसमें इन तीनों वर्गों का प्रतिनिधित्व मिला हुआ था।

इस संदर्भ में देखने पर धर्माधिकरण ही एकमात्र सर्वव्यापी संस्था थी। यह शायद राज्य के प्रशासनिक विभाजन एवं विभिन्नता में एकता लाने के प्रयास थे। चार्ल्स पंचम के समय में उसके चांसलर मर्क्यूरो गाल्टमारा (Mercurio Galtmara) ने विस्तृत साम्राज्य में कुछ सामान्य संस्थाएँ स्थापित करने की चेष्टा की–उल्लेखनीय रूप से वित्तीय कौंसिल तथा एक अंत:प्रदेशीय राज्य कौंसिल। किंतु साम्राज्य के विस्तार ने संभवत: अखंडता की स्थापना की दिशा में बाधा उत्पन्न की और स्वयं स्पेन ने भी प्रशासनिक एकता की प्रक्रिया में बाधा डाली।

स्पेन के निरंकुश राजतंत्र के वंशीय हित यूरोप के विभिन्न भागों में फैले हुए थे। यह राजतंत्र स्पेन के कृषक वर्ग एवं व्यापारिक वर्गों को नियमित समर्थन देने में असमर्थ एवं अनिच्छुक था, इसीलिए ये वर्ग समुद्र पार विकसित

नोट

औपनिवेशिक एवं व्यापारिक व्यवस्था से कोई लाभ उठा सके। राजतंत्र की राजकोषीय (fiscal) आवश्यकताओं ने (जो यूरोप के राजवंशीय एवं धार्मिक युद्धों में उसके सम्मिलित होने से उत्पन्न हुई थीं) उसे बाध्य कर दिया कि वह अर्थव्यवस्था के क्षेत्रों को विदेशी वित्तदाताओं के हाथों गिरवी रख दे। स्पेन की कच्ची ऊन और स्पेनी उपनिवेशों से आने वाले सोने का विदेशी व्यापार यूरोप के अन्य समृद्ध नगरों के पूँजीपति व्यापारियों के हाथों में था। इस प्रकार स्पेन एक आश्रित अर्थव्यवस्था का देश बन गया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks) :

1. यूरोपीय महाद्वीप में ..... व्यवस्था अपनाए जाने के दो पहलू थे।
2. लिओन में ऑस्ट्रेशिया एवं गैलोशिया की पूर्ववर्ती ..... भी सम्मिलित थीं।
3. स्पेन का अतीत ..... रहा है।

वास्तव में स्पेन का पतन एक ऐसा विषय है जिस पर इतिहासकार एकमत हैं। 1938 में ई.जे. हेमिल्टन द्वारा इस विषय पर अपना मत प्रतिपादित किया गया और इसके बाद कई प्रसिद्ध लेखों में इतिहासकारों ने अपने-अपने मत प्रकट किए हैं। इन मतों के आलोक में स्पेन के पतन-संबंधी अधुनातन विचारों का विश्लेषण किया जाना बहुत जरूरी है। इस विषय में कोई संदेह नहीं कि स्पेन को कई संकटों एवं कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था किंतु वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या वे संकट एवं कठिनाइयाँ कभी एक संपन्न समाज के पतन का प्रतिनिधित्व करती हैं। क्या वे कठिनाइयाँ इतनी व्यापक स्तरीय थीं कि उन्होंने स्पेन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया और ये दो शताब्दियों तक चलती रहीं? इन सभी प्रश्नों का उत्तर निषेधात्मक है, अत: स्पेन के पतन के स्वरूप के विषय में कई प्रश्न उदित हो जाते हैं। इस संदर्भ में यह बात ध्यान देने योग्य है कि आर्थिक दृष्टि से स्पेन कभी बहुत प्रबल नहीं था। कास्तील खेती के मामले में आत्मनिर्भर नहीं था तथा अपनी समृद्धि के लिए ऊन के व्यापार पर आश्रित था। दूसरा तत्व यह है कि आधुनिक युग के प्रारंभ में स्पेन की अर्थव्यवस्था समेकित (unified) नहीं थी। यह एक पिछड़ा देश था जिसके पास अपने साधन न के बराबर थे तथा यह विदेशी मंडियों एवं विदेशी संभरणकर्ताओं (suppliers) पर आश्रित था। पंद्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दी में स्पेन में पराश्रय के विभिन्न प्रकार विकसित हो गए थे। पहला पराश्रय-चक्र ऊन-व्यापार संबंधी था जिसे फर्डिनेंड एवं इज़ाबेला ने राष्ट्रीय स्तर पर संगठित करने का प्रयास किया था और जो 16वीं शती में अपने उत्कर्ष पर पहुँच गया था। व्यापार में प्रमुख स्थान फ्लैंडर्स, इटली एवं फ्रांस का था, अत: इस पराश्रय-चक्र ने स्पेन द्वारा कच्चे ऊन के निर्यात एवं तैयार माल के आयात का रूप लिया।

चार्ल्स का शासन वास्तव में काँटों का ताज था। वह कभी सुख से नहीं रह सका हालांकि उसके शासनकाल में ही स्पेन का अधिकतम उत्थान हुआ। अमेरिका महाद्वीप के दक्षिण के अधिकांश भाग स्पेन के कब्जे में आ गए थे और नई दुनिया में स्पेन सबसे बड़ा उपनिवेश बन गया। किंतु जितनी तेजी से उत्थान हुआ उतने ही गहरे पतन के बीज पड़े थे। उनका साम्राज्य स्थायी नहीं हो सकता था। आर्थिक पक्ष कई कारणों से कमजोर था। एक तो उसे शासन संभालते ही युद्ध शुरू कर देना पड़ा जिसका सिलसिला अंत तक नहीं टूटा। युद्ध क्षेत्र भी सीमित नहीं था– कभी फ्रांस की सीमाओं पर, कभी इटली में और कभी साम्राज्य की पूर्वी सीमाओं पर। सेना का यातायात कठिन तो था ही बेहद खर्चीला भी था। फिर वह एक शक्तिशाली नौसेना रखने के लिए भी मजबूर था क्योंकि अटलांटिक महासागर पार के उपनिवेशों की सुरक्षा उसी पर आधारित थी। इंग्लैण्ड से संघर्ष की स्थिति होने के कारण भी नौसेना आवश्यक थी। इतने सारे खर्चे राजस्व से पूरे नहीं हो सकते थे क्योंकि कर-व्यवस्था न केवल पंगु थी वरन् जैसी भी थी वह भी लागू नहीं हो पाती थी। ऐसी स्थिति में सोना-चाँदी उगलते उपनिवेश वरदान थे। किंतु बिना अर्जित किया, लूटा हुआ धन थोड़े दिन तो राहत देता रहा लेकिन इससे पूरी अर्थव्यवस्था कमजोर हो गई। स्पेन में बाहर से आने वाले धन के कारण लोग उस पर आश्रित होने लगे थे और वे श्रम करना छोड़ते जा रहे थे। मूर और यहूदी

नोट

भाग रहे थे। साम्राज्य में राजनीतिक एवं धार्मिक कारणों से अशांति थी। राष्ट्रीय देशभक्ति सभी जगह इतनी विकसित नहीं हुई थी कि स्वायत्तता के आधार पर शासन चलाया जा सके। किंतु चार्ल्स का विरोध तो हो ही रहा था–कभी सामंत सिर उठाते तो कभी राजा। फिर लूथर का प्रादुर्भाव हो गया। पूरी तरह कैथोलिक होने के कारण चार्ल्स लूथर के कार्यों को धर्म-विरोधी समझता था। लूथर के आंदोलन को जर्मन शासन का समर्थन मिलने से चार्ल्स को आंतरिक राजनीतिक खतरे का भी पता लग गया, अत: लूथरवाद धार्मिक तथा राजनीतिक दोनों दृष्टियों से चार्ल्स के लिए एक विद्रोह था–उसका उसने दमन भी करना चाहा किंतु सफल नहीं हो सका। सन् 1556 में उसने साम्राज्य से मुक्ति लेने का फैसला कर दिया, किंतु उसे छोड़ने से पहले उसने एक फैसला किया। उसने देखा कि सबसे बड़ी कमजोरी राज्य का विस्तार थी, अत: उसने राज्य का विभाजन कर दिया। स्पेन, नीदरलैण्ड, इतावली राज्य और अमेरिकी साम्राज्य उसने पुत्र फिलिप को दे दिए और यूरोप के राज्य अपने भाई फ़र्डिनेंड को जिसे बाद में सम्राट चुन लिया गया।

4.2 फिलिप द्वितीय, 1556-1598 (Philip II, 1556–1598)

अपने पिता के समान ही फिलिप द्वितीय अपने समय का सबसे महत्त्वपूर्ण शासक रहा। फिलिप द्वितीय का उद्देश्य प्रोटेस्टेंटवाद का दमन एवं स्पेन की प्रभुता की स्थापना करना था किंतु कई समस्याओं से घिरा होने के कारण फिलिप अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सका। स्पेन में फिलिप ने एकता स्थापित करने, आर्थिक सुधार करने, कैथोलिक धर्म को दृढ़ करने एवं मूरों को भगाने की चेष्टा की। 1580 में उसने पुर्तगाल को स्पेन के साथ मिला दिया। यद्यपि यह विलय 1640 में समाप्त हो गया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. चार्ल्स पंचम को बर्गेंडी के ड्यूक की पैतृक जागीर अपने ..... से विरासत में मिली थी।
   (क) पिता (ख) चाचा (ग) मामा (घ) दादा
5. धर्माधिकरण की संस्था को ..... ही नीदरलैण्ड में लाया था।
   (क) फिलिम द्वितीय (ख) चार्ल्स पंचम (ग) रेकैसेन्स (घ) मार्गरेट
6. नीदरलैंडवासी ..... थे।
   (क) बिशप (ख) आर्कबिशप (ग) कैथोलिक (घ) प्रोटेस्टैन्ट

4.3 फिलिप द्वितीय एवं नीदरलैण्ड (Philip II and Netherland)

फिलिप द्वितीय के समय में नीदरलैण्ड में स्पेन के विरुद्ध विद्रोह हो गया। चार्ल्स पंचम को बर्गेंडी के ड्यूक की पैतृक जागीर अपने पिता से विरासत के रूप में प्राप्त हुई थी जिसमें फ्रांस-कोम्प्टे (Franche-Compte), मेशेलेन (Mechelen), फ्लैंडर्स (Flanders), नामूर (Namur), हेनॉट (Hainaut), हॉलैंड (Holland), जेलैंड (Zealand), ब्राबॉट (Brabont), अंशत: लिम्बर्ग (Limburg), एवं लक्समबर्ग (Luxumberg), के प्रदेश सम्मिलित थे। विरासत के इस केंद्र में चार्ल्स पंचम ने विजय द्वारा टूर्ने (Tournai) एवं केम्ब्रे (Cambra) के नगर राज्यों एवं उत्तर-पूर्वी नीदरलैण्ड के कई प्रदेशों, जैसे फ्रीजलैंड (Friesland), यूट्रेक्ट (Utrecht), ग्रोनीन्जेन (Groningen), ओमेलान्डेन (Ommelanden), ड्रेन्थ (Drenthe) एवं जेल्डरलैंड (Gelderland) के प्रदेशों को जोड़ दिया। इन सबको सम्मिलित रूप में सत्रह प्रांतों के नाम से पुकारा जाता था।

नोट

नीदरलैंड के ये प्रदेश यद्यपि विरासत एवं विजय के माध्यम से स्पेन के शासक के अधीन आ गए थे किंतु अपने स्पेनी स्वामी के साथ उनकी कोई समानता नहीं थी। स्पेन सामंती एवं कुलीनतंत्रीय (aristocratic) था, नीदरलैंड लोकतंत्रीय (democratic) एवं व्यापारिक (Commercial)। स्पेन एक अत्यधिक केंद्रीकृत राजतंत्र था। नीदरलैंड सत्रह प्रांतों का समूह था जिसमें से प्रत्येक में अपना गवर्नर एवं संविधान था और प्रत्येक प्रांत में कई ऐसे नगर थे जो स्वयं ही किसी स्वतंत्र राज्य से कम नहीं थे। नीदरलैंडवासी कैथोलिक थे किंतु उन पर नए धार्मिक विचारों का प्रभाव पड़ रहा था और काल्विनवाद का नीदरलैंड में स्वागत हुआ था। नीदरलैंडवासी स्थानीय एवं राष्ट्रीय भक्ति की भावना से ही ओतप्रोत नहीं थे, वे व्यापारिक दृष्टि से भी समृद्ध थे। यद्यपि इंग्लैण्ड के विकासशील ऊन उद्योग ने फ्लैंडर्स के कई ऊन केंद्रों को धक्का पहुँचाया था। फिर भी ऐंटवर्प (Antwerp) एक बड़ा व्यापारिक केंद्र था तथा नीदरलैण्ड के निवासी और व्यापारी अब भी यूरोप के सबसे धनी लोगों में से थे।

उत्तरी एवं दक्षिणी नीदरलैण्ड में कुछ उल्लेखनीय विभिन्नताएँ थीं–उत्तरी भाग प्रमुखत: ट्यूटॉनिक एवं अधिक लोकतांत्रिक था जब कि दक्षिणी भाग प्रमुखत: लतीमी एवं कुलीन वर्ग प्रधान था। प्रत्येक राज्य अपने आपमें संपूर्ण था तथा विभिन्न राज्यों के बीच आपसी द्वेष एवं प्रतिस्पर्धा की प्रबल भावना भी विद्यमान थी।

चार्ल्स पंचम के समय से ही इन विभिन्न प्रांतों में एकता लाने और इन पर स्पेन का प्रभावशाली शासन कायम करने के प्रयास किए जा रहे थे। यद्यपि चार्ल्स पंचम के समय में भी नीदरलैण्डवासियों पर अत्याचार किए गए थे, उनकी स्वतंत्रता पर अंकुश लगाए गए थे और विभिन्न युद्धों के लिए धन-प्राप्ति के उद्देश्य से उन पर भी कर लगाए गए थे किंतु फिर भी चार्ल्स पंचम ने उन्हें उसके आधीन बनाए रखा। फिलिप के सिंहासनारोहण के समय ऊपरी तौर से नीदरलैण्ड में शांति प्रतीत होती थी किंतु समय बीतने के साथ धर्म, स्वतंत्रता, व्यापारिक सुविधाओं एवं कराधान के प्रश्न अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होते गए और ऐसी स्थिति में फिलिप द्वारा उठाए गए प्रारंभिक कदम गलितयों की एक श्रृंखला बन गए।

यद्यपि धर्माधिकरण की संस्था (inquisition) को चार्ल्स पंचम ही नीदरलैण्ड में लाया था किंतु फिलिप द्वितीय ने इसका क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत कर दिया। कैथोलिक एवं प्रोटेस्टेंट ही तीन नए आर्कबिशपों के अधीन 14 नई बिशप की पदवियों (Bisoprics)–जिनके पास धर्माधिकरण की असीमित शक्तियाँ थीं–की स्थापना से समान रूप से क्रोधित थे।

धर्माधिकरण की निंदनीय संस्था की समाप्ति की मांग के साथ कई युवा कुलीनों ने नासॉ कैलेविस (Lewis of Nassau) के नेतृत्व में एक संगठन की स्थापना की जिसे "कम्प्रोमाइज" (Compromise) कहा गया। कई नगरों में धर्माधिकरण के विरुद्ध विद्रोह प्रारंभ हो गए। ऐसी स्थिति में फिलिप ने मार्गरेट के स्थान पर अल्वा के ड्यूक (Duke of Alva) को संरक्षक बनाकर भेज दिया। उसके साथ एक बड़ी सेना भेजा गई और अल्वा को, नीदरलैण्ड को बलपूर्वक अपने अधीन लाने की, आज्ञा दी गई (1566)। उसका आगमन विद्रोह के बढ़ने का अंतिम कारण था। अल्वा द्वारा स्थापित एवं नियंत्रित भयंकर रक्तपातपूर्ण कौंसिल द्वारा नीदरलैण्ड में प्राय: आतंक का राज्य स्थापित हो गया, किंतु फिर भी नीदरलैण्ड में विद्रोह जारी रहा। धन की आवश्यकता के कारण अल्जा के टूवैटिथ एवं टेन्थ पेनी (Twentieth and Tenth Penny) नामक स्पेन में प्रचलित दो टैक्स नीदरलैण्ड में लागू कर दिए। ये प्रत्येक वस्तु पर 20 प्रतिशत एवं 10 प्रतिशत अतिक्ति कर के रूप में थे। इसके द्वारा प्रत्येक वस्तु के मूल्य में वृद्धि नीदरलैण्ड जैसे व्यापारिक देश के लिए विनाशकारी सिद्ध होने लगी। इंग्लैण्ड की रानी एलिजाबेथ द्वारा डच एवं अंग्रेजी समुद्री डाकुओं को दिए जाने वाले संरक्षण से थोड़ी आशा बँधी। किंतु अभी एलिजाबेथ स्पेन के साथ खुले रूप में युद्ध के लिए तैयार नहीं थी, अत: यह आशा भी अधिक देर नहीं चल सकी। ऐसी स्थिति में द ला मार्क (De La Marck) ने, जिसे एलिजाबेथ ने शरण देने से इन्कार कर दिया था, ब्रिल नामक स्थान पर अधिकार जमा लिया और वहाँ विलियम ऑफ़ ऑरेज के नाम का झण्डा फहरा दिया। ब्रिल पर अधिकार एक नई समुद्री शक्ति के उदय का प्रतीक था और इसे डच रिपब्लिक का प्रारंभ कहा जा सकता है। विद्रोह जोर पकड़ने लगा। अल्वा के

नोट

विरुद्ध नीदरलैंड को कई विजयें इसलिए मिलीं क्योंकि स्पेन के पास कोई नौसेना अथवा तट एवं जलमार्गों पर नियंत्रण रखने का कोई साधन नहीं था और नीदरलैंड में जहाजरानी का एक महत्त्वपूर्ण स्थान था।

अल्वा ने अंतत: थककर अपनी वापसी की प्रार्थना की (1573)। उसका प्रभावहीन उत्तराधिकारी रेकैसेन्स (Requesens) युद्ध का अंत करना चाहता था किंतु विद्रोह का नेता विलियम तीन शर्तों पर दृढ़ था–धार्मिक सहिष्णुता, राष्ट्रीय स्वातंत्र्य की पुन:स्थापना और नीदरलैंड की सार्वजनिक सेवाओं से समस्त विदेशियों का निष्कासन। अत: युद्ध चलता रहा। 1576 में रेकैसन्स की भी मृत्यु हो गई।

टास्क चार्ल्स पंचम के समय में किस पर अत्याचार किए गए थे?

इसी समय उत्तरी एवं दक्षिणी नीदरलैंड में परस्पर मतभेद प्रारंभ हो गया। विलियम उत्तर के काल्विनवादी दल के साथ इतने घनिष्ठ रूप से संबद्ध हो गया था कि समस्त सत्रह प्रांत उसे अपना शासक मानने को तैयार नहीं थे। क्रमश: उत्तर में काल्विनवादी अधिक उग्र एवं विद्रोही होते गए और दक्षिणी भाग के कुलीन एवं अन्य लोग कैथोलिक धर्म के झंडे के नीचे एकत्र होने लगे। 1579 में आरास के समझौते के अनुसार उन्होंने कैथोलिक धर्म के प्रति अपनी आस्था एवं स्पेन के शासक के प्रति अपना समझौता व्यक्त किया (स्पेनी अथवा ऑस्ट्रियाई नीदरलैंड लगभग दो शताब्दियों तक हैप्सबर्ग डोमिनियन का भाग रहा)। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप उत्तर के राज्यों ने यूट्रेक्ट का संगठन (Union of Utrecht) बनाया (1579)। ये दो घटनाएँ इस बात की सूचक थीं कि नीदरलैंड दो भागों में विभक्त हो जाएगा। यूट्रेक्ट के संगठन द्वारा हॉलैंड, जेलैंड, जेल्डरलैंड, यूट्रेक्ट, फ्रीजलैंड तथा कालांतर में ग्रोनिन्जन एवं अवरीजसेल ने एक संघ की स्थापना की जिसका उद्देश्य उनकी नागरिक व धार्मिक स्वतंत्रता का संरक्षण था। 1584 में विलियम की हत्या हो गई किंतु स्पेन और संयुक्त प्रांतों (United Provinces) का यह युद्ध 1609 तक चलता रहा। 1584-85 में इंग्लैंड के लीसेस्टर की सेनाओं द्वारा डच को स्पेन के विरुद्ध फिलिप के जंगी बेड़े आरमेडा की पराजय (1588) ने स्पेन की शक्ति को क्षीण करने में बहुत सहयोग दिया। अंतिम निर्णायक युद्ध एक समुद्री युद्ध था जिसमें एक साहसी डच बेड़े ने जिब्राल्टर की खाड़ी में स्पेनी जंगी बेड़े पर हमला करके उसे पराजित कर दिया (1609)। फ्रांस एवं इंग्लैंड की मध्यस्थता से एक बारह वर्षीय युद्ध विराम संधि की गई जिसके द्वारा स्पेन ने संयुक्त प्रांतों की स्वतंत्रता एवं प्रभुसत्ता को स्वीकृति दे दी। उन्हें व्यापार की स्वतंत्रता भी दे दी गई (अंतत: 1648 में वेस्टाफ़ीलिया की संधि द्वारा स्पेन ने इसे मान्यता प्रदान कर दी)।

4.4 सारांश (Summary)

इस प्रकार लगभग चालीस वर्ष से चलता आ रहा यह संघर्ष इस आशातीत परिणाम के साथ समाप्त हुआ कि व्यापारियों और मछुआरों की इस जाति ने अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष प्रारंभ करके अपने समय के महानतम साम्राज्य को एक द्वितीय श्रेणी की शक्ति ही नहीं बनाया अपितु अपने लिए एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना भी कर ली। युद्ध ने उत्तरी नीदरलैंड के व्यापारिक विकास में योग दिया। डच लोग यूरोप के धान और लकड़ी व्यापार के संवाहक बन गए। वस्त्र व्यापार का केंद्र फ्लैंडर्स से हॉलैंड में स्थानातंरित हो गया। फ्रांस और इंग्लैंड ने, जो इस समय अपने ही मामलों में उलझे हुए थे, डच व्यापार के विश्वव्यापी विस्तार का प्रारंभ में कोई विरोध नहीं किया और इस प्रकार सत्रहवीं शती एक प्रकार से डच लोगों के उत्कर्ष की शताब्दी बन गई। दूसरी ओर, बहुत सीमा तक यह डच विरोध का भी युग था जिसमें अंतत: यूरोप के अन्य देशों की डच के विरुद्ध प्रतिस्पर्धा एवं ईर्ष्या ने डच रिपब्लिक को उन देशों के साथ युद्ध में उलझा दिया।

4.5 शब्दकोश (Keywords)

नोट

1. अभिजात वर्ग (Aristocrat Class)– कुलीन वर्ग
2. सर्वोच्च सत्ता (Sovereignty)– प्रभुसत्ता

4.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. निरंकुश शासन का सामाजिक आधार क्या था? स्पष्ट कीजिए।
2. फिलिप की मृत्यु कब हुई और उसके बाद उसका उत्तराधिकारी कौन बना?
3. अमेरिका की खानों पर किसका नियंत्रण था और उसकी अर्थव्यवस्था किस पर आधारित थी?
4. फिलिप द्वितीय का उद्देश्य क्या था और क्या वह अपने उद्देश्य में सफल हुआ?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. रोमन विधि
2. काउंटियाँ
3. प्रेरणादायक
4. (क) पिता
5. (ख) चार्ल्स पंचम
6. (ग) कैथोलिक

4.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
2. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
4. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
5. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
6. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
7. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*

नोट

इकाई 5: पूँजीवादी अर्थव्यवस्था एवं उसकी समालोचना (Capitalist Economy and its Critique)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

5.1 फिलिप द्वितीय एवं इंग्लैंड (Philip II and England)

5.2 सारांश (Summary)

5.3 शब्दकोश (Keywords)

5.4 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

5.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के केन्द्रों को जनाना।
- सोलहवीं सदी की नई कठिनाइयों को जानना।
- फ्रांस के विकास को जानना।

प्रस्तावना (Introduction)

1579 के समझौते के अनुसार यद्यपि दक्षिणी नीदरलैंड ने स्पेन से एकीकरण स्वीकार कर लिया किंतु इसका एक परिणाम यह हुआ कि एंटवर्प एवं फ्लेमिंग जैसे नगरों के कारीगर एवं उद्यमी या तो स्वतंत्र नीदरलैंड में प्रवासी होकर चले गए या वे यूरोप के अन्य नगरों में चले गए। इसीलिए स्पेनी नीदरलैंड में पूँजीवाद का अपकर्ष एवं स्वतंत्र नीदरलैंड और यूरोप के उन देशों में–जहाँ नीदरलैंडीय प्रवासी उद्यमी बस गए थे–डच पूँजीवाद का उत्कर्ष हुआ। कारीगरों एवं उद्यमियों के प्रवास के पीछे इन वर्गों की एवं राज्य की उनके प्रति नीतियाँ थीं। वास्तव में मध्य युग से ही पूँजीवाद मुख्यत: स्वावलंबी नगर राज्यों द्वारा विकसित किया गया था, जैसे उत्तर में फ्लेमिश एवं हैन्शियाटिक नगर, भूमध्य सागरीय भाग में इटली के नगर एवं दोनों के बीच राइन नदी पर स्थित दक्षिणी जर्मनी के नगर। यद्यपि इन पर शासन करने वाले व्यापारी कैथोलिक थे, पोप उनको संरक्षण देता था किंतु इस तत्व ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उनके व्यापारिक उद्यम में बाधा उपस्थित नहीं की थी। जहाँ तक राज्य के साथ उनके संबंध का प्रश्न था, राज्य एक प्रकार से उनका माध्यम था। वे नहीं चाहते थे कि राज्य उनका मालिक बन जाए और न ही वे यह चाहते थे कि चर्च अथवा राज्य प्रत्यक्ष या परोक्ष करों के माध्यम से व्यापार और उद्यम पर इतना भार डाल दे कि वह वहन न किया जा सके। ये नगर राज्य अधिकांशत: अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के केंद्र थे और उनकी स्थिति विदेशों से निरंतर व्यापारियों के आगमन एवं आवास पर आश्रित थी। करों द्वारा निर्वाह-व्यय बढ़ जाने का अनिवार्य परिणाम यही होता

नोट

कि व्यापार केंद्र को किसी अन्य सुविधाजनक स्थान पर ले जाया जाए। इसीलिए जब पंद्रहवीं सदी में चर्च ने कौन्सिलियर आंदोलन (conciliar reform) का विरोध करने के लिए नए कर लगाए तब पुराने स्वतंत्र नगरों की ओर से इसका विरोध किया गया।

नोट्स फिलिप द्वितीय के समय में राजकीय अधिकारी को बेलिस कहा जाता था।

सोलहवीं सदी तक नई कठिनाइयाँ आ खड़ी हुईं। 1520 में लूथर का विद्रोह प्रारंभ हो गया। अब संघर्ष एक नौकरशाही राजतंत्रीय राज्यों एवं दूसरी ओर लूथर की क्रांतिकारी नीतियों के बीच था। इस संघर्ष के दौरान कैथोलिक देशों में कई परिवर्तन आ गए। पोप तंत्र ने सुधार आंदोलन पर विजय पाने के लिए राजतंत्रीय राज्यों के साथ अंतरंग संबंध क़ायम कर लिए। धर्मसुधार-विरोधी आंदोलन (Counter Reformation) का एक सामाजिक परिणाम था समाज में नौकरशाही तत्वों को बहुत बढ़ावा मिलना। इसमें अब धार्मिक (clerical) तत्वों का भी समावेश हो गया। यह नौकरशाही उन तत्वों के प्रति बहुत हेय दृष्टिकोण रखती थी जो उसके अधीन रहने के लिए तैयार नहीं थे। ऐसे राज्य का सबसे बड़ा प्रतीक यूरोप में स्पेन का राज्य था। यह ऐतिहासिक दृष्टि से दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जाएगा कि कास्तोल के सामंती राज्य ने, जोकि संयोगवश अमरीकी चाँदी की आमद से विश्व स्तर की शक्ति बन गया था, चर्च और राज्य दोनों पर अपना यह स्वरूप हावी कर दिया। इस कारण प्रत्येक व्यापारिक समुदाय का रुख चाहे वह कैथोलिक हो अथवा काल्विनवादी, स्पेन के प्रति शत्रुतापूर्ण हो गया और स्पेनी नीदरलैंड से उद्यमियों का अन्य देशों को प्रवास इसी का परिणाम था।

सत्रहवीं सदी के नए पूँजीवादी नगरों के उद्यमी वर्ग के विश्लेषण से ज्ञान होता है कि यह पूरा वर्ग ही प्रवासियों द्वारा बना हुआ था और ये प्रवासी एक बड़ी संख्या में फ्लेमिश थे अर्थात् वे नीदरलैंड के दक्षिणी भाग (जो स्पेन के अधीन था) के प्रवासी थे। इन्होंने न केवल हॉलैंड की नई समृद्धि में योग दिया अपितु हॉलैंड से यूरोप के अन्य भागों के काल्विनवादी उद्यमियों का भी मुख्य भाग बनाया। हैप्सबर्ग के व्यापारिक जीवन पर डच का ही आधिपत्य था जिनमें से अधिकांश मूलरूप से फ्लेमिश थे। नीदरलैंड के बड़े समृद्ध प्रवासी जो फ्रेंकफ़र्ट पहुँचे वे भी फ्लेमिश से थे। इन्हीं के कारण 1585–1630 के काल को एक बेल्जियन उपनिवेश के रूप में फ्रेंकफ़र्ट का दूसरा स्वर्ण युग जाता है। राइन नदी के संपूर्ण मार्ग पर ऐंटवर्प और लीज़ के उद्यमियों ने पहले वस्त्र फिर खान उद्यमों को स्थापित करके वहाँ के कैथोलिकवासियों को नई समृद्धि प्रदान की। यहाँ तक कि स्कॉटलैंड में, जहाँ काल्विनवादी पादरी-वर्ग ने आर्थिक उद्यमों का विरोध किया था, 1588 में फ्लेमिश प्रवासियों ने ही वहाँ आधुनिक पूँजीवाद का आधुनिक वस्त्र उद्योग स्थापित करने की दिशा में प्रयास किया था।

क्या आप जानते हैं चार्ल्स सप्तम एक दुर्बल राजा था।

तीस वर्षीय युद्ध की अवधि में सभी राजाओं के बैंकर और वित्तदाता नीदरलैंड के या वहाँ के काल्विनवादी उद्यमी ही थे जैसे द दिलेम बंधु आदि जिन्होंने आगे चलकर डेनमार्क के मार्सेल परिवार के राजा क्रिश्चियन चतुर्थ को वित्त प्रदान किया। लुई द गीर जिसने स्वीडन के राजा को आर्थिक सहायता दी। वह लीज का एक काल्विनवादी था जिसके हाथ में स्वीडन का समस्त ताँबा और लोहा उद्योग था। उसने न केवल स्वीडन अपितु यूरोप के अन्य कई देशों को सेनाएँ एवं हथियार दिए और नौसेना की वृद्धि में योगदान दिया। फ्रांस में कार्डिनल रिशील्यू के बैंकर्स भी फ्रेंच काल्विनवादी अथवा ब्रावंट के काल्विनवादी थे। हैप्सबर्ग राज्य का वित्तदाता हाउस द विले ऐंटवर्प का एक काल्विनवादी था। इस प्रकार सत्रहवीं सदी में ये उद्यमी यूरोप का आर्थिक विशिष्ट वर्ग (economic elite) कहे

नोट

जा सकते हैं। केवल वे ही व्यापार एवं उद्योग दोनों को गतिशीलता देने की क्षमता रखते थे और साथ ही सैनिक क्षेत्र में वित्त प्रदान करने एवं अन्य आर्थिक उद्यमों में पूँजी निवेश कर सकने में सक्षम थे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. फ्रांसीसी कुलीन वर्ग ..... था।
2. फ्रांस की राष्ट्रीय सभा ..... में भी फूट थी।
3. चार्ल्स सप्तम ..... था।

5.1 फिलिप द्वितीय एवं इंग्लैंड (Philip II and England)

1554 में फिलिप द्वितीय ने इंग्लैंड की मेरी ट्यूडर से विवाह कर लिया किंतु वह इंग्लैंड में कभी लोकप्रिय नहीं हुआ। एलिज़ाबेथ के सिंहासनारोहण (1558) से स्पेन में उसका प्रभाव कम हो गया। जब एलिज़ाबेथ ने फिलिप के विवाह-प्रस्तावों को ठुकरा दिया तो फिलिप ने इंग्लैंड में रानी के विरुद्ध विद्रोह उकसाने की चेष्टाएँ कीं और कैथोलिक मेरी क्वीन ऑफ़ स्कॉट ऐसे कई षड्यंत्रों का केंद्र बनी। एलिज़ाबेथ द्वारा 1587 में मेरी को फाँसी दिलवाने पर फिलिप ने सैनिक हस्तक्षेप करने की चेष्टा की किंतु स्पेन का विशाल जहाजी बेड़ा आरमेडा 1588 में इंग्लैण्ड द्वारा पराजित और नष्ट कर दिया गया। इस प्रकार फिलिप इंग्लैण्ड पर अपना प्रभाव स्थापित करने में असफल रहा और साथ ही स्पेन का व्यापारिक प्रभुत्व इंग्लैण्ड को प्राप्त हो गया। स्पेन के निरंकुश राजतंत्र से नीदरलैण्ड का संबंध-विच्छेद उस प्रक्रिया का प्रारंभ था जो 16वीं शताब्दी में निरंतर चलती रही। स्थानीय एवं जातीय विशेषताओं के कारण परस्पर भिन्न होते हुए भी मुख्यत: ये सभी एक निरंकुश वैयक्तिक शासक एवं उसके द्वारा धार्मिक और राजनीतिक दिशा-निर्देश के विचार के विरुद्ध किए गए विद्रोह थे। यूरोप में कई स्थानों पर एक-सा विकास हो रहा था।

फ्रांस– फ्रांस में विकास का तरीका स्पेन से बहुत भिन्न था। फ्रांस के पास समुद्रपार साम्राज्य का वह लाभ नहीं था जो स्पेन के पास था, किंतु फ्रांस में स्पेन के समान यह समस्या भी नहीं थी कि पृथक्-पृथक् राजनीतिक एवं सांस्कृतिक परंपराओं वाले बहुत से राज्यों को एक ही राज्य के अधीन संगठित कैसे किया जाए।

फ्रांस में निरंकुश राजकीय सत्ता के इस कारक से बहुत सहायता मिली कि वहाँ राजतंत्र वह संस्था बन गई जिसको केंद्र बनाकर विदेशी हस्तक्षेप एवं आंतरिक अव्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष किया गया। मध्ययुग के अंतिम चरणों में (1338-1453) दक्षिणी-पश्चिमी फ्रांस में आंग्ल राजाओं को खदेड़ने के लिए जो संघर्ष (जिसे 'शत वर्षीय युद्ध' कहते हैं) किया गया उसने फ्रांस के राजनीतिक स्वरूप को ढालने में बहुत मदद की। जिस समय जॉन ऑफ आर्क (Joan of Arc) ने अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष प्रारंभ किया उस समय फ्रांस की स्थिति शोचनीय थी; चार्ल्स सप्तम (1422-61) दुर्बल राजा था; फ्रांसीसी कुलीन वर्ग विभक्त था; फ्रांस की राष्ट्रीय सभा 'एस्टेट्स जनरेल' (Estates Generale) में भी फूट थी। किंतु जॉन के बाद राजतंत्र के नेतृत्व में ही धन एकत्र किया गया था, नियमित सेना का गठन हुआ था और अंग्रेजों को खदेड़ा गया था। नियमित रूप से वेतन-प्राप्त सेना के गठन के लिए फ्रांसीसी कुलीन वर्ग ने भी राजा को एक प्रकार का कर दिया था जिसे 'ताय रॉयल' (Taille Royale) कहा गया। सन् 1440 में यह ताय (कर) 'डिसगसडी आर्म्स' के नाम से नियमित कर हो गया। यद्यपि अभी देशव्यापी नागरिक प्रशासन का गठन नहीं हुआ था।

निरंकुश राजतंत्र स्थापित करने की दिशा में प्रक्रिया काफी समय पहले से जारी थी। फिलिप द्वितीय (1180-1223) के समय में ही राजकीय अधिकारी, जिन्हें बेलिस कहा जाता था, राजकीय न्याय तथा कर वसूल करने के लिए नियुक्त किए जाते थे। इन्हें नियुक्त करने का एक कारण यह था कि पुराने अधिकारी-वर्ग ने, जिसे 'प्रीवोट्स'

नोट

(Prevots) कहा जाता था और जिसे भूमि उपहार रूप में दी गई थी, अपने-अपने स्थानीय स्वार्थ विकसित कर लिए थे। मध्ययुग में ही राजा कभी-कभी अपने बड़े-बड़े सामंतों की राजदरबार में बुलाता था जिसे 'कुरिया रेजिस' (Curia Ragis) कहा जाता था। इसमें महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर विचार-विमर्श होता था। दैनिक कार्यों के लिए राजकीय गृह विभाग के अधिकारी होते थे। 'कुरिया रेजिस' जिस स्थान पर प्राय: एक न्यायालय की भाँति बैठता था वहाँ फ्रांस के न्यायाधीशों का एक स्थायी समूह विकसित हो गया था जिसे 'पार्लेमाँ' कहा जाता था। महत्त्वपूर्ण अवसरों पर जब समस्त देश की सहायता की आवश्यकता होती थी, राज्य 'कुरिया रेजिस' का राष्ट्रीय प्रतिनिधि सभा के रूप में प्रयोग करते थे जिसमें पहले नगरों एवं बाद में किसानों के प्रतिनिधियों को भी स्थान दे दिया गया था। इस रूप में यह संस्था प्रथम बार सन् 1302 में अस्तित्व में आई जब फिलिप (1285-1314) ने पोप के विरुद्ध अपने संघर्ष में राष्ट्रीय सभा के समर्थन की आवश्यकता अनुभव की। फ्रांस की यह सभा एस्टेट्स जनरेल कहलाती थी क्योंकि इसमें पादरी-वर्ग, अभिजात वर्ग एवं सामान्य वर्ग (Commoners) तीनों के हितों का प्रतिनिधित्व था। प्रारंभ में यह केवल परामर्शदात्री संस्था ही थी। यदि यह भी ब्रिटिश पार्लियामेंट की भाँति अपनी भूमिका को बढ़ा पाती तो फ्रांस में भी निरंकुश राजतंत्र विकसित न हो पाता।

शतवर्षीय युद्ध के पश्चात फ्रांस में निरंकुश राजतंत्र विकसित हुआ। चार्ल्स सप्तम के उत्तराधिकारी लुई एकादश (1461-83) ने अंतिम खतरनाक सामंत बर्गंडी के ड्यूक पर भी विजय प्राप्त कर ली। लुई बारहवें (1498-1515) के समय में ब्रिटेन की राजकुमारी से विवाह करके ब्रिटेनी को भी फ्रांस का एक अंग बना लिया गया। अगले शासक फ्रांसिस प्रथम (1515-47) को फ्रांस का पुनर्जागरण शासक कहा जाता है। तत्कालीन अन्य विश्वविद्यालयों की तरह ही पेरिस का सारबोन विश्वविद्यालय भी कट्टरता का प्रतीक था। उसने उसके समानांतर 'कॉलेज द फ्रांस' की स्थापना की जो आज तक अपनी उदार एवं महान् परंपराओं के लिए विश्वविख्यात है। पुनर्जागरण की मुख्य धाराओं को फ्रांस में प्रवाहित करने में उसने व्यक्तिगत रुचि ली। इसके प्रमाण लुआर प्रदेश में शातों और लेओनार्दी की (जिन्होंने अंतिम दिन फ्रांसिस के संरक्षण में बिताए) कब्रें हैं। पेरिस का वैचारिक धरातल उठाने में भी उसने रुचि दिखाई थी यद्यपि धार्मिक रूप से वह कैथोलिक ही रहा। किंतु मानवतावादी विचार फ्रांस में भी फैले। पंद्रहवीं शती के अंत से ही लफेब्र जैसे सुधारकों का प्रभाव बढ़ने लगा था। फ्रांसिस के समय में ही लूथर का प्रादुर्भाव हुआ था। काल्विन को फ्रांस छोड़कर जाना पड़ा था लेकिन बहुत से फ्रांसीसी काल्विनवादी हो गए थे। विशेष रूप से फ्रांस का नवोदित मध्य वर्ग, जो अटलांटिक तट के नगरों में रहता था, प्रोटेस्टेंट हो रहा था और अपने धन एवं सामर्थ्य के कारण संख्या के अनुपात में अधिक प्रभावशाली था। इससे बहुसंख्यक कैथोलिक तो नाराज थे ही, फ्रांस के सामंत अधिक क्षुब्ध थे क्योंकि उन्हें मध्य वर्ग के हाथों अपनी सत्ता छिनती नजर आ रही थी।

फ्रांसिस प्रथम के समय में निरंकुश राजतंत्र और दृढ़ हुआ। उस समय के राजनीतिक चिंतकों ने इस मत को स्वीकार एवं प्रतिपादित किया कि राजा केवल ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी है एवं नास्तिकता के विरुद्ध चर्च का संरक्षण करने के लिए वचनबद्ध है। पेरिस एवं अन्य प्रांतों में संसद और उसके नीचे बेलिस (Baillis) राजकीय न्याय वितरित करते थे।

फ्रांस में 16वीं शताब्दी के आरंभ तक कृषक वर्ग निरंकुश राजतंत्र की सहायता से सामंती लगान (feudal rent) के भार को प्रभावली ढंग से कम कराने में सफल हो गया था, किंतु उस पर बढ़ी दर से ताय (taille) जैसे शाही कर आरोपित किए जा रहे थे। 16वीं शताब्दी में चूँकि मूल्य बढ़ते जा रहे थे, अत: कुलीन वर्ग के सामने अनेक ऐसे प्रेरक तत्व थे कि वे 'सामंती प्रतिक्रिया' आरंभ कर दें और कृषक वर्ग से उगाहे जाने वाले साँ (cens) नामक कर में वृद्धि कर दें। किंतु ऐसा करने के लिए उसके पास शक्ति न थी। इसलिए ऐसा करने के बजाय कुलीन वर्ग के सदस्य राजतंत्र के साथ मिल गए और उन्होंने स्वयं को 'ताय' से मुक्त करवा लिया। उन्होंने तेजी से बढ़ते हुए नौकरशाही तंत्र (bureaucracy) का भी खूब साथ दिया। सामंती अधिशेष ऐंटन की पुरानी विकेंद्रित पद्धति की समाप्ति से कुलीन वर्ग के विभिन्न सदस्यों को जहाँ एक ओर नुकसान हुआ वहाँ दूसरी ओर इन सामाजिक वर्गों

नोट

में अनेक लोगों को राज्य ने अपने नौकरशाही-तंत्र में शामिल कर लिया। इसके अतिक्ति राजतंत्र ने भी बड़े-बड़े सामंती लॉर्डों से गठबंधन किया और उन्हें राज्य के ढाँचे में ही सम्मिलित कर लिया। 1604 में पदाधिकार को पैतृक बनाने की घोषणा एक अन्य ऐसा उदाहरण है, जो यह स्पष्ट करता है कि फ्रांस का निरंकुश राजतंत्र न तो आधुनिकीकरण का उपकरण था, न ही वह प्रतिद्वंद्विता तथा प्रतिभा के लिए कैरियर का द्वार खोलने वाले पूँजीवादी सिद्धांत का उपकरण था। वह तो इस (निरंकुश राजतंत्र) अधिशेष को खींचने की पुरानी व्यवस्था का परिवर्तित रूप भर था। कृषक वर्ग पर करों का भार बढ़ गया था। 1547 में चार सदस्यों के कृषक परिवार पर प्रतिवर्ष लगाए गए कर लगभग सात दिन के उत्पादन के बराबर थे। यह भार 1607 में 14 दिन के उत्पादन के बराबर तथा 1675 में 34 दिन के उत्पादन के बराबर हो गया था।

फ्रांसिस प्रथम का उत्तराधिकारी हेनरी द्वितीय (1547-1559) हुआ। उसने भी निरंकुश राजतंत्र बनाए रखा एवं फ्रांसीसी प्रोटेस्टेंटों को, जिन्हें 'लूगोनाट' कहा जाता था, बहुत उत्पीड़ित किया। उसके समय में गीज (Guise) परिवार बहुत शक्तिशाली हो गया था। यह परिवार कैथोलिक मत का समर्थक था। हेनरी की मृत्यु के पश्चात् बूर्बो परिवार गीज परिवार का प्रतिद्वंद्वी बन गया। यह परिवार प्रोटेस्टेंट समर्थक था। हेनरी द्वितीय की विधवा कैथरीन द मेदिसी ने, जो बहुत ही महत्त्वाकांक्षी थी, और अपने दुर्बल पुत्र चार्ल्स नवम के समय में (1560-74) वास्तविक सत्ताधारी थी, इन प्रतिद्वंद्वियों के साथ बीच का रास्ता अपनाना चाहा।

इस समय प्रशासन में एक नई शक्ति–माइकेल द लोपिटाल (Michel de L'Hopital) का उदय हुआ था जो सन् 1560 में चांसलर नियुक्त हुआ। वह तत्कालीन कैथोलिक एवं प्रोटेस्टेंट उग्रवादिता के युग में उदारवादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व कर रहा था। साथ ही अव्यवस्था की समस्या को जड़ से उखाड़ फेंकने का इच्छुक था। उसके मत में यह अव्यवस्था प्रशासन में फैले भ्रष्टाचार के कारण थी। सन् 1560 में औरलिएन्स (Orleans) के ऐस्टेट्स जनरेल के सम्मुख एवं 1566 में मोलिन्स (Moulins) में घोषित अपने कार्यक्रम में उसने सुधार-कार्यक्रम की रूपरेखा प्रस्तुत की थी। वह भी मूलत: निरंकुश राजतंत्र का ही समर्थक था। औरलिएन्स सभा के सम्मुख सन् 1560 में जहाँ एक ओर उसने इस बात की भर्त्सना की थी कि सन् 1425 से ऐस्टेट्स जनरेल (फ्रांसीसी संसद) की कोई बैठक नहीं बुलाई गई जिसके माध्यम से राजा को केवल परामर्श ही नहीं मिलता वरन् उसकी इच्छा राष्ट्र के विभिन्न भागों में पहुँचती थी, वहाँ दूसरी ओर उसने यह स्पष्ट कर दिया कि उसके विचार में ऐस्टेट्स जनरेल को राजा का प्रतिद्वंद्वी बनने की कोई शक्ति हासिल नहीं थी। न्याय-प्रशासन राजा का ही विशेषाधिकार था। लोपिटाल, नीलामी के पदों (Venal Offices) में होती हुई वृद्धि के विरुद्ध था और सन् 1560 में उसने कई अनुपयोगी पदों को समाप्त करने की सलाह दी थी। किंतु उसके इस कार्यक्रम को धार्मिक युद्धों से उत्पन्न अर्थव्यवस्था के कारण लागू नहीं किया जा सका। 1568 में त्यागपत्र दे दिया। विभिन्न संप्रदायों के आपसी झगड़ों ने देश में राजनीतिक उपद्रव जारी रखा जिसने गृहयुद्धों का रूप ले लिया। 1572 में चार्ल्स नवम की आज्ञा से एवं कैथरीन कर सहमती से सेंट बार्थोलोम्यू (St.Bartholomew) का प्रसिद्ध हत्याकांड हुआ जिसमें ह्यूगोनॉटो (फ्रांसीसी प्रोटेस्टेंटों) को मार डाला गया।

1585 तक यह स्पष्ट हो गया था कि कैथरीन के अंतिम पुत्र हेनरी चतुर्थ (1574-89) का कोई पुरुष उत्तराधिकारी न होने के कारण सिंहासन बूर्बो राजवंश के हेनरी नवारे को प्राप्त होगा। वह एक प्रोटेस्टेंट था एवं उसका सिंहासनारोहण गीज परिवार एवं स्पेन के राजा फिलीप द्वितीय दोनों को ही अरुचिकर था। उसे अपदस्थ करने के प्रयत्न विफल हुए। यद्यपि गीज परिवार उसका विरोध करता रहा किंतु 1593 में हंगरी द्वारा कैथोलिक धर्म को भी मान्यता देने के साथ उसके प्रति धार्मिक विरोध शांत हो गया। 1598 में उसने प्रसिद्ध 'नान्तेज के आदेश' (Edict of Nantes) की घोषणा की जिसने ह्यूगोनॉटो (Huguenotes) को सीमित सहिष्णुता एवं प्रार्थना का अधिकार एवं कैथोलिकों के साथ राजनीतिक समानता प्रदान कर दी।

नोट

हेनरी चतुर्थ (1589-1610), रिशील्यू (Rechelieu) एवं मजारिन (Mazarin) के नाम फ्रांस में निरंकुश राजतंत्र के विकास के साथ जड़े हुए हैं। 1661 में मजारिन की मृत्यु तक भली प्रकार काम चलने योग्य प्रशासनिक-तंत्र का विकास हो चुका था। जिसने लुई चौदहवें के राज्यकाल में फ्रांस को यूरोप के मुख्य निरंकुश राजतंत्र का रूप दे दिया था।

हेनरी चतुर्थ की विधवा मेरी द मेदिसी (Marie de Medici) ने उस ऐस्टेट्स जनरेल को भंग कर दिया जो हेनरी चतुर्थ एवं उसके वित्तमंत्री सली ने बुलाई थी। इसके बाद ऐस्टेट्स जनरेल प्रारंभ तक नहीं मिली। इस प्रकार जहाँ सत्रहवीं शती में इंग्लैण्ड में पार्लियामेंट की शक्ति में बराबर वृद्धि हो रही थी वहाँ फ्रांस की यह प्रतिनिधि सभा अदृश्य ही हो गई। अगले राजा लुई तेरहवें (1624-1642) ने अपने मुख्यमंत्री रिशील्यू को प्रशासन चलाने की स्वतंत्रता दे दी थी। रिशील्यू इस बात के लिए कृतसंकल्प था कि वह फ्रांस में राजकीय शक्ति को एवं यूरोप में फ्रांस को सर्वोच्च बनाएगा। रिशील्यू अपने इस उद्देश्य में तीन प्रमुख कारणों से सफल हो सका: (1) इंग्लैण्ड के स्टुअर्ट राजाओं एवं उनके सलाहकारों की अयोग्यता के विरुद्ध रिशील्यू की अपनी राजनीतिक प्रतिभा एवं निष्ठा; (2) फ्रांस में कर-व्यवस्था का बोझ केवल असंगठित एवं नेतृत्वहीन थर्ड ऐस्टेट (जनसाधारण सभा) के ऊपर ही डाला गया ताकि कर का विरोध करने में कुलीन वर्ग, पादरी एवं जनसाधरण (Third Estate) की कोई गुटबंदी न हो सके। वास्तव में कुलीन वर्ग को खरीदकर शांत कर दिया गया था और इसे शांत करने की कीमत यह चुकाई गई थी कि कर का बोझ देश के साधारण जन पर ही डाला गया। रिशील्यू की सफलता का **तीसरा** कारण संभवत: यह था कि फ्रांसीसी काल्विनवादी प्रोटेस्टेंट, जो 'ह्यूगोनॉट' कहलाते थे, इंग्लैण्ड के प्युरिटनो की तुलना में उतने शक्तिशाली नहीं थे।

रिशील्यू ने राज्य को इस बात के लिए प्रोत्साहित करना चाहा कि वह स्वयं इसके द्वारा नियुक्त अधिकारियों द्वारा प्रशासन चलाए, प्रतिनिधि सभा द्वारा नहीं। राजकीय कौंसिल ही सर्वोच्च कानून-निर्मात्री संस्था बन गई। राजकीय सेवा में वृद्धि करके उसे बहुत शक्तिशाली बना दिया गया। सामंतों की शक्ति को समाप्त करने की दिशा में कदम उठाए गए। जासूसी प्रथा का प्रारंभ करके, सामंतों के दुर्ग तोड़कर और विद्रोह के हर संभव प्रयत्न को कुचलकर कुलीन वर्ग की शक्ति समाप्त कर दी गई। पहले के कुलीनवर्गीय गवर्नरों के स्थान पर अब राजकीय प्रतिनिधियों (Intendants) की नियुक्ति की गई जो राजा के प्रति ही उत्तरदायी थे। इस प्रकार प्रशासन को केंद्रित करने की चेष्टा की गई। ह्यूगोनॉटो से उनके राजनीतिक अधिकार छीन लिए गए। 1627-28 में ला रोशेल के समर्पण के बाद उन्हें किला बनाने एवं सभा आदि संगठित करने का अधिकार छोड़ देना पड़ा।[1]

रिशील्यू की विदेश नीति– यूरोप के तीस वर्षीय युद्ध (1618-48) द्वारा रिशील्यू को यूरोप के सामान्य मामलों में दखल देकर फ्रांस की शक्ति को बढ़ाने का अवसर मिला। यह कई संघर्षों का एक मिला-जुला रूप था जिसमें यूरोप की लगभग सभी शक्तियाँ उलझ गई थीं। प्रारंभ में यह एक धार्मिक संघर्ष था जिसका कारण प्रोटेस्टेंट एवं प्रति-सुधारवाद (Counter reformation) के बीच संघर्ष था किंतु शीघ्र ही इसमें व्यक्तिगत एवं राजनीतिक कारण भी सम्मिलित हो गए। इस युद्ध का महत्त्व इसलिए है कि इससे यह निश्चित हो गया कि दोनों में कोई भी धार्मिक संप्रदाय एक-दूसरे को नष्ट नहीं कर सकता, अत: उन्हें परस्पर समझौते का कोई मार्ग निकालना होगा। दूसरे, इससे लगभग आगामी एक शताब्दी के लिए जर्मनवादी लोगों की आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति समाप्त हो गई और जर्मन राष्ट्रीय एकीकरण की संभावना भी समाप्त हो गई। इस प्रकार फ्रांस को यूरोप में प्रमुख शक्ति बनने का अवसर मिल गया। तीसरे यूरोपीय राष्ट्र राज्य प्रणाली के काम में इस युद्ध का बहुत योगदान रहा।

तीसरे वर्षीय युद्ध के कारण– इस युद्ध का आधारभूत कारण था लूथर के विद्रोह के बाद से जर्मनी में सुलगता हुआ, धार्मिक, आर्थिक एवं सामाजिक असंतोष।[2] किंतु गृहयुद्ध के रूप में प्रारंभ होने वाला यह संघर्ष शीघ्र ही एक

1. Edict of Alias, 1629.

2. यूरोप में 17वीं शताब्दी की सामाजिक और अधिक समस्याओं के लिए अध्याय 7 देखिए

नोट

अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष बन गया क्योंकि विदेशों ने भी मौके का लाभ अपने राजवंशीय स्वार्थों एवं सहधर्मियों की सहायता के लिए उठाना चाहा। अपने उत्तरवर्ती चरणों में (1630-48) यह संघर्ष मुख्य रूप से एक ओर हैप्सबर्ग एवं दूसरी ओर स्वीडन एवं फ्रांस के कार्डिनल रिशील्यू के मध्य राजनीतिक संघर्ष बन गया। इस युद्ध के विभिन्न चरणों को (क) बाहेमिया के विद्रोह का चरण, (ख) डेनिश चरण, (ग) स्वीडिश चरण और (घ) फ्रांसिसी चरण कहा जा सकता है।

बोहेमिया का विद्रोह, 1618– इसका उद्देश्य माटियास (1612-19) की मृत्यु के बाद कैथोलिक फ़र्डिनेंड द्वितीय को पवित्र रोमन साम्राज्य के सिंहासन से वंचित करना था क्योंकि इससे धार्मिक स्वतंत्रता समाप्त हो जाने का खतरा था। बोहेमिया के लोगों ने फ़र्डिनेंड को अपदस्थ घोषित करके उसके स्थान पर पेलेटिनेट (Palatinate) के इलैक्टर प्रोटेस्टेंट फ्रेडरिक को सिंहासन देने की चेष्टा की किंतु फ़र्डिनेंड की सेनाओं ने फ्रेडरिक को खदेड़ दिया, बोहेमियाई कुलीनों को दंडित करके प्रोटेस्टेंट धर्म को भी निषिद्ध घोषित कर दिया और फ़ेडरिक की जमीन भी जब्त कर ली।

डेनिश चरण, 1625-29– वस्तुत: यह क्रिश्चियन चतुर्थ द्वारा उत्तरी सागर के बंदरगाहों पर अपना अधिकार एवं लूथरवाद को संरक्षण देने की चेष्टा का परिणाम था। इंग्लैण्ड के धन एवं जर्मनी के प्रोटेस्टेंट राजाओं की सेनाओं की सहायता से क्रिश्चियन चतुर्थ ने जर्मनी पर आक्रमण कर दिया किंतु उसे शांति-संधि करने पर विवश होना पड़ा।

स्वीडिश चरण, 1630-35– यह स्वीडन के शासक गुस्ताव एडोल्फसबर्ग की स्वीडन को उत्तरी यूरोप की प्रमुख शक्ति बनाने की महत्त्वाकांक्षाओं का परिणाम था किंतु उसे भी सफलता प्राप्त नहीं हुई।

फ्रांसीसी युग, 1635-48– यह रिशील्यू की महत्त्वाकांक्षा का परिणाम था। यह ऑस्ट्रियाई हैप्सबर्ग की शक्ति के साथ-साथ स्पेन की शक्ति को भी कुचलना चाहता था। उसके हस्तक्षेप से हैप्सबर्ग की सेनाओं को सीधी विजय न मिल सकी और स्पेन तथा ऑस्ट्रिया दोनों ही इतना थक गए कि फ्रांस का विरोध करने की स्थिति में नहीं रह गए, यद्यपि वैस्टफ़ेलिया की संधि द्वारा युद्ध की समाप्ति (1648) से छह वर्ष पूर्व 1642 में रिशील्यू की मृत्यु हो गई। किंतु फिर भी उसे संतोष था कि उसकी नीति सफल हो रही थी। जहाँ तक फ्रांस का प्रश्न था, वैस्टफ़ेलिया की संधि द्वारा फ्रांस एवं फ्रांसीसी राजा दोनों की ही शक्ति एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। रिशील्यू की मृत्यु के बाद अगले राजा लुई चौदहवें की अल्पवयस्कता के समय कार्डिनल मजारिन ने 1661 तक फ्रांस का कार्यभार सँभाला। वह जन्म से इतालवी था जो फ्रांस में आकर बस गया था। उसने रिशील्यू की नीतियों को जारी रखा और फ्रोंद (Frond) या जन-विरोध के बावजूद लुई के निरंकुश राजतंत्र को दृढ़ किया। फ्रोंद पार्लेमाँ के मामलों में मजारिन के हस्तक्षेप के विरुद्ध होने वाला एक जन-विरोध था। पार्लेमाँ का यह फ़र्ज समझा जाता था कि वह राजा के क़ानूनों एवं आदेशों का पंजीकरण करे। इस पार्लेमाँ ने मजारिन का विरोध करते हुए एक क़ानून का पंजीकरण करने से इन्कार कर दिया और अन्य कई क़ानूनों को अवैध घोषित कर दिया। मजारिन ने जर्मनी से फ्रांसीसी सेना के लौटने पर इस विरोध को दबा दिया और पुराने क़ानूनों को फिर मान्यता दिलवा दी। फ्रोंद के कारण फ्रांसीसी कुलीन वर्ग की प्रतिष्ठा और गिर गई। राजनीतिक एवं वित्तीय मामलों में पार्लेमाँ के हस्तक्षेप का अधिकार छीन लिया गया। पेरिस में हथियार छीन लिए गए एवं राजकीय शक्ति पहले की तुलना में अधिक बढ़ गई। रिशील्यू एवं मजारिन के कार्यों ने ही लुई चौदहवें के निरंकुश राजतंत्र को संभव बनाया जो यूरोप में उस राजकीय शासन-व्यवस्था का प्रतीक बन गया जो फ्रांसीसी क्रांति के प्रारंभ तक चली।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. ट्यूडर वंश का दूसरा शासक ..... था।

   (क) हेनरी अष्टम (ख) रिशील्यू (ग) माटियास (घ) हेनरी चतुर्थ

नोट

5. फ्रांसीसी काल्विनवादी प्रोटेस्टेंट ..... कहलाते थे।

(क) कुलीन (ख) मजारिन (ग) निरंकुश (घ) ह्यूगोनॉट

6. फ्रांसिस प्रथम का उत्तराधिकारी ..... हुआ।

(क) हेनरी द्वितीय (ख) फिलिप द्वितीय (ग) हेनरी चतुर्थ (घ) रिशील्यू

इंग्लैण्ड– पंद्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दियों में राष्ट्रीय शक्तियों के विकास के दौरान ट्यूडर वंश ने इंग्लैण्ड को एक शक्तिशाली एवं गरिमामय शासन-परंपरा प्रदान की। ट्यूडर वंश का प्रथम शासक हेनरी सप्तम 'गुलाबों के युद्ध' की समाप्ति पर 1485 में सिंहासनारूढ़ हुआ था। इस युद्ध में परस्पर विरोधी सामंती गुटों ने एक-दूसरे के साथ भयंकर संघर्ष किया था। इन युद्धों से उत्पन्न अव्यवस्था की स्थिति से लोग बहुत तंग आ चुके थे और उन्होंने विकल्प रूप में निरंकुश राज्य को अपना पूरा समर्थन प्रदान किया। ट्यूडर वंश के नए राजतंत्र (new monarchy) का आधार राजतंत्र एवं भद्रजन वर्ग का मैत्री संबंध रहा जिसने इंग्लैण्ड में राजतंत्र के स्वरूप पर बहुत गहरा प्रभाव डाला। फ्रांस एवं स्पेन में राजा की शक्ति के उदय के साथ पूर्ण निरंकुशता जुड़ी है किंतु ट्यूडर शासक प्रशासक एवं युद्ध दोनों के लिए स्वयं भी संपत्तिवान (धनी) भद्रजनों पर आश्रित थे। इस वर्ग को नष्ट करना उनके लिए संभव नहीं था, क्योंकि एक तो उनके पास कोई अन्य मित्र बनाने का विकल्प नहीं था–कुलीन सामंतों की सहायता पर वे निर्भर नहीं कर सकते थे। दूसरा संभव विकल्प पशु बल था किंतु स्थायी सेना रखने का खर्च तथा प्रशासन के लिए एक नियमित वेतन वाली नागरिक सेवाओं को रखने का खर्च बहुत अधिक आता था। अत: ट्यूडर शासक सहायता के लिए भद्रजन पर ही निर्भर रहे जिन्होंने जस्टिस ऑफ़ पीस (J.P'S) के रूप में स्थानीय प्रशासन का पूर्णरूप से संचालन किया। अपने स्पेनी एवं फ्रांसीसी समकालीन शासकों की भाँति ट्यूडर शासकों ने अंग्रेजी प्रशासन को न तो सुधारने का प्रयास किया, न ही राज-परिषद् (Royal Council) का उपयोग अन्य विभागों पर हावी होने के लिए किया।

1485-1509 तक हेनरी सप्तम ने इंग्लैण्ड की संस्थाओं को अपने राज्य की आवश्यकतानुसार ढालने का प्रयत्न किया एवं देश को अपने पैरों पर खड़ा होने योग्य बनाया, शांति एवं व्यवस्था स्थापित की, विदेशों के साथ युद्ध को यथासंभव बनाया तथा प्रशासन को दिशा-निर्देश देकर अपने नियंत्रण में लाने के उपाय किए, सामंतों की उपद्रवी शक्ति को समाप्त किया और बजट को संतुलित किया। राज-परिषद् को, जो राजकीय सलाहकारों की एक संस्था थी, एक कुशल एवं शक्तिशाली संगठन के रूप में विकसित किया गया: उसकी कई उपशाखाएँ विकसित हुईं जिन्हें "परमाधिकार न्यायालय" (Prerogative Courts) कहा गया। इन न्यायालयों में सबसे प्रसिद्ध 'कोर्ट ऑफ स्टार चेंबर' था जिसमें हठी कुलीन सामंतों को सामान्य न्यायिक प्रक्रिया का पालन किए बिना दंड दिया जा सकता था। किंतु विशेष राजकीय न्यायालयों के साथ ही इंग्लैण्ड में सामान्य न्याय-प्रणाली भी चलती रही। यह न्यायप्रणाली इंग्लैण्ड की विशेषता थी जिसका विकास शताब्दियों की अवधि में हुआ था। यह महाद्वीपीय देशों के विपरीत था जहाँ सामंत प्रणाली का स्थान रोमन मॉडल पर निर्मित प्रणाली ले रही थी जिसमें क़ानून राज्य-सत्ता की आज्ञा मात्र था। इंग्लैण्ड में पार्लियामेंट भी विद्यमान रही यद्यपि इसके अधिवेशन अनियमित हो गए थे। यह देश के महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधियों की संस्था थी जिसमें कुलीन सामंत, बिशप, शहरों एवं नगरों के चुने हुए प्रतिनिधि सम्मिलित थे। इंग्लैण्ड में यह बात राज्य के आधारभूत क़ानून के रूप में मान्य हो गई थी कि कोई भी नया कर राजा पार्लियामेंट की अनुमति के बिना लागू नहीं कर सकता था। इंग्लैण्ड में पार्लियामेंट (संसद) द्विसदनीय संस्था के रूप में विकसित हो गई थी। उच्च सदन में सामंत, कुलीन वर्ग एवं उच्च क्लर्जी वर्ग के प्रतिनिधि थे। इस सदन को 'हाउस ऑफ लॉर्ड्स' कहा जाता था। दूसरे सदन में शहरों एवं ग्रामों के प्रतिनिधि थे जिसे 'हाउस ऑफ कॉमंस' कहा जाता था। अपनी मितव्ययितापूर्ण नीतियों एवं सामंतों से विभिन्न बहानों से राज्य के लिए उपहारस्वरूप धन प्राप्त कर लेने की नीतियों के कारण हेनरी सप्तम राजतंत्र को आर्थिक रूप से बहुत हद तक स्वतंत्र बनाने में सफल हो गया था।

नोट

ट्यूडर वंश का दूसरा शासक हेनरी अष्टम (1509-47) था। उसके राज्य काल में इंग्लैण्ड में धर्मसुधार आंदोलन हुआ जिसके महत्त्वपूर्ण सांविधानिक एवं धार्मिक प्रभाव पड़े। इस आन्दोलन ने राजा और पार्लियामेंट को देश के धार्मिक जीवन पर नियंत्रण का अधिकार दे दिया। इसके कुछ वर्षों उपरांत मठों एवं समर्पित पूजागृहों (Chantries) के विसर्जन ने राजा को धन एवं समर्थक दोनों ही प्रदान किए। ट्यूडर वंश की अंतिम शासिका एलिजाबेथ प्रथम (1558-1603) ने भी राज्य की संस्थाओं को परिवर्तित किए बिना राजा की शक्ति में वृद्धि की। ट्यूडर वंश की राज्यावधि में इंग्लैण्ड में उल्लेखनीय स्थिरता आई थी। एलिजाबेथ के राज्यकाल में सामाजिक परिवर्तनों की वह प्रक्रिया भी पूर्ण हुई जो कई पीढ़ियों से चली आ रही थी।

टास्क फ्रांस में विकास का तरीका किससे भिन्न था?

व्यापार– सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक इंग्लैण्ड की व्यापारिक शक्ति नीदरलैण्ड के साथ कपड़ा व्यापार में ही पूरी तरह लगी हुई थी। 'कंपनी ऑफ़ द स्टेपल' (Company of the Staple) द्वारा कच्ची ऊन कैले के बंदरगाह पर भेजी जाती थी किंतु भारी कर होने के कारण इसकी बिक्री पर प्रभाव पड़ा और धीरे-धीरे यह ऊन भी देशी विनिर्माताओं के पास ही जाने लगी। कपड़ा-उत्पादन ट्यूडर इंग्लैण्ड का एक प्रमुख उत्पादन था। प्रमुख निर्यातकर्ता थे लंदन के व्यापारी जिन्हें हेनरी सप्तम ने आज्ञापत्र प्रदान किया था। उनका प्रथम समुद्र पार कार्यालय एन्टवर्प में था जहाँ से अंग्रेजी कपड़ा यूरोप के समस्त देशों में जाता था और जब तक इंग्लैण्ड और नीदरलैण्ड के बीच यह कपड़ा व्यापार पनप रहा था, इंग्लैण्ड के पास न तो समुद्रपार यात्राओं के लिए कोई प्रलोभन था और न ही उसमें निवेश के लिए पूँजी। हेनरी इंग्लैण्ड के व्यापार को विस्तृत करना चाहता था क्योंकि चुंगी कर के माध्यम से उसे भी लाभ पहुँचता था। नौचालन अधिनियम के माध्यम से हेनरी ने जहाजों की कमी का भी हल खोज निकाला। उसने इंग्लैण्ड के व्यापारियों पर यह रोक लगा दी कि जब तक अपने देश के जहाज उपलब्ध हैं तब तक वे विदेशी जहाजों का प्रयोग नहीं कर सकते। व्यापारिक जहाजों के निर्माण को प्रोत्साहन देकर, राज-नौसेना का प्रारंभ करके तथा अपने देशवासियों के लिए व्यापार में अधिक भाग प्राप्त करके हेनरी सप्तम ने उस व्यापारिक प्रगति एवं स्वरूप की नींव रखी। जिसका इंग्लैण्ड ने भविष्य में पालन किया।

एलिजाबेथ के समय तक यद्यपि नई दुनिया में इंग्लैण्ड का कोई भी उपनिवेश सफलतापूर्वक स्थापित नहीं किया गया था किंतु अंग्रेज साहसी नाविक प्रत्येक दिशा में देखे जा सकते थे। बाल्टिक व्यापार में इंग्लिश ईस्टलैण्ड कंपनी प्रमुख हो गई और लीवेट कंपनी ने वेनिस व्यापार में प्रमुख स्थान ले लिया।

5.2 सारांश (Summary)

फ्रांसिस प्रथम के समय में निरंकुश राजतंत्र और दृढ़ हुआ। उस समय के राजनीतिक चिंतकों ने इस मत को स्वीकार एवं प्रतिपादित किया कि राजा केवल ईश्वर के प्रति ही उत्तरदायी है एवं नास्तिकता के विरुद्ध चर्च का संरक्षण करने के लिए वचनबद्ध है। पेरिस एवं अन्य प्रांतों में संसद और उसके नीचे बेलिस (Baillis) राजकीय न्याय वितरित करते थे। राजा के पास भाड़े की सेना थी जो उसके सामरिक महत्त्व के स्थानों पर तैनात की गई थी; राजकीय अधिकारी शहरों एवं प्रांतों के अधिकारों को अपने हाथों में ले रहे थे। 1516 में बोलोन के समझौते (कनकोर्डेड) ने राजा को बिशप तथा एबट की नियुक्ति का अधिकार भी दे दिया। सामंतों को राजा का दरबारी बनने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। सोलहवीं शती में धार्मिक युद्ध से उत्पन्न अव्यवस्था ने निरंकुश राजतंत्र को और अधिक मान्यता, समर्थन एवं बल प्रदान कर दिया।

5.3 शब्दकोश (Keywords)

नोट

1. वित्तदाता (Financier)– पूँजीपति, धन देने वाला
2. नौकरशाही तंत्र (Bureaucracy)– अधिकारी तंत्र

5.4 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. पोप तंत्र ने सुधार आंदोलन पर विजय पाने के लिए क्या किया?
2. 1554 में फिलिप द्वितीय ने किससे विवाह किया था?
3. फ्रांसिस प्रथम के समय में राजतंत्र कैसा था? वर्णन कीजिए।
4. फ्रांसिस प्रथम का उत्तराधिकारी कौन था? उसका शासनकाल कैसा था?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. विभक्त
2. 'एस्टेट्स जनरेल'
3. दुर्बल राजा
4. (क) हेनरी अष्टम
5. (घ) ह्यूगोनॉट
6. (क) हेनरी द्वितीय

5.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
2. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
4. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
5. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
6. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
7. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*

नोट

इकाई 6: सामाजिक संरचना (The Social Structure)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

6.1 समाज (कुलीन एवं भद्रजन वर्ग) [Society (Aristocrat and Gentry)]

6.2 सारांश (Summary)

6.3 शब्दकोश (Keywords)

6.4 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

6.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- इंग्लैण्ड में ट्यूडर और आरंभिक स्टुअर्ट नरेशों में अंतर जानने में।
- तुर्की साम्राज्य को जानने में।
- पूर्वी यूरोप को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

इंग्लैंड में ट्यूडर एवं आरंभिक स्टुअर्ट नरेशों के निरंकुश राजतंत्रों में अपने वर्ग-आधार तथा क़ानूनी एवं राजनीतिक तंत्र की दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण अंतर थे। इसी वजह से वहाँ कृषि, वाणिज्य एवं उद्योगों में पूंजीवादी संबंधों का विकास संभव हो सका। गुलाबों के युद्धों के बाद जो वर्ग स्थायित्व चाहते थे (जैसे–मध्य स्तर के भूस्वामी, भद्रजन (gentry) और कुलीन वर्ग के कुछ भाग) उनका समर्थन प्राप्त करके ट्यूडर शासकों ने 15वीं शताब्दी के अंत में सामंती लार्डों के गुटवाद को दबाने की प्रक्रिया शुरू कर दी। राजा को समर्थन देने वाले इन वर्गों की समृद्धि का आर्थिक आधार पूंजीवादी कृषि का विकास था।

6.1 समाज (कुलीन एवं भद्रजन वर्ग) [Society (Aristocrat and Gentry)]

सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में ट्यूडरकालीन इंग्लैंड, बढ़ती हुई जनसंख्या एवं कीमतों में भारी वृद्धि–इन दो कारकों से बहुत प्रभावित हुआ। कुलीन वर्ग के लिए तो क़ीमतों में बढ़ोतरी कई अन्य प्रभावों में से एक था जिन्होंने उनका राजनीतिक महत्त्व भद्रजन वर्ग की तुलना में कम करने में योगदान दिया। वे अब भी इंग्लैंड के समाज का उच्च वर्ग बने रहे किंतु अब उनका दायरा बहुत संकीर्ण नहीं रह गया था। कई कुलीन वर्ग पुरुष-उत्तराधिकारी के अभाव के कारण ही समाप्त हो गए थे। हेनरी सप्तम ने जितनी नई उपाधियाँ दी थीं वे अधिकतर राजकीय सेवा के बदले में

नोट

दिए गए पुरस्कार थे। बहुत से कुलीन परिवार बहुत अधिक खर्च करने की अपनी आदत के कारण ऋण में डूब गए थे।

भद्रजनों का स्थानीय जीवन एवं संसद में पहले भी महत्त्वपूर्ण स्थान था किंतु मठों के विनाश के बाद जो भूमि का पुनर्वितरण हुआ उसने उन्हें देश में भूमि का एक अपेक्षाकृत अधिक भाग ही नहीं दिया, बल्कि इससे उनकी राजनीतिक सत्ता में भी वृद्धि हुई। आर्थिक दृष्टि से देखा जाए तो यह भद्रजन वर्ग के उत्थान की बजाय विस्तार अधिक था। मठों की भूमि के स्वामित्व ने उन्हें प्रोटेस्टेंट धर्मसुधार आंदोलन से बाँध दिया। इसने उनमें यह जागृति भी भर दी कि अब उनका अपने देश के प्रशासन में बहुत अधिक महत्त्व था। वस्तुत: मठों की भूमि को भद्रजन वर्ग में वितरित करके हेनरी अष्टम ने स्वयं राजतंत्र के लिए एक प्रतिद्वंद्वी खड़ा कर दिया था। भद्रजन का बढ़ता हुआ महत्त्व सबसे अधिक स्थानीय प्रशासन में देखा जा सकता है। प्रत्येक काउंटी का नाममात्र का अध्यक्ष एक लॉर्ड लेफ्टिनेंट होता था किंतु वास्तविक शक्ति 4-5 भद्र पुरुषों (Gentlemen) के हाथों में होती थी जिन्हें 'जस्टिस ऑफ़ पीस' नियुक्त किया जाता था। वे न्यायाधीश भी होते थे और प्रशासक भी। ट्यूडर काल में इनके कार्य बहुत बढ़ा दिए गए थे। उसके समय में निर्धनों के लिए जो कानून (poor laws) बनाए जा रहे थे उन्हें लागू कराना भी इन न्यायाधीशों का ही काम था और विद्रोहों आदि के समय राजतंत्र की सहायता के लिए सेना खड़ीं करना भी उनका ही दायित्व था। वास्तव में जस्टिस ऑफ़ पीस की राजभक्ति के बिना कोई भी सरकार खड़ी नहीं रह सकती थी। राज-परिषद् के आदेश भी यदि जस्टिस ऑफ़ पीस के स्वार्थों के विरुद्ध जाते थे तो वे अनसुना कर देते थे। 'बाड़बंदी आंदोलन' (Enclosure Movement) के साथ ऐसा हुआ भी था। राजतंत्र के पास इन न्यायाधीशों (J P's) को बाध्य करने की शक्ति बहुत ही सीमित थी। स्टुअर्ट वंश में कठिनाइयों का एक बहुत बड़ा कारण यह था कि उन शासकों की बहुत-सी नीतियाँ भू-स्वामियों को मान्य नहीं थीं, अत: उनसे सहयोग की आशा नहीं की जा सकती थी।

नोट्स चौदहवीं एवं पंद्रहवीं शती में दक्षिण-पूर्वी यूरोप के कई भागों पर तुर्की का साम्राज्य स्थापित हो गया था।

इस प्रकार की कृषि में पट्टाधारी किराएदार (leasehold tenants), पगार श्रमिकों (wage labours) की सहायता से उत्पादन का वास्तविक गठन करते थे और भूस्वामियों की लगान संबंधी माँगें (rental demands) कृषिगत उत्पादकता में सुधार लाने के लिए प्रेरित करती थीं। मठों का विघटन हो गया और उन मठों की संपत्ति अभिजात वर्ग के सदस्यों (aristocrats) भद्रजनों तथा संपन्न भूस्वामियों (freeholders) में बँट गई। इन गतिविधियों से भूमि का बाजार तैयार हुआ जिससे पद-प्रतिष्ठा के पुराने अनुक्रम (hierarchy) तथा ग़ैर-आर्थिक दबावों द्वारा अधिशेष हड़पने की पुरानी पद्धति और भी ज़्यादा विघटित हुई। 1540 के बाद अनेक नए परिवार अभिजात वर्ग के अंतर्गत शामिल हुए। 1569 में उत्तरी अर्लों का विद्रोह "सामंती विरोध की अंतिम टिमटिमाहट थी"। लॉरेंस स्टोन के शब्दों में, "जब-तब लोगों को फाँसी पर लटकाकर तथा उन्हें हमेशा के लिए बदनाम करके और पुराने भूस्वामी परिवारों के समाप्त हो जाने पर उनके स्थान पर नए भूस्वामी परिवारों के विकास पर रोक लगाकर ट्यूडर नरेश बड़े क्षेत्रीय जमींदारों (landlords) की संख्या घटाने में सफल हो गए। जो इने-गिने परिवार 15वीं शताब्दी के अंत तक समाज एवं राजनीति पर हावी थे उनमें से केवल हॉवर्ड परिवार ही ऐसा था जो 17वीं सदी के तीसरे दशक तक बचा हुआ था और वह भी काफ़ी सीधा हो गया था"।

ट्यूडर राजतंत्र ऐसा कोई कानूनी ढाँचा अथवा नौकरशाही तंत्र विकसित करने में असमर्थ रहा जैसा कि यूरोप के निरंकुश राजतंत्र ने किया था। यूरोप में रोमी क़ानून अपनाने के दोहरे उद्देश्य की ओर ऊपर इशारा किया जा चुका

नोट

है: सिविल मुक़दमों में उसमें असीम निजी संपत्ति की स्पष्ट अवधारणा तथा अधिक तेज कानूनी प्रक्रिया द्वारा संपत्तिशाली वर्ग की सहायता की; दूसरी ओर सम्राट से संबंधित मामलों में उसने राजा की निरंकुश सत्ता को दृढ़ किया। पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों में स्थापित कोर्ट ऑफ़ रिक्वेस्ट ने कापी होल्डरों को सस्ता एवं अविलंब न्याय प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया। यह न्यायालय इस बात का उदाहरण था कि ट्यूडर राजा किस प्रकार यह कोशिश कर रहे थे कि वे विभिन्न वर्गों के बीच निष्पक्ष मध्यस्थ प्रतीत हों।

क्या आप जानते हैं तुर्की साम्राज्य को 'ओटोमन सल्तनत' के नाम से भी जानते हैं।

यूरोपीय महाद्वीप में करारोपण की आवश्यकताओं ने नौकरशाही के विकास में योगदान दिया और नौकरशाही के विकास से और अधिक करों की माँग को बढ़ावा मिला। ट्यूडरकालीन इंग्लैंड में हेनरी अष्टम को छोड़कर (विशेषकर जब कार्डिनल बूल्ज़े उसका मंत्री था) सभी राजा इस बात के प्रति सावधान थे कि उन्हें अपनी शाही ज़मीन से प्राप्त होने वाली आमदनी में ही काम चलाना है। इसीलिए महाद्वीप के अन्य देशों में जिस स्तर पर करों में वृद्धि की आवश्यकता महसूस की गई थी उस स्तर पर इंग्लैंड में यह स्थिति उत्पन्न नहीं हुई। सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दी के दौरान इंग्लैंड में मध्ययुगीन संसद को संपत्तिशाली वर्गों की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाल लिया गया। लॉर्ड एवं जनसाधारण दोनों ही अपने ऊपर कर लगवाने के लिए तैयार थे बशर्ते कि खर्च की जाने वाली राशि को उनकी स्वीकृति प्राप्त हो (इसकी तुलना फ्रांस में कुलीन वर्ग की करारोपण से छूट और वहाँ की स्टेट्स जनरल के अनुपयोगी हो जाने से कीजिए)। इंग्लैंड में शाही नौकरशाही के स्थान पर मध्य वर्ग के भूस्वामी वर्गों में से लिए गए जस्टिसेज़ ऑफ़ पीस (Justices of Peace) तथा नव-अभिजातवर्गीय परिवारों के विश्वसनीय सदस्यों में से लिए गए काउंटियों के लॉर्ड लैफ्टिनैंट ही देश में कानून एवं व्यवस्था कायम रखने के लिए उत्तरदायी थे।

तुर्की साम्राज्य

चौदहवीं एवं पंद्रहवीं शती में दक्षिण-पूर्वी यूरोप के कई भागों पर तुर्की का साम्राज्य स्थापित हुआ। इस निरंकुश साम्राज्य की मूलभूत विशेषता यह थी कि सुल्तान का अपने साम्राज्य में धन के समस्त स्रोतों पर असीमित अधिकार था। इस साम्राज्य में कोई स्थायी अथवा पैतृक कुलीन वर्ग विकसित नहीं हुआ क्योंकि इसमें संपत्ति की सुरक्षा नहीं थी। धन और प्रतिष्ठा दोनों राज्य द्वारा ही देय थे, कोई भी पद राज्य में अधिकारी की स्थिति का ही प्रदर्शन था। तुर्क यूरोप में चौदहवीं शताब्दी के मध्य में आए थे जब उन्होंने उन स्लाव राज्यों का दमन प्रारंभ किया जो बैज़ंतियाई (Byzantine) साम्राज्य के पतनोपरांत उदित हो रहे थे। उनके राज्य को 'ओटोमन सल्तनत' (Ottoman Sultanate) का नाम दिया जाता है। यह नाम उनके एक बड़े राजनीतिक नेता ओटोमन (Ottoman) अथवा उस्मान (Osman) के नाम पर पड़ा (मृत्यु 1326 ई.)। 1389 ई. में उन्होंने सर्बियन सेना को पराजित किया एवं अगले चार वर्षों में बल्गारिया पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया। पंद्रहवीं शती में कुछ समय तक हंगेरियाई उनका सामना करते रहे किंतु 1453 ई. में कुस्तुनतुनिया (Constantinople) का पतन हो गया एवं ओटोमन सेनाओं ने दक्षिण पूर्वी यूरोप की अपनी विजय पूर्ण की। पंद्रहवीं शती के अंत तक ओटोमन सत्ता डेन्यूब (Danube) से अल्बानिया एवं यूप्रेट्स तक फैल चुकी थी। सुल्तान सेलिम प्रथम ने केवल सीरिया, इजिप्ट एवं पेलेस्टीन पर ही विजय प्राप्त नहीं की अपितु बगदाद के खलीफ़ाओं की परंपरा (Caliphate) का भी अंत कर दिया और इसके बाद इस्लामिक विश्व का एक ही नेता होने लगा और वह था सुल्तान। तुर्की विजयों का गौरवपूर्ण समय उनके प्रथम दस सुल्तानों का समय रहा जिसका चरमोत्कर्ष सुलेमान महान् के समय में हुआ (1520-66)। सुलेमान ने बेलग्रेड पर अपना अधिकार करके 1521 ई. में मोहाक्स (Mohacs) के स्थान पर हंगरी की सेनाओं को भी पराजित कर दिया। 1529 में तुर्की ने विएना पर घेरा डाला एवं हंगरी की राजधानी बूदा (Buda) पर भी अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया। यह तुर्की की यूरोप में बढ़ने की अंतिम सीमा थी। यद्यपि 1683 तक वे विएना पर आक्रमण करने की चेष्टा करते रहे।

नोट

अपने विशाल विजित प्रदेश पर तुर्की ने एक ऐसी प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित की जिसका उद्देश्य आत्मसात करना (assimilation) अथवा दंडित करना नहीं था अपितु शांति एवं व्यवस्था बनाए रखना एवं राजकोष के लिए धन प्राप्त करना था। संगठन के शीर्ष पर स्वयं सुल्तान था, वही सेनानायक भी था। उसका चयन उस्मान (Osman) परिवार से ही होता था। वह राजनीतिक एवं धार्मिक दोनों प्रकार का नेता था जो स्वयं कानून के ऊपर था। वह यूरोप का सर्वाधिक धनी बादशाह था। उसके स्वराज्य के स्रोत थे–मुस्लिमों की आय पर टैक्स, काफ़िरों द्वारा दिया जाने वाला व्यक्ति कर (head tax), भूमि कर, टैरिफ़ (tarif) जुर्माने, कर एवं युद्ध में लूटा माल (war booty)। साम्राज्य प्रांतों में विभक्त था जिन्हें 'सैंडजिक्स' (Sandjics) कहा जाता था उनके प्रशासक बे (Bey) अथवा पाशा (Pasha) कहलाते थे। उनके अधीन बहुत से अधिकारी थे जिन्हें राज्यसेवा के बदले जागीर मिलती थी। दक्षिणी पूर्वी यूरोप में तुर्की ने सामरिक महत्त्व के स्थानों पर दुर्गीकरण कर लिया था।

उन्नीसवीं शती से पूर्व तुर्की साम्राज्य को अपने ईसाई प्रजाजनों पर शासन करने में कभी कठिनाई का अनुभव नहीं हुआ था। विजित प्रदेश दो भागों में विभक्त थे–एक तो वे जो सीधे केंद्रीय प्रशासन के नियंत्रण में थे और दूसरे वे जो केवल खिराज (tribute) देते थे। उदाहरणार्थ यूरोप में माल्देविया (Maldavia) एवं वलेकिया (Wallachia) के प्रदेश खिराज़ देने वाले (tribute paying) थे, बाकी बालकन प्रदेश प्रथम श्रेणी में आता था। यह सोचना गलत होगा कि यूरोप में तुर्की राज्य कोई बहुत कठोर एवं क्रूर शासन था, अपने वैभव काल में साम्राज्य काफ़ी सहिष्णु साम्राज्य था। वह ईसाई किसानों के जीवन में अधिक हस्तक्षेप नहीं करता था किंतु अठारहवीं शती आते-आते प्रशासकीय संस्थाओं का ह्रास होने लगा था और शासक वर्ग में भ्रष्टाचार व्याप्त हो गया था। वास्तव में पतन के चिह्न तो सोलहवीं शती में ही नज़र आने लगे थे। प्रारंभिक सुल्तान अर्द्ध-योद्धा, अर्ध-धार्मिक नेता थे। उनकी सफलता की कसौटी अर्जित युद्ध-लूट (war booty) थी जिससे वे अपना वैभव बनाए रखते थे। जब विजयों का क्रम बंद हो गया और साथ-साथ लूटपाट भी, तब सुल्तान और उनके वज़ीर उस वैभव को बनाए नहीं रख सकते थे जिसका उन्हें अभ्यास हो गया था–न ही वे बड़ी संख्या में सेना बनाए रख सकने की स्थिति में थे। सत्रहवीं शती तक आते-आते जेनिसरीज़ (Janissaries) की संख्या भी बहुत बढ़ गई थी। उन्हें वेतन नहीं मिलता था। अत: उनमें भी विद्रोही प्रवृत्ति पनप रही थी।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. 'जस्टिस ऑफ पीस' न्यायाधीश होते थे और ..... भी।
2. चांसरी ने उन कानूनों का विकास किया जिन्हें ..... के नाम से जाना जाता है।
3. ..... में उत्तरी अर्लों का विद्रोह 'सामंती विरोध की अंतिम टिमटिमाहट थी।'

पूर्वी यूरोप

आधुनिक-काल के प्रारंभ में पूर्वी यूरोप का राजनीतिक स्वरूप (pattern) निर्वाचित राजतंत्र का हो गया जिसमें कुलीन वर्ग (nobles) ने बहुत शक्ति एवं अधिकार हथिया लिए। 'पवित्र रोमन साम्राज्य' की पूर्वी सीमाओं पर पंद्रहवीं शती में एक शिथिल संगठन वाले राजवंशीय राज्य का उदय हुआ जो विशाल किंतु अस्पष्ट सीमाओं वाला राज्य था। 1386 से यागैलन (Jagellon), जो लिथुआनिआ (Lithuania) का ग्रैंड ड्यूक (Grand Duke) था, उसने ईसाई धर्म अपना लिया एवं पोलैंड राज्य की उत्तराधिकारिणी यादवीगा (Jadwiga) से विवाह कर लिया। उनके वंशजों ने पोलैंड-लिथुआनिआ (Poland-Lithuania) के राज्य पर शासन किया। पंद्रहवीं शती में इस राजवंश ने हंगरी एवं बोहेमिया के राज्यों को भी मिला लिया। 1500 तक उनके राज्य की सीमाएँ बाल्टिक से कृष्ण सागर एवं डेन्यूब नदी से नीपर (Dneiper) तक विस्तृत थीं। इस यागैलन (Jagellon) साम्राज्य में केवल

नोट

प्राकृतिक सीमाओं का ही अभाव नहीं था, सुगठित शासन एवं अन्य संस्थाओं का भी उतना ही अभाव था। अत: यह दीर्घायु न हो सका। शीघ्र ही तुर्कों ने हंगरी पर अधिकार कर लिया तथा 1526 में बोहेमिया हैप्सवर्गों के हाथ में चला गया। तब भी यद्यपि इस राज्य की क्षेत्रीय सीमा तथाकथित "पवित्र रोमन साम्राज्य" से कम नहीं थी किंतु इसमें आंतरिक एकता का पवित्र रोमन साम्राज्य से भी अधिक अभाव था। 1572 में इस वंश का अंत होने पर पोलैंड का राजा (ताज) निर्वाचित किया जाने लगा और पोलैंड के सामंत वर्ग ने इतने अधिक अधिकार हस्तगत कर लिए कि निर्वाचित सम्राट के लिए कार्य करना असंभव प्राय: ही हो गया।

जर्मनी एवं इटली के प्रदेश भी राजनीतिक रूप से विभिन्न राज्य समूहों के रूप में बने रहे जिनमें सुदृढ़ केंद्रीय राजनीतिक सत्ता का अभाव था। स्केन्डिनेवियाई प्रदेश डेनमार्क के अधीन एवं स्वीडन एक स्वतंत्र राज्य के रूप में उदित हो रहा था।

रूस

पूर्वी यूरोप के अन्य भागों में तो एक सुदृढ़ केंद्रीय शक्ति का विकास नहीं हो सका किंतु रूस में मस्कोवी (Muscovy or Moskva) शासकों ने इसे उपलब्ध कर लिया। रूस के इतिहास में जो काल यूरोप के प्रारंभिक आधुनिक काल से सबसे ज्यादा मिलता-जुलता है वह मंगोलों एवं पीटर महान के उदय के बीच के लगभग 200 वर्षों का काल है। इस काल को कोमास्को शहर के नाम के आधार पर पुकारा जाता है। इसमें मास्को के शासकों ने अपने प्रतिद्वंद्वियों पर विजय पाकर अपने राज्य का विस्तार किया था। आधुनिक काल का प्रारंभ होने से पूर्व रूस मंगोलों से त्रस्त रहता था। यूरोप एवं एशिया को विभाजित करने वाले यूराल पर्वत के पश्चिम और पश्चिमी यूरोप से कटा हुआ सुदूर उत्तर पूर्व में स्थित यह राज्य यूरोपीय राजनीति एवं संस्कृति के संदर्भ में नगण्य था। मस्कोवी के दो प्रसिद्ध ज़ारों (zars) ने रूस पर आक्रमण करने वाली जातियों को परास्त करके रूस की सीमाओं को पहले की अपेक्षा बहुत विस्तृत किया। ये ज़ार थे इवान तृतीय (Ivan III) अथवा इवान महान (1492-1505) एवं इवान चतुर्थ (Ivan IV) अथवा इवान भयंकर। इवान महान ने सर्वप्रथम तातार प्रभुत्व का अंत किया एवं मस्कोवी निरंकुश साम्राज्य की स्थापना की। उसने नोवगोरद को विजित किया और साथ ही उत्तर एवं पश्चिम में अपने राज्य का विस्तार किया। उसने मध्ययुगीन राजनीतिक केंद्र कीव पर उसका सच्चा उत्तराधिकारी होने का दावा किया और 1480 में तातारी सत्ता-केंद्र गोल्डन हॉर्डे (Golden Horde) के प्रति निष्ठा व्यक्त करने से इंकार कर दिया। तातारों के प्रभुत्व ने रूसियों को सैनिक संगठन एवं केंद्रीय निरंकुश शासन की आवश्यकता का अनुभव करा दिया था। संभवत: और कोई भी सरकार तातार प्रभुत्व को उखाड़कर अपना राज्य विस्तार कर सकने में सक्षम नहीं थी। 1492 में इवान ने बैज़ंतियाई (Byzantine) की राजकुमारी सोफ़िया से विवाह कर लिया और इस प्रकार वह बैंज़ंतियाई शाही परंपरा (Byzantine Imperial Tradition) का भी उत्तराधिकारी बन गया। उसने ही पहले-पहले ज़ार की उपाधि धारण की जिसका रूसी भाषा में अर्थ है सर्वोच्च सत्ताधारी स्वतंत्र शासक। इस प्रकार से उसका शासन धर्मशासित (theocratic) राजतंत्र था। उसकी शक्ति का स्रोत भगवान था एवं वह किसी भी अन्य व्यक्ति के प्रति उत्तरदायी न था। रूस की भूमि पर उसी का स्वामित्व था और समस्त रूसवासी उसके असामी (tenants) और सेवक थे। उनके बिना भी वह तो रूस का ज़ार बना रहता किंतु उसके बिना रूस का अस्तित्व कुछ नहीं था। बैंज़ंतियाई (Byzentine) उत्तराधिकार के बल पर वह परंपरागत चर्च (Orthodox Church) का भी संरक्षक था ही। इस नए राजवंश की कई लाभदायक खूबियाँ थीं, यह एक केंद्रीय निरंकुश राज्य था—मास्को विभिन्न व्यापार केंद्रों पर लाभप्रद स्थिति में था तथा वोल्गा, डान एवं नीपर (Dnieper) तीनों ही नदियों से बहुत दूर नहीं था। इवान महान् के उत्तराधिकारी भी योग्य निकले। उन्होंने क्षेत्रीय विस्तार, कृषियोग्य भूमि के विस्तार और बंदोबस्त (settlement) की नीति अपनाई। भद्रवर्ग (gentry) ने, जो कृषि के विस्तार के साथ-साथ धनी होता जा रहा था, स्वभावत: ही राजतंत्र का साथ दिया। रूसी कुलीन जिन्हें बोयार (Boyars) कहा जाता था, सोलहवीं शती तक आते-आते अपनी जागीरों पर पैतृक उत्तराधिकार का अधिकार रखते थे किंतु यह सामंती व्यवस्था नए, मस्कोवी निरंकुश राज्य के साथ

नोट

मेल नहीं खाती थी। सोलहवीं शताब्दी में मस्कोवी शासकों ने भू-स्वामित्व की एक नई प्रणाली विकसित की जिसे 'पोमेस्टी' (Pomestie) कहा जाता था। इस प्रणाली में जार ही जागीर प्रदान करता था और इसकी शर्त लोक-सेवा (Public Service) होती थी। यह विकास का एक बहुत महत्त्वपूर्ण चरण था क्योंकि पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दियों में पोलैंड एवं लिथुआनिया में भी सामंतों की शक्तियों एवं स्वतंत्रता में बहुत वृद्धि हुई थी जिसका एक प्रभाव था शासक की शक्तियों का ह्रास। रूस में मस्कोवी शासकों ने इस प्रवृत्ति को रोक दिया। 'इवान भयंकर' ने सैनिक सेवा (military service) प्रणाली को बढ़ावा दिया। उसने रूस में एक स्थायी सेना की स्थापना की जिसे स्ट्रैल्ट्सी (Streltsy) कहा जाता था। उसने मध्य एवं निम्न वोल्गा पर स्थिर कज़ान एवं आस्ट्राखान की खान ऐटिस पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। पूर्व की ओर विस्तार उसके राज्य की एक विशेषता थी। बोयारों (Boyars) के ऊपर अपनी सत्ता को दृढ़ करने के लिए इवान भयंकर ने अपने सुधार कार्यों में एक अपेक्षाकृत अधिक व्यापक संस्था 'जेम्स्की सोबर' (Zamsky Sobar) का सहयोग प्राप्त किया। यह राज्य की एक द्विसदनीय सभा थी जिसकी सबसे पहली बैठक 1550 में हुई थी। इसमें भद्रजनों के सभी वर्गों, भद्रवर्गीय व्यापारियों, बोयार ड्यूम नामक अभिजात वर्ग, उच्च पादरियों आदि के प्रतिनिधि थे। इसने एक नई न्याय संहिता एवं स्थानीय प्रशासन की एक नई प्रणाली बनाई। 1560 तक इवान चतुर्थ को यह भय होने लगा था कि बड़े-बड़े बोयार उससे विश्वासघात कर रहे थे अत: उसने उनके विरुद्ध और कड़े क़दम उठाए एवं 1564 में बोयारों की शक्ति को सदा के लिए समाप्त करने की दिशा में योजनाबद्ध क़दम उठाए। उसने एक नई राजनीतिक पुलिस का निर्माण किया। इसने बोयारों की जागीरें ज़ब्त करके उनका आधार स्वामिभक्ति एवं सरकारी सेवा बनाकर उन्हें पुनर्वितरित किया। साथ ही बोयारों एवं उनके समर्थकों को बड़ी संख्या में निष्कासित कर दिया गया।

राजतंत्र एवं बड़े-बड़े कुलीनों के इस संघर्ष में सामान्य जन तटस्थ थे किंतु युद्ध एवं संघर्ष के परिणामों से वे बिलकुल अप्रभावित नहीं रह सकते थे। बहुत बड़ी संख्या में वे साधारण जन कुछ समय पूर्व विजित कज़ान प्रदेश अथवा निम्न नीपर (Dnieper) तथा दोन (Don) नदी पर स्थित स्वतंत्र कोस्साक (Cossack) प्रदेशों में जाकर बसने लगे। यह एक विडंबना थी कि स्वतंत्रता की खोज के लिए उठाए गए इस कदम ने कृषिदास प्रथा (serfdom) के उदय में बड़ी सहायक भूमिका अदा की। मध्य रूस में होने वाले विस्तृत निष्क्रमण ने वहाँ श्रम की कमी कर दी जिसका प्रभाव उन छोटे-छोटे सेवा-अभिधारकों (service holdings) पर पड़ा जिन्हें ज़ार अपने अधिकारियों एवं सैनिक अधिकारियों को इनाम के तौर पर देते थे क्योंकि बोयारों की पैतृक विरासत में प्राप्त भूमि मुक्त असामियों (Free Tenents) पर इतनी आश्रित नहीं थी। उनमें अपने गुलाम (slaves) थे। नवोदित सेवा अभिधारकों द्वारा श्रमिक की कमी की शिकायत करने पर जार ने यह घोषणा करनी प्रारंभ की कि एक खास समयावधि में कोई किसान (Peasant) अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र नहीं जाएगा। ऐसी पहली घोषणा 1581 में हुई। इस प्रकार सोलहवीं शती में जब कि पश्चिमी यूरोप कृषिदास प्रथा से मुक्ति पा रहा था रूस में कृषक अधिकाधिक भूमि से संबद्ध होता जा रहा था तथा अधिकाधिक मात्रा में राजा द्वारा भूमि का प्रयोग सेवारत अमीरों (service nobles) को इनाम के रूप में देने के लिए किया जा रहा था। यह प्रक्रिया अठारहवीं शती तक चलती रही।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. ..... में बोहेमिया हैप्सवर्गों के हाथ में चला गया।

   (क) 1526 (ख) 1528 (ग) 1530 (घ) 1532

5. दक्षिणी पूर्वी यूरोप में तुर्की ने सामरिक महत्त्व के स्थानों पर ..... कर लिया था।

   (क) अधिकार (ख) दुर्गीकरण (ग) दोनों (घ) दोनों में से कोई नहीं

नोट

6. ..... में तुर्की ने वियना पर घेरा डाला।

(क) 1521 (ख) 1523 (ग) 1527 (घ) 1529

पूँजीवाद की प्रवृत्ति भी विस्तारवादी एवं आक्रामक है, जो नए-नए बाजार प्राप्त करने की आकांक्षा से जुड़ी हुई है, किन्तु इसके साथ-साथ उपलब्ध साधनों की उत्पादकता बढ़ाने का प्रयास भी चलता है। औपनिवेशिक क्षेत्रों में पूँजीपति का प्रवेश केवल आक्रमण के माध्यम से ही नहीं अपितु उत्पादन संगठन के नए उपायों के विकास द्वारा भी हुआ था।

चूँकि यह संक्रमण का युग था, अत: ये युद्ध भी मध्ययुगीन सामंती युद्धों तथा वाणिज्यपरक एवं औपनिवेशिक युद्धों (जो पूँजीवादी राज्यों की विशेषता है) का मिश्रण थे। कुल मिलाकर सत्रहवीं सदी के अंत तक इंग्लैण्ड एवं नीदरलैण्ड जैसे उभरते हुए बुर्जुआ राज्यों के अलावा अधिकांश राज्यों के संदर्भ में ये युद्ध सामंती ढंग के युद्धों का एक रूप थे। हाँ, उत्तम तकनीक के समावेश के कारण ये युद्ध अधिक बड़े पैमाने पर होते थे और उन्हें निरंकुश राज्य की केंद्रीभूत अफ़सरशाही का समर्थन प्राप्त था। पुनर्जागरण काल की कूटनीतिक गतिविधियाँ मुख्य रूप से राजवंशीय मुद्दों से ही संबंधित थीं। सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ के एक फ्रांसासी उदाहरण से स्पष्ट होता है कि सम्राट अथवा उसके मंत्री के विरुद्ध सामंती कुलीनजनों का विद्रोह परोक्ष रूप से किसी अन्य शासक-वंश के साथ युद्ध का मार्ग प्रशस्त कर देता था। 1630 में लुई तेहरवें के मंत्री कार्डीनल रिशील्यू के विरुद्ध षड्यंत्र की असफलता के बाद पराजित अभिजात गुट स्पेन के शासक से मिल गया, जो फ्रांस के राजा का रिश्तेदार था। सोलहवीं सदी के उत्तरार्ध में फ्रांस में धार्मिक युद्धों में वृद्धि का कारण कुछ तो यह था कि 1559 में स्पेन के साथ संधि हो जाने के कारण कुलीनजनों के लिए लाभकारी युद्धों के अवसर कम हो गए थे।

इस काल के व्यापार एवं वाणिज्य के मान्य पंडित डैनिश इतिहासकार क्रिसटॉफ ग्लैमन (Kristof Glamman) ने कहा है, "आधुनिक यूरोप के आंरभिक वर्षों में युद्ध अथवा संघर्ष के जो कारण थे उनमें धर्म एवं वंशीय साम्राज्यवाद जैसे कारकों की तुलना में व्यापार का स्थान तीसरा था। साथ ही हमें यह तथ्य भी ध्यान में रखना चाहिए कि विभिन्न सरकारें अपनी विदेश नीति के लिए जो कदम उठाती थीं उनके लिए वे कभी-कभी वाणिज्यिक बहाने खोज लेती थीं। बहरहाल, इसमें कोई संदेह नहीं कि सत्रहवीं शताब्दी में होने वाली आंग्ल-डच युद्ध पूँजीवादी प्रतिस्पर्धा के परिणाम थे। स्पेन के विरुद्ध इंग्लैण्ड के युद्ध (नीदरलैण्ड का विद्रोह) एलिजाबेथ के काल में स्पेन के विरुद्ध इंग्लैण्ड के युद्ध (विशेषकर स्पेनी आर्मेडा के दौरान) की विशेषता थी यथार्थ या सांमती वंशानुगत विजय के खतरे के विरुद्ध राष्ट्रीय बहुवर्गीय एकता।

मूल्यों में स्फीति के कारण एक सैनिक को युद्धक्षेत्र के लिए तैयार कराने का खर्च 1530 से 1630 के बीच पाँच गुना बढ़ गया था। केवल वे ही देश इस खर्च को वहन कर सकते थे, जहाँ उत्पादन-क्षमता में वृद्धि हो रही थी। 18वीं शताब्दी के दौरान शांतिकाल में भी निरंकुश सम्राट अपने राजस्व का 70 प्रतिशत भाग सैनिक कार्यों के लिए रखते थे। सैनिक गतिविधियों को दी गई इस महत्ता के सामाजिक परिणाम इस प्रकार थे। 16वीं एवं 17वीं शताब्दियों के दौरान संपूर्ण पश्चिमी एवं मध्य यूरोप में कुलीन-वर्गीय जागीरों (estates) में उत्तराधिकार की अवस्था के अनुसार संपत्ति का अधिकार सबसे बड़े पुत्र को मिलता था।

तिथि	स्पेन	फ्रांस	रूस	नीदरलैण्ड	इंग्लैण्ड
1470 का दशक	20,000	40,000	आँकड़े प्राप्त नहीं	स्वतंत्र नहीं	25,000
1550 का दशक	1,50,000	50,000	आँकड़े प्राप्त नहीं	स्वतंत्र नहीं	20,000

नोट

1590 का दशक	2,00,000	80,000	आँकड़े प्राप्त नहीं	20,000	80,000
1630 का दशक	3,00,000	1,50,000	35,000	50,000	आँकड़े प्राप्त नहीं
1650 का दशक	1,00,000	1,00,000	आँकड़े प्राप्त नहीं	आँकड़े प्राप्त नहीं	70,000
1670 का दशक	70,000	1,20,000	30,000	1,10,000 नहीं	आँकड़े प्राप्त
1700 का दशक	50,000	4,00,000	1,70,000	1,00,000	87,000

जागीर को बेचने अथवा उसके उप-विभाजन को अवैध बनाने के लिए अधिकाधिक प्रयास किए जा रहे थे, ताकि कुलीन-वंश के पद एवं प्रतिष्ठा को कायम रखा जा सके। इस परिस्थिति में कुलीन वर्ग के छोटे पुत्र सैनिक सेवा का कैरियर अपना लेते थे, विशेषकर इसलिए भी कि सभी देशों में अफ़सर वर्ग की भर्ती तो कुलीन परिवारों में से ही होती थी। साधारण सैनिक की भर्ती तो (विशेषकर पूर्वी यूरोप में) प्राय: जबरदस्ती की जाती थी और इस युग में उसका संबंध पूर्व में प्रचलित कृषिदास प्रथा के विस्तार से था। चूँकि निरंकुश राजतंत्र अपने कृषकों को हथियार देने से डरते थे, अत: पूर्व एवं पश्चिमी यूरोप में भाड़े के विदेशी सैनिकों (mercenaries) का प्रयोग अत्यन्त सामान्य बात थी।

भाड़े के विदेशी सैनिकों का प्रयोग कोई नई बात नहीं थी। यह तो ग्यारहवीं सदी के आगे के सामंती राज्य का ही विस्तार है। आंग्ल-नॉर्मन राजतंत्र ने अपने देश के अंदर तथा विदेशों में अपनी सैनिक गतिविधियों में भाड़े के विदेशी सैनिकों का व्यापक प्रयोग किया था। जब शाही निरंकुशता को चुनौती देनी थी और सफलतापूर्वक देनी थी (जैसे कि 17वीं शताब्दी के इंग्लैण्ड में) तब क्रॉमवैल के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह कृषक वर्ग को शस्त्रसज्जित करके 'नव आदर्श सेना' (New Model Army) का गठन करे। इसका सामाजिक परिणाम यह हुआ कि औसत सैनिक भी क्रान्तिकारी विचार रखने लगा जो निजी संपत्ति की मूल धारणा पर ही कुठाराघात करते हुए प्रतीत होते थे। एक बार इंग्लैण्ड में गणतंत्र के स्थान पर राजतंत्र की पुन: स्थापना हुई नहीं कि (विशेषकर 1688 में संसद द्वारा जेम्स द्वितीय को उखाड़ फेंकने के बाद) शासक वर्ग ने स्थायी सेना को समाप्त करके उसके स्थान पर शक्तिशाली नौसेना का विकास करने पर अपना ध्यान केंद्रित करने का निश्चय किया। यह निर्णय वाणिज्यिक एवं पूँजीवादी राज्य की आवश्यकताओं के अनुरूप था जहाँ भूमिगत जागीरों को वंशानुगत अधिकार द्वारा हड़प लेने की तुलना में औपनिवेशिक एवं व्यापारिक गतिविधियाँ उनके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। सेना में जो भर्ती की जाती थी वह या तो यूरोप के भाड़े के सैनिकों में से की जाती थी या फिर मेहनतकश निर्धनों में से, जो अपनी जीविका चलाने के लिए उत्सुक होते थे। यूरोपीय महाद्वीप में तो यह नीति बन चुकी थी कि अफ़सर वर्ग की भर्ती केवल अभिजात वर्ग से हो। किन्तु इसके विपरीत इंग्लैण्ड में छोटे अधिकारी से लेकर कर्नल तक का प्रत्येक पद प्राप्त करने के लिए धन देना पड़ता था। ज्योफ्रे बेस्ट ने कहा है, "इनमें से किसी का उद्देश्य अभिजात वर्ग की प्रतिष्ठा को गिराना नहीं था। ब्रिटिश, पियर एवं भद्रजन वर्ग अब तक इस नक़दी लेन-देन के अभ्यस्त हो गए थे। इसका अर्थ केवल यही था कि जो अभिजात जन सैनिक कैरियर के इच्छुक थे, उन्हें उस समय के दाम चुकाना पड़ता था और साथ ही बुर्जुआ-विरोधी पूर्वाग्रह बहुत कम महत्त्वपूर्ण था"।

नोट

टास्क 'जेनिसरीज़' किसे कहा जाता है?

इस प्रकार सोलहवीं शती तक राष्ट्रीय राज्य प्रणाली के प्रादुर्भाव ने यूरोप में एक नए राजनीतिक स्वरूप का प्रारंभ कर दिया था। केंद्रीकृत राष्ट्रीय राज्यों में समन्वय स्थापित करने एवं उन्हें मिलाने की प्रक्रिया पूर्वी यूरोप की तुलना में पश्चिमी यूरोप में पहले प्रारंभ हुई एवं अधिक विकसित हुई। लगभग सभी महत्त्वपूर्ण केंद्रीकृत क्षेत्रीय राज्यों (Centralized Territorial States) का रूप "साम्राज्य" का था। उस राज्य विशेष में रहने वाले लोगों ने राजाओं की आज्ञा मानना प्रारंभ कर दिया था। पैतृक उत्तराधिकार के सिद्धान्त के राज्य को ज्यों-का-त्यों रखने में सहायता दी। 1500 के लगभग यूरोपीय राज्य अभी प्रमुखत: राजवंशीय राज्य थे अर्थात् उन प्रदेशों की राजनीतिक एकता इस कारण थी कि वे एक राजवंश के ही अधीन थे। किन्तु फिर भी समान्ती व्यवस्था का ह्रास हो रहा था। साथ ही यूरोपीय क्षितिज भी विस्तृत हो रहा था–साहसी नाविक दूसरे महाद्वीपों का समुद्री मार्ग खोज रहे थे और इससे यूरोप के इतिहास में एक नए अध्याय का प्रारंभ हुआ। मध्ययुगीन यूरोपीय संस्कृति यूरोप तक ही सीमित थी–किन्तु आधुनिक यूरोप की सभ्यता विश्वव्यापी बनी। इन्हीं सब परिवर्तनों ने पंद्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दियों को एक महत्त्वपूर्ण संक्रमण काल बना दिया है। प्रत्येक राजदरबार में कुछ मंत्री थे जो अपने विदेशी प्रतिद्वंद्वियों के विरुद्ध विस्तारवादी नीतियाँ अपना रहे थे और यूरोप विभिन्न देशों के साथ आपसी युद्धों में फँसा हुआ था। युद्धों के बढ़ते हुए व्यय ने सभी देशों में कर को अधिकाधिक बढ़ा दिया था एवं इसी प्रश्न को लेकर सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दी के राजतंत्रीय राज्यों का समाज की नवोदित शक्तियों के साथ संघर्ष प्रारंभ हुआ। सिद्धांत रूप में राजा अपने राज्य का स्वामी था किन्तु व्यवहार रूप में उन्हें यह प्रत्यक्ष अनुभव हो गया था कि वे अपने प्रजाजनों के जीवन एवं संपत्ति के स्वामी नहीं हैं। उनके राजनीतिक आक्रमणों के लिए युद्ध और युद्ध के लिए कराधान अनिवार्य थे किन्तु कर लगाने का यही प्रश्न प्रत्येक कौंसिल अथवा सदन में संघर्ष का प्रश्न बन गया। यूरोप में सर्वत्र राजाओं के नीचे कई भूस्वामी, समृद्ध व्यापारी आदि थे जो अपने ऊपर लगाए जाने वाले कर की सीमा सीमित ही रखना चाहते थे। इस प्रश्न को लेकर सभी स्थानों पर राजाओं का विरोध हो रहा था। किन्तु सभी स्थानों पर विरोध को संगठित रूप देने की सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थीं।

6.2 सारांश (Summary)

हम यूरोप के कई देशों में होने वाले युद्ध के बारे में पढ़ चुके हैं। साथ ही पीछे यह भी स्पष्ट किया जा चुका है कि सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दियों के दौरान युद्धों की भरमार रही। स्वयं यूरोप में ही ऐसे अनेक युद्ध लड़े गए। फ्रांस तथा हैप्सवर्ग वंश के बीच इटली के युद्ध 1494 में आरंभ हुए और थोड़े-थोड़े अंतराल के बाद 1559 तक चलते रहें। संपूर्ण सत्रहवीं शताब्दी में केवल सात वर्ष (1610, 1669-71, 1680-82) ऐसे थे जबकि यूरोपीय राज्यों के बीच कोई युद्ध नहीं हुआ। कुछ महाशक्तियाँ तो पूरी शताब्दी में से लगभग आधे समय तक युद्धों में उलझी रहीं (मध्य यूरोप 1618 से 1648 तक तीस वर्षीय युद्ध का क्षेत्र बना रहा) और यदि हम स्पेन के समुद्र पार के अधिकृत क्षेत्रों को भी गणना में सम्मिलित करें तो स्पेन तो अधिकांश समय युद्धों में ही उलझा रहा। यहाँ यह देखना उपयुक्त होगा कि सामंती एवं निरंकुश राजतंत्रीय युद्धों में पाई जाने वाली समानताएँ एंव असमानताएँ क्या थीं।

6.3 शब्दकोश (Keywords)

1. किसान (Peasant)– खेती करने वाला।
2. जमींदार (Landlord)– भूस्वामी

6.4 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

नोट

1. 'जस्टिस ऑफ पीस' से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
2. आंग्ल क्रान्ति (दीर्घकालीन संसद एवं गृहयुद्ध) कब हुई?
3. तुर्की साम्राज्य की मूलभूत विशेषता क्या थी? उनके राज्य को क्या नाम दिया जाता है?
4. तुर्कों की सफलता के कारण क्या थे?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. प्रशासक
2. 'इक्विटी'
3. 1569
4. (क) 1526
5. (ख) दुर्गीकरण
6. (घ) 1529

6.5 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
2. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
4. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
5. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
6. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
7. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*

नोट

इकाई 7: नौकरशाहीकरण (Bureaucratization)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

7.1 सामंतवाद का पतन (Decline of Feudalism)

7.2 निरंकुशता का अर्थ (Meaning of Absolutism)

7.3 निरंकुश राजतंत्र की स्थापना (Establishment of Autocratic Monarchy)

7.4 फ्रेडरिक का निरंकुश शासन (Autocratic Rule of Frederick)

7.5 लुई का शासनकाल (Reign of Louis)

7.6 सारांश (Summary)

7.7 शब्दकोश (Keywords)

7.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

7.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- आधुनिक काल के आरंभ में सामंतवाद के पतन को जानने में।
- निरंकुशता का अर्थ जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

निरंकुशवाद (absolutism) नाम यूरोप में 1660-1789 के बीच पनपने वाले राजतंत्र को दिया गया है। लुई चौदहवें ने निरंकुश राजतंत्र को नई दिशा दी थी, जिसे यूरोप के सभी देश अनुकरणीय समझते थे। राजतंत्र में निरंकुशता की प्रवृत्ति तो होती है पर अब उसे ऐसा आदर्श मिल गया था, जिसकी नकल करके सभी राजा उतने ही महिमामय बनने के लिए लालायित थे। निरंकुशता की स्थापना किसी क्रान्ति द्वारा नहीं हुई थी, वह आधुनिक युग के प्रारंभ में होने वाले परिवर्तनों का राजनीतिक परिणाम थी।

मध्यकालीन यूरोप के सामाजिक गठन का एक महत्त्वपूर्ण अंग सामंतवाद था। जागीर समाज की आधारभूत इकाई होती थी जिसमें सामंत सर्वोच्च अधिकारी था। सामंत-तंत्र में कृषक-वर्ग की दशा सबसे शोचनीय थी। उसका अधिकांश समय अपने सामंत के लिए बेगार करने में व्यतीत होता था। उसे सामंत को कई प्रकार के कर देने पड़ते

नोट

थे। सामंत-तंत्र के अंतर्गत चर्च के अधिकारी भी चर्च की भूमि पर काम करने वाले किसानों के मालिक होते थे। अत: धार्मिक व्यवस्था के सदस्य के नाते वे पादरी थे और भूमि प्रबंधक के नाते सामान्य नागरिक भी थे। इस प्रकार की व्यवस्था में कई दोष थे। सांसारिक समस्याओं में उलझे रहने के कारण पादरी आध्यात्मिक साधना से दूर हटते गए। धार्मिक अनुशासन भंग होने लगा और सामंत व अन्य शक्तिशाली अधिकारी अपने अनुचरों को नियंत्रण में रखने के लिए हर संभव उपाय का प्रयोग करने लगे।

7.1 सामंतवाद का पतन (Decline of Feudalism)

आधुनिक काल के आरम्भ में सामंतवाद पतन की ओर अग्रसर था। समय के साथ-साथ सामंतवाद का स्वरूप भी विकृत होने लगा। बाद के सामंतों में पहले जैसी नैतिकता, शूरवीरता तथा जनकल्याण की भावना नहीं रही। वे विलासी, अत्याचारी, व्यभिचारी तथा अपने ही लोगों के शोषक बन गए। अत: इस प्रथा का पतन स्वाभाविक था। इसी समय राष्ट्रीयता की भावना का उदय हो रहा था। व्यापारी वर्ग शक्तिशाली हो रहा था। राजाओं के लिए, व्यापारियों के सहयोग से सामंतों को कुचलना आसान हो गया था। इस प्रकार पंद्रहवीं सदी के अंत तक सामंती पद्धति का अंत हो गया था।

सामंतवाद का पतन और पुनर्जागरण की लहर का फैलना दोनों साथ-साथ हुए। पुनर्जागरण के प्रभाव से, सभी यूरोपीय देशों में राष्ट्रीयता तथा मध्यवर्गीय अर्थव्यवस्था का विकास हुआ। अब राजा की शक्ति राष्ट्रीय एकता के माध्यम और प्रतीक के रूप में बढ़ने लगी। यूरोप के कुछ देशों (जैसे इंग्लैण्ड) में परिस्थितियाँ अधिक अनुकूल थीं, इसलिए वहाँ राष्ट्रीयता का विकास अन्य देशों की अपेक्षा शीघ्रता से हुआ।

निरंकुश राजतंत्र को मजबूत बनाने में, शासकों के "दैवी अधिकार" का बहुत महत्त्व था। मध्यकालीन शासकों व पोप के बीच संघर्ष में, कुछ लोगों ने इस तथ्य पर जोर दिया कि पोप की भाँति शासकों को भी ईश्वर की यह आज्ञा थी कि वे जनता पर शासन करें। इन दैवी अधिकारों का सहारा लेकर, राजाओं ने अपनी शक्ति का विस्तार किया। इंग्लैण्ड के पहले स्टुअर्ट शासक इसका ज्वलंत प्रमाण हैं। फ्रांस में लुई चौदहवें ने भी इसी सिद्धांत को माना।

7.2 निरंकुशता का अर्थ (Meaning of Absolutism)

निरंकुशता का अर्थ है, एक ही व्यक्ति के हाथ में सारी शक्ति का केंद्रित होना। निरंकुश-तंत्र में राजा, अपनी शक्ति की सहायता से, सेना व अन्य बड़े अफसरों द्वारा शासन प्रबंध चलाता है। निरंकुश-तंत्र में राजा पर कोई कानून लागू नहीं होता। केवल वह स्वयं ही कानून बना और रद्द कर सकता है। राजा का विरोध करने का किसी को अधिकार नहीं है और न ही ऐसी कोई संस्थाएँ होती हैं जहाँ उसके विरोधी अपनी आवाज उठा सकते हों।

सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में यूरोप में लगभग सभी राजा अपनी नीतियों को सेना व गुप्त पुलिस की सहायता से कार्यान्वित करते थे। कई बार लोगों को बिना मुकदमा चलाए जेल में बंद कर दिया जाता था, समाचारपत्रों पर प्रतिबंध लगा दिए जाते थे और जनता के अधिकारों की खुलेआम उपेक्षा की जाती थी।

इस निरंकुश शासन की विशेषता यह थी कि राजा सेना की सहायता से शासन परिवर्तन करके शक्ति प्राप्त नहीं करता था, बल्कि राजवंश से संबंधित होने के कारण ही अपने पद को प्राप्त करता था। निरंकुश शासन किसी क्रान्ति द्वारा नहीं लाया गया था। मध्यकालीन यूरोप के सामंतवादी संगठित समाज में यह एक सुधारवादी धारा के रूप में था। निरंकुश राजाओं ने यूरोप में, उदाहरण के लिए इंग्लैण्ड में ट्यूडर राजाओं ने, मध्यकालीन संस्थाओं को तो नहीं समाप्त किया, परंतु नई संस्थाएँ स्थापित कर उनकी सहायता से अपना राज-काज चलाया। लुई चौदहवें ने इन्टेन्डेंट्स (Intendents) की स्थापना करके उन्हें राजनीतिक कार्यभार सौंपा।

नोट

निरंकुशवाद की एक अन्य विशेषता यह थी कि मध्य यूरोप में राजा की शक्ति को प्रकृति के अन्य नियमों की भाँति स्वीकार कर लिया गया। राजा को दैवी प्रतिनिधि माना गया। यह स्थिति फ्रांस में अधिक स्पष्ट थी। ऐसा समझा जाता था कि राजा और जनता के बीच एक मूक समझौता है, जिसके बल पर राजा अपनी शक्ति का उपयोग करता है। इसका मतलब यह नहीं कि कोई राजा की अवेहलना का विरोध कर सकता है।

नोट्स सामंतवाद का पतन और पुनर्जागरण दोनों साथ-साथ हुए।

अठारहवीं सदी में राजा व सामंत, एक-दूसरे के निकट आने लगे थे। सामंतों ने महसूस किया कि पर्याप्त सेना और नए भृत्य वर्ग की सहायता से, राजा बहुत शक्तिशाली हो गया था। अत: उसके विरुद्ध विद्रोह करना इतना आसान न था। धीरे-धीरे सामंतों ने अपने आपको नए भृत्य वर्ग में शामिल करना शुरू किया। बहुत से यूरोपीय दरबार अब फ़ैशन व कला का केन्द्र बनने लगे, जिसमें सामंतों का महत्त्वपूर्ण योगदान था।

निरंकुशवाद की एक और विशेषता थी नौकरीपेशा वर्ग (service class) की स्थापना। इस वर्ग में मुख्यत: दो प्रकार के पद थे–एक प्रशासनिक, दूसरे सैनिक। कुछ देशों में, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, नौकरीपेशा वर्ग के सदस्य कुलीन न होकर साधारण जनता में से लिए जाते थे ताकि वे राजा का विरोध न कर सकें। अन्य देशों, (जैसे फ्रांस) में प्रशासनिक पद प्राय: खरीदे जाते थे। परंतु निरंकुश राजा के सामने इन पदों की शक्ति भी बहुत कम हो गई थी। इसके अतिरिक्त, मेधावी व्यक्ति प्रतियोगिता-परीक्षा (competitive examination) अथवा विश्वविद्यालय की परीक्षा पास करके इस वर्ग में प्रवेश पाते थे। कभी-कभी बहुत योग्य व्यक्तियों को सरकार की ओर से सम्मानित करने के लिए इस वर्ग में शामिल किया जाता था। इस प्रकार 18वीं सदी के यूरोप में नौकरीपेशा वर्ग की स्थापना एवं उसकी कार्यविधि का यह स्वरूप था।

निरंकुशवाद की एक विशेषता थी राजा व एस्टेट के बीच संघर्ष। पश्चिमी यूरोप के सभी देशों में एस्टेट की स्थापना हो चुकी थी। इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन, जर्मनी आदि सभी देशों में कर लगाने व कानून बनाने की शक्ति को लेकर, राजा व पार्लियामेंट के झगड़े होते रहते थे। किन्तु तीसवर्षीय युद्ध के बाद, राजाओं की शक्ति पहले से और अधिक बढ़ी। फ्रेडरिक विलियम ने बैडनबर्ग और प्रशा में डाइट (Diet)का अस्तित्व ही समाप्त कर दिया।

निरंकुशवाद की एक और विशेषता वाणिज्यवाद (mercantilism) थी। जैसे-जैसे शासक की शक्ति बढ़ी, वाणिज्यवाद भी बढ़ता गया। 18वीं सदी में फ्रांस ने इस नीति को छोड़ दिया, परंतु प्रशा व आस्ट्रिया में, बहुत समय तक वाणिज्यवाद का बोलबाला रहा। इन राज्यों ने व्यक्तिगत आवश्यकताओं की बजाय सरकारी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, वाणिज्यवाद की नीति को अपनाया। वाणिज्यवाद एक प्रकार का आर्थिक युद्ध था जिसमें एक राज्य-विशेष स्वयं आत्मनिर्भर होकर, दूसरे देशों को अपने ऊपर आर्थिक रूप से निर्भर होने के लिए प्रेरित करता था। इसका आशय था उद्योग-धंधों को बढ़ावा देना और वस्तुओं के आयात को कम करना। आस्ट्रिया और प्रशा में वाणिज्यवाद का मतलब सरकारी स्वामित्व नही वरन् सरकारी नियंत्रण था। इन देशों में उद्योग-धंधे उतने विकसित नहीं थे जितने कि फ्रांस में थे और न ही यहाँ के व्यापारियों को अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का उतना ज्ञान था जितना फ्रांसीसी व्यापारियों को था। अतएव इन देशों में, फ्रेडरिक महान् और जोसेफ द्वितीय के समय में, उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए वाणिज्यवाद की नीति अपनाई गई।

7.3 निरंकुश राजतंत्र की स्थापना (Establishment of Autocratic Monarchy)

निरंकुश राजतंत्र की स्थापना यूरोप में सत्रहवीं सदी में हो चुकी थी। सत्रहवीं सदी में ही महान् राजतंत्रों की नींव रखी गई थी। इनमें सबसे पहले हम रूस को लेते हैं। 17वीं सदी में ही रूस एक शक्तिशाली राजतंत्र बनने के पथ

नोट

पर अग्रसर हुआ। इससे पहले 1400–1700 तक यूरोप में होने वाली क्रान्तियों से रूस बिल्कुल अलग रहा। यहाँ कोई पुनर्जागरण व धर्मसुधार नहीं हुआ। 1453 में कुस्तुनतुनिया का पतन होने के बाद ही रूस का यूरोप के साथ संपर्क स्थापित हुआ। पीटर प्रथम का काल (1694–1725) रूस के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ। रूस में छापेखाने का आविष्कार हुआ और यूरोप से बहुत से इंजीनियर व तकनीशियनों को रूस बुलाया गया। किन्तु यह जल्दी ही स्पष्ट हो गया कि रूस एक बड़ी शक्ति बने बिना यूरोपीय देशों की बराबरी नहीं कर सकता था। पीटर ने निश्चय किया कि रूस का कल्याण उसके यूरोपीयकरण में हैं। रूस की घुटन समाप्त करने के लिए उसने रूस की सीमाओं को पश्चिम में बाल्टिक सागर और दक्षिण में काला सागर तक पहुँचाना आवश्यक समझा। वह यह भी समझता था कि जब तक शक्तिशाली और निरंकुश राजतंत्र की स्थापना नहीं होती, ये उद्देश्य पूरे नही होंगे। वह जीवन भर इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति में लगा रहा और इसमें सफलता भी मिली।

सन् 1697 में, पीटर पश्चिमी यूरोप की यात्रा पर गया। इस यात्रा में उसका उद्देश्य सब ईसाई राष्ट्रों को तुर्की के विरुद्ध, धार्मिक युद्ध के लिए प्रेरित करना था। इस यात्रा से पीटर को अनुभव हुआ कि पश्चिमी यूरोप रूस से कहीं ज्यादा समृद्ध, शिक्षित और शक्तिशाली था। पीटर ने स्वदेश लौटकर प्राचीन व दकियानूसी विचारों व प्रथाओं का खंडन किया। उसने समाज में सभ्य आचार–व्यवहार पर जोर दिया; स्त्रियों को प्रेरित किया कि वे पर्दा छोड़कर पाश्चात्य वेशभूषा में बाहर आएँ। बड़े–बड़े सामंतों को यूरोपीय सभ्यता सिखाई गई। शिक्षा के क्षेत्र में, रूसी भाषा के स्थान पर फ्रेंच बोलचाल की भाषा बनीं। नगरों में स्कूल खुले। डॉक्टरों और इंजीनियरों के लिए भी विद्यालय खुले। राजधानी में एक विशाल अकादमी की स्थापना हुई।

सन् 1715 तक तो पीटर अंतर्राष्ट्रीय युद्धों में रत रहा। युद्ध का जोर कम होने पर पीटर ने प्रशासनिक सुधारों की व्यवस्था की। 17वीं सदी में जब पीटर का राज्यकाल आरंभ हुआ था, रूस में सदियों से पिछड़ी हुई विचारधारा के अनुसार सरकार बनी हुई थी। उसमें एक संस्था तो 'ड्यूमा' थी जिसमें अधिकांश सामंतों का प्रतिनिधित्व था। इसके अतिरिक्त सरकार के 40 विभाग थे जिनका काम ठीक प्रकार से विभाजित नहीं था। स्थानीय प्रशासन गर्वनरों के हाथ में था। पीटर ने प्रशासनिक सुधारों द्वारा सारी शक्ति का केन्द्रीकरण शासक के हाथ में कर दिया।। 'पीटर, लुई चौदहवें के शासनतंत्र से बहुत प्रभावित हुआ था। 1716 में नई सैनिक आचार संहिता में उसने अपने आपको निरंकुश घोषित किया। उसने सबसे पहले 'ड्यूमा' को समाप्त किया। अब किसी तरह की कोई प्रतिनिधि सभा नहीं रह गई थी। 'ड्यूमा' के स्थान पर कई संस्थाएँ बनाई गईं जिनमें 'सीनेट' प्रमुख थी और जिसकी स्थापना 1711 में हुई थी। 40 विभागों के स्थान पर 9 कॉलेज स्थापित किए गए जिनका कार्यभार व जिम्मेदारी का दायरा निश्चित था। प्रांतीय शासन के लिए उसने देश को 12 भागों में बाँटा। प्रत्येक भाग पर एक गर्वनर शासन करता था। प्रांतीय सरकार पर 1708, 1715 और 1719 में केंद्रीय सरकार का नियन्त्रण बढ़ाया गया और अफसरों को कॉलेजों के प्रति जवाबदेह ठहराया गया। उसने पुराने सांमतों के स्थान पर नए सामंत पैदा किए। इन स्वामिभक्त सामंतों की सहायता से, पीटर रूस पर शासन करता था। 1725 में प्रांतीय शासन में और परिवर्तन हुए। देश 50 प्रांतों में बँटा हुआ था और उनके ऊपर गवर्नर शासन करता था। उनकी सहायता के लिए नए अफसरों की नियुक्ति की गई थी। ये अफसर सामंत वर्ग में से लिए जाते थे। सैनिकों और अफसरों को भी यही प्रशिक्षण दिया जाता था कि राजभक्ति और राष्ट्रभक्ति पर्यायवाची हैं। इस प्रकार पीटर ने अपने देश में पहले की अपेक्षा एक मजबूत नौकरशाही व केंद्रिय शासन स्थापित किया। उसका उद्देश्य था कि इस शक्तिशाली केंद्र की सहायता से एक बड़ी सेना खड़ी करे जो रूस को अंतर्राष्ट्रीय शक्ति बनाए। प्रशासन का जो ढाँचा पीटर ने बनाया था, वह बहुत थोड़े परिवर्तनों के साथ, उसके उत्तराधिकारियों के समय में भी चलता रहा। कई नई संस्थाओं का उदय हुआ। 1726 में सुप्रीम प्रिवी कौंसिल (Supreme Privy Council), 1731 में कैबिनेट आदि स्थापित की गई। सीनेट की शक्ति कुछ कम हो गई थी। कैथरीन द्वितीय ने इसे 6 विभागों में विभाजित कर दिया था, परन्तु अभी भी यह प्रशासन का काफी काम सँभालती थी। पीटर के बनाए कॉलेज वैसे ही रहे। पीटर की बनाई स्थानीय सरकार को 1728 में बदल दिया गया। अब कई प्रांतों को इकट्ठा करके उन पर गवर्नर का शासन लागू किया गया।

नोट

क्या आप जानते हैं निरंकुश राजतंत्र को मजबूत बनाने में शासकों के 'दैवी अधिकार' का बहुत महत्त्व था।

किन्तु निरंकुश राजतंत्र की स्थापना के बाद भी पीटर के आंतरिक सुधार उतने सफल नहीं हुए जितनी उसे आशा थी। बहुत से सामाजिक व आर्थिक कारणों से पीटर को अपना निरंकुश शासन चलाने में कई कठिनाइयाँ पेश आईं। साधारणतया रूस की जनता काहिल और आलसी थी। फिर रूस विस्तृत देश था और यातायात के साधन कठिन और धीमी चाल वाले थे। नए सुधारों का प्रभाव जानने के लिए सरकार के पास साधन बहुत कम थे। इसके अतिरिक्त प्रशासन में फैले हुए भ्रष्टाचार को रोकने में पीटर सफल नहीं हुआ। रूस में दास प्रथा जोरों पर थी और पीटर द्वारा लाए गए सुधारों से करों का ज्यादा बोझ दासों पर पड़ रहा था। पीटर ने उन्हें स्वतंत्रता दिलाने की कोई चेष्टा नहीं की। अतएव दास, जोकि जनसाधारण का बड़ा भाग थे, पीटर के शासन को पर्याप्त सहायता न दे सके।

कई इतिहासकारों ने पीटर के कार्यों की आलोचना की है। डेविड औग ने कहा कि पीटर ने थोड़े समय में एक क्रान्ति लाने की चेष्टा की जोकि धीरे-धीरे समयानुसार आनी चाहिए थी। औग की राय में यदि ये ही सुधार आहिस्ता-आहिस्ता लाए जाते, तो पीटर रूस में राष्ट्रीयता की भावना जगाने और उसे स्थायी संस्कृति प्रदान करने में सफल होता। यह तो सच है कि अपना कार्य करने के लिए पीटर ने हिंसा का सहारा लिया। परन्तु राष्ट्रीयता की भावना उसमें बहुत अधिक थी। उसने विदेशियों को रूस में तकनीकी विकास और सैनिक प्रशिक्षण के लिए बुलाया। परंतु उच्च सरकारी पदों पर केवल रूसी अफसर नियुक्त होते थे और पीटर के अपने परामर्शदाता भी अधिकतर रूसी ही थे। इसलिए आलोचना पीटर के विचारों व कार्यविधि की होनी चाहिए, विदेशी सहायता की नहीं। जी.एन. क्लार्क ने संकेत किया है कि जिस समय पीटर शासक बना, यूरोप में कृषि व औद्योगिक क्रान्तियाँ हो रहीं थी। यदि रूस में सुधार आन्दोलन धीरे-धीरे चलता जाता, तो रूस औद्योगिक व तकनीकी दृष्टि से पिछड़ा हुआ रह जाता। और यह भी संभव है कि उस अवस्था में रूस या तो विदेशी आक्रमणों का या फिर सामंतों द्वारा फैलाई गई आंतरिक अशांति का शिकार हो जाता।

पीटर के बाद, रूस में अयोग्य शासकों का बोलबाला था। कैथरीन प्रथम 1725-27, पीटर द्वितीय 1727-30, एना 1730-40, एलिजाबेथ 1741-62, पीटर तृतीय और उसके बाद कैथरीन द्वितीय सिंहासन पर आई। इन सब शासकों के समय में (1725 से 1762 तक) रूस में काफी उथल-पुथल रही। शासकों के कमजोर होने से सामंतों को अपनी शक्ति बढ़ाने का मौका मिला, किन्तु फिर भी, इस समय रूस ने यूरोप में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1726 में आस्ट्रिया के साथ एक परस्पर मैत्री संधि की गई, जो सप्तवर्षीय युद्ध के अंत तक बनी रही। 1764 में रूस और प्रशा के बीच ऐसी ही संधि हुई और 1781 में कैथरीन द्वितीय और जोसेफ द्वितीय के मध्य, एक संधि द्वारा, आपसी संबंध और दृढ़ किए गए।

सन् 1762 में अपने पति पीटर तृतीय की मृत्यु के बाद कैथरीन द्वितीय ज़ारीना बनी और 1794 तक रूस पर निरंकुश शासन करती रही। वह एक जर्मन राजकुमारी थी, और पीटर से विवाह के बाद जब रूस आई तो उसने रूसी भाषा और आचार-व्यवहार को सीखा। उसने रूसी मित्र बनाए, और रूसी राजनीति में रुचि लेने लगी। ज़ारीना बनकर, उसकी आंतरिक नीति का उद्देश्य था निरंकुश शासन बनाए रखना। उसने पीटर की पाश्चात्यीकरण की नीति को कार्यान्वित करना शुरू किया। उसने सारे रूस के प्रतिनिधियों की एक सभा बुलाई। वह रूस के कानून को आधुनिक रूप देना और संकलित करना चाहती थी। उनसे अपने क्षेत्रों की विशेष आवश्यकताओं की सूची बनाने को कहा गया था। उन्हें तत्कालीन पश्चिमी विचारों के आधार पर एक निर्देश भी दिया गया।

उसने प्रशासन को इकाइयों में बाँटकर गवर्नर और उप-गवर्नरों की नियुक्ति की। उन्हें कोई स्वतंत्रता नहीं थी। वे केवल कैथरीन की आज्ञाओं का पालन करते थे। कैथरीन ने चर्च की संपत्ति भी राज्य को दे दी। अब धर्माधिकारी जीवनयापन के लिए राज्य पर आश्रित हो गए।

नोट

किन्तु कैथरीन के निरंकुशवाद में भूस्वामी वर्ग का महत्त्वपूर्ण योगदान था। रूस में जमींदारों और किसानों की काफी संख्या थी। राजतंत्र और जमींदारों के बीच वैमनस्य धीरे-धीरे कम हो गया था। 1730 से तो ज़मींदार राजतंत्र के स्वामिभक्त मित्र बन गए थे। ज़मींदारों के दो वर्ग थे– एक तो प्राचीन सामंत वर्ग और दूसरा नया ज़मींदार वर्ग जो पीटर की देन था। यह नया जमींदार वर्ग राजतंत्र का सहायक था और इसे यह भी स्पष्ट था कि प्राचीन सामंतों के विरुद्ध निरंकुश शासक उन्हें प्रश्रय प्रदान करेगा। 1762 में पीटर तृतीय ने उन्हें अनिवार्य राज्य सेवा से मुक्त कर दिया। 1775 में स्थानीय शासन में परिवर्तन करके, पीटर के बनाए कॉलेजों के बहुत से कार्य प्रांतीय चेम्बरों को दिए गए जिनके अधिकांश सदस्य ज़मींदार होते थे। 1785 में ज़मींदार वर्ग को चार्टर प्रदान किए गए जिनके अनुसार उन्हें बहुत कानूनी एवं आर्थिक अधिकार दिए गए। इस तरह कैथरीन के समय में राजतंत्र निरंकुश तो रहा प्रशासन का बहुत-कुछ भाग ज़मीदारों के हाथ में हो गया था।

विदेश नीति की दृष्टि से यूरोप में रूस एक महत्त्वपूर्ण देश था। रूस ने विशेष चेष्टा की कि स्वीडन बाल्टिक समुद्र में अपने खोए हुए प्रवेश वापस न ले ले। कैथरीन जानती थी कि बाल्टिक पहुँचकर, रूस का उद्देश्य पूरा नही हुआ था। उसे बारह महीने खुले रहने वाले काला सागर के बंदरगाह चाहिए थे। कैथरीन ने अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए, प्रशा के फ्रेडरिक द्वितीय से मित्रता की और उसे अपनी ओर मिला लिया।

स्व-मूल्यांकन (Self-Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. कैथरीन के निरंकुशवाद में ..... का महत्त्वपूर्ण योगदान था।
2. निरंकुश राजतंत्र की स्थापना यूरोप में ..... में हो चुकी थी।
3. अठारहवीं सदी में रूस यूरोप में ..... शक्ति बन चुका था।

7.4 फ्रेडरिक का निरंकुश शासन (Autocratic Rule of Fredrick)

सन् 1688–1713 से फ्रेडरिक प्रथम प्रशा का शासक बना। वह साधारण योग्यता का व्यक्ति था। उसमें अपने पिता–जैसी दृढ़ता व चरित्र का अभाव था। किन्तु फिर भी उसने अपने पिता की विदेश नीति को कायम रखा। वह 'औसतवर्ग लीग' का सदस्य था। उसकी सेना यूरोपीय युद्धों में भाग लेती रही। 1698 'रिजविक की संधि' के बाद, उसने अपने स्वतंत्र शासक पद की मांग की और 1701 में उसने अपने आपको "प्रशा का राजा" (किंग ऑफ प्रशा) घोषित किया। वह प्रशा के निरंकुश राजतंत्र में आगे की ओर एक और क़दम था।

आंतरिक नीति में भी उसने निरंकुशवाद को दृढ़ किया। न्याय संबंधी मामलों पर विचार करने का अधिकार केवल बर्लिन स्थित 'सुप्रीम कोर्ट ऑफ अपील' को दिया गया। उसने जर्मन सभ्यता और संस्कृति को बढ़ावा देने के लिए बर्लिन में कला व विज्ञान की अकादमी की स्थापना की। 1694 में उसने हाल विश्वविद्यालय (Halle University) की स्थापना की।

फ्रेडरिक के राज्यकाल में निरंकुशवाद की जड़ें और मजबूत हो गईं और प्रशा अब महान शक्ति बनने के लिए तैयार हुआ। 1713–40 में फ्रेडरिक विलियम प्रशा का शासक था। उसने निरंकुश राजतंत्र के अभियान को और आगे बढ़ाया। उसने प्रशासन को कई विभागों में बाँटा जैसे अर्थ विभाग, सेना विभाग आदि। प्रत्येक विभाग के राजा की आज्ञानुसार काम करना होता था। राजतंत्र को मज़बूत करने के लिए उसने सरकारी अफ़सरों को उनके मूल निवास स्थान से हटाकर दूसरे प्रांतों में नियुक्त किया। उसका कहना था कि सरकारी नौकरशाही के सदस्य उसके निजी हैं

नोट

और उन्हें राजा की आज्ञा माननी चाहिए। उसका कहना था कि सरकारी अफ़सरों को जीवन, धनधान्य, यहाँ तक कि अपनी आत्मा देकर भी राजा की सेवा करनी चाहिए।

फ्रेडरिक विलियम प्रथम के विषय में प्रचलित होने वाली कार्यविधियाँ उसके पुत्र फ्रेडरिक द्वितीय के समय में भी चलती रहीं। फ्रेडरिक द्वितीय भी, अपने पिता के समान, शासन-प्रबंध अपने हाथों में रखता था। एक तो वह प्रतिवर्ष ग्रीष्म ऋतु में दौरे पर जाता था और सरकारी पदाधिकारियों या जनता की शिकायतें सुनता था। दूसरे, प्रशासन पर भेजी गई प्रांतीय रिपोर्टों पर वह टीका-टिप्पणी करता था और राजाज्ञा जारी करता था। उसके पिता के समय में बनाए गए विशेष मंत्री-विभागों जैसे व्यापार, सेना आदि को जारी रखा गया। किन्तु फ्रेडरिक विलियम के राज्य के अंतिम 20 वर्षों में 1713-1740 की कुछ कार्यविधियाँ अब बेकार होने लगी थीं। प्रशा का क्षेत्रफल अब पहले से ज़्यादा विस्तृत था और आर्थिक स्थिति पहले से अधिक मज़बूत हो गई थी। फ्रेडरिक के लिए निजी शासन करना उतना सरल नहीं रह गया था। इसके अतिरिक्त छोटे पदाधिकारी राजा को प्रशासन के बारे में पूरी जानकारी नहीं देते थे।

अठारहवीं सदी में प्रशा और रूस के शासन-प्रंबध में बहुत समानता थी। दोनों देशों में सेना व नौकरशाही बहुत शक्तिशाली थी और दोनों ही शासक, पीटर प्रथम और फ्रेडरिक विलियम, केंद्रीकरण के पक्षपाती थे। दोनों देशों में नौकरशाही के अधिकांश सदस्य कुलीन उच्चवंशीय न होकर, जनसाधारण से लिए जाते थे। किन्तु रूस में प्रशा जैसी कार्यपटु नौकरशाही न थी। रूस का विस्तृत क्षेत्रफल, वहाँ के अर्धशिक्षित व अशिक्षित अफ़सर और वहाँ के राजाओं की शासन के प्रति उदासीनता ही ऐसी प्रशासनिक कमज़ोरियों के लिए जिम्मेदार थीं।

अठारहवीं सदी में प्रबुद्ध शासकों में फ्रेडरिक का स्थान सर्वोच्च है। उसका फ्रांस के साथ घनिष्ठ सम्पर्क था। वाल्तेयर से उसका पत्र-व्यवहार था और वह फ्रेडरिक के अच्छे मित्रों में से था। वह सदा फ्रेंच भाषा को जर्मन भाषा से अधिक महत्त्व देता रहा। उसके राजनीतिक विचारों का सारांश यही था, कि जो स्थान व्यक्ति के शरीर में मस्तिष्क का है, वही स्थान राष्ट्र में राजा का है। इस प्रकार उसने राजा की सर्वोच्चता और प्रमुखता को स्थापित किया। उसने लुई चौदहवें की तरह यह नहीं कहा कि मैं ही राजा हूँ। वह कहता था कि शासक राज्य का प्रथम-कर्मचारी होता है। वह निरंकुश तो लुई की तरह ही बना रहा परंतु वह प्रजा के प्रति जिम्मेदार रहा। वह लुई से कम दंभी नहीं था लेकिन वह उतना स्वार्थी और आत्मकेंद्रित नहीं था जितना कि लुई। राज्य के उत्तरायित्व का निर्वाह करने में वह सारी शक्ति लगा देता था। वह लुई की भाँति भोग-विलास में रुचि नहीं लेता था। वह जोसेफ़ द्वितीय की तरह आदर्शवादी भी नहीं था। उसने सिद्धांतों को महत्त्व दिया और प्रजा के हित के कार्य किए– लेकिन वे ही कार्य जिन्हें उसने उचित समझा। उसने प्रजा को अपनी बात कहने या प्रजातांत्रिक सरकार बनाने का अधिकार कभी नहीं दिया। वह राजा को दैवी अधिकारों से संपन्न नहीं कहता था, लेकिन वह मानता था कि राज्य के लिए, प्रजा के लिए कार्य करे लेकिन उसके कर्तव्यों का निर्धारणकर्ता भी वह स्वयं ही था। इसलिए उसका सिद्धांत इंग्लैण्ड के सांविधानिक राजतंत्र और फ्रांस के स्वेच्छाचारी राजतंत्र के बीच प्रबुद्ध राजतंत्र था।

आंतरिक नीति के क्षेत्र में उसने किसानों और ज़मीदारों को वैज्ञानिक ढंग से खेती करने के लिए प्रोत्साहन किया। पहली बार आलू की खेती बड़े पैमाने पर शुरू हुई। पशु-पालन को बढ़ावा दिया गया। कर वसूली करने वाले कर्मचारियों पर वही कड़ी नज़र रखता था। वह देश की आत्म-निर्भरता को आवश्यक समझता था, इसलिए आयात नियंत्रित था। चीनी मिट्टी के बर्तन बनाने वालों और कपड़ा उद्योग के कारीगरों को प्रोत्साहित किया गया। सेना के प्रशिक्षण, नियुक्ति व परेड आदि पर वह विशेष ध्यान देता था। आधुनिक हथियारों का इस्तेमाल होता था। सेना में बड़ा कड़ा अनुशासन था इसलिए प्रशा की सेना सारे यूरोप में सर्वश्रेष्ठ मानी जाने लगी।

विदेश-नीति के मामलों में फ्रेडरिक का उद्देश्य प्रशा की सीमाओं का विस्तार करना था। ऑस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध में उसने मारिया को ऑस्ट्रिया की साम्राज्ञी तो मान लिया था, परंतु ऑस्ट्रिया की सैनिक व आर्थिक स्थिति डावॉडोल थी। महत्त्वाकांक्षी फ्रेडरिक ने मौक़ा देखकर साईलेशिया पर अधिकार कर लिया। प्रशा की समृद्धि के लिए,

नोट

साईलेशिया का प्रदेश बहुत महत्त्वपूर्ण हो सकता था। काफ़ी लंबे युद्ध के बाद, आस्ट्रिया और प्रशा में समझौता हो गया। 'ड्रेसडन की संधि' द्वारा ऑस्ट्रिया ने साईलेशिया पर प्रशा का अधिकार मान लिया और फ्रेडरिक ने मारिया के पति को सम्राट के रूप में मान्यता दे दी।

अठारहवीं सदीं के मध्य में यूरोप में कूटनीति क्रान्ति भी रूप धारण कर रही थी। हमेशा के शत्रु ऑस्ट्रिया और फ्रांस में मित्रता हुई और ऑस्ट्रियाई राजकुमारी मारी आंत्वानेत (Marie Antoinette) का विवाह फ्रांसीसी राजकुमार लुई से संपन्न हो गया। उधर प्रशा और इंग्लैण्ड के बीच मैत्री हुई और 'वेस्टमिन्स्टर की संधि' हुई। इन संधियों से यूरोप के कूटनीतिक संबंधों का नक्शा ही बदल गया।

इसके बाद ही यूरोप में 'सप्तवर्षीय युद्ध' (1756–1763) छिड़ गया। फ्रेडरिक ने फुर्ती से सैक्सनी और ऑस्ट्रिया को हराया। किन्तु ऑस्ट्रिया ने उसे बाद में हरा दिया। इसी बीच रूस और फ्रांस ने भी प्रशा को हराया। परंतु एक साल के अंदर ही फ्रेडरिक ने फ्रांस, रूस और ऑस्ट्रिया तीनों को हराया और साईलेशिया तथा हैनोवर को पुनः प्राप्त कर लिया। 'ह्यू बर्टसबर्ग की संधि' के अनुसार ऑस्ट्रिया ने साईलेशिया और ग्लात्स पर प्रशा का अधिकार मान लिया। फ्रेडरिक ने मारिया के पुत्र जोसेफ को सम्राट बनवाने में मदद का वायदा किया।

फ्रेडरिक को इतिहासकारों ने अभूतपूर्व सम्मान दिया है। ट्राइटरके और रान्के जैसे इतिहासकार उसकी प्रशंसा करने में सर्वोपरि हैं। रान्के ने साईलेशिया पर किए गए अधिकार को उचित माना है। वास्तव में जर्मनी को एक राष्ट्रीय शक्ति के रूप में विकसित करने के कारण ही फ्रेडरिक को इतना सम्मान मिला है। उसने जर्मनी में यह सिद्ध कर दिया कि ऑस्ट्रिया का एकाधिकार नहीं चल सकता। अब प्रशा जर्मनी का नेता बनेगा। फ्रेडरिक का साहित्य और दर्शन के प्रति लगाव प्रशंसनीय था। परंतु यह सब होते हुए भी वह एक यथार्थवादी और महत्त्वाकांक्षी राजनेता की स्थिति से ऊपर नहीं उठ सका। वह लगातार निरंकुश बना रहा। उसकी प्रबुद्ध निरंकुशता से प्रशा की प्रगति बहुत तेजी से हुई परंतु स्थायी राजनीतिक विकास की दृष्टि से उसका प्रबुद्ध निरंकुशवाद सफल नहीं हुआ। इससे जनसाधारण की राजनीतिक चेतना कुंठित हो गई थी। जनता शासन से निकटता नहीं महसूस करती थी। जहाँ शासक वर्ग और जनता के बीच खाई हो वहाँ जनसंख्या केवल एक ढोंग के समान है।

प्रशा की राजनीतिक महत्ता बढ़ने से पहले ऑस्ट्रिया प्रदेश का जर्मन नेता था। डेन्यूब नदी के पास के पहाड़ी इलाके में हैप्सबर्ग वंश की स्थापना हुई थी। पंद्रहवीं सदी में ऑस्ट्रिया के शासक पवित्र रोमन सम्राट बनने लगे थे। उनके सामने सबसे बड़ी समस्या राजनीतिक एकता थी। वे अपने राज्य को ऐसा निरंकुश राजतंत्र बनाना चाहते थे जिसमें शक्ति राजा में ही क्रेंद्रित हो। अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिए उन्होंने संधियों और वैवाहिक संबंधों का सहारा लिया। इन संबंधों द्वारा उन्हें नीदरलैण्ड, हंगरी और बोहेमिया के प्रदेश मिल गए। किन्तु जल्दी ही उन्हें तुर्की के आक्रमण का सामना करना पड़ा। तुर्की ने फुर्ती से हंगरी पर अधिकार कर लिया। काफ़ी युद्ध के बाद भी हंगरी का बड़ा भाग तुर्की के अधीन हो गया।

ऑस्ट्रिया का अधिक समय अपने ही प्रदेश में, अपनी शक्ति को संगठित करने और निरंकुश राजतंत्र स्थापित करने में लगा। 1618 में बोहेमिया में तीसवर्षीय युद्ध शुरू हुआ। यह हैप्सबर्ग वंश के लिए कठिन परीक्षा का समय था। एक ओर तो बोहेमिया के एस्टेट अपने अधिकारों के लिए लड़ रहे थे और उन्हें प्रोटेस्टेंट चर्च का समर्थन प्राप्त था। दूसरी ओर ऑस्ट्रिया के निरंकुश राजतंत्र की शक्ति थी और वह पवित्र रोमन साम्राज्य का शासक था। इस युद्ध में बोहेमिया को करारी हार खानी पड़ी। बोहेमिया का संविधान खत्म कर दिया गया और हैप्सवर्ग वंश का निरंकुश शासन बोहेमिया में भी लागू किया गया।

हैप्सबर्ग राज्य को संगठित करने का श्रेय सम्राट लियोपोल्ड प्रथम (1658–1705) को है। उसने शासन का केंद्रीकरण किया। केंद्रीय शासन प्रांतों पर लागू करने के लिए कई संस्थाएँ बनाई गई। हैप्सबर्ग चांसलर बहुत ऊँचे दर्जे के प्रशासक होते थे और ऑस्ट्रिया के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में सम्राट की आज्ञा का पूरा-पूरा पालन करवाते थे। एक

नोट

सरकारी नौकरशाही बनाई गई जिसके अधिकांश सदस्य सम्राट के समर्थक होते थे। बोहेमिया और हंगरी में पुराने सांमतों को हटाकर नए विदेशी सैनिकों को शासन करने का बढ़ावा दिया गया।

लियोपोल्ड ने हंगरी को तुर्की से छीन लिया। उसने हंगरी में हैप्सबर्ग शासन स्थापित करने के लिए कई कदम उठाए। उसने काल्विन समर्थकों पर अत्याचार किया और जेस्यूट को प्रोत्साहित किया। किन्तु हंगरी ने विद्रोह कर दिया। लियोपोल्ड ने इस विद्रोह को दबा दिया परंतु हंगरी में बिल्कुल सैनिक राज्य स्थापित कर दिया।

अठारहवीं सदी में ऑस्ट्रिया की महारानी मारिया थेरेसा ने पहले अपने पति और बाद में अपने पुत्र जोसेफ के शासनकाल में निरंकुश राजतंत्र को प्रबुद्ध निरंकुशता बनाने का यत्न किया था। उसने कुछ उदार परिवर्तन किए थे। साहित्य और कला को संरक्षण दिया था। लेकिन वास्तविक कार्य उसकी मृत्यु के बाद सम्राट जोसेफ द्वितीय ने किए। उसके राजनीतिक विचार उस समय के प्रबुद्ध निरंकुशवाद के सिद्धांतों पर आधारित थे। वह वाल्तेयर और रूसो का प्रशंसक था, परन्तु उसमें व्यावहारिक बुद्धि की कमी थी। वह आदर्शवादी था और भारतीय इतिहास के मुहम्मद बिन तुगलक की भाँति बहुत से कार्यों में सफल न हो सका।

सबसे पहले उसने पूरे साम्राज्य को एकरूपता देने का प्रयत्न किया। ऑस्ट्रिया के अधीन राज्यों को एक राज्य बनाकर उसे तेरह प्रांतों में बाँट दिया गया जहां केंद्रीय प्रशासक नियुक्त किए गए। राज्य में किसी प्रतिनिधि सभा को मान्यता नहीं दी गई। जर्मन को राष्ट्रभाषा घोषित कर दिया। 1781 में उसने कृषिदासों (serfs) को स्वतंत्र घोषित कर दिया। उसने कर-प्रणाली का सुधार करने की योजना बनाई परंतु यह सफल न हो सकी। अपने राज्यकाल में वह शासक की शक्ति बढ़ाने की कोशिश करता रहा। 1784 में उसने हंगरी में अनिवार्य सैनिक सेवा का विकास किया।

धार्मिक क्षेत्र में भी उसने महत्त्वपूर्ण सुधार किए। ऑस्ट्रिया कैथोलिक देश था, परंतु जोसेफ ने रोम के हस्तक्षेप का अधिकार कम कर दिया। हर वर्ष रोम भेजी जाने वाली रकम बंद कर दी। बहुत से धार्मिक मठ समाप्त कर दिए गए। सभी धर्मों को स्वतंत्रता दी गई।

परंतु उसकी प्रजा, जो सदियों से दमित तथा प्राचीन प्रथाओं की दास थी, उसके इन सुधारों का समर्थन न कर सकी। इसलिए जोसेफ को अपने सुधारों को कार्यान्वित करने के लिए गुप्तचर विभाग का सहारा लेना पड़ा। प्रेस की स्वतंत्रता समाप्त कर दी गई। लेकिन फिर भी हैप्सबर्ग साम्राज्य के कुछ भाग जैसे ऑस्ट्रियाई नीदरलैण्ड 1787 से जोसेफ के सुधारों के विरुद्ध विद्रोह करते रहे। यह विद्रोह उसकी कैथोलिक चर्च की शक्ति कम करने की चेष्टा और प्रांतीय संस्थाओं को तोड़ने के विरुद्ध था।

इस समय अमरीकी उपनिवेशों ने अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर ली थी। उनका उदाहरण लेकर नीदरलैण्ड में भी क्रान्ति हुई और 1788 में ऑस्ट्रिया के सैनिकों को नीदरलैण्ड छोड़ना पड़ा। नीदरलैण्ड ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी और 1790 में गणतंत्र के रूप में संगठित हो गया।

जोसेफ द्वितीय यूरोप के प्रगतिशील व प्रबुद्ध शासकों में सबसे अधिक प्रसिद्ध था। पहले तो उसने ऑस्ट्रियाई साम्राज्य की संस्थाओं को सुधारने का प्रयत्न किया। किन्तु इसमें उसे बहुत सफलता नहीं मिली। 1780 से उसने जनसाधारण के हित में सुधारों का अभियान चलाया। उसकी नीतियाँ राजनीतिक सूझबूझ की दृष्टि से काफ़ी प्रशंसनीय थी। यह जोसेफ का दुर्भाग्य था कि उसकी प्रजा उन नीतियों का समर्थन न कर सकी। जोसेफ ने अपनी प्रजा को समझाने में भूल की और यही उसकी असफलता का कारण था। वह फ्रेडरिक द्वितीय की नकल करना चाहता था और इसीलिए उसने भाँति-भाँति के सुधार लाने की कोशिश की। परंतु समाज का प्रत्येक भाग, मध्य वर्ग, किसान, सामंत, पादरी उसकी किसी-न-किसी बात से असंतुष्ट था। इसलिए जोसेफ को समाज से साधारणतया कोई समर्थन नहीं मिला।

निरंकुश राजतंत्र का सबसे ज्वलंत उदाहरण फ्रांस के लुई चौदहवें का है। 1651 में लुई ने वयस्क होने पर, सरकार सँभालने की घोषणा की, किन्तु 1661 तक मेज़ेरिन फ्रांस का भाग्य-विधाता रहा। 1661 के बाद ही लुई ने कार्यभार

नोट

संभाला और कोल्बर को अपना मंत्री बनाया। लुई ने अपने राज्यकाल में निरंकुशवाद को उसकी चरम सीमा तक पहुँचाया। यूरोपीय इतिहास में शायद ही कोई राजा उतना निरकुंश हुआ हो जितना कि लुई चौदहवाँ। वह असाधारण प्रतिभा का मनुष्य नहीं था किन्तु बहुत परिश्रमी था। उसने अपने निरकुंश राजतंत्र को कार्यान्वित करने के लिए एक मजबूत नौकरशाही स्थापित की। इस नौकरशाही के अधिकांश सदस्य मध्य वर्ग के लोग होते थे जिन्हें लुई स्वयं नियुक्त करता था। लुई इनको भाँति-भाँति के पुरस्कार आदि देकर खुश रखता था, परंतु उन्हें सरकारी रूप से सीमित शक्ति देता था। उसने रिशल्यू और मेज़ेरिन की भाँति किसी को आगे नहीं बढ़ने दिया।

7.5 लुई का शासनकाल (Reign of Louis)

लुई के निजी शासन में प्राचीन संस्थाएँ, जैसे एस्टेट जनरल आदि पहले की तरह ही स्थापित रहीं, परंतु लुई ने इनसे सब शक्ति छीन ली थी। अपने निजी शासन को राज्य के भिन्न-भिन्न भागों में लागू करने के लिए अधीक्षकों (intendants) की नियुक्ति की। इन अधीक्षकों को प्रांतों या जिलों में विशेष कार्यभार देकर भेजा जाता था। इनका काम था कि वे न्याय-प्रबंध व सुरक्षा को देखें। इसके अतिरिक्त वह सामंतों, पादरियों और अफ़सरों पर भी कड़ी नज़र रखते थे। उनका काम विद्रोहों को दबाना, भूमि कर नियत करना, उसे वसूल करना तथा इस विभाग में भ्रष्टाचार को रोकना भी था। इन लोगों ने स्थानीय सरकार में हस्तक्षेप करके, उसकी स्वतंत्रता को खत्म कर दिया था। अब लुई के निरंकुश राजतंत्र पर कोई बंधन नहीं रह गया था।

1660-80 के बीच लुई ने पूर्णरूप से अपना निरंकुश राजतंत्र स्थापित कर लिया था। प्राचीन संस्थाओं, जैसे पार्लेमाँ, प्रांतीय एस्टेट, प्रांतीय गवर्नर और नगरपालिकाओं- सभी से वास्तविक अधिकार ले लिए गए थे। लुई की सरकार केंद्रीय और प्रांतीय दोनों स्थानों पर पूरी तरह अधिकृत हो गई थी। समाज का कोई वर्ग, राजा की शक्ति के सामने ठहर नहीं सकता था। जनता में कुछेक कारीगर आदि जो लोग आर्थिक दृष्टि से मध्य वर्ग से नीचे थे। उनकी राज्य में कोई महत्ता नहीं थी। यह सच है कि कुछ अफ़सर लुई की निरंकुश शक्ति के कारण उससे घृणा करते थे, किन्तु शासक की दृष्टि से अफ़सरों को राजा का आज्ञाकारी होना पड़ता था।

लुई के शासनकाल में सामंतवाद को, राजा की सहायता से निर्मूल किया था। वे एक शक्तिशाली सरकार की महत्ता को समझते थे और जानते थे कि देश में शांति और व्यवस्था बनाए रखने के लिए निरंकुशवाद सहायक हो सकता था। उन्होंने यह तो कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि एक शताब्दी के बाद उनके वंशज अपने लिए राजनीतिक स्वतंत्रता की माँग करेंगे।

समाज में पादरियों को कुछ स्वतंत्रता थी। प्रत्येक पाँच वर्ष बाद इसके निर्वाचित प्रतिनिधि एक असेंबली में एकत्रित होते थे। ये कोई सीधा कर नहीं देते थे परंतु अपनी मर्जी से कुछ आर्थिक योगदान देते थे। किन्तु यहीं पर उनकी स्वतंत्रता समाप्त हो जाती थी। 1516 के धार्मिक कानून (Concordat) द्वारा राजा को धार्मिक नियुक्तियाँ करने का अधिकार था। इसलिए पादरी लोग भी राजा को अप्रसन्न नहीं करना चाहते थे।

इसी प्रकार सामंत वर्ग भी राजा का मुँह जोहते थे क्योंकि राजा से उन्हें कई लाभ होते थे। उनके पास पहले की भाँति सेना नहीं होती थी जिसकी सहायता से पिछले वर्षों में सामंतों ने राजा पर आक्रमण किया था। लुई चौदहवें के समय में सामंतों की इतनी हिम्मत नहीं थी कि मतभेद हो जाने पर वे राजा को डरा-धमका सकते। अब तो उलटे राजा उन्हें किसी कसूर पर उनकी एस्टेट पर वापस भेज सकता था जोकि किसी भी सामंत के सामाजिक व राजनीतिक जीवन का अंत था। इस प्रकार लुई ने शासक के सबसे बड़े शत्रुओं को वश में कर रखा था।

लुई ने अपने निरंकुश राजतंत्र का केंद्र वर्साई (Versailles) को बनाया था। यहाँ पर ही सामंत वर्ग सज-धजकर, सामाजिक उत्सव मनाता था। यहाँ पर ही राजपरिवार पूरी शान-शौकत से रहता था। लुई की आज्ञा थी कि दैनिक जीवन में भी तौर-तरीकों का पूरा ख्याल रखा जाए। वह स्वयं भी रीति-रिवाज को मानता था और मृत्युपर्यन्त

नोट

सुव्यवस्थित जीवन का उदाहरण बना रहा। इस प्रकार लुई और उसकी राजधानी की चमक से सभी चकाचौंध थे। राजा की तुलना सूरज से की जाती थी और उसे 'सनकिंग' (Sunking) कहा जाता था। जैसे पूरे सौर-मंडल का केंद्र सूर्य होता है वैसे ही पूरी व्यवस्था का केन्द्र वह स्वयं था।

उसके शासनकाल में कोल्बर ने मंत्रिपद सँभाला और वित्तीय समस्याओं पर विशेष ध्यान दिया। उसने देखा कि कर-वसूली ठीक से न होने से, राजकोष में कम धन आता है। राज्य के पदों की बिक्री होती थी और हिसाब-किताब सही रूप से नहीं रखा जाता था। देश के अंदर असंख्य व्यापारिक चौकियाँ थीं। यातायात के साधन कठिन थे। भिन्न-भिन्न स्थानों पर कानूनों में एकरूपता नहीं थी जिसके कारण व्यापार से होने वाली आमदनी बहुत घट गई थी। उसने चारों ओर वित्तीय सुधार लागू किए। बहुत से कर-मुक्त लोगों से फिर से कर लेने की व्यवस्था की गई।

उसने उद्योगधंधों पर विशेष ध्यान दिया। वह फ्रांस को आत्मनिर्भर बनाना चाहता था। इसलिए उसने 'वाणिज्यवाद' (mercantilism) की नीति अपनाई। इसका अर्थ था कि सारी आर्थिक गतिविधि पर राज्य का नियंत्रण रहे। उसने राजकीय सहायता के कई कारखाने स्थापित किए। उसने चेष्टा की कि फ्रांसीसी उद्योग न केवल बड़े पैमाने पर उत्पादन करें बल्कि तरह-तरह की वस्तुएँ भी बनाएँ। कपड़े से लेकर धातुओं का सामान, सेना के लिए हथियार और जहाज आदि बनाने की व्यवस्था की गई। प्रदेशों से कारीगरों को फ्रांस आने के लिए प्रोत्साहित किया गया। कोल्बर अपने निकटवर्ती देशों, जैसे इंग्लैण्ड और हॉलैण्ड की व्यापारिक संपन्नता से ईर्ष्या करता था। उसने भी उनका अनुसरण करके 1664 में एक फ्रांसीसी कंपनी, पूर्वी देशों के साथ व्यापार करने के लिए स्थापित की। अमरीका और अफ्रीका के साथ व्यापार करने के लिए अन्य कंपनियाँ स्थापित कीं। परंतु फ्रांस में मध्य वर्ग अपना धन इन दूर पार के देशों में लगाना नहीं चाहता था। इसलिए जल्दी ही इन व्यापारिक कंपनियों का एकाधिकार हटाकर व्यापार सभी व्यापारियों के लिए खोल दिया गया।

कोल्बर की नीतियों से फ्रांस की आर्थिक दशा सुधर गई। उसने फ्रांस के उद्योग और व्यवसाय को बहुत आगे बढ़ाया। फ्रांस के शीशे, सिल्क और ज़री के सामान विश्वविख्यात हुए। आंतरिक यातायात की सुविधाओं को बढ़ाया गया। जहाजरानी को प्रोत्साहन मिला। कर-व्यवस्था को अपेक्षाकृत ठीक किया गया। उसने राजकोष पर बढ़े हुए क़र्ज को कम किया। राज्य के अनावश्यक खर्च कम किए। परंतु वाणिज्यवाद की नीति से कृषि को नुकसान हुआ। अनाज का निर्यात न होने से, या तो फ्रांस में अनाज की बहुलता रहती थी जिससे दाम गिर जाते थे, या फिर पैदावार कम होने से अकाल पड़ने लगता था। कोल्बर ने आत्मनिर्भरता को पूरी तरह नहीं समझा और अपने पड़ोसी देशों के साथ आर्थिक संबंध बनाने की कोशिश नहीं की।

टास्क निरंकुश राजतंत्र का सबसे ज्वलंत उदाहरण किसका है?

लुई ने धर्म के क्षेत्र में कट्टरता की नीति अपनाई। राजतंत्र में निरंकुशता का जो रूप लुई ने स्थापित किया, कैथोलिक चर्च की शिक्षा उसके अनुकूल सिद्ध हुई। लुई फ्रांस को एकरूपता प्रदान करने के लिए कैथोलिक चर्च को एक माध्यम समझता था। उसने कैथोलक चर्च के कहने पर, सारे देश का दौरा करने के लिए अपने अफ़सर भेजे। 1598 के बाद बने लगभग 100 प्रोटेस्टेंट चर्च गिरा दिए गए। प्रोटेस्टेंट स्कूलों में पढ़ाए जाने वाले विषयों पर प्रतिबंध लगा दिए गए। बोस्सुए और अन्य पादरियों ने प्रोटेस्टेंट लोगों को कैथोलिक मत ग्रहण करने के लिए उत्साहित किया। मैडम मैतनों, जिससे लुई ने 1883 में विवाह किया था, लुई को ह्यूगनॉटों का दमन करने के लिए उत्साहित करती रही। लुई के समय में ह्यूगनॉटों पर भंयकर अत्याचार किया गया। बहुत से ह्यूगनॉटों आस-पड़ोस के देशों में भाग गए। फ्रांस में रहने वाले बहुत से ह्यूगनॉटों को कैथोलिक धर्म मानने के लिए मज़बूर किया गया। नैटिज के शिलालेख को रद्द घोषित किया गया। इसका ह्यूगनॉटों आदि पर बुरा असर पड़ा। वे फ्रांस के लिए वरदान सिद्ध हो सकते थे क्योंकि वे उद्योग-धंधों में कुशल थे। परंतु लुई ने अपनी धार्मिक नीति से इस पहलू को नहीं समझा। जैसा कि लावीस

नोट

(Lavisse) ने कहा है, "लुई की धार्मिक नीति से राजनीतिक और नैतिक दृष्टि का फ्रांस पर बुरा असर पड़ा।" विदेशी नीति के क्षेत्र में, लुई को यूरोप में फ्रांस का शक्तिशाली होना विरासत में प्राप्त हुआ था। लुई ने युद्ध व कूटनीति से फ्रांस का और विस्तार किया। उसका पहला युद्ध 'वार ऑफ डिवोल्यूशन' (1667-68) के नाम से प्रसिद्ध है। स्पेन के प्रदेश पर उसने अपनी पत्नी मारिया थेरेसा के माध्यम से अधिकार करने की कोशिश की। परंतु हॉलैण्ड, इंग्लैण्ड और स्वीडन ने एक संघ बनाया जिसने लुई को 1668 में 'एक्स-ला-शेपेल (Aix-la-chappelle) संधि' करने पर मज़बूर किया। इससे फ्रांस को स्पेन का कुछ भाग तो मिल गया, परंतु उसे फ्रांस कोंते न मिल सका। इसके बाद हॉलैण्ड से हुए युद्ध के बाद 1678 में जो 'निमिगेन की संधि' हुई उसके द्वारा उसे फ्रांस कोंते मिल गया। ऑग्सबर्ग की लीग के साथ लुई ने जो युद्ध (1688-97) किया, उसे 'रिजविक की संधि' ने समाप्त किया। फ्रांस को अल्सास और स्ट्रासबर्ग के अलावा सारे जीते हुए प्रदेश छोड़ने पड़े और विलियम को इंग्लैण्ड के शासक के रूप में मान्यता मिल गई। लुई को यह स्पष्ट हो गया कि अब उसे रक्षात्मक युद्ध करने पड़ेंगे, क्योंकि यूरोपीय देश उसकी बढ़ती हुई शक्ति से आतंकित थे। उधर फ्रांस की आर्थिक दशा भी बिगड़ रही थी, किन्तु अभी भी लुई की दुर्दम्य महत्त्वाकांक्षा शांत नहीं हुई थी। इसी समय स्पेन के उत्तराधिकारी का युद्ध (1700-1713) शुरू हो गया। यूट्रैक्ट की संधि ने इस युद्ध को समाप्त किया। लुई इस युद्ध से काफी हताश हो गया था, उसकी शक्ति जर्जर हो गई थी और फ्रांस को कोई विशेष लाभ भी नहीं हुआ।

7.6 सारांश (Summary)

सत्रहवीं और अठारहवीं सदी में यूरोप में अन्य कई राज्यों का महाशक्ति के रूप में प्रादुर्भाव हुआ। सत्रहवीं सदी में फ्रेडरिक विलियम (1640-88) प्रशा का शासक बना। उसे 'इलेक्टर महान' (Great Elector) भी कहा जाता है। उसने प्रशा की स्थिति को दृढ़ करने का निश्चय किया। प्रशा की सबसे बड़ी कमज़ोरी उसमें क्षेत्रीय और जनसंख्या की दृष्टि से, एकता का अभाव था। इसमें तीन प्रकार के क्षेत्र शामिल थे– एक तो ब्रेंडनबर्ग, दूसरा वेस्टफेलिया की संधि द्वारा प्राप्त प्रदेश, तीसरे प्रशा व क्लीवज़ का प्रदेश। ये प्राय: पिछड़े हुए प्रदेश थे और इनमें कृषि व उद्योग-धंधे भी नाममात्र को ही चलते थे। इन सब समस्याओं को सुलझाने का एक ही तरीका फ्रेडरिक को मिला– अपना निरंकुश राज्य स्थापित करके प्रशासनिक सुधार लाना और विदेशों में प्रशा का सम्मान बढ़ाना। उसका निरंकुश राजतंत्र एक सुसंगठित सेना की सहायता पर निर्भर करता था, इसीलिए उसने एक बड़ी सेना संगठित की। 1670 में उसके पास 10,000 सैनिक थे जिनकी संख्या 1678 में 40,000 हो गई थी।

7.7 शब्दकोश (Keywords)

1. नौकरीपेशा वर्ग (Service class)–नौकरी करने वाला वर्ग।
2. निरंकुश (Autocratic)–स्वेच्छाचारी, एकतंत्रीय।

7.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. निरंकुशता का क्या अर्थ है? स्पष्ट कीजिए।
2. फ्रेडरिक के निरंकुश शासन का उल्लेख कीजिए।
3. 'लुई के शासनकाल' पर टिप्पणी लिखिए।

नोट

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. भूस्वामी वर्ग
2. सत्रहवीं सदी
3. अंतर्राष्ट्रीय

7.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
2. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
4. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
5. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
6. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
7. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*

नोट

इकाई 8: लोकतांत्रिक राजनीति
(Democratic Politics)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

8.1 क्रान्ति के कारण (Causes of Revolution)

8.2 गृहयुद्ध का स्वरूप (Kind of Civil War)

8.3 अपूर्ण क्रान्ति (1640–1660) (Incomplete Revolution, 1640-1660)

8.4 क्रॉमवैल व गणतंत्र: निष्कर्ष (Cromwell and Republic : Gist)

8.5 सारांश (Summary)

8.6 शब्दकोश (Keywords)

8.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

8.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- क्रान्ति के कारण जानने में।
- गृहयुद्ध का स्वरूप जानने में।
- अपूर्ण क्रान्ति को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में इंग्लैण्ड की संसद ने अपने राजा के साथ युद्ध किया और इस युद्ध में राजा की हार हुई। यह युद्ध, जिसे "गृहयुद्ध" नाम दिया गया है, परिवर्तन-समर्थक व परिवर्तन-विरोधी तत्वों में हुआ। यह दो राजनीतिक विचारधाराओं का संघर्ष था—एक दल ने डच गणतंत्र को आदर्श बनाया तो दूसरे ने फ्रांसीसी निरंकुशता को।

परन्तु आंग्ल-क्रान्ति केवल इस युद्ध के माध्यम से नहीं समझी जा सकती। सत्रहवीं शताब्दी में जो परिवर्तन इंग्लैण्ड में हुए वे केवल राजनीतिक या सांविधानिक रूप से क्रान्तिकारी नहीं थे। न वे केवल अर्थव्यवस्था, धर्म या विचारों के क्षेत्र तक सीमित रहने वाले परिवर्तन ही थे। वस्तुत: इन परिवर्तनों ने तो जीवन के प्रत्येक पहलू को प्रभावित किया था। इन परिवर्तनों की भूमिका बहुत समय पहले से बनती चली आ रही थी और गृहयुद्ध समाप्त होने पर इन परिवर्तनों की गति में कोई कमी नहीं आई। सच्चाई तो यह है कि यह पूरी शताब्दी ही क्रान्तिकारी परिवर्तनों का युग थी।

नोट

1603–1688 के दौरान इंग्लैण्ड में जो परिवर्तन हुए उनसे देश संसदीय प्रणाली वाली सरकार, साम्राज्यवादी विदेश नीति, धार्मिक स्वतंत्रता तथा आर्थिक विकास के पथ पर अग्रसर हुआ।

1540–1640 के बीच अंग्रेजी समाज में अनेक परिवर्तन हुए जिनके परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं जिनके होने से क्रान्ति की संभावना पैदा होती है। ये परिस्थितियाँ साधारण रूप से तीन भागों में बाँटी जा सकती है। प्रथम, राजनीतिक व्यवस्था एवं सामाजिक व्यवस्था के मध्य विरोधाभास जिसके परिणामस्वरूप कुछ महत्त्वपूर्ण दल एवं निजी हितों को प्राथमिकता देने वाले लोग यह अनुभव करने लगते हैं कि वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था में उनके स्वार्थ व आकांक्षाएँ पूरी नहीं हो सकतीं। दूसरे, सैनिक व प्रशासनिक व्यवस्था से लोगों का विचारधारा (ideology) के आधार पर विमुख होना। तीसरे, सरकार का अपनी जगह पर अडिग रहना। सत्रहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में ऐसी ही परिस्थितियाँ विद्यमान थीं। इस क्रान्ति के कारणों पर निगाह डालने से पहले कुछ बातों का स्पष्टीकरण जरूरी है। प्रथम, सरकार की अवनति युद्ध का कारण थी, परिणाम नहीं। दूसरे, यह युद्ध केवल एक व्यक्तिगत राजा चार्ल्स प्रथम के विरुद्ध विद्रोह नहीं था। तीसरे, इतिहासकार प्रो. हिल ने इस क्रान्ति को बुर्जुआ एवं संपत्तिशाली वर्ग के मध्य संघर्ष की संज्ञा दी है। परन्तु यह कथन एक सीमा तक ही सत्य प्रतीत होता है। समाज के उच्च स्तर पर गतिशील होने के कारण उसमें स्थायित्व का अभाव हो गया था और परंपरागत संस्थाओं व अधिकारों का पुनर्मूल्यांकन होने लगा था। इस प्रकार ऐसी आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं जिनसे क्रान्ति की संभावना पैदा हुई।

8.1 क्रान्ति के कारण (Causes of Revolution)

स्टुअर्ट पूर्व: सोलहवीं शताब्दी में राजा व संसद ने मिलकर कार्य किया। राजा के आश्रय में नए धनवान–भूस्वामी व व्यापारी जिन्हें संसद में प्रतिनिधित्व प्राप्त था–फले-फूले। राजा आंतरिक विद्रोह या प्रतिक्रियावादी तत्वों से उनकी सुरक्षा करता था। राजा बाहरी प्रतिक्रियावादी सरकार (जैसे स्पेन) से भी उनकी रक्षा करता था। बदले में वे राजा के शक्ति-संचय के प्रयासों में कोई हस्तक्षेप नहीं करते थे। 1590 तक राजा के और इस वर्ग के स्वार्थ एक थे। ट्यूडर संसद ने रोम के साथ संबंध-विच्छेद करने में राजा हेनरी अष्टम का साथ दिया जिससे राजा का निजी स्वार्थ सिद्ध हुआ। इसी प्रकार संसद ने रानी एलिज़ाबेथ को स्पेन व प्रति-सुधार आंदोलन (counter reformation) का सामना करने में पूरी सहायता दी। परन्तु सोलहवीं शताब्दी के अंतिम दशक तक नए धनवान वर्ग को कोई खतरा नहीं रह गया था। उसके आंतरिक व बाहरी शत्रुओं का नाश हो चुका था। अब उसे राजा पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रह गई थी। इसी समय राजा भी यह अनुभव करने लगा था कि इस नए वर्ग की बढ़ती हुई संपत्ति से राजा को भी खतरा हो सकता है। अत: इससे पहले कि बहुत देर हो, वह अपनी शक्ति को संगठित करने का प्रयत्न करने लगा।

ट्यूडर वंश के राज्यकाल में राजा की शक्ति में वृद्धि हुई थी। उन्होंने "कोर्ट ऑफ स्टार चैंबर" आदि संस्थाओं की स्थापना की थी और इन संस्थाओं के माध्यम से राज्य में शांति व व्यवस्था स्थापित करने में सफलता प्राप्त की थी। परन्तु इन संस्थाओं में अंग्रेजों को 'लोक कानून' (common law) के अंतर्गत दी गई स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाए। संसद 'लोक क़ानून' की संरक्षक थी और ट्यूडर वंश की अंतिम शासिका एलिज़ाबेथ के समय में संसद एवं रानी के बीच इन विशेषाधिकारों को लेकर संघर्ष आरंभ हो गया था।

ट्यूडर-व्यवस्था का मूल-मंत्र था– राजा एवं शक्तिसंपन्न भूस्वामी वर्ग के मध्य शक्ति का बँटवारा। इस विचार एवं साझेदारी का व्यावहारिक रूप था संसद तथा कानून का शासन। संसद ने इस काल में महत्त्व प्राप्त किया और अपने उत्तरदायित्व व अधिकारों के प्रति जागरूक संसद किसी भी कीमत पर अपने अधिकार छोड़ने को तैयार न थी। ट्यूडर शासकों ने नए न्यायालय, जैसे कोर्ट ऑफ़ स्टार चैंबर आदि स्थापित किए। इन न्यायालयों में न्याय जल्दी होता था। यहाँ न्याय के पुराने नियमों की अपेक्षा न्याय को अधिक महत्त्व दिया जाता था और यहाँ के न्यायाधीश राजा के

नोट

नियंत्रण में थे। परन्तु इन नए न्यायालयों के साथ-साथ पुराने न्यायालय और पुरानी लोक-कानून परंपराएँ जीवित रहीं और इन्होंने सत्रहवीं शताब्दी के राजनीतिक संघर्ष में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सोलहवीं शताब्दी में राजाओं ने एक संगठित केन्द्रीय सरकार की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की जिसमें लार्ड ट्रैजरर (Lord Treasurer) अध्यक्ष था व प्रिवी कौंसिल प्रमुख कार्यकारिणी संस्था थी।

नौकरशाही का अभाव: इससे भी अधिक गंभीर कमी थी, ट्यूडर-शासकों द्वारा नौकरशाही न स्थापित करना। इन शासकों ने मध्यकाल के बड़े भूस्वामी जमींदारों की शक्ति को कुचलने के लिए भद्रजनों (gentry) को महत्त्व दिया। यही भद्रजन हाउस ऑफ़ कॉमंस में लोगों का प्रतिनिधित्व करते थे। यह दल तब तक राजा की ग्रामीण क्षेत्रों में एवं शहरों में असीमित राज करने दे। इस कारण राजा उन्हें हटाकर वेतनबद्ध नौकरशाही नहीं स्थापित कर सकता था, परिणामस्वरूप राजा को स्थानीय शासन उस दल के हाथ में छोड़ना पड़ा जिसकी स्वामिभक्ति इसी बात पर निर्भर करती थी कि राजा उनके स्वार्थ व विशेषाधिकार की रक्षा करे।

राज्य-चर्च: एकता विरोधी तत्वों की शक्ति कम करने के लिए हेनरी अष्टम ने एक राष्ट्रीय चर्च की स्थापना करने का प्रयत्न किया, जिसका प्रधान राजा था। उसका विचार था कि इससे सब लोग राजा के अधीन संगठित हो जाएँगे। परन्तु इस एंग्लिकन चर्च से इंग्लैण्ड का कोई भी वर्ग संतुष्ट नहीं हो पाया। इस चर्च के कोई स्पष्ट रीति-रिवाज़ व नियम नहीं थे और इसी कारण सेवा-भाव की भावना का विकास इसके सदस्यों में उत्पन्न नहीं हो पाया। इस कारण इंग्लैण्ड में कई धार्मिक दल बन गए जिनमें तीन प्रमुख थे, प्यूरिटन, एंग्लिकन और कैथोलिक। इससे भी स्टुअर्ट राजाओं के लिए समस्या उत्पन्न हुई।

नोट्स ट्यूडर-व्यवस्था का मूलयंत्र था–राजा एवं शक्तिसंपन्न भूस्वामी वर्ग के मध्य शक्ति का बँटवारा।

समाज: इस समय का सामाजिक ढाँचा भी कमजोर हो चुका था। 1540 के मध्यकाल के शक्तिशाली सामंत अधिकांशत: समाप्त हो चुके थे। परन्तु अपनी नीतियों के लिए समर्थन प्राप्त करने के लिए हेनरी ने एक नए सामाजिक सैनिक अभिजात वर्ग की स्थापना की और उन्हें जमीन देकर बड़े भूस्वामी बना दिया, उदाहरण के लिए, रसल जिसे बेडफ़ोर्ड का अर्ल बना दिया गया था। यह उस समय के लिए ठीक रहा। परन्तु इस व्यवस्था से यह संभावना उत्पन्न हुई कि भविष्य में इन्हीं घरानों के उत्तराधिकारी अपनी शक्ति का प्रयोग राजा के विरुद्ध कर सकते थे। इसके अलावा राजा ने धन का अभाव पूरा करने के लिए चर्च से छीनी हुई अपार ज़मीन लोगों में बेचनी आरंभ कर दी। यह ज़मीन योमेन व स्थानीय कुलीनों ने खरीद ली। इस प्रकार एक ऐसा नया वर्ग, स्क्वायर भद्रजन का वर्ग, उत्पन्न हुआ। जो शीघ्र ही राजनीतिक व्यवस्था में, स्वार्थ पूर्ति के लिए, स्थान की माँग करने को तैयार हो गया।

संचार का माध्यम: ट्यूडर काल की एक और कमी, जोकि स्टुअर्ट राजाओं के लिए गंभीर समस्या बन गई थी सरकार का संचार-माध्यम पर अपूर्ण नियंत्रण। प्रेस पर प्रतिबंध थे, परन्तु ग़ैर-कानूनी ढंग से पुस्तकें आदि यूरोप से इंग्लैण्ड में प्रवेश करती थीं और साथ ही भाषण भी राज-विरोधी होने लग गए थे। ऐसे समय में जब अनेक विचारधाराएँ अपना-अपना पैर जमाने का यत्न कर रहीं थीं, संचार-माध्यम पर पूर्ण नियंत्रण न होना एक गंभीर कमी थी।

धन व सेना का अभाव: एलिज़ाबेथ का शासन, शक्ति के दो आधारभूत स्तंभों से वंचित था। ये थे धन व सेना। चर्च से जो धन ट्यूडर शासकों ने प्राप्त किया, वह शीघ्र ही समाप्त हो गया और जैसे ही युद्ध की संभावना होती थी, राजा को संसद का द्वार खटखटाना पड़ता था। पुरानी राजस्व व्यवस्था में परिवर्तन नहीं किए गए थे जिससे राजा के पास आय-वृद्धि का कोई साधन नहीं था। 1603 तक भूस्वामी वर्ग कर न देने का आदी हो चुका था, फलस्वरूप

नोट

स्टुअर्ट काल के नए कर अप्रिय साबित हुए। इसलिए धन प्राप्त करने के नए साधन व उपाय अपनाने से राजा अलोकप्रिय हो गए और फलतः राजनीतिक व्यवस्था में परिवर्तन आवश्यक हो गया।

इस प्रकार, एलिज़ाबेथ के काल की साम्राज्य-व्यवस्था चाहे किसी भी पहलू से देखी जाए–धन, सेना, राजनीतिक समर्थन, प्रशासनिक व्यवस्था, न्यायिक व्यवस्था, सामाजिक एकता, धार्मिक एकता, संचार माध्यम पर नियंत्रण आदि हर ओर से यह शासन-प्रबंध दोषपूर्ण दृष्टिगोचर होता है। यदि राजा और संसद में राजनीतिक झगड़े के कारण न उत्पन्न हुए होते तब भी यह व्यवस्था अधिक दिन तक नहीं चल सकती थी। इस शासन-व्यवस्था में परिवर्तन आवश्यक हो गए थे।

राजा-संसद संबंध (1603-40): जेम्स प्रथम 1603 में इंग्लैण्ड की राजगद्दी पर आसीन हुआ। जेम्स का पालन-पोषण प्रेस्बाईटेरियन तौर-तरीकों से हुआ था और इसलिए इंग्लैण्ड के प्यूरिटनों को उससे बहुत आशाएँ थीं क्योंकि प्रेस्बाईटेरियन भी स्थापित चर्च की आलोचना करते थे और इन विचारों से प्यूरिटन सहमत थे। इसलिए प्यूरिटनों ने राजा को 'मिलनरी पेटीशन' (लाखों का प्रार्थनापत्र) दिया। पर जेम्स ने बिशपों का पक्ष लिया। जेम्स ने स्पेन के साथ उन्नीस वर्षों से चला आ रहा युद्ध समाप्त कर दिया और आयरलैण्ड में पाँच वर्ष पुराना विद्रोह भी दबा दिया। इस प्रकार जेम्स अपनी प्रथम संसद की बैठक के समय केवल 10,000 पौंड का देनदार था और यह भी उसे एलिज़ाबेथ के समय का कर्ज उतारना था। परन्तु तब भी संसद व राजा के संबंध मैत्रीपूर्ण न थे।

सन् 1604 में जब जेम्स प्रथम की पहली संसद बैठी, तभी दोनों में मतभेद हो गया। राजा ने कानून-विरोधी कार्य करने के आरोप पर गोडविन को संसद सदस्य बनने के अयोग्य बताया। संसद ने यह कहकर इसका विरोध किया कि सदस्यता की योग्यता-अयोग्यता की परिभाषा का अधिकार केवल संसद को है। इसी वर्ष जेम्स के सम्मुख एक प्रार्थनापत्र (form of apology and satisfaction) रखा गया जिसमें राजा के दैवी-अधिकारों का विरोध किया गया और जनता तथा संसद के अधिकारों को प्रबल बताया गया। जेम्स ने वह स्वीकार नहीं किया। दोनों में आर्थिक स्थिति पर झगड़ा भी इसी समय आरंभ हुआ जब जेम्स ने संसद की अनुमति के बिना अतिरिक्त कर लगाए और संसद ने इसका विरोध किया। दूसरी संसद भी बिना कोई निर्णय लिए भंग कर दी गई।

सन् 1621 में, तीसरी संसद के अधिवेशन के दौरान, संसद ने राजा का मंत्रियों पर अभियोग लगाने का अधिकार प्राप्त किया। संसद ने राजकुमार चार्ल्स के विवाह के विषय में जेम्स के स्पेन की ओर झुकाव का भी विरोध किया क्योंकि संसद किसी प्रोटेस्टेंट राजकुमारी की पक्षधर थी। विदेश नीति पर भी दोनों का मतभेद था।

अपने पिता की मृत्यु पर, 1625 में चार्ल्स प्रथम ने देश की बागडोर संभाली। चार्ल्स का विवाह फ्रांस की राजकुमारी से तय हुआ था। पर इस विवाह की क़ीमत थी फ्रांस के राजा लुई अष्टम को ला रौशल (La Rochella) में प्रोटेस्टेंटों को दबाने में इंग्लैण्ड की सहायता एवं इंग्लैण्ड में कैथोलिकों की स्वतंत्रता। संसद ने इस नीति का कड़ा विरोध किया और 1626 में संसद, राजा को बिना कोई धन दिए, भंग हो गई। 'टनेज व पौंडेज कर', जो प्रत्येक राजा को जीवन-काल के लिए दिए जाते थे, संसद ने चार्ल्स को केवल एक वर्ष के लिए दिए। परन्तु चार्ल्स ने यह कर लेने बंद नहीं किए। साथ ही राजा ने जबरदस्ती धन उधार लेना आरंभ कर दिया। पाँच कुलीनों ने यह धन देने से इंकार कर दिया तो राजा ने उन्हें कैद में डाल दिया। न्यायालय ने राजा के इस अधिकार को उचित ठहराया। इस कार्य ने संसद को राजा के सामने 'अधिकार प्रार्थनापत्र' (Petition of Rights) पेश करने पर उकसाया (1628)। इसमें संसद ने बिना संसद की अनुमति के करारोपण एवं क़ैद में डालने के अधिकार को असंगत एवं कानून-विरोधी घोषित किया और साथ ही शांति के समय में सैनिक कानून लागू करने का एवं सैनिकों का आम जनता के मकानों में घुसने का विरोध किया। चार्ल्स ने संसद भंग कर दी और अगले ग्यारह वर्ष (1629-1640) बिना संसद के राज किया।

इन ग्यारह वर्षों में राजा के प्रमुख सहयोगी लॉर्ड एवं वैटवर्थ थे। रानी के प्रभाव से कैथोलिक धर्म को सम्मान दिया जाने लगा। पोप के अधिकारी का इंग्लैण्ड के दरबार में स्वागत किया गया। धन-आपूर्ति के लिए इस काल में कई

नोट

उपाय राजा ने अपनाए जोकि अधिकांश जनता में अलोकप्रिय साबित हुए। परन्तु जहाज-कर की माँग करके चार्ल्स ने इस झगड़े को और भी बढ़ा दिया। राजा ने यह कर परंपरा के विरुद्ध, न केवल तटीय शहरों अपितु पूरे देश में लागू किया और शांति के समय भी इस कर की माँग की। 1637 में धनवान हैम्पडन ने और लॉर्ड से व लॉर्ड सेले ने यह कर देने से इन्कार कर दिया। जब मुक़दमा न्यायालय में लाया गया, तो बारह में से सात जजों ने राजा के पक्ष में निर्णय दिया। राजा जीत तो गया, परन्तु इतने अधिक जजों को उसके विरोध में जाने से उसके सम्मान में काफी कमी आई। वह अगले दो वर्ष तक भी जहाज-कर तो वसूल करता रहा, परन्तु 1640 में लगभग सभी ने यह कर देने से इन्कार कर दिया।[1]

चार्ल्स प्रथम की कठिनाई, स्कटॉलैंड से आरंभ हुई। चार्ल्स ने अपनी धार्मिक नीति स्कॉटलैंड पर थोपने का प्रयत्न किया। स्कॉटलैंड ने विरोध में युद्ध आरंभ कर दिया। चार्ल्स प्रथम ने संसद बुलाई पर वह उसका समर्थन न प्राप्त कर सका। इस कारण तीन सप्ताह बाद ही संसद भंग कर दी गई।

स्कॉटलैंड की सेना को निरंतर सफलता प्राप्त हो रही थी। अंत में चार्ल्स प्रथम के पास और कोई उपाय न रहा और उसने स्कॉट-सेना को स्थायी समझौता न होने तक, 850 पौंड प्रतिदिन देना स्वीकार किया। स्कॉटलैंड राजा को संसद का अधिवेशन बुलाने पर मजबूर करना चाहता था। लंदन के प्रदर्शनकारी भी यही माँग कर रहे थे। राजा को धन की आवश्यकता थी। अंत में 1640 में चार्ल्स ने संसद बुलाई। इस संसद का अधिवेशन, थोड़े-थोड़े समय का अंतराल देकर क़रीब बीस वर्ष तक चला।

इस प्रकार 1603 में जो मतभेद राजा व संसद के मध्य आरंभ हुआ वह समय के साथ-साथ बढ़ता गया और 1640 में इस मतभेद ने युद्ध का रूप धारण कर लिया।

क्या आप जानते हैं जेम्स प्रथम 1603 में इंग्लैण्ड की राजगद्दी पर आसीन हुआ।

1603-40 के दौरान आर्थिक स्थिति

यह समय इंग्लैण्ड में, मुद्रा-स्फीति का समय था। गेहूँ की क़ीमत से पिछले सत्तर वर्षों में छह गुनी वृद्धि हुई तथा अन्य वस्तुओं की क़ीमत भी चार या पाँच गुनी हो गई। इस प्रवृत्ति से उन लोगों को लाभ हुआ जो औद्योगिक व कृषि-क्षेत्र में बेचने के लिए उत्पादन कर रहे थे और उत्पादन के साथ-साथ भूस्वामी भी थे।

1640 के पहले के दशकों में राजाओं ने अपने आर्थिक संकट को टालने के लिए भूमि बेचनी शुरू कर दी थी। यह भूमि भद्रजनों ने खरीद ली। इस कारण सत्रहवीं शताब्दी में भद्रजन वर्ग के एक महत्त्वपूर्ण हिस्से की आर्थिक दशा बहुत अच्छी हो गई थी। यही वर्ग था जिसे हाउस ऑफ़ कॉमंस में प्रतिनिधित्व प्राप्त था। राजा द्वारा ज़ब्त की हुई चर्च की भूमि बेचने से और भद्रजनों द्वारा यह भूमि खरीदने से इंग्लैण्ड की सामाजिक व्यवस्था में भी बहुत परिवर्तन आए। इससे भूस्वामियों की संख्या में वृद्धि हुई और एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया जो राजनीतिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में प्रभावशाली सिद्ध हुआ। अभिजात वर्ग के भी कई सदस्यों ने, जिन्होंने आरंभ में चर्च की भूमि खरीदी थी, बाद में अपनी भूमि भद्रजनों को बेच दी। बढ़ते किरायों के कारण छोटे भूस्वामियों ने, जिन्होंने भूमि पट्टे (lease) पर ली हुई थी, अब जमीन भद्रजनों व योमन किसानों को बेच दी। इस तरह भद्रजनों को दोनों ओर से ज़मीन मिल रही थी जिससे उनकी शक्ति बहुत बढ़ गई। इस कारण 1540-1640 के बीच, इंग्लैण्ड में भूस्वामियों की संख्या तिगुनी हो गई और इस नए वर्ग के अधिकांश सदस्यों की धन-संपत्ति में भी वृद्धि हुई।

1520-1640 के बीच इंग्लैण्ड की जनसंख्या भी दुगुनी हो गई। इतने लोगों का पेट भरने के लिए कृषि-उत्पादन में वृद्धि आवश्यक थी। इस समस्या का सामना इंग्लैण्ड में खेती का क्षेत्र बढ़ाकर तथा कृषि-साधनों में सुधार करके

1. Aylmer, The Struggle for the Constitution, p. 85.

नोट

किया गया। परन्तु इससे सदियों से चलता आ रहा सामंतवादी व पितृवत (paternal) रिश्ता जोकि भूस्वामियों व काश्तकारों के बीच था, समाप्त हो गया और उसके स्थान पर एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था स्थापित हो गई जिसमें भूस्वामी अधिक-से-अधिक पैसा कमाने को महत्त्व देने लगे। सोलहवीं शताब्दी में अनाज की क़ीमतें अधिक बढ़ीं जबकि किराए पहले जैसे रहे, जिससे काश्तकारों को लाभ हुआ। परन्तु सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में किराए, कीमतों की अपेक्षा अधिक बढ़े, इस कारण भूस्वामी वर्ग को लाभ हुआ। इस सबसे अंग्रेज़ी समाज का त्रिवर्गीय बँटवारा हो गया—भूस्वामी वर्ग, समृद्ध काश्तकार, किसान व खेतिहर मजदूर।

संपत्तिवान यह आकांक्षा रखने लगे कि राज्य की आर्थिक नीति में उनका हाथ हो और हाउस ऑफ़ कॉमंस यह नहीं चाहता था कि राजा की आय में इतनी वृद्धि हो जाए कि उसे धन के लिए संसद पर निर्भर रहने की आवश्यकता ही न रहे। व्यापार व उद्योगों की वृद्धि होने पर भी संसद राजा को नए कर लगाने का अधिकार देने को तैयार न थी। जेम्स ने जब संसद की स्वीकृति के बिना ही अतिरिक्त कर लगाने आरंभ किए, तो संसद ने इसका विरोध किया और करारोपण पर अपना अधिकार जताया।

इस दिशा में एक और कठिनाई राजा के रास्ते में यह थी कि जो कर संसद द्वारा लगाए जाते थे वे काउंटियों में भद्रजनों द्वारा ही नियत किए जाते थे। फलस्वरूप सबसे धनवान् परिवार अपनी आय का बहुत कम हिस्सा ही कर के रूप में देते थे। एक उदाहरण था कि एक भद्रजन का, जिसकी वार्षिक आय 1000 पौंड थी, कर ऐसे नियत किया गया मानो उसकी आय केवल 20 पौंड प्रतिवर्ष हो। क्रेनफ़ील्ड की आय, जिस पर वह कर देता था, 1622 में केवल 150 पौंड थी, यद्यपि 1620 में उसने स्वयं कहा था कि उसकी आय 90,000 पौंड है। इस प्रकार संपत्तिवान व धनवान वर्ग बहुत कम कर दे रहा था। कई परिवारों ने, जोकि पहले कर दे रहे थे, कर देना भी बंद कर दिया, जैसे सफ़ोक (Suffolk) में 1557 में यदि 66 आदमी कर दे रहे थे तो 1628 में करदाताओं की संख्या घटकर 37 रह गई। परिवार भी कम आय-संपत्ति दिखाकर, कम कर देने लगे। इस प्रकार संसद द्वारा राजा को दी जाने वाली सहायता राशि (subsidy) में कमी आ गई क्योंकि संसद राजा को यह सहायता लोगों की उस आय के अनुसार देती थी जिस पर वे कर देते थे। एलिज़ाबेथ के राज्यकाल में यदि इस सहायता-राशि से राजा को 1,40,000 पौंड की आय होती थी, तो 1628 में वह घटकर केवल 55,000 पौंड रह गई।

इस नव-धनाढ्य वर्ग से, जोकि राजा को अपनी आय का न्यायोचित हिस्सा देने को तैयार न था, राजा ने ज़बरदस्ती धन उधार लेना आरंभ किया। इस दृष्टि से सर रिचर्ड रोबर्ट का उदाहरण उल्लेखनीय है। 1625 में उसके पिता की मृत्यु होने पर उससे कहा गया कि राजा को अधिकार है कि वह उसकी पूरी संपत्ति छीन ले क्योंकि उसके पिता ने यह धन उधार देकर जमा किया है। परन्तु यदि वह राजा को 20,000 पौंड दे दे तो उसे माफ़ किया जा सकता है। उसने 12,000 पौंड देकर अपनी संपत्ति बचाई। बाद में उसका पुत्र संसद में राज-विरोधी दल का नेता बना।

इस तरह राजा के आय-वृद्धि के उपाय अलोकप्रिय सिद्ध हुए। संसद सदस्य यह अनुभव करने लगे कि इन उपायों से राजा उनके निजी संपत्ति-संबंधी अधिकारों पर चोट पहुँचाने की कोशिश कर रहा है। इसी कारण अपने स्वार्थ की रक्षा के लिए संसद में बहुमत प्राप्त इस संपत्तिवान् वर्ग ने राजा का विरोध किया और संसद के करारोपण संबंधी अधिकार को महत्त्व दिया।

राजा उत्पादन-प्रक्रिया में भाग लेकर अपनी आय में वृद्धि करना चाहता था। यह उसने एकाधिकार के अधिकार को बेचकर किया। राजा ने बड़े व्यापारियों को एकाधिकार देकर नियंत्रण के बदले किराए लेने आरंभ किए। कोयले, साबुन, नमक आदि के ये एकाधिकार समस्त व्यापारी व उद्योगपति वर्ग में अलोकप्रिय सिद्ध हुए। एकाधिकार प्राप्त करके उत्पादक-व्यापारी कीमतें बढ़ा देते थे, कोयले की क़ीमत में वृद्धि होने से प्रत्येक उद्योग को हानि हुई और साबुन की क़ीमत बढ़ जाने से कपड़ा उद्योग को कठिनाई उठानी पड़ी। (परन्तु साबुन के एकाधिकार का विरोध केवल इसलिए नहीं हुआ कि उससे घटिया साबुन उसी कीमत पर मिलने लगा वरन् इसलिए भी हुआ कि साबुन का एकाधिकार राजा ने पोप-समर्थक तथा अपने मित्र को दिया)।

नोट

चूँकि एकाधिकार, राजा अपने विशेषाधिकार के अंतर्गत देता था और राजा के इन विशेषाधिकारों को न्यायालय लागू करते थे, अत: एकाधिकार का प्रश्न सांविधानिक झगड़े का कारण बन गया। संसद, जोकि धनवान वर्ग का प्रतिनिधित्व करती थी, मुक्त व्यापार की समर्थक थी। 1625 में संसद ने एकाधिकार का विरोध करते हुए घोषणा की कि "यह राज्य के सैद्धांतिक कानून के विरुद्ध है।" इस प्रकार एकाधिकार बाँटने से सरकार एवं कुछेक बड़े व्यापारियों को धन-लाभ हुआ परन्तु इंग्लैण्ड की अर्थव्यवस्था व लोगों की बहुत हानि हुई। आवश्यक वस्तुओं जैसे मक्खन, बीयर, नमक, साबुन आदि के एकाधिकार बेचे गए जिनसे इनकी क़ीमतें बढ़ गईं और गरीबों के दु:खों में वृद्धि हुई। राजा ने इन कंपनियों से धन लेना आरंभ किया। सुविधाएँ प्राप्त करने के बदले में इन कंपनियों को अपार-धन राशि देनी पड़ती थी। इस प्रकार सुविधा के बदले धन देने से उन्हें जो कमी पड़ती थी वह उन लोगों से पूरी करते थे जिनसे कि माल खरीदते थे व जिनको माल बेचते थे। इस कारण धनवान व्यापारी उन्नति की सीढ़ी चढ़ते हुए भी प्रसन्न नहीं थे। अन्य सभी लोग इस व्यवस्था को पसंद नहीं करते थे।

सरकार व्यापार को केवल आय का साधन मानती थी, इस कारण इस काल में कोई ऐसी नीति नहीं अपनाई गई जिससे व्यापार में वृद्धि हो। इंग्लैण्ड के व्यापार को अन्य देशों की व्यापारिक प्रतिस्पर्धा से बचाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया और समुद्रों में भी समुद्री-डाकुओं के कारण व्यापार को बहुत क्षति पहुँचने लगी। परन्तु सरकार ने इन डाकुओं को पकड़ने का कोई प्रयत्न नहीं किया। संसद का राजा को टनेज़ व पोण्डेज़ इकट्ठा करने का अधिकार देने में आनाकानी करने का एक सीमा तक कारण यही था कि ये कर व्यापारियों की सुरक्षा व समुद्र में अंग्रेज़ी की सर्वोच्चता स्थापित करने के लिए दिए जाते थे, और अब सरकार की नौसेना में यह कार्य करने की क्षमता नहीं रह गई थी। राजा ने समुद्री डाकुओं की बढ़ती शक्ति पर अंकुश लगाने के लिए धन प्राप्त करने को जहाज-कर लगाने का बहाना बनाया। परन्तु "ग्रेण्ड रिमोंस्ट्रेन्स" (Grand Remonstrance) में टनेज़-पौंडेज़, जबरदस्ती लगान (imposition) व जहाज-कर पर कटाक्ष करते हुए कहा गया: "व्यापारियों को तुर्की के समुद्री डाकुओं के भीषण हमलों का सामना करने के लिए असुरक्षित छोड़ दिया गया है, कई क़ीमती जहाज व अंग्रेज़ी क़ैदी बना लिए गए हैं और अभी भी वे दास बनकर दु:खपूर्ण जीवन बिता रहे हैं"।[1] इस प्रकार व्यापारी लोग नौसेना द्वारा सुरक्षा की माँग करने लगे जोकि स्टुअर्ट राजा पूरी न कर सके। 1600 के बाद इंग्लैण्ड के व्यापार में भी बहुत वृद्धि हुई इससे शक्तिशाली साझेदार कंपनियाँ (Joint Stock Companies) प्रारंभ हुईं जोकि शीघ्र ही विदेश नीति पर प्रभाव की माँग करने लगीं। विदेश व्यापार इंग्लैण्ड की राजनीति को प्रभावित करने लगा। इसमें कपड़े का व्यापार विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण था क्योंकि इसकी समृद्धि का असर सभी सामाजिक वर्गों पर पड़ता था। जैसे भूस्वामी वर्ग जोकि ऊन देने वाली भेड़ें पालते थे, ग़रीब मज़दूर जोकि ऊन कातते थे, कारीगर जोकि ऊन बुनते थे, छोटे कारीगर जो समान व्यापारियों तक पहुँचाते थे और व्यापारी वर्ग जो कपड़ा निर्यात करते थे।[2] अत: भूस्वामी वर्ग, कारीगरों व व्यापारी वर्ग का आर्थिक लाभ एक ही सूत्र से बँधा था। इसी कारण ये सभी वर्ग करारोपण, विदेश नीति, एकाधिकार आदि विषयों पर एक हो गए और राजा को इनमें से किसी भी वर्ग के विरुद्ध दूसरे वर्ग की सहायता मिलनी बंद हो गई।

इस समय इंग्लैंड के आर्थिक विकास का एक पहलू था– लंदन शहर के महत्त्व में वृद्धि, क्योंकि लंदन ही विकास का केन्द्र था। 90 प्रतिशत कपड़े का निर्यात लंदन से होता था तथा अन्य वस्तुओं के व्यापार का भी 70 प्रतिशत से 80 प्रतिशत भाग इसी शहर के व्यापारियों के हाथों में था। लंदन की जनसंख्या, 100 वर्षों में 60,000 से बढ़कर 4,50,000 हो गई।

इस आर्थिक विकास के फलस्वरूप अंग्रेज़ी समाज के पुराने सामंतवादी बंधन टूट गए और उनके स्थान पर नए संबंध बनने आरंभ हो गए। ये नए संबंध बाजार-अर्थव्यवस्था (market economy) पर आधारित थे और स्टुअर्ट शासकों की गृहनीति इन परिस्थितियों के साथ नहीं चल पा रही थी।

1. Lawrence Stone, Causes of the English Revolution, p. 90.
2. Lawrence Stone, Ibid. p. 69.

नोट

दरबार व ग्रामीण क्षेत्र (1603-40)

इन वर्षों में चर्च, अभिजात वर्ग, दरबार व राजा की प्रतिष्ठा में कमी हुई। इंग्लैण्ड के स्थापित चर्च के बिशप पादरी बहुत पढ़े-लिखे तथा कर्मठ नहीं थे और न ही वे अच्छे प्रचारक थे। जनता इनसे प्रसन्न नहीं थी, इसी कारण एक ओर प्यूरिटन व दूसरी ओर कैथोलिकों (जिनकी संख्या कम होते हुए भी प्रभावशाली थी) का प्रभाव बढ़ने लगा। दरबार शक्ति का केन्द्र था और यहीं पर नौकरी, एकाधिकार आदि का सौदा होता था। दरबार में सभी को प्रसन्न रखने के लिए बहुत कूटनीति की आवश्यकता थी, जिसका पहले दो स्टुअर्ट राजाओं में अभाव था। 1618-1629 के बीच नीति संचालन का कार्य केवल एक व्यक्ति बकिंघम के ड्यूक जॉर्ज विलियर्स (George Viliers) के हाथ में दिया गया। इससे पहले यह कार्य कुछ चुने हुए लोगों के हाथों में था। इससे ऐसे अनेक शक्तिशाली कुलीन, भद्रजन व दरबारी राजा से रुष्ट हो गए जिनके हाथ कुछ न लगा। हाउस ऑफ़ कॉमंस में जो भद्रजन सदस्य थे वे भी इस नीति से अप्रसन्न हुए और संसद के माध्यम से उन्होंने राजा की धन की माँग को ठुकराकर उसे तंग करना आरंभ कर दिया। राजा को पैसे की तंगी होने लगी और वह नौकरियाँ व पदवियाँ बेचने लगा जिससे राजनीतिक तनाव में वृद्धि हुई। नौकरशाही की इज्ज़त कम हो गई क्योंकि इसमें भ्रष्टाचार का बोलबाला था। कोई भी वस्तु या पदवी मोल देकर खरीदी जा सकती थी, चाहे वह पादरी का पद हो, न्यायाधीश का स्थान हो या कुलीनता की पदवी हो।

सरकार की ये सभी संस्थाएँ, इस तरह अवनति पर थीं और लोगों में इन संस्थाओं के प्रति विश्वास व प्रतिष्ठा में कमी आई थी। ये संस्थाएँ ही समाज को एकता के सूत्र में बाँधे हुए थीं। इनके कमज़ोर पड़ने से सारा ढाँचा ही हिल गया और नए सामाजिक एवं धार्मिक वर्गों का ये संस्थाएँ सामना न कर पाईं।

संसद में विरोधी पक्ष का विकास: ऐसे समय में जब राजतंत्र की ये संस्थाएँ अपना प्रभाव खो रहीं थी, संसद में विरोधी पक्ष का विकास हो रहा था। हाउस ऑफ़ कॉमंस के सदस्यों की संख्या 300 से बढ़कर 500 हो गई थी और इनमें से करीब 50 प्रतिशत से लेकर 70 प्रतिशत तक भद्रजन वर्ग में से थे। ये सदस्य पहले की अपेक्षा सब अधिक दृढ़ व साहसी हो गए थे।

क्रान्ति की विचारधारा: कोई भी क्रान्ति तभी हो सकती है जब उसकी कोई ठोस विचारधारा हो–विचारधाराविहीन क्रान्ति, क्रान्ति नहीं विद्रोह होता है। अंग्रेजी क्रान्ति की विचारधारा थी प्यूरिटन विचार व लोक-कानून (Common Law) के प्रति भक्ति। प्यूरिटनों का कहना था कि सभी अच्छे आदमी बराबर हैं, और बुरे राजा, पियर या पादरी की तुलना में बेहतर है।[1] यदि मनुष्य सच्चाई से धार्मिक पुस्तकें पढ़े और अपने अंत:करण में देखें, तो ईश्वर की इच्छा के बारे में उनमें मतभेद नहीं हो सकता। जब ऐसा होगा तो कोई कार्य, कोई बलिदान भी ईश्वर-इच्छा पूरी करने में बड़ा न होगा।

यह समय सामाजिक गतिशीलता का युग था जबकि समाज अव्यवस्था की अवस्था में था। ऐसे समय कुछ लोग यह सोचने लगे कि उन्हें समाज-कल्याण का कार्य करना चाहिए। ऐसे लोगों की प्यूरिटन विचारधारा पसंद आई। बहुत वर्षों तक प्यूरिटन विचारधारा से प्रभावित ये लोग राजा बिशप व न्यायाधीशों को इस आशा की नजरों से देखते रहे कि वे शायद सुधार करें, परन्तु 1641 तक उन्हें विश्वास हो गया कि सुधार-कार्य उन्हें स्वयं ही करना होगा। प्यूरिटन विचार पूँजीपतियों एवं व्यापारी वर्ग में भी लोकप्रिय थे। इस विचारधारा में भाग्य के पूर्व-निश्चित होने पर जोर दिया गया। यह विचारधारा व्यापारी वर्ग को मान्य थी क्योंकि इस आधार पर वे यह कह सकते थे कि उनके पास धन ईश्वर की कृपा से आ रहा है और उस पर इन्सान का कोई नियंत्रण नहीं हो सकता। पूँजीपति भी प्यूरिटन विचारधारा से प्रभावित होकर यह सोचने लगे थे कि ईश्वर प्रसन्न होकर उन्हें धन दे रहा है और यह किस्मत का खेल है। इस तरह प्यूरिटन विचारधारा ने संसदीय नेताओं में अपने कार्य व अपने उद्देश्य के प्रति पूर्ण विश्वास जगाया। इस विचारधारा की सहायता व आड़ के बिना 1640 की संसद के नेता राजा का विरोध करने व उसके विरुद्ध युद्ध करने का साहस नहीं जुटा सकते थे।

1. C. Hill, Century of revaluation, p.82.

नोट

प्यूरिटनों का विश्वास था कि सभी मनुष्य पढ़ने-लिखने की क्षमता रखते हैं और उन्हें शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए ताकि वे धार्मिक पुस्तकें पढ़ सकें। इस विचारधारा से योमेन व शहरी कारीगर वर्ग प्रभावित हुआ और शिक्षा प्राप्त करने लगा। साक्षरता न लोगों के अंदर धर्म एवं राजनीति में भाग लेने की आकांक्षाएँ उत्पन्न कर दीं तथा निम्न वर्गों में समानता के विचार फैल गए। परिणामस्वरूप 1640-1650 के मध्य जो समतावादी आंदोलन हुआ, उसकी भूमिका बनी।

क्रान्ति की पृष्ठभूमि: इस प्रकार, 1630 तक इंग्लैण्ड में स्थायित्व नहीं रह गया था। नए सामाजिक तत्व उभरकर सामने आ रहे थे, नए राजनीतिक संबंध बन रहे थे और नई विचारधाराएँ पैदा हो रही थीं। परन्तु सरकार या स्थापित चर्च इन नई परिस्थितियों का सामना करने या इनके अनुसार अपने आपको ढालने में अपनी असमर्थता प्रदर्शित कर रहे थे। ऐसे समय में एक नया वर्ग उभरकर सामने आया भूस्वामियों का, न्यायाधीशों का व व्यापारियों का, जिसने नेतृत्व की जिम्मेदारी संभाली। इस वर्ग को योमेन किसानों का, छोटे व्यापारियों का और कारीगरों का समर्थन प्राप्त था क्योंकि इनके स्वार्थ व इच्छाओं की यह वर्ग स्वर देता था, उनका प्रतिनिधित्व करता था और अपने स्वार्थ को उनके स्वार्थ के साथ जोड़ने को तैयार था।

यह वर्ग केवल राजनीति में सत्ता का भागीदार नहीं बनना चाहता था। यह परिवर्तन–अर्थात् प्रोटेस्टेंट विदेश-नीति, दरबार में भ्रष्टाचार पर रोक, चर्च की रस्मों में कुछ सादगी व बिशप के आधिपत्य में कमी की माँग कर रहा था। परन्तु इन माँगों का जवाब उन्हें स्टुअर्ट राजाओं ने राजा की दैवी शक्ति पर भाषण देकर, बिशप की शक्ति में वृद्धि करके, स्पेन की राजकुमारी से चार्ल्स के विवाह को विदेश-नीति का केन्द्र बनाकर या दरबार में भ्रष्टाचार को और भी बढ़ाकर दिया। बाहरी आक्रमण का डर इस सत्ताधारी व इस नए वर्ग को एकता के सूत्र में बाँध सकता था। परन्तु सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक यह भय भी समाप्त हो चुका था। इस प्रकार इन वर्गों के लिए यह अपनी स्थिति के स्पष्टीकरण करने का सुनहरा अवसर था।

अर्थव्यवस्था का भी स्वरूप बदल रहा था। विदेश व्यापार में वृद्धि हो रही थी, जनसंख्या दुगुनी हो गई थी व बाहरी आक्रमण का खतरा नहीं था। ऐसी परिस्थितियों में स्थापित संस्थाओं का मूल्यांकन होना स्वाभाविक था। फलत: शक्ति के बँटवारे में परिवर्तन व चर्च में सुधार आवश्यक हो गए थे, परन्तु ये माँगे क्रान्ति का रूप लेंगी, यह निश्चित नहीं था। यह सरकार की चतुराई व विवेक पर और विरोधियों के आत्मसंयम पर आधारित था। परन्तु सरकार ने विवेक नहीं दिखाया और विरोधियों ने संयम नहीं रखा।

घटनाओं में तेज़ी

इस प्रकार क्रान्ति की पृष्ठभूमि तैयार हो गई थी, परन्तु अभी भी ऐसा ही लगता था कि क्रान्ति संभव है, किन्तु यह जरूरी नहीं था कि क्रान्ति होकर ही रहेगी। चार्ल्स प्रथम की नीतियों व गतिविधियों ने क्रान्ति को संभावना के दायरे से निकालकर निश्चित सीमा तक पहुँचा दिया।

चार्ल्स को धार्मिक नीति का इस दिशा में महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व था। राजा ने पूर्ण रूप से अपने सहायक मित्र विलियम लॉर्ड की प्रतिक्रियावादी धार्मिक नीति का समर्थन किया। लॉर्ड अनुभव करता था कि राजा व चर्च को एक होकर अपने शत्रुओं का सामना करना चाहिए और इस नीति पर चलने के कारण यह जरूरी हो गया कि यदि इनमें से एक का भी पतन हो तो वह दूसरी संख्या को भी अपने साथ नीचे घसीट ले।

लॉर्ड ने बिशप की राजनीतिक शक्ति व प्रतिष्ठा को एक बार फिर स्थापित किया। बिशप को दुबारा प्रिवी कौंसिल में विशेष प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ। न्यायालयों में उन्होंने सक्रिय भाग लेना आरंभ कर दिया और आम जनता की अपेक्षा, बिशपों ने अपने अधिकार व वित्त संबंधी विशेषाधिकार जताने आरंभ कर दिए। बिशप-विरोधियों को कड़ी सजा देखकर चुप कराया जाने लगा, प्रार्थना के रीति-रिवाजों व प्रदर्शन को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। इस नीति से इंग्लैण्ड की जनता में यह शंका उत्पन्न हुई कि वह एवं स्टुअर्ट राजा देश में पोप की सत्ता पुन: स्थापित करना

नोट

चाहते हैं। एक उग्रवादी संसद-सदस्य ने 1641 में इन्हीं विचारों को प्रकट करते हुए कहा "हमारी सभी शिक़ायतों की जड़ मेरे विचार में, रोम के साथ हमारा गठबंधन स्थापित करने का विचार है"।[1]

राजा की राजनीतिक नीति भी लोगों को नापसंद थी। 1629 में चार्ल्स ने संसद भंग की और व्यक्तिगत रूप से शासन चलाने लगा। धन की आपूर्ति के लिए उसने कई पुराने नियमों को दुबारा लागू किया जिससे वह भद्रवर्ग पर दंडनीय कर लगा सके। उसने कुलीनों पर शाही-जंगलों का उल्लंघन करने का आरोप लगाकर दंडनीय कर लगाया। 1629-39 के दशक में कुलीनों पर लगे वार्डशिप (wardship)[2] कर से राजा की आय में, तीन गुनी वृद्धि हुई। इसी प्रकार एक कर 'परवेअन्स' था, जिसके आधार पर राजा को यह अधिकार था कि वह शाही-घराने के लिए बाजार से कम कीमत पर सामान खरीदे। इसी से राजा को प्रति वर्ष करीब 50,000 पौंड की आय होती थी जिस पर संसद का कोई नियंत्रण न था। इसलिए संसद ने इसका विरोध किया।

चार्ल्स ने सामाजिक परिवर्तन की गति को रोकने और उसे पीछे की ओर मोड़ने का भी प्रयत्न किया। 1629 में उसने उपाधियों की बिक्री बंद कर दी और कुलीनों को जो विशेष सुविधाएँ पहले प्राप्त थीं उन्हें दुबारा अमल में लाने को उकसाया। 40 पौंड प्रतिवर्ष की आय से ऊपर जिन कुलीनों की आय थी उन्हें 'नाइट' की पदवी लेने पर मजबूर किया गया और न लेने पर दंडनीय कर देना पड़ता था। कुलीनों आदि को अपने ग्रामीण क्षेत्रों में बसने को मजबूर किया। इससे सामाजिक तनाव में वृद्धि हुई और हाउस ऑफ़ कॉमंस के सदस्यों के विचार हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स के प्रति और भी विरोधी हो गए।

लंदन के व्यापारिक अल्पतंत्र (oligarchy) के स्वार्थ राजा के ऊपर निर्भर थे परन्तु 1630-40 के दौरान राजा ने निरंतर धन की माँग करके इन व्यापारी कंपनियों को इतना तंग किया (जैसे धन न देने पर उच्च अधिकारियों को जेल में डाल दिया) कि 1640 में ये सरकार की सहायता करने को तैयार न हुईं। न्यायाधीश वर्ग भी चार्ल्स के विरुद्ध हो गया क्योंकि राजा ने अपने पक्ष में निर्णय लेने के लिए जजों के कार्य में हस्तक्षेप किया। इसके अलावा चार्ल्स ने कोर्ट ऑफ़ स्टार चैंबर व अन्य विशेषाधिकार प्राप्त न्यायालयों को अपनी नीति लागू करने का साधन बनाया, जिससे लोक-कानून का कई बार उल्लंघन होता था और न्यायाधीशों को यह स्वीकार्य नहीं था।

विरोध का प्रथम प्रदर्शन धनवान जॉन हैम्पडन (John Hampdon) ने जहाज़-कर देने से इन्कार करके किया। उस पर मुक़द्दमा चलाया गया जिसमें राजा जीत गया, परन्तु दो वर्ष बाद 1639-40 में आम जनता ने यह कर देने से इन्कार करके राजा की जीत को खोखला साबित कर दिया। क़रीब-क़रीब सभी धनवानों ने यह कर देने से इन्कार कर दिया। 1636 में पूर्ण जहाज-कर का $3\frac{1}{2}$ प्रतिशत सरकार एकत्र न कर पाई। 1637 में 11 प्रतिशत व अगले वर्ष 61 प्रतिशत कर सरकारी खजाने में नहीं पहुँचा।

1630 से आरंभ होने वाले दशक में इंग्लैण्ड में केवल एक अच्छी फ़सल हुई थी। यह एक कारण हो सकता है कि लोगों ने 1640 में कर देने से इन्कार किया परन्तु यदि कुलीनों ने कर न देने की इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया तो भी सैनिकों के विद्रोह के पीछे, जिनसे चार्ल्स को स्कॉटलैंड के साथ युद्ध करने में कठिनाई अनुभव करनी पड़ी, कुलीनों का हाथ न था।

इस असंतोष का कारण पिछले वर्षों की आर्थिक स्थिति थी। ये वर्ष कपड़ा-उद्योग के लिए अच्छे नहीं थे। 1640-42 के विद्रोहों में बेरोज़गारी का बहुत बड़ा हाथ था। अर्थव्यवस्था की गति धीमी पड़ जाने के कारण लोग ग़रीब हो गए थे और यदि वे चाहते तो भी ग़रीबी के कारण कर देने की स्थिति में नहीं थे।

राजा की मुख्य कठिनाई स्कॉटलैंड से आरंभ हुई। 1639 में चार्ल्स ने स्कॉटलैंड के चर्च पर नियंत्रण करने का प्रयत्न किया और चर्च की भूमि ज़ब्त करने की धमकी दी। इससे वहाँ की जनता ने विद्रोह कर दिया और इंग्लैण्ड पर

1. Stone, Causes of English Revolution, p. 122.

2.जब कुलीन या अभिजात वर्ग के किसी सदस्य की मृत्यु हो जाती थी और उसका उत्तराधिकारी नाबालिग होता था तो राजा उसकी जमीन का 'वार्ड' (संरक्षक) बन जाता था और इसके बदले में राजा उससे धन लेता था।

नोट

आक्रमण कर दिया। चार्ल्स के पास न धन था, न ही उसे सहायता की उम्मीद थी, इसलिए उसे स्कॉटलैंड की सेना के साथ समझौता करना पड़ा और धन के लिए उसने संसद बुलाई।

गृहयुद्ध (1640-1649): 1640 तक अधिकांश सामाजिक वर्ग राजा के विरुद्ध हो चुके थे। जब उसने संसद बुलाई तो वह अकेला था। 1641 तक इस संसद ने अपने अनेक उद्देश्य पूर्ण कर लिए थे। राजा से बिना संसद की अनुमति के करारोपण की शक्ति व बिना मुकदमा चलाए क़ैद का अधिकार छीन लिए गए। विशेषाधिकार न्यायालय, जैसे स्टार चैंबर आदि समाप्त कर दिए गए। चार्ल्स के प्रमुख सलाहकारों को दंड दिया गया और लॉर्ड ने जो धार्मिक कानून लागू किए थे वे वापस ले लिए गए। परन्तु अभी भी गृहयुद्ध की कोई आशंका नहीं थी।

संसद में एकता समाप्त हो गई। इस समय से राजा को, जो अभी तक मित्रविहीन था, सहायता मिलनी आरंभ हो गई। संसद में मतदान के नतीजे इस दलबंदी को स्पष्ट करते हैं। मई 1641 में स्ट्रैफ़र्ड (Strafford) पर जब राजद्रोह का आरोप लगाकर उसे दंड दिया गया उस समय 200 सदस्यों ने इसके पक्ष में व 50 ने विपक्ष में मत दिया। नवंबर 1641 में सेना का नियंत्रण संसद के हाथ में देने के पक्ष में 151 और राजा के हाथ में देने के पक्ष में 110 सदस्य थे। उसी माह 'महान विरोधपत्र' पास किया गया (जिसमें चार्ल्स पर अनेक दोष लगाए गए व माँग की गई कि मंत्री संसद की सम्मति से नियुक्त किए जाएँगे और धार्मिक समस्या सुलझाने के लिए धर्म-सभा बुलाई जाएगी) जिसके पक्ष में 159 सदस्य थे परन्तु विपक्षियों की संख्या भी 148 तक पहुँच चुकी थी। जून 1642 में 302 सदस्य संसद के साथ रहे और 236 लंदन छोड़कर चले गए। इनमें से अधिकांश यॉर्क (York) जाकर राजा से मिल गए।

इतने अधिक सदस्यों का, केवल दो वर्ष के समय में राज विरोधी से राज-समर्थक बन जाने के कारण मालूम करना कठिन नहीं है। ये सदस्य एक सीमा तक उग्रवादी थे, परन्तु पिम की माँगें, जैसे संसद का सेना पर नियंत्रण हो व संसद ही मंत्री नियुक्त करे, धार्मिक स्वतंत्रता हो, व गिरजाघरों में पादरी का शासन समाप्त हो, ऐसी उग्रवादी माँगें थीं कि बहुत से संसद सदस्य पीछे हट गए। इसका कारण था कि इन संपत्तिवानों को अपनी संपत्ति के लिए खतरा दिखाई देने लगा था। यदि धार्मिक-भूस्वामियों की संपत्ति पिम की नीति के कारण छिन सकती है तो आगे अन्य भूस्वामियों की बारी भी आ सकती थी। इस डर ने 1640 के कई उग्रवादियों को 1642 में परिवर्तन-विरोधी बना दिया था। भूस्वामियों को बाड़बंदी विद्रोह व ग्रामों में किराए न देने की प्रवृत्ति से भी डर लगा और वे राजा व शांति के पक्ष में हो गए–एक कुलीन ने राज-पक्ष के कारण स्पष्ट करते हुए कहा, "अमीर आदमी राजतंत्र के बड़े शत्रुओं में से नहीं हैं। यदि संपूर्ण राज्य के जरूरतमंद बड़ी संख्या में उठ खड़े हों तो आरंभ में वे किसी भी पक्ष में होने का दावा क्यों न करें, थोड़े ही समय में वे अपने आपको स्थापित कर देंगे जिससे राज्य के अभिजात वर्ग व कुलीन वर्ग नष्ट हो जाएँगे।" राजा ने अभिजात वर्ग के इस डर का लाभ उठाया। वह यह सोचने लगा कि उसके बिना राज्य चल नहीं सकता। उसने समझौता संबंधी सभी प्रयास विफल कर दिए। फलतः 1642 में गृहयुद्ध आरंभ हो गया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. ट्यूडर वंश की अंतिम शासिका ..... थी।
2. जेम्स प्रथम 1603 में ..... की राजगद्दी पर आसीन हुआ।
3. ..... के बीच इंग्लैण्ड की जनसंख्या दुगुनी हो गई।

1. C. Hill, Century of Revoluation, p. 56.

नोट

8.2 गृहयुद्ध का स्वरूप (Kind of Civil War)

गृहयुद्ध के अनेक पहलू थे और यही युद्ध के स्वरूप को समझने में सहायता करते हैं। युद्ध में भाग लेने वाले दोनों पक्षों की कुछ अपनी-अपनी विशेषताएँ थीं। इनमें पहली विशेषता थी भौगोलिक बँटवारा। साधारण तौर पर कहा जाए तो पूर्व व दक्षिण-पूर्व इंग्लैंड संसद-समर्थक था और उत्तर व पश्चिमी इंग्लैण्ड राजा के पक्ष में था। दूसरे शब्दों में, उस समय के अधिकार-प्राप्त तथा आर्थिक दृष्टि से संपन्न क्षेत्रों ने संसद का पक्ष लिया और पिछड़े हुए इलाक़ों ने राजा का साथ दिया। दूसरे, धार्मिक क्षेत्र में भी मतभेद स्पष्ट दिखाई देता है, यद्यपि यहाँ अपवाद भी थे। अधिकतर प्यूरिटन संसद-समर्थक थे और ऐंग्लीकन राज-समर्थक। अनेक कैथोलिकों ने भी राजा का साथ दिया और कुछ ने उसे आर्थिक सहायता भी दी। यॉर्कशायर के 113 से अधिक कैथोलिक राजा के सहायक थे और संसद-समर्थकों में से आधे से अधिक प्यूरिटन थे जिन्होंने गृहयुद्ध में भाग लिया, उनमें से 72 प्रतिशत प्यूरिटन संसद के साथ थे और 90 प्रतिशत कैथोलिक राजा के पक्ष में थे।

दोनों पक्षों के सामाजिक व आर्थिक स्वरूप में भिन्नता थी। एक सीमा तक यह शहर का ग्रामों के विरुद्ध युद्ध था। लंदन, अधिकांश बड़े व्यापारिक केन्द्र और क़रीब-क़रीब सभी बंदरगाह संसद-समर्थक थे। ग्रामीण क्षेत्र, एक-आय (जैसे, पूर्व ऐंग्लिया व पूर्व मिडलैंड के कुछ हिस्से) को छोड़कर राजा के पक्ष में थे।

सामाजिक दृष्टि से देखा जाए तो पीयर वर्ग का बहुमत राजा समर्थक था और कुछ सीमा तक भद्रजन भी राजा के साथ थे। मध्य वर्ग, योमेन व व्यापारी दल संसद समर्थक थे। परन्तु यह कहना उचित नहीं है कि कुलीन वर्ग एक ओर था और मध्य वर्ग उसके विपक्ष में था। 80 कुलीन यदि राजा की सहायता कर रहे थे तो 30 उसके विरोधी भी थे।[1] परन्तु मध्य वर्ग, व्यापारी, योमेन, दुकानदार, कारीगर, प्यूरिटन विचारधारा के थे और उन्होंने संसद का समर्थन किया। उनका उद्देश्य उन अधिकारों के बंधनों को तोड़ना था जिनसे अल्पजन कंपनियों को सरंक्षण मिल रहा था। संसद के एक प्रचार-पत्र में लिखा गया। "हमारे दल को शक्ति प्राय: ईमानदार व्यापारियों द्वारा मिली है; भद्रजन कुछ नहीं हैं तथा ग्रामीण लोग अधिकतर बुरे पादरियों द्वारा दिखाए गए गलत रास्ते पर चल रहे हैं"।[1]

इतिहासकार गार्डिनर का मत है कि ऐसा युद्ध, विरोधी विचारों के कारण हुआ। धार्मिक स्वतंत्रता के पक्षधरों ने सांविधानिक शासन के रखवालों के साथ मिलकर राजा के विरुद्ध युद्ध किया। इस कथन में सत्य का अंश है क्योंकि संसद के पक्ष में अधिकांशत: या तो प्यूरिटन थे या राज-समर्थक ऐंग्लिकन। परन्तु गृहयुद्ध केवल धर्म के माध्यम से नहीं समझा जा सकता। आर्थिक पहलू को नज़र-अंदाज करना उचित नहीं है। प्रोफ़ेसर टोनी ने प्रमाणित किया है कि नए कुलीन वर्ग की संपत्ति, धन व प्रभाव में अभिवृद्धि हो रही थी और राजा की धार्मिक नीति, करारोपण-नीति और निरंकुश शासन की दूरियाँ जैसे तत्व इस वर्ग के उत्थान में बाधा बन रहे थे। इसलिए, इस वर्ग ने अपने मार्ग की बाधाएँ दूर करने और सत्ता प्राप्त करने के लिए युद्ध किया। यह विचारधारा पूर्व रूप से मान्य नहीं है क्योंकि उस समय के आंग्ल समाज में कुलीन पूँजीपति नहीं थे और अभिजात वर्ग सामंतवादी नहीं था। इंग्लैण्ड में जो भी पूँजीपति थे वे शहरी व्यापारी थे और उन्होंने, विशेषकर युद्ध के आरंभ में राजा का पक्ष लिया। इंग्लैण्ड में 1640 में, प्राचीन सामंत न थे। इस काल में जो कुलीन थे वे केवल पिछले 100 वर्षों में ही इस वर्ग में आए थे।

विभिन्न इतिहासकारों ने भिन्न-भिन्न कारणों को महत्त्व दिया है पर तथ्य यह है कि अधिकांश इतिहासकार क्रान्ति को केवल एक पहलू से देखते हैं। आंग्ल-क्रान्ति के अनेक पहलू थे। 1640 से 1660 के काल में राजनीति के प्रति जागरूक शायद ही कोई व्यक्ति ऐसा हो जिसके धार्मिक व राजनीतिक विचारों में तटस्थता दिखाई देती हो। 1640 से अनेक राज-विरोधी, 1642 तक आते-आते राजा के समर्थक बन गए थे, और फिर, 1648 में अनेक सांसद जिन्हें प्रेस्बाईटेरियन कहा गया है, राजा के पक्ष में हो गए थे। जहाँ 1640 या 1642 में कोई भी गणतंत्र समर्थक न था,

1. C. Hill, Reformation to Industrial Revolution.

नोट

वहाँ 1649 में इंग्लैण्ड में गणतंत्र सरकार की स्थापना हो गई। इसी प्रकार 1640-42 में शायद ही कोई धार्मिक सहनशीलता के पक्ष में हो किन्तु 1649 में प्रोटेस्टेंटों के लिए असीमित धार्मिक स्वतंत्रता लागू कर दी गई।

गृहयुद्ध के स्वरूप की समस्या अभी सुलझी नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संघर्ष की व्याख्या विभिन्न वर्गों के भिन्न-भिन्न दलों के बीच एक जटिल संघर्ष के रूप में की जा सकती है जिसमें राजनीतिक व्यवस्था, धार्मिक विचारधारा, सामाजिक ढाँचा व व्यक्तिगत विचार आदि प्रश्नों पर गंभीर मतभेद था। सामाजिक परिवर्तन एवं आर्थिक विकास की तीव्र गति के कारण उत्पन्न होने वाली अनिश्चितता से भी उनका दृष्टिकोण प्रभावित था। एकपक्षीय विश्लेषण से इस स्थापित व्यवस्था को चुनौती देने वाले गृहयुद्ध का स्वरूप नहीं समझा जा सकता। इस युद्ध के अनेक पहलू थे, जैसे बौद्धिक पहलू (नवीन विरोधी विचारधाराएँ व आदर्श, सामंत दल में आत्मविश्वास की कमी), आर्थिक पहलू (दीर्घकालीन सफलता के बाद अल्पकालीन आर्थिक, संकट, राजा को धन की कमी आदि), राजनीतिक पहलू (अनुभवहीन निर्जीव सरकार, परिवर्तनशील समाज की माँग समझने में अयोग्य शासक), सामाजिक पहलू (शक्ति, धन, प्रभाव के वितरण में परिवर्तन, गतिशीलता के कारण निम्न वर्ग का प्राचीन बंधनों से मुक्त होना, जिन योग्य लोगों को उच्च वर्गों में प्रवेश की आशा थी उन्हें प्रवेश न मिलने के कारण उनमें निराशा की भावना का फैलना आदि)। इन सभी पहलुओं ने मिलकर गृहयुद्ध को उसका विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया। ये परिस्थितियाँ पाँच या दस वर्षों में नहीं, अपितु पिछले सौ वर्षों से, अर्थात् ट्यूडर वंश के राज्यकाल से बनती चली आ रही थीं और 1642 में इन्होंने गृहयुद्ध का रूप धारण कर लिया। परन्तु राजा की हार व गणतंत्र की स्थापना से भी कोई स्थायी हल नहीं निकला और अंत में एक और क्रान्ति हुई जिसके परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड में स्थायी राजनीतिक व्यवस्था की स्थापना संभव हुई।

सन् 1645 में संसद ने एक कानून बनाया जिससे संसद-सदस्य सेना के संचालन के अधिकार से वंचित कर दिए गए। साथ ही एक नई सेना "न्यू मॉडल आर्मी" का गठन किया गया। इस सेना में योग्यता को प्राथमिकता दी गई तथा तोपखाने व घुड़सवारों पर विशेष ध्यान दिया गया। सैनिकों को निश्चित वेतन देने का भी वचन दिया गया और इसके लिए धन एक राष्ट्रीय कर लगाकर संचित किया गया। क्रॉमवैल को घुड़सवार सेना का अध्यक्ष चुना गया। इस सेना के सैनिकों में अभूतपूर्व अनुशासन, एकता एवं राजनीतिक जागरूकता थी। वे संगठित होकर आक्रमण करते थे और जब तक शत्रु हार न जाए, आक्रमण पर आक्रमण करते रहते थे। संसद की विजय का श्रेय इसी सेना को है।

इस सेना ने राजा को नेसबी (Neseby) के युद्ध में हराया और ब्रिस्टल पर भी संसद से नियंत्रण कर लिया। राजा स्कॉटलैंड भाग गया। स्कॉटलैंड के लोगों ने धन के बदले चार्ल्स को संसद के सुपुर्द कर दिया।

युद्ध समाप्त हो गया परन्तु संसद की कठिनाइयाँ समाप्त नहीं हुईं। जैसे ही युद्ध समाप्त हुआ, संसद-सदस्यों में मतभेद उत्पन्न हो गया। संसद दो दलों में बँट गई जिन्हें कि 'प्रेस्बाईटेरियन' व 'इंडिपेंडेट' का नाम दिया गया है। युद्ध समाप्त होते ही प्रेस्बाईटेरियन सुझाव देने लगे कि सेना को बिना वेतन दिए भंग कर दिया जाए या सैनिकों को विद्रोह दबाने के लिए आयरलैण्ड भेज दिया जाए। यह दल अनुभव करने लगा कि सेना एक संस्था के रूप में "किसानों को समझा सकती है कि स्वतंत्रता क्या होती है"। इसी समय लंदन में एक और दल का जन्म भी हुआ जो छोटे किसानों के मत को प्रकट करता था। यह समतावादी दल था। परन्तु अब तक सेना बहुत शक्तिशाली हो चुकी थी। सेना के साथ झगड़ा 1647 में आरंभ हुआ जबकि उसे भंग करने के प्रयत्न आरंभ किए गए। सैनिकों ने सेना को भंग किए जाने के सुझाव का विरोध किया और विद्रोह कर दिया। क्रॉमवैल ने सैनिकों का साथ दिया। सेना ने एक परिषद् बनाई और यह घोषणा कि सेना को तब तक भंग नहीं किया जा सकता जब तक उसकी माँगें पूरी नहीं हो जातीं। संसद के नए चुनाव की माँग भी सैनिकों ने रखी। राजा को सेना ने अपनी क़ैद में ले लिया।

राजा को क़ैदी के रूप में लेकर, सेना लंदन की ओर बढ़ी। मुख्य प्रेस्बाईटेरियन नेता, हाउस ऑफ़ कॉमंस छोड़कर चले गए और कुछ समय के लिए इंडिपेंडेंटों का प्रभुत्व हो गया। सेना अब नीति को प्रभावित करने की स्थिति में थी। 'कुलीन' इंडिपेंडेंट इतना ही चाहते थे। उन्होंने अपने मुख्य शत्रुओं को हरा दिया था और अब वे सुधार नहीं

नोट

करना चाहते थे। परन्तु समतावादी, जिनका प्रभाव सेना में बहुत बढ़ गया था, महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की आशा करते थे। वे छोटे व्यापारियों के लिए स्वतंत्र व्यापार, बड़ी व्यापार-कंपनियों के लिए भ्रष्ट-एकाधिपत्य से स्वतंत्रता, स्थापित चर्च की समाप्ति, छोटे भूस्वामियों को सुरक्षा, वयस्क मताधिकार में वृद्धि और यह सब प्राप्त करने के लिए गणतंत्र की स्थापना करना चाहते थे।

इस प्रकार इंडिपेंडेंटों में मतभेद उत्पन्न हो गया। चार्ल्स व सेना-अध्यक्षों में सीमित राजतंत्र स्थापित करने की बातचीत आरंभ हुई, जिससे लंदन के उग्रवादी (अर्थात् समतावादी) व सैनिक सशंकित हो गए। इन उग्रवादियों ने अपना ही समझौता-पत्र तैयार किया जिसे 'एग्रीमेंट ऑफ़ पीपुल' (Agreement of People) अर्थात् 'जन समझौता' नाम दिया गया। दोनों समझौता-पत्रों पर पुटनी नामक स्थान पर बहस हुई। दोनों ही पक्ष एक-दूसरे को सुनने को तैयार न थे।

उधर चार्ल्स बंधन तोड़कर भाग चुका था। उसने स्कॉट सेना से सहायता प्राप्त की परन्तु स्कॉट सेना को लंदन की सेना ने आसानी से हरा दिया। संसदीय प्रेस्बाईटेरियन ने चार्ल्स के साथ समझौता करने का प्रयत्न किया (न्यूपोर्ट की संधि), परन्तु अब तक सेनाध्यक्ष अनुभव करने लगे कि राजा का भरोसा नहीं किया जा सकता। वे अब बार-बार का झगड़ा निपटाना चाहते थे। समतावादियों के साथ सेनाध्यक्षों ने फिर समझौता कर लिया और लंदन पर अधिकार कर लिया। राजा पर मुक़द्दमा चलाया गया और 30 जनवरी 1649 को राजा को देशद्रोह का अपराधी मानकर फाँसी दे दी गई।

राजतंत्र को "स्वतंत्रता, सुरक्षा व लोगों के सार्वजनिक स्वार्थ के लिए बोझ व खतरनाक" घोषित करके समाप्त कर दिया गया। 'हाउस ऑफ़ लार्ड' भी समाप्त कर दिया गया क्योंकि वह "बेकार व खतरनाक" था। 10 मई 1649 को इंग्लैण्ड में गणतंत्रीय सरकार की स्थापना हुई।

परन्तु कोई गणतंत्रवादी सुधार नहीं किए गए। मताधिकार का विस्तार व समतावादियों की अन्य आर्थिक व सामाजिक माँगे पूरी होने में अभी भी पहले जितनी ही दूरी थी। उन्हें लगा कि उनके साथ धोखा हुआ है। इस कारण समतावादी एक बार फिर सेना से नाराज़ हो गए और सेना-विरोधी प्रदर्शन करने लगे। समतावादी नेताओं को जेल में डाल दिया गया और कुछ को गोली मार दी गई। समतावादियों की असफलता का कारण था कि वे संगठित एकरूपी (homogeneous) दल के स्वार्थ नहीं प्रकट करते थे। साथ ही, उनके पास कोई संगठित कार्यकर्ता भी नहीं थे जो उनके कार्यक्रम को विश्वसनीय ढंग से आगे बढ़ा सकते।

8.3 अपूर्ण क्रान्ति (1640-1660) (Incomplete Revolution, 1640-1660)

यदि सीधे-सादे ढंग से कहा जाए, तो सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में इंग्लैण्ड में दो क्रान्तियाँ हुईं। एक क्रान्ति वह जो सफल हुई और जिसकी सफलता के प्रमाण थे इंग्लैण्ड में संपत्ति-अधिकार की स्थापना, निरंकुश करारोपण का अंत, संपत्तिवान् वर्ग के हाथों में शक्ति-सत्ता का संचय, लोक कानून की सर्वोच्चता तथा संसदीय शक्ति की स्थापना और संपत्तिवान् वर्ग की विचारधारा अर्थात् प्रोटेस्टेंट नीतिशास्त्र के मार्ग की समस्त बाधाओं को दूर करना। परन्तु इसके अतिरिक्त, इसी क्रान्ति के अंतर्गत एक और क्रान्ति की भूमिका बनी। हालांकि यह क्रान्ति कभी पूर्णता की मंजिल पर नहीं पहुँची, तथापि समय-समय पर ऐसा प्रतीत होता था कि क्रान्ति किसी भी समय हो सकती है। यदि यह क्रान्ति सफल हो जाती तो संभवत: इंग्लैण्ड में संयुक्त संपत्ति, न्याय एवं राजनीतिक संस्थाओं में अपेक्षाकृत अधिक लोकतांत्रिक विचार व्याप्त हो जाते, स्थापित राज्य-चर्च नष्ट हो जाता और प्रोटेस्टेंट विचारधारा की अवहेलना हो जाती।

इंग्लैण्ड में उस समय अनेक ऐसे लोग थे जो स्थापित सामाजिक व्यवस्था के लिए खतरा पैदा कर सकते थे। इनमें पहले नंबर पर थे भिखारी, बेरोजगार और बदमाश। लंदन की जनसंख्या में 1500-1650 के मध्य आठ गुनी वृद्धि हुई। यहाँ के अधिकांश लोग ग़रीबी की हालत में जीवन व्यतीत कर रहे थे। इन पर राजनीतिक या नए धार्मिक विचारों

नोट

का अधिक प्रभाव नहीं था, परन्तु इन लोगों को आसानी से भड़काया जा सकता था। गृहयुद्ध के दौरान विभिन्न दलों ने इन गरीबों की लाचारी का लाभ उठाया और इन लोगों का प्रयोग अपने स्वार्थ सिद्ध करने के लिए किया। प्रोटेस्टेंट धर्म के अनुयायी भी, जिन्होंने राज्य-धर्म का साथ छोड़ दिया था, अपना ही दल बनाकर लोक-सेवा में रत थे। इन्होंने राज्य-धर्म के साथ-साथ, पादरी व जमींदार (Squire) से भी मुक्ति प्राप्त कर ली थी। ग्रामीण क्षेत्रों में भी ऐसे स्वामित्वहीन लोग थे जो सरकारी प्रदेशों पर व जंगलों आदि में अपना घर बना लेते थे। ये खानों एवं कारखानों में कार्य करके अपनी जीविका कमाते थे परन्तु किसी के अधीन नहीं थे। इस सामाजिक वर्ग में छोटे व्यापारी, रेहड़ी वाले, सामान ढोने वाले आदि भी सम्मिलित थे। ऐसे लोगों का एक समूह न्यू मॉडल आर्मी (सेना) थी। इस सेना के सिपाही केवल धनलोलुप सैनिक न थे। इस असाधारण सेना के सैनिक आम जनता में से थे। वे साधारण नागरिक थे जिन्होंने बदलती परिस्थितियों में यूनीफॉर्म (वर्दी) पहन ली थी। ये सिपाही जनता में से थे और जनता के विचारों-आकांक्षाओं से अवगत थे, इसलिए वे जनता का समर्थन करते थे। संसद व भद्रजन-वर्ग का जनता के साथ उतना संपर्क नहीं था जितना कि इन सैनिकों को था। इन नागरिकों को सेना में भर्ती होने के बाद विचार-प्रदर्शन की जो स्वतंत्रता दी गई थी, उसके फलस्वरूप शीघ्र ही इन सैनिकों में बड़ी तेजी से राजनीतिक विचार व्याप्त हो गए।

1640-1649 की क्रान्ति के सभी दूरगामी परिणाम बड़े व्यापारियों एवं अभिजात वर्ग के लिए लाभदायी थे। अंग्रेजी समाज की पचास प्रतिशत से अधिक जनसंख्या ग़रीब थी, जो युद्ध में संसद की सफलता के बाद भी निराश ही रही। परन्तु 1640-1660 के बीच, इस गरीब, निराश व कमजोर जनता के प्रतिनिधियों के कुछ नए दल सामने आए जिन्होंने स्वतंत्र एवं जोरदार रूप से खुलकर अपने विचार व्यक्त किए। उन्होंने तत्कालीन समस्याओं के ऐसे समाधान प्रस्तुत किए जो उच्च वर्गीय भद्रजनों की इच्छाओं तथा स्वार्थ के विरुद्ध थे। उन्होंने सामान्य एवं उपेक्षित वर्गों के अधिकारों पर बल दिया। धनवान, संपत्तिवान व प्रतिष्ठा प्राप्त वर्ग ने स्वयं ही अपने स्वार्थ के लिए इस निम्न वर्ग को राजनीति में सक्रिय भाग लेने को उकसाया था। परन्तु अपने विरोधी (अर्थात् राजा) को हराने के बाद जब इन्होंने अपने उद्देश्य की पूर्ति कर ली तो ये भद्रजन, जो अब तक विद्रोही थे, शांति-समर्थक बन गए। सजग निम्नवर्गीय प्रतिनिधियों को यह समझते देर न लगी कि उनके साथ धोखा हुआ है और उच्च वर्गों ने अपनी उद्देश्य-पूर्ति के लिए उनका उपयोग किया है। अतः वे उच्च वर्ग के लाक्षणिक संकेतों, जैसे असीमित संपत्ति, भूमि का कुछ के हाथों में केन्द्रीकरण, सामाजिक उच्च स्थान के कारण विशेषाधिकार आदि के विरोधी बन गए। उच्च वर्ग अपने अधिकारों व संपत्ति को खतरा उत्पन्न होते देख भयभीत हो उठा और उसने संगठित होकर इस निम्न वर्ग की क्रान्ति को कुचल दिया।

समतावादी: धार्मिक स्वतंत्रता, राजनीतिक समानता व व्यक्तिगत इच्छा के विचार सर्वप्रथम समतावादी लिलबर्न ने प्रस्तुत किए थे। ये विचार 1647 के उस संविधान में सम्मिलित किए गए थे जिन पर पुटनी में बहस हुई थी। लिलबर्न ने 1647 में लंदन में कहा था कि शक्ति केवल तलवार में है और सैनिकों का न्यायसंगत व नैतिक दृष्टि से उचित कार्य उतना ही न्यायोचित है जितना कि जज द्वारा बनाया गया कानून। लिलबर्न के साथी वाइल्डमैन का कहना था कि इंग्लैण्ड में हर व्यक्ति को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार है, इसलिए जब लोक-अनुबंध (Agreement of the People) बनाया गया तो उसमें वयस्क मताधिकार, संसद के नियमित अधिवेशन, धर्मशुल्क (tithe) में कमी और मुक्त व्यापार जैसे अनुबंधों को शामिल किया गया। सैनिक समतावादियों ने घोषणा की, "हम धन के लालची सैनिक नहीं हैं जिन्हें किसी भी निरंकुश राज्यसत्ता की सेवा करने के लिए किराए पर रखा गया हो; हम तो अपने तथा आम लोगों के अधिकार व स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए आगे आए हैं।" जब लिलबर्न, वालविन व अन्य नेता 1649 में क़ैद कर लिए गए तब समतावादी प्रचार-पत्र में सैनिकों से अपील की गई कि वे अपने स्थान पर अड़े रहे और किसी भी प्रकार के अत्याचार का यथाशक्ति विरोध करें, विशेषकर अध्यक्षों का जिन्होंने सामाजिक सुधार का तिरस्कार कर दिया और ग़रीबों के लिए कुछ भी नहीं किया। उनका कहना था कि पहले हम पर राजा,

नोट

लॉर्ड व कॉमंस का राज्य था, अब जनरल, कोर्ट मार्शल व हाउस ऑफ कॉमंस का राज्य है। पर दोनों में कोई अंतर नहीं दिखाई पड़ता।

डिगर्स: डिगर्स दल समतावादी दल से उग्रता में एक क़दम आगे था। विन्स्टेनली (Winstanley) के नेतृत्व में डिगर्स या 'वास्तविक समतावादी' दल ने संपत्ति पर संयुक्त अधिकार जताया। ये आंदोलनकारी प्रत्यक्ष कार्यवाही से लोगों को ज़मीन दिलाना चाहते थे। इनका कहना था कि संसद की विजय से इंग्लैण्ड की भूमि पर अब कोई नियंत्रण नहीं रहा। राजा, कुलीन व अन्य भूस्वामी अब हार चुके हैं, इसलिए भूमि अब लोगों की है। 1649 में कुछ डिगर्स ने सरी (Surrey) में ज़मीन खोदनी आरंभ कर दी। वे सामूहिक रूप से उस पर खेती करना चाहते थे। सैनिकों ने शीघ्र ही व आसानी से अल्पसंख्यक आंदोलकारियों को कुचल दिया। यह दल सांविधानिक की अपेक्षा आर्थिक मामलों में ज्यादा जागरूक था। यह अमीर के विरुद्ध ग़रीब एवं उच्च वर्गों के विरुद्ध साधारण जनता के अधिकारों को स्थापित करना चाहता था। अक्टूबर 1647 में इन विचारों से प्रभावित सैनिकों ने माँग की कि किसी भी ड्यूक, अर्ल या मारक्विस की आय 2,000 पौंड प्रतिवर्ष से अधिक नहीं होनी चाहिए और अन्य लोगों की आय पर भी प्रतिबंध लगाकर उसे कम करना चाहिए। एक अज्ञात लेखक ने प्रचार-पत्र में लिखा कि अमीर चोर एकत्र होकर नियम बनाते हैं और उसे कानून की संज्ञा दे देते हैं। इस कानून के द्वारा वे ग़रीब आदमी का सब-कुछ छीन लेते हैं और ग़रीबी से विवश होकर जब वह चोरी करता है तो उसे सज़ा देते हैं। इसी प्रकार एक समतावादी प्रचार-पत्र में यह प्रश्न उठाया गया कि, "क्या सारा झगड़ा इस बात को लेकर नहीं है कि गरीब किसके सेवक बने?" डिगर्स आंदोलन ने प्रचलित सामाजिक व्यवस्था के लिए चुनौती प्रस्तुत की और शायद ग्रामीण कृषक समूह के स्तर पर, समतावादी आंदोलन से अधिक खतरा उत्पन्न किया। पर राजनीतिक आपत्ति के रूप में डिगर्स आंदोलन का प्रभाव नहीं के बराबर था। उस समय के लिए डिगर्स व उनके प्रभावशाली नेता, गेरार्ड विन्स्टेनली (Gerard Winstanley) ने कोई कारगर साधन प्रस्तुत नहीं किया। संसद के भूस्वामी वर्ग के अपेक्षाकृत रूढ़िवादी सदस्यों को भयभीत करके, डिगर्स आंदोलन ने संभवत: सीमित लोकतंत्र या उग्रवादी विचारों पर आधारित समाधान का अवसर भी खो दिया।

फ़िफ्थ मोनार्की (Fifth Monarchy) : फ़िफ्थ मोनार्की दल के सदस्यों का विश्वास था कि संसार में चार ईश्वरीय राज्य समाप्त हो चुके हैं और पाँचवाँ यानी भगवान के दासों की सत्ता, अब आरंभ होने वाली है। इस राज्यकाल में मसीहा दुबारा धरती पर आएँगे। उनका आगमन जब क़रीब है जो जब तक वे नहीं आते, तब तक राज्य का अधिकार इस दल के सदस्यों के हाथों में है। वे ईश्वर के निडर सिपाही थे जो मनुष्य द्वारा बनाए गए कानूनों को पैरों तले रौंदने पर आमादा थे। उनका विचार था कि मसीहा सभी लोगों में व्याप्त है। समतावादियों के समान ये भी 'धर्म-शुल्क' (tithe) की माँग करने वाले पादरी न्यायाधीश एवं धनवान वर्ग के विरुद्ध थे। वे प्रत्यक्ष सैनिक कार्यवाही द्वारा "फ़िफ्थ मोनार्की" स्थापित करने के इच्छुक थे। यह दल अधिक प्रभावशाली नहीं हुआ।

क्वैकर: धार्मिक दल क्वैकर ने, तत्कालीन समाज व राजनीति को अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित किया। यह दल पादरियों को सभी बुराइयों की जड़ मानता था और 'टाइद' को ग़रीबों को लूटने का उपाय मानता था। वे विश्वास करते थे कि ज़मीन भग़वान की है, इस पर कुछ गिने-चुने लोगों का ही नहीं वरन् सभी का समान अधिकार है। यह दल धार्मिक सहिष्णुता विशेषकर प्यूरिटनों के लिए धार्मिक सहिष्णुता, के पक्ष में था। 'धर्मशुल्क' का विरोध इन सभी उग्रवादियों ने किया। इस विरोध ने राजचर्च का ढाँचा ही हिला दिया, क्योंकि पादरी यदि अपने अनुयायियों से यह शुल्क नहीं ले सकते थे तो उनके लिए कोई सांविधानिक कर ही नहीं रह जाता जिससे वे अपनी गुजर-बसर कर सकते। 1647 के समतावादी प्रस्ताव व तीसरे लोक अनुबंध (मई 1649) में भी "टाइद" समाप्त करने की, कोई अन्य कर न लगाने की और लोगों को अपना पादरी चुनने का अधिकार देने की इच्छा व्यक्त की गई। क्वैकर यह कहते थे कि पादरी का धार्मिक भाषण समाप्त होने के बाद, लोगों को वक्तव्य देने का अधिकार है। क्वैकर जॉर्ज फ़ॉक्स ने एक बार धार्मिक भाषण के बाद बोलना आरंभ कर दिया। तो पादरी ने विरोध करते हुए कहा कि वह उसकी समयावधि में भाषण किस अधिकार से दे रहा है। फ़ॉक्स ने उत्तर दिया कि स्वयं पादरी ने अन्य लोगों की

नोट

समयावधि में भाषण देकर संविधान का उल्लंघन किया है। यह धार्मिक अवरोध 1656 के 'लॉर्डस डे ऐक्ट' द्वारा ही समाप्त किया जा सका जिसके अंतर्गत अवरोध पैदा करने वालों को दंड दिया जा सकता था।

क्वैकर नेता फ़ॉक्स ने 1653 में भद्रजनों को चेतावनी देते हुए घोषणा की: "ओ धरती के धनवान व महान लोगो–रोओ और चिल्लाओ क्योंकि तुम्हारी मुसीबत के दिन अब क़रीब आ गए हैं...आग लग गई है...भगवान का दिन नज़दीक आ रहा है...आदमी का अभिमान अवश्य नीचे गिरना चाहिए।"

1659 में बरो ने उस सामाजिक सर्वोच्चता, शोषण व अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाई जिसके द्वारा कुछ मनुष्यों को ऊपर उठाकर ग़रीबों को अपने पैरों तले रौंदने का अधिकार मिला था। नेलर ने कहा कि भगवान उन लोगों का विरोधी है जो लालची, निर्मम तथा शोषक हैं और जो गरीब एवं जरूरतमंद का दमन करते हैं। फ़ॉक्स ने सुझाव दिया कि बड़े-बड़े घर, गिरजाघर आदि ग़रीब-घरों में परिवर्तित कर दिए जाने चाहिए और चर्च की भूमि से प्राप्त आय ग़रीबों की देखभाल में व्यय की जानी चाहिए। पियरसन ने सुझाव दिया कि जिस प्रकार अमीरों को कोर्ट ऑफ़ वार्ड समाप्त करके लाभ पहुँचाया गया था उसकी प्रकार 'टाइद' समाप्त करके ग़रीबों की भलाई की जानी चाहिए।

ऐसे सुझाव तत्कालीन उच्च वर्ग को सशंकित करने के लिए पर्याप्त थे। संपत्तिवान अनुभव करने लगे कि ये विचार उग्र-राजनीतिक कार्यवाही के अग्रदूत हैं। 1655 में हेनरी क्रॉमवैल ने कहा था, "हमारे, सबसे बड़े शत्रु इस समय क्वैकर हैं", जिनकी धारणाएँ, उसके विचार में, सरकार व सैनिक शासन दोनों ही के विरुद्ध थीं।

सभी व्यक्ति 'सत्य' की अपनी ही परिभाषा देने लगे थे। जैसा कि मिल्टन ने संकेत किया, "सत्य का उन्मुक्त व्यापार आरंभ हो गया।" सामंतवादियों, क्वैकर व अन्य दलों के राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक विचार महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि वे उस समय के सामान्य नागरिक की आकांक्षाएँ प्रतिबिंबित करते हैं। पर व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाए तो इन्होंने राजनीति पर कुछ प्रभाव नहीं छोड़ा। सत्ताधारियों ने अपनी संपत्ति व सामाजिक प्रतिष्ठा पर चोट लगते देख, बलपूर्वक इन दलों के नेताओं को निर्ममता से कुचल दिया। समतावादियों को जन-विद्रोह करने के दो अवसर मिले, पर उनके विरोधियों की संख्या, प्रभाव व शक्ति देखते हुए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वे दोनों ही अवसरों पर असफल रहे। इस प्रकार ये विद्रोही एवं उत्साही आंदोलनकर्ता इतिहास का एक अंशमात्र बनकर रह गए। परन्तु इसी समय एक राजनीतिक विचारक टॉमस हॉब्स (Thomas Hobbes) ने, जिसकी रचनाएँ इस काल की घटनाओं को प्रतिबिंबित करती हैं, अपने नीति-शास्त्र को अंतिम रूप दिया। उसके विचारों ने भविष्य की राजनीतिक विचारधारा को गंभीर रूप से प्रभावित किया है। हॉब्स का दर्शन प्रोटेस्टेंट विचारधारा का धर्म-निरपेक्ष रूप है। उसके विचार में मनुष्य सत्ता के पीछे भागता है या फिर उसके कार्य इस भय से संचालित होते हैं कि सत्ता के लिए संघर्ष होने पर भयंकर परिणाम होंगे और इसलिए संघर्ष की संभावना समाप्त कर देनी चाहिए।

लेखक-कवि मिल्टन भी इसी समय का है। उसका विचार था कि जब भी लोग ठीक समझें वे राजा को चुन सकते हैं, उसका तिरस्कार कर सकते हैं। उसे गद्दी से उतार सकते हैं, क्योंकि स्वतंत्र आदमी को यह चयन करने का अधिकार है कि उसे किन नियमों के अधीन रहना है व कौन-से नियम उसके लिए सर्वोत्तम हैं। राजा व मजिस्ट्रेट लोगों के प्रतिनिधि हैं और उनके कार्य-संपादन के लिए नियुक्त किए गए हैं, इसके विपरीत सोचना भी मानव-जाति के गौरव के विरुद्ध है। इतिहासकार हिल के अनुसार, मिल्टन की तीनों रचनाएँ (**पैराडाइज लॉस्ट, पैराडाइज री-गेन्ड** तथा **सैमसन एगोनिस्टीज़**) क्रान्ति की असफलता की समस्या से जूझ रही हैं और इस असफलता का कारण ढूँढ़कर, हार से आगे भविष्य की ओर आशाजनक निगाहों से देखने का प्रयत्न कर रही हैं। यह मिल्टन की महानता है कि पूर्ण असफलता के समय में–जब डिगर्स व समतावादी शांत हो गए थे और क्वैकर ने राजनीति छोड़ दी थी–उन्होंने उग्र मानसिक सफलता के प्रतीक बौद्धिक विचार जीवित रखे।

1640-1660 के दौरान जो बौद्धिक क्रान्ति हुई, वह उस समय तो कुचल दी गई, परन्तु ये नवीन विचार धीरे-धीरे इंग्लैण्ड के इतिहास में सम्मिलित हो गए और उसका अभिन्न अंग बन गए।

नोट

क्रॉमवैल, गणतंत्र और प्रोटेक्टोरेट (1649-1660): क्रॉमवैल ने समतावादी आंदोलन को कुचल दिया। परन्तु इससे एक बात निश्चित हो गई कि राजतंत्र व हाउस ऑफ़ लार्ड्स की दुबारा स्थापना होगी। कारण यह था कि इन आंदोलनों को कुचलने से कुलीन वर्ग के लोग जनता का विश्वास खो बैठे। अब वह केवल सेना के बल पर ही शासन कर सकते थे। यह बहुत ही कठिन व महँगा प्रयास था। कुलीनों के समक्ष दूसरा रास्ता था पुरानी व्यवस्था के बचे हुए प्रतिनिधियों से समझौता करके शासन करने का प्रयत्न करना। इस प्रकार, अगले 11 वर्षों में इंग्लैण्ड में राजा के बिना सेना के बल पर शासन करने का प्रयास किया गया जो विफल सिद्ध हुआ और 1660 में राजतंत्र की पुन: स्थापना हुई।

इन बीच के 11 वर्षों (1649-1660) में अंग्रेज एक स्थायी गणतंत्रीय सरकार की स्थापना करने में असफल प्रयत्न करते रहे तथा इंग्लैण्ड को गणतंत्र घोषित कर दिया गया। यह घोषणा की गई कि "जनता ईश्वर के अधीन है।" परन्तु इंग्लैण्ड गणतंत्र के लिए तैयार नहीं था, इसलिए गणतंत्र-शासन सफल नहीं हो पाया। 1649 से 1653 के मध्य तक राज्य का संचालन दीर्घ संसद के बचे हुए सदस्यों ने किया जिसे 'रंप संसद' नाम दिया गया।

1642 में संसद ने बिना राजा के राज्य करने का अधिकार प्राप्त कर लिया था, जब हाउस ऑफ़ कॉमंस ने पूर्ण सांविधानिक सत्ता अपने हाथ में ले ली। इसकी कार्यकारिणी 'राज्य परिषद्' (Council of State) में सेना-अधिकारियों का दबाव था और सेना में क्रॉमवैल की शक्ति निर्विवाद थी। दूसरा सदन (हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स) पहले ही समाप्त किया जा चुका था। पियर वर्ग को जो सांविधानिक अधिकार व सुविधाएँ प्राप्त थीं, उन्हें छीन लिया गया, यद्यपि उनकी उपाधियाँ क़ायम रखी गई क्योंकि इंडिपेंडेंट नेताओं में से अधिकांश कुलीन थे, समतावादी नहीं। समतावादी कुलीनों को पसंद नहीं करते थे यह समझते थे कि उन्हें कुलीन वर्ग के हितों के लिए बेच दिया गया है। परन्तु इसमें भी शक नहीं कि इन वर्षों में पियर वर्ग की सामाजिक व राजनीतिक प्रतिष्ठा व शक्ति अस्थायी रूप से समाप्त हो गई थी।

कॉमनवेल्थ के दो प्रमुख शत्रु अब कुचले जा चुके थे, परन्तु प्रशासन में अभी कोई स्थायी व्यवस्था के आसार नहीं दिखाई पड़ रहे थे।

विदेश नीति पर भी मतभेद उत्पन्न हो गया। बहुत से लोग यह विश्वास करते थे कि इंग्लैण्ड में गणतंत्र स्थापित हो जाने से, यूरोप के अन्य गणतंत्रीय देश (जैसे नीदरलैण्ड) इंग्लैण्ड के मित्र बन जाएँगे। परन्तु इंग्लैण्ड व हॉलैण्ड के बीच व्यापारिक प्रतिस्पर्धा इस मित्रता में बाधा थी। 1651 के नौसेना कानून के अंतर्गत यह अधिनियम पारित किया गया कि इंग्लैण्ड में आने वाला सामान केवल इंग्लैण्ड के या उस देश के जहाज़ों में आएगा जिस देश से माल आ रहा है। यह हॉलैण्ड के लिए सीधी चुनौती थी क्योंकि इससे पहले डच जहाज़ ही माल लाते और ले जाते थे। शीघ्र ही युद्ध आरंभ हो गया। यह युद्ध 1654 में समाप्त हुआ। हॉलैण्ड ने नौ-सेना कानून स्वीकार किया।

इस बीच सेना, रंप के कार्य करने के धीमे तरीक़े से, तंग आ चुकी थी। अंत में सेना ने क्रॉमवैल को मजबूर किया किया कि वह रंप को भंग कर दे। एक बार फिर इंग्लैण्ड के सामने सरकार का रूप निश्चित करने की समस्या थी। 1641 की सभी संस्थाएँ राजा, हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स, हाउस ऑफ़ कॉमंस नष्ट की जा चुकी थीं। केवल सेनाध्यक्ष के रूप में क्रॉमवैल ही एक सांविधानिक शक्ति बची थी।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. लिलबर्न ने ..... में कहा था कि शक्ति केवल तलवार में है।

   (क) 1647 (ख) 1547 (ग) 1747 (घ) 1847

नोट

5. ..... के दौरान जो बौद्धिक क्रान्ति हुई थी, वह उस समय कुचल दी गई थी।

(क) 1610–1630 (ख) 1620–1640 (ग) 1640–1660 (घ) 1660–1680

6. ..... में क्रॉमवैल एक विशाल सेना लेकर आयरलैंड गया था।

(क) 1549 (ख) 1449 (ग) 1749 (घ) 1649

क्रॉमवैल ही एक ऐसा व्यक्ति था जो इन दोनों विपक्षी दलों का समर्थन व सहायता प्राप्त कर सकता था। वह सेनाध्यक्ष भी था और जन्म से कुलीन भी। सैनिक उस पर विश्वास रखते थे क्योंकि वह उनके साथ सहानुभूति प्रदर्शित करता था और उसके अधीन सेना सदा विजयी रहती थी। उन्हें विश्वास था कि क्रॉमवल उन्हें वेतन दिलवाएगा और उनके साथ अच्छा सलूक किया जाएगा।

क्रॉमवैल इन उग्रवादियों के विचारों का समर्थन करने को तैयार था जिससे निचले वर्गों का उत्थान हो परन्तु साथ ही वह कुलीन वर्ग की स्थिति, शक्ति व स्थान को कम करना नहीं चाहता था। वह चाहता था कि कुलीन वर्ग अपनी राजनीतिक शक्ति का प्रयोग अपने से नीचे के वर्गों के लोगों की भलाई के लिए करे।

रंप भंग करने के बाद दो दलों ने क्रॉमवैल के सामने दो उपाय रखे। लैम्बर्ट ने शक्ति का संगठन एक छोटी कार्यकारिणी राज्य परिषद् के हाथ में देने का सुझाव दिया। दूसरा सुझाव हैरिसन ने दिया जोकि नियुक्त एवं चुने हुए सैनिकों की सभा द्वारा शासन चलाना चाहता था। क्रॉमवैल ने बीच का मार्ग अपनाया। 140 सदस्यों को सेना परिषद् ने चुना। इसे 'बेयरबोन संसद' का नाम दिया गया है। यह संसद अव्यावहारिक एवं आदर्शवादी साबित हुई। इसका पतन दो प्रश्न उठाने की वजह से हुआ–(1) क्या चर्च के पुजारियों को रखने के लिए 'टाइद' नामक धर्मशुल्क जारी रखा जाए और (2) कानून में सुधार सीमित रूप से एवं एक-एक करके किए जाएँ या एकदम व पूर्ण रूप से किए जाएँ जैसा कि सुधारवादी चाहते थे। इससे अनुदार लोग डर गए और एक दिन जब उग्रवादियों की संख्या कम थी तो संसद ने स्वयं को भंग कर दिया।

बेयरबोन संसद उग्रवादियों का अंतिम अवसर था। अब क्रॉमवैल अनुदार वर्ग के पक्ष में हो गया और उनके द्वारा बनाए गए संविधान 'शासन के साधन' (Instruments of Government, 1653) से क्रॉमवैल ने लॉर्ड, प्रोटेक्टर या 'राज्य के संरक्षक' का पद संभाला। शासन में सहायता के लिए उसे पंद्रह सदस्य वाली परिषद् दी गई। कानून-निर्माण के लिए एक सदनीय संसद की स्थापना की गई।

प्रथम संरक्षक संसद की बैठक 1654 में हुई। यह संसद की स्टुअर्टकालीन संसद के समान कार्यकारिणी की शक्ति पर अंकुश लगाना चाहती थी। क्रॉमवैल इसे संविधान के अंतर्गत चुनी हुई सभा मानता था पर संसद का विचार था कि 'शासन के साधन' पर संसद में वाद-विवाद व विचार-विमर्श होना चाहिए क्योंकि किसी को, कोई भी संविधान, संसद पर थोपने का अधिकार नहीं है। क्रॉमवैल ने संसद का यह अधिकार स्वीकार किया परन्तु निम्नलिखित चार सिद्धांत रखे: (1) कार्यकारिणी व व्यवस्थापिका सभा में राज्यसत्ता का विभाजन; (2) स्थायी संसद पर रोक; (3) धार्मिक सहनशीलता; और (4) सेना की स्वतंत्रता। ये चारों शर्तें सेना को पसंद नहीं आईं। इससे यह स्पष्ट हो गया कि कोई भी संसद, जोकि संपत्तिवान वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, विशाल सेना का खर्च वहन नहीं करेगी। अब संसद ने एक नया संविधान बनाया जिसमें कार्यकारिणी सेना, करारोपण व चर्च पर संसद का नियंत्रण पूर्णरूप से स्थापित करने की व्यवस्था थी। क्रॉमवैल ने संसद को अपने नियंत्रण से बाहर जाते देख उसे भंग कर दिया।

इसी समय कुछ राजा-समर्थकों ने विद्रोह किया। क्रॉमवैल ने विद्रोह दबा दिया परन्तु उसे सैनिक शासन स्थापित करने का बहाना मिल गया। पूरे इंग्लैण्ड को 11 जिलों में बाँटकर प्रत्येक में एक मेजर-जनरल नियुक्त किया गया। प्रशासन का काम इन मेजर-जनरलों ने अपने हाथों में ले लिया। इन्हें चोरी की सजा देने से लेकर गरीबों की भलाई के लिए कानून लागू करना, शराबघरों को लाइसेंस आदि देना जैसे सभी काम सौंपे गए। परन्तु शहरों में व ग्रामीण क्षेत्रों में उन्हें सीमित सहायता ही प्राप्त हुई। मेजर-जनरलों ने धार्मिक सहिष्णुता लागू की। जस्टिस ऑफ़ पीस (Justice of

नोट

Peace) को काम करने पर मजबूर किया और अपनी अधीनस्थ सेना के बल पर अपने कानून लागू करवाए। इस कारण इस योजना के द्वारा सैनिक व असैनिक शासन के मध्य तनाव में वृद्धि हुई। इस प्रशासन द्वारा स्थानीय शासन पर केन्द्रीय शासन का पूर्ण नियंत्रण हो गया। कुलीनों को यह पसंद नहीं आया। उन्होंने चार्ल्स के व्यक्तिगत शासन का विरोध केन्द्रीय सरकार को मजबूत बनाने के लिए नहीं किया था।

सैनिक शासन लागू किए जाने के सभी विरोधी थे। पुराने रंप सदस्य, समतावादी व धार्मिक उग्रवादी, सभी ने इसका विरोध किया। सरकार चलाने के लिए अब सेना की आवश्यकता हो गई थी। परन्तु सैनिकों को वेतन देने के लिए धन नहीं था। मेजर-जनरलों को धन देने के लिए राजतंत्र सहयोगियों पर 'डेसीमेशन' (आय का 1/10 भाग) कर लगाया गया जो कारगर सिद्ध नहीं हुआ क्योंकि यह संसद ने नहीं लगाया था। इसकी असफलता से लोगों को डर हो गया कि कहीं सरकार उनकी भूमि छीननी आरंभ न कर दे। धीरे-धीरे संपत्तिवान वर्ग खतरे को समझकर एकता की ओर अग्रसर हो रहा था। क्रॉमवैल को धन की आवश्यकता थी, इसलिए उसने संसदीय चुनाव कराए। मेजर-जनरलों के प्रयास के बावजूद वे चुनावों को प्रभावित करने में असफल रहे और ऐसी संसद चुनी गई जो मेजर-जनरल शासन की पूर्णतया विरोधी थी।

संसद की बैठक में डेसीमेशन कर को लगाए रखने के विरोध में प्रस्ताव पास किया गया। यह मेजर-जनरलों में अविश्वास का प्रस्ताव था। इस संसद ने मार्च 1657 में क्रॉमवैल के सामने विनीत प्रार्थना तथा परामर्श (Humble Petition and Advice) रखा। इसमें क्रॉमवैल को राजा बनाकर सीमित राजतंत्र की स्थापना व स्थानीय शासन को 'स्वाभाविक शासकों' (natural leaders) के हाथ में देने की योजना बनाई गई। हाउस ऑफ़ कॉमंस द्वारा नियुक्त किए गए सदस्यों वाले एक और सदन, हाउस ऑफ लॉर्ड्स की पुन: स्थापना की योजना भी बनाई गई और संसद को सेना-नियंत्रण व करारोपण का अधिकार दिया गया।

क्रॉमवैल को राजा की पदवी देने का एक कारण था कि उस पर तभी एक घातक हमला हुआ था। यदि ऐसा कोई और आक्रमण सफल हो जाता तो फिर उत्तराधिकारी का प्रश्न उठता। यदि क्रॉमवैल राजा बनना स्वीकार कर लेता तो स्वाभाविक तौर पर उसके बाद उसका पुत्र उत्तराधिकारी स्वीकार कर लिया जाता। परन्तु इस प्रस्ताव के पीछे एक प्रमुख कारण था, जैसा कि सेंट जॉन (St. John) ने कहा, "वे जानते थे कि राजा क्या कर सकता है, पर वे यह नहीं जानते कि संरक्षक (Protector) क्या कर सकता है।" इसलिए क्रॉमवैल की शक्ति को कम करने के लिए यह प्रस्ताव पास किया गया। फिर राजतंत्र की पुन:स्थापना का अर्थ कानून के राज्य (rule of law) की पुन:स्थापना भी हो सकता था। सेना ने इस प्रस्ताव को नापसंद किया क्योंकि एक तो, उनमें से कुछ तो, सचमुच ही गणतंत्रवादी थे। दूसरे, वे समझ गए कि यह प्रस्ताव विशेष रूप से सेना के विरुद्ध है। दबाव में आकर क्रॉमवैल ने राजमुकुट ठुकरा दिया परन्तु संशोधित 'विनीत प्रार्थना तथा परामर्श' स्वीकार किया जिससे दूसरे सदन के सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार क्रॉमवैल के हाथ में रहा। जब संसद का अधिवेशन आरंभ हुआ तो दूसरे सदन में केवल दो पुराने पियरों को छोड़कर, सभी सदस्य, सेनाध्यक्ष, उनके संबंधी व मित्र थे। वह किसी भी कानून का निषेध (veto) कर सकते थे। इसलिए, संसद का कार्यकारिणी पर नियंत्रण पहले जितना ही दूर था। परन्तु क्रॉमवैल के सैनिक-असैनिक मित्रों में एकता लाना असंभव था। जब संसद ने क्रॉमवैल के कार्यों में बाधा उत्पन्न करनी प्रारंभ की तो क्रॉमवैल ने इसे भंग कर दिया। यह उसकी आखिरी संसद थी। कुछ ही महीनों बाद उसकी मृत्यु हो गई।

क्रॉमवैल के बेटे, रिचर्ड क्रॉमवैल ने गणतंत्र का कार्यभार संभाला। वह न तो महत्वाकांक्षी था, न ही योग्य। वह न तो राजनीतिज्ञ था और न ही सैनिक। इस कारण वह सेना को भी नियंत्रित नहीं कर सकता था। उसने बागडोर संभालते ही संसद का अधिवेशन बुलाया, परन्तु सेना का संसद के साथ मतभेद हो गया। संसद, सेना को अपने नियंत्रण में करना चाहती थी, जिसके लिए सेना तैयार न थी। संसद ने सेना को वेतन देने से इन्कार कर दिया और सैनिक अधिकारियों के अत्याचार की जाँच की। उसने यह माँग भी रखी कि सेना संसद की सुरक्षा की शपथ ले और सेना-परिषद् की बैठक संसद की स्वीकृति के बिना न हो। सेना को यह स्वीकार नहीं था। रिचर्ड ने सेना को भंग किए जाने का आदेश दिया। उत्तर में सैनिक अधिकारी फ्लीटवुड (Fleetwood) ने संसद को भंग करने का आदेश

नोट

दिया। संसद ने अपनी हार स्वीकार की और स्वयं को भंग कर दिया। रिचर्ड ने 1659 में ही त्यागपत्र दे दिया और यूरोप चला गया।

अक्टूबर 1659 में, सैनिकों ने शासन को सांविधानिक रूप देने के लिए, 'रंप' को बुलाया। रंप ने वे सभी कानून अवैध घोषित कर दिए जो उसके भंग होने के बाद पारित किए गए थे। जनरल लैम्बर्ट ने माँग की कि सैनिकों की इच्छानुसार संविधान में परिवर्तन किए जाएँ, पर संसद ने इसका जवाब लैम्बर्ट को उसके पद से हटा दिया। सेना रुष्ट हो गई और संसद फिर भंग कर दी गई। नवीन संविधान बनाने के लिए सुरक्षा-समिति का गठन किया गया। सैनिक-असैनिक शासन में अल्पकालीन सहयोग समाप्त हो गया।

इंग्लैण्ड में अराजकता फैलने के आसार दिखाई देने लगे। राज्य में कोई सक्षम सरकार नहीं थी। गणतंत्र रूपी सरकार में लोगों का विश्वास समाप्त हो गया था। जो लोग पहले खुले तौर पर राजा के समर्थन में नहीं बोलते थे, अब कहने लगे कि राजतंत्र की स्थापना के अलावा कोई रास्ता नहीं है। निष्कासित चार्ल्स द्वितीय के अनेक समर्थक हो गए। ऐसे समय में स्कॉटलैण्ड को भेजी गई सेना के सेनापति ने स्कॉटलैण्ड छोड़कर लंदन की ओर प्रस्थान किया। उसने घोषणा की कि यदि जनरल लैम्बर्ट तथा अन्य अधिकारी हथियार डाल देंगे तो वह स्वतंत्र संसद बुलाएगा। इंग्लैण्ड की सेना युद्ध की इच्छुक न थी। इस कारण उसने जनरल मौंक के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। मौंक ने लंदन पहुँचकर स्वतंत्र संसद के चुनाव के आदेश दिए। सांविधानिक शक्ति (राजा) द्वारा न बुलाए जाने के कारण इसे 'कनवेंशन संसद' का नाम दिया गया है।

8.4 क्रॉमवैल व गणतंत्र: निष्कर्ष (Cromwell and Republic : Gist)

1648-1649 में सीमित क्रान्ति हो चुकी थी। राजा पर मुक़दमा चलाकर उसे मृत्युदंड दिया जा चुका था और राजतंत्र भी समाप्त किया जा चुका था। हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स का अस्तित्व समाप्त कर, पूर्ण सांविधानिक शक्ति का वास हाउस ऑफ़ कॉमंस में कर दिया गया था। रंप-संसद ने गणतंत्र सरकार की स्थापना की और कुछ समय बाद ही इंग्लैण्ड में गणतंत्र घोषित कर दिया गया। रंप ने अधिकांश समय राज-समर्थकों को दंड देने के लिए कानून बनाने में गँवाया। रंप की मुख्य कमी यह थी कि वह किसी के प्रति उत्तरदायी न थी। ऐसा प्रतीत होता था कि रंप बिना समर्थन के, अपने को ही सत्ता में बनाए रखने के प्रयास मे संलग्न है। इतिहासकार ऐलमर व वेरोनिका वैजवुड का विचार है कि 1648-49 में दीर्घ संसद की अपेक्षा सेना राष्ट्रीय विचार एवं आकांक्षाओं को अधिक विश्वस्त रूप से प्रतिबिंबित करने लगी थी। परन्तु 1651-53 तक संसद व सेना दोनों संस्थाएँ जनता से विमुख हो चुकी थीं।

बेयरबोन संसद भी कोई स्थायी राजनीतिक व्यवस्था का हल प्रस्तुत करने में असफल रही। इस संसद ने सांविधानिक समस्या का हल निकालने के स्थान पर अपना अधिक समय वित्त व न्याय संबंधी विषयों पर विचार करने में व्यतीत किया। 1653-57 के मध्य सांविधानिक समस्या का हल निकालने के दो प्रयत्न और किए गए–**शासन के साधन** (1653) और **विनीत प्रार्थना तथा परामर्श** (1657)। इनमें से पहला अर्थात् 'शासन के साधन' (Instruments of Government) जहाँ अल्पतंत्र द्वारा, सेना को राज्य का अभिन्न अंग मानकर, राज्य करने का प्रयास था वहाँ विनीत प्रार्थना तथा परामर्श मूलत: पुन: स्थापना की ओर महत्त्वपूर्ण कदम था।[1]

गणतंत्र के संस्थापकों ने यदि अपने गणतंत्र-राज्य का निर्माण किसी और रूप में किया होता तो और ज्यादा गणतांत्रिक तत्व बचाए जा सकने की संभावना थी। पुन: स्थापना-समझौता गणतंत्र की असफलता का पैमाना है। अंग्रेज 1660 तक इस बात के इच्छुक हो गए थे कि राजा व राजतंत्र वापस आ जाए जिससे "राज्य फिर से अपनी पुरानी परंपरागत राह पर वापस लौट आए"।[2]

1. Burnet, quoted in Thirsk, Restoration, p. XI.
2. Aylmer, Interrugnum, The Quest for Settlement, p. 19.

नोट

पुनः स्थापना, 1660

जनरल मौंक के परामर्श पर चार्ल्स द्वितीय ने 'ब्रेडा की घोषणा' की। इसके द्वारा उसने वचन दिया कि वह (1) सेना को बकाया वेतन देगा, (2) जिन्होंने गृहयुद्ध में भाग लिया था उन्हें माफ़ कर देगा, (3) धार्मिक स्वतंत्रता रहेगी, और (4) संसद के द्वारा ही भूमि के स्वामित्व का समझौता होगा।

संसद ने इस घोषणा को सुना व सराहा। इंग्लैण्ड में राजतंत्र होगा तथा द्विसदनीय संसद होगी, राजा केवल संसद की सहायता से शासन करेगा, यह निश्चित करके इस कनवेंशन संसद ने चार्ल्स द्वितीय को राजा स्वीकार करके इंग्लैण्ड आने का निमंत्रण दिया। अंग्रेजी भद्रजनों की परिवर्तन-विरोधी इच्छाओं व प्रवृत्ति की जीत हुई। चार्ल्स ने मई 1660 को लंदन में प्रवेश किया। वह 1641 के उस संविधान को लागू करने आया जोकि संसदीय भद्रजन सदा ही सुरक्षित रखना चाहते थे, राजा व भद्र-वर्ग ने अपनी साझेदारी दुबारा स्थापित की और एक समय से पुराने (outdated) संविधान के अनुसार कार्य करने का प्रयत्न आरंभ किया।

1660 की पुनः स्थापना राजा से अधिक उस वर्ग की पुनःस्थापना थी जिसका प्रतिनिधित्व संसद करती थी। 'कनवेंशन संसद' ने राजा को बुलाया था, राजा ने संसद को नहीं।

राजतंत्र के साथ-साथ पारंपरिक उच्च वर्ग भी पुनः सत्तारूढ़ हो गया। हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स को स्थापित किया गया और कुछ समय बाद ही बिशपों को उच्च सदन में स्थान प्राप्त करने का अधिकार और चर्च के शासन में ऐंग्लिकनों को नियुक्त किया जाने लगा। स्थानीय शासन व सेना पर नियंत्रण एक बार फिर पीयरों व भद्रजनों तथा लॉर्ड मेयर व शैरिफ के हाथ में आ गया। शासन में प्रायः राजतंत्र-समर्थकों को नियुक्त किया गया, यद्यपि कुछ अन्य स्थानों (प्रशासनिक स्थानों) पर अभी भी गणतंत्र शासन के समय के अधिकारी कार्य कर रहे थे, जैसे मौंक तथा उसके मित्र और अनेक प्रेस्बाईटेरियन नेता। यद्यपि हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स की पुनः स्थापना हो गई थी, किन्तु उसकी सांविधानिक स्थिति कभी भी पहले जैसे नहीं हो सकती थी। हाउस ऑफ कॉमंस 1661, 1971 व 1678 के प्रस्तावों से निचले सदन की वित्त-संबंधी बिलों को आरंभ करने और हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स द्वारा ऐसे बिलों के संशोधन न किए जाने की शक्ति पूर्ण रूप से स्पष्ट तथा स्थापित कर दी गई।

विशेषाधिकार न्यायालयों की दुबारा स्थापना नहीं हुई। इनके बिना प्रिवी परिषद् स्थानीय विषयों में कुलीन जनों की इच्छा के विरुद्ध हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी।

परन्तु सबसे बड़ा परिवर्तन लोगों के विचारों में था। चार्ल्स प्रथम को मृत्युदंड व गणतंत्रीय शासन के अनुभव ने लोगों के दिलों पर गहरी छाप छोड़ी। करीब 20 वर्षों तक संसद की कमेटियों ने सेना, चर्च, नौसेना व विदेश नीति आदि का नियंत्रण किया था। अब ये ऐसे विषय नहीं रह गए थे जिनका लोगों को ज्ञान न हो। एक नवीन नौकरशाही की स्थापना हो चुकी थी और यह नौकरशाही अपनी उपयोगिता भी प्रदर्शित कर चुकी थी। सेना व नौसेना से संबंधित जो नवीन अनुशासन-कानून 1661 व 1666 में बनाए गए उनमें कॉमनवेल्थ की झलक स्पष्ट दिखाई देती थी। चार्ल्स द्वितीय की प्रिवी परिषद् के एक तिहाई सदस्य ऐसे थे जिन्होंने उसके पिता के विरुद्ध युद्ध किया था। वे कभी अनियंत्रित राजतंत्र के समर्थक नहीं हो सकते थे।

लोक कानून न्यायालयों की सर्वोच्चता स्वीकार कर ली गई। विद्रोह के मुक़दमे व काफी हद तक व्यापार-संबंधी कार्यवाही अब इन्हीं न्यायालयों के हाथों में आ गई। चर्च न्यायालय वापस आ गए परन्तु उनकी शक्ति में अब बहुत कमी की गई और वे लोक कानून न्यायालय के अधीन स्वीकार किए गए।

लोक कानून की स्वीकार करने योग्य परिभाषा अब राजा व उसके जज नहीं अपितु संसद के सदस्य करते थे। इंग्लैण्ड का राज्य निश्चित कानून के शासन (rule of law) पर आधारित हो गया।

राजनीतिक व्यवस्थाः 1660 में सांविधानिक संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया गया। राजा तथा हाउस ऑफ़ कॉमंस के मध्य शक्ति का बँटवारा किया गया। दोनों ही शक्ति-संपन्न थे, किसी एक की सर्वोच्चता स्थापित नहीं

नोट

हो पाई थी। इसलिए शासन-संबंधी कार्यवाही के लिए दोनों में सहयोग आवश्यक था। सत्रहवीं शताब्दी के राजा-संसद संघर्ष के परिणामस्वरूप राजा की शक्ति पर अंकुश लगा दिए गए परन्तु संसद को सर्वोच्च न बनाया जा सका।

पुन:स्थापना के समय पुराने संविधान को, जो प्राय: अलिखित था और जिसमें 1642 में दीर्घ संसद ने कुछ संशोधन कर दिए थे, पुन: लागू करने का प्रयास किया गया। यह प्रयत्न असफल रहा क्योंकि इन परिवर्तनों के उपरांत भी इस संविधान में वे समस्याएँ ज्यों-की-त्यों बनी रहीं जिनके कारण गृहयुद्ध हुआ था और राजतंत्र समाप्त किया गया था। इन समस्याओं में प्रमुख थी दो संस्थाओं के मध्य सहयोग स्थापित करना। एक ओर था राजतंत्र, जिसके कुछ विशेषाधिकार समाप्त कर दिए गए थे और जो अब धन के लिए काफी हद तक संसद पर आश्रित हो गया था और दूसरी ओर था हाउस ऑफ़ कॉमंस जो अब अनेक सुविधाएँ प्राप्त करने के उपरांत तथा संघर्ष के पथ पर अग्रसर होने के बावजूद, अपने अस्तित्व के लिए राजा पर निर्भर करता था। इस समस्या का निदान 1660 में उतना ही दूर था जितना सन् 1642 में था और आने वाले दो स्टुअर्ट राजाओं के राज्यकाल के दौरान 1641 में पारित कानूनों को ही आधार बनाया गया था 1660 में हाउस ऑफ़ कॉमंस ने हाउस ऑफ लॉर्ड्स के साथ समझौता किया और यह घोषणा की कि "देश के प्राचीन एवं मौलिक संविधान के अनुसार राजा, लार्ड्स व कॉमंस सरकार हैं, और यही होना भी चाहिए।"[1] यह घोषणा सफलता का सूचक थी। "संसद में राजा" के स्थान पर नई त्रिसंस्था (राजा, कॉमंस व लॉर्ड्स) के हाथ में शक्ति स्थापित हो गई। परन्तु पुन:स्थापना ने इन तीनों संस्थाओं में पृथकता प्रमाणित की, उनमें सहयोग का उपाय नहीं दिखाया। ऐसा प्रतीत होता था कि यह एक ऐसा प्रयास था जिसमें नए सिद्धांत को पुरानी नीति के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। यह प्रयास असफल रहा। नए व पुराने का सम्मिश्रण हो भी नहीं सकता था। 1640 से पहले 'संसद में राजा' राजा कहा जाता था, 1660 के बाद 'राजा व संसद'। 1640 से पहले सरकार एक संस्था थी जिसमें राजा अपने न्यायाधीशों, परिषद्, भद्रजन व विश्वासनीय एवं भक्त 'कॉमंस' (सांसदों) की सहायता से राज्य करता था। 1660 के बाद राजा (जिसे कुछ विशेषाधिकार प्राप्त थे) और संसद (जिसे कुछ सुविधाएँ प्राप्त थीं) के बीच शक्ति-संतुलन के मध्य कार्यकारिणी शक्ति का प्रयोग करने का एक अस्पष्ट प्रबंध था कि यह शक्ति राजा में निहित है, संसद में नहीं। परन्तु वह इस शक्ति का प्रयोग केवल अपने द्वारा चुने हुए किन्तु देश के प्रति उत्तरदायी, प्रिवी परिषद् के सदस्यों के परामर्श पर ही कर सकता था। ये परामर्श सुझाव थे, आदेश नहीं; पर ये परामर्शदाता अपनी नीति के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी थे और यदि कोई परिषद्-सदस्य गलत सुझाव देता था तो संसद उस पर मुक़द्दमा चला सकती थी। संसद अपने अधिकारों के प्रति सजग थी। अब कोई भी मंत्री, संसद का विश्वास खोकर अपने पद पर आसीन नहीं रह सकता था। चार्ल्स द्वितीय के मंत्री डेनबी पर जब संसद ने फ्रांस के साथ षड्यंत्र का अभियोग लगाकर उसे पदच्युत किया तो इस अधिकार की पुष्टि हो गई। इसी प्रकार विदेश नीति पर भी संसद का नियंत्रण डेनबी के पतन से प्रमाणित हुआ।

धार्मिक व्यवस्था: बिशप बरनर ने 1660 में अपने अनुभव के आधार पर लिखा था कि अधिकांश जनता पुन: स्थापना के समय धार्मिक स्वतंत्रता के पक्ष में थी। चार्ल्स द्वितीय भी सभी को धार्मिक स्वतंत्रता देना चाहता था जिससे वह कैथोलिक धर्म के लिए मार्ग खुला रख सके। परन्तु घटनाओं ने तरह-तरह के मोड़ लिए। कुछ आधुनिक इतिहासकारों का मत है कि चार्ल्स द्वितीय ने अपने निष्कासन के समय ऐंग्लिकन पादरियों से जो समझौता किया था उससे यह आवश्यक हो गया था कि पादरियों की पुन:स्थापना होगी। प्यूरिटन हिम्मत हार बैठे थे और संगठित भी न थे, इससे राजतंत्र-समर्थकों–जिनको 1661 के चुनाव में बहुमत मिल गया था–का काम आसान हो गया। परिणामस्वरूप, विशेषकर 'ऐक्ट ऑफ़ यूनिफ़ॉर्मिटी' (1662) द्वारा, नरम प्रेस्बाईटेरियनों को भी या तो इंग्लैण्ड का चर्च स्वीकार करना पड़ा और न करने पर चर्च छोड़ना पड़ा। अनेक प्यूरिटन, जो कई दशकों से स्थापित चर्च में सुधार या परिवर्तन का प्रयत्न कर रहे थे, ऐंग्लिकन चर्च स्वीकार न कर पाए और राजधर्म-विरोधी (dissenter) बन गए।

1. Joan Thirsk, The Restoration, p. 19.

नोट

परन्तु अब प्यूरिटन विचारधारा समाज के सभी वर्गों को मान्य न रह गई थी और पुन:स्थापना के बाद तो यह केवल मध्यवर्ग की विचारधारा बनकर रह गई।

आर्थिक नीति व आर्थिक विकास: 1660 के बाद भूस्वामी वर्ग, निम्न सामाजिक वर्ग के विद्रोह से सुरक्षित हो गया। इस कारण सरकार का उद्देश्य उत्पादन-वृद्धि व उत्पादकों के हित की सुरक्षा हो गया और खरीददारों के हितों की अवहेलना होने लगी। कुछ ही वर्षों में अनाज का आयात पूर्णतया बंद कर दिया गया जिससे अंग्रेज उत्पादकों को ऊँची कीमत मिल सके। गेहूँ निर्यात पर 'बाउंटी' दी जाने लगी जिससे उत्पादकों को प्रोत्साहन मिला। 'अवरोधकारी गिल्ड' (guild) व प्रशिक्षण संबंधी कानून अब पूर्णरूप से लागू नहीं किए गए और कपड़ा उद्योग सबके लिए खोल दिया गया। इस नई स्वतंत्रता से उद्योग, विशेषकर कपड़ा उद्योग को बहुत लाभ पहुँचा।

पुन:स्थापना का एक परिणाम यह हुआ कि नियोजकों (नौकरी देने वालों) की स्थिति को दृढ़ किया गया। 1662 के सैटलमेंट ऐक्ट (Settlement Act) के अनुसार पेरिस (पादरी का नियंत्रण क्षेत्र) में नए आने वाले को वापस भेजा जा सकता था। गरीबघरों (parish houses) में परिस्थितियाँ इतनी खराब थीं कि लोग वहाँ आना ही पसंद नहीं करते थे, इस तरह उन्हें नौकरी करने पर विवश किया जाता था और नौकरी के इच्छुक लोगों की संख्या अधिक होने के कारण वेतन कम रहते थे।

सामंतवादी प्रथा व बंधन की पुन:स्थापना नहीं हुई: 1651 के नौपरिवहन अधिनियम के संतोषजनक परिणाम नहीं हो रहे थे। 1660 के नए क़ानून ने पुराने क़ानूनों के उद्देश्यों को ही स्थापित रखा। साझेदार पूँजी कंपनियों में जिन लोगों ने धन लगा रखा था उनके हितों की सुरक्षा 1662 के कानून ने की जिसके अंतर्गत वे केवल अपने द्वारा दिए गए धन जितनी पूँजी के लिए ही उत्तरदायी बनाए गए। इस तरह दूर देशों में कठिन परिस्थितियों में व्यापार के लिए एकाधिकार का सिद्धांत पुन: स्थापित किया गया परन्तु अब व्यापार व नौसेना नीति का संचालन सरकार के हाथ में आ गया और व्यापार-कंपनियों का इस दिशा में प्रभाव अपेक्षाकृत कम हो गया। यथार्थ में पुन:स्थापित राजतांत्रिक सरकार ने व्यापार व उद्योग को लेकर अनेक वाणिज्यवादी (mercantilist) कानून बनाए। उस विदेश नीति की, जिससे व्यापारिक उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होती थी, पुन:स्थापना नहीं हुई।

सामाजिक व्यवस्था की पुन:स्थापना

सामाजिक व्यवस्था में भद्रजन व कुलीनों ने समाज, देश व स्थानीय शासन में अपना परंपरागत उच्च स्थान पुन: प्राप्त कर लिया। कॉमनवेल्थ के समय के लोकतांत्रिक आंदोलनों ने नरम दल को भी रूढ़िवादी तथा परंपरानिष्ठ सामाजिक व्यवस्था के पक्ष में कर दिया था। अब प्राचीन प्रतिष्ठित परिवारों ने स्थानीय शासन-संस्थाओं में अपना पुराना स्थान ग्रहण कर लिया, कुलीनों ने अपने पुराने घरों में पहुँचकर 'पैरिश जीवन' (Parish-life) पर पहले की तरह नियंत्रण स्थापित कर लिया, और व्यापारियों ने नगर-परिषदों में अपने पुराने पद फिर से प्राप्त कर लिए। सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन करने की किसी में रुचि न रही।

चार्ल्स द्वितीय

स्टुअर्ट राजा जानते थे कि वे अब संसद के समर्थन के बिना राज नहीं कर सकते। इसके लिए यह आवश्यक हो गया कि संसद वफ़ादार हो और इसी कारण यह भी जरूरी था कि संसद को प्यूरिटन बहुमत से बचाया जाए। इसका उपाय "कार्पोरेशन ऐक्ट" ने किया। इसके अनुसार 'स्थानीय सभा' (कार्पोरेशन आदि) का सदस्य बनने के लिए राजा व ऐंग्लिकन चर्च के प्रति वफ़ादारी की शपथ लेनी आवश्यक कर दी गई। इन सभाओं द्वारा ही संसद सदस्य चुने जाते थे। इस कारण विश्वसनीय सदस्य चुने जाने का यह एक हथियार था। परन्तु अब संसद वफ़ादार होते हुए भी, अपना वह स्थान छोड़ने को तैयार न थी जो पिछले बीस वर्षों में उसने अर्जित किया था। इस समय से कोई भी मंत्री जिसे निम्न सदन की सहायता व समर्थन न प्राप्त हो, सत्ता में अधिक दिन नहीं रह सकता था।

मैकाले ने कैवेलियर संसद (जिसकी बैठक 1661-1679 के दौरान हुई) के बारे में कहा-"सत्रहवीं शताब्दी की महान अंग्रेजी क्रान्ति-अर्थात् कार्यकारिणी शासन के सर्वोच्च नियंत्रण को राजा के हाथ से हाउस ऑफ़ कॉमंस के

नोट

पास पहुँचाने की कार्यवाही, इस संसद ने अपने लंबे कार्यकाल में, चुपचाप परन्तु तेज़ी से और नियमित रूप से सम्पन्न की"।

1667 में संसद की पहली 'लोक लेखा समिति' (Public Account Committee) की स्थापना हुई। इसी वर्ष संसद में स्वतंत्रता से विचार प्रकट करने के अधिकार की अभिव्यक्ति की गई। 1679 में बंदी प्रत्यक्षीकरण (Habeus Corpus) कानून बनाया गया जिसके द्वारा यह निश्चित किया गया कि क़ैदी को न्याय के लिए तुरन्त न्यायालय में प्रस्तुत किया जाए। यदि राजा चार्ल्स संसद में किसी सदस्य के भाषण से नाराज हो जाता था, तो उसके पास उसे दंड देने का एक रास्ता था–अपने आदमियों से उस संसद सदस्य की हत्या करवा दे और समय इतना बदल चुका था कि राजा को 'अटेन्डर ऐक्ट' (Act of Attainder) स्वीकार करना पड़ा जिसके अनुसार वह अपने इन ठगों को माफ़ी भी नहीं दिला सकता था।

1672 में चार्ल्स को 'धार्मिक अनुग्रह घोषणा' (Declaration of Indulgence) को वापस लेना पड़ा। यह घोषणा उसने लुई चौदहवें को दिए गए वचन के अनुसार की थी। इस घोषणा में कैथोलिकों आदि के प्रति कठोर दंड-व्यवस्था को समाप्त करने और सभी धर्मों को धार्मिक स्वतंत्रता देने का प्रावधान था। चार्ल्स की फ्रांस-मैत्री योजना असफल हो गई इसके अलावा चार्ल्स को 1673 में संसद द्वारा पारित 'टैस्ट ऐक्ट' (Test Act) भी स्वीकार करना पड़ा। इसके द्वारा सब सरकारी अधिकारियों के लिए इंग्लैण्ड के चर्च और उसके द्वारा प्रतिपादित धार्मिक नियमों के प्रति वफ़ादारी की शपथ लेना अनिवार्य किया गया। इससे पोप-समर्थक अब सरकारी अधिकारी नहीं बन सकते थे।

उस समय एक अफ़वाह फैली कि पोप व फ्रांसीसी सेना मिलकर, चार्ल्स की हत्या करके जेम्स द्वितीय को इंग्लैण्ड का राजा बनाने का षड्यंत्र कर रहे हैं। इसी समय यह भी विदित हुआ कि चार्ल्स का मुख्यमंत्री डेनबी, फ्रांस के राजा लुई से धन प्राप्त करने के लिए पत्र-व्यवहार कर रहा है। इस आधार पर संसद ने डेनबी पर अभियोग लगाया। चार्ल्स ने अपने मंत्री को बचाने के लिए संसद भंग कर दी। इस अभियोग से यह सिद्ध हो गया कि एक मंत्री, जो संसद में बहुमत के कारण ही अपने उच्च पद तक पहुँचा हो, संसद का विश्वास खोकर अपनी गद्दी पर आसीन नहीं रह सकता। डेनबी का पतन क्योंकि विदेश नीति के कारण हुआ था, अत: विदेश नीति पर भी संसद का नियंत्रण एक बार फिर प्रमाणित हो गया।

1678 तक, इंग्लैण्ड की राजनीतिक दशा में 1660 के हालातों की तुलना में–जब चार्ल्स द्वितीय का प्रसन्नतापूर्वक स्वागत किया गया था–बहुत परिवर्तन आ चुका था। इसका कारण यह था कि अनेक उपचुनावों के कारण राज-समर्थकों की संख्या अब संसद में कम हो गई थी और वहाँ फिर से संपत्तिवान वर्ग के दूरगामी स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करने वाले तत्व बहुमत में आ गए थे। चार्ल्स की फ्रांस के प्रति मैत्री-नीति के कारण इंग्लैण्ड संशकित हो गया था और चार्ल्स को यह विश्वास दिलाना पड़ा कि वह "कानून व संपत्ति को नियंत्रण में करने की चेष्टा नहीं कर रहा।" पोप के षड्यंत्र के कारण लोगों को अपनी शंका सत्य होती हुई प्रतीत हुई और राजा के विरोधियों को एक प्रमाण मिल गया।

परन्तु तब भी, चार्ल्स ने अपनी दूरदर्शिता व कूटनीति के आधार पर अपनी अगली तीन संसदों द्वारा प्रस्तुत बहिष्कार बिल (Exclusive Bill), जिसका उद्देश्य जेम्स द्वितीय के स्थान पर 'ड्यूक ऑफ़ मन्मथ' को राजा बनाना था, पास करने के प्रयत्न को नाकाम कर दिया।

संसद में दलबंदी: संसद को 'बहिष्कार प्रस्ताव' में असफलता का मुँह देखना पड़ा, परन्तु इसी समय इस प्रस्ताव के कारण, अंग्रेज़ी राजनीति में पहली बार दो राजनीतिक दलों का प्रारंभ हुआ। वह दल जो जेम्स का बहिष्कार करना चाहता था, पेटिशनर (प्रार्थना करने वाले) कहलाया क्योंकि वह इस विषय पर विचार करने के लिए संसद की बैठक बुलाना चाहता था और इसीलिए इस आशय का प्रस्ताव भेजता था। दूसरा दल 'अबहोरर' (Abhorer) कहलाया। यह दल इस प्रस्ताव का विरोधी था और चार्ल्स द्वारा अपना उत्तराधिकारी चुनने के अधिकार में बाधा डालने के प्रयत्न

नोट

को तुच्छ दृष्टि से देखता था। इन दलों को 'बिग' व 'टोरी' (अबहोरर) नाम भी दिए गए और आगे चलकर ये नाम ही अधिक प्रचलित हुए। विग कैथोलिक विरोधी थे, राजा के विशेषाधिकारों पर और भी प्रतिबंध लगाना चाहते थे और संसदीय सुधारों, जैसे जल्दी चुनाव व नियमित अधिवेशन के पक्ष में थे।

टोरी, इंग्लैण्ड के चर्च व राजा के विशेषाधिकारों के समर्थक थे। परन्तु अभी दलबंदी आरंभिक स्थिति में ही थी। दोनों ओर के संपत्तिवान् देश को एक और गृहयुद्ध से बचाना चाहते थे और युद्ध के डर से संपत्तिवान राज्य-समर्थक बन जाते थे। इस कारण राजनीतिक विरोध, सत्रहवीं शताब्दी के इन आखिरी वर्षों में, कभी भी चरम सीमा तक नहीं धकेला गया। हाउस ऑफ़ कॉमंस सरकारी नीतियों की आलोचना अवश्य करता रहा, परन्तु जब तक सरकार ने इन धनवान वर्ग के–जिसे संसद में प्रतिनिधित्व प्राप्त था–स्वार्थ पर अंकुश लगाने का प्रयत्न नहीं किया, तब तक सदन ने सैद्धांतिक तौर पर सरकार का विरोध नहीं किया। इस कारण सरकार का प्रभाव दोनों दलों पर समान रूप से बना रहा क्योंकि सरकार भी सामाजिक स्थायित्व बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रही थी और इस स्थायित्व से विग व टोरी सभी को लाभ होता था।

जेम्स द्वितीय

जेम्स द्वितीय 1685 में निर्विरोध इंग्लैण्ड का राजा बना। इस समय परिस्थितियाँ बहुत आशाजनक थीं। संसद व न्यायालय उसके पक्ष में थे। संसद ने उसे पर्याप्त धन दिया था। परन्तु जेम्स के कैथोलिक धर्म स्थापित करने के प्रयत्न के कारण शीघ्र ही संसद उसका विरोध करने लगी।

अभी संसद का अधिवेशन आरंभ ही हुआ था कि इंग्लैण्ड में दो विद्रोह हो गए। ये दोनों विद्रोह (जो मन्मथ के पक्ष में हुए थे) कुचल दिए गए और दोनों नेताओं (मन्मथ व अर्गाइल) की मृत्युदंड दे दिया गया। परन्तु जेम्स ने मौक़े का फ़ायदा, एक स्थायी सेना की माँग करके उठाया। संसद सेना के लिए धन देने को तैयार थी परन्तु धन देने से पहले यह जानना चाहती थी कि सेना व चर्च में कैथोलिकों की नियुक्ति क्यों की जाए। जेम्स ने इसके उत्तर में 'टैस्ट ऐक्ट' समाप्त करने की मांग की जिससे कैथालिकों की नियुक्त में सांविधानिक कठिनाई न हो। संसद इस ऐक्ट को सुरक्षा का मुख्य अस्त्र मानती थी, अत: वह राजा की माँग स्वीकार नहीं कर सकती थी। राजा ने क्रोध में संसद भंग कर दी।

इसी समय, एक मुक़दमे (गोडल बनाम हेलस) में जजों ने निर्णय दिया कि राजा कानून-निर्माता है, अत: कानून का उल्लंघन भी कर सकता है। इससे जेम्स को प्रोत्साहन मिला और उसने अपनी 'स्थगन' (suspending) व 'विमोचन' (dispensing) की शक्ति का प्रयोग आरंभ कर दिया। इन शक्तियों के आधार पर राजा किसी भी कानून को स्थगित कर सकता था और किसी का भी दंड माफ कर सकता था। इन्हीं शक्तियों के आधार पर उसने 'टैस्ट ऐक्ट' का उल्लंघन करके कैथोलिकों को प्रशासन-अधिकारी नियुक्त करना आरंभ किया। 1688 में पोप समर्थक और आयरलैण्ड का लॉर्ड लैफ्टिनैंट नियुक्त कर दिया गया। वहाँ कैथोलिक सेना भी तैयार हो रही थी। इसके बाद सभी उच्च स्थानों पर (जैसे मेयर, चर्च में, मंत्री, न्यायाधीश व सेना में भी) कैथोलिक ही नियुक्त किए गए। धार्मिक न्यायालय (Court of Ecclesiastical Commission) भी स्थापित कर दिया गया जोकि 1641 के हाई कमीशन कोर्ट जैसा ही था।

अप्रैल 1687, में जेम्स ने प्रथम अनुग्रह योजना की घोषणा (Declaration of Indulgence) की जिसके द्वारा 'टैस्ट' समाप्त कर दिए गए और रोमन कैथोलिक के साथ-साथ राजधर्म-विरोधियों (dissenters) को भी सार्वजनिक प्रार्थना की स्वतंत्रता प्रदान की गई। उसने घोषणा की कि उसे कोई शंका नहीं है कि जब संसद का अधिवेशन होगा तब वह उसकी इस नीति का समर्थन करेगी। मई 1688 में द्वितीय अनुग्रह योजना की घोषण की गई। बिशपों को हुक्म दिया गया कि वे चर्च में लगातार दो रविवारों को यह घोषणा पढ़ें। सात बिशपों ने राजा को प्रार्थनापत्र भेजा, जिसमें उन्होंने अनुरोध किया कि वह अपना आदेश वापस ले ले क्योंकि उनके विचार में, राजा को यह अधिकार नहीं था कि वह उन कानूनों से छुटकारा पा ले जो राजधर्म-विरोधियों (Dissenters) को धार्मिक

नोट

स्वतंत्रता प्रदान नहीं करते थे। बिशपों को राजा ने क़ैद करवा दिया। जजों ने बिशपों को निर्दोष ठहराते हुए कहा कि यदि राजा सभी कानूनों को समाप्त कर सकता है तो संसद की आवश्यकता ही समाप्त हो जाएगी। इसी मास, रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। इंग्लैण्ड की जनता को भय हो गया कि अब कैथोलिक राज्य क़ायम रहेगा। टोरी जो एक समय जेम्स के समर्थक थे, अब अनुभव करने लगे कि कैथोलिक प्रभाव के कारण उनकी नौकरी भी खतरे में पड़ गई है। उन्हें विश्वास हो गया कि जब तक संसद की सर्वोच्चता नहीं स्थापित होती तब तक उनकी अपनी स्थिति (position) सुरक्षित नहीं थी। राजतंत्र के समर्थक टोरी अपने स्वार्थ पर चोट लगते देख जेम्स-विरोधी हो गए।

गौरवपूर्ण क्रान्ति (1688): विलियम ऑफ़ ऑरेंज को इंग्लैण्ड पर आक्रमण करने के लिए सात अंग्रेज़ों ने निमंत्रण भेजा। ये हस्ताक्षर करने वाले केवल एक सीमा तक ही विद्रोही थे। इनमें से दो पक्के ऐंग्लिकन थे, दो ऐसे थे जो पहले कैथोलिक थे, और तीन विग थे। ये सभी यदि स्वयं कुलीन न थे, तो सबका कुलीनों से निकट का संबंध था और वे इस बात से परिचित थे कि विद्रोह होने से वह सामाजिक ढाँचा ही तहस-नहस हो सकता है जिस पर उनकी संपत्ति व सुविधाएँ आधारित थीं। परन्तु जेम्स जिस निरंकुश राजतंत्र को स्थापित करने की चेष्टा कर रहा था। वह विद्रोह से भी ज़्यादा खतरनाक सिद्ध हो सकता था। अत: स्वयं की सुरक्षा के लिए ये लोग उस खतरे को दूर करने के उपाय खोजने के लिए मजबूर हो गए। विलियम ने यह स्पष्ट कर दिया था कि वह उनकी सहायता करने को तैयार है, यदि वे बदले में उसका समर्थन करने का विश्वास दिलाएँ। यह विश्वास निमंत्रण देने वालों ने निमंत्रणपत्र में दिलाया, जिसमें कहा गया "संपूर्ण राज्य में बीस में से उन्नीस व्यक्ति ऐसे हैं जो परिवर्तन चाहते हैं और जो, हमें विश्वास है, प्रसन्नतापूर्वक इस परिवर्तन में सहायता देंगे,–बशर्ते कि उन्हें यह सुरक्षा मिले कि उस विद्रोह से ऐसे परिवर्तन होंगे जो उन्हें नष्ट होने से बचा लें।" इस प्रकार निमंत्रणपत्र में स्पष्ट किया गया कि इंग्लैण्ड में वर्तमान सरकार की धार्मिक स्वतंत्रता व संपत्ति-संबंधी नीतियों से साधारण लोगों में असंतोष की भावना व्याप्त हो गई। विलियम ने निमंत्रण स्वीकार किया।

विलियम को आक्रमण की तैयारी करते देख जेम्स भयभीत हो गया। उसने घोषणा की कि जब संसद का अधिवेशन होगा। तो कैथोलिकों को उसमें बैठने की अनुमति न होगी। नौसेना का नेतृत्व भी एक प्रोटेस्टेंट के हाथ में दे दिया गया। धार्मिक न्यायालय का अंत कर दिया गया और कुछ पोप-समर्थक लॉर्ड लैफ्टीनेंट पदच्युत कर दिए गए। परन्तु अब बहुत देर हो चुकी थी। विलियम सेना सहित इंग्लैण्ड में प्रवेश कर गया। पीयर व कुलीन वर्ग ने उसकी सहायता की। जेम्स के सभी समर्थक उसे छोड़ गए। जेम्स बिना किसी को सत्ता की बागडोर सौंपे अपना सिंहासन एवं अपना देश छोड़कर भाग खड़ा हुआ।

जेम्स के भागने से विलियम को प्रशासन पर अधिकार करने का खुला रास्ता मिला। अभिजात वर्ग के प्रतिनिधियों ने–जिन्होंने क्रान्ति की थी–नए राजा को सुझाव दिया कि वह सभा बुलाए। 1689 की जनवरी में कनवेंशन (Convention)–जोकि नाम के अलावा हर तरह से संसद थी–की बैठक लंदन में हुई। विग व टोरी दलों में, जो कि क्रान्ति के समय एक हो गए थे, सांविधानिक समझौते के मसले पर अब फिर मतभेद हो गया। टोरी, जिनके पास हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स का बहुमत था, कहते थे कि राजा का पद वंशानुगत है। इसलिए जेम्स भागने के बाद भी राजा है और उसके नाम पर राज्य चलाने के लिए संरक्षक नियुक्त किया जाना चाहिए। विग दल का कहना था कि देश छोड़कर भागने से जेम्स ने गद्दी पर से अधिकार छोड़ दिया है, इसलिए राजगद्दी खाली है।

ऐसा प्रतीत होता था कि इस मतभेद में से निकलने का कोई रास्ता नहीं है। परन्तु तभी, टोरी दल पीछे हट गया। टोरियों की हार का कारण यह था कि वे कोई उपयुक्त संरक्षक नहीं ढूँढ़ सके। अंत में विलियम व उसकी पत्नी मेरी को संयुक्त रूप से इंग्लैण्ड का ताज दिया गया।

नोट

टास्क सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में इंग्लैण्ड की संसद ने अपने राजा के साथ क्या किया?

क्रान्ति व्यवस्था (1688): 1660 में चार्ल्स द्वितीय को बिना शर्त राजा स्वीकार किया गया था। परिणामस्वरूप वह संविधान का उल्लंघन करने में सफल हुआ था। संसद सदस्य इस अनुभव से शिक्षा प्राप्त कर चुके थे। इस कारण विलियम-मेरी के सामने शर्त रखी गई कि वे राजतिलक से पहले 'बिल ऑफ़ राइट्स' स्वीकार करें।

'बिल ऑफ़ राइट्स' (अधिकार-विधेयक) स्टुअर्ट काल के सांविधानिक इतिहास पर टिप्पणी था। इसके द्वारा राजा के कानून स्थगित करने, हाई कमीशन जैसे न्यायालय स्थापित करने, संविधान का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को कानून के बंधन से मुक्त करने, शांतिकाल में संसद की सम्मति के बिना सेना तैयार करने और संसद की अनुमति के बिना कर लगाने के अधिकारों का अंत कर दिया गया। शासितों का राजा को प्रार्थना-पत्र देने का अधिकार स्वीकार किया गया। जहाँ तक संसद का सवाल था, यह स्पष्ट किया गया कि संसद के चुनाव स्वतंत्र होने चाहिए। एक शताब्दी से चलते आ रहे झगड़े का अंत यह अधिकार स्थापित करके किया गया कि संसद सदस्यों को भाषण व विचार-विमर्श की स्वतंत्रता है और संसद की कार्यवाही पर संसद से बाहर कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगा सकता, न संसदीय कार्यवाही के विरुद्ध कोई मुक़द्दमा चलाया जा सकता है।

चूँकि विलियम-मेरी के कोई संतान न थी, अत: बिल ऑफ़ राइट्स ने उत्तराधिकार की समस्या को भी सुलझाया। यह कहा गया कि राजा-रानी की मृत्यु के बाद राजगद्दी मेरी की बहन, एन (Anne) को व उसकी संतान को दे दी जाए। गद्दी पर स्टुअर्ट अधिकार समाप्त करने के लिए यह नियम बनाया गया कि कोई भी पोप-समर्थक तथा रोमन कैथोलिक या जिसने कैथोलिक से विवाह किया हो, इंग्लैण्ड के सिंहासन पर नहीं बैठ सकता।

क्रान्ति-व्यवस्था का कार्यक्रम तीन अन्य अधिनियमों द्वारा पूरा किया गया: विद्रोह अधिनियम (Mutiny Act), सहिष्णुता अधिनियम (Act of Toleration) और त्रिवर्षीय अधिनियम (Triennial Act)। विद्रोह अधिनियम एक बार में एक ही वर्ष के लिए पारित किया जाता था। इस अधिनियम से राजा को सेना पर सैनिक-अनुशासन लागू करने का अधिकार मिला। इस प्रकार सेना पर संसद का भी कुछ नियंत्रण किया गया। सहिष्णुता कानून के अंतर्गत ऐसे लोगों को धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की गई जो प्रार्थना पुस्तक की 39 धाराओं में 36 धाराओं को स्वीकार करते थे। इस प्रकार कैथोलिकों को छोड़कर प्राय: सभी को धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की गई। त्रिवर्षीय अधिनियम के द्वारा संसद के दीर्घकाल तक बैठने तथा बिना संसद-शासन ये दोनों ही खतरे टालने का प्रबंध किया गया। इस कानून के द्वारा यह स्थापित किया गया कि भविष्य में संसद का चुनाव प्रति तीन वर्षों के बाद होगा।

इस क्रान्ति-व्यवस्था की विशेषता इसकी नम्रता थी। इसके द्वारा संसदीय शासन नहीं स्थापित किया गया। अभी, भी राजा अपने मंत्री व जज चुन सकता था। संसद का अधिवेशन बुलाने, उसे भंग करने, समाप्त करने की शक्ति भी उसे थी यद्यपि इस अधिकार पर यह अंकुश था कि वह त्रिवर्षीय अधिनियम का उल्लंघन न करे। विदेश नीति पर राजा के विशेषाधिकार का प्रश्न नहीं उठाया गया। 1688 की क्रान्ति की विशेषता यही थी कि थोड़ा-सा परिवर्तन करके परंपरागत संविधान को वापस संतुलन में लाया गया। अब सरकार के एक महत्त्वपूर्ण व स्थायी अंग के रूप में संसद की स्थापना हुई, परन्तु साथ ही राजा के महत्त्व को भी स्वीकार किया गया। दोनों में से कोई भी, अकेला सर्वोच्च नहीं था–'संसद में राजा सर्वोच्च' था।

इस क्रान्ति के परिणामस्वरूप समाज में अव्यवस्था नहीं फैली, अराजकता नहीं हुई, क्रान्तिकारी लोकतांत्रिक मार्गों की पुनरावृत्ति नहीं हुई। सीमित राजतंत्र बिना किसी युद्ध के स्थापित हुआ। कार्यकारिणी के निरंकुशवाद पर लोक कानून ने विजय पाई। धार्मिक समस्या का समाधान ऐंग्लिकन वर्ग-प्रोटेस्टेंट धर्म के पक्ष में हो गया। इस प्रकार संपत्तिवान वर्ग को स्वतंत्रता मिली–स्वेच्छाचारी करारोपण से व अपने प्रतिनिधियों द्वारा देश की नीति निर्धारण करने

नोट

की स्वतंत्रता। साथ ही उन्हें खरीद-फ़रोख्त को स्वतंत्रता भी प्राप्त हो गई। इस तरह इस शताब्दी के त्रिकोणात्मक संघर्ष में उस वर्ग को सफलता मिली जिसका कि हाउस ऑफ़ कॉमंस प्रतिनिधित्व करता था। उन्होंने गृहयुद्ध के बाद अपने अनेक सिरों वाले (अर्थात् समतावादी आदि) शत्रु के विरुद्ध, अपने हारे हुए शत्रु के साथ समझौता कर लिया और सन् 1688 के बाद यह गठबंधन और भी दृढ़ हो गया। 1660 का समझौता निम्न वर्गों के विरुद्ध था। 1688 की गौरवपूर्ण क्रान्ति के बाद इंग्लैण्ड में ऐसी सरकार स्थापित हो गई जिसमें "सुरक्षा के अभाव में ग़रीब, कमज़ोर व बीमार नीचे गिर गए और अमीर व शक्तिशाली खुशहाल हो गए"।[1] इस शताब्दी के सभी दूरगामी परिवर्तनों का प्रभाव उच्च वर्गों पर पड़ा। ग़रीब किसान, कारीगर आदि की स्थिति में अपेक्षाकृत कोई परिवर्तन नहीं आया। राजनीतिक संस्थाओं ने अपने आपको नए समाज के उच्च वर्गों की जरूरतों के अनुसार ढाल लिया था।

8.5 सारांश (Summary)

सत्रहवीं शताब्दी की अंग्रेजी क्रान्ति ने प्रचलित संस्थाओं के स्वरूप को सदा के लिए बदल दिया, "जब पारंपरिक संभ्रांत वर्ग में दरारा आई तो गृहयुद्ध हुआ जिसके परिणामस्वरूप संसद में सैनिक विजय के समर्थकों ने बहुमत प्राप्त कर लिया। दूसरी ओर, इसी समय निम्न मध्य वर्ग के सामाजिक व राजनीतिक अधिकारों का समर्थन करने वाले एक समतावादी दल का उदय हुआ, तीन पुराने स्तंभों–राजतंत्र, हाउस आफ़ लार्ड्स व पादरी-शक्ति (episcopal) चर्च का नाश हुआ। कॉमनवेल्थ के विफल होने पर एक प्रकार के सैनिक शासन की स्थापना हुई, और फिर इस क्रान्तिकारी सरकार का अंत में 1660 में विनाश हो गया और पुरानी संस्थाओं (राजतंत्र, हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स आदि) की पुनः स्थापना हुई। 1688 में एक और क्रान्ति हुई जब एक नए संभ्रांत वर्ग ने राजा के साथ समझौता करके अपनी स्थिति को दृढ़ एवं निश्चित कर लिया। यह वर्ग वास्तव में इस पूरी शताब्दी के दौरान अपनी सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न करता आ रहा था किन्तु इसे सफलता 1688 में जाकर मिली।

यह राजनीतिक परिवर्तन इतना गहरा या महान् नहीं था जितना कि वह परिवर्तन जो विरोधी पक्षों के विचारों व कार्यक्रम में आया था। वास्तव में इन विचारों को कार्यान्वित करने में जो सफलता प्राप्त की गई वह अधिक महत्त्वपूर्ण थी। इतिहास में पहली बार एक राजा पर अपनी जनता के विश्वास का उल्लंघन करने के अभियोग में मुक़दमा चलाया गया और उसे दोषी ठहराकर राजतंत्र का ही अंत कर दिया गया। स्थापित चर्च को भी, उसकी संपत्ति ज़ब्त करने के बाद समाप्त कर दिया गया। काफी सीमा तक प्रोटेस्टेंट धर्म के सभी रूपों को धार्मिक स्वतंत्रता दी गई और उसे लागू भी किया गया। थोड़े समय के लिए, और संभवतः पहली बार, लोगों का एक ऐसा दल सामने आया जो सुविधाओं, विशेषाधिकार, भक्ति एवं सेवा के स्थान पर स्वतंत्रता, बराबरी एवं भाईचारे के विचार व्यक्त करने लगा। ये विचार किसी-न-किसी रूप में जीवित रहे और आगामी वर्षों में अन्य समाजों में पुनः व्यक्त किए गए। 1646 में डेवनपोर्ट (Davenport) ने ठीक ही कहा था, जो ज्योति इंग्लैण्ड में अब जली है वह कभी भी पूर्णरूप से नहीं बुझ पाएगी, यद्यपि मुझे आशंका है कि कुछ समय के लिए इसके विरोधी विचार प्रचलित तथा व्याप्त रहेंगे"।

यद्यपि 1640 की क्रान्ति प्रत्यक्ष रूप से असफल सिद्ध हुई क्योंकि सन् 1660 में राजतंत्र, हाउस ऑफ़ लॉर्ड्स तथा ऐंग्लिकन चर्च सभा की पुनःस्थापना हो गई। कानून, निर्वाचन-संबंधी, शिक्षा-संबंधी, शासन-संबंधी व चर्च-संबंधी सुधार अगले क़रीब दो सौ वर्षों के लिए स्थगित हो गए। सामाजिक व्यवस्था पहले से भी अधिक वर्ग-विभाजित हो गई। इन सबके बावजूद क्रान्ति के कुछ पक्षों व सफलताओं को नज़र अंदाज नहीं किया जा सकता। सहनशीलता का विचार, केंद्रीय कार्यकारिणी के संपत्तिवान वर्ग की व्यक्तिगत स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने के अधिकार पर अंकुश और ऐसी राज्य-व्यवस्था की स्थापना जिसमें समाज के काफी वर्गों की सहमति अनिवार्य हो–ये ऐसी सफलताएँ थीं जो स्थायी सिद्ध हुईं। बिल ऑफ़ राइट, धार्मिक सहिष्णुता अधिनियम और वार्षिक विद्रोह अधिनियम द्वारा कार्यकारिणी की दबावपूर्ण नीति पर पूरी तरह अंकुश लगा दिया गया। इसके साथ ही लोक-कानून के जजों को जो अधिकार प्राप्त हुए, उनसे इंग्लैण्ड के संपत्तिवान वर्ग को व्यक्तिगत व राजनीतिक स्वतंत्रता प्राप्त हुई, जिसकी वजह

नोट

से ये वर्ग यूरोप के अन्य देशों के संपत्तिवान वर्ग के ईर्ष्या के पात्र बन गए। किन्तु ये सुविधाएँ ग़रीबों को नहीं दी गईं। वे अभी भी अपने से ऊपर के सामाजिक वर्गों की सद्भावना पर निर्भर थे। परन्तु ये विचार अब पूरे देश की सामूहिक संपत्ति बन गए। यह उस युग में एक नई बात थी। इससे, भविष्य में इन सुविधाओं को निचले वर्ग तक पहुँचाने का मार्ग प्रशस्त हुआ। एक प्रकार से उच्च व मध्य संपत्तिवान वर्ग की यह विजय आने वाले वर्षों में, समस्त अंग्रेज़ी जनता की विजय बन गई। समतावादियों की विफलता के बावजूद संसदीय सरकार की स्थापना से लोकतंत्र स्थापित होने का रास्ता तैयार हो गया। आंग्ल क्रान्ति की यही उपलब्धि है। विचारों की यही विरासत, जोकि इस क्रान्ति ने भविष्य को दी, इस क्रान्ति को महान् कहलाने का श्रेय देती है। इसलिए यह क्रान्ति पश्चिमी सभ्यता के विकास में सांविधानिक महत्त्व रखती है।

8.6 शब्दकोश (Keywords)

1. लोक कानून (Common Law)–जनसाधारण के लिए कानून।
2. विचारधारा (Ideology)–सिद्धांत।

8.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. ट्यूडर संसद ने रोम के साथ संबंध-विच्छेद करने में किसका साथ दिया था?
2. जेम्स प्रथम के शासनकाल का वर्णन कीजिए।
3. 1603-40 के दौरान इंग्लैण्ड की आर्थिक स्थिति कैसी थी?
4. 'बिल ऑफ़ राइट्स' क्या है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. एलिज़ाबेथ	2. इंग्लैण्ड	3. 1520-1640
4. (क) 1647	5. (ग) 1640-1660	6. (घ) 1649

8.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
2. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
4. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
5. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
6. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
7. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*

नोट

इकाई 9: आधुनिक कल्याणकारी राज्य
(Modern State and Welfare)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

9.1 डेन्यूबीय राज्य (The Danubian States)

9.2 सोवियत संघ (The Soviet Union)

9.3 शांति के आधार (The Foundations of Peace)

9.4 डावेस-योजना (The Dawes Plan)

9.5 मित्र-राष्ट्रों के आपसी कर्ज (Inter-Allied Debts)

9.6 जेनेवा-संलेख (Geneva Protocol)

9.7 लोकार्नो की सन्धि (Treaty of Locarno)

9.8 राष्ट्र-संघ प्रतिष्ठा के शिखर पर (The League at its Zenith)

9.9 लोकार्नो का अन्त (The End of Locarno)

9.10 सारांश (Summary)

9.11 शब्दकोश (Keywords)

9.12 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

9.13 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- डेन्यूबीय राज्य को जानने में।
- डावेस-योजना को जानने में।
- लोकार्नो की संधि को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

जिस समय यूरोपीय रंगमंच के केन्द्र फ्रांस और जर्मनी के बीच संघर्ष चल रहा था, उसी समय उसी के पार्श्व में अन्य संघर्ष चल रहे थे जिनका इस मुख्य विवाद से या तो सम्बन्ध ही नहीं था या था भी तो बहुत कम। इन्हें तीन शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है: डेन्यूबीय राज्य, इटली और सोवियत राज्य।

नोट

9.1 डेन्यूबीय राज्य (The Danubian States)

मध्य-यूरोप में, जिसे मध्य-डेन्यूब का नदी-क्षेत्र कहना ही अधिक उपयुक्त होगा, 1914 से पहले संयुक्त ऑस्ट्रिया-हंगरी नामक राज्य था जिसकी जनसंख्या 5,50,00,000 थी और जिसे रूमानिया का छोटा-सा राज्य काला सागर (Black Sea) से पृथक् करता था। युद्ध के बाद डेन्यूब नदी-क्षेत्र में पाँच राज्य हो गए–(जनसंख्या के क्रमानुसार) यूगोस्लाविया, रूमानिया, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी और ऑस्ट्रिया। इस कठोर पुनर्व्यवस्था का परिणाम सीमाशुल्क-नाकों में वृद्धि और आर्थिक जीवन का अस्त-व्यस्त हो जाना हुआ जिससे डेन्यूबीय देश पूरी तरह कभी भी मुक्ति नहीं पा सके। 1920-1924 की अवधि में, इस उथल-पुथल के भयंकरतम परिणामों से यूगोस्लाविया, रूमानिया और चेकोस्लोवाकिया को फ्रांस के संरक्षण ने ही बचाया।

ऑस्ट्रिया के गणतन्त्र का प्रारंभ से ही इतना कृत्रिम स्वरूप था कि उसका स्थायी अस्तित्व ही सन्देहास्पद था। उसमें न तो राष्ट्रीय एकता थी और न अस्तित्व में बने रहने की राष्ट्रीय आकांक्षा ही। उसकी आबादी पुराने ऑस्ट्रियन साम्राज्य के जर्मन-भाषी लोगों की थी। किन्तु ये जर्मन लोग जो विएना के बहुभाषा-भाषी हेप्सबुर्ग (Hapsburg) साम्राज्य की राजधानी रहने तक हेप्सबुर्गों की निष्ठावान प्रजा रह चुके थे, जर्मन-ऑस्ट्रिया को एक छोटे-से स्वतन्त्र राज्य के रूप में कभी नहीं देखना चाहते थे। यह नया गणतन्त्र दो भागों में विभाजित था। एक भाग तो उसकी अतिवर्द्धित राजधानी था जिसमें इस गणतन्त्र की लगभग एक-तिहाई जनसंख्या, जो प्रमुखतया समाजवादी और धर्मविरोधी थी, रहती थी। उसका दूसरा भाग कट्टर रोमन कैथोलिक ग्रामक्षेत्र था जिसमें कुछ प्रान्तीय नगर भी थे जो विएना का अनुसरण ही करते रहते थे। ऑस्ट्रिया की शक्ति केवल इसी बात में थी कि उसके लगभग सभी निवासियों की यह आकांक्षा थी कि ऑस्ट्रिया जर्मनी में मिल जाए। उनकी यह आकांक्षा समय-समय पर लिये गए सरकार द्वारा अनधिकृत "जनमतों" (plebiscite) के परिणामों में व्यक्त होती रहती थी। किन्तु मित्र-राष्ट्र इस बात को मौन धमकी समझते थे।

इस प्रकार मित्र-राष्ट्रों की सरकारों की नीति के परिणामस्वरूप, न कि उनकी अनुकम्पा के कारण, ऑस्ट्रिया मित्र-राष्ट्र सरकारों का आश्रित बन गया। सर्वप्रथम, एक अन्तर्राष्ट्रीय सहायता समिति (International Relief Committee) की स्थापना की गई जिसके साथ सहयोग करने के लिए तटस्थ देशों को आमन्त्रित किया गया; और ऑस्ट्रियन क्षतिपूर्ति आयोग ने सेण्ट जर्मेन संधि द्वारा प्रदत्त ऑस्ट्रिया की समस्त परिसंपत्ति (assets) और राजस्व पर अपना प्रथम दावा त्याग दिया ताकि उनकी जमानत पर "सहायता बन्धपत्र" (relief bonds) जारी किये जा सकें। 1919 और 1921 के बीच ऑस्ट्रियन सरकार को सहायता-ऋण (relief credits) के रूप में लगभग 2,50,00,000 पौण्ड प्राप्त हुए। तदनन्तर, मित्र-राष्ट्र सरकारें इस मामले को राष्ट्र-संघ में भेजना चाहती थीं। ऑस्ट्रिया को कुछ महीनों तक और ऋणमुक्त रखने के लिए ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और चेकोस्लोवाकिया की सरकारों द्वारा उसे काफी अग्रिम धन (advance) दिए जाने के बाद राष्ट्र-संघ की अर्थ-समिति ने ऑस्ट्रिया के वित्तीय पुनर्निर्माण, उसकी मुद्रा की स्थिरता और एक अन्तर्राष्ट्रीय ऋण जारी करने के लिए एक विस्तृत योजना तैयार की जिसे अक्टूबर 1922 में ऑस्ट्रिया की सरकार ने भी स्वीकार लिया। ऋण की व्यवस्था करने वाले इस संलेख में एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक शर्त का समावेश था। ऑस्ट्रिया ने सेण्ट जर्मन संधि में उल्लिखित राष्ट्रसंघ-परिषद् की स्वीकृति के बिना अपनी स्वतन्त्रता का त्याग न करने की प्रतिज्ञा की केवल पुष्टि ही नहीं की अपितु यह वचन भी दिया कि अन्य राष्ट्रों से वह ऐसे कोई आर्थिक समझौते नहीं करेगा जिससे उसकी स्वतन्त्रता को किसी प्रकार की भी क्षति पहुँच सके। इस संलेख के आधार पर 1923 के वसन्त में ऑस्ट्रिया ने दस राष्ट्रों के साहूकारों से केवल 3,00,00,000 पौण्ड का ऋण माँगा। इस ऋण की ब्रिटिश, फ्रांसीसी, इटालियन, चेकोस्लोवाक और कुछ तटस्थ सरकारों ने कुछ अनुपातों में गारन्टी दी थी और सर्वत्र उसमें बहुत अधिक रकम प्राप्त हुई। इस अपूर्व सफलता से न केवल ऑस्ट्रिया की ही समस्या अनेक वर्षों के लिए हल हो गई अपितु उन ऋणों के लिए जो अन्य यूरोपीय देशों को आगे चलकर राष्ट्र-संघ के तत्वावधान में दिये गए, उसने एक पूर्वोदाहरण भी प्रस्तुत कर दिया।

ऑस्ट्रिया की अपेक्षा हंगरी अच्छी स्थिति में था। युद्ध-पूर्व की अपनी लगभग आधी आबादी और आधे से भी अधिक क्षेत्र से वह हाथ धो बैठा था। किन्तु एक प्रकार से इस बात से उनकी शक्ति ही बढ़ी थी क्योंकि अब उसके क्षेत्र

नोट

में कोई विद्रोही मनोवृत्ति के विजातीय लोग नहीं रह गए थे। आर्थिक दृष्टि से हंगरी एक धनी कृषक देश था जिसकी शहरी आबादी अनुपात से अधिक नहीं थी। राजनीतिक दृष्टि से, मोटे तौर पर वहाँ प्रजातंत्र का स्वरूप बना रहा। किन्तु वास्तविक शक्ति छोटे और बड़े जमींदारों के एक शासकवर्ग के हाथों में थी जिसने सेना और प्रशासन दोनों ही पर अपना अधिकार जमा रखा था। किन्तु हंगरी के किसान की स्थिति यूरोप के किसी भी आधुनिक राज्य के किसान की अपेक्षा खराब थी; वह लगभग दासता (Serfdom) का जीवन व्यतीत कर रहा था।

शान्ति-समझौते के समय से ही अपने पर लादी गई संधि की शर्तों का विरोध करने और मौका मिलते ही उनको पलट देने के संकल्प में हंगरी का स्थान जर्मनी के बाद दूसरा था। यह संकल्प चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और यूगोस्लाविया के लिए–जिन्हें कि त्रिआनों की संधि के अनुसार हंगरी का कुछ क्षेत्र प्राप्त हुआ था–भय का कारण बन गया और इसी कारण, जैसा पहले बता चुके हैं, लघु समहितसंघ का निर्माण हुआ। किन्तु लघु समहितसंघ के राज्यों को एक और बात का भय लगा रहता था। नवम्बर 1918 के अन्तिम हेप्सबुर्ग राजा, चतुर्थ कार्ल (Karl IV), के सिंहासन त्याग देने पर भी हंगेरियन जनता की अपने राजा के प्रति परम्परागत निष्ठा नष्ट नहीं हुई थी। हंगरी के नये संविधान का स्वरूप राजतन्त्रीय था और राज्य के प्रमुख को रीजेण्ट कहा गया था जिसका गर्भितार्थ यह था कि भविष्य में राजतन्त्र के पुन:स्थापित हो सकने की आशा थी। इसके विपरीत, यह भी विश्वास किया जाता था कि स्लोवाकिया, ट्रांसिलवानिया और क्रोएशिया के समर्पित क्षेत्रों के निवासियों के, अपने भूतपूर्व हंगेरियन शासकों के प्रति, चाहे उन्हें प्रेम न भी रहा हो, मन में हेप्सबुर्ग राजवंश के प्रति कुछ निष्ठा अवश्य अवशिष्ट थी। इसीलिए लघु समहितसंघ की सरकारों को यह भय था कि यदि हंगरी में हेप्सबुर्ग राजवंश पुन: सिंहासनारूढ़ हो गया, तो यह बात उनकी नई प्रजा में अशान्ति का एक संभाव्य कारण बन जाएगी।

नोट्स हंगरी के नए संविधान का स्वरूप राजतंत्रीय था।

लघु समहितसंघ के देशों की घबड़ाहट बिल्कुल निराधार भी नहीं थी। 1921 में हंगरी के अपने सिंहासन पर पुन:अधिकार करने के लिए भावुक और बहकाये गए कार्ल ने दो बार प्रयत्न किए। स्विट्जरलैण्ड स्थित अपने निवासस्थान से वह हर बार बिना किसी घोषणा के यह सोचकर हंगरी चला आता कि सारा हंगरी उसका साथ देगा। वास्तव में हंगरी की सरकार हेप्सबुर्ग राजा के पुन: सिंहासनारूढ़ होने से लघु समहितसंघ के देशों से जो युद्ध होता उसमें पड़ने की स्थिति में नहीं थी। इसलिए हंगरी में कार्ल की उपस्थिति से वह बड़ी मुसीबत में पड़ गई। पहली बार तो उसने कार्ल को हंगरी छोड़कर चुपचाप चले जाने को राजी कर लिया, किन्तु दूसरी बार उसने उसे गिरफ्तार कर मित्र-राष्ट्रों को सौंप दिया। जिन्होंने उसे मेदीरा (Madeira) भेज दिया जहाँ उसने अपना शेष जीवन बिताया। मित्र-राष्ट्रों के दबाव के कारण हंगरी सरकार को बाध्य होकर एक कानून बनाना पड़ा जिसके अनुसार हेप्सबर्ग राजवंश के लोग हंगरी के सिंहासन से सदा के लिए वंचित कर दिए गए। कार्ल के सैनिकों का एकमात्र परिणाम लघु समहितसंघ के देशों द्वारा अपनी शक्ति और संगठन का आश्चर्यजनक प्रदर्शन हुआ। छ: माह के बाद मेदीरा में ही कार्ल की मृत्यु हो गई और वह आर्कड्यूक ऑटो (Archduke Otto) नामक एक नौ-वर्षीय उत्तराधिकारी अपने पीछे छोड़ गया। अब यह स्पष्ट हो चुका था कि हेप्सबुर्ग राजवंश-संबंधी प्रश्न अनेक वर्षों तक मध्य-यूरोप को परेशान नहीं करेगा।

इटली (Italy)

इटली उन पाँच "प्रमुख मित्र और साथी राष्ट्रों" से एक था जिन्होंने संधि की शर्तें निर्धारित की थीं। किन्तु जापान की तरह युद्ध के परिणामों से उसकी तृष्णा बढ़ गई, बुझी नहीं; और युद्ध के बाद की पूरी अवधि में इटली की गणना जापान और भूतपूर्व शत्रु-देशों की भाँति "असंतुष्ट" और " कष्टदायी" राज्यों में की जानी चाहिए। 1848 में

नोट

इटली का प्रायद्वीप आठ विभिन्न राज्यों में बँटा हुआ था और इटली की एकता कुछ उत्साही लोगों का ही स्वप्नमात्र थी, यहाँ तक कि 1920-29 में भी वह अपनी उपद्रवी और साहसिक युवास्था में ही था। पुराने राष्ट्रों की सम्माननीय और शान्तिप्रिय परम्पराएँ उसमें अभी तक नहीं बन पाई थीं। उसे यह स्मरण था कि उसने अपनी एकता लड़कर प्राप्त की है, इसलिए अपनी शक्ति और क्षेत्र का विस्तार करने के लिए वह अब भी युद्ध का आश्रय लेना ही आवश्यक समझता था। यदि यह पूछा जाए कि अन्य बड़े राष्ट्रों की अपेक्षा इटली की निष्ठा राष्ट्र-संघ में क्यों कम थी तो उसका एक उत्तर यह होगा कि यदि राष्ट्र-संघ का उन्नीसवीं शताब्दी में अस्तित्व होता और यदि उस समय उसकी प्रसंविदा का पालन किया गया होता, तो इटली कभी भी एक राष्ट्र नहीं बन सकता था।

द्वितीय, इटली के असन्तोष के कुछ विशेष कारण भी थे। 1915 में जब इटली मित्र-राष्ट्रों में शामिल हुआ था, तभी उसने अपना पुरस्कार ठहरा लिया था। लन्दन की गुप्त संधि के अनुसार यह समझौता किया गया था कि शान्ति समझौते के समय इटली को ऑस्ट्रिया से दक्षिण टायरोल (South Tyrol) जिसकी आबादी जर्मन थी, और ट्रीस्ट (Trieste) तथा उसकी पार्श्वभूमि एवं डलमेशियन किनारा (ट्रीस्ट नगर को छोड़कर) जिनके निवासी मुख्यत: स्लाव थे, मिलेंगे। यह सौदा आत्मनिर्णय के उस सिद्धान्त को अमान्य करने का एक निन्दनीय प्रयास था जिसे अमेरिकी राष्ट्रपति विलसन ने प्रतिपादित किया था और अन्य मित्र-राष्ट्रों ने 1918 में शान्ति-समझौते के आधार के रूप में स्वीकार कर लिया था। विलसन ने इस गुप्त लन्दन-संधि को मानने से इन्कार कर दिया। 1920 के प्रारंभ में, मित्र-राष्ट्रों ने सम्पूर्ण सीमान्तविवाद से अपने हाथ खींच लिये और यूगोस्लाविया तथा इटली को आपस में निपट लेने के लिए छोड़ दिया। वार्त्ताएँ कई वर्षों तक चलती रहीं और उनमें कई दौर आये। यूगोस्लाविया का समर्थन कर फ्रांस ने इटली से तीव्र शत्रुता मोल ले ली। आखिर 1924 में जाकर कहीं अन्तिम समझौता हो सका। इटली ने जारा (Zara) बन्दरगाह को छोड़कर सम्पूर्ण डलमेशियन किनारा यूगोस्लाविया को दे दिया किन्तु और स्थानों में उसे लन्दन-संधि से भी अधिक अनुकूल शर्तें मिलीं जिनमें फ्यूम नगर पर अधिकार भी शामिल था।

फिर भी एक नाजुक प्रश्न का निबटारा बाकी रह गया था। इटली ने यह दावा किया कि लन्दन-संधि के अन्तर्गत अपने अधिकारों का परित्याग करने के बदले में, मित्र-राष्ट्र अलबानिया के मामलों में इटली की "विशेष स्थिति" (special status) को मान्य करें। नवम्बर 1921 में पेरिस राजदूत-सम्मेलन (Ambassador's Conference) ने, जिसने मित्र-राष्ट्र-सरकारों की मुख्य समिति के रूप में सर्वोच्च परिषद् (Supreme Council) का स्थान ले

नोट

लिया था, एक प्रस्ताव स्वीकार कर यह घोषणा की कि यदि अलबानिया की स्वतंत्रता को किसी प्रकार का खतरा उपस्थित हुआ तो ब्रिटेन, फ्रांस और जापान की सरकारें राष्ट्र-संघ-परिषद् में अपनी प्रतिनिधियों को यह अलबानिया की स्वतंत्रता की रक्षा करने का काम इटली को सौंपा जाए। इस रूप में इस प्रस्ताव का कोई भी तात्कालिक प्रयोग नहीं हो सकता था और यदि सच पूछा जाए भी तो इस तरह का प्रस्ताव एक बेतुकी बात थी क्योंकि अलबानिया की स्वतंत्रता को यदि किसी राष्ट्र से खतरा भी था, तो वह केवल इटली से ही था। किन्तु इटली ने इसका यह अर्थ लगाया कि अलबानिया के मामलों में हस्तक्षेप कर सकने का केवल उसका अधिकार मान लिया गया है और यह अधिकार उसके सिवाय अन्य किसी भी राष्ट्र को नहीं है। इटली का यह दावा यूगोस्लाविया के लिए सतत आशंका और चिढ़ का कारण बन गया।

क्या आप जानते हैं 1915 में इटली मित्र-राष्ट्रों में शामिल हुआ था।

लन्दन-संधि के एक तीसरे अनुच्छेद के कारण भी इटली को असन्तोष था और उसकी यह भावना बन गई थी कि मित्र-राष्ट्र उसके साथ न्यायोचित व्यवहार नहीं कर रहे हैं। इस अनुच्छेद में यह उपबन्धित किया गया था कि यदि अफ्रीका में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस अपना औपनिवेशिक क्षेत्र जर्मनी से छीनकर बढ़ायेंगे तो इटली को उसके वर्तमान अफ्रीकी उपनिवेशों के सीमान्तों और उनसे लगे हुए ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के उपनिवेशों के सीमान्तों के उपयुक्त समायोजन (Adjustment) द्वारा उचित मुआविजा दिया जाएगा। यह वचन इतना अस्पष्ट था कि उसके कई अर्थ निकाले जा सकते थे। 1924 में जाकर कहीं इटली और ग्रेट ब्रिटेन में समझौता हो सका। इस वचन को पूरा करने के लिए ब्रिटिश उपनिवेश केनिया का जुबालैण्ड (Jubaland) क्षेत्र इटली के सोमालिलैण्ड (Somaliland) क्षेत्र में मिला दिया गया। इटली और फ्रांस में समझौता हो सकना और भी कठिन सिद्ध हुआ। 1919 में उत्तरी अफ्रीका के सीमान्त-संशोधन द्वारा भी, इस अनुच्छेद के अन्तर्गत, इटली के लम्बे-चौड़े दावे पूरे नहीं हुए और उसकी यह शिकायत 1935 तक बनी रही जिससे फ्रांस तथा इटली के सम्बन्धों में कटुता बढ़ाने के लिए एक कारण और जुड़ गया।

अक्टूबर 1922 में जबकि इटली और यूगोस्लाविया का सीमान्त निश्चित भी नहीं हो पाया था, इटली की शासन-प्रणाली में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। वहाँ की प्रजातंत्र सरकार को, जो आन्तरिक व्यवस्था बनाये रखने में निर्बल होने के कारण अपनी प्रतिष्ठा खो चुकी थी, फासिस्ट पार्टी ने उलट दिया और इटली में 20 से अधिक वर्षों के लिए बेनिटो मुसोलिनी (Benito Mussolini) नामक फासिस्ट नेता की व्यक्तिगत तानाशाही स्थापित हो गई। इस घटना से दो प्रकार की परोक्ष अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिक्रियाएँ हुईं। एक तो, यूरोप के अन्य कई राज्यों में भी शीघ्र ही प्रजातंत्र के स्थान में तानाशाही की स्थापना हो गई। इस प्रकार के राज्यों में स्पेन सर्वप्रथम था। दूसरे, मुसोलिनी के सत्तारूढ़ होने में इटली की विदेश-नीति और भी आक्रमणात्मक हो जाएगी, इस बात का आभास मिल गया। युद्धोत्तर प्रजातंत्र-काल में अशान्तिपूर्ण असंतोष इटली की नीति का एक स्पष्ट लक्षण था। मुसोलिनी के हाथों में सत्ता आने पर यह असंतोष अधिक महत्त्वाकांक्षी, अधिक अहंकारी तथा अन्य राष्ट्रों की आवश्यकता और कठिनाइयों से लाभ उठाकर इटली का हितसाधन करने के लिए अधिक दृढ़संकल्प हो गया।

मुसोलिनी ने यूरोप को शीघ्र ही अपनी शक्ति का परिचय दे दिया। अगस्त 1923 में अलबानिया और यूनान का सीमान्त निश्चित करने वाले आयोग के इटालियन प्रतिनिधि और उसके तीन सहायकों को यूनानी डाकुओं ने गोली से उड़ा दिया। इस पर इटली के बेड़े ने तुरन्त ही कोर्फु (Corfu) पर बमवर्षा कर दी जिसमें कई नागरिकों की हत्या हुई और द्वीप पर अधिकार कर क्षतिपूर्ति की माँग की जिसका पेरिस में स्थित राजदूत-सम्मेलन ने भी समर्थन किया। यूनान ने जो वेनिजेलॉस के पतन के बाद से यूरोप में मित्रहीन हो गया था, अत्यन्त भयभीत होकर बिना सोचे-विचारे राष्ट्र-संघ और राजदूत-सम्मेलन दोनों ही से अपील की। प्राधिकार (authority) के इस विभाजन से लाभ उठाकर मुसोलिनी ने यह घोषणा कर दी कि वह राष्ट्र-संघ के क्षेत्राधिकार को नहीं मानेगा। अन्त में निजी वार्ताओं के

नोट

परिणामस्वरूप एक समझौता हुआ जिसके अनुसार यूनान को न्यायालय द्वारा इटली के दावे की वैधता (validity) का निर्णय होने तक हेग (Hague) स्थित अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय (Permanent Court of International Justice) में 5,00,00,000 लायर (lire) जमा करना था। किन्तु ऐन मौके पर इटली ने इस समाधान को भी अस्वीकार कर दिया। अन्त में राजदूत-सम्मेलन के दबाव के कारण यूनान को क्षतिपूर्ति की रकम सीधी ही इटली को दे देनी पड़ी। इन कार्रवाइयों से मालूम होता था कि मित्रराष्ट्र-सरकारें एक छोटे राज्य की रक्षा के लिए राष्ट्र-संघ के द्वारा या अन्य किसी प्रकार से अपने में से किसी के विरुद्ध कार्रवाई करने के लिए तैयार नहीं थीं।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त-स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. 1920 में अलबानिया को एक स्वतंत्र राज्य की हैसियत से ..... का सदस्य बना लिया गया।
2. 1913 में ..... को एक स्वतंत्र राज्य मान लिया गया था।
3. यूगोस्लाविया का समर्थन कर ..... ने इटली से तीव्र शत्रुता मोल ले ली।

9.2 सोवियत संघ (The Soviet Union)

1918 के बाद के वर्षों में सोवियत समाजवादी गणतंत्र-संघ (Union of Soviet Socialist Republics)– पहले रूस के नाम से ज्ञात इस देश का यह नाम सरकारी तौर पर 1923 में रखा गया था–की भी गणना यूरोपीय राजनीति में विक्षोभकारी शक्तियों (distrubing forces) में जानी चाहिए, यद्यपि इसके कारण एकदम भिन्न हैं। रूस का गृहयुद्ध जिसमें सोवियत-विरोधी सेनाओं को ब्रिटेन, फ्रांस, जापान और अमेरिका (कुछ समय तक) की सरकारों से सक्रिय सहायता मिली थी, 1920 में जाकर समाप्त हुआ और सोवियत सरकार तथा मित्र-राष्ट्रों के संबंधों में उसके बाद भी कई वर्षों तक परस्पर अविश्वास और शत्रुता बनी रही। यह शत्रुता स्वाभाविक और अनिवार्य थी। धर्म सुधार (Reformation) के बाद से यूरोप के राज्य स्वयं अपने को और अन्य राज्यों को (Religious) अखण्ड और स्वतंत्र इकाइयाँ मानते थे। अन्य राज्य की जनता में असन्तोष फैलाकर किसी राज्य की सुरक्षा खतरे में डालना युद्ध-काल में ठीक हो सकता था, किन्तु सामान्य समय में ऐसा करना एकदम गलत बात मानी जाती थी। सोवियत सिद्धान्त ने इन मूलभूत धारणाओं का साहसपूर्वक एक ओर रख दिया। उसने इस बात से भी इन्कार किया कि सोवियत संघ एक राष्ट्रीय इकाई (national unit) है। राज्य को वह राजनीतिक संगठन का एक अस्थायी रूप मानता था जिसका मेल साम्यवादी आदर्श की प्राप्ति के साथ नहीं बैठता था। उसके अनुसार हर सच्चे साम्यवादी का कर्तव्य सारे विश्व में उस क्रान्ति का प्रचार करना था जो रूस में सफल हो चुकी थी और चूँकि सोवियत संघ के आरम्भिक दिनों के नेताओं का यह विश्वास था कि शेष संसार में भी पूँजीवाद की समाप्ति हुए बिना रूस में क्रान्तिकारी सरकार टिक नहीं सकेगी, इसलिए उनके जोशपूर्ण उत्साह में स्वार्थ का भी कुछ अंश था।

आरम्भ में सोवियत संघ अपने छोटे-छोटे पड़ोसी देशों से ही राजनयिक संबंध स्थापित कर सका। सोवियत सरकार ने राष्ट्रीय महत्त्वकांक्षाओं को परित्याग करने की घोषणा की थी और उसकी नेकनीयती का पता इसी बात से लगता था कि वह उन नवनिर्मित राज्यों को मान्यता देने के लिए तैयार थी जो रूसी साम्राज्य से अलग हो गये थे। 1920 में उसने फिनलैण्ड (जो रूसी साम्राज्य के अन्तर्गत अर्द्ध-स्वतन्त्र ग्रेंड डची रह चुका था) और इस्टोनिया (Estonia), लेटविया (Latvia) तथा लिथुआनिया (Lithuania) (जिसकी भूमि रूस का अखण्ड अंग रह चुकी थी) से शान्ति-संधियाँ कीं। इन संधियों के बाद ही अगले वर्ष पोलैण्ड के साथ संधि हुई। किन्तु तीनों कॉकेशियन (Caucasian) राज्य–जार्जिया (Georgia), अजरबेजान (Azerbaijan) और आर्मीनिया (Armenia)–घाटे में रहे। शायद जॉर्जिया को छोड़कर इनमें से कोई भी स्वतंत्रता के तत्वों से युक्त नहीं था। मित्र-राष्ट्रों की सेना, जिसके

नोट

संरक्षण में ये युद्ध के अंतिम वर्ष में अस्तित्व में आये थे, हट जाने से उनके भाग्य का सितारा ही अस्त हो गया। उनकी भूमि सोवियत संघ तथा टर्की को वापस मिल गई। 1921 के आरम्भ में सोवियत संघ ने टर्की, फारस और अफगानिस्तान से मित्रता की संधियाँ कीं। फारस और अफगानिस्तान के साथ की गई संधियों का परिणाम यह हुआ कि उन्हें ब्रिटिश सरकार के दबाव का मुकाबला करने का साहस हुआ यद्यपि मंशा ऐसी नहीं थी; और कुछ समय तक तो ऐसा प्रतीत होने लगा मानो ग्रेट ब्रिटेन और रूस के बीच उन्नीसवीं शताब्दी में एशिया में चलने वाली प्रतिद्वन्द्विता पुन: प्रारम्भ होने ही वाली है।

बड़े राष्ट्र सोवियत सरकार से राजनयिक संबंध स्थापित करने से इस समय भी बचना चाहते थे। किन्तु सोवियत संघ से, हालाँकि उसने जारकालीन रूस का कर्ज चुकाने से इन्कार कर दिया था, व्यापार की सम्भावनाओं की उपेक्षा तो नहीं की जा सकती थी। 1921 में ग्रेट ब्रिटेन ने सोवियत सरकार के साथ एक व्यापारिक समझौता किया तथा एक "व्यापारिक शिष्टमण्डल" ("trade mission") मॉस्को भेजा। इटली ने ग्रेट ब्रिटेन का अनुकरण किया, और अगले वर्ष सोवियत संघ को राष्ट्र-कुल के एक सदस्य के रूप में इतनी मान्यता मिल चुकी थी कि जेनोआ (Genoa) में अप्रैल 1922 में हुए जर्मनी सहित सभी यूरोपीय देशों के एक अर्थिक सम्मेलन में भाग लेने के लिए उसे आमन्त्रित किया गया। लॉयड जॉर्ज (Lloyd George) को यह आशा थी कि इस सम्मेलन का उपयोग सोवियत संघ और अन्य राज्यों में समझौता कराने में किया जा सकेगा; किन्तु फ्रांसीसी और बेल्जियन प्रतिनिधिमण्डलों के दुराग्रह के कारण इस आशा पर पानी फिर गया। उनकी यह माँग थी कि सोवियत सरकार से किसी भी प्रकार की वार्त्ता इस शर्त पर चलाई जानी चाहिए कि सोवियत सरकार रूस के युद्ध-पूर्व कर्जों को चुकाना स्वीकार करे।

ग्रेट ब्रिटेन की सोवियत संघ-संबंधी नीति इस समय दुर्भाग्य से दलगत राजनीति की गेंद बन गई। जेनोआ-सम्मेलन के कुछ समय बाद ही, लॉयड जॉर्ज के पतन का एक कारण उसके द्वारा "बोलशेविकों को रिझाने" ("Coquetting the Bolsheviks") की नीति बताया जाता था। लॉयड जॉर्ज की सरकार के बाद अनुदार सरकार (Conservative Government) बनी जिसने इस मामले में और भी कड़ी नीति अपनाना आवश्यक समझा। अनुदार दल की इस नीति की प्रतिक्रियास्वरूप मजदूरदलीय सरकार (Labour Government) ने, जो फरवरी 1924 में सत्तारूढ़ हुई, तुरन्त सोवियत सरकार को मान्यता दे दी। पूरे ग्रीष्म-काल में लन्दन में वार्त्ताएँ चलती रहीं और अगस्त में ब्रिटिश तथा सोवियत प्रतिनिधियों में एक समझौता हो गया जिसके अनुसार एक-दूसरे के बकाया दावों को रद्द कर देने तथा सोवियत सरकार को एक गारण्टी-प्राप्त ऋण देने की व्यवस्था की गई।

इस बीच अनुदार दल ने अपने कार्यक्रम का एक प्रमुख अंग मजदूरदलीय सरकार की सोवियत संघ के प्रति नीति का विरोध बना लिया। 1921 के व्यापारिक समझौते की एक धारा के अनुसार सोवियत सरकार ने ब्रिटिश साम्राज्य में किसी भी प्रकार का क्रान्तिकारी प्रचार नहीं करने का वचन दिया था। न तो अनुदारदलीय और न मजदूरदलीय सरकार ने ही सोवियत सरकार का यह तर्क स्वीकार किया था कि सोवियत सरकार और कॉमिण्टर्न दो अलग-अलग चीजें हैं तथा कॉमिण्टर्न की गतिविधि को इस वचन का अंग नहीं माना जा सकता। 1924 के ग्रीष्म-काल में अनुदार दल के लोग ब्रिटिश साम्राज्य में कॉमिण्टर्न द्वारा किए जा रहे प्रचार की ओर मजदूरदलीय सरकार का ध्यान बारम्बार आकर्षित कर परेशान करते रहे। अक्टूबर 1924 में आम चुनावों के पहले एक अनुदारदलीय समाचार-पत्र ने, सम्भवत: कॉमिण्टर्न के अध्यक्ष जिनोविव (Zinoviv) द्वारा लिखा गया, एक पत्र प्रकाशित किया जिसमें ब्रिटिश कम्युनिस्टों को ग्रेट ब्रिटेन में कम्युनिस्ट-प्रचार के ढंगों की व्याख्या प्रसारित की गई थी। सोवियत सरकार ने पत्र की प्रमाणिकता का दृढ़ विरोध किया।

किन्तु 1924 के अन्त में सोवियत संघ की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति सर्वत्र इस प्रकार तनावपूर्ण नहीं थी। ग्रेट ब्रिटेन द्वारा राजनयिक मान्यता दिए जाने के बाद सोवियत संघ को इटली, फ्रांस और जापान तथा यूरोप के अधिकांश राज्यों ने मान्यता दे दी थी। इस समय यूनाइटेड स्टेट्स ही एक ऐसा बड़ा राष्ट्र रह गया था। जो सोवियत सरकार से किसी भी प्रकार का संबंध नहीं रखना चाहता था। इधर सोवियत संघ में जनवरी 1924 में लेनिन की मृत्यु के बाद से

नोट

विश्वक्रान्ति को पार्टी-कार्यक्रम में गौण स्थान देने की प्रवृत्ति स्पष्ट परिलक्षित हो रही थी। "जिनोविव-पत्र" प्रकरण का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पहलू यह था कि सोवियत संघ में हर कोई इस पत्र की प्रमाणिकता को अस्वीकार करना, चाहता था। पत्र प्रमाणिक हो या न हो, किन्तु उसमें ऐसी कोई बात नहीं थी जो सोवियत नेताओं की अब तक की घोषित नीति के विरुद्ध हो। ट्रॉट्स्की (Trotsky) और स्टालिन में 1924 से नेतृत्व के लिए जो संघर्ष प्रारंभ हुआ, उसका भी विषय यही था। ट्रॉट्स्की इस परम्परागत सिद्धान्त का समर्थन करता था कि पूँजीवादी दुनिया के बीच सोवियत सरकार अनिश्चित काल तक टिकी नहीं रह सकती; इसलिए क्रान्ति का विस्तार ही सोवियत कार्यकलाप का प्रथम उद्देश्य होना चाहिए। किन्तु स्टालिन नई नीति का समर्थक था जो "एक ही राज्य में समाजवाद का निर्माण करने" ("Building up Socialism in a single state") की नीति के नाम से विख्यात हुई। 1927 में ट्रॉट्स्की को कम्यूनिस्ट पार्टी से निकाल देने का अर्थ संसार में यह घोषणा कर देना था कि नई नीति की विजय हुई है और विश्व-क्रान्ति की आकांक्षाओं को, यद्यपि विधिवत् उनका परित्याग नहीं कर दिया गया था, भविष्य में सोवियत सरकार और पूँजीवादी राज्यों के बीच सामान्य संबंध स्थापित होने में बाधक नहीं होने दिया जाएगा। इस प्रकार सोवियत संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के मूलभूत आधार को आखिर स्वीकार कर लिया तथा अन्तर्राष्ट्रीय राज्यों की बिरादरी में उसका पूरी तरह पुन: सम्मिलित होना केवल समय का ही प्रश्न रह गया।

9.3 शान्ति के आधार (The Foundations of Peace)

विश्व-युद्धों के बीच के यूरोपीय इतिहास के द्वितीय काल–शान्तिकरणकाल (Period of Pacification) का आरंभ उन दो समस्याओं के समाधान से हुआ जिन्होंने प्रथम काल से सबसे अधिक बखेड़े खड़े किए थे। ये समस्याएँ थीं–क्षतिपूर्ति और फ्रांस की सुरक्षा। 1924 और 1925 में इन समस्याओं के जो समाधान–डावेस-योजना (Dawes Plan) और लोकार्नो-संधि (Locarno Treaty)–निकाले गए वे अधूरे, और, जैसा हम अब जानते हैं, अल्पकालिक थे। किन्तु आधी शताब्दी तक उन्हें अन्तिम माना जाता रहा; और ये वर्ष, अनिश्चतताओं और अपूर्णताओं के होते हुए भी युद्धोत्तर यूरोप के स्वर्णिम वर्ष थे।

9.4 डावेस-योजना (The Dawes Plan)

11 मई, 1924 को फ्रांस में आम चुनाव हुए जिसके परिणामस्वरूप हेरियत (Herriot) फ्रांस का प्रधानमंत्री बना। इन चुनावों से कुछ ही समय पूर्व डावेस-समिति ने अपना प्रतिवेदन क्षतिपूर्व-आयोग को प्रस्तुत किया था। जर्मनी में इस समय तक, वहाँ का विदेशी-मंत्री स्ट्रेसमान (Stressemann) राजनीतिक जगत का सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति हो चुका था। ग्रेट ब्रिटेन में रेमजे मेकडॉनल्ड की मजदूरदलीय सरकार सत्तारूढ़ थी। अब ये तीनों राजनीतिज्ञ डावेस-प्रतिवेदन के आधार पर क्षतिपूर्ति-समस्या का हल निकालने में जुट गए।

डावेस-समिति की प्रथम चिन्ता जर्मन मुद्रा को पुन: स्थिर करने की थी, क्योंकि उसके बिना विदेशों का भुगतान कर सकना जर्मनी के लिए असम्भव था। 1923 की समाप्ति तक जर्मन मार्क का वास्तव में कोई मूल्य नहीं रह गया था। जर्मन सरकार ने अस्थाई रूप से एक नई मुद्रा का प्रचलन किया था जो रेन्टेनमार्क (Rentenmark) कहलाती थी तथा जिसकी दर पुराने सिक्के की दर के ही समान 20 प्रति पौंड थी। किन्तु स्वर्ण या विदेशी आस्तियों (foreign assets) की एक सुदृढ़ संचिति (Reserve) के समर्थन के अभाव में रेन्टेमार्क की स्थिति भी संकटपूर्ण ही थी। डावेस-सीमित ने उत्क दर पर ही रीशमार्क (Reichsmark) नामक एक नई मुद्रा जारी करने की सिफारिश की थी, जिसका नियंत्रण जर्मन सरकार से स्वतंत्र एक प्रचालन-बैंक (Bank of Issue) द्वारा किया जाना था।

यह मानकर कि मुद्रा स्थिर हो जाएगी, समिति ने यह मत प्रकट किया था कि क्षतिपूर्ति के आंशिक भुगतानों के रूप में, जर्मनी मित्र-राष्ट्रों को 5,00,00,000 पौण्ड से प्रारम्भ होनेवाली वार्षिकियाँ (annuities) चुका सकेगा जो

नोट

पाँचवें वर्ष के बाद से बढ़ते हुए 12,50,00,000 पौण्ड के मानक अधिकतम (standard maximum) तक पहुँच जायेंगी। इन भुगतानों की प्रतिभूति (security) तीन प्रकार की रखी गई थी: सरकारी रेलों के बन्धपत्र (bonds), जर्मन औद्योगिक प्रतिष्ठानों के बन्धपत्र तथा मद्यसार (alcohol), शक्कर और तम्बाखू पर करों तथा सीमाकर से राजस्व-आय (revenue receipts)। कहीं ये भुगतान विनियम (exchange) को पुन: अव्यवस्थित न कर दें इस दृष्टि से यह सुझाव रखा गया था कि जर्मनी द्वारा ये भुगतान मार्को में किये जायें तथा विदेशी मुद्राओं में इन रकमों का विनियम कराने का उत्तरदायित्व मित्र-राष्ट्रों की सरकारों का रहे। लेनदारों (creditors) के हित में यह व्यवस्था उचित रूप से चलती रहे, इसके लिए क्षतिपूर्ति-आयोग को प्रचालन-बैंक के बोर्ड, रेलों और "नियन्त्रित राजस्व" ("controlled revenue") [अर्थात् पृथक् रखी हुई कर-आय (earmarked tax receipts)] के प्रबन्धक-मण्डल में मित्र-राष्ट्रीय आयुक्त (Allied Commissioners) नियुक्त करने का अधिकार दिया गया। इसके साथ ही सम्पूर्ण योजना का भार एक "क्षतिपूर्ति भुगतान अभिकर्ता" ("Agent") को सौंपा गया। अन्त में इस योजना की सफलता के लिए दो शर्तों का पूरा होना आवश्यक था–एक तो रूर पर अधिकार की समाप्ति तथा जर्मनी का अपने सम्पूर्ण क्षेत्र में पुन: आर्थिक नियन्त्रण। दूसरे, जर्मनी को विदेशों से 4,00,00,000 पौण्ड ऋण मिले ताकि उसके दो प्रयोजन–मुद्रा-संचित (currency reserve) की व्यवस्था करना तथा उस प्रथम वार्षिकों के भुगतान में उसकी सहायता करना जो योजना के लाभ सामने आने से पहले ही देय (due) हो जाएगी–पूरे हो सकें।

मेकडॉनल्ड और हेरियत में परस्पर प्रारम्भिक चर्चाओं के बाद "डावेस-योजना" लन्दन में जुलाई और अगस्त में हुए एक सम्मेलन में प्रस्तुत की गई। इस सम्मेलन में स्ट्रेसमास भी शामिल हुआ था। समझौते के इस नये वातावरण में यह योजना बिना अधिक कठिनाई के स्वीकार कर ली गई, यद्यपि कई जटिल बारीकियों पर समझौता होना आवश्यक था। रूस की घटना ध्यान में रखते हुए जर्मनी ने यह वचन लेने का प्रयत्न किया, और इसमें उसे सफलता भी मिली कि जानबूझकर बड़ी रकम बकाया रखने के अतिरिक्त और किसी भी दशा में उस पर शास्ति नहीं लगाई जाएगी। अक्टूबर में जर्मन ऋण जारी किया गया और (फ्रांस को छोड़कर, जहाँ स्वयं बैंकों ने ऋण दिया था) सर्वत्र उसमें अपेक्षा से अधिक रकम प्राप्त हुई। ऋण की आधी से भी अधिक रकम अमेरिका से मिली एक-चौथाई से भी अधिक ग्रेट ब्रिटेन से। शेष रकम फ्रांस, बेल्जियम, इटली, स्विट्जरलैण्ड और स्वीडन से प्राप्त हुई। यद्यपि डावेस-ऋण राष्ट्र-संघ के तत्वावधान में जारी नहीं किया था, तथापि इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऑस्ट्रिया और हंगरी को राष्ट्र-संघ द्वारा दिलाये गये ऋण के पूर्वोदाहरण ने इस ऋण की सफलता में बहुत योग दिया। नवम्बर के मध्य में फ्रांस और बेल्जियम की अन्तिम सेनाएँ रूर से हटा ली गईं।

डावेस-योजना में कई अच्छाइयाँ थीं। उसमें माँगों को केवल उतनी ही रकम तक सीमित रखा गया था, जितनी, जर्मनी परिस्थिति अनुकूल होने पर, चुका सकता था, यद्यपि फ्रांस की आशाओं को पूरी करने की आवश्यकता के कारण विशेषज्ञ लोग सम्भवत: आवश्यकता से अधिक आशावादी बन गये थे। इस योजना ने भुगतान और विनियम के प्रश्न में अन्तर किया तथा विनियम का उत्तरदायित्व लेनदारों पर ही छोड़ दिया। इस योजना ने जर्मनी के संसाधनों की अस्पष्ट सामान्य प्रतिभूति की अपेक्षा कुछ निश्चित राजस्व-आय की प्रतिभूति लेनदारों को दी। सबसे अच्छी बात तो उसके द्वारा यह हुई कि उसने क्षतिपूर्ति के प्रश्न को राजनीतिक विवाद-क्षेत्र से हटा लिया और उसे एक साधारण व्यापारिक कर्ज की भाँति ही माना। उसने असन्तोषजनक क्षतिपूर्ति आयोग के हाथों से यह सारा मामला हटा लिया तथा यह सुनिश्चित कर दिया कि उसका निबटारा निष्पक्ष, अ-राजनीतिक दृष्टिकोण से किया जाएगा। यह बात विशेषकर इसलिए सम्भव हो सकी कि "क्षतिपूर्ति भुगतान अभिकर्ता" एक अमेरिका नागरिक को बनाया जाना था।

डावेस-ऋण की सफलता के बाद जर्मनी ने खूब ऋण लिया। अगले पाँच वर्षों में जर्मनी की हर प्रमुख नगरपालिका और लगभग हर प्रमुख व्यापारिक प्रतिष्ठान ने यूनाइटेड स्टेट्स और कभी-कभी ग्रेट ब्रिटेन से या तो काफी ऋण लिये या उधार खाते खोले। लक्ष्मी का यह आगमन भाग्य खुल जाने के समान मालूम पड़ने लगा। इसके कारण समृद्धि की ऐसी लहर सी आ गई कि अपने संसाधनों पर अनुचित भार डाले बिना जर्मनी डावेस-वार्षिकियाँ चुकाने में समर्थ हो सका तथा प्रचुर विदेशी मुद्रा अपने हाथ में रखकर अपनी विनियम-समस्या को भी हल कर सका। इन वर्षों में

नोट

डावेस-योजना एक जबरदस्त सफलता प्रतीत होती थी। उस समय बहुत थोड़े लोग यह अनुभव कर सकते थे कि जर्मनी अमेरिका से प्राप्त धन लेकर अपना कर्ज चुका रहा था और उसकी ऋण चुकाने की क्षमता इस बात पर निर्भर थी कि जर्मन ऋणों का वॉल स्ट्रीट (Wall Street) में सदैव स्वागत होता रहे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)

4. लोकार्नो संधि ने ..... शांतिकरण में योगदान दिया है।
   (क) यूरोप (ख) फ्रांस (ग) चेकोस्लोवाकिया (घ) पोलैंड
5. फ्रांस-जर्मनी के सीमांतों की गारंटी-संबंधी संधि ..... थी।
   (क) रूस-संधि (ख) लोकार्नो संधि (ग) पोलैंड-संधि (घ) रेपेलो-संधि
6. ..... से पहले संयुक्त आस्ट्रिया-हंगरी नामक राज्य था जिसकी जनसंख्या 5,50,00,000 थी।

9.5 मित्र-राष्ट्रों के आपसी कर्ज (Inter-Allied Debts)

यहाँ एक अन्य प्रकार के दावों की चर्चा के लिए सबसे उपयुक्त अवसर है जो बुनियादी तौर से भिन्न होते हुए भी क्षतिपूर्ति-समस्या के साथ बुरी तरह उलझे थे तथा जिनका अन्त में जाकर उन्हीं के समान हाल हुआ। युद्ध-काल में ग्रेट ब्रिटेन ने अपने कुछ यूरोपीय मित्र-देशों को, जिनमें रूस भी शामिल था, काफी रकम ऋण में दी थी और इस ऋण की आधी से भी अधिक रकम उसने यूनाइटेड स्टेट्स से, जिससे कुछ मित्र-राष्ट्रों ने भी सीधे ऋण लिये थे, उधार ली थी। क्षतिपूर्ति-समस्या के समान कर्जदारी के इस झमेले की शीघ्र ही असाध्य और जटिल स्थिति बन जाने की आशंका होने लगी। जहाँ तक मित्र-राष्ट्रों के युद्ध-कालीन आपसी कर्जों का प्रश्न है, केवल अमेरिका ही साहूकार था जबकि यूरोपीय मित्र-राष्ट्र केवल कर्जदार ही थे (फ्रांस भी थोड़ी सी रकम का ऋणदाता था) और ग्रेट ब्रिटेन की स्थिति बीच की थी; वह आंशिक रूप से कर्जदार और आंशिक रूप में ऋणदाता था।

1922 में जब यूनाइटेड स्टेट्स सरकार अपना ऋण वापस चुकाने के लिए अधिक जोर देने लगी, तो फ्रांस ने घोषित किया कि वह अपना युद्धकालीन कर्ज केवल तभी और उसी स्थिति में चुका सकता है जबकि जर्मनी क्षतिपूर्ति का भुगतान करे, क्योंकि पराजित जर्मनी ही उसका (फ्रांस का) ऋण न चुकाये और ऐसी स्थिति में विजयी फ्रांस को अपने ही मित्र-राष्ट्रों का ऋण चुकाना पड़े यह असहनीय था। देनदारी और लेनदारी (debit and credit) दोनों में ही बराबर होने के कारण ग्रेट ब्रिटेन यह पसन्द करता कि सभी युद्धकालीन कर्ज बिल्कुल रद्द कर दिए जायें। अगस्त 1922 में अपने यूरोपीय साथी राष्ट्रों को उसने एक पत्र लिखा [साधारणत: "बेलफार-पत्र" ("Balfour-note) के नाम से प्रसिद्ध है], जिससे उसने उन्हें यह सूचित किया कि ब्रिटेन अपने कर्जदारों से कर्ज की केवल उतनी ही रकम वापिस चाहता है जितनी उसे अमेरिका को अपना कर्ज चुका देने के लिए आवश्यक है। कर्ज-वसूली की सारी बुराई यूनाइटेड स्टेट्स के सिर लाद देने के इस अत्यन्त चालाकीपूर्ण प्रयत्न का उस देश में लगभग सर्वत्र विरोध हुआ और इस कारण ऋण रद्द कर देने के प्रस्ताव के प्रति अमेरिका की भावनाएँ और भी कठोर हो गईं।

अमेरिका के रूख को देखते हुए ब्रिटिश सरकार ने सोचा कि उसे अपना कर्ज चुकाने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। दिसम्बर, 1922 में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार यह निश्चय किया गया कि ब्रिटेन यूनाइटेड स्टेट्स का कर्ज उसके ब्याज सहित लगभग 3,30,00,000 पौण्ड की 62 वार्षिक किश्तों में चुकाएया। 1926 तक ग्रेट ब्रिटेन को अपने यूरोपीय मित्र-राष्ट्रों से एक पैसा भी नहीं मिला। तब डावेस-समझौते के बाद, ब्रिटिश-अमेरिकी समझौते के ही ढंग के समझौते उस कर्ज को वार्षिक किश्तों में चुकाने के लिए हुए जो फ्रांस, इटली, रूमानिया, यूगोस्लाविया, यूनान और पुर्तगाल ने ग्रेट ब्रिटेन एवं अमेरिका से लिये थे। इन लेन-देनों का विस्तृत विवरण यहाँ नहीं

नोट

दिया जा सकता। किन्तु यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि जहाँ अमेरिका ने ब्रिटेन के मूल कर्ज (पाँच प्रतिशत की मानक दर पर ब्याज जोड़ते हुए) में 30 प्रतिशत से भी कम की कमी थी, वहीं ब्रिटेन ने इटली के कर्ज में 80 प्रतिशत से अधिक और अन्य मित्र-राष्ट्रों के कर्ज में 60 प्रतिशत से भी अधिक की कमी की। इसके अतिरिक्त ग्रेट ब्रिटेन को मित्र-राष्ट्रों के आपसी कर्ज और क्षतिपूर्ति से जो रकम मिली, वह सब मिलाकर भी ब्रिटेन के कर्ज की उस रकम के बराबर कभी भी नहीं हुई जो उसे अमेरिका को चुकानी पड़ी। वास्तव में इस प्रकार कर्ज की सारी रकम, चाहे वह कहीं भी चुकाई गई हो, अमेरिका राजकोष में ही पहुँच गई।

1924 और 1928 के बीच राष्ट्र-संघ के तत्वावधान में यूनान, बलगेरिया, इस्टोनिया (Estonia) और डानझिग के स्वतंत्र नगर ने ऋण लिये और उनकी रकम मुख्यत: यूनाइटेड स्टेट्स और ग्रेट ब्रिटेन से प्राप्त हुई। अटलांटिक के उस पार से जर्मनी और अन्य यूरोपीय देशों को काफी रकम उधार मिलने से न केवल क्षतिपूर्ति और युद्ध-कालीन कर्जों के भुगतान-संबंधी सारी भारी-भरकम व्यवस्था ही चलती रही, अपितु उसके कारण यूरोप में समृद्धि और कल्याण का एक सामान्य वातावरण भी निर्मित हो गया और समृद्धि यूरोप के प्रमुख राज्यों के संबंधों के सुधार के लिए जो इस अवधि की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता थी, अत्यन्त आवश्यक थी।

9.6 जेनेवा-संलेख (Geneva Protocol)

अगस्त 1924 में लन्दन में जर्मन क्षतिपूर्ति-समस्या के समाधान के लिए डावेस-योजना स्वीकार करने-संबंधी समझौता कर चुकने के बाद मेकडॉनल्ड तथा हेरियत अगले माह राष्ट्रसंघ-सभा के जेनेवा-अधिवेशन में सम्मिलित हुए। उसमें उन्होंने दूसरी महत्त्वपूर्ण समस्या–फ्रांस की सुरक्षा–का समाधान करने के लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रयत्न किया।

1922 में गारण्टी-समझौता संबंधी एक ब्रिटिश प्रस्ताव फ्रांस द्वारा अस्वीकार कर दिए जाने के बाद से फ्रांसीसी सुरक्षा के लिए विभिन्न दिशाओं में खोज होने लगी थी। 1921 में राष्ट्र-संघ ने नि:शस्त्रीकरण के जटिल प्रश्न को हल करने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ कर दिए थे और 1922 में फ्रांसीसी सरकार ने प्रथम बार अपना यह संकल्प प्रकट किया और उस पर वह अत्यधिक अटल बनी रही कि फ्रांस केवल अधिक सुरक्षा प्राप्त होने पर ही अपना नि:शस्त्रीकरण कर सकता है। 1919 में जब फ्रांस द्वारा सुरक्षा की माँग पहली बार की गई थी, तब से अब तक फ्रांसीसी सुरक्षा की कल्पना में वृद्धि हो गई थी। पूर्वी एवं मध्य-यूरोप में फ्रांस के अब ऐसे आश्रित मित्र थे जिनकी सुरक्षा अब स्वयं उसकी सुरक्षा का अंग हो चुकी थी। अब आवश्यकता इस बात की थी कि फ्रांस और उसके साथियों को अतिरिक्त सुरक्षा की गारण्टी दी जाए। नि:शस्त्रीकरण-संबंधी जेनेवा-चर्चाओं में इस प्रकार की गारण्टी की माँग करने का उत्तम अवसर मिल गया। यदि इसकी गारण्टी प्राप्त हो जाती, तो फ्रांस की नीति को एक महत्त्वपूर्ण सफलता मिल जाती। यदि वह प्राप्त नहीं होती, तो फ्रांस और साथी नि:शस्त्रीकरण-संबंधी कोई कर्तव्य स्वीकार ही नहीं करते।

जेनेवा में ब्रिटिश प्रतिनिधिमण्डल ने, संभवत: अपने कदम के सम्पूर्ण परिणामों का अनुभव किए बिना ही फ्रांस की उक्त धारणा को चुपचाप स्वीकार कर लिया। अस्थायी मिश्रित आयोग (Temporary Mixed Commission) ने जिसे नि:शस्त्रीकरण-प्रश्न पर विचार करने के लिए नियुक्त किया गया था, 1923 में राष्ट्र-संघ की सभा के सामने "परस्पर सहायता संधि" ("Treaty of Mutual Assistance") का प्रारूप प्रस्तुत किया जिसमें भावी नि:शस्त्रीकरण-संबंधी कुछ अस्पष्ट सी व्यवस्था की गई थी और वर्तमान सुरक्षा के लिए स्पष्ट गारण्टियाँ निश्चित की गई थीं। किसी भी युद्ध के प्रारम्भ होने के चार दिन के भीतर राष्ट्र-संघ-परिषद् को यह निर्णय करना था कि आक्रमणकारी (aggressor) पक्ष कौन-सा है और उसके बाद राष्ट्र-संघ के सदस्य स्वत: आक्रमणकारी के विरुद्ध सैनिक सहायता देने के लिए कर्तव्यबद्ध हो जाते थे।

1923 की राष्ट्र-संघ-सभा, जिसमें किसी भी बड़े राष्ट्र के जिम्मेदार मन्त्रियों ने भाग नहीं लिया था, इस प्रारूप को सम्बन्धित सरकारों के विचारार्थ भेजने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कर सकी। फ्रांस, उसके अधिकांश साथियों

नोट

और पूर्वी यूरोप के छोटे-छोटे राज्यों ने उसका उत्साहपूर्वक स्वागत किया किन्तु ग्रेट ब्रिटेन, ब्रिटिश अधिराज्यों, स्केण्डिनेवियन राज्यों और हॉलैण्ड ने, जो अपनी सुरक्षा बढ़ाने की अपेक्षा दायित्वों में वृद्धि करने से बचना चाहते थे, उसे निश्चित रूप से अस्वीकृत कर दिया। किन्तु अगले वर्ष जब मेकडॉनल्ड और हेरियत एक साथ सभा में उपस्थित हुए, तब वातावरण में इतना सर्वतोमुखी सुधार हो चुका था कि उक्त दोनों विरोधी दृष्टिकोणों में समझौता सम्भव दिखाई देने लगा। 1924 में सभा ने समझौते का एक प्रारूप बनाया जो "जेनेवा-संलेख" ("Geneva Protocol") नाम से प्रसिद्ध हुआ संबंधित सरकारों से उसे स्वीकार कर लेने की निर्विरोध सिफारिश की। इस समझौते का पूरा नाम था, "अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिए संलेख" ("Protocol for the Pacific Settlement of Intrenational Disputes")।

प्रसंविदा के अनुच्छेद 16 के अधीन परिषद् की शक्तियों में वृद्धि करने या सैनिक अनुशास्तियों (military sanctions) को अनिवार्य बनाने के लिए जेनेवा संलेख में कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। इस कारण उससे फ्रांस की माँग पारस्परिक सहायता संधि प्रारूप (Draft Treaty of Mutual Assistance) की अपेक्षा कम ही पूरी होती थी। 1924 की फ्रांसीसी सरकार का उसे (जेनेवा-संलेख) पर्याप्त मानकार स्वीकार कर लेना इस बात का पुष्ट प्रमाण था कि पुंकारे के पतन के बाद से फ्रांसीसी नीति समझौते की ओर उन्मुख हो चली थी। जो भी हो, इस संलेख से फ्रांस और उसके साथियों के एक महत्त्वपूर्ण हित का–1919 के शान्ति-समझौते और विशेषत: उसकी प्रादेशिक व्यवस्थाओं का समाधान तो अवश्य होता था। शान्ति के उपबन्ध (provision) को संशोधित करने की माँग "विवाद" ("dispute") नहीं कही जा सकती थी जिस पर प्रारूप में (या वास्तव में स्वयं प्रसंविदा में) दी हुई व्यवस्था लागू की जा सकती। प्रारूप निर्माण समिति ने भी यह सोचकर कि इस विषय पर कहीं कोई शंका न रह जाए, अपनी रिपोर्ट में इस मुद्दे पर विशेष बल दिया था। दूसरे शब्दों में इस प्रारूप ने प्रसंविदा की एक बात को जिसे बाद में उसकी कई कमजोरियों में से एक कहकर पुकारा गया, और भी दृढ़ कर दिया और वह थी उसकी 1919 की व्यवस्था और सुरक्षा को एक ही वस्तु समझने की प्रवृत्ति एवं उस व्यवस्था के संशोधन के लिए पर्याप्त विधि निर्धारित करने की भूल। परंतु 1924 में यह समालोचना शायद ही कहीं सुना जाती थी। जर्मनी अब तक भी राष्ट्र-संघ का सदस्य नहीं था। छोटे-मोटे युद्ध-कालीन शत्रु-राज्यों को स्वयं आक्रमण का शिकार होने का अधिक भय था बजाय अपने शक्तिशाली होकर आक्रमणकारी बन पाने के। अत: उन्होंने प्रारूप पर सहर्ष हस्ताक्षर कर दिए।

राष्ट्रसंघ-सभा समाप्त होने तक संलेख के प्रति सामान्य उत्साह बना रहा। उसके बाद प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। आपत्ति सबसे पहले इस आशय की धाराओं के संबंध में उठ खड़ी हुई कि प्रसंविदा के अनुच्छेद 11 के अधीन घरेलू अधिकार-क्षेत्र के मामलों-संबंधी विवाद राष्ट्र-संघ के सामने प्रस्तुत किये जा सकते थे। इस प्रस्ताव को पेश करने में जापान की नीयत सर्वविदित थी। अपने क्षेत्रों में जापानी आप्रवासियों (immigrants) को प्रवेश नहीं करने देने संबंधी अमेरिका नीति का कनाडा, ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड ने हाल ही में अनुकरण किया था; इसलिए जापान इन बन्दिशों के विरुद्ध जेनेवा में अपना विरोध प्रदर्शित करने का अधिकार प्राप्त करना चाहता था। अनुच्छेद 11 ही इतना व्यापक प्रतीत होता था कि स्वयं उससे ही यह अधिकार सुरक्षित मालूम पड़ता था। किन्तु ब्रिटिश अधिराज्य यह शर्त मानने के लिए सर्वाधिक अनिच्छुक थे कि आप्रवासन (immigration) के प्रश्नों से संबंधित उनके कानूनों पर किसी भी स्थिति में राष्ट्र-संघ में चर्चा हो या उन्हें चुनौती दी जाए; और यह बात शीघ्र ही स्पष्ट हो गई कि यदि और किसी कारण से नहीं तो केवल इसी आधार पर वे संलेख का अनुसमर्थन करने से इंकार कर देंगे।

इन परिस्थितियों में अधिराज्यों के विरोध और साथ ही प्रसंविदा के अधीन ग्रेट ब्रिटेन के कर्तव्यों में किसी भी प्रकार की वृद्धि करने में कॉमन सभा (House of Commons) की सुपरिचित अनिच्छा के कारण संलेख की स्वीकृति शायद सम्भव ही नहीं होती, चाहे उस पर हस्ताक्षर करने वाली सरकार ही सत्तारूढ़ क्यों न रहती। किन्तु नवम्बर में "जिनोविव-पत्र" के संदर्भ में चुनाव के बाद मेकडॉनल्ड की मजदूर दलीय सरकार के स्थान पर बाल्डविन की अनुदारदलीय सरकार सत्तारूढ़ हुई। इस घटना ने संलेख के भाग्य का फैसला कर दिया। मार्च 1925 में नये

विदेश-मंत्री ऑस्टिन चेम्बरलेन (Austen Chamberlain) ने राष्ट्र-संघ की परिषद् के सामने यह विधिवत् घोषणा कर दी कि ग्रेट ब्रिटेन ने संलेख को स्वीकार नहीं करने का निश्चय किया है।

नोट

9.7 लोकार्नो की संधि (Treaty of Locarno)

जेनेवा-संलेख का जनाजा निकल चुका था इस प्रकार फ्रांस की सुरक्षा की दिशा में खोज एक बार फिर व्यर्थ हो गई; और फ्रांस इस बार भी यही सोचता था कि यह सब कुछ ग्रेट ब्रिटेन के कारण हुआ। अब केवल यही रास्ता रह गया था कि फ्रांस के राइनलैण्ड सीमान्त की ग्रेट ब्रिटेन द्वारा स्पष्ट गारण्टी संबंधी मूल योजना का पुनः आश्रय लिया जाए। किन्तु यह गारण्टी अब एक नये रूप में दी जानी थी। बड़े आश्चर्य की बात है कि इसका समाधान एक ऐसे प्रस्ताव से प्राप्त हुआ जो दो वर्ष पूर्व सबसे पहले जर्मन सरकार द्वारा प्रस्तुत किया गया था।

1922 के अन्त में जर्मन सरकार ने फ्रांसीसी सरकार के सामने यह प्रस्ताव रखा था कि वे परस्पर, जिसमें ग्रेट ब्रिटेन और बेल्जियम को भी सम्मिलित किया जाएगा, यह वचन दें कि एक पीढ़ी तक वे एक-दूसरे के विरुद्ध युद्ध का आश्रय नहीं लेंगे। यह प्रस्ताव अमेरिका सरकार के जरिए किया गया था, जिससे इस समझौते के "न्यासी" ("trustee") के रूप में कार्य करने का अनुरोध किया गया था। रूर पर बलात् अधिकार के पहले यह योजना फ्रांस की अपेक्षा (क्योंकि फ्रांस द्वारा ही जर्मनी पर आक्रमण किए जाने की अधिक आशंका थी, न कि जर्मनी द्वारा फ्रांस पर) जर्मनी के ही हित में अधिक मालूम होती थी; इसलिए पुंकारे ने उसे बड़े तिरस्कारपूर्वक रद्दी की टोकरी में डाल दिया। किन्तु फिर भी, जर्मन सरकार आगामी दो वर्षों में इसके लिए लगातार प्रयत्न करती रही फिर भी उसे सफलता नहीं मिली। उसके बाद जेनेवा-संलेख के अस्वीकृत हो जाने और इस भावना ने कि अब जर्मनी के साथ राजनीतिक और आर्थिक समझौते करने का समय आ गया है, इस योजना में नया आकर्षण उत्पन्न कर दिया। यूरोप से संबंधित किसी राजनीतिक प्रश्न में अमेरिकी सहयोग की तो अब कल्पना ही नहीं की जा सकती थी। किन्तु ग्रेट ब्रिटेन, जो रूर द्वारा कब्जे (Ruhr Occupation) के समय उसके स्वतंत्र रुख के कारण जर्मनी और फ्रांस के बीच एक मध्यस्थ (mediator) के रूप में स्पष्ट रूप से प्रतिष्ठित हो चुका था, इस समय आगे आकर इसी कमी की पूर्ति करने को तैयार था। वह अकेला ही (क्योंकि अधिराज्य इस मामले में उसका साथ नहीं देते) फ्रांसीसी-जर्मन सीमान्त पर जर्मन आक्रमण के विरुद्ध गारण्टी देने के लिए तैयार था (इसी बात की तो फ्रांस हमेशा माँग करता आया था)। संतुलन बराबर बनाये रखने की दृष्टि से वह फ्रांसीसी आक्रमण के विरुद्ध भी उपयुक्त सीमान्त-संबंधी गारण्टी देने के लिए तैयार था।

इस प्रकार सुविख्यात लोकार्नो-संधि का आधार उपर्युक्त था। 1925 के पूरे ग्रीष्म-काल में राजनयिक मार्गों द्वारा वार्ताएँ चलती रहीं और इस योजना का विवरण धीरे-धीरे निश्चित होने लगा। जर्मनी और बेल्जियम के सीमान्त की भी वही स्थिति रखी गई और उसके लिए भी वे ही गारण्टियाँ दी गई जो जर्मनी और फ्रांस के बीच के सीमान्त के लिए दी गई थीं। यह गारण्टी न केवल सीमान्तों पर अपितु उस असैन्यीकृत क्षेत्र पर भी लागू होती थी, जिसमें सेना रखने या किले बनाने की जर्मनी को मनाही कर दी गई थी। इटली अतिरिक्त गारण्टीदाता के रूप में सामने आया। यह ठहराया गया कि संधि पर हस्ताक्षर हो जाने के बाद जर्मनी राष्ट्र-संघ में सम्मिलित हो जाए और उसे परिषद् में स्थायी स्थान मिले।

इसमें दो मुख्य कठिनाइयाँ थी। उनमें से पहली चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड से लगे जर्मनी के सीमान्त को लेकर उठ खड़ी हुई। जर्मनी वर्साई-संधि द्वारा निश्चित पश्चिमी सीमान्त की भी स्वीकृति की पुष्टि करने के लिए तो तैयार था किन्तु अन्य वर्साई-सीमान्तों के लिए वह ऐसा करने को राजी नहीं था। उसने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया कि वह अपने पूर्वी सीमान्त को अन्तिम नहीं मानता, यद्यपि साथ ही उसने यह भी कहा कि बल-प्रयोग द्वारा उसे बदलने का उसका कोई विचार नहीं है। इस बात में जर्मनी का रुख ग्रेट ब्रिटेन के रुख से मिलता था जो जर्मनी के पश्चिमी

नोट

सीमान्त को छोड़ अन्य किसी भी सीमान्त की गारण्टी देने के लिए तैयार नहीं था। इस कठिनाई का यथासम्भव समाधान जर्मनी और पोलैण्ड तथा जर्मनी और चेकोस्लोवाकिया में पंचनिर्णय-संधियाँ (arbitration treaties) तथा फ्रांस और इन दोनों देशों में गारण्टी-संधियाँ करके निकाला गया।

दूसरी कठिनाई सोवियत संघ से जर्मनी की मित्रता के कारण उत्पन्न हुई जो रेपेलो-संधि के समय से ही चली आ रही थी। जर्मनी को यह भय था कि प्रसंविदा के अनुच्छेद 16 के अधीन पश्चिमी राष्ट्र सोवियत संघ के विरुद्ध किसी भी दिन सैनिक कार्यवाही कर सकते हैं तथा इस प्रकार की कार्यवाही में शामिल होने के लिए उसे भी आमन्त्रित किया जा सकता है। यह भय एक पत्र द्वारा दूर किया गया जिसमें अन्य लोकार्नो-राष्ट्रों ने जर्मनी को यह सूचित किया था कि उनकी व्याख्या के अनुसार राष्ट्र-संघ के किसी भी सदस्य के लिए प्रसंविदा के समर्थन में केवल "उसी सीमा तक" सहयोग करना आवश्यक है जिस सीमा तक ऐसा सहयोग "उसकी सैनिक स्थिति से संगत हो और उसकी भौगोलिक स्थिति का भी, जिसमें ध्यान रखा गया हो।" इसका यह अर्थ निकाला गया कि नि:शस्त्र राष्ट्र के रूप में जर्मनी से यह अपेक्षा नहीं की जाएगी कि वह सोवियत संघ के विरुद्ध सैनिक अनुशास्तियों में कोई भाग ले।

अक्टूबर में इन सभी राज्यों के मन्त्री स्विट्जरलैण्ड में एक झील के किनारे बसे लोकार्नो नामक नगर में एकत्रित हुए, जहाँ 16 अक्टूबर को उन्होंने निम्नलिखित करारों के प्रारूप बनाये और उन पर अपने हस्ताक्षर किए–

(1) फ्रांस-जर्मनी तथा बेल्जियम-जर्मनी के सीमान्तों की गारण्टी-संबंधी संधि (यही वास्तव में तथाकथित लोकार्नो-संधि थी)।

(2) एक ओर जर्मनी और दूसरी ओर फ्रांस, बेल्जियम, चेकोस्लोवाकिया तथा पोलैण्ड और पंचनिर्णय-संधियाँ।

(3) एक ओर फ्रांस में तथा दूसरी ओर चेकोस्लोवाकिया तथा पोलैण्ड में पारस्परिक गारण्टी-संधियाँ।

इन सभी संधियों पर लन्दन में 1 दिसम्बर, 1925 को औपचारिक रूप में हस्ताक्षर हुए।

1925 में जब सभी ओर सद्भावना और सुखद भविष्य का वातावरण था, इन पेचीदगियों की उपेक्षा की जा सकती थी। यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि लोकार्नो-संधि ने यूरोप शान्तिकरण में योगदान दिया है। युद्ध के बाद पहली बार उसने फ्रांस और जर्मनी की आवश्यकताओं के बीच न्यायोचित और निष्पक्ष संतुलन स्थापित किया। जो कार्य डावेस-योजना ने प्रारम्भ किया था, वही कार्य इस संधि ने जर्मनी को बड़े राष्ट्रों में पुन: स्थान दिलाकर पूरा किया–पूर्ण समानता के आधार पर तो नहीं (क्योंकि नि:शस्त्रीकरण और असैन्यीकरण-संबंधी बन्दिशें अब भी लगी हुई थीं) किन्तु पूर्ण और सम्मानित सदस्य के रूप में अपनी सफलता पर विनम्र परन्तु गर्व के साथ ऑस्टिन चेम्बरलेन ने इस संधि को "युद्ध और शान्ति के वर्षों के बीच वास्तविक विभाजन रेखा" बताया था।

9.8 राष्ट्र-संघ प्रतिष्ठा के शिखर पर (The League at its Zenith)

1924 से 1930 तक का काल राष्ट्र-संघ की सर्वाधिक प्रतिष्ठा एवं सत्ता का काल था। 1924 से पहले, जेनेवा में राष्ट्र-संघ के सदस्यों का प्रतिनिधित्व सामान्यत: ऐसे प्रतिनिधि करते थे, जो कितने ही विख्यात क्यों न हों, अपने देश की विदेश-नीति के उत्तरदायी मंत्री नहीं होते थे। किन्तु जब 1924 में मेकडॉनल्ड और हेरियत जेनेवा में सभा (Assembly) की कार्रवाई में भाग लेने के लिए स्वयं आये, तब उन्होंने एक दूरगामी महत्त्व की नजीर स्थापित की। उसके बाद से ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी (उसकी सदस्यता-अवधि) के विदेश-मंत्री सामान्यत: सभा के प्रत्येक अधिवेशन की कुछ कार्रवाई में तथा परिषद् (Council) के लगभग हर अधिवेशन में भाग लेते रहे यूरोप के कई अन्य राष्ट्रों के विदेश-मंत्रियों ने भी इस उदाहरण का शीघ्र ही अनुकरण किया। इस कारण सितम्बर में जेनेवा यूरोप के राजनीतिज्ञों का मान्य सम्मिलन-स्थान बन गया। एक वर्ष (1929) तो सभा में यूरोप के सभी विदेशमंत्री

नोट

सम्मिलित हुए थे। अधिकांश अवसरों पर गैर-यूरोपीय देशों का प्रतिनिधित्व विभिन्न यूरोपीय राजधानियों में स्थित उनके राजदूतों अथवा जेनेवा स्थित उनके (Professional) प्रतिनिधियों को करना पड़ता था।

राष्ट्र-संघ अपनी पूर्ण शक्ति पर (The League at Full Strength)–लोकार्नो-संधियों पर हस्ताक्षर होने पर राष्ट्रसंघ-सभा का एक विशेष अधिवेशन मार्च 1926 में, जिस समय परिषद् का नियमित अधिवेशन भी होना था, बुलाया गया था ताकि जर्मनी को राष्ट्र-संघ का विधिवत् सदस्य बनाया जा सके और उसे परिषद् में स्थायी स्थान भी दिया जा सके। राष्ट्र-संघ के इतिहास में यह अवसर एक निर्णायक मोड़ माना गया। इस समय तक राष्ट्र-संघ के तटस्थ सदस्यों तथा छोटे भूतपूर्व शत्रु-राज्यों का, जिन्हें शान्ति के आरम्भिक वर्षों में राष्ट्र-संघ का सदस्य बनाया गया था, प्रभाव इतना काफी नहीं था कि इस आरोप का खण्डन हो सकता कि राष्ट्र-संघ विजेता-राष्ट्रों का ही एक संगठन है जिसका निर्माण मुख्यत: 1919 के समझौते के निबन्धनों (terms) का समर्थन करने के लिए हुआ था। राष्ट्र-संघ में जर्मनी को शामिल करने तथा परिषद् में उसे स्थायी स्थान देने से सन्तुलन पुन: स्थापित हो जाता और राष्ट्र-संघ निष्पक्ष आधार पर प्रतिष्ठित होकर नवजीवन प्राप्त करता।

किन्तु इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर निर्णय की एक गम्भीर भूल के कारण बन सकते हैं।

टास्क हेरियत फ्रांस का प्रधानमंत्री कब बना?

9.9 लोकार्नो का अन्त (The End of Locarno)

इटली के प्रति अन्य बड़े राष्ट्रों के दब्बू रुख का आंशिक कारण यह था कि अबीसीनियन युद्ध के अन्तिम दिनों में ही जर्मनी ने एक और अस्वीकरण कर दिया था। मई 1935 में किए गए फ्रांस-सोवियत समझौते को जर्मनी आरम्भ से ही केवल उसी के विरुद्ध की गई सैनिक गुटबन्दी और इस कारण लोकार्नो-संधि से असंगत मानता था, यद्यपि फ्रांसीसी और ब्रिटिश सरकारों का यह मत नहीं था। जर्मनी ने इसका और भी जोरों से विरोध किया। 1936 के प्रारम्भ में, जब यह समझौता फ्रांस की प्रतिनिधि-सभा में अनुसमर्थन के लिए प्रस्तुत किया गया, हिटलर ने पुन: साहसपूर्ण प्रतिप्रहार करने का निश्चय किया।

वर्साई की संधि के अनुसार जर्मनी राइनलैण्ड में न तो सशस्त्र सेना रख सकता था और न ही किलेबन्दी कर सकता था। लोकार्नो-संधि के समय हस्ताक्षरकर्ताओं ने "सामूहिक रूप से और व्यक्तिगत रूप से" इन उपबन्धों के पालन की गारण्टी दी थी। मार्च 1935 में हिटलर ने वर्साई की आदिष्ट संधि को अस्वीकार किया था, किन्तु स्वेच्छापूर्वक की गई लोकार्नो-संधि के प्रति पुन: अपनी निष्ठा घोषित की थी। 7 मार्च, 1936 को जर्मन सरकार ने ब्रिटिश, फ्रांसीसी और बेल्जियन सरकारों को सूचित किया कि चूँकि फ्रांस ने फ्रांस-सोवियत समझौते के अन्तर्गत ऐसे कर्तव्य स्वीकार कर लिये हैं जो लोकार्नो-संधि के अन्तर्गत फ्रांस द्वारा स्वीकार किए गए कर्तव्यों से असंगत हैं, इसलिए वह संधि "आन्तरिक आशय" ("inner meaning") से रहित हो चुकी है। इस कारण जर्मनी इस संधि से अपने आपको अब बाध्य नहीं मानता और आज ही जर्मन सेनाएँ राइनलैण्ड पर पुन: अधिकार कर रही हैं। जिस ज्ञापनपत्र में यह सूचना दी गई थी उसमें अनेक प्रस्ताव भी थे। जर्मनी ने एक प्रस्ताव में कहा कि वह सीमान्त के दोनों ओर समान दूरी तक एक नया असैन्यीकृत क्षेत्र स्थापित करने (चूँकि यह सर्वविदित था कि फ्रांस और बेल्जियम अपने क्षेत्र के किसी भी भाग को असैन्यीकृत करने के लिए तैयार नहीं हैं, जर्मनी का यह प्रस्ताव न होकर एक विवाद का विषय ही था); लोकार्नो-संधि के ढंग का एक ऐसा नया समझौता करने जिसमें, राइनलैण्ड-संबंधी धाराएँ न हों; अपने पूर्व के पड़ोसी देशों से (और जैसा हिटलर ने बाद में घोषित किया, ऑस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया से भी) अनाक्रमण-समझौते करने तथा राष्ट्र-संघ में पुन: शामिल होने के लिए राजी है।

नोट

इसी बीच एक नई उलझन पैदा हो गई। अधिकांश अन्य छोटे-छोटे राष्ट्रों की भाँति बेल्जियम पर सामूहिक सुरक्षा की सफलता और जर्मनी की शक्ति में वृद्धि का गहरा प्रभाव पड़ा। उसे यह अनुभव हुआ कि फ्रांस-बेल्जियम संश्रय और लोकार्नो-संधि के अन्तर्गत उसने जो वचन दिए हैं, वे संरक्षण के बजाय खतरे ही अधिक सिद्ध हो सकते हैं, विशेषकर उस स्थिति में जबकि फ्रांस-सोवियत समझौते के परिणामस्वरूप फ्रांस जर्मनी के साथ किसी लड़ाई में उलझ जाए। 14 अक्टूबर, 1936 को उसकी ओर से एक घोषणा की गई, जिसमें यह कहा गया कि भविष्य में बेल्जियम केवल बेल्जियन नीति पर ही चलेगा और किसी संश्रय में शामिल नहीं होगा तथा अपने पड़ोसियों के विवादों के संबंध में स्विट्जरलैण्ड और हालैण्ड की भाँति पूर्ण तटस्थता का रुख अपनाएगा। इस प्रकार अपने पुराने रूप में लोकार्नो के नवीनीकरण (renewal) की अब कोई सम्भवना नहीं रह गई थी। बेल्जियम गारण्टियाँ स्वीकार करने के लिए तो तैयार था किन्तु अब स्वयं किसी प्रकार की गारण्टियाँ देना नहीं चाहता था। नवम्बर में ईडन ने यह स्पष्ट घोषणा की कि "यदि बेल्जियम पर अकारण आक्रमण किया गया तो वह हमारी सहायता पर भरोसा कर सकता है," और कुछ दिन पश्चात् इसी प्रकार का आश्वासन उसने फ्रांस को भी दिया। फ्रांसीसी विदेश-मंत्री ने इसका उत्तर प्रतिनिधि-सभा में यह घोषणा करके दिया कि ऐसी ही परिस्थितियों में फ्रांस भी ग्रेट ब्रिटेन या बेल्जियम की सहायता करेगा। ये घोषणाएँ उस पश्चिमी समझौते (Western Pact) के, जिसका सम्पन्न होना अब असम्भव था, अभाव की पूर्ति करने वाली मानी जा सकती थीं।

9.10 सारांश (Summary)

आरम्भ में सोवियत संघ अपने छोटे-छोटे पड़ोसी देशों से ही राजनयिक संबंध स्थापित का सका। सोवियत सरकार ने राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं को परित्याग करने की घोषणा की थी और उसकी नेकनीयती का पता इसी बात से लगता था कि वह उन नवनिर्मित राज्यों को मान्यता देने के लिए तैयार थी जो रूसी साम्राज्य से अलग हो गये थे। 1920 में उसने फिनलैण्ड (जो रूसी साम्राज्य के अन्तर्गत अर्द्ध-स्वतन्त्र ग्रेंड डची रह चुका था) और इस्टोनिया (Estonia), लेटविया (Latvia) तथा लिथुआनिया (Lithuania) (जिसकी भूमि रूस का अखण्ड अंग रह चुकी थी) से शान्ति-संधियाँ कीं। इन संधियों के बाद ही अगले वर्ष पोलैण्ड के साथ संधि हुई। किन्तु तीनों कॉकेशियन (Caucasian) राज्य–जार्जिया (Georgia), अजरबेजान (Azerbaijan) और आर्मीनिया (Armenia)–घाटे में रहे। शायद जॉर्जिया को छोड़कर इनमें से कोई भी स्वतंत्रता के तत्वों से युक्त नहीं था।

9.11 शब्दकोश (Keywords)

1. सहायता बंध-पत्र (Relief bond)–सहायता हेतु इकरारनामा
2. अग्रिम धन (Advance)–अग्रिम राशि, पेशगी

9.12 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. इटली के असंतोष के विशेष कारण क्या थे? उल्लेख कीजिए।
2. 'रूस के गृहयुद्ध' पर टिप्पणी कीजिए।
3. डावेस-योजना से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
4. 'लोकार्नो की संधि' पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. राष्ट्र-संघ
2. अलबानिया
3. फ्रांस
4. (क) यूरोप
5. (ख) लोकार्नो-संधि
6. 1914

9.13 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

नोट

बुक्स

1. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
2. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
3. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
4. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
5. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
6. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
7. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*

नोट

इकाई 10: राष्ट्रवाद (Nationalism)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

10.1 यूनान का स्वातंत्र्य युद्ध (Freedom Fight of Greece)

10.2 क्रीमिया का युद्ध (Battle of Cremia)

10.3 बाल्कन में बढ़ता हुआ राष्ट्रवाद : रूस-तुर्की युद्ध (Increasing Nationalism in Balkan: Russia-Turkey War)

10.4 सैनस्टीफेनो संधि की व्यवस्थाएँ (Systems of Sanstifeno Treaty)

10.5 1878 की बर्लिन कांग्रेस और उसकी व्यवस्थाएँ (Berlin Congress of 1878 and its systems)

10.6 1878 के उपरांत 1914 तक पूर्वी समस्या (Eastern Problem Since 1914 after 1878)

10.7 बाल्कन युद्ध (Balkan War)

10.8 सारांश (Summary)

10.9 शब्दकोश (Keywrods)

10.10 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

10.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- यूनान के स्वातंत्र्य-युद्ध को जानने में।
- सैनस्टीफेनो संधि की व्यवस्थाएँ जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

1789 ई. की फ्रांस की क्रान्ति ने स्वतन्त्रता (Liberty), समानता (Equality) व बन्धुत्व (Fraternity) का प्रचार समस्त यूरोप में किया। नागरिकों के हृदयों में अपने देश के प्रति अनुराग उत्पन्न करते हुए राष्ट्रीयता की भावना जाग्रत की। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ से ही स्वतन्त्रता राष्ट्रीयता की पर्यायवाची बन गई थी। नेपोलियन बोनापार्ट के विजय अभियानों ने राष्ट्रीयता के आधुनिक मूल्यों को जगाया था। पुरातन व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष में अन्ततः

नोट

राष्ट्रीयता की विजय हुई। 1870 तक पुरातन व्यवस्था के खंडहरों पर जर्मनी तथा इटली के शक्तिशाली राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण हो चुका था। 1815 से 1871 तक अनेक नये राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण हुआ और यूरोप का राजनीतिक मानचित्र बदल गया। 1871 ई. के बाद यूरोप के इतिहास की एक मुख्य विशेषता थी। राष्ट्रीयता और उससे सम्बद्ध समस्याओं का निराकरण करना।

1789 की फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति के बाद राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निर्धारक तत्व बन गया। इस तत्व ने (राष्ट्रीयता ने) एक महान एकताकारी शक्ति के रूप में कार्य करके महान राष्ट्रों की स्थापना में योग दिया परन्तु साथ ही यह साम्राज्यों के विघटन, राष्ट्रीय मुक्ति युद्धों और प्रथम विश्वयुद्ध का मुख्य कारण भी सिद्ध हुआ। राष्ट्रीयता की अतिशयोक्ति (उग्र राष्ट्रवाद) और उपेक्षा दोनों ही युद्ध की विस्फोटक सामग्री के जमा होने के कारण रहे हैं। राष्ट्रीय भावना की उग्रता के कारण विश्व की विभिन्न राष्ट्रीयताओं के लोगों में अपने-अपने को विश्व की सर्वश्रेष्ठ जाति मानने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। जर्मन लोगों ने विशेष रूप से आर्य जाति की श्रेष्ठता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके अपने को विश्व की सर्वश्रेष्ठ जाति तथा अन्य जातियों का शासक होने का अधिकारी कहना प्रारम्भ कर दिया था। ब्रिटेन का 'श्वेत लोगों के भार' का सिद्धान्त; फ्रांसीसी लोगों का 'सभ्यता प्रसार कार्य' का सिद्धान्त भी जर्मन उग्र राष्ट्रीयता सदृश थे। इसी प्रकार की उग्र राष्ट्रीयता की भावना का प्रदर्शन अन्य राष्ट्रों ने भी किया। अपने इस उग्रवादी रूप में राष्ट्रीयता ने साम्राज्यवाद को जन्म दिया तथा अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अशान्ति का एक प्रधान कारण बन गई। राष्ट्रीयता का अर्थ 'केवल अपने देश से प्रेम ही नही अपितु सभी देशों के प्रति घृणा' समझा जाने लगा था। राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की उपेक्षा प्रथम विश्व युद्ध के मूल कारण के रूप में उसकी अतिशयोक्ति से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। 1815 में वियना सम्मेलन की व्यवस्थाओं में प्रथम विश्वयुद्ध के बीज निहित थे। इस सम्मेलन में राजनीतिज्ञों ने लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता की घोर उपेक्षा की थी। राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की उपेक्षा करते हुए बेल्जियम को हॉलैण्ड के साथ मिला दिया, फिनलैण्ड को रूस के साथ मिला दिया, स्वीडन और नार्वे को संयुक्त कर दिया, रूस के जार को पोलैण्ड का भी जार (सम्राट) मान लिया। रूस अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के उद्देश्य से बाल्कन प्रदेश के राष्ट्रवादियों को तुर्की आधिपत्य के विरुद्ध उनके संघर्ष में अत्यधिक सहयोग करता रहता था। परन्तु इंग्लैण्ड, फ्रांस और आस्ट्रिया रूस की शक्ति को बढ़ने नहीं देना चाहते थे। अत: उन्होंने रूस के विरुद्ध तुर्की समर्थन करने की नीति अपनायी। इससे बाल्कन प्रदेश अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विस्फोटक स्थल बन गया। 1912 में यूनान, सर्विया, मांटीनीग्रो और बल्गारिया ने बाल्कन लीग की स्थापना करके तुर्की के विरुद्ध युद्ध प्रारम्भ भी किया परन्तु अपनी संकीर्ण मनोवृत्ति तथा उग्र राष्ट्रीयता के प्रभाव के कारण पूर्वी समस्या का वास्तविक हल नहीं निकाल सके। अपितु समस्या उलझती चली गई। आस्ट्रिया और रूस ने समस्या को राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के अनुसार समझकर अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के कारण गहरे वैमनस्य में परिवर्तित कर दिया। यह घोर वैमनस्य और दूसरे के प्रति असीम घृणा ने महायुद्ध का पथ-प्रशस्त कर दिया। 28 जून, 1914 को बोस्त्रिया के सेराजेवो नगर में एक छात्र (गेवरीली प्रिंसिप) जिसे सर्विया की आतंकवादी संस्था 'ब्लैक हैंड' का सहयोग प्राप्त था, उसने आस्ट्रिया के युवराज फ्रांसिस फर्डीनेण्ड की हत्या कर दी। इससे आस्ट्रिया को सर्विया के विरुद्ध करने का बहाना मिल गया। फ्रांसिस फर्डीनेण्ड की हत्या करने वाली गोलियाँ प्रथम विश्व युद्ध की उद्घोषक बन गई। उग्र तथा उपेक्षित राष्ट्रीयता ने इस प्रकार की पृष्ठभूमि निर्मित कर दी कि सामान्य-सी उत्तेजक घटना ने महायुद्ध का आकार ग्रहण कर लिया। पन्द्रहवीं शताब्दी से ही तुर्की के साम्राज्य का विस्तार प्रारम्भ हुआ था। सुलेमान महान् के शासनकाल के समय तुर्क साम्राज्य पूरे विश्व में सर्वाधिक शक्तिशाली साम्राज्य बन गया था। समस्त दक्षिण-पूर्वी यूरोप पर तुर्कों का प्रभुत्व दृढ़ हो गया था। दक्षिण-पूर्वी यूरोप की ईसाई जातियाँ जिनमें स्लाव, बल्गर, सर्व आदि भिन्न-भिन्न भाषाओं और राष्ट्रीयता के लोग थे, मुसलमान तुर्कों के प्रभुत्व में आ गई थीं। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, पहले रूस की साम्राज्ञी (जारीना कैथरीन द्वितीय) ने साम्राज्यवादी नीति अपनाकर दक्षिण की ओर साम्राज्य विस्तार करती हुई काला सागर के अजोव तक पहुँच गई। दूसरी ओर फ्रांस की क्रान्ति और बाद में नेपोलियन बोनापार्ट की विजयवाहिनी ने राष्ट्रवाद के सिद्धान्त से समस्त यूरोप को प्रेरित किया। बाल्कन प्रायद्वीप जहाँ कई राष्ट्रीयताओं के लोग रहते थे, चेतनशील बनने लगे। ईसाई बहुल बाल्कन में मुसलमान, तुर्कों का शासन अब असह्य लगने लगा।

नोट

विशेषकर इसलिए कि यूरोप के प्रमुख ईसाई देश धर्म के नाम पर अपना राष्ट्रीय हित साधने के लिए ईसाइयों का पक्ष लेने लगे थे। सम्पूर्ण बाल्कन में राष्ट्रवादी चेतना विकसित हो गई। यही समय था जब तुर्क साम्राज्य (ऑटोमन एम्पायर) की शक्ति क्षीण हो रही थी।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में तुर्क साम्राज्य (ऑटोमन एम्पायर) के पतनोन्मुख होने के कारण बाल्कन में पैदा हो रही शक्ति-शून्यता भरने के लिए कई शक्तियों ने प्रयास करना प्रारम्भ किया। सर्वाधिक उपयुक्त दावा बाल्कन राष्ट्रों का था परन्तु वियना कांग्रेस के बाद शुरू हुई राष्ट्रवाद विरोधी प्रतिक्रियावादी व्यवस्था बाल्कन राष्ट्रों के अस्तित्व को साकार नहीं होने देने के लिए कटिबद्ध थी।

रूस और आस्ट्रिया का बाल्कन से निकट का सम्बन्ध था। रूस का शासक वर्ग स्लाव जाति का ही था। रूस की अधिकांश जनता ग्रीक आर्थोडाक्स चर्च की अनुयायी थी और बाल्कन के ईसाई भी चर्च को मानते थे। अत: रूस बाल्कन राष्ट्रों से जातीय, सांस्कृतिक और धार्मिक निकटता दिखाकर वहाँ के राष्ट्रों का पक्ष लेने के बहाने अपना प्रभाव बढ़ाना चाहता था। आस्ट्रिया अपने दक्षिण-पूर्व में विस्तार चाहता था अत: आस्ट्रिया बाल्कन में रूस का प्रतिद्वन्द्वी था। दूर-दूर से फ्रांस तथा इंग्लैण्ड भी बाल्कन में अपनी रुचि बनाए हुए थे। फ्रांस तो आपसी सम्बन्धों में महत्त्वपूर्ण बने रहने के लिए हस्तक्षेप करता था, परन्तु इंग्लैण्ड के हित अधिक गम्भीर थे। पहले इंग्लैण्ड ने तुर्की का महत्त्व नहीं समझा था लेकिन जब नेपोलियन बोनापार्ट ने मिस्र पर आक्रमण किया तो इंग्लैण्ड को इसका प्रभाव ज्ञात हुआ, तब से इंग्लैण्ड की ऑटोमन एम्पायर में रुचि जाग्रत हुई क्योंकि इंग्लैण्ड का साम्राज्य दक्षिण एशिया, विशेषकर भारत में फैला हुआ था। इंग्लैण्ड के राजनेता रूस के डर (रशोफोबिया) से पीड़ित रहने लगे थे। रूसी नौ-सेना के काला सागर में पहुँचने से पूर्वी भू-मध्य सागर और मिस्र में उसका प्रभाव बढ़ सकता था, यह इंग्लैण्ड के लिए असह्य था। इसलिए इंग्लैण्ड रूस के विस्तार को रोकने के लिए तुर्की को बाँध की तरह प्रयोग करना चाहता था। तुर्की को जिसे 'यूरोप का बीमार' देश कहा जाता था, इंग्लैण्ड अपने सहयोग और समर्थन की दवा देकर बराबर जीवित रखना चाहता था। इस प्रकार इंग्लैण्ड का हित पतनोन्मुख मध्ययुगीन तुर्क साम्राज्य को जीवित रखना था। उसकी यह महत्त्वाकांक्षा और रुचि इस समस्या को और जटिल बनाती थी। इन्हीं तत्वों की टकराहट के बीच पूर्वी समस्या पनपती-सुलगती रही और अन्त में एक भीषण महायुद्ध का सूत्रपात कर उठी। इस समस्या की आधारभूत संरचना संक्षेप में इस तरह समझी जा सकती है कि परम्परागत साम्राज्यों तुर्की, रूस तथा आस्ट्रिया की परस्पर तथा इंग्लैण्ड से टकराहट और उभरते राष्ट्रवाद के कारण यह समस्या उत्पन्न हुई थी। बाल्कन में मध्ययुगीन और आधुनिक तत्व कई तरह से एक-दूसरे से टकराते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही यह 'पूर्वी समस्या' जटिलतम रूप से यूरोप की महाशक्तियों को परस्पर उलझाए रही थी। बाल्कन जातियों के वे मुक्ति संग्राम जो उन्नीसवीं सदी के प्रथम दशक में प्रारम्भ हुए थे। बीसवीं सदी के द्वितीय दशक में भी समाप्त न हो पाये। यह एक दीर्घकालीन, रक्तरंजित, अशान्तिपूर्ण, जटिल एवं शौर्यपूर्ण इतिहास की गाथा है।

नोट्स

यूरोपीय तुर्की के विघटन से उन्नीसवीं सदी में उदित होने वाला प्रथम राज्य सर्बिया था।

10.1 यूनान का स्वातंत्र्य युद्ध (Freedom-Fight of Greece)

तुर्की के विरुद्ध अधीन जातियों में विद्रोह करने वालों में सर्बिया के पश्चात् यूनानी थे। यूनानियों ने उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में जातीय तथा राष्ट्रीय चेतना की पुनर्जागृति की अनुभूति की थी। 1821 में यूनानियों ने विद्रोह कर दिया और उन्होंने उस संघर्ष को प्रारम्भ किया जो 1829 में स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही समाप्त हुआ था। प्रथम छ: वर्षों में यूनानियों ने तुर्की के विरुद्ध अकेले संघर्ष किया। इसके पश्चात् विदेशी हस्तक्षेप ने इस संघर्ष को व्यापक तथा

नोट

भयंकर बना दिया। यूरोपीय शक्तियों की सहानुभूति आरम्भ से ही यूनान के प्रति जागृत हो गई थी क्योंकि यूनान ने विश्व को बौद्धिक जागृति एवं विशिष्टता प्रदान की थी, जो कलाओं का जनक रहा था (अतीत में) और अब अपने स्वतन्त्र एवं सुचारु जीवन के लिए वीरतापूर्ण तथा रोमांचकारी संघर्ष में संलग्न था। प्राचीन यूनान की स्मृतियों की प्रेरणा से सर्वत्र यूनान प्रेमी संस्थाएँ (Phipellenic Societies) स्थापित हुई। इन संस्थाओं ने जो फ्रांस, जर्मनी, स्विट्जरलैण्ड, इंग्लैण्ड और संयुक्त राज्य अमेरिका में स्थापित हुई थीं, धन, शस्त्र और स्वयंसेवक सैनिक भेजकर तथा शासनों पर हस्तक्षेप करने के लिए दबाव डालकर यूनानियों की सहायता करने का प्रयत्न किया। पश्चिमी यूरोप के बहुत से व्यक्ति यूनानी सेना में सम्मिलित हो गये। इनमें सर्वाधिक चर्चित व्यक्ति था–'लार्ड बायरन', जिसने स्वतंत्र यूनान के लिए अपना जीवन बलिदान कर दिया। अन्त विदेशी शक्तियों ने हस्तक्षेप का निश्चय किया। 1827 में लन्दन सन्धि के अनुसार इंग्लैण्ड, रूस और फ्रांस इस माँग को करने पर सहमत हुए कि यूनान तुर्की की सम्प्रभुता के अधीन स्वशासित राज्य बना दिया जाए जैसा कि सर्बिया बनाया गया था परन्तु तुर्की ने इस माँग को अस्वीकृत कर दिया। फलत: युद्ध प्रारम्भ हो गया और 20 अक्टूबर, 1827 को नैवारिनों की सामुद्रिक लड़ाई में तुर्की बेड़े का विनाश हो गया । अगले वर्ष रूस ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। यह रूस-तुर्की युद्ध एक वर्ष से अधिक काल तक होता रहा। रूसियों ने बाल्कन देशों को पदाक्रान्त करते हुए द्रुतगति से कान्स्टेंटिनोपुल की ओर प्रयाण किया। इसी मध्य फ्रांसीसियों ने भी आक्रमण कर दिया। अन्ततोगत्वा तुर्की के सुल्तान महमूद द्वितीय को सन्धि की याचना करनी पड़ी और 14 सितंम्बर, 1829 को रूस के साथ 'ऐड्रियानोपल की सन्धि' कर ली गई।

इन घटनाक्रमों के परिणामस्वरूप यूनान स्वतंत्र राज्य बन गया जोकि तुर्की की सम्प्रभुता से पूर्ण स्वतन्त्र माना गया था। यूनान की स्वतंत्रता की प्रत्याभूति (गारंटी) तीन शक्तियों–फ्रांस, इंग्लैण्ड और रूस ने दी। औपचारिक रूप से तो नहीं परन्तु व्यावहारिक रूप से डैन्यूबी रियासतें–माल्डेविया तथा वेलैशिया प्राय: स्वतंत्र बना दी गई। इस प्रकार यूरोप में तुर्की के सुल्तान की शक्ति पर्याप्त रूप से क्षीण हो गई। 1833 में बवेरिया का राजकुमार औटो यूनान का प्रथम राजा बन गया। दक्षिण-पूर्वी यूरोप में एक नये ईसाई स्वतंत्र राज्य का निर्माण हो गया। रूस की प्रतिष्ठा एवं शक्ति में वृद्धि हो गई थी। इस घटना ने तुर्की की दुर्बलता विश्व को प्रकट कर दी और इसके साथ ही यह भी प्रकट कर दिया कि तुर्की की समस्या यूरोप की एक महान जटिल अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है, जिसमें कई शक्तियों के हितों का सम्बन्ध था।

10.2 क्रीमिया का युद्ध (Battle of Cremia)

यूनान के स्वातंत्रय-संघर्ष की घटनाओं ने रूस की प्रतिष्ठा एवं शक्ति में वृद्धि कर दी थी। रूस के 1829 के सैन्य अभियान ने ही तुर्की के सुल्तान महमूद द्वितीय को शर्तें स्वीकार करने पर (एड्रियानोपल की सन्धि) विवश कर दिया था। यूनान स्वतन्त्र हो गया था और वह अन्य शक्तियों की अपेक्षा रूस का अधिक आभारी था। मोल्डेविया तथा वैलेशिया अभी भी नाममात्र के लिए तुर्की के भाग थे परन्तु वे प्राय: तुर्की नियन्त्रण से मुक्त थे तथा परवर्ती काल में उनमे रूसी प्रभाव सर्वोपरि था। कई वर्ष पश्चात् रूस ने अपना प्रभाव क्षेत्र और आगे बढ़ाने के प्रयत्न करने का साहस किया और इसी प्रयत्न से पूर्वीय प्रश्न को पुन: उठाने का साहस अवसर प्रदान किया तथा इसके परिणामस्वरूप नेपोलियन बोनापार्ट के पतन के पश्चात् एक महान यूरोपीय युद्ध हुआ।

रूस ने तुर्की साम्राज्य के सभी यूनानी ईसाइयों की रक्षा करने के अधिकार की माँग की। इसे स्वीकार करने का तात्पर्य था तुर्की के आन्तरिक मामलों में रूस को सदैव के लिए हस्तक्षेप करने का अधिकार प्रदान करना जिसका अन्तिम परिणाम था तुर्की रूस का एक प्रकार का अधीन देश बन जाना। इसलिए तुर्की ने रूस की इस महत्त्वाकांक्षी माँग की उपेक्षा की। फलत: 1853 के अक्टूबर में रूस और तुर्की के मध्य युद्ध प्रारम्भ हो गया। रूस को यह विश्वास था कि यह युद्ध स्थानीय ही रहेगा और उन दोनों के मध्य ही सीमित रहेगा, परन्तु शीघ्र ही उनका यह विश्वास भ्रम सिद्ध हुआ क्योंकि इंग्लैण्ड तथा फ्रांस और उसके पश्चात् पीडमांट-सार्डीनिया ने तुर्की की सहायता की।

नोट

रूस ने अपने विरुद्ध एक स्थान पर चार शक्तियों को पाया। इंग्लैण्ड रूस की आक्रामक तथा विस्तारवादी नीति से भयभीत था क्योंकि इससे भारत की सुरक्षा खतरे में पड़ सकती थी और इंग्लैण्ड के व्यापारिक हितों को आघात पहुँच सकता था। फ्रांस का सम्राट नेपोलियन तृतीय रूस के प्रति अपने वैमनस्य का प्रतिशोध लेना चाहता था। नेपोलियन बोनापार्ट मास्को अभियान का बदला लेना चाहता था और वह 1815 की सन्धियों को तोड़ना चाहता था जिन्होंने फ्रांस के अपमान की व्यवस्थाएँ थोप दी थी। पीडमांट-सार्डीनिया इसलिए युद्ध में सम्मिलित हुआ था कि वह इटली के एकीकरण हेतु इंग्लैण्ड और फ्रांस का सहयोग चाहता था।

1855 के मार्च में रूसी सम्राट जार निकोलस प्रथम की मृत्यु हो गई। अन्त में मानव जीवन के वृहत विनांश के उपरान्त 1855 के सितम्बर में सैबस्टापोल का पतन हो गया। अन्ततोगत्वा मार्च 1856 में पेरिस की सन्धि से शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया गया।

इस सन्धि के अनुसार भविष्य में काले सागर को तटस्थ बना दिया गया, इसमें न कोई राष्ट्र युद्धपोत भेज सकता था और न इसके तटों पर अस्त्रागार निर्मित किया जा सकता था। इसमें प्रत्येक राष्ट्र के व्यापारिक जलपोत चल सकते थे। डैन्यूब नदी में भी प्रत्येक राष्ट्र के व्यापारिक जलपोत स्वतन्त्रतापूर्वक चल सकते थे। मोल्डेविया और वैलेशिया के ऊपर रूसी संरक्षण समाप्त कर दिया गया। इन क्षेत्रों को तुर्की सुल्तान की सम्प्रभुता के अधीन स्वतंत्र घोषित कर दिया गया व तुर्की को यूरोपीय राज्यों के परिवार में सम्मिलित कर लिया गया।

इस प्रकार क्रीमिया युद्ध में पश्चिम यूरोप की ईसाई शक्तियों (इंग्लैड, फ्रांस, पीडमांट-सार्डीनिया) ने तुर्की को सहायता देकर नष्ट होने से बचा लिया परन्तु पूर्वी समस्या के रूप में यह युद्ध की पूर्ण असफलता थी।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. 20 अक्टूबर, 1827 को ..... की सामुद्रिक लड़ाई में तुर्की बेड़े का विनाश हो गया था।
2. तुर्की के सुल्तान महमूद द्वितीय ने 14 सितंबर, 1829 को ..... के साथ 'ऐड्रियानोपल की संधि' कर ली।

10.3 बाल्कन में बढ़ता हुआ राष्ट्रवादः रूस-तुर्की युद्ध
Increasing Nationalism in Balkan : Russia-Turkey War

पेरिस सन्धि (1856) के उपरान्त बाल्कन क्षेत्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना थी–'बाल्कन में बढ़ता हुआ राष्ट्रीय संकल्प'। इसकी पहली अभिव्यक्ति मोल्डेविया और वैलेशिया में परिलक्षित हुई। इन दोनों प्रदेशों ने एक ही जैसा संविधान बनाकर और एक ही व्यक्ति को अपना राजा मानकर (होहेनजालर्न वंश का चार्ल्स प्रथम) वास्तविक एकीकरण का प्रयास किया। 1862 में दोनों प्रदेशों की व्यवस्थापिका सभाओं का विलय हो गया और उन्होंने अपना संयुक्त नाम रूमानिया रख लिया। इस प्रकार बाल्कन प्रायद्वीप में यूनान, सर्बिया के बाद रूमानिया के रूप में एक नये स्वतंत्र देश ने जन्म लिया। इससे रूस प्रोत्साहित हुआ।

1875 में पूर्वी प्रश्न ने गम्भीर एवं प्रमुख रूप धारण किया। सम्पूर्ण बाल्कन प्रायद्वीप में अराजकता की लहर व्याप्त हो गई। हर्जेगोविना में विद्रोह के स्पष्ट लक्षण दृष्टिगत हुए। वहाँ कृषकों पर तुर्की के कुशासन के अन्तर्गत बर्बर अत्याचार हो रहे थे। तुर्की-दमन इतना उत्पीड़क तथा बर्बर था कि कृषकों के पास विद्रोह और पलायन के अतिरिक्त कोई मार्ग शेष नहीं रह गया था। कृषक स्लाव थे। अतः बोस्त्रिया, सर्बिया तथा बल्गारिया के समीपवर्ती क्षेत्रों के स्लावों ने उनकी सहायता की। सम्पूर्ण प्रायद्वीप में ईसाइयों तथा स्लावों की विधर्मी तुर्की के प्रति धार्मिक तथा जातीय घृणा प्रज्वलित हो गई।

नोट

आस्ट्रिया ने बाल्कन राष्ट्रीयता के प्रचार को रोकने की दृष्टि से यूरोपीय शक्तियों के सहयोग से एक योजना दिसम्बर, 1875 (एण्ड्रेसी नोट) में तैयार की परन्तु यूरोपीय शक्तियों के बाल्कन समस्या के हल निकालने के प्रयत्न व्यर्थ हो गए। तुर्की अपने प्रशासन में किसी प्रकार के सुधार करने हेतु प्रयत्नशील न बन सका। ईसाई राज्य भी तुर्की के कुशासन के विरुद्ध संघर्ष के लिए कटिबद्ध हो गये। अन्ततः मई, 1876 में बल्गारिया में भीषण विद्रोह हो गया। तुर्की प्रशासन ने लगभग 30 हजार ईसाइयों को मृत्यु के घाट उतार दिया। इससे विद्रोह और भी व्यापक हो गया। जुलाई 1876 में सर्बिया तथा मांटीनीग्रो ने तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। रूसी लोगों की सहानुभूति अपने साथी स्लावों के साथ थी अतः रूस ने भी 24 अप्रैल, 1877 को तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। तुर्की युद्ध में पराजित हो गया। आत्मसमर्पण के साथ तुर्की के सुल्तान अब्दुल हमीद द्वितीय ने सन्धि की याचना की, फलतः 3 मार्च, 1878 को रूस तथा तुर्की के मध्य 'सैनस्टीफेनो की सन्धि' हो गई।

10.4 सैनस्टीफेनो सन्धि की व्यवस्थाएँ (Systems of Sanstifeno Treaty)

इस सन्धि के अनुसार (*i*) सर्बिया, रूमानिया और मांटीनीग्रो को स्वतन्त्र राज्यों के रूप में पूर्ण मान्यता प्राप्त हो गई और तुर्की से नाममात्र के सम्बन्ध भी समाप्त हो गये। (*ii*) बल्गारिया को स्वशासन का अधिकार प्राप्त हुआ। उस पर तुर्की का प्रभाव स्वीकार किया गया। बल्गारिया के विस्तार के लिए उसकी सीमाएँ डेन्यूब से ईजियन सागर, दक्षिण में मीडिया तक और पश्चिम में मेसोडोनिया के भू-भाग तक मानी गयीं। (*iii*) तुर्की ने रूस और आस्ट्रिया की देखरेख में बोस्त्रिया और हर्जेगोविना में सुधारों को लागू करना स्वीकार किया। (*iv*) आर्मीनिया में ईसाइयों की दशा सुधारने का तुर्की ने आश्वासन दिया। (*v*) रूस को बातूम, कार्स, बेसेराबिया के भू-भाग प्राप्त हुए। (*vi*) तुर्की ने रूस की क्षतिपूर्ति करने का वचन दिया।

इंग्लैण्ड इस (सैनस्टीफेनो सन्धि) सन्धि को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुआ; आस्ट्रिया तथा अन्य यूरोपीय शक्तियों ने इसका विरोध प्रारम्भ किया। वे सभी रूस के बढ़ते प्रभाव से ईर्ष्यालु हो उठे और तुर्की के साथ किसी सन्धि को अन्तिम रूप देने के लिए यूरोप की बड़ी शक्तियों की सहमति आवश्यक बताई। इंग्लैण्ड रूस से युद्ध करने की योजना भी बनाने लगा। आस्ट्रिया भी अपना रोष व्यक्त कर रहा था। बाल्कन राज्य भी सन्धि से सन्तुष्ट नहीं थे। इसी समय तत्कालीन यूरोप के प्रतिष्ठित राजनेता बिस्मार्क (जर्मन चांसलर) ने रूस से व्यक्त किया कि वह 'ईमानदार मध्यस्थ' (Honest Broker) बनने के लिए तैयार है तो रूस भी सैनस्टीफेनो सन्धि पर पुनर्विचार हेतु बर्लिन में आयोजित कांग्रेस के लिए सहमत हो गया।

10.5 1878 की बर्लिन कांग्रेस और उसकी व्यवस्थाएँ (Berlin Congress of 1878 and its systems)

13 जून, 1878 को जर्मन चांसलर बिस्मार्क की अध्यक्षता में बर्लिन कांग्रेस आयोजित हुई, जिसमें सैनस्टीफेनो सन्धि पर यूरोपीय राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने विचार विमर्श किया। सम्मेलन में इंग्लैण्ड का प्रतिनिधित्व डिजरायली, सैलिसबरी, आस्ट्रिया का एन्ड्रेसी; रूस का गोरचेकोव फ्रांस का वाडिंगटन, इटली का कोर्टी, तुर्की का कार्थोडराय पाशा प्रतिनिधित्व कर रहे थे। 13 जुलाई, 1878 को संशोधित संधिपत्र पर हस्ताक्षर हो गए–इस सन्धि की मुख्य व्यवस्थाएँ थीं-

(*i*) सेनस्टीफेनो की सन्धि में बल्गारिया की जो सीमाएँ निर्धारित हुई थीं, उनमें परिवर्तन किया गया। 'बर्लिन सन्धि' में बल्गारिया को तीन मुख्य भागों में विभाजित किया गया। प्रथम भाग बल्गारिया का राज्य था जो नाममात्र के लिए तुर्की अधीन रहा। दूसरे भाग में बल्गारिया के दक्षिण में पूर्वी रुमेलिया की स्थापना की गई। यह तुर्की के अधीन रखा गया था। परन्तु शासन-प्रबन्ध यूरोपीय देशों द्वारा मान्य सरकार के द्वारा संचालित होना था। तीसरा भाग मेसिडोनिया तुर्की को आश्वासन के साथ वापस कर दिया गया कि ईसाई प्रजा के मध्य सुधार करेगा।

नोट

(*ii*) आस्ट्रिया को बोस्त्रिया-हर्जेगोविना के क्षेत्रों पर प्रशासन करने का अधिकार प्राप्त हुआ परन्तु यह क्षेत्र वह अपने साम्राज्य के अंग नहीं बना सकता था, ऐसा उसने आश्वासन दिया।

(*iii*) इंग्लैण्ड को साइप्रस का द्वीप प्राप्त हुआ।

(*iv*) सर्बिया, रूमानिया, मांटीनीग्रो को तुर्की की नाममात्र की सम्प्रभुता से भी स्वतंत्र कर दिया गया।

(*v*) रूमानिया को दोब्रुजा का भू-भाग मिला।

ब्रिटेन के प्रधानमंत्री, डिजरायली ने बर्लिन से लौटकर व्यक्त किया कि वह 'बर्लिन से सम्मान सहित शान्ति के साथ वापस आये हैं।' यह सत्य था कि रूस से युद्ध टल गया था और बातचीत से समाधान निकाल लिया गया था। साथ ही तुर्की का यूरोप से पूर्ण निष्कासन भी थम गया था। तुर्की को पुनः जीवन प्राप्त हो गया था। पुरस्कार में ब्रिटेन को साइप्रस द्वीप प्राप्त हो गया था। यह सब कुछ इंग्लैण्ड को बिना युद्ध किए ही प्राप्त हुआ था। डिजरायली गर्व कर सकता था कि रूस का प्रभाव बाल्कन में कम हो गया था और तुर्क साम्राज्य से लाखों ईसाइयों को मुक्ति प्राप्त हो गई थी परन्तु बर्लिन कांग्रेस का एक और भी पक्ष था। अभी भी लाखों ईसाई तुर्की के साम्राज्य में अरक्षित रह रहे थे। बल्गारिया से रुमेलिया का प्रदेश पृथक् करना उपयुक्त नहीं था। बोस्त्रिया और हर्जेगोविना प्रदेश आस्ट्रिया को सौंपने का कोई औचित्य नहीं था, रूस का प्रभाव बाल्कन में न बढ़ने देकर उसे एशिया में (सुदूर-पूर्व, फारस, अफगानिस्तान, तिब्बत आदि) अपने प्रभाव में वृद्धि का अवसर दे दिया गया था, इससे बड़ा खतरा उत्पन्न हो गया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

3. 13 जून, ... को जर्मन चांसलर बिस्मार्क की अध्यक्षता में बर्लिन कांग्रेस आयोजित हुई।
   (क) 1778 (ख) 1878 (ग) 1978 (घ) इनमें से कोई नहीं
4. ..... में बवेरिया का राजकुमार औटो यूनान का प्रथम राजा बन गया।
   (क) 1833 (ख) 1733 (ग) 1633 (घ) 1933
5. ..... में रूस और तुर्की के मध्य युद्ध प्रारम्भ हो गया था।
   (क) जनवरी, 1853 (ख) जुलाई, 1853 (ग) सितंबर, 1853 (घ) अक्टूबर, 1853

10.6 1878 के उपरान्त 1914 तक पूर्वी समस्या (Eastern Problem Since 1914 after 1878)

बर्लिन कांग्रेस (1878) के उपरान्त चार दशकों में अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र अशान्ति की स्थिति बनी रही, महाशक्तियाँ समस्या को जटिल से जटिल बनाती चली गई। बाल्कन प्रायद्वीप में बड़ी शक्तियों की प्रतिस्पर्धा के साथ अब नवोदित राष्ट्रों का परस्पर संघर्ष का भी सूत्रपात हुआ। 1885 में बाल्कन राज्यों के परस्पर संघर्ष का पहला विस्फोट हुआ। सर्बिया ने बल्गारिया पर आक्रमण कर दिया। यद्यपि आक्रमण विफल रहा परन्तु बाल्कन क्षेत्र में तनाव व्याप्त हो गया। 1896 में यूनान की सहायता से क्रीट में विद्रोह हुआ। यूनान क्रीट को तुर्की से हड़पना चाहता था। संघर्ष को बढ़ता देखकर महाशक्तियों ने तुर्की पर दबाव डालकर क्रीट यूनान को प्रदान करा दिया। अब तुर्की की सम्प्रभुता यूरोप में नाममात्र को शेष रही। कुछ समयोपरान्त तुर्की में भी अनपेक्षित परिवर्तन दृष्टिगत हुए।

1908 में तुर्की के सुल्तान की निरंकुशता स्वेच्छाचारिता के विरुद्ध 'युवातुर्क आंदोलन' का सूत्रपात हुआ। तुर्की में सुल्तान अब्दुल हमीद द्वितीय को एक पार्लियामेंट की स्थापना के लिए सहमत होना पड़ा। क्रान्तिकारियों (युवातुर्क आंदोलनकारियों) को सेना का भी समर्थन प्राप्त था। पश्चिमी यूरोप के देशों को चिन्ता हुई कि प्रजातांत्रिक तुर्की

नोट

शक्तिशाली हो जाएगा और वह अपने खोये प्रदेशों की माँग करेगा। इससे चिन्तित होकर आस्ट्रिया ने (1908 ई. में) बर्लिन कांग्रेस में प्राप्त बोस्त्रिया और हर्जेगोविना को अपने साम्राज्य का अंग बना लिया जबकि इन दोनों प्रान्तों को उसे पवित्र अमानत के रूप में केवल शासन संचालित करने के लिए सौंपा गया था और उसने सभी को वचन दिया था कि वह इन्हें अपने साम्राज्य में सम्मिलित नहीं करेगा। इस विलय का सर्बिया ने घोर विरोध किया। रूस ने सर्बिया का पक्ष लिया परन्तु जर्मनी के सम्राट कैसर विलियम द्वितीय ने, जो आक्रामक विदेश नीति के लिए तैयार था, घोषित किया कि, 'यदि रूस सर्बिया की सहायता करेगा तो जर्मनी आस्ट्रिया की सहायता करेगा।' धमकी कारगर हुई यद्यपि तनाव समाप्त नहीं हुआ परन्तु दब गया। इस घटना के उपरान्त पूर्वीय समस्या के क्षितिज पर युद्ध के बादल छा गये, फलस्वरूप बाल्कन युद्धों का सूत्रपात हुआ।

टास्क पेरिस संधि के उपरांत बाल्कन क्षेत्र की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना क्या थी?

10.7 बाल्कन युद्ध (Balkan War)

तुर्की की निर्बलता, युवातुर्क आंदोलन से व्याप्त अराजकता ने बाल्कन राज्यों को मेसीडोनिया की ओर आकृष्ट होने के लिए उत्साहित कर दिया जहाँ सभी राष्ट्रीयताओं के लोग रहते थे। तुर्की के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए बाल्कन के राज्यों ने परस्पर झगड़े भुला दिए और 1912 में 'बाल्कन संघ' संगठित कर लिया। अपनी संयुक्त शक्ति और तुर्की की निर्बलता देखकर मेसीडोनिया को आपस में बाँटने की नियति से उन्होंने तुर्की के विरुद्ध युद्ध प्रारम्भ कर दिया। बाल्कन के इस प्रथम युद्ध में सर्बिया, बल्गारिया, यूनान, मांटीनीग्रो (अक्टूबर 1912) ने यूरोप से तुर्क साम्राज्य लगभग समाप्त कर दिया, तुर्की ने आत्मसमर्पण कर दिया। अन्ततः इंग्लैण्ड के प्रयासों से 30 मई, 1913 को 'लन्दन की सन्धि' हो गई। अब लूट के बँटवारे को लेकर बाल्कन राज्यों में परस्पर संघर्ष हो गया। मेसीडोनिया के विभाजन का आधार निर्णीत नहीं हो पा रहा था। वैमनस्य बढ़ता गया और अन्ततोगत्वा लन्दन सन्धि के तीन महीने के अन्दर ही बाल्कन का द्वितीय युद्ध प्रारम्भ हो गया। इस बार बाल्कन के राष्ट्र आपस में ही संघर्षग्रस्त हुए। सर्बिया, यूनान रुमानिया, तुर्की एक पक्ष में तथा बल्गारिया अकेला दूसरे पक्ष में था। मांटीनीग्रो भी सर्बिया अर्थात् पहले पक्ष के साथ हो गया। इस प्रकार बल्गारिया सब ओर से शत्रुओं से घिर गया। वह अकेला पाँच राज्यों से युद्ध कर रहा था। परिस्थिति निराशाजनक थी। पराजित बल्गारिया ने निराश होकर सन्धि की याचना की। अन्ततोगत्वा 10 अगस्त, 1913 को बुखारेस्ट की सन्धि हो गई। इस सन्धि के अनुसार सर्बिया को उत्तरी तथा मध्य मेसोडोनिया का भाग प्राप्त हुआ। दक्षिणी मेसोडोनिया (सैलोनिका बन्दरगाह सहित) यूनान को प्राप्त हुआ। रूमानिया को बल्गारिया से उत्तर पूर्व की संकरी पट्टी प्राप्त हुई, जो रुमानिया की आकांक्षा थी।

बाल्कन युद्धों से सर्बिया की शक्ति और प्रभाव में आशातीत वृद्धि हुई थी। इससे आस्ट्रिया अधिक क्षुब्ध था क्योंकि उसे भय था कि सर्बिया के स्लाव जाति के लोग संगठन के बहाने आस्ट्रिया में रहने वाले स्लावों को विद्रोह के लिए उकसायेंगे। इसलिए आस्ट्रिया में सर्विया के प्रति द्वेष जागृत हुआ और दोनों के सम्बन्ध वैमनस्यपूर्ण हो गये। 1914 में आस्ट्रिया अधिकृत बोस्त्रिया की राजधानी सेराजेवों में आस्ट्रिया के राजकुमार फर्डीनेण्ड की हत्या (28 जून, 1914) कर दी गई; इसके लिए आस्ट्रिया ने सर्बिया पर दोषारोपण किया बाद में आक्रमण कर दिया एक सर्बिया पक्ष में तथा जर्मनी आस्ट्रिया के पक्ष में था। बाल्कन से शुरू हुआ युद्ध विश्व युद्ध बन गया। इस प्रथम महायुद्ध में रूस, तुर्की और आस्ट्रिया व जर्मन साम्राज्य समाप्त हो गए। अन्त में बाल्कन राष्ट्र को स्वतन्त्र राष्ट्र की प्रभुसत्ता प्राप्त हुई। 100 वर्ष के बाद पूर्ण समस्या का अन्त हो गया।

नोट

10.8 सारांश (Summary)

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में तुर्क साम्राज्य (ऑटोमन एम्पायर) के पतनोन्मुख होने के कारण बाल्कन में पैदा हो रही शक्ति-शून्यता भरने के लिए कई शक्तियों ने प्रयास करना प्रारम्भ किया। सर्वाधिक उपयुक्त दावा बाल्कन राष्ट्रों का था परन्तु वियना कांग्रेस के बाद शुरू हुई राष्ट्रवाद विरोधी प्रतिक्रियावादी व्यवस्था बाल्कन राष्ट्रों के अस्तित्व को साकार नहीं होने देने के लिए कटिबद्ध थी।

10.9 शब्दकोश (Keywords)

1. स्वतंत्रता (Liberty)–स्वाधीनता
2. बंधुत्व (Fraternity)–भाईचारा

10.10 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. यूनान के स्वातंत्र्य युद्ध का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।
2. 'सैनस्टीफेनो संधि' पर टिप्पणी लिखिए।
3. 1908 में 'युवातुर्क आंदोलन' का सूत्रपात क्यों हुआ? वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. नैवारिनों
2. रूस
3. (ख) 1878
4. (क) 1833
5. (घ) अक्टूबर, 1853

10.11 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
2. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
4. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
5. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
6. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
7. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*

नोट

इकाई 11: वाणिज्यिक पूँजीवाद (Commercial Capitalism)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

11.1 ऐतिहासिक स्पष्टीकरण (Historical Explanation)

11.2 सामाजिक एवं राजनीतिक निर्धारक: कुलीन वर्ग, राजतंत्र एवं कृषक वर्ग (Social and Political Determinant : Aristocracy, Monarchy and Peasantry)

11.3 आर्थिक एवं सामाजिक निर्धारक: वाणिज्य नगरीय केंद्रों की प्रासंगिकता (Economic and Soical Determinant : Relevance of Commercial Civic Centres)

11.4 कृषिगत पूँजीवाद: गतिरोध एवं विकास (Cultivative Capitalism: Hindrance and Development)

11.5 सारांश (Summary)

11.6 शब्दकोश (Keywords)

11.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

11.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- अर्थव्यवस्था को मापने के लिए इतिहासकारों के आंकड़े जानने में।
- कुलीन वर्ग, कृषक वर्ग एवं राजतंत्र को जानने में।
- वाणिज्य नगरीय केन्द्रों की प्रासंगिकता जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

1580 से 1650 के दौरान यूरोप के अन्य क्षेत्रों में अवनति के संकेत दिखाई पड़ते हैं। जनसंख्या, कृषि-उत्पादन एवं मूल्यों में गिरावट आई और व्यापार एवं शिल्प के प्रमुख केंद्रों के ह्रास की प्रवृत्ति देखी गई। लगभग इसी काल में स्पेन, नीदरलैंड, फ्रांस व इंग्लैंड के राजशासनों के विरुद्ध राजनीतिक विद्रोह जारी रहे तथा जर्मनी के राज्यों में तीस वर्षीय युद्ध चलता रहा। तत्कालीन यूरोपीय समाज में अस्थिरता लाने वाली इन घटनाओं को इतिहासकारों ने 'सत्रहवीं सदी का सामान्य संकट' (General Crisis of the 17th Century) की संज्ञा दी है। परंतु यह नाम भ्रामक है क्योंकि यूरोप के हर क्षेत्र में अवनति एकसमान नहीं हुई, न ही इस संकट का प्रभाव सभी पर एक जैसा रहा। पिछले तीस वर्षों के शोधकार्य से यह स्पष्ट होता है कि विभिन्न क्षेत्रों पर संकट का अलग-अलग प्रभाव पड़ा और उनकी प्रतिक्रियाएँ भी अलग-अलग रहीं।

नोट

11.1 ऐतिहासिक स्पष्टीकरण (Historical Explanation)

सत्रहवीं शताब्दी की आर्थिक मंदी के कारणों पर इतिहासकारों में जो विवाद हुआ है, उनके प्रमुख विचारों की हम यहाँ चर्चा करेंगे। परंतु इनके विश्लेषण में हम सत्रहवीं शताब्दी की समस्याओं तक सीमित न रहकर आर्थिक विकास अथवा पूँजीवाद के आम मुद्दे भी उठाना चाहेंगे। उदाहरण के लिए, मूल्यों का आर्थिक स्थिति पर प्रभाव हम केवल सत्रहवीं शताब्दी के संदर्भ में ही नहीं देखेंगे अपितु ऐसे सवाल भी उठाएँगे कि क्या हर ऐतिहासिक ढाँचे में मूल्यों का उत्पादन पर समान प्रभाव होता है, और होता है तो क्यों और कैसे?

इतिहासकारों के विचारों को तीन प्रमुख वर्गों में रखा जा सकता है। पहला वह जो मूल्यों में गिरावट को आर्थिक मंदी का कारण मानते हैं। यह ई. जे. हैमिलटन का मत है। दूसरा आर्थिक व्यवस्था पर जनसंख्या के प्रभाव को प्रमुख मानता है। तीसरा वह जिनके विचार में अर्थव्यवस्था पर मूल्य अथवा जनसंख्या का प्रभाव जानने के लिए, ये आँकड़े उत्पादन की सारी प्रक्रिर्या में रखने होंगे। यह इसलिए क्योंकि मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हमेशा किसी-न-किसी आर्थिक क्रम के चक्र में पाया जाता है– कभी स्वतंत्र कृषक के रूप में, कभी बंधुआ मज़दूर और कभी वेतन पाने वाले कामगार के रूप में। इसी क्रम से उसके और वर्गों से सामाजिक रिश्ते भी स्थापित होते हैं अर्थात् राजनीतिक सत्ता के बल पर ऐंठते हुए अभिजात वर्ग के साथ ज़मीन के मालिक होने के नाते ज़मींदार के संग या उत्पादन की वस्तुएँ समेटे हुए पूँजीपति के साथ जो उसकी श्रम शक्ति खरीदता है। इन्हीं सामाजिक-आर्थिक (ऐतिहासिक) प्रक्रियाओं से तय होता है कि समाज में माँग का स्तर और स्वरूप क्या होगा–अर्थात् कहाँ तक स्वयं के उत्पादन से पूर्ति न होकर औरों की बनाई वस्तुओं पर निर्भरता बढ़ेगी। और क्या औरों की बनी वस्तुएँ भेंट, कर या विक्रय-जिंसों के रूप में प्राप्त की जाएँगी। इन इतिहासकारों के विचार में पूँजीवाद के अंदर अधिक माँग बढ़ती है क्योंकि उससे आर्थिक क्रम तथा श्रमिकों को बनाए रखने के लिए औरों की बनाई वस्तुएँ हर समय खरीदनी पड़ती हैं। ये बातें आगे विस्तार से समझाई जाएँगी। यहाँ हम केवल इतना कहना चाहते हैं कि इस प्रक्रिया के बदलने से ही माँग और उत्पादन में वृद्धि होती है, केवल जनसंख्या या मूल्यों के बदलाव से नहीं। इतिहास में हम यही पढ़ते हैं कि इन प्रक्रियाओं में कैसे बदलाव आए और इनके साथ-साथ मानवीय और सामाजिक रिश्ते कैसे बदले।

सत्रहवीं शताब्दी में यूरोप में जो आर्थिक मंदी आई, ई. जे. हेमिल्टन के अनुसार उसका सबसे पहला कारण था स्पेन के माध्यम से दक्षिणी अमेरिका से सोने-चाँदी के आगमन में कमी आ जाना। सोने-चाँदी की इस कमी से प्रचलित मुद्रा में भी कमी आ गई और उससे मूल्यों में गिरावट का दौर शुरू हो गया। इसका तात्पर्य यह हुआ कि कृषि और शिल्प में पैसा लगाना लाभदायक नहीं रहा। उसके इस तर्क से तो यह लगता है कि सोलहवीं शताब्दी के यूरोप का आर्थिक विकास तभी जारी रह सकता था, जब उसमें निरंतर धन जोड़ा जाता रहता।

हेमिल्टन की युक्ति के पीछे मूल धारणा यही है कि जब मूल्य उत्पादन लागत से ज़्यादा होंगे तो निर्माण लाभ देगा और लोगों को पूँजी लगाकर उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन मिलेगा। आज की पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में यह विचार भले ही सही हो, परंतु सत्रहवीं शताब्दी में ऐसा नहीं हो सकता। पहली बात तो यह है कि जब लाभ हो रहा हो तो भी उत्पादन को बढ़ाना अथवा पूँजी को नई जगहों में लगाया जाना संभव नहीं था। मसलन ज़मीन का मिलना आसान नहीं था। ज़मीन का बहुत बड़ा हिस्सा चरागाहों के रूप से गाँव की साझी संपत्ति होती थी। कुछ किसानों के पास ज़मीन विशेष पट्टों पर थी, जिसके कारण उन्हें बेदखल नहीं किया जा सकता था। एक किसान (विशेषकर पूर्वी यूरोप और फ्रांस का किसान) जमींदारों की अनुमति के बिना स्वयं अपनी भी ज़मीन बेच नहीं सकता था, न वह उसे पट्टे पर ही दे सकता था। इन ज़मींदारों को ज़मीन के बारे में बहुत से अधिकार मिले थे। सबसे बड़ा कारण यह था कि किसान लोग कम फ़सल के बावजूद अन्य साधनों से पेट-पालन करते हुए भी अपनी ज़मीन का छोटा-से-छोटा टुकड़ा भी अपने हाथ में बनाए रखना चाहते थे। 16वीं शताब्दी में फ्रांस में आसपास के छोटे-छोटे खेतों को मिलाकर बड़े फ़ार्म बनाने का प्रयास क्यों विफल रहा, उसके कुछ कारण यही थे, जो ऊपर बताए गए हैं। इन बाधाओं के बावजूद चकबंदी पर रोक न लगाने का मतलब था छोटे किसानों का हिंसा पर उतारू हो जाना।

नोट

यह कोई भी निरंकुश राजतंत्र (absolutist monarchy) करने को राजी नहीं था। इससे भी बड़ी बात यह थी कि श्रमिक आसानी से नहीं मिलते थे। मानवीय श्रमशक्ति अधिकांशत: अपने छोटे और कम उपजाऊ खेतों में अधिक मेहनत कर काम-चलाऊ उपज उगाने में लगी हुई थी। इन अक्षम और केवल किसान-परिवार की खपत लायक उपज देने वाले खेतों को खत्म करके ही गेहूँ के बड़े-बड़े फ़ार्मों के लिए श्रमिक जुटाए जा सकते थे। यदि बड़े चकबंदी खेत या हथकरघे खड़े कर भी दिए जाएँ तो वे बिना श्रमिकों के न तो उत्पादन कर पाएँगे और न ही अपने मालिकों के लिए मुनाफ़ा कमा पाएँगे। इससे मार्क्स की 'भावी पूँजीपति' वाली कहानी याद हो आती है। वह इंग्लैंड से अपनी मशीनें और श्रमिक लेकर अमेरिका गया, परंतु उसके सारे श्रमिक अमेरिकी सीमांत क्षेत्र में खेती करने के लिए भाग गए और उसकी मशीनें बेकार हो गईं। पूँजीपति को पता चला कि पूँजी-उत्पादन सिर्फ़ तकनक़ी साधन नहीं अपितु सामाजिक संबंध है जो दो वर्गों के बीच स्थापित किया जाता है: एक ओर उत्पादन के यंत्र का मालिक, पूँजीपति और दूसरी ओर श्रमिक वर्ग जिसके पास स्वयं पेट भरने के लिए कोई उत्पादन के साधन नहीं हैं। जब तक ज़मीन और श्रमिक इन क्षुद्र उत्पादन-चक्रों में उलझे रहे, तब तक मूल्यों का उत्पादन या उसके विकास पर प्रभाव बहुत सीमित रहा। उत्पादन की वृद्धि में इन बाधाओं को देखते हुए सत्ता में बैठे लोगों ने अपनी स्थिति का लाभ उठाया और तत्कालीन मौजूदा उत्पादन में ही डंडे के ज़ोर पर अपना हिस्सा खूब बढ़ा लिया। सोलहवीं शताब्दी के फ्रांस में राजतंत्र के लोग जब ज़मीनों को मिलाकर बड़े फ़ार्म बनाने में विफल रहे तब उन्होंने ज़मीनों का लगान बढ़ा दिया तथा **मोर्टमैन** (mortmain) और **बैनालाइट्स** (banalites) जैसे परंपरागत सामंती शुल्क फिर से लगा दिए। सत्रहवीं शताब्दी में हंगरी में भी इसी प्रकार सामंती शुल्क बढ़ा दिए गए। किसान के इस तरह शोषण ने उनके पास ऐसा कुछ भी नहीं छोड़ा जिसे वह अपनी पैदावार बढ़ाने में या ज़मीन की स्थिति सुधारने में खर्च कर सकते।

पोलैण्ड के उदाहरण से इस युक्ति को और बल मिलता हैं। हम जानते हैं कि पोलैण्ड के जागीरदारों ने छोटे-छोटे स्वतंत्र किसानों से डंडे के बल पर अपने फार्मों में काम कराया। परंतु ये छोटे किसान अपने लिए जो कुछ उगाना चाहते थे, वह न उगा पाने तथा जबरदस्ती के काम में मन न लगाने के कारण उपज उतनी नहीं कर पाए जितनी ज़मीन थी। इसी कारण पोलैण्ड के बड़े-बड़े फार्मों के ये स्वामी सोलहवीं शताब्दी में अनाज की कीमतों में हुई भारी वृद्धि का कोई लाभ नहीं उठा सकें। बिटोल्ड कूला ने स्पष्ट किया है कि सोलहवीं शताब्दी के समूचे व्यापार प्रधान दौर में भी, पोलैण्ड के गेहूँ के दाम संभावित मूल्यों और लाभ को ध्यान में रखकर नहीं अपितु उपज की मात्रा को देखकर तय होते थे। इसका मतलब है कि अधिक मूल्य मिलने की पूरी संभावना होते हुए भी पोलैण्ड के तत्कालीन (सोलहवीं सदी के) राजनीतिक व आर्थिक ढाँचे के कारण उस देश के ज़मीदार अपनी उपज नहीं बढ़ा पाए।

बढ़ते मूल्यों का उत्पादन पर असर केवल पूँजीवाद में ही होता है जहाँ उत्पादन के कारक जिंसों के रूप में आसानी से उपलब्ध हैं और पैसे से खरीदे जा सकते हैं तथा किसी भी आकार-प्रकार में संगठित किए जा सकते हैं। आज की स्थिति को देखकर बनाई गई कोई भी धारणा पूँजीवाद से पहले के उस काल के बारे में व्यक्त नहीं की जा सकती।

अब प्रश्न उठता है कि आर्थिक सुधार और मंदी के ये चक्र जनसंख्या में वृद्धि के साथ कैसे आते हैं? कृषि-आधारित राज्यों में तकनीकी ठहराव के कारण बढ़ती जनसंख्या के लिए फालतू अनाज अधिक जमीन पर खेती से ही पैदा हो सकता है। नई जमीन पर हल चलाने से जंगल या चरागाहों का नाश होता है जो कृषि-भूमि की उर्वरा शक्ति का आधार है। फिर जहाँ भूमि मिलनी बंद हुई, भूमि की उर्वरा शक्ति का ह्रास शुरू हो जाता है, विशेषत: छोटे टुकड़ों में बँटी जमीन में यह जल्दी होता है। ऐसा जमीन में फ़सल चक्र को छोटा करके हर बार ज़्यादा-से-ज़्यादा ज़मीन में बोआई की कोशिश की जाती है ताकि अधिक-से-अधिक फ़सल प्राप्त की जा सके। परंतु अंतत: इसका परिणाम यह होता है कि ज़मीन की उर्वरा शक्ति ही नष्ट हो जाती है। इसलिए बढ़ती जनसंख्या का मतलब होता है खेतों का छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाना, संसाधनों व ज़मीन का चुक जाना, उपज में कमी होना, अकाल की स्थिति पैदा

नोट

होना, लोगों का मरना तथा अंततः आर्थिक जीवन का विस्तार रुक जाना। इन इतिहासकारों की राय में सत्रहवीं शताब्दी का संकट सामंतवादी कृषि-आधारित यूरोप का अंतिम जनसंहारक संकट था। अठारहवीं शताब्दी में तकनीकी ठहराव खत्म होकर नया युग शुरू हुआ, जिसमें कृषि की नई तकनीकें अपनाई गईं। इनसे अनाज की पैदावार में भारी वृद्धि हुई और उन्नीसवीं शताब्दी में औद्योगिक क्रान्ति लाने वाली महत्त्वपूर्ण क्रान्ति का जन्म हुआ।

पूँजीवाद से पूर्व, कृषि-आधारित अर्थव्यवस्था के जगत में इस चक्रीय हलचल को स्पष्ट करके इन इतिहासकारों ने यह समझने में सहायता की है कि हर क्षेत्र के आंतरिक स्वरूप में अंतर होते हुए भी यूरोप के सभी हिस्सों में कुछ हद तक एकसमान आर्थिक लहर कैसे फैली जिसे हम 'सोलहवीं शताब्दी के विस्तार' और 'सत्रहवीं शताब्दी के सामान्य संकट' के नाम से पहचानते हैं। "ऐसा प्रतीत होता है कि हमें क्रमबद्ध आर्थिक उतार-चढ़ाव (आर्थिक लय) की बात करनी चाहिए–ढाँचे की नहीं। यूरोप के एक सिरे से दूसरे सिरे तक हर चीज एक संकेत पर काम नहीं कर रही थी। इसके विपरित हर आवेग इस आर्थिक लय से संबद्ध था। उस समय आर्थिक स्थिति बहुत हद तक कृषि-उत्पादन पर निर्भर थी। ऐसी हलचलें यूरोप भर में तुरंत असर करती थीं, परंतु हर क्षेत्र में अपने इतिहास और विशेष स्थिति के अनुसार ही उसकी प्रतिक्रिया होती थी।"

नोट्स

सोलहवीं शताब्दी में स्पेन अपने दक्षिणी अमेरिकी उपनिवेशों से भारी मात्रा में चाँदी लाता था।

हॉब्सबाम का कहना है कि सांमतवादी व्यवस्था में बाजार से खरीदी जाने वाली चीज़ों यानी जिंसों की माँग सीमित होती है। तैयार माल तथा अनाज आदि जिंसों के लिए बड़ा बाज़ार तब तक नहीं बनाया जा सका, जब तक जनसंख्या का अधिकांश भाग अपनी जीविका के लिए आवश्यक भोजन और कपड़ा जुटाने लायक भूमि अपने पास रखता था। किसान अपनी उपज का एक भाग बाज़ार में बेचकर करों, लगान व सामंती शुल्कों की अदायगी कर देता था। यह पैसा वह दूसरों के द्वारा तैयार किए हुए माल को खरीदने में इस्तेमाल नहीं कर पाता था। इस तरह किसान का पैसा, राज्य, चर्च और ज़मींदार ले जाते थे। सामंतवादी व्यवस्था में धन शक्ति इन्हीं लोगों के हाथ में थी और ये ही लोग जिस उत्पादकों को बाज़ार उपलब्ध कराते थे। इसलिए बाजार बहुत सीमित था, उपभोक्ता बहुत कम थे और वे भी विलास सामग्री के थे। जहाँ राजतंत्र की नियमित सेना तथा युद्ध की वजह से धातु तथा वस्त्र उद्योग को प्रोत्साहन मिलता था वहाँ इसका यह नुकसान भी था कि कृषि-कार्यों में लगे हुए श्रेष्ठ कृषकों को जबरदस्ती सेना में ले लिया जाता था और युद्धों में जन-धन के अलावा पशुधन व फ़सलों का नाश भी होता था। इन तर्कों के आधार पर हॉब्सबाम ने यह निष्कर्ष निकाला कि इन परिस्थितियों में अपनी खपत और कुछ सीमित पण्य वस्तुओं के अलावा और ज़्यादा उत्पादन को बढ़ाना संभव नहीं था। इसलिए सत्रहवीं शताब्दी में यूरोप के विकास में गतिरोध आ गया, जिसे 'संकट' कहा जाता है। इस सदी में उत्पादन बढ़ाना लाभदायक नहीं था। पैसा जिन हाथों में था, उन्होंने उसे ज़मीन की खरीद में, राजदरबार में पद प्राप्त करने में, आलीशान मकान बनाने में तथा लगातार युद्धों की योजनाएँ बनाने में खर्च किया। इंग्लैण्ड और नीदरलैण्ड इस संकट के अपवाद रहे, क्योंकि सत्रहवीं शताब्दी में इन देशों में कृषि-उत्पादन में भारी वृद्धि हुई। वहाँ छोटे किसानों को अपने छोटे-छोटे खेत छोड़कर बड़े फ़ार्मों में खेतिहर मज़दूर बनना पड़ा। साथ ही जिंस बाजार खुल गए, क्योंकि पेट भरने के लिए मज़दूरी से प्राप्त की गई पगार से दूसरे का बोया हुआ अनाज खरीदना पड़ता और दूसरों का बुना कपड़ा खरीदना पड़ता। इस तरह दोहरा बाजार बन गया: एक तो वह जहाँ रोजमर्रा निर्वाह की जिंसें मिलती थीं और दूसरे, रोजमर्रा की खपत की चीज़े बनाने वालों मे अपना उत्पादन बढ़ाने के लिए जब होड़ हुई तो ऐसे उपकरण व यंत्र बनाए गए जो कम लागत में ज़्यादा-से-ज़्यादा उपज दें। इस तरह उत्पादन बढ़ाने वाले उपकरण, ढुलाई करने वाले वाहन आदि का दूसरा बाजार बन गया जिसमें पूँजीपति स्वयं एक-दूसरे के माल के खरीदार थे।

नोट

इसलिए जिंसें की बढ़ती हुई माँग 'केवल जनसंख्या वृद्धि' पर निर्भर नहीं करती (अनालेस साहित्यकारों का दृष्टिकोण), बल्कि अपनी रोजमर्रा की ज़रूरतें पूरी करने के लिए उनके द्वारा अपनाए गए व्यवसाय पर निर्भर करती है। मसलन जिंसें के लिए माँग बढ़ाने के लिए पहले छोटे उत्पादकों के उत्पादन के साधन से अलग करके मज़दूर बनाना होगा, क्योंकि तभी लोग अपना पेट भरने के लिए जिंस खरीदने को विवश होते हैं। माँग सामाजिक और स्वामित्व-संबंधों के बदलने से उत्पन्न होती हैं, केवल जनसंख्या बढ़ने से नहीं।

कृषि में छोटी जोतों और शिल्प में लघु उत्पादन करने वाले किसानों और निर्माताओं को, यूरोप के अधिकांश भागों में समर्थन मिला और वे निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण बोझों से बच गए (और इसी कारण पूँजीवाद यहाँ इंग्लैण्ड की तुलना में पिछड़ गया)–(क) किसानों पर पड़ रहे भारी लगान, करों और सामंती शुल्कों के बोझ से। इससे धन, भूमि व पशुधन किसानों के पास जमा न हो सका। इसलिए किसानों के बीच कोई ऐसा वर्ग न बन सका जो धीरे-धीरे सारी ज़मीन अपने हाथों में संगठित कर ले और स्वयं पूँजी-प्रणाली कृषि-क्षेत्र में अपनाए। (ख) सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं के दबाव से जिन्होनें कृषकों में आर्थिक समानता और क्षमता को बनाए रखा। इन संस्थाओं में सर्वप्रमुख ग्राम-सभा और निरंकुश राजतंत्र (absolutist monarchies) थे।

अंत में यह बात समझनी आवश्यक है कि पूँजीवादी प्रणाली की स्थापना के लिए यह ज़रूरी है कि उत्पादन के कारक एक उत्पादन प्रक्रिया से दूसरी उत्पादन प्रक्रिया में आसानी से ढाले जा सकें। ऐसा तब संभव होता है जब छोटे स्वतंत्र कारीगर और छोटे किसान को अपने यंत्र व ज़मीन से अलग कर दिया जाए, लघु-उत्पादन प्रक्रियाएँ नष्ट हो जाएँ। तभी इनमें लगी हुई श्रम-शक्ति और ज़मीन का नई और ज़्यादा उत्पादक प्रक्रियाओं में गठन किया जा सकेगा।

इसी आधार पर हम अब सत्रहवीं सदी के यूरोप में पूँजीवादी प्रवृत्तियों का सर्वेक्षण करेंगे। हमारे सामने दो प्रमुख सवाल हैं: (1) किस हद तक लघु उत्पादक प्रक्रियाएँ संकट में समाप्त हो गईं या उसके बावजूद जारी रहीं; (2) इनके समाप्त होने पर पूँजीपति या बुर्जुआ वर्ग कहाँ तक उभरकर आया।

फ्रांस में कृषि की छोटी जोतें सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दियों में बनी रहीं। कुछ हद तक यह कम्यून जीवन-पद्धति से संभव हो सका। ग्राम समुदाय में धनी किसानों को ऊपर या परती भूमि पर पेड़ लगाने, आसपास की ज़मीन पर कब्ज़ा करने, पशु-पालन को खेती के साथ मिलाने तथा बेहतर कृषि तरीक़े अपनाने से रोका। यदि उन्हे रोका न गया होता तो उन गरीब और छोटे किसानों की गुजर मुश्किल हो गई होती जो अपने खेतों की थोड़ी सी उपज पर निर्भर करते थे। इस तरह फ्रांस में ग्राम कम्यूनों ने खेती व पशु-पालन में किसी एक व्यक्ति के बड़े हो जाने पर सफलापूर्वक अंकुश लगा दिया। कुल मिलाकर खेती अनाज-आधारित ही रही और खेत इधर-उधर खुले में पट्टियों के रूप में बिखरे रहे। इस प्रकार भूमि की उर्वरा-शक्ति खत्म करने वाले कृषि-उपाय जारी रहे। ग्राम कम्यून ने बाहरी लोगों को ज़मीन जब्त करने से भी रोका। सोलहवीं शताब्दी में जब गोश्त और ऊन के दाम अनाज से अधिक थे तब ज़मींदारों के कुछ वर्गों (शाही दरबारियों और व्यापारियों में से) ने खाली पड़ी ज़मीनों पर क़ब्ज़ा करने और उसे अपनी ज़मीन में मिलाने की कोशिश की ताकि उस पर पशु-पालन किया जा सके। परंतु ग्राम-कम्यूनों ने इन प्रयासों का साहसपूर्वक विरोध किया। चरागाहों के इर्द-गिर्द खड़ी कर दी गई बाड़ भी तोड़ डाली गई और चरागाहों को अलग करने वाली खाइयाँ पाट दी गईं। बाहर के ऐसे उपद्रवी तत्वों के विरुद्ध गाँव के स्थायित्व को बनाए रखने में निरंकुश राजतंत्र की नीतियों से भी बड़ी मदद मिली। विशेषत: सोलहवीं शताब्दी में लुई तेरहवें के शासनकाल में सरकारी अफ़सर इसे रोकने में बड़े सतर्क रहे। इन अफ़सरों में सबसे महत्त्वपूर्ण इन्टेन्डेन्ट (intendants) रहे जो राज्य के प्रतिनिधि बनकर देहाती क्षेत्र में जाते थे और समृद्ध ज़मीदारों को दूसरों की या गाँव की ज़मीन पर कब्ज़ा करने से तथा किराए बढ़ाने से रोकते थे। तीस वर्षीय युद्ध में किसानों की संपत्ति के विनाश के बाद छोटे किसानों की ज़मीन सुरक्षित रखने तथा ग्राम-संगठन को बनाए रखने में इन इन्टेंडेन्टों की भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण रही। इस तरह राज्य के संरक्षक के रूप में इन इन्टेंडेन्टों ने अपनी भूमिका को भी किसानों की नज़र में बनाए रखा और पर्याप्त

नोट

संख्या में करदाता परिवारों को भी बनाए रखा। (चूँकि फ्रांस में राजशाही के लोग करमुक्त थे, अतएव राज्य किसानों से प्राप्त करों पर काफ़ी हद तक निर्भर था। सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में ही राजतंत्र, उसकी अदालतों, विशाल सेना, अफ़सरों की लंबी-चौड़ी फ़ौज तथा शाही शानों-शौकत को बनाए रखने के लिए कुछ नए कर, जैसे चूल्हा कर, नमक कर आदि लगाए गए थे)।

इस प्रकार फ्रांस में कृषि की छोटी जोतों (छोटे उत्पादकों) को समृद्ध ज़मीदारों और व्यापारियों से बचाकर राजशाही ने उन्हें टूटने से बचाया। किन्तु उसमें स्वयं आर्थिक विकास के लिए दम नहीं था क्योंकि किसानों के पास पैसा जमा ही नहीं हो सका। उन्हें राज्य, चर्च और सामंती जागीरदारों को भारी कर देने होते थे। गोबर्ट ने अनुमान लगाया है कि एक औसत खाते-पीते किसान को अपनी गेहूँ की उपज का एक तिहाई हिस्सा और यदि मोटा अनाज हो तो और भी ज़्यादा हिस्सा–उक्त करों के रूप में देना होता था। यही फ्रांस में सत्रहवीं शताब्दी की कृषि की विशेषता थी। यद्यपि कुछ और प्रवृत्तियाँ भी दिखाई दे रही थीं, परंतु वे अभी इतनी प्रमुख नहीं थीं। सोलहवीं शताब्दी के अंत से लेकर अठारहवीं शती के प्रारंभ तक कृषि के क्षेत्र में आए संकटचक्र तथा मूल्यों में उतार-चढ़ाव से छोटी जोतों के किसानों की आत्मनिर्भरता खत्म हो गई तथा उन्हें अपनी जीविका के लिए साथ में कोई मज़दूरी का काम करना ज़रूरी हो गया। गोबर्ट ने लिखा है कि फ्रांस के कुछ भागों में समृद्ध किसानों और व्यापारियों के पास छोटे किसानों के लिए ऐसा काम था। इन छोटे किसानों को बीज, हल या घोड़ा उधार देकर बदले में धनी किसान उनसे अपने खेतों में मज़दूरी करवाकर अपनी भूमि और उपज बढ़ा रहे थे। यही नहीं, कमी वाले दिनों में जब अनाज के दाम तीन-चार गुने बढ़ जाते थे, धनी किसान (जिनके पास अपनी ज़रूरत से बहुत ज़्यादा अनाज होता था) खूब अच्छा मुनाफ़ा कमाते थे। फ्रांस के कुछ भागों में इन दो तरह के किसानों के बीच का सामाजिक अंतर स्पष्ट दिखाई देने लगा था। मानोव्रियर (Manouvrier) के पास कोई ज़मीन नहीं थी और वह समृद्ध किसान के खेतों में काम करता था, 'लैबोरियर' (Laboureur) शब्द मध्यवर्गीय और धनी किसान के अंतर को स्पष्ट करता था। गोबर्ट का कहना है कि ऐसे समृद्ध किसान हर गाँव में गिने-चुने ही थे, पर आर्थिक दृष्टि से वे सबसे शक्तिशाली थे। इसलिए जो काल बहुसंख्यक लोगों के लिए आर्थिक संकट का काल होता था, वहीं कुछ के लिए बेशुमार धन जमा करने का काल होता था, और जिससे हरेक का आर्थिक जीवन नए सिरे से तय हो रहा था।

स्पेन में, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, राज्य की नीतियाँ भेड़पालक अभिजात व ज़मींदार वर्ग के पक्ष में अनाज उत्पादक किसानों को निरुत्साहित करने वाली थीं। सत्रहवीं शताब्दी में स्पेन के राजा ने अभिजात भेड़पालकों को अपना रेवड़ और बड़ा करने के लिए और कृषि-योग्य ज़मींनों पर क़ब्जा करने की अनुमति दे दी। इसके साथ ही अनाजों के मूल्यों में आई गिरावट से तो किसानों की रीढ़ ही टूट गई। वे या तो आम तौर पर भिखारी बन गए अथवा सेना में भरती हो गए। अठारहवीं के अंत तक ज़मीन का बड़ा भाग, जिस पर पहले खेती होती थी, अब खाली पड़ा रहा।

पूर्वी यूरोप में हम पहले ही देख चुके हैं कि धनी ज़मींदारों ने डंडे के बल पर छोटे किसानों की ज़मीनें हथिया लीं। यूरोप के इस भाग के देशों के राजतंत्र किसानों को संरक्षण देने अथवा उनकी उपज पर अपना अधिकार जताने में असमर्थ थे, फलस्वरूप समृद्ध ज़मींदार और भी निरंकुश हो गए थे। इन सामंतों ने किसानों की ज़मींनों पर कब्जा करके उन्हें अपने-अपने बड़े फ़ार्मों (डिमेनों) पर कड़ी मेहनत करने के लिए विवश कर दिया। परंतु चूँकि ज़मींदार भी खेती की नई तकनीकें अपनाने को उत्सुक नहीं थे, इसलिए सत्रहवीं शताब्दी में जब मंदी का दौर आया तब इन ज़मीदारों ने अपनी आय बढ़ाने के लिए छोटे किसानों पर और जुल्म ढाने शुरू कर दिए। यह नीति 'बेनरलेगान' (benarlegan) कही जाती थी। सर्फ़ यानी बंधुआ किसानों (कृषिदासों) से मज़दूरी और कड़ाई से कराई जाने लगी तथा शराब, नमक, आटा पीसने, रोटी बनाने आदि पर और अधिक कर लगाकर उन पर सामंती शुल्क बढ़ा दिए गए। पश्चिमी यूरोप मे व्यापारियों की जिस धन-संपदा ने कृषि-विकास में भूमिका अदा की, उसे यहाँ मौका न मिला। यह कारनामा भी सामंतों का था, जिन्होंने सत्रहवीं शताब्दी में अपनी आमदनी बढ़ाने के लिए गेहूँ का व्यापार अपने हाथ में ले लिया था। इसलिए यूरोप में न तो किसानों में पूँजीवादी बुर्जुआ प्रवृत्ति पनप सकी और न ही व्यापारी

नोट

वर्ग में। उन्नीसवीं शती तक यही हालत रही। जब तक ज़मींदार राजनीतिक सत्ता में थे उनको नई तकनीकों की परवाह नहीं थी। अपनी आमदनी व उपज बढ़ाने के बजाय वे सफ़ों के हिस्से में से कुछ हिस्सा हड़प सकते थे।

यूरोप की इस आम प्रणाली से इंग्लैण्ड एकदम अलग साबित हुआ। यहाँ छोटे किसानों की उपज को सत्रहवीं शताब्दी से बहुत पहले ही उपेक्षित किया जाने लगा था। सोलहवीं शताब्दी में भी यहाँ ऐसे धनी किसानों की एक पंक्ति दिखाई दे रही थी जो खेतों पर बाड़ लगाकर कम्यून के प्रतिबंध से मुक्त हो गए थे और नई तकनीक अपनाने लगे थे। वे नई फ़सले लंबी अवधि के फ़सल-चक्र में बोते थे और पशु-पालन का व्यवसाय भी अपनाए हुए थे। ये सभी तरीक़े उपज बढ़ाने के लिए महत्त्वपूर्ण थे। किसान-वर्ग के अंदर इंग्लैण्ड में अंतर इतनी तेजी से क्यों आया, इसका एक प्रमुख कारण यह था कि सामंती ज़मीदारों का प्रभाव वहाँ बाक़ी यूरोप की अपेक्षा बहुत देर से हुआ। फ्रांस में ग्यारहवीं, बारहवीं शताब्दी में ही सामंती करों और किराए के विरुद्ध किसान संगठित होने लगे थे। उनके इन्हीं सुदृढ़ कम्यूनों के कारण बाद में भी फ्रांस में धनी कृषक बुर्जुआ वर्ग नहीं पनप सका। फ्रांस के कृषक समुदायों की एकता का संबंध इस तथ्य से भी है कि नौंवीं से ग्यारहवीं शती के बीच जहाँ ग्राम कम्यून बने, तब वहाँ के किसान एक जैसे धनी तथा सम्मानित थे। इसलिए वे लोग अनियमित लगान व कर-वृद्धि और जुर्मानों के विरोध में एकजुट होकर ज़मीदार के विरुद्ध लड़े। विशेषत: बारहवीं, तेरहवीं शताब्दी में घोषणापत्र आंदोलन (चार्टर) के दौरान उनके बीच, फ्रांस मे जबरदस्त एकता रही। इंग्लैण्ड में छोटे किसानों पर सामंतों का नियंत्रण ग्यारहवीं शताब्दी के अंत में, नॉर्मनों की विजय के पश्चात् बाद में शुरू हुआ अर्थात् फ्रांस से ढाई सौ साल बाद। तब तक वहाँ खेती में नई तकनीकों का प्रयोग व्यापक हो चुका था। इंग्लैण्ड में भारी हल और हल्के हल का या हाथ से चलाए जाने वालों का अंतर काफ़ी था। इन दोनों वर्गों का सामंती ज़मीदारों से संबंध भी अलग-अलग तरह का था और शुरू में ही यह असमानता क़ानूनी मान्यता के रूप में निर्धारित हो गई थी। धनी किसान ज़मीन के मालिक थे तथा उन पर रूढ़िगत विधि-क़ानून, जिसमें उनका अपनी जोतों पर हक माना जाता था, लागू होता था। बाक़ी अन्य किसानों की मज़दूरी पर शुल्क लगाए गए। ये लोग पूर्णतया सामंती ज़मींदारों की कृपा पर आश्रित थे तथा बारहवीं शताब्दी से इन पर रूढ़िगत विधि-कानून भी लागू नहीं होते थे। इसलिए अँग्रेज़ किसानों में फ्रांसीसी किसानों की तुलना में सर्वसमतावादी प्रवृत्ति बहुत कम थी और इसी कारण सोलहवीं, सत्रहवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड के किसान वर्ग में से ही कृषि उद्यमी आसानी से उभर आए जिन्होंने धीरे-धीरे उत्पादन के कारक अपने वश में कर लिए और कृषि-क्षेत्र में पूँजी प्रणाली की शुरुआत की।

इंग्लैण्ड में एक और स्तर पर भी कृषि उद्यम पनपा। वह निचले तबके के सामंतों और ज़मींदारों में पनपा था। इंग्लैण्ड और फ्रांस दोनों ही जगह समृद्ध और सामंत लोग तेरहवीं और सोलहवीं शताब्दी में मूल्यों में वृद्धि का शिकार हो गए थे। परंतु केवल इंग्लैण्ड में इन लोगों ने अपनी ज़मीन का उपयोग उत्पादन बढ़ाने के नए तरीक़े अपनाकर अधिक कारगर ढंग से किया। ऐसा क्यों हुआ? फ्रांस में राजशाही ने इन सामंतों को अपने प्रशासन तंत्र व सेना में अच्छे-अच्छे पद देकर आर्थिक दृष्टि से सुरक्षित बना दिया। सत्रहवीं शताब्दी तक सामंत लोग अपने वर्ग में किसी और को शामिल करने के पक्ष में नहीं थे। इसी तरह फ्रांस में राजशाही ने इसे आर्थिक व सामाजिक दोनों दृष्टियों से सुरक्षित करने का प्रयास किया था। इसके विपरीत इंग्लैण्ड के ट्यूडर और स्टुअर्ट शासन में इंग्लैण्ड का ऐसा बड़ा प्राशसनिक व सैनिक ढाँचा नहीं था कि वहाँ के सामंत लोगों को उसमें खपा लिया जाता। इसलिए इंग्लैण्ड के अधिकांश सामंतों व समृद्ध लोगों को अपने लिए साधन खुद जुटाने पड़े। चौदहवीं और पंद्रहवीं शती के आर्थिक संकट के दौर में ही इंग्लैण्ड के ज़मींदार सामंत अपनी ज़मीन पर फ़सलों का दीर्घकालीन क्रम और व्यापारिक स्तर पर भेड़ पालन का कार्य कर रहे थे। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में इन लोगों ने अपनी ज़मीन से अधिक-से-अधिक लाभ उठाने का प्रयास शुरू कर दिया। बाड़ लगाकर तथा और ज़मीन खरीदरकर इन सामंतों ने अपने बड़े-बड़े फ़ार्म बना लिए। ये फ़ार्म समृद्ध किसानों को बटाई पर दे दिए गए। परंतु अंग्रेज़ अभिजात या ज़मींदार की रुचि ज़मीन की उत्पादकता बढ़ाने में फिर भी बनी रही। ज़मीन के इर्द-गिर्द बाड़ लगाने, दलदली भूमि से पानी निकालने तथा नई फ़सलें शुरू करने जैसे कृषि-सुधार लागू कर इन सामंतों ने "सुधारवादी अंग्रेज ज़मींदार" (Improving English land-

नोट

lord) का नाम कमा लिया। इसी काल में कोयला और लोहे की खानों का विस्तार भी अंग्रेज ज़मींदार अभिजात वर्ग की वजह से संभव हो सका था। इन कार्यों को पूरा करने के लिए व्यापारियों से ऋण लिए गए। धीरे-धीरे इन ज़मींदारों, व्यापारियों तथा निर्माताओं के बीच घनिष्ठ संबंध क़ायम हो गया तथा पैसा कृषि-क्षेत्र से व्यापार और शिल्प में तथा शिल्प से व्यापार और खेती में आने जाने लगा। इस तरह इंग्लैण्ड में एक सशक्त और अपने अधिकारों के प्रति जागरूक पूँजीवादी वर्ग तैयार हो गया, जिसके हित संसद में बैठे ज़मींदारों के कारण सरकार में भी सुरक्षित थे। ये लोग धीरे-धीरे इतने सशक्त हो गए कि एलिज़ाबेथ और स्टुअर्ट राजाओं की प्रतिबंधकारी आर्थिक नीतियों के मुक़ाबले में जमे रहे तथा ज़रूरत पड़ने पर 1632 के गृहयुद्ध में उन्होंने स्टुअर्ट राजवंश को उखाड़ने के निर्णय का समर्थन किया। इस तरह सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक छोटे किसानों का अस्तित्व मज़दूरों के रूप में सामने आने और दूसरी और सशक्त पूँजीवादी वर्ग के उभरने से इंग्लैण्ड में 1750 के बाद होने वाली कृषि क्रान्ति का तथा 1800 के बाद होने वाली "औद्योगिक क्रान्ति" का सुदृढ़ आधार तैयार हो गया था। इंग्लैण्ड में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का आधार तो सोलहवीं, सत्रहवीं सदी में ही तैयार हो गया था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. मशीनीकरण के बाद अठारहवीं सदी में इंग्लैण्ड एक बड़ा औद्योगिक नगर ..... बना।
2. उन्नीसवीं शताब्दी में ..... लाने वाली महत्त्वपूर्ण क्रान्ति का जन्म हुआ।
3. सत्रहवीं शताब्दी में यूरोप के विकास में गतिरोध आ गया, जिसे ..... का जाता है।

इंग्लैण्ड और हॉलैण्ड की आर्थिक उन्नति की एक प्रमुख उपलब्धि यह रही कि इससे सक्रिय और साहसी बुर्जुआ लोगों की उत्पत्ति हुई। उन्होंने शेयर कंपनियाँ स्थापित कीं, वित्तीय संस्थाएँ गठित कीं, सूचनाओं के आदान-प्रदान का जाल तैयार किया। नई जिंसें, नए बाज़ार, नए व्यापार-मार्ग और नए जीवन सिद्धांत (मुक्ति संगठन, व्यक्तिवाद, वैज्ञानिकता, प्यूरिटनवाद) सामने आए। दार्शनिक इस जगत को कालचक्र (clock), मनुष्य को एक यंत्र तथा परमात्मा को इस कालचक्र का निर्माण करने वाले कारीगर के रूप में देखने-समझने लगे।

बाक़ी यूरोप मे बुर्जुआ वर्ग ने विपरीत नीति अपनाई। उनके सामने सक्रिय अर्थव्यवस्था और उत्पादन बढ़ाकर लाभ कमाने का विकल्प न था। शायद यही कारण होगा कि यहाँ के संपन्न लोगों ने पूँजी का 'निरर्थक निवेश' किया और सामंती मूल्यों को अपनाने की कोशिश की। इस तरह उन्होंने अपना धन उत्पादन में लगाने के बजाय उसे मुख्यत: सरकारी ऋण, ज़मीन खरीदने, सामंती पद खरीदने और अपने रहन-सहन एवं विलास की वस्तुओं में लगाया। कृषि एवं निर्माण में सुदृढ़ उत्पादन आधार न होने की वजह से स्पेन, पुर्तगाल एवं इटली, अमेरिका से धन की आमद के बावजूद, विकास नहीं कर पाए। उनको यह धन ब्रिटेन, फ्रांस व नीदरलैण्ड से वस्तुओं को खरीदने में खर्च करना पड़ा। इस तरह ब्रिटेन इत्यादि देशों में निर्माण-व्यवस्था की उन्नति हुई और दूसरी ओर स्पेन इत्यादि देश केवल उनको धन पहुँचाने के माध्यम भर बनकर रह गए। पूँजीवादी व्यवस्था में धन अपने आप में कुछ नहीं होता; वह तो सदा उत्पादन की ओर आकर्षित होता है और उत्पादन की वस्तुओं में बदला जाता है। धन उत्पादन का साधन है, सोना-चाँदी नहीं।

'सामंतवाद' एवं 'पूँजीवाद' बड़े ही भारी-भरकम शब्द हैं जो व्यापक अवधारणाओं का बोध कराते हैं। इन शब्दों से ऐसे सामाजिक एवं राजनीतिक संगठनों का संकेत मिलता है जो ऊपर-ऊपर से देखने पर तो भिन्न प्रतीत होते हैं किन्तु जिनमें मूलभूत समानता पाई जाती है। अत: हमारे लिए यह उपयोगी होगा कि आरंभ में हम सामंतवाद की परिभाषा दें जैसी कि एक महान् फ्रांसीसी इतिहासकार ने मध्य युग के परवर्ती भाग—अर्थात् दसवीं से बारहवीं सदी के अंत तक की यूरोपीय स्थिति का सर्वेक्षण करते हुए दी थी। इसके बाद हम 'पूँजीवाद' को परिभाषित करें जैसा कि हम

नोट

उसे अठारहवीं सदी के आरंभ से यूरोप के विभिन्न भागों में, उद्योग एवं कृषि के क्षेत्रों में, विकसित होता हुआ देखते हैं।

ऊपर के विवरण में कृषक वर्ग से उसके अधिशेष उत्पादन का अंश ज़बरदस्ती लिए जाने के दबाव पर विशेष बल दिया गया है और इसमें यह संकेत है कि इस काल के दौरान मुद्रा का चलन अपेक्षाकृत कम था। साथ ही इस विवरण में योद्धावर्ग और युद्धों की महत्ता तथा समाज में पदानुक्रम (hierarchy of status) क़ायम रखने की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है। जब हम अठारहवीं शताब्दी के ब्रिटेन एवं नीदरलैण्ड पर (और फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद लगभग संपूर्ण पश्चिमी यूरोप पर) नज़र डालते हैं, तो एकदम भिन्न सामाजिक संरचना दिखाई देती है। कृषक बाज़ार के लिए उत्पादन करता था और अन्य उत्पादकों या स्वामियों के साथ उसके जो संबंध थे वे पद से नहीं अपितु संविदा (समझौते) द्वारा निर्धारित होते थे। मुद्रा का व्यापक पैमाने पर उपभोग होने लगा था क्योंकि अर्थव्यवस्था के कृषिगत, औद्योगिक क्षेत्रों पर बाज़ार के विस्तार एवं संकुचन की तत्काल प्रतिक्रिया होती थी। इन प्रतिक्रियाओं का सामना करने के लिए मुद्रा एवं ऋण (credit) की पूर्ण विकसित व्यवस्था की आवश्यकता होती है। इन सबके अतिरिक्त, अधिकांश उदाहरणों में चाहे वह उद्योग हो या कृषि, उत्पादन के साधन वास्तविक कामगार के हाथों में नहीं थे और जीविकोपार्जन के लिए उसे अपनी श्रमशक्ति बेचने पर बाध्य होना पड़ता था। इसके विपरीत सामंती समाज में थोड़ी-सी भूमि का स्वामी कृषक अपने परिवार के निर्वाह भर के लिए उत्पादन करता था और सामान्यत: उसके सामने ऐसा कोई प्रोत्साहन नहीं था जिससे वह बाज़ार के लिए उत्पादन करे। उसके सामंत स्वामी की उत्पीड़क शक्ति ही उसे अतिरिक्त काम करने पर बाध्य करती थी ताकि वह अपने स्वामी के लिए सामंती लगान नक़द या वस्तुओं के रूप में दे सके। एक अन्य अंतर यह है कि मध्य युग में जहाँ बाज़ार एवं संचार-साधन विखंडित अवस्था में थे वहाँ परवर्ती काल में अत्यधिक वाणिज्य केंद्रित व्यापारिक रूप का आविर्भाव हुआ। इस व्यापार ने न केवल पश्चिमी यूरोप एवं अमेरिका को एक सूत्र में बाँध दिया, वरन् 18वीं शताब्दी तक एशिया एवं अफ्रीका के साथ भी संबंध विकसित कर लिए थे।

टास्क श्रम के बदले में दिया जाने वाला 'साँ' (cens) कौन-सा कर है?

आर्थिक निर्धारक: मानव बनाम प्रकृति : सामंती समाज प्रधानत: कृषि पर आधारित था और छोटा कृषक परिवार ही उसमें उत्पादन की मूल इकाई था। कृषक परिवार पर किसी कुलीनजन (nobleman) का स्वामित्व होता था और चूँकि वह कुलीन उस कृषक परिवार तथा ग्रामीण समुदाय (जिसका कि वह कृषक परिवार अंग होता था) पर सामाजिक एवं राजनीतिक दबाव डालने में समर्थ था, अत: वह अपने कृषक परिवार से ज़बरदस्ती अधिशेष का उत्पादन प्राप्त करने में समर्थ था। अनेक स्थानों पर इन कुलीनजनों के पास निजी जागीर (estate) थी जो 'डिमेन' (demensne) कहलाती थी। इस जागीर पर अधीनस्थ कृषकों को खेती करने को बाध्य किया जाता था।

सामंती समाज के ढाँचे के अंतर्गत कृषिगत उत्पादन के इस रूप को बाज़ार के लिए वाणिज्य-आधारित पूँजीवादी कृषि के रूप में विकसित होने की निश्चित सीमाएँ थीं। वाणिज्य पर आधारित पूँजीवादी कृषि का सार यह है कि उसके लिए न केवल एक निरंतर विकासशील बाज़ार हो, अपितु कृषि की उत्पादकता को बढ़ाने वाला हो। साथ ही यह भी आवश्यक था कि कृषक की व्यक्तिगत पहल एवं उद्यम के लिए भी पारंपरिक अवरोध कम-से-कम हो। कृषक परिवार की उत्पादन-इकाई के पैमाने, ग्राम समुदाय के संगठन और इन सबके अतिरिक्त कुलीन वर्ग द्वारा अधिशेष उत्पादन की ज़बरदस्ती वसूली के कारण कृषि-उत्पादकता में वृद्धि की संभावना बहुत कम रह गई थी। ग्यारहवीं से तेरहवीं सदी के दौरान हल में घोड़ों एवं बैलों को जोतने तथा इन पशुओं के नाल लगवाने के ढंग में कुछ सुधार हुए थे। साथ ही फ़सलों को अदल-बदलकर बोने के तरीक़ों में भी कुछ सुधार हुए जिससे भूमि के

नोट

परती छोड़े जाने के काल में भी कमी आई थी। इनमें से किसी के लिए भी ऐसे विशिष्ट पूँजी-निवेश की आवश्यकता नहीं थी, जिसकी तुलना सत्रहवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड से अथवा परवर्ती यूरोप में कच्छ क्षेत्रों की सिंचाई-व्यवस्था की आवश्यकताओं से की जा सके।

कृषक परिवार में कृषि-उत्पादन प्रतिवर्ष घटता-बढ़ता रहता था और इसी घटते-बढ़ते उत्पादन में से अगले वर्ष के लिए आवश्यक बीजों तथा परिवार के निर्वाह के लिए भी उसकी निश्चित मात्रा बचाकर रखनी पड़ती थी। इसे उपज-अनुपात (yield ratio) कहते हैं। यदि यह अनुपात कम हो (अर्थात् यदि उपज की मात्रा बोए गए बीजों की केवल चार गुनी हो) तो उपज का एक चौथाई भाग अगले वर्ष की बुआई के लिए बचाकर रखना पड़ता था। फिर परिवार की खपत तथा सांमती देय (feudal dues) के भुगतान के बाद कृषक-परिवार के पास बिक्री तथा पूँजी संचयन (capital accumulation) के लिए जो उपज बच पाती थी वह न के बराबर होती थी। ग्राम-समुदाय ने कृषिकार्य से होने वाले नफ़े-नुकसान का जो हिसाब लगाया था वह भी निजी उद्यम को निरुत्साहित ही करता था। अधिकांश स्थानों पर परिवारों के भू-खंड गाँव के चारों ओर अलग-अलग पट्टियों में बिखरे हुए रहते थे और जहाँ कहीं थोड़ी-बहुत भूमि को निजी तौर पर घेर लेने की अनुमति दे भी दी जाती थी (जैसा कि चौदहवीं शताब्दी के फ्रांस में ब्रितानि में) वहाँ भी उसे अस्थायी ही समझा जाता था क्योंकि पशुओं को चराने की सामुदायिक आवश्यकताओं के कारण यह भी आवश्यक था कि इस घेरी हुई ज़मीन को समय-समय पर खुला छोड़ा जाए।

इस बात के प्रमाण उपलब्ध हैं कि कुलीन वर्ग के कुछ लोगों ने, विशेषकर धार्मिक श्रेणी वालों ने, बढ़ती हुई जनसंख्या एवं चढ़ते हुए मूल्यों के काल का उपयोग अपनी डिमेन भूमियों के प्रबंध तथा मदिरा अथवा ऊन के उत्पादन के स्तर को सुधारने के लिए किया। ये अपवाद ही थे और ये सामंती उत्पादन-संबंधों के ढाँचे के अंतर्गत ही हुए। प्रोफेसर पोस्टन ने बताया है कि 13वीं शताब्दी में जब बस्तियों का विस्तार हो रहा था, उत्पादन निरंतर बढ़ रहा था और इंग्लैण्ड से ऊन के निर्यात में भी काफ़ी तेज़ी आई थी, तब अंग्रेज़ कुलीन वर्ग ने अपने कृषिदासों पर अनिवार्य श्रम कर लगा दिया। हालांकि उससे पिछली शताब्दी में ही इन लोगों ने श्रम-सेवाओं के बदले में नक़द भुगतान की प्रवृत्ति दर्शाई थी। कुलीन वर्ग के अधिकांश लोगों के जीवन का आधारभूत दर्शन खपत पर आधारित था, संचय पर नहीं। साथ ही सामंती कृषिप्रधान समाज में अन्य क्षेत्रों पर सामंती अधिकार प्राप्त करने के लिए जो युद्ध लड़े जाते थे उनका एक खास आर्थिक प्रयोजन था।

जनसंख्या वृद्धि के काल में (जैसे कि ग्यारहवीं से तेहरवीं शताब्दी के दौरान) कृषक वर्ग ने ऐसी भूमि पर अपने आवास स्थापित कर लिए थे जहाँ अब तक खेती नहीं की जाती थी। एक खास स्तर पर पहुँचकर जब कम उपजाऊ भूमि को कृषियोग्य बना लिया गया, तो जनसंख्या के दबाव ने कृषि-उत्पादन की ऊपरी सीमा निश्चित कर दी क्योंकि कोई उल्लेखनीय परिवर्तन तो हो नहीं रहा था। ऐसी परिस्थितियों में दुर्भिक्षों का बोलबाला हो जाता था, जैसा कि 1315 से 1317 तक संपूर्ण यूरोप में हुआ। कभी-कभी इसके पश्चात् महामारी भी फैल जाती थी, जैसे 1349 के बाद इंग्लैण्ड में 'ब्लैक डैथ' नामक विषाक्त प्लेग फैला था। इसके परिणामस्वरूप चौदहवीं एवं पंद्रहवीं शताब्दियों में जनसंख्या में दीर्घकालिक कमी हुई तथा ऐसे अनेक क्षेत्रों में आबादी घट गई जिनमें पहले खेती की जाती थी। इस काल में प्रति व्यक्ति औसत उत्पादन तो संभवत: बढ़ गया (क्योंकि लोगों की संख्या कम हो गई थी) किन्तु इस उत्पादन का अधिक भाग कृषक की अपनी खपत में ही खर्च हो गया, कुछ समय के उपरान्त पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में जनसंख्या में वृद्धि का क्रम पुन: आरंभ हो गया, जो सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ तक जारी रहा। तथाकथित 'सत्रहवीं शताब्दी के व्यापक संकट' का एक महत्त्वपूर्ण तत्व यह था कि अभाव, प्लेग एवं जलवायु-संबंध परिवर्तनों के परिणामस्वरूप जनसंख्या की बढ़ोतरी पर रोक लग गई। उस समय के सामाजिक ढाँचे के अंतर्गत प्रकृति पर क़ाबू पाने की मानवीय शक्तियाँ एक बार फिर एक सीमा तक पहुँचकर चुक गई थीं।

एक ऐसी कृषिप्रधान अर्थव्यवस्था की तुलना में जिसमें सामाजिक संबंधों में परिवर्तनों के फलस्वरूप प्रकृति पर मानव का अधिक आर्थिक नियंत्रण संभव था, उपर्युक्त कृषिप्रधान अर्थव्यवस्था जलवायु संबंधी परिवर्तनों की दृष्टि से कहीं

नोट

अधिक असुरक्षित थी। 1315–17 के दौरान दुर्भिक्ष इसलिए पड़े कि इन वर्षों में ग्रीष्म ऋतु में भी लगातार वर्षा होती रही व तापमान कम बना रहा जिसके कारण फ़सल नष्ट हो गई। सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ में जो कृषि संबंधी समस्या सामने आई उसका कारण यह था कि कुल मिलाकर तापमान में 1 सेंटीग्रेड की कमी बनी रही जिसकी वजह से पौधों के उगने का मौसम तीन–चार सप्ताह तक ही सीमित रह गया और कृषि–भूमि का क्षेत्र काफ़ी कम हो गया। चूँकि सोलहवीं शताब्दी की जनसंख्या वृद्धि के कारण कुछ सीमावर्ती पर्वतीय क्षेत्रों में भी खेती की जाने लगी थी, इसलिए जलवायु संबंधी उपर्युक्त परिवर्तन का लोगों के लिए खाद्य–सामग्री की उपलब्धि पर सीधा और खराब असर पड़ा।

11.2 सामाजिक एवं राजनीतिक निर्धारक: कुलीन वर्ग, राजतंत्र एवं कृषक वर्ग (Social and Political Determinant: Aristocracy, Monarchy and Peasantry)

ऐतिहासिक दृष्टि से, सामंती अर्थव्यवस्था में निर्वाह संबंधी प्रत्येक संकट का प्रभाव दो तत्वों से निर्धारित होता था: (1) यूरोप के विभिन्न भागों में वर्ग–शक्तियों का संतुलन, और (2) कानून एवं राजनीतिक संस्थाओं का स्वरूप। कुलीन वर्ग कृषक वर्ग से कितना अधिशेष छीन सकेगा, यह इस बात पर निर्भर करता था कि सामंती दरबारों की उत्पीड़क शक्ति कितनी है और कृषक–समूह इस उत्पीड़न का कितना विरोध करते हैं। फ्रांस, इंग्लैण्ड एवं जर्मनी के अनुभव कुछ रोचक विषमताएँ प्रस्तुत करते हैं।

फ्रांस

ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दियों के दौरान एक ओर तो जनसंख्या में वृद्धि हो रही थी तथा दूसरी ओर नए क्षेत्रों को कृषि–योग्य बनाए जाने के कारण कृषि–उत्पादन का भी विस्तार हुआ। इन परिस्थितियों में फ्रांस के कुलीन वर्ग के खंडित स्वरूप तथा उसका समर्थन करने वाले एक शक्तिशाली सामंती राजतंत्र के अभाव में फ्रांस का कृषक वर्ग दासतापूर्ण श्रम के बदले में 'साँ' (cens) नामक एक निश्चित धन–कर की प्रथा आरंभ करने में सफल हो गया। यह बात पेरिस एवं नॉर्मन्डी क्षेत्रों के लिए विशेष रूप से सच है। इसका परिणाम यह हुआ कि अधिशेष उपज का अधिक–से–अधिक 10 प्रतिशत भाग ही कुलीन वर्ग को जा पाता था। चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दियों में जब जनसंख्या में गिरावट आनी शुरू हुई, उस समय फ्रांस भी इंग्लैण्ड के साथ शतवर्षीय युद्ध में रत था। यह युद्ध पूर्णरूप से फ्रांस की ज़मीन पर लड़ा गया था और इसके परिणामस्वरूप वहाँ का कुलीन वर्ग कमज़ोर हो गया था। जब कैपेशियन वंश ने केंद्रीभूत राज्य की स्थापना करनी आरंभ की तो स्थानीय सामंतों की शक्तियों पर अंकुश लगाने के लिए उन्हें अनेक अवसरों पर स्थानीय कृषक समुदायों के समर्थन की आवश्यकता पड़ी। अत: शाही दरबारों ने 'साँ' नामक कर के स्थायी निर्धारण को और आगे के लिए बढ़ा दिया। तत्पश्चात् राजतंत्र ने कृषक वर्ग पर अपना भी एक कर लगा दिया। यह कर 'ताय' (taille) कहलाता था और इसे एकत्र करने की जिम्मेवारी कृषक के गाँव पर थी।

इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में फ्रांस एक ऐसा मंच था, जहाँ कृषक–वर्ग से अधिशेष छीनने को दो पद्धतियों में परस्पर संघर्ष चल रहा था। दासतापूर्ण श्रम (servile labour) के स्थान पर एक निश्चित एवं स्थायी कर (साँ) को लाने से कृषक वर्ग को लाभ हुआ था, उसे निरंकुश राज्य की विकासशील अफ़सरशाही से एक हद तक खतरा पैदा हो गया था। फ्रांस में अगली दो शताब्दियों के दौरान विकास का क्या क्रम रहा, फ्रांस में कृषिगत पूँजीवाद का विकास अगर हुआ तो कहाँ तक हुआ, इस पर विचार करने से पहले यह बहुत ज़रूरी है कि हम इसी अवधि के इंग्लैण्ड की स्थिति का सर्वेक्षण करें।

नोट

क्या आप जानते हैं सामंती समाज प्रधानत: कृषि पर आधारित था और छोटा कृषक परिवार ही उसमें उत्पादन की मूल इकाई था।

इंग्लैण्ड

इंग्लैण्ड में विस्तार का युग 1066 की नॉर्मन विजय के साथ आरंभ होता है। इस विजय ने एक सामंती राजतंत्रीय राज्य का सृजन किया। यह राज्य कुलीन वर्ग द्वारा अधिशेष छीनने में कुलीन वर्ग को ज़रूरी सहायता देने में समर्थ था, बशर्ते कि कुलीन वर्ग यह माने कि शाही प्रभुसत्ता के साथ उसके बंधन कतिपय कानूनी आदर्शों (legal norms) पर आधारित हैं। ऐडवर्ड प्रथम के कानूनी सुधारों, विभिन्न लॉर्डों, सामंतों (knights) एवं धनी नगरवासियों के प्रतिवेदनों की सुनवाई के लिए संसद की स्थापना तथा राजा के न्यायालयों (king's courts) के विकास जैसे सभी तत्वों ने राजा एवं कुलीन वर्ग के अधिकारों एवं कर्तव्यों को स्पष्ट रूप से निर्धारित कर देने में महत्त्वपूर्ण योग दिया। कुलीनों ने अपने आपसी पारस्परिक झगड़ों के निपटाने के लिए राजा के न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र को मान्यता दी। कुलीन वर्ग को मैनर-न्यायालयों (manorial courts) को भी अधिकार-क्षेत्र प्राप्त हो गया जिस पर कोई रोकटोक नहीं थी। इन न्यायालयों में कुलीनों का आधिपत्य था और कृषिदासों (serfs) की शिकायतों पर केवल ये न्यायालय ही फैसला दे सकते थे। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि इसके परिणामस्वरूप फ्रांस की तुलना में इंग्लैण्ड में कृषिदासों की उपज का लगभग 50 प्रतिशत भाग सामंती लगान (feudal rent) के रूप में स्वामी के हाथ में पहुँच जाता था।

चौदहवीं शताब्दी के अंत में इंग्लैण्ड में कृषक-संघर्ष आरंभ हो गए, जबकि जनसंख्या में आई तेज गिरावट तथा कृषि-मूल्यों में गिरावट के बावजूद लॉर्ड रूपांतरित श्रम सेवाओं (commuted labour services) के मुद्रा मूल्य को पुरानी दरों पर बनाए रखने की कोशिश कर रहे थे। इनमें से अधिकांश किसान-संघर्ष इंग्लैण्ड के कृषक को फ्रांस के कृषक-जैसा पद एवं प्रतिष्ठा दिलाने में असफल रहे, किन्तु साथ ही कुलीन वर्ग भी अंग्रेज़ कृषकों को पुन: कृषिदास-प्रथा के अंतर्गत नहीं ला सका।

तत्पश्चात् गृहयुद्ध ने शक्तिशाली ऐंग्लो-नॉर्मन सामंती राजतंत्र को कमज़ोर कर दिया। इसके स्थान पर हम देखते हैं कि धनाढ्य कुलीन लोगों के विभिन्न गुटों में पारस्परिक स्पर्धा पैदा हो गई और निजी सेनाओं का विकास हुआ। इसे कभी-कभी 'दोगले सामंतवाद' (bastard feudalism) की संज्ञा दी जाती है। इन सभी कारकों से, पुन: कृषिदास बनाए जाने की प्रक्रिया पर रोक लग गई। कृषक वर्ग के अंतर्गत विभेदीकरण स्पष्ट दिखाई देने लगा। जो कृषक सर्वाधिक भाग्यशाली थे वे पूर्ण स्वामित्व वाले (free holder) स्वतंत्र कृषक बन गए। एक दूसरी श्रेणी के कृषकों को स्थायी भूमि पट्टा (कॉपी होल्ड) प्राप्त हो गया, जिससे उन्हें न्यायालयों द्वारा स्वीकृत अवधि तक सुरक्षित पट्टा मिल गया। किन्तु 17वीं शताब्दी के आरंभ के बाद ही ऐसा हो पाया कि न्यायालयों ने कुलीन लोगों तथा भूमि-पट्टेदारों (कॉपी होल्डरों) के बीच होने वाले झगड़ों में साम्य पर आधारित या न्यायोचित फ़ैसले (equitable verdicts) देने शुरू किए। मुख्य परिसंपत्ति (asset) अभी भी अंग्रेज़ कुलीन वर्ग के पास थी और वह थी उनकी डिमेन भूमि, जो फ्रांस की तुलना में इंग्लैण्ड में अधिक विस्तृत थी। 'ब्लैक डैथ' में मर जाने वालों अथवा भाग जाने वाले कृषिदासों की भूमि हड़पने के परिणामस्वरूप कुलीन वर्ग ने इस भूमि का और अधिक विस्तार कर लिया था। हालाँकि कुलीन वर्ग अब इतना समर्थ तो नहीं था कि वह अपने कृषकों को पुन: दास बना पाता किन्तु उसने अपनी डिमेन भूमि पर अपने पूर्ण संपत्ति-अधिकार का प्रयोग किया। इसके माध्यम से उन्होंने उस भूमि के छोटे-छोटे टुकड़ों को आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद किराए पर उन कृषकों को पट्टे पर दे दिया जो उतना किराया देने के इच्छुक थे। इस प्रकार जहाँ सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में फ्रांस में छोटे-छोटे किसानों द्वारा कृषि-उत्पादन

नोट

(petty peasant production) की शुरुआत हो रही थी, वहाँ उसी काल में इंग्लैण्ड में पूँजीवादी कृषि का आविर्भाव हो रहा था। यह पूँजीवादी कृषि विपक्षीय संबंधों पर आधारित थी और ये तीन पक्ष थे: भू-स्वामी, असामी काश्तकार (tenant farmer) तथा मज़दूरी पर काम करने वाले श्रमिक (wage labourers)।

जर्मनी

जर्मनी में सोलहवीं सदी तक कृषिगत संबंधों के दो भिन्न स्वरूपों का उदय हो चुका था। पश्चिमी भाग में तो छोटे पैमाने की कृषक परिवार रूपी इकाई थी। ग्राम समुदाय में सम्मिश्रित इस इकाई को सुरक्षित पट्टा तो प्राप्त था किन्तु उसे लॉर्ड या स्वामी को परंपरागत सामंती देय एवं लगान (feudal dues and rent) देना पड़ता था। यह स्वामी प्राय: एक छोटी श्रेणी का कुलीन होता था जिसे एक सीमित क्षेत्र में राजनीतिक प्रभुसत्ता प्राप्त थी। इन क्षेत्रों में इस पैटर्न का आविर्भाव ठीक उसी प्रकार हुआ जैसे कि फ्रांस में हुआ था, अर्थात् गाँव-दर-गाँव अनेक वर्षों के दीर्घकालिक संघर्ष के आधार पर। दूसरी ओर, पश्चिमी भाग में जनसंख्या अधिक घनी थी और सामंती जागीरें (feudal estates) छोटे-छोटे गाँवों के रूप में विभक्त थीं। इस कारण ग्राम समुदाय के लिए कतिपय कृषक-अधिकारों का सफलतापूर्वक दावा करना अपेक्षाकृत आसान था और इसीलिए किसी भी कुलीन के लिए अपने कृषकों से आँख मूँदकर आज्ञापालन कराना अपेक्षाकृत अधिक कठिन था। पूर्वी भाग में उस क्षेत्र का, जर्मन कुलीन लोगों के नेतृत्व में, उपनिवेशीकरण कर दिया गया था। इन कुलीनों ने कृषकों को अपनी स्वयं की जागीरों से जुड़े हुए क्षेत्रों पर बसाया। कृषिदासों एवं उन पर अपना अधिकार रखने वाले स्वामी के बीच बिचौलिए भी बहुत कम थे। पश्चिमी जर्मनी की ग्रामीण अर्थव्यवस्था की एक खास विशेषता यह थी कि सामूहिक चरागाह के उपयोग को नियमित करने के लिए, ग्राम-समुदाय के माध्यम से, कृषक-परिवारों में पारस्परिक सहयोग था, किन्तु जर्मनों द्वारा एल्ब के पूर्व में बसाई गई बस्तियों में इस विशेषता का एकदम अभाव था। सामान्य तौर पर वहाँ सामूहिक भूमि बहुत ही कम थी।

11.3 आर्थिक एवं सामाजिक निर्धारक: वाणिज्य नगरीय केंद्रों की प्रासंगिकता (Economic and Social Determinant : Relevancy of Commercial Civic Centres)

परवर्ती मध्ययुगीन सामंती समाज में व्यापार एवं वाणिज्य का जो स्थान था उसके बारे में न तो बढ़ा-चढ़ाकर कहना चाहिए और न ही उसे कम महत्त्व दिया जाना चाहिए। इसी प्रकार पूँजीवाद के उदय में व्यापारिक पूँजीपति अथवा मध्ययुगीन स्वशासित नगरों ने जो भूमिका निभाई वह एक काल से दूसरे काल में तथा एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में बदलती रही। इतिहासकार हेनरी पिरेन (Henri Pirenne) का विचार था कि इन्होंने एक निर्णायक भूमिका निभाई। पर यह मत अब मान्य नहीं है।

मध्य युग के परिवर्ती भाग में सामंती अर्थव्यवस्था ऐसी न थी जिसमें मुद्रा का उपयोग न किया गया हो। हम देख ही चुके हैं कि जब भी सामंतों के अपने हितों को लाभ पहुँचता था, वे श्रम-सेवाओं के बदले में नकद भुगतान किया जाना स्वीकार कर लेते थे। जब तक कोई ऐसा बाजार विद्यमान न हो जिसमें नकद राशि के बदले सामान खरीदा व बेचा जा सकता हो तब तक मुद्रा के कोई मायने नहीं हैं, किन्तु कृषक वर्ग के स्तर पर नक़द खरीद-फ़रोख्त नहीं के बराबर होता था। इसका एक अपवाद संभवत: मध्य युग के लगभग अंत में दिखाई पड़ता है, जब कुछ समृद्ध कृषक डिमेन भूमि के कुछ हिस्सों को पट्टे पर लेने के इच्छुक थे और उन्होंने ऐसा किया भी (वर्णन ऊपर प्रस्तुत किया जा चुका है)। मुद्रा का प्रमुख उपयोग दूरस्थ व्यापार के लिए वित्त जुटाने, भाड़े के सैनिकों को भुगतान करने तथा युद्धकाल में कुलीन वर्ग के क़ैदियों को छुड़ाने के लिए भुगतान देने में होता था।

तेरहवीं शताब्दी में व्यापार का स्वरूप कुछ इस प्रकार का था: फ्रांस में गैस्कनी निर्यात के लिए मदिरा का उत्पादन करता था, फ्लैंडर्ज (बेल्जियम) में अत्यधिक सुविकसित हथकरधा ऊनी वस्त्र-उद्योग था, जो संपूर्ण यूरोपीय बाज़ार

नोट

की माँग पूरी करने के लिए उत्पादन करता था; रूस का बाल्टिक क्षेत्र पश्चिमी यूरोप के उपभोक्ताओं तथा जहाज-निर्माताओं के लिए फ़र (furs) एवं लकड़ी का निर्यात करता था और इंग्लैण्ड ऊन (मुख्य रूप से फ्लैंडर्ज़ को), अनाज (गैस्कनी एवं फ्लैंडर्ज़ को) तथा डिब्बाबंद व डेरी की वस्तुओं का निर्यात करता था। एशिया से आने वाली विलास-वस्तुओं को भूमध्य सागरीय व्यापारी खरीद लेते थे और फिर वे दक्षिण जर्मनी में आग्सबर्ग, उत्तर जर्मनी में ल्यूबेक अथवा फ्लैंडर्ज़ में एन्टवर्प- जैसे महत्त्वपूर्ण व्यापार-केंद्रों में उनकी अदला-बदली कर लेते थे।

सामंती उत्पादन-संबंधों में परिवर्तन के साधन के रूप में मध्ययुगीन व्यापारिक पूँजी की सीमाओं के बारे में ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसके बावजूद यह तो मानना ही पड़ेगा कि अनजाने में ही इस पूँजी के कुछ ऐसे दीर्घकालीन प्रभाव सामने आए जिनकी वजह से पूँजीवाद की ओर संक्रमण संभव हो सका। बैंकिंग प्रणाली, सिक्कों के परीक्षण, व्यापार-मार्गों के ज्ञान तथा महत्त्वपूर्ण शहरी केंद्रों पर मेलों के आयोजनों के बारे में काफी अनुभव प्राप्त हुआ। जब सोलहवीं शताब्दी की खोज-यात्राओं तथा भारी मात्रा में बहुमूल्य धातुओं के आगमन से उद्यमियों के लिए अवसरों में अभूतपूर्व वृद्धि हो गई तो ऊपर बताए गए अनुभव बहुत उपयोगी सिद्ध हुए।

पंद्रहवीं सदी के अंत में, सामंती समाज के ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों में संपत्ति एवं विशेषाधिकार-संपन्न तत्वों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ तकनीकी परिवर्तन किए गए। सांस्कृतिक परिवर्तन तो पहले ही हो चुके थे, किन्तु उन्हें भावी पूँजीवाद की आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला जा सकता था। जिस प्रौद्योगिकी ने बारूद को जन्म दिया (जो स्थानीय सामंती प्रभुत्व के विरुद्ध राजतंत्रीय केंद्रीकरण का एक उपकरण था) उसका प्रयोग औपनिवेशिक विजयों के लिए भी किया जा सकता था। ताँबे से चाँदी को अलग करने की प्रक्रिया का विकास मध्य यूरोप में हो चुका था और सिक्कों के लिए उपलब्ध चाँदी एवं ताँबे की मात्रा 1460 से 1530 के बीच पाँच गुनी हो गई थी। इससे जनसंख्या में पुनः वृद्धि के काल में दबी हुई माँग को पूरा करना संभव हो सका। यूरोपीय तटों से लगे हुए समुद्रों में व्यापार का जो अनुभव हुआ उसके आधार पर तीन मस्तूलों एवं सुदृढ़ पतवारों वाले जहाज़ों का विकास किया गया, जिससे महासागरों को नौपरिवहन के योग्य बनाया जा सका और अमेरिका की खोज करना भी संभव हुआ। मुद्रण के आविष्कार ने उपयोगी ज्ञान के प्रसार में व्यावहारिक सहायता प्रदान की। जहाँ कहीं भी कुछ अन्य कारकों की वजह से बाज़ार के लिए कृषीय उत्पादन के प्रति पर्याप्त प्रोत्साहन था, वहाँ रोमी सिविल विधि (Roman Civil Law) के अध्ययन-अध्यापन के पुनः प्रचलन ने (जिसमें निजी संपत्ति के पूर्ण स्वामित्व पर कोई प्रतिबंध नहीं था) कृषिभूमि-संबंधी पूँजीवाद (agrarian capitalism) के विकास में सहायता की। रोमी कानून में प्रमाण के बारे में अत्यंत स्पष्ट कसौटी, पेशेवर न्यायपालिका के विकास और उसकी निष्पक्षता की परंपराओं पर जो बल दिया गया था उससे व्यापारिक वर्गों को भी लाभ हुआ (रोम के कानून ने निरंकुश राजतंत्र के विकास में भी मदद की)।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-मूल्यांकन (Multiple Choice Questions):

4. जर्मनी में ..... तक कृषिगत संबंधों के दो भिन्न स्वरूपों का उदय हो चुका था।
   (क) सोलहवीं सदी (ख) सत्रहवीं सदी (ग) अठारहवीं सदी (घ) इनमें से कोई नहीं
5. इंग्लैण्ड में विस्तार का युग ..... की नॉर्मन विजय के साथ आरंभ होता है।
   (क) 1066 (ख) 1266 (ग) 1566 (घ) 1166
6. ..... के अंत में इंग्लैण्ड में कृषक-संघर्ष आरंभ हो गए थे।
   (क) बारहवीं शताब्दी (ख) तेरहवीं शताब्दी (ग) चौदहवीं शताब्दी (घ) 15वीं शताब्दी

11.4 कृषिगत पूँजीवादः गतिरोध एवं विकास (Cultivative Capitalism : Hindrance and Development)

नोट

इस अध्याय के आरंभिक भाग में हमने सामंती उत्पादन-संबंधों एवं उपभोक्ताओं के लिए विकासशील तथा विशिष्टकृत (differentiated) बाज़ार के अभाव के ढाँचे के अंतर्गत, कृषि-उत्पादकता में वृद्धि की तकनीकी एवं आर्थिक सीमाओं का विवेचन किया था। हमने यह भी रेखांकित किया था कि यदि उत्पादन संबंधों में कोई परिवर्तन नहीं होता था, तो कालांतर में जनसंख्या-संबंधी चक्र के कारण कृषिगत उत्पादन में वृद्धि के कारण ऊपरी सीमा भी निश्चित कर दी जाती थी। सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दियों में कृषि के क्षेत्र में गतिरोध के दो उदाहरण हैं– इटली एवं फ्रांस। इसके विपरीत नीदरलैण्ड तथा इंग्लैण्ड कृषिगत पूँजीवाद के विकास के उदाहरण हैं।

इटलीः उत्तर-मध्य और सोलहवीं तथा आरंभिक सत्रहवीं शताब्दी में अंतर्क्षेत्रीय व्यापार एवं वाणिज्य के प्रमुख केंद्र के रूप में यद्यपि भूमध्यसागर अत्यंत महत्त्वपूर्ण था, फिर भी उसके तटीय क्षेत्रों का कृषि-क्षेत्र उत्पादन-तरीक़ों में किसी भी प्रकार की क्रान्ति से अछूता रहा। कृषि का अधिकांश भाग मुद्रा-अर्थव्यवस्था के क्षेत्र से बाहर रहा और कृषि के तरीक़ों में भी कोई परिवर्तन नहीं आया।

फ्रांसः उत्तर-मध्य युग में फ्रांसीसी कृषक वर्ग को सामंती लगान (साँ) का निश्चित मूल्य निर्धारित करने में जो सफलता मिली और उसे क़ायम रखने में ग्रामीण समुदाय की जो भूमिका रही वे कृषक वर्ग के अंतर्गत विभेदीकरण (differentiation) के विकास तथा व्यापक स्तर पर बाज़ार के लिए उत्पादन के मार्ग में बाधाएँ सिद्ध हुईं। लगभग दो तिहाई फ्रांस (मोटे तौर पर ला रोशे एवं जेनेवा के बीच की लाइन के उत्तर में) में जो उत्तराधिकार-पद्धति प्रचलित थी उसमें सभी पुत्रों में समान वितरण के सिद्धान्त का कड़ाई से अनुसरण किया जाता था। इससे कृषक की ज़मीन का विखंडन बढ़ता जाता था। सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांस के 75 प्रतिशत फ़ार्म बहुत छोटे थे, उनमें पूँजी-निवेश तथा यात्रियों सुविधाओं का अभाव था और इन परिवारों के कुछ सदस्य तो मध्यम आकार के फ़ार्मों पर बटाईदार बन गए थे। इन फ़ार्मों के मालिक खाद्यान्न की दृष्टि से अत्मनिर्भर थे किन्तु पेरिस क्षेत्र के पास रहने वालों को छोड़कर इनमें से कोई भी बाज़ार के लिए उत्पादन नहीं कर रहा था। व्यापार की दृष्टि से मुख्य कृषि-उपज अंगूरों की थी जिसका उपयोग मदिरा बनाने में किया जाता था। कृषक-वर्ग पर बढ़ते हुए करारोपण (जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं) ने भी कृषिगत पूँजीवाद के विकास में सहायक किसी भी प्रवृत्ति को पनपने नहीं दिया।

नीदरलैण्डः इंग्लैण्ड के समान इस देश में भी भू-स्वामित्व की जो व्यवस्था प्रचलित थी वह सामंती संबंधों के स्थान पर, पूँजीवादी कृषि के लिए, पट्टेधारी व्यवस्था का परिणाम थी। नीदरलैण्ड के संयुक्त प्रांतों द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त कर लेने पर सामंती अधिकारों को समाप्त कर दिया गया और छोटी-छोटी ज़मीनों की संख्या बढ़ गई। इनमें से अनेक ज़मीनें, विशेष रूप से ज़ीलैण्ड, हॉलैण्ड तथा फ्रीजलैण्ड के प्रांतों में, धनाढ्य बुर्जुआ वर्ग के हाथों में आ गई। वे इन ज़मीनों को अल्पकालीन पट्टों पर देते थे और इस बात पर भी ज़ोर देते थे कि उनमें खेती करते समय उत्पादन के आधुनिकतम तरीक़ों का उपयोग किया जाए। इसका परिणाम यह हुआ कि अनाज में, उल्लेखनीय वृद्धि हुई; फसलों को बदल-बदलकर बोने के नए तरीक़े अपनाए गए; पशुओं की शीतकालीन खिलाई से अधिक खाद का उत्पादन हुआ। सावधानीपूर्वक बीजों के रोपने तथा विभिन्न प्रकार की गौण फ़सलों को बोने की वजह से प्रति एकड़ उपज में पर्याप्त वृद्धि हुई। तिलहन, सन (फ्लैक्स) तथा मजीठ (madder) जैसी औद्योगिक फ़सलों का उत्पादन होने लगा। डच इंजीनियरों ने सिंचाई की उच्चस्तरीय तकनीकों का विकास किया, जिसके कारण कृषि-योग्य भूमि में प्रतिवर्ष छह-सात वर्गमील की वृद्धि हो जाती थी। व्यापारिक दृष्टि से समृद्ध नीदरलैण्ड एवं इंग्लैण्ड में शहरी बाज़ार के अस्तित्व ने माँग को बढ़ावा दिया। डच इतिहासकार स्लीखर वाँ बाथ (Slicher Wan Bath) द्वारा संकलित यूरोप के विभिन्न भागों के उपज-अनुपात संबंधी आँकड़ों से स्पष्ट होता है कि यूरोप के अन्य देशों की तुलना में नीदरलैण्ड एवं इंग्लैण्ड निश्चित रूप से अधिक विकसित थे। फ्रांस, स्पेन एवं इटली को दूसरी श्रेणी में रखा गया है। जर्मनी तृतीय श्रेणी में है और पूर्व यूरोपीय देशों की गणना चौथी श्रेणी में की गई है।

नोट

इंग्लैण्ड: हम ऊपर व्यापारिक ज़मींदार (commercial landlord) के त्रिपक्षीय पूँजीवादी अनुक्रम (tripartite capitalist hierarchy) की चर्चा कर चुके हैं, जिसके अनुसार वह ज़मीदार अपनी डिमेन भूमि को किराएदार कृषक (tenant farmer) को किराए पर देता था। इनके साथ-साथ छोटे कृषक-फ्री होल्डर तथा कॉपी होल्डर-भी चल रहे थे किन्तु फिर भी कृषिगत तकनीकों में सुधार तथा बाज़ार के लिए उत्पादन की वृद्धि की दिशा में मुख्य प्रहार किराएदार कृषकों (tenant farmer) ने ही किया। जब पट्टे का अंत होता था, तब बढ़ते हुए मूल्यों के काल में ज़मींदार आर्थिक दृष्टि से लाभदायक किराए (economic rent) का दबाव डालने के लिए इच्छुक होते थे। कुछ उद्यमी ज़मींदार तो किराएदार द्वारा भूमि पर किए गए सुधारों के लिए अच्छी शर्तों के रूप में प्रोत्साहन भी दे रहे थे। इन परिस्थितियों में अधिक उत्तम खाद का प्रयोग करके, कुछ चरागाहों को कृषि-भूमि में परिवर्तित करके और दलदली भूमि के पानी को निकालकर अनाज पैदा होने वाले सर्वोत्तम क्षेत्रों में बदलकर और अधिक गहन कृषि के लक्ष्य को पूरा किया गया। जनसंख्या की वृद्धि के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में श्रमिक अधिक सस्ते थे। ये श्रमिक कृषि कार्यों के लिए ही नहीं वरन् घरेलू एवं निर्यात बाजारों के लिए विभिन्न प्रकार की श्रम-प्रधान (labour-intensive) उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन के लिए भी उपलब्ध थे।

11.5 सारांश (Summary)

सामंती उत्पादन-संबंधों में परिवर्तन के साधन के रूप में मध्ययुगीन व्यापारिक पूँजी की सीमाओं के बारे में ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसके बावजूद यह तो मानना ही पड़ेगा कि अनजाने में ही इस पूँजी के कुछ ऐसे दीर्घकालीन प्रभाव सामने आए जिनकी वजह से पूँजीवाद की ओर संक्रमण संभव हो सका। बैंकिंग प्रणाली, सिक्कों के परीक्षण, व्यापार-मार्गों के ज्ञान तथा महत्त्वपूर्ण शहरी केंद्रों पर मेलों के आयोजनों के बारे में काफी अनुभव प्राप्त हुआ। जब सोलहवीं शताब्दी की खोज-यात्राओं तथा भारी मात्रा में बहुमूल्य धातुओं के आगमन से उद्यमियों के लिए अवसरों में अभूतपूर्व वृद्धि हो गई तो ऊपर बताए गए अनुभव बहुत उपयोगी सिद्ध हुए।

11.6 शब्दकोश (Keywords)

1. किराएदार कृषक (Tenant Farmer)–काश्तकार
2. जागीर (Fief)–भू-संपत्ति

11.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. सत्रहवीं शताब्दी के औद्योगिक स्तर को देखते हुए कृषि उपज बढ़ाने के प्रमुख विकल्प बताइए।
2. सत्रहवीं शताब्दी की आर्थिक मंदी के कारण बताइए।
3. मध्य युग के परवर्ती भाग में सामंती अर्थव्यवस्था कैसी थी?
4. 'कृषिगत पूँजीवाद' पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. लंकाशायर
2. औद्योगिक क्रान्ति
3. 'संकट'
4. (क) सोलहवीं सदी
5. (क) 1066
6. (ग) चौदहवीं शताब्दी

11.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

नोट

बुक्स

1. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
2. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
3. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
4. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
5. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
6. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
7. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*

नोट

इकाई 12: पूँजीवादी औद्योगिकीकरण (Capitalist Industrialization)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

12.1 वाणिज्यपरक एवं औद्योगिक पूँजीवाद का आरंभ (Beginning of Commercial and Industrial Capitalism)

12.2 सामंतवाद से पूँजीवाद की ओर संक्रमण से संबंधित विवाद (Controversy Concerned with Transit Towards Feudalism to Capitalism)

12.3 पूँजीवाद के विकास का क्रम (Order of Development of Capitalism)

12.4 सारांश (Summary)

12.5 शब्दकोश (Keywords)

12.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

12.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- औद्योगिक पूँजीवाद का आरंभ जानने में।
- सामंतवाद से पूँजीवाद की ओर संक्रमण से संबंधित विवाद जानने में।
- पूँजीवाद के विकास का क्रम जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

18वीं शताब्दी में उत्तर-पश्चिम यूरोप में आपूर्ति (पूँजी संचय, श्रम की उपलब्धि) तथा माँग (विभिन्न प्रकार की चीजों के लिए बढ़ते हुए तथा विभेदीकृत उपभोक्ता वर्ग) दोनों पक्षों में ऐसी परिस्थितियाँ थीं, जो पूँजीवादी उत्पादन पद्धति (जिसे हम 'औद्योगिक क्रान्ति' की संज्ञा देते हैं) की दिशा में नवीन सफलता प्राप्त करने के लिए तैयार थीं। किन्तु यह विकास क्रम इस पुस्तक के अध्ययन-क्षेत्र के बाहर है।

12.1 वाणिज्यपरक एवं औद्योगिक पूँजीवाद का आरंभ (Beginning of Commercial and Industrial Capitalism)

सामंतवाद की समृद्ध शताब्दियों (अर्थात् जबकि कोई जीवन-निर्वाह का संकट नहीं था) के दौरान यूरोप में वाणिज्यिक एवं औद्योगिक उत्पादन का जो स्वरूप उभरा और सत्रहवीं शताब्दी के अंत में इन क्षेत्रों में जो स्वरूप

नोट

उभरकर सामने आया उनमें मुख्य अंतर निम्नलिखित हैं: भौगोलिक स्थानांतरण, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में विनियमित वस्तुओं का विविधीकरण, जिसमें बड़ी संख्या में शान-शौक़त की वस्तुओं से इतर वस्तुएँ शामिल थीं, उत्पादन के गठन में 'गृह-उत्पादन पद्धति' (putting-out system) का विस्तृत विकास, इंग्लैण्ड एवं नीदरलैण्ड में अधिक विस्तृत घरेलू बाजार का विकास, और अंतत: नीदरलैण्ड एवं इंग्लैण्ड द्वारा औपनिवेशिक पुनर्निर्यात के परिणाम में वृद्धि।

नोट्स पूँजीवाद के विकास के लिए बाजार अत्यंत महत्त्वपूर्ण होते हैं।

भौगोलिक स्थानांतरण: उत्तर मध्य युग (सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में) के दौरान उच्च श्रेणी की दस्तकारी के प्रमुख केन्द्र थे–उत्तरी इटली, दक्षिणी जर्मनी के कुछ भाग, फ्लैंडर्ज (आधुनिक बेल्जियम) तथा जहाजरानी एवं मछली पालन के लिए उत्तरी नीदरलैण्ड (आधुनिक हॉलैण्ड)। इटली में टस्कनी को फ्लैंडर्ज को मिलाने वाली रेखा को यूरोप की औद्योगिक रीढ़ कहा जा सकता है। 1700 तक इस रेखा के स्थान पर एक त्रिभुज आ गया था, जिसके प्रमुख केन्द्र नीदरलैण्ड, ब्रिटेन और फ्रांस थे। नीदरलैण्ड में एम्सटरडम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वाणिज्यिक एवं वित्तीय केन्द्र बन गए जो वस्तुओं के अंत:क्षेत्रीय विनियम में सहायक था। साहूकारों (financiers) का यह भौगोलिक स्थानांतरण कुछ तो इसलिए हुआ कि प्रतिसुधार आंदोलन (Counter Reformation) के पश्चात् होने वाले धार्मिक उत्पीड़न की वजह से पुराने केन्द्रों से अनेक पूँजीपति व्यापारी अपने देश छोड़कर दूसरे देशों में बसने के लिए जा चुके थे।[1]

व्यापार-वस्तुओं का विविधीकरण: हालांकि मध्य युग में आम लोहे के सामान, चमड़े के सामान, लिखने के कागज तथा अस्त्र-शस्त्र का विनिमय अज्ञात नहीं था, फिर भी व्यापार का स्वरूप मुख्य रूप से शान-शौक़त की वस्तुओं के अंत:क्षेत्रीय विनियम पर आधारित था। सत्रहवीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ वह यह था कि खपत की चीजों के परिणाम में वृद्धि हुई। इन वस्तुओं का व्यापार अंतर्राष्ट्रीय और कम-से-कम इंग्लैण्ड और नीदरलैण्ड में घरेलू बाजारों में होता था। हॉलैण्ड के व्यापारी केवल शान-शौकत की पारंपरिक वस्तुओं का ही नहीं अपितु लिनेन, ऊनी कपड़ों, मछली, चीनी तथा डेरी की वस्तुओं का भी व्यापार किया करते थे।

गृह-उत्पादन पद्धति (putting-out system): पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत से ऊनी वस्त्रों के क्षेत्र में इंग्लैण्ड के निर्यात व्यापार के विकास का विवेचन अन्यत्र किया जा चुका है।[2] विदेशी बाजार में बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए पूँजीपति व्यापारियों ने ग्रामीण शिल्पियों को कच्चा माल देना आरंभ कर दिया था। इन शिल्पियों को स्पष्ट निर्देश दिए जाते थे कि उन्हें किस प्रकार के माल का उत्पादन करना है। ये शहरी शिल्पी संघों के प्रतिबंधों से मुक्त थे। ये मुख्यत: अल्परोज़गार वाले (under employed) फ़ार्मकर्मी अथवा उनके परिवारों के सदस्य थे। इसीलिए उनका पारिश्रमिक कम था और वे स्वयं भी अपनी आमदनी को बढ़ाने के इन अवसरों से प्रसन्न थे। पूँजीपति व्यापारी की दृष्टि से इस प्रकार के प्रबंध में लाभ अधिकाधिक था और खतरा कम-से-कम। बढ़ते हुए बाज़ार के काल में वह अल्प-रोज़गार वाले ग्रामीण श्रमिक से लाभ उठा सकता था। बाज़ार के संकुचन काल में उसे सिर्फ इतना करना होता था कि वह शिल्पियों को कच्चा माल देना बंद कर दे। उसे यह खतरा नहीं था कि महँगे कारखाने या मशीन को खाली छोड़ना पड़े क्योंकि यह संपूर्ण उत्पादन श्रम-प्रधान (labour intensive) था और इसके लिए निश्चित पूँजी की आवश्यकता बहुत कम थी।

---

1. H.R. Trevor-Roper, Religion, Reformation and Social Change.

2. पार्थसारथि गुप्ता द्वारा संपादित, ब्रिटेन का इतिहास, पृ. 45-52.

नोट

अधिक विस्तृत घरेलू बाजार: पूँजीवाद के विकास के लिए बाजार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं। हालांकि विदेशी बाजार निश्चय ही अत्यन्त आवश्यक हैं किन्तु उनकी प्रकृति अनिश्चित होने के कारण उन पर निर्भर नहीं किया जा सकता। विकास के बिना, नवीन सुधार के लिए आवश्यक प्रोत्साहन नहीं मिलता। इस बात के पर्याप्त प्रमाण है कि इंग्लैण्ड एवं नीदरलैण्ड में यह प्रक्रिया सत्रहवीं शताब्दी में गतिशील थी। सत्रहवीं शताब्दी के तीसरे दशक तक स्फीतिकारी प्रवृत्तियों का प्रभाव समाप्त हो चुका था और इसके परिणामस्वरूप वास्तविक मज़दूरी में कुछ वृद्धि हुई। कुछ घटिया क़िस्म का और कम दामों पर वैसी ही वस्तुएँ ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर निर्मित की जा रही थीं ताकि उत्तरोत्तर विभेदीकृत (differentiated) ग्रामीण समाज के उपभोक्ताओं की माँग को पूरा किया जा सके।[1]

क्या आप जानते हैं 18वीं शताब्दी के अंत तक कारखाने औद्योगिक उत्पादन के केन्द्र बन चुके थे।

औपनिवेशिक पुनर्निर्यात व्यापार: नीदरलैण्ड और इंग्लैण्ड ने उत्तरी, केन्द्रीय एवं दक्षिणी अमेरीका में बाग़ान (plantation) स्थापित कर लिए थे। इन बाग़ानों में अफ़्रीकी तट से भेजे गए दास श्रमिकों की सहायता से कहवा, गन्ने एवं तम्बाकू की खेती होती थी। अमेरीका के उत्तरी क्षेत्रों की, जहाँ दास श्रमिकों का प्रयोग नहीं होता था, इमारती लकड़ी तथा फ़र की माँग यूरोप में बहुत थी। जो कंपनियाँ इस व्यापार को नियंत्रित कर माल को अपने देशों में लाती थीं, वे उनको और अधिक उपयोगी बनाकर तथा पैक करके पुनर्निर्यात कर देती थीं। इस प्रकार वे अच्छा लाभ कमा लेती थीं। साथ ही उन्होंने पश्चिमी यूरोप में पूँजी संचयन तथा उपभोक्ता आमदनी के विकास में भी योगदान दिया।

12.2 सामंतवाद से पूँजीवाद की ओर संक्रमण से संबंधित विवाद (Controversy Concerned with Transit towards Feudalism to Capitalism)

35 वर्ष पूर्व ब्रिटेन के मार्क्सवादी अर्थशास्त्री मॉरिस डॉब (Maurice Dobb) ने **'स्टडीज इन दि डेवलपमेंट ऑफ़ कॉपटलिज्म'** नामक ग्रंथ प्रकाशित किया था। इसके कारण उपर्युक्त संक्रमण में सहायक प्रमुख कारकों के संबंध में अन्य मार्क्सवादी विचारकों में वाद-विवाद आरंभ हो गया। इस परिचय में भाग लेने वाले अन्य विद्वान थे–मार्क्सवादी अर्थशास्त्री पॉल स्वीज़ी (Paul Sweezy), जापानी अर्थशास्त्री ताकाहाशी (Takahashi) तथा ब्रिटेन के दो मार्क्सवादी इतिहासकार रॉडनी हिल्टन (Rodney Hilton) एवं क्रिस्टोफर हिल (Christopher Hill)। यह विवाद मुख्य रूप से दो मुद्दों पर था–विदेशी व्यापार के विस्तार के कारण सामंती उत्पादन पद्धति का अंत हुआ, या फिर उनका विघटन सामंती उत्पादन-संबंधों के अंतर्विरोधों का परिणाम था। इन अंतर्विरोधों में मुख्य था कुलीनवर्ग द्वारा अधिशेष खींचने की प्रक्रिया को और अधिक तेज करके युद्ध एवं शान-शौकत की वस्तुओं की खपत जैसी अनुत्पादक गतिविधियों में खर्च करना। विवाद के दौरान निरंकुश राज्य के स्वरूप के संबंध में भी मतभेद था। कुछ लोग राज्य को सामंती एवं पूँजीवादी वर्गों के बीच एक हद तक तटस्थ तथा अपेक्षाकृत स्वायत्त माध्यम मानते थे जबकि कुछ अन्य लोग उसे सामंतवाद का ही संशोधित रूप समझते थे। इस परिचर्चा में भाग लेने वाले विद्वानों में से केवल रॉडनी हिल्टन ने इंग्लैण्ड की सामंती अर्थव्यवस्था पर मौलिक शोधकार्य किया था तथा इस विवाद के छिड़ने के समय क्रिस्टोफर हिल ने सत्रहवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड के संबंध में कुछ आरंभिक शोधकार्य प्रस्तुत किया था। डॉब एवं स्वीज़ी, दोनों ही विद्वानों के सिद्धांत का आधार 1947 में उपलब्ध उत्तर-मध्ययुगीन यूरोप पर किया गया शोधकार्य था। उस समय भी इस वाद-विवाद की मुख्य कमी यह थी कि तुलनात्मक दृष्टि से इसने

1. Joan Thirsk. Economic Policy and Projects: The Development of a Consumer Society in Early. Modern England, p. 22f. and Chaps. 5, 6 and 7.

1. Studies in the Development of Capitalism.

नोट

यूरोपीय महाद्वीप के इतिहासकारों (हेनरी रिपेन जैसे विद्वानों को छोड़कर) की विद्वत्ता की उपेक्षा की थी।

संपूर्ण यूरोप में मार्क्सवादी एवं गैर-मार्क्सवादी विद्वानों (जिनमें रॉडनी हिल्टन एवं क्रिस्टोफर हिल भी हैं) ने पिछले 35 वर्षों में जो शोधकार्य किया है, वह तथ्यात्मक विवरणों तथा सैद्धांतिक निरूपण की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। इसलिए यह आवश्यक है कि–

(*i*) मध्यकालीन कृषीय और जागीरदारी प्रथा को गहरा आघात लगा। सामंत अब अनुपस्थित भू-स्वामी बनने लगे अर्थात् वे नगरों में रहने लगे और व्यावसायिक गतिविधियों में भाग लेने लगे।

(*ii*) यूरोपीय उद्योगों में क्रान्ति हो गई।

(*iii*) व्यापारिक तथा शिल्पी श्रेणियों (गिल्ड्स) का पतन हो गया।

(*iv*) राष्ट्रीय व्यवसायवाद (National-Marcantilism) का विकास हुआ। राष्ट्रीयता की चेतना विकसित हुई।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)

1. व्यापारिक पूँजीवाद ने अंत में ..... पूँजीवाद का रूप धारण किया।
   (क) राजस्व (ख) औद्योगिक (ग) राष्ट्रीय (घ) इनमें से कोई नहीं
2. पूँजीवादी उत्पादन पद्धति को ..... की संज्ञा दी गई है।
   (क) राष्ट्रीय क्रान्ति (ख) औद्योगिक क्रान्ति (ग) व्यापारिक क्रान्ति (घ) इनमें से कोई नहीं
3. व्यापारिक पूँजीवाद का विकास ..... से बहुत पहले हो चुका था।
   (क) कृषिगत क्रान्ति (ख) मशीनी क्रान्ति (ग) राजस्व क्रान्ति (घ) औद्योगिक क्रान्ति

12.3 पूँजीवाद के विकास का क्रम (Order of Development of Capitalism)

इस प्रकार पूँजीवाद से तात्पर्य उस आर्थिक अवस्था से है जिसमें उत्पादन तथा विनिमय के मुख्य साधनों का स्वामित्व और नियंत्रण समाज के थोड़े से व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो। इसका शनैः-शनैः विकास हुआ है। इसका आरम्भिक रूप व्यापारिक पूँजीवाद (Commercial) कहा जाता है। बाद में उसने औद्योगिक पूँजीवाद (Industrial Capitalism) और अन्त में राजस्व पूँजीवाद (Financial Capitalism) का रूप धारण किया।

व्यापारिक पूँजीवादः व्यापारिक पूँजीवाद का विकास औद्योगिक क्रान्ति से बहुत पहले हो चुका था। पूँजी का वास्तविक अर्थ बचत है। इस सामान्य अर्थ में प्रत्येक व्यक्ति जो अपनी आय से कुछ बचत करता है पूँजीपति होता है परन्तु जब आर्थिक व्यवस्था के अंतर्गत पूँजीवाद की चर्चा करते हैं तो इसका अर्थ भिन्न है। इस अर्थ में पूँजीवाद का जन्म उस समय होता है जब एक व्यक्ति या कई व्यक्ति सम्मिलित होकर अपनी पूँजीवाद का उपयोग लाभ की दृष्टि से किसी व्यापार या व्यवसाय में करें। मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में धर्म युद्धों के कारण तथा दिग्दर्शक यंत्र के आविष्कार के फलस्वरूप सामुद्रिक यात्राएँ सुगम हो गई तो व्यापार बढ़ने लगा। अनेक साहसी व्यापारी इससे लाभ उठाने लगे। अधिक लाभ के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता होने के कारण कुछ व्यापारी सम्मिलित होकर कम्पनियाँ बनाने लगे। इंग्लिश ईस्ट इंडिया कम्पनी इसी प्रकार स्थापित हुई थी। पहले ये लोग स्वतंत्र कारीगरों से माल खरीदा करते थे, शनैः-शनैः अधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से वे कारीगरों को कच्चा माल देकर अपनी इच्छानुसार माल तैयार करवाने लगे। कारीगर अपने घरों में अपनी ही औजारों से काम करते थे परन्तु अब पूँजी उनकी नहीं होती थी और वे माल भी पूँजीपति की इच्छानुसार बनाते थे। उन्हें केवल मजदूरी मिलती थी। इस प्रकार व्यवसाय का रूप धीरे-धीरे परिवर्तित होने लगा था। यद्यपि अभी भी गृह-व्यवसाय था परन्तु उसमें कारखाना व्यवस्था (Factory

नोट

System) के मुख्य लक्षण उभरने लगे थे। पूँजीपति व्यापक स्तर पर अपनी इच्छानुसार वस्तुएँ बनवाता था, कारीगर मजदूरी पर काम करता था और लाभ पूँजीपति को प्राप्त होता था। इस प्रकार, औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व व्यापारिक पूँजीवाद विद्यमान था। समुद्र पार के देशों के व्यापार से यूरोप में अत्यधिक धन एकत्रित हो गया था। फ्लोरेंस, ऑग्जबुर्ग, एण्टबर्म और लंदन इसके केन्द्र थे।

टास्क ब्रिटेन के मार्क्सवादी अर्थशास्त्री मॉरिस डॉब ने कौन-सा ग्रंथ प्रकाशित किया था?

औद्योगिक पूँजीवाद: मशीनों के उपयोग से कारखानों का युग प्रारंभ हुआ। कारखानों के विकास के साथ पूँजीवाद में भी बदलाव दिखाई पड़ा। नई औद्योगिक मशीनें बहुत महंगी थीं, उन्हें कोई कृषक अथवा कारीगर खरीदने की क्षमता नहीं रखता था। इन मशीनों को धनवान ही खरीदकर खासतौर पर बने हुए मकानों (कारखानों) में ही लगा सकता था। इस प्रकार मशीनों के साथ कारखानों का निर्माण हुआ। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक कारखाने औद्योगिक उत्पादन के केन्द्र बन चुके थे।

राजस्व पूँजीवाद: औद्योगिक पूँजीपतियों का अपने व्यवसाय से बड़ा निकट सम्पर्क रहता था। पूँजी लगाना, कच्चा माल खरीदना, कारखाने बनवाना, मजदूरों के काम को देखना, तैयार माल को बेचने का प्रबंध करना आदि सभी कार्य वे स्वयं देखा करते थे परन्तु जब कारखाना व्यवस्था शनैः-शनैः जटिल होने लगी और रेलवे जैसे बड़े भारी-भारी उद्योग प्रारंभ होने लगे तो पूँजीपति का व्यक्तिगत काम कम होने लगा। सम्मिलित पूँजी वाली कम्पनियाँ और कारपोरेशन स्थापित होने से उद्योगों का स्वामित्व व्यक्तिगत पूँजीपतियों के हाथों से निकलकर उन कम्पनियों के हाथों में पहुँचने लगा। इससे समस्त प्रकार के कामों के लिए वेतनभोगी कर्मचारी रखे जाने लगे और पूँजीपतियों का व्यवसाय से सीधा सम्पर्क टूटने लगा। अब उनका काम व्यवसाय के लिए धन जुटाना और आपस में लाभ का वितरण करना तथा अपने लाभ को बैंकों और दलालों द्वारा अन्य उद्योगों में लगाकर अधिकाधिक लाभ प्राप्त करना रह गया। इस प्रकार शनैः-शनैः पूँजीवाद ने व्यापारिक पूँजीवाद से आगे बढ़कर औद्योगिक पूँजीवाद का और अन्त में राजस्व पूँजीवाद का रूप धारण किया।

12.4 सारांश (Summary)

मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में धर्म युद्धों के कारण तथा दिग्दर्शक यंत्र के आविष्कार के फलस्वरूप सामुद्रिक यात्राएँ सुगम हो गई तो व्यापार बढ़ने लगा। अनेक साहसी व्यापारी इससे लाभ उठाने लगे। अधिक लाभ के लिए अधिक पूँजी की आवश्यकता होने के कारण कुछ व्यापारी सम्मिलित होकर कम्पनियाँ बनाने लगे। इंग्लिश ईस्ट इंडिया कम्पनी इसी प्रकार स्थापित हुई थी। पहले ये लोग स्वतंत्र कारीगरों से माल खरीदा करते थे, शनैः-शनैः अधिक लाभ कमाने के उद्देश्य से वे कारीगरों को कच्चा माल देकर अपनी इच्छानुसार माल तैयार करवाने लगे। कारीगर अपने घरों में अपनी ही औजारों से काम करते थे परन्तु अब पूँजी उनकी नहीं होती थी और वे माल भी पूँजीपति की इच्छानुसार बनाते थे। उन्हें केवल मजदूरी मिलती थी। इस प्रकार व्यवसाय का रूप धीरे-धीरे परिवर्तित होने लगा था।

12.5 शब्दकोश (Keywords)

1. साहूकार (Financiers)–पूँजी लगाने वाला।
2. वाणिज्यिक (Commercial)–व्यापारिक

12.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

नोट

1. व्यापार-वस्तुओं के विविधीकरण से क्या तात्पर्य है? बताइए।
2. उत्तर मध्य युग में, सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में उच्च श्रेणी की दस्तकारी के प्रमुख केन्द्र कौन से थे?
3. औपनिवेशिक पुनर्निर्यात व्यापार से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
4. 'पूँजीवाद के विकास का क्रम' पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. (क) राजस्व 2. (ख) औद्योगिक क्रान्ति 3. (घ) औद्योगिक क्रान्ति

12.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
2. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
4. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
5. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
6. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
7. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*

नोट

इकाई 13: समाजवादी औद्योगिकीकरण (Socialist Industrialization)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

13.1 औद्योगिक क्रान्ति से पहले यूरोप की दशा (State of Europe before Industrial Revolution)

13.2 औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ (Meaning of Industrial Revolution)

13.3 औद्योगिक क्रान्ति के कारण (Causes of Industrial Revolution)

13.4 सारांश (Summary)

13.5 शब्दकोश (Keywords)

13.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

13.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- औद्योगिक क्रान्ति से पहले यूरोप की दशा जानने में।
- औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ जानने में।
- औद्योगिक क्रान्ति के कारण जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

मध्य युग में यूरोप के देशों में मुख्य उद्योग कृषि था। लोग अपनी अथवा अपने जागीरदार की भूमि पर खेती करते थे और उससे उत्पन्न अनाज ही से उनका निर्वाह होता था। घरेलू जीवन में काम आने वाली अन्य वस्तुएँ भी बढ़ई, लुहार, कुम्हार, जुलाहे आदि बनाते थे। ये कारीगर अपने घर पर ही काम करते थे। ये लोग भी मुख्यत: खेती ही करते थे और अपने खाली समय में अपनी कारीगरी की चीजें बनाते थे। किन्तु कुछ लोग केवल कारीगरी की चीजें बनाते थे। उस समय मुद्रा का विकास नहीं हो पाया था, अत: प्राय: एक वस्तु देकर दूसरी वस्तु ले ली जाती थी। क्रय-विक्रय वस्तु-विनिमय प्रणाली से होता था। स्थान-स्थान पर छोटी-छोटी मण्डियाँ लगती थीं, जिनमें लोग अपनी जरूरत की चीजें खरीदने और अपनी फालतू चीजें बेचने के लिए इकट्ठे होते थे।

नोट

किन्तु नगरों या शहरों का जीवन इससे कुछ भिन्न था। शहरों में कुछ धनी लोग व्यापार-वाणिज्य के काम में भी लगे हुए थे। वे कच्चा माल मजदूरों को दे देते थे और उनसे वस्तुएँ तैयार कराते थे और उनको कुछ मजदूरी दे देते थे। इन वस्तुओं को वे शहरों में या दूसरे देशों में ले जाकर बेचते थे। ये व्यापारी प्रायः विदेशी व्यापार में काफी रुचि रखते थे और उससे काफी लाभ भी कमाते थे। वे अपना व्यापार व अपना लाभ बढ़ाने के लिए सचेष्ट थे किन्तु वस्तुओं के उत्पादन में मानव की सीमाएँ सबसे बड़ी बाधा थी।

13.1 औद्योगिक क्रान्ति से पहले यूरोप की दशा (State of Europe before Industrial Revolution)

औद्योगिक क्रान्ति कोई राजनैतिक क्रान्ति नहीं थी। अतः इसकी कोई निश्चित तिथि या वर्ष नहीं है। यह विकास की एक प्रक्रिया थी। यों तो इस क्रान्ति का आरंभ अठारहवीं शताब्दी के शुरू से ही हो गया था। किन्तु अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विकास की इस प्रक्रिया में तेजी आई। लगभग एक शताब्दी तक यह विकास-क्रम बड़ी द्रुतगति से आगे बढ़ा। इसी एक शताब्दी अर्थात् लगभग 1770 ई. से 1870 ई. तक के काल को औद्योगिक क्रान्ति का काल माना जाता है।

नोट्स मध्य युग में यूरोप के देशों में मुख्य उद्योग कृषि था।

अब हम 1770 ई. से पहले यूरोप की अवस्था पर विचार करेंगे। औद्योगिक क्रान्ति से पहले यूरोप के देशों में सामंत प्रथा का प्रचार था। सामंत विलासिता का जीवन व्यतीत करते थे। उनके पास धन पर्याप्त मात्रा में था। वे अपनी सारी भूमि पर खेती नहीं कर या करा सकते थे, अतः वे अपनी भूमि अनेक किसानों को दे देते थे। किसान सामंतों या जागीरदारों की भूमि पर खेती करते थे। खेती उस समय मुख्य उद्यम था। सामंत लोग किसानों से लगान वसूल करने के अतिरिक्त उन पर अत्याचार भी करते थे और उनसे बेगार भी लेते थे।

शिक्षा का प्रचार बढ़ रहा था। शिक्षा के प्रसार ने लोगों का मस्तिष्क विकसित किया और पुराने अंधविश्वास की जड़ें उखड़ने लगीं। पुनर्जागरण के वातावरण ने एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण को जन्म दिया जिसके परिणामस्वरूप नई खोजों और नये अनुसंधान की इच्छा पैदा होने लगी थी।

यूरोप के देशों ने भौगोलिक खोजों के बाद अपने-अपने उपनिवेश बसा लिए थे और उन उपनिवेशों से धन कमा रहे थे। उपनिवेशों के व्यापार पर उनका लगभग पूर्ण अधिकार था। इस व्यापार के लिए उनको सामान लाने-ले-जाने के अच्छे, जल्दी पहुँचने वाले और अधिक सुरक्षित साधनों की आवश्यकता महसूस होने लगी थी। व्यापार-वाणिज्य की उन्नति के साथ यूरोप के देशों का मध्यम वर्ग अधिकाधिक समृद्ध होता जाता था। समृद्ध मध्यम वर्ग व्यापार के साधनों, उत्पादन के साधनों और तैयार माल की किस्म सुधारने के प्रति सजग तथा प्रयत्नशील हो गया था क्योंकि इससे उसे अधिक लाभ होने की आशा थी।

आवागमन तथा सामान ढोने के लिए उस समय गाड़ियों का प्रयोग किया जाता था। इन गाड़ियों में पशु जोड़े जाते थे। आने-जाने के लिए भी गाड़ियों तथा नावों का प्रयोग होता था। कहीं-कहीं नहरें और सड़कें भी बन गई थीं।

अतः हम कल्पना कर सकते हैं कि उस समय एक ऐसा वातावरण पैदा हो गया था जिसमें मनुष्य अपनी सभ्यता को आगे ले जाने तथा उसे विकसित करने के लिए प्रयत्नशील था।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. औद्योगिक क्रान्ति ..... की एक प्रक्रिया है।
2. उत्पादन के साधनों में परिवर्तन हो जाना ही ..... है।
3. अठारहवीं शताब्दी के अंत तक ..... के विदेशी व्यापार में उन्नति हो चुकी थी।

13.2 औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ (Meaning of Industrial Revolution)

औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ यह है कि उद्योगों की प्राचीन, परम्परागत और धीमी गति को छोड़कर नये, वैज्ञानिक तथा तेजी से उत्पादन करने वाले यंत्रों व मशीनों का प्रयोग। यह क्रान्ति उस महान् परिवर्तन का द्योतक है, जो औद्योगिक प्रणाली में हुए। घरों में तथा घरेलू उद्योगों में हाथ से बनने वाली वस्तुएँ इस परिवर्तन के कारण बड़े-बड़े कारखानों में तथा मशीनों से बनने लगीं। इस क्रान्ति ने ऐसे यंत्रों, मशीनों और विधियों को जन्म दिया जिनकी सहायता से वस्तुएँ सरलता से, थोड़े व्यक्तियों की सहायता से अपेक्षाकृत अच्छी और बड़े पैमाने पर बनने लगीं। इसके लिए वैज्ञानिक आविष्कार हुए, नए यंत्र बनाए गये और उत्पादन तथा कार्य की नई विधियों को अपनाया गया। एक विद्वान लेखक का कहना है कि, "उत्पादन के साधनों में परिवर्तन हो जाना ही औद्योगिक क्रान्ति है।" एक अन्य विद्वान ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की औद्योगिक क्रान्ति परिवर्तन की उस अवस्था की द्योतक है जिसके कारण प्राचीन काल के सीमित गृह-उद्योगों के बदले भाप-शक्ति की सहायता से बड़े-बड़े कारखानों में बड़ी मात्रा में उत्पादन होने लगा। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि उत्पादन, आवागमन तथा संचार-परिवहन के नवीन यांत्रिक साधनों का अभ्युदय ही औद्योगिक क्रान्ति है।

क्या आप जानते हैं औद्योगिक क्रान्ति कोई राजनीतिक क्रान्ति नहीं थी।

औद्योगिक क्रान्ति पहले इंग्लैण्ड में ही क्यों हुई? : हम पढ़ चुके हैं कि औद्योगिक क्रान्ति विकास की एक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया का जन्म यूरोप के अनेक देशों में हुआ किन्तु इंग्लैण्ड इसमें अग्रणी रहा। इंग्लैण्ड दो दृष्टियों से अग्रणी रहा। एक तो यहाँ सबसे अधिक विकास हुआ और दूसरे यहाँ सबसे पहले विकास हुआ। यूरोप के अन्य देशों जैसे बेल्जियम, फ्रांस, जर्मनी और रूस में विकास देर से आरंभ हुआ और विकास की गति भी बड़ी धीमी रही। यहाँ हम उन कारणों का अध्ययन करेंगे, जिनके बल पर औद्योगिक क्रान्ति में इंग्लैण्ड अग्रणी रहा।

1. अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक इंग्लैण्ड के विदेशी व्यापार में उन्नति हो चुकी थी। अतएव नवीन आविष्कारों के लाभ उठाने के लिए धन विद्यमान था।

2. आविष्कारों से उत्पादन बढ़ता था जिसे देश में तथा विदेश में बेचने के लिए ब्रिटिश साम्राज्य में बड़े-बड़े इलाके थे।

3. इंग्लैण्ड के पास व्यापारी जहाजी बेड़े थे जिनसे बने हुए माल को ले जाने तथा कच्चा माल लाने की सुविधाएँ थीं। इसके अलावा इंग्लैण्ड में कुशल नाविकों तथा अच्छे बंदरगाहों की कमी नहीं थी।

4. इंग्लैण्ड का व्यापार बढ़ने और उपनिवेशों की स्थापना से इंग्लैण्ड के व्यापारी अधिक-से-अधिक माल बेचकर लाभ कमाने की दृष्टि से अधिकाधिक उत्पादन करने के इच्छुक थे। उत्पादन कार्यों में लगाने के लिए उनके पास पर्याप्त धन भी था जिसे इस कार्य में लगाकर और अधिक लाभ कमाया जा सकता था।

5. व्यावसायिक क्रान्ति से पहले कृषि में भी ऐसी फेरबदल हो गई थी जिससे सस्ते मजदूर मिल रहे थे।

नोट

6. इंग्लैण्ड में लोहा और कोयला समीप-समीप मिलते थे। मशीनों को बनाने के लिए और कारखानों को चलाने के लिए ये दोनों आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध थीं।

7. भारत एवं अन्य पूर्वी देशों से जो सुन्दर कपड़ा आदि इंग्लैण्ड में पहुँच रहा था, उसे देखकर इंग्लैण्डवासियों में भी अच्छी से अच्छी किस्म के कपड़े बनाने की भावना को प्रोत्साहन मिल रहा था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. औद्योगिक क्रान्ति के दौरान इंग्लैंड में ..... की खानें मिली थीं।
   (क) लोहे और कोयले (ख) लोहे
   (ग) कोयले (घ) इनमें से कोई नहीं
5. औद्योगिक क्रान्ति का जन्म यूरोप के अनेक देशों में हुआ, किन्तु ..... इसमें अग्रणी रहा।
   (क) फ्रांस (ख) स्पेन
   (ग) इंग्लैंड (घ) हॉलैंड
6. पुनर्जागरण और धर्म-सुधार आंदोलन के बाद यूरोप में ..... का युग आरंभ हो गया था।
   (क) बौद्धिक विकास (ख) औद्योगिक विकास
   (ग) धार्मिक विकास (घ) इनमें से कोई नहीं

13.3 औद्योगिक क्रान्ति के कारण (Causes of Industrial Revolution)

औद्योगिक क्रान्ति के अनेक कारण थे। कुछ महत्त्वपूर्ण कारणों का वर्णन नीचे किया जाता है–

1. उपनिवेशों की स्थापना: भौगोलिक खोजों ने यूरोप के देशों को अपने उपनिवेश बसाने की प्रेरणा दी। इंग्लैण्ड, फ्रांस, स्पेन और हॉलैण्ड ने संसार के कोने-कोने में अपने उपनिवेश स्थापित कर लिये थे। ये उपनिवेश उपरोक्त देशों से बहुत दूर और परस्पर भी काफी दूरी पर स्थित थे। इन उपनिवेशों पर इन देशों का शासन दृढ़ता से स्थापित हो और इनका पूर्ण लाभ मिले इसके लिए आवागमन के अच्छे और जल्दी चलने वाले साधनों की बड़ी आवश्यकता थी। अत: जिन देशों के उपनिवेश स्थापित हो गये थे, वे आवागमन के द्रुतगामी तथा अच्छे साधन ढूँढ़ने के लिए प्रयत्नशील थे।

2. वस्तुओं की माँग में वृद्धि: यूरोप के देशों का व्यापार काफी तेजी से बढ़ रहा था। वे यूरोप और पूर्व के देशों के साथ खूब व्यापार करते व लाभ कमाते थे। उपनिवेशों की स्थापना के बाद वे अपना माल उपनिवेशों में भी बेचने लगे। इस प्रकार उनके माल की माँग बराबर बढ़ रही थी। व्यापारी लोग अधिक-से-अधिक उत्पादन करके अधिक-से-अधिक माल बेचना चाहते थे किन्तु पुरानी गृह-उद्योग प्रणाली से उत्पादन अधिक नहीं हो सकता था। बड़े पैमाने पर उत्पादन के लिए बड़े-बड़े कारखानों में मशीनों से उत्पादन होना आवश्यक था। अत: कारखाने खोलने और कारखानों के लिए मशीनों के आविष्कार की बड़ी आवश्यकता थी।

3. कच्चे माल की व्यवस्था: यूरोप के देशों में बड़े कारखानों और बड़े पैमाने के उत्पादन के लिए पर्याप्त कच्चा माल उपलब्ध नहीं था किन्तु उपनिवेश बसने के बाद इन देशों को अपने उपनिवेशों से पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल मिलने लगा। कच्चे काल का सर्वोत्तम प्रयोग तभी हो सकता था, जब उससे बड़े पैमाने पर वस्तुएँ बनाई जायें, तथा उन्हें दुनिया के बाजार में व उपनिवेशों में बेचा जाये।

नोट

4. सस्ते मजदूर: यूरोप के अनेक देशों में विशेषकर इंग्लैण्ड में कृषि प्रणाली में काफी परिवर्तन हो गया। इस परिवर्तन के फलस्वरूप कृषि का काम सुधरे ढंग व छोटी-मोटी मशीनों से होने लगे। खेतों की चकबंदी, जमींदारों द्वारा जमीन की खरीद और चरागाह की भूमि को खेती के काम में लाने के फलस्वरूप देहात में रहने वाले बहुत से लोग बाध्य होकर शहरों में आ गए। इन लोगों को कोई-न-कोई रोजगार चाहिए था और वे थोड़ी मजदूरी पर भी काम करने को प्रस्तुत थे। उद्योगों के लिए सच्चे मजदूर उपलब्ध थे, अत: उद्योगधन्धे व कारखाने स्थापित करने का प्रोत्साहन मिला।

5. कोयले और लोहे की उपलब्धि: नई मशीनों व नये यंत्रों के लिए लोहे की आवश्यकता होती है। कारखाने की मशीनों को चलाने के लिए शक्ति (Power) की आवश्यकता होती है। यह शक्ति कोयले से प्राप्त हो सकती है। इंग्लैण्ड में लोहे और कोयले की खानें मिल गयीं। संयोग से ये खानें नजदीक-नजदीक थीं। अत: कारखाने खोलने की प्रेरणा मिली।

टास्क इंग्लैण्ड किन दो दृष्टियों से अग्रणी रहा?

6. पूँजी की उपलब्धि: पिछली दो-तीन शताब्दियों से यूरोप के लोगों ने अपना व्यापार काफी बढ़ा लिया था। पूर्व के देशों के साथ व्यापार करके उन्होंने काफी धन कमाया था। इस कारण उनके पास पूँजी की कमी नहीं थी व्यापार को बढ़ाने के लिए तैयार ही नहीं बल्कि उत्सुक भी थे।

7. वैज्ञानिक उन्नति: पुनर्जागरण और धर्म-सुधार आंदोलन के बाद यूरोप में बौद्धिक विकास का युग आंरभ हो गया था। नवीन आविष्कार व खोज के कार्य होने लगे थे। कई प्रकार के यंत्र बने, भाप की शक्ति का पता लगाया गया, भौतिक विज्ञान व रसायन शास्त्र में भी नवीन खोजें की गयीं। इन सबने मनुष्य को अवसर दिया कि वह इनका प्रयोग करके अपनी सभ्यता को आगे बढ़ाये। वैज्ञानिक उन्नति ने यूरोपवासियों में भौतिक उन्नति की आकांक्षा पैदा की। अत: वैज्ञानिक खोजों का प्रयोग उद्योगों के लिए किये जाने की सम्भावना का पता लगाया गया।

8. उपयुक्त अवसर: जब सामान बेचने के लिए समुचित बड़े-बड़े बाजार हों, वस्तुओं की माँग बढ़ रही हो, सस्ते मजदूर मिल सकते हों, कारखानों के लिए मशीनों व यंत्रों की खोज हो सकती हो, चालक शक्ति (Power) का ज्ञान हो चुका हो, कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में मिल सकता हो और व्यापार-उद्योग लगाने के लिए पूँजीपतियों के पास पूँजी व उस पूँजी को उद्योगों में लगाने की इच्छा हो, तो फिर नये-नये कारखानों व उद्योगों का विकास होना अनिवार्य था।

इन्हीं कारणों से यूरोप में उद्योगों की क्रान्ति हुई। इस क्रान्ति में इंग्लैण्ड ने अन्य देशों को पछाड़ दिया।

13.4 सारांश (Summary)

यूरोप के देशों ने भौगोलिक खोजों के बाद अपने-अपने उपनिवेश बसा लिए थे और उन उपनिवेशों से धन कमा रहे थे। उपनिवेशों के व्यापार पर उनका लगभग पूर्ण अधिकार था। इस व्यापार के लिए उनको सामान लाने-ले-जाने के अच्छे, जल्दी पहुँचने वाले और अधिक सुरक्षित साधनों की आवश्यकता महसूस होने लगी थी। व्यापार-वाणिज्य की उन्नति के साथ यूरोप के देशों का मध्यम वर्ग अधिकाधिक समृद्ध होता जाता था। समृद्ध मध्यम वर्ग व्यापार के साधनों, उत्पादन के साधनों और तैयार माल की किस्म सुधारने के प्रति सजग तथा प्रयत्नशील हो गया था क्योंकि इससे उसे अधिक लाभ होने की आशा थी।

13.5 शब्दकोश (Keywords)

नोट

1. औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution)–उद्योग से संबंधित क्रान्ति
2. उत्तरार्द्ध (Latter Part)–बाद का

13.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. मध्य युग में यूरोप के देशों में मुख्य उद्योग क्या था?
2. औद्योगिक क्रान्ति से पहले यूरोप की दशा का वर्णन कीजिए।
3. औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. औद्योगिक क्रान्ति पहले इंग्लैण्ड में ही क्यों हुई? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. विकास
2. औद्योगिक क्रान्ति
3. इंग्लैण्ड
4. (क) लोहे और कोयले
5. (ग) इंग्लैण्ड
6. (क) बौद्धिक विकास

13.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
2. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
4. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
5. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
6. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
7. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*

नोट

इकाई 14: अल्प-विकसित (Under-Developed)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

14.1 औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution)

14.2 यूरोप के अन्य देशों में औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution on other Countries of Europe)

14.3 औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव (Effects of Industrial Revolution)

14.4 सारांश (Summary)

14.5 शब्दकोश (Keywords)

14.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

14.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- औद्योगिक क्रान्ति जानने में।
- यूरोप के अन्य देशों में औद्योगिक क्रान्ति जानने में।
- औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

1709 ई. में अब्राहम डर्वी नामक व्यक्ति ने लोहे को पिघलाने की विधि का आविष्कार किया। इस विधि में वह जले हुए कोक का प्रयोग करता था। इससे पहले लोहे को पिघलाने के लिये चारकोल मिलाना पड़ता था और चारकोल की इंग्लैण्ड में बहुत कमी थी। इस प्रकार कोक की मदद से लोहा पिघलाने की विधि से लोहे को पिघलाकर उससे तरह-तरह की चीजें बनाई जाने लगीं। इंग्लैण्ड में कोयले की कमी नहीं है और कोक कोयले का ही एक उप-उत्पाद (by-product) है।

14.1 औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution)

औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव सबसे पहले वस्त्र उद्योग पर पड़ा। पहले सूत कातने और कपड़ा बुनने का काम हाथों से होता था। लोग यह काम अपने घरों में करते थे और घर पर ही उनकी दुकानें और कारखाने थे। व्यापारी लोग जुलाहों को ऊन, रुई या रेशम तोलकर दे जाया करते थे और मजदूरी देकर तैयार कपड़ा ले जाया करते थे। अनेक किसान जाड़े की लम्बी और ठण्डी ऋतु में अपने घरों में कपड़े बुनते थे तथा इस प्रकार अपना काम चलाया करते

नोट

थे। ये लोग कई छोटे-मोटे यंत्र जैसे चर्खा, करघा और तकली, चाकू आदि काम में लाते थे। ये सब यंत्र हाथों से ही चलाए जाते थे। इनमें भाप या बिजली का प्रयोग नहीं होता था। इसलिए उत्पादन इनसे धीरे-धीरे व बहुत कम होता था और कपड़ा भी मोटा और घटिया तैयार होता था। घरेलू उद्योग प्रणाली की एक त्रुटि यह भी थी कि इसमें बनी सभी वस्तुएँ एक समान बढ़िया अर्थात एक स्टैण्डर्ड की नहीं होती थीं। इसके अतिरिक्त जरूरत पड़ने पर बड़ी मात्रा में उत्पादन कर पाना भी सम्भव नहीं था। उत्पादन की इस प्रणाली में उत्पादन लागत भी अधिक आती थी, अत: बना माल अधिक कीमत पर बिकता था।

1. वस्त्र उद्योग में औद्योगिक क्रान्ति– सबसे पहले वस्त्र उद्योग में सूत कातने और कपड़ा बुनने की मशीनें बनाई गयीं।

(1) जॉन के (John kay) का फ्लाइंग शटल (Flying Shuttle)– इस संबंध में सबसे पहला आविष्कार जॉन का फ्लाइंग शटल था। जॉन के लंकाशायर का निवासी था। उसने 1733 ई. में फ्लाइंग शटल बनाया। यह मशीन ऐसी थी जिस पर अधिक लम्बाई व चौड़ाई का कपड़ा बुना जा सकता था।

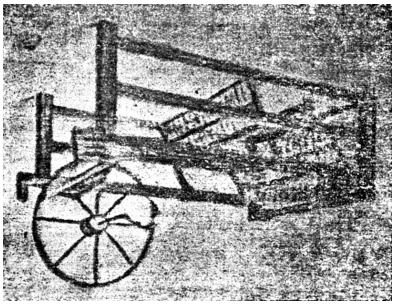

चित्र 1 स्पिनिंग जेनी

(2) हारग्रीव्स की स्पिनिंग जेनी (Spinning Jenny of Hargreeves)–1766 ई. में हारग्रीव्स ने सूत कातने की एक मशीन बनाई जिसका नाम स्पिनिंग जेनी था। यह एक प्रकार का चर्खा था जिसमें एक साथ आठ तकले चलते थे जिन पर सूत काटता जाता था। इस मशीन की सहायता से काफी तेजी से पर्याप्त मात्रा में सूत काता जाने लगा। यह मशीन ऐसी थी कि इसे घर पर चलाया जा सकता था।

(3) आर्कराइट का वाटर फ्रेम (Arkwright's Water Frame)– 1769 ई. में आर्कराइट ने एक मशीन बनाई जिसे वाटर फ्रेम कहा जाता था। यह मशीन सूत कातने की थी। स्पिनिंग जेनी पर कता हुआ सूत कुछ कमजोर होता था। लेकिन वाटर फ्रेम पर मजबूत सूत काता जाने लगा। वाटर फ्रेम मशीन स्पिनिंग जेनी की तुलना में अधिक सूत कात सकती थी। इस मशीन की एक अन्य विशेषता यह भी थी कि यह जल-शक्ति से चलती थी। अत: यह मशीन घर पर लगाई जा सकती थी क्योंकि हर स्थान पर जल-शक्ति लाकर इसे चलाया नहीं जा सकता था। अत: इसे कारखानों में ही चलाया जा सकता था। इस मशीन के बनने से कारखाना प्रणाली का श्रीगणेश हुआ।

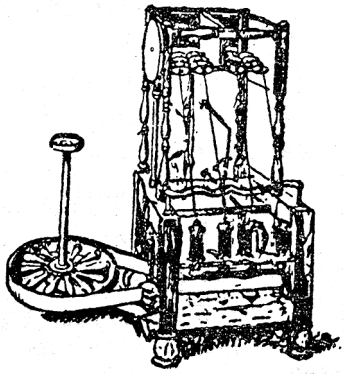

चित्र 2 आर्कराइट का वाटर फ्रेम

(4) क्रॉम्पटन का म्यूल (Crompton's Mule)– 1776 ई. में क्राम्पटन ने एक नई मशीन बनाई। इस मशीन को म्यूल कहा जाता था। इस मशीन को बनाने में क्रॉम्पटन ने स्पिनिंग जेनी और वाटर फ्रेम दोनों मशीनों की विशेषताओं का लाभ उठाया और उनका मिला-जुला किन्तु सुधरा हुआ रूप ही उसकी म्यूल मशीन थी। इस मशीन से बढ़िया और मजबूत सूत काता जा सकता था। इसमें कई तकले होते थे, अत: इससे

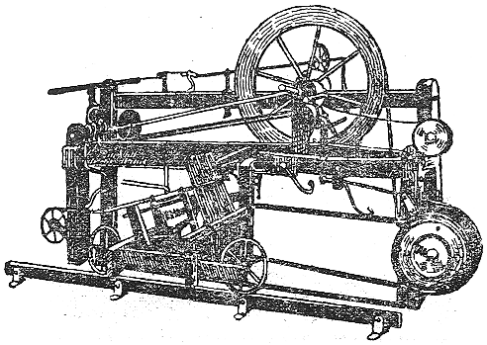

चित्र 3 क्रॉम्पटन का 'म्यूल'

नोट

काफी सूत काता जा सकता था। इस मशीन से कते हुए बारीक और मजबूत सूत से अब इंग्लैण्ड में मलमल जैसा बारीक कपड़ा बनने लगा।

नोट्स 1766 ई. में हारग्रीव्स ने सूत कातने की एक मशीन बनाई जिसका नाम स्पिनिंग जेनी था।

(5) कार्टराइट का पावर लूम (Cartwright's Power Loom)– 1785 ई. में कार्टराइट ने भाप की शक्ति से चलने वाली एक मशीन बनाई जिसे पावर लूम कहा जाता था। यह मशीन सूत कातने और कपड़ा बुनने दोनों में ही काम आती थी। इसमें सूत जल्दी, काफी मात्रा में और बहुत मजबूत तैयार होता था। यह मशीन बहुत जल्दी ही लोकप्रिय हो गई और लगभग 50 वर्षों के भीतर ही इंग्लैण्ड में ऐसी लाखों मशीनें बनने लग गयीं।

सूत कातने और कपड़ा बुनने की मशीनें बन जाने से अच्छा व मजबूत सूत तैयार होने लगा और बढ़िया कपड़ा बुना जाने लगा। किन्तु अभी इस उद्योग के सामने एक दिक्कत थी। पेड़ से निकली कपास में से बिनौला (बीज) निकालने का काम बहुत दिक्कत का काम था और बहुत धीरे-धीरे होता था। 1792 ई. में एक अमेरिकी आविष्कारक विटन ने कपास से बिनौले अलग करने वाली एक मशीन तैयार की। यह मशीन एक दिन में उतनी कपास साफ करती थी, जितनी कपास 50 आदमी हाथ से साफ कर पाते थे। बाद में इस मशीन को सुधार कर ऐसा बनाया गया कि यह 1000 व्यक्तियों के बराबर काम करने लगी।

इन नए आविष्कारों से कपड़ा उद्योग बहुत समुन्नत हो गया। इसमें परिश्रम कम लगने लगा और साथ ही कम मजदूरों की आवश्यकता पड़ने लगी। अत: खर्च में किफायत हुई।

(6) कोयला और लोहा उद्योग में औद्योगिक क्रान्ति– औद्योगिक क्रान्ति के लिये कोयला और लोहा दोनों ही अत्यावश्यक वस्तुएँ हैं। मशीनें, जहाज, पुल आदि बनाने के लिए लोहे की आवश्यकता थी। इन कामों में शुद्ध किया हुआ लोहा लगाया जाता है। लोहे को शुद्ध करने के लिए पिघलाने की आवश्यकता पड़ती है।

अभी तक लोहे को शुद्ध करने और उससे इस्पात बनाने की विधि का आविष्कार नहीं हुआ था। पीटर ओनियन और हेनरी कार्ट नामक व्यक्तियों ने लोहे को गलाकर उसे शुद्ध करने की विधि निकाली। 1856-57 ई. में हेनरी बेस्मर ने एक ऐसी भट्टी बनाई जिसमें गलाकर लोहे की सब गन्दगी (Impurity) दूर की जा सकती थी। इसी वैज्ञानिक पद्धति ने शुद्ध लोहे से इस्पात बनाने की विधि निकाली।

1769 ई. में जेम्सवाट ने भाप से चलने वाला इंजन बनाया। इस इंजन में कोयला जलाकर भाप तैयार की जाती थी। इन सब कमी के कारण कोयले की आवश्यकता बहुत बढ़ गई। अत: कोयले की खानों में कोयला निकालने का काम भी बड़े पैमाने पर आरम्भ हो गया।

खानों की खुदाई का काम तो पहले से ही होता था किन्तु यह काम बड़ी मेहनत का और बड़ा खतरनाक भी था और उनमें घना अन्धेरा रहता था। खानों के भीतर कभी-कभी कुछ गैसें निकालती थी और मिट्टी के तेल के लैम्प और मोमबत्तियों से कोयले की खानों में आग लग जाती थी। इस आग के कारण खान खोदने वाले भी मर जाते थे। इस संबंध में भी सुधार किया गया । 1705 ई. में टामस ल्युकोमैन ने एक इंजन तैयार किया। इस इंजन की सहायता से खानों का पानी निकालना सरल हो गया। इसी प्रकार 1816 ई. में डेवी नामक आविष्कारक ने एक लैम्प का आविष्कार किया, जिसे डेवी का सेफ्टी लैम्प कहा जाता है। इस लैम्प से खान के भीतर प्रकाश किया जा सकता था ताकि मजदूर उजाले में काम कर सकें, लेकिन इस लैम्प से खान में आग लगने का भय नहीं था।

नोट

क्या आप जानते हैं 1769 ई. में जेम्सवाट ने भाप से चलने वाला इंजन बनाया।

(7) आवागमन के साधनों में औद्योगिक क्रान्ति—जब उत्पादन के साधनों में सुधार हो गया और बड़े पैमाने पर वस्त्र और मशीनों का निर्माण होने लगा तथा खानों की खुदाई का काम भी सरल हो गया, तो आवागमन के साधनों में सुधार होना भी अत्यन्त आवश्यक था।

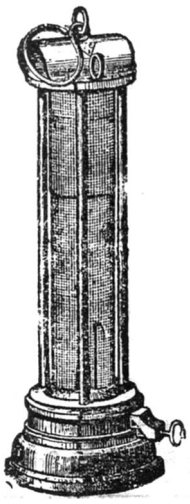

चित्र 4 डेवी का सेफ्टी लैम्प

(1) सड़कें— अच्छी सड़कों के बनाये जाने की और भी ध्यान दिया गया। अच्छी सड़कों के बनाने के संबंध में टैल्फोर्ड (Telford) एवं मैकेडम (Macadem) अधिक प्रसिद्ध हैं। इन पक्की सड़कों के कारण मैकेडम का नाम तो अमर हो गया है क्योंकि हम पक्की सड़कों को आज भी मैकेडमाइज्ड कह कर पुकारते हैं।

(2) नहरें— बहुत से औद्योगिक और व्यापारिक केन्द्रों को एक-दूसरे से मिलाने के लिए स्थान-स्थान पर नहरें बनवायी जाने लगीं। पहाड़ी स्थानों में सड़कें बनाने का काम बहुत कठिन था। पक्की सड़कें बनाने और उनकी मरम्मत में धन भी बहुत अधिक लगता था इसलिए नहरों तथा नदियों से यातायात का कार्य अधिक मात्रा में लिया जाने लगा। इंग्लैण्ड, फ्रांस, एवं संयुक्त राज्य अमेरिका में हजारों मील लम्बी नहरें खोदी गईं। सन् 1761 ई. में इंग्लैण्ड में एक प्रसिद्ध नहर वोर्शली से मैनचेस्टर तक बनाई गई जिसके द्वारा खानों से ढलाई घरों तक कोयला पहुँचाने में बड़ी सुविधा हो गई। यह नहर "ड्यूक ऑफ ब्रिज वाटर कैनाल" कहलाती है। इसकी सफलता को देखकर और भी बहुत-सी नहरें बनाई गईं और 1830 ई. तक इंग्लैण्ड में 4,000 मील लम्बे नदियों तथा नहरों के जल-मार्ग तैयार हो गये थे। फ्रांस में ऐसी ही नहरों की लम्बाई $7\frac{1}{2}$ हजार मील तक पहुँच गई। संयुक्त राज्य अमेरिका में सबसे प्रसिद्ध नहर एरिक कैनाल (Eric Canal) बनी।

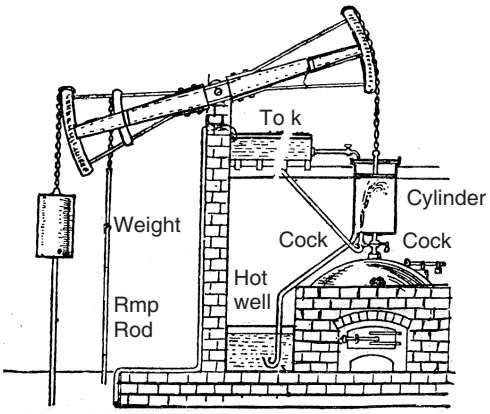

चित्र 5 न्यू कॉमन का इंजन

(3) भाप इंजन का आविष्कार— भाप में जो शक्ति होती है, उसकी ओर 18वीं शताब्दी में लोगों का ध्यान जाने लगा। कोयले से भाप शीघ्रता से बनती है। इस प्रकार शक्ति का एक नया साधन मिल गया। न्यूकॉमन (New-Comen) नाम के व्यक्ति ने इंग्लैण्ड की साम्राज्ञी एन के शासन काल में सबसे पहले स्टीम इंजन बनाया। परन्तु यह इंजन अधिक उपयोगी नहीं था। 1782 ई. में जेम्स वाट (James Watt) ने एक भाप इंजन बनाया, जो पर्याप्त उपयोगी था। अब कारखानों को वहाँ लगाया जा सकता था, जहाँ कोयला आसानी से लाया जा सके। जेम्स वाट का इंजन बन जाने के बाद सूती और ऊनी कपड़े की मशीनें भाप की शक्ति से चलने लगीं।

नोट

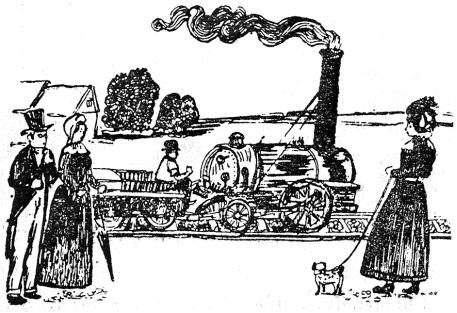

चित्र 6 जेम्स वाट का भाप का इंजन

(4) स्टीफेंशन का भाप इंजन और रेल– जेम्स वाट ने जो इंजन बनाया था, उसमें कुछ सुधार करके ट्रैविथिक नाम के इंजीनियर ने उससे बोझ ढोने का काम लेना शुरू कर दिया। सन् 1813 ई. में जार्ज स्टीफैन्शन (George Stephenson) ने पहला उपयोगी भाप इंजन बनाया जो खान से कारखाने तक कोयला ढोने के काम में लाया गया। इसी से इंग्लैण्ड को पहली रेलवे लाइन लिवर मैन्ट्रेस्टल को एन्जिन प्राप्त हुए। सन् 1825 ई. में स्टाकटन और डार्लिंगटन के बीच रेलवे लाइन चालू हुई। सन् 1830 ई. में लिवरपूल और मेन्चेस्टर के बीच रेलवे लाइन चलाई गई। 1836 ई. में स्टीफेन्शन का प्रसिद्ध भाप इंजन 'राकेट' बना। यह इंजन 35 मील प्रति घण्टे की चाल से कोयला भरी गाड़ी को खींचता था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक न केवल यूरोप में वरन् विश्व के सभी भागों में रेलवे लाइनों का एक जाल-सा बिछ गया। जहाँ पहले खच्चर, घोड़े, घोड़ागाड़ी काम में लाए जाते थे वहाँ अब यात्रा और माल ढोने का साधन बहुत सुगम, सरल, सस्ता, सुखदायक एवं सुरक्षित हो गया है।

चित्र 7 जार्ज स्टीफैन्शन

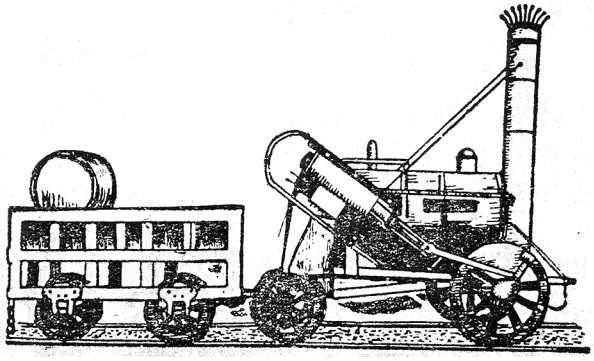

चित्र 8 जार्ज स्टीफेन्श का भाप का इंजन 'राकेट'

(5) भाप के समुद्री जहाज– भाप से चलने वाली नावों का प्रचलन भी आवागमन के साधनों में विशेष महत्त्व का है। रॉबर्ट फुलटन नामक एक अमेरिकन ने भाप से चलने वाली नाव बनाने में अच्छी सफलता प्राप्त की। इंग्लैण्ड में सबसे पहले भाप इंजन से चलने वाली नाव का प्रयोग फोर्थ-क्लाइड (Forth Clyde) नहर में सन् 1802 ई. में किया गया था। रॉबर्ट फुलटन ने अपनी पहली नाव से ऐलबेनी से न्यूयार्क तक यात्रा की थी। भाप इंजन से चलने वाला पहला समुद्री जहाज 'फोनिक' नाम का था, जिसको एक अमेरिकन ने बनाया था। यह न्यूयार्क से

नोट

फिलाडेल्फिया तक यात्रा के काम में लिया गया। सन् 1819 ई. में सरवैना नामक जहाज ने पहली बार ऐटलांटिक महासागर को पार कर दिया। भाप इंजनों की अधिक मांग होने के कारण इनका बनाना एक लाभदायक धन्धा हो गया और सभी देशों ने अच्छे-अच्छे और बड़े-बड़े जहाज बनाने आरम्भ कर दिये।

(6) पेट्रोल का प्रयोग और मोटर गाड़ियाँ– उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक बहुत से देशों में मोटरें बनने लगी, जिनका आविष्कार कैरे ने किया था। मोटर में अत्यन्त शुद्ध किया हुआ मिट्टी का तेल (Petrol) ईंधन के रूप में प्रयोग होता था परन्तु इसका इंजन बनाना एक चतुराईपूर्ण कार्य था। आगे चलकर जर्मनी के एक व्यक्ति डीजल ने ऐसे तेल इंजन बनाए, जिनमें कम शुद्ध किया हुआ मिट्टी का तेल काम में आ सकता था और तेल का खर्च भी कम होता था।

4. समाचार भेजने के साधनों में क्रान्ति (संदेश वाहन)– (*i*) तार– व्यापार एवं उद्योगों की सफलता बड़ी सीमा तक समाचार भेजने के साधनों पर निर्भर है। तार (Telegraph) के आविष्कार से पहले समाचार भेजने का काम कबूतरों तथा समाचारवाहकों या विशेष संकेतों से किया जाता था। तार प्रणाली का आविष्कार जर्मनी, इंग्लैण्ड एवं अमेरिका में बिना एक-दूसरे की सहायता के हुआ था। विशेष रूप से इसके आविष्कार का श्रेय मोर्स (Morse) नाम के एक व्यक्ति को प्राप्त है। सन् 1854 ई. के पश्चात् इसका प्रयोग सब देशों में होने लगा। सबसे पहले इंग्लैण्ड में सन् 1835 ई. में तार भेजने की व्यवस्था आरम्भ की गई। सन् 1857 ई. में इंग्लैण्ड और फ्रांस के बीच समुद्र में तार (Cable) की लाइनें डाली गईं और सन् 1866 ई. में यूरोप से अमेरिका तक समाचार भेजने के लिए एटलांटिक महासागर में तार बिछा दिए गए। 19वीं शताब्दी के अन्त तक दुनिया के किसी भाग में ऐसा भी कोई बड़ा नगर नहीं बचा था, जहाँ तारघर न हों।

***(ii)* डाक–** सन् 1840 ई. में सबसे पहले (Postage) या डाक प्रणाली का प्रचलन हुआ। सन् 1875 ई. तक विश्व के संपूर्ण देशों में बहुत कम मूल्य पर पत्र भेजे जाने लगे। थोड़े दिनों पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय डाक संघ स्थापित किया गया। इस का कार्य विश्व में डाक की व्यवस्था करना था।

***(iii)* टेलीफोन तथा बेतार–** 1876 ई. में Bell नामक व्यक्ति ने Telephone यंत्र का निर्माण किया। ये सब आविष्कार उन्नीसवीं शताब्दी में हुए। बेतार के तार (Wireless) तथा Radio का आविष्कार बीसवीं शताब्दी में हुआ।

5. प्रकाश की व्यवस्था– सभ्यता, संस्कृति और उद्योग की सफलता अधिकतर मनुष्य के बनाए हुए प्रकाश पर निर्भर है। अठारहवीं शताब्दी तक तेल के दीपकों तथा मशालों से प्रकाश का कार्य किया जाता था। सन् 1784 ई. में तेल के दीपकों के लिए एक कल्लें (Burner) का आविष्कार किया गया। उन्नीसवीं शताब्दी में गैस के लैम्पों का भी प्रचलन हो गया। सन् 1821 ई. में डेवी नामक अंग्रेज वैज्ञानिक ने एक नया Safety Lamp निकाला। सन् 1879 ई. में अमेरिका के एक व्यक्ति ने, जिसका नाम एडीसन (Edison) था, सर्व प्रथम बिजली के बल्बों का आविष्कार किया साथ ही साथ इंग्लैण्ड के वैज्ञानिक स्वान (Swan) ने भी बल्बों का आविष्कार कर लिया था। दोनों का श्रेय समान था अतएव बल्ब का नाम Ediswan रख दिया गया।

चित्र 9 एडीसन

6. कृषि-क्रान्ति– उन्नीसवीं शताब्दी में कृषि के क्षेत्र में भी बहुत कुछ उन्नति हुई जिसका कारण हम किसी सीमा तक औद्योगिक क्रान्ति को मान सकते हैं। सत्रहवीं शताब्दी तक विश्व के सभी देशों में कृषि ही लोगों के जीवन-निर्वाह का साधन था परन्तु इसमें प्राचीन काल से अब तक कोई विशेष उन्नति नहीं हुई थी। इसका मुख्य

नोट

कारण यह था कि मनुष्य प्रायः अपनी आवश्यकताओं के अनुसार अन्य उत्पादन कर लेते थे। इससे अधिक की आवश्यकता का अनुभव कभी करते ही नहीं थे। परन्तु जब औद्योगिक क्रान्ति का आरम्भ हुआ और लोग गाँवों को छोड़कर कारखानों में काम करने लगे जहाँ इनका सारा दिन व्यतीत हो जाता था तो अन्न की उपज में कमी होने लगी जबकि माँग दिन पर दिन बढ़ती जा रही थी। इन कारणों से कृषि के क्षेत्र में कई महान् परिवर्तन हुए जैसे यंत्रों का प्रयोग, नई फसलों का प्रचलन उत्तम प्रकार की रासायनिक खादों का प्रयोग तथा पशुओं की नस्ल का सुधार। Tull नामक अंग्रेज ने यह बताया कि बीज को छाँटने और फसल उत्पन्न करने में सावधानी से ध्यान दिया जाये तो उपज की मात्रा बढ़ सकती है। जार्ज प्रथम के मंत्री टाउन्सेन्ड ने अपनी भूमि में प्रयोग करके कृषकों को फसल के हेर-फेर (Rotation of crops) का सिद्धांत बताया और लोगों को चुकन्दर, गेहूँ, जौ की बारी-बारी से फसल बोने का रहस्य बताया। अच्छी खाद काम में लाने से गेहूँ की उपज प्रति एकड़ चौगुनी हो गई। बेकवेल (Bakewell) ने वैज्ञानिक सिद्धांतों पर पशुओं की नस्ल का सुधार करने का सिद्धांत सामने रखा। उसके सुन्दर और स्वस्थ पशुओं को देखने के लिए लोग दूर-दूर से आते थे। इस संबंध में एक अंग्रेज आर्थर यंग (1741-1820 ई.) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसी समय भूमि के खोदने एवं बीज बोने की मशीनों का भी आविष्कार हुआ। अब तक जमीन खोदने के लिए हल प्रयोग में लाया जाता था। उपज को काटने और अनाज से भूसा अलग करने के यंत्रों का भी आविष्कार हुआ।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त-स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. जॉन ने 1733 ई. में ..... बनाया था।
2. 1776 ई. में ..... ने म्यूल नामक एक मशीन बनाई।
3. औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव सबसे पहले ..... पर पड़ा।

14.2 यूरोप के अन्य देशों में औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution in other countries of Europe)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि औद्योगिक क्रान्ति में इंग्लैण्ड अग्रणी रहा। अन्य देशों में उसी गति से और उतनी अधिक खोजें नहीं हुईं, जितनी गति से और जितनी अधिक खोजे इंग्लैण्ड में हुईं। इस कारण इंग्लैण्ड में उद्योगों का विकास जितनी जल्दी तथा तेजी से हुआ, उतनी जल्दी तथा उतनी जल्दी से यूरोप के अन्य देशों में नहीं हुआ। यहाँ हम यूरोप के अन्य देशों में औद्योगिक क्रान्ति की प्रगति का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

1. फ्रांस– औद्योगिक क्रान्ति की दौड़ में फ्रांस पीछे रहा। जिस समय इंग्लैण्ड औद्योगिक क्रान्ति की सीढ़ियाँ चढ़ता हुआ आगे बढ़ रहा था, उस समय फ्रांस राजनैतिक क्रान्ति तथा युद्धों की कठिनाइयों से गुजर रहा था। इंग्लैण्ड और फ्रांस में शत्रुता थी, अतः औद्योगिक प्रगति के मामले में फ्रांस को इंग्लैण्ड से सहायता भी नहीं मिल सकती थी। 1815 ई. के बाद फ्रांस में शांति स्थापित हो सकी। 1830 ई. के बाद लुई फिलिप के शासन काल में फ्रांस में मशीनीकरण का युग आरम्भ हुआ। तभी इंग्लैण्ड की सहायता से वहाँ उद्योगों की प्रगति आरम्भ हुई। फ्रांस में काफी खनिज पदार्थ मिलते हैं। उनका धीरे-धीरे उपयोग होने लगा। वहाँ रेलें भी बनाई गईं। नहरों का निर्माण हुआ बड़े-बड़े नगरों की स्थापना हुई। किन्तु फ्रांस में औद्योगिक प्रगति बहुत धीरे-धीरे ही हुई।

2. बेल्जियम–बेल्जियम यूरोप का पहला देश था जिसने शीघ्रता से और द्रुत गति से औद्योगिक-क्रान्ति का अनुसरण किया। फ्रांस की राज्यक्रान्ति और नेपोलियन के युद्ध के समय तो सारा यूरोप अशान्त था किन्तु उसके बाद बेल्जियम ने तुरन्त इंग्लैण्ड की सहायता लेकर औद्योगिक क्रान्ति का लाभ उठाना शुरू कर दिया। इस काम में बेल्जियम ने

नोट

इतनी शीघ्रता से अपने देश के उद्योगों का मशीनीकरण किया कि 1870 ई. तक वह यूरोप का एक अति विकसित देश बन गया।

3. जर्मनी— यद्यपि जर्मनी में कोयला और लोहा दोनों काफी मात्रा में उपलब्ध थे, लेकिन जर्मनी में औद्योगीकरण फ्रांस से भी बाद में हुआ। नेपोलियन के युद्धों का जर्मनी पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा क्योंकि जर्मनी युद्ध-क्षेत्र बना हुआ था। इसके अतिरिक्त जर्मनी का राजनैतिक जीवन अव्यवस्थित था। अनेक छोटे-छोटे राज्य थे। जर्मनी के पास माल मंगवाने के लिए और तैयार माल को बेचने के लिए उपनिवेश भी नहीं थे। किन्तु बाद में बिस्मार्क की प्रतिभा से जब जर्मनी का एकीकरण हो गया और एक शक्तिशाली व दृढ़ शासन स्थापित हो गया तो औद्योगीकरण की ओर ध्यान दिया गया। इस कार्य में जर्मनी को इंग्लैण्ड से सहायता भी मिली। 1839 ई. में वहाँ रेलवे लाइन बन गई। सूती, ऊनी और रेशमी कपड़ों के बहुत से कारखाने खुल गए। जर्मनी में कई नवीन आविष्कार भी हुये। धातु के निर्माण में वह इंग्लैण्ड का मुकाबला करने लगा। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक तो वह इतना विकसित हो गया कि उसने इंग्लैण्ड से टक्कर ले ली।

4. रूस— सत्रहवीं शताब्दी तक रूस बिल्कुल पिछड़ा हुआ था। कृषि ही मुख्य उद्योग था। अठारहवीं शताब्दी में वहाँ के प्रबुद्ध निरंकुश शासक पीटर महान और कैथराइन के शासन काल में रूस यूरोप के विकसित देशों के प्रभाव में आया। किन्तु इसके बाद उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक रूस में किसी प्रकार के उद्योगधन्धे न खुले। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त के वर्षों में रूस के पूँजीपतियों का ध्यान उद्योगों की ओर गया किन्तु प्रगति इतनी धीमी थी कि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद तक कोई उल्लेखनीय औद्योगिक उन्नति नहीं हो पाई थी। रूस में जब वोलशेविक सरकार की स्थापना हुई तभी से वहाँ सच्चे अर्थों में औद्योगिक प्रगति आरम्भ हुई। तत्पश्चात् वहाँ कारखाने खुले। नवीन अनुसंधान हुए और शीघ्र ही रूस विश्व का एक महान औद्योगिक देश बन गया।

5. अमेरिका— अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अमेरिका स्वतंत्र हुआ। तभी से अमेरिका में कृषि और उद्योगों की उन्नति की ओर ध्यान दिया जाने लगा। सौभाग्य से अमेरिका में प्राकृतिक साधन, पूँजी, श्रम आदि सभी साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। उन्नीसवीं शताब्दी में वहाँ उद्योगों की बड़ी उन्नति हुई। व्यवसाय-व्यापार में अमेरिका कभी पीछे नहीं रहा। औद्योगिक उत्पादन और कृषि उत्पादन में वह अग्रणी रहा। शीघ्र ही अमेरिका विश्व की एक महान शक्ति बन गया।

14.3 औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव (Effects of Industrial Revolution)

वैसे औद्योगिक क्रान्ति इंग्लैण्ड में हुई किन्तु इसके प्रभाव बड़े व्यापक हुए। इस क्रान्ति ने विश्व की सभ्यता का कायाकल्प कर दिया।

1. उद्योगों तथा व्यापार में इंग्लैण्ड विश्व का अगुआ— सबसे पहले इंग्लैण्ड ही में औद्योगिक क्रान्ति हुई थी। नई मशीनें, लोहा, कोयला भाँति-भाँति के आविष्कार तथा पूँजी आदि अनेक साधन इंग्लैण्ड में मौजूद थे अत: इंग्लैण्ड शीघ्र ही उन्नति कर गया। इंग्लैण्ड में बनी हुई वस्तुओं को बेचने के लिए अमेरिका, ब्रिटिश उपनिवेश तथा यूरोप के कितने ही देश थे। ब्रिटेन को अपने उपनिवेशों तथा अमेरिका से कच्चा माल भी मिल सकता था। इस प्रकार व्यावसायिक क्रान्ति के फलस्वरूप इंग्लैण्ड यूरोप तथा विश्व का अगुआ बन गया।

2. इंग्लैण्ड की राष्ट्रीय आय में वृद्धि— औद्योगिक क्रान्ति से इंग्लैण्ड का उत्पादन और उसके फलस्वरूप उसका व्यापार-वाणिज्य बहुत बढ़ गया। सारे संसार में उसका माल बिकने लगा। खूब धन-सम्पत्ति के आने से इंग्लैण्ड की राष्ट्रीय आय बहुत बढ़ गई। इसी व्यापारिक आय और उससे प्राप्त अटूट धन के बल पर इंग्लैण्ड ने नेपोलियन से लड़ने के लिए यूरोप के देशों के चार बार संघ बनाये और इन संघों की लड़ाई का खर्च स्वयं दिया। इतना ही नहीं अमेरिका की स्वतंत्रता के बाद अमेरिका इंग्लैण्ड के हाथ से निकल गया था किन्तु औद्योगिक क्रान्ति ने अमेरिका के स्वतंत्र होने से इंग्लैण्ड की हुई क्षति को पूर्ण कर दिया।

नोट

3. इंग्लैण्ड की जनता के रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो गया– राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने से इंग्लैण्ड के निवासियों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा हो गया। उन्हें जीवन में आराम की अनेक वस्तुएँ मिलने लगीं। साधारण जनता के पास भी अपेक्षाकृत अधिक सुविधाएँ प्राप्त करने के साधन उपलब्ध हो गये।

4. पूँजीवाद का जन्म– इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति होने से पहले बड़े-बड़े भूमिपति ही समृद्ध और धनवान थे। किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप व्यापारी वर्ग अत्यधिक समृद्ध और धनवान हो गया। इस प्रकार इंग्लैण्ड में पूँजीवाद का उदय हुआ। इंग्लैण्ड के सामाजिक व राजनैतिक जीवन में इस नए पूँजीपति वर्ग का प्रभाव व प्रभुत्व बढ़ने लगा।

5. जनसंख्या में वृद्धि– देश की आबादी बढ़ गई। अठारहवीं शताब्दी के बीच में इंग्लैण्ड की जनसंख्या 70 लाख थी तथा अगले 60 वर्षों में 1 करोड़ 80 लाख हो गई। उन्नीसवीं शताब्दी के बीच में आबादी 2 करोड़ से भी ऊपर हो गई। स्वास्थय एवं चिकित्सा में उन्नति हो जाने से भी आबादी बढ़ी।

6. यातायात के साधनों में विकास– औद्योगिक क्रान्ति से पहले इंग्लैण्ड में सड़कों आदि की दशा बहुत बुरी थी। थोड़ी दूर यात्रा में भी कई दिन लग जाते थे। औद्योगिक उन्नति के कारण यातायात के साधनों का भारी विकास हुआ सड़कें, नहरें, रेले तथा भाप के जहाज बने तथा तार आदि संदेश-वाहनों का विकास हुआ। डाक की व्यवस्था भी हो गयी।

7. खेती पर प्रभाव– आविष्कारों का प्रभाव कृषि पर भी पड़ा। कृषि में मशीनों का प्रयोग होने लगा। कृषकों को अब कपड़े बुनने का काम नहीं मिलता था, अतएव वे कृषि की उपज बढ़ाने पर बाध्य हो गए। कृषि-क्रान्ति तथा औद्योगिक क्रान्ति ने एक-दूसरे को बढ़ावा दिया। खेती पर औद्योगिक क्रान्ति के निम्न प्रभाव पड़े–

***(i)* उत्पादन में वृद्धि–** नए औजारों, नई टेकनीक और अच्छे बीजों व खादों की सहायता से कृषि का उत्पादन बहुत बढ़ गया। गेहूँ और आलू के उत्पादन में आशातीत सफलता मिली। अत: अमीर-गरीब सबको पर्याप्त मात्रा में अच्छा अनाज मिलने लगा।

***(ii)* पशुओं की अच्छी दशा–** कृषि की दशा सुधरने से पशुओं की संख्या बढ़ने लगी तथा उनको अच्छा चारा मिलने लगा। पशु स्वस्थ तथा मोटे ताजे हो गए। देश में दूध-घी की मात्रा बढ़ गई। भोजन के लिए ताजा मांस मिलने लगा।

***(iii)* बैंकिंग का विकास–**भूमि के चारों तरफ बाड़े बन जाने से कृषि की दशा बदली तथा किसानों को नये प्रकार से कृषि करने के लिए धन की आवश्यकता पड़ी। उन्होंने बैंकों से रुपया उधार लेकर अपनी खेती को अच्छा बनाया। इस प्रकार बैंकों का काम बढ़ा और उनकी उन्नति हुई। व्यापार और व्यवसाय के काम में संयुक्त पूंजी वाली कम्पनियाँ (Joint Stock Companies) बनाई गईं। इन कम्पनियों से व्यापार को बहुत बढ़ावा मिला। इन कम्पनियों के कारण भी बैंक प्रणाली को प्रोत्साहन मिला।

***(iv)* समाज में परिवर्तन–** ज्यों-ज्यों भूमि बाड़ों में घिरती गई, त्यों-त्यों कम भूमि वाले किसानों की दशा बिगड़ती गई। जो किसान बेकार हो गये, उन्हें नगरों में जाकर कारखानों आदि में नौकरी करनी पड़ी। कुछ किसानों ने नगरों में जाकर छोटे पैमाने के कारखाने खोल दिये तथा पूँजीपति बन गए। कुछ गरीब किसानों को खेतों (Farms) पर मजदूरी करनी पड़ी।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. ..... के उत्तरार्द्ध में अमेरिका स्वतंत्र हुआ।

(क) अठारहवीं शताब्दी (ख) सोलहवीं शताब्दी

(ग) सत्रहवीं शताब्दी (घ) उन्नीसवीं शताब्दी

नोट

5. अठारहवीं शताब्दी के बीच में इंग्लैण्ड की जनसंख्या ..... थी।

(क) 80 लाख (ख) 70 लाख (ग) 90 लाख (घ) 50 लाख

6. ..... में कार्टराइट ने भाप की शक्ति से चलने वाली एक मशीन बनाई जिसे पावर-लूम कहा जाता था।

(क) 1585 ई. (ख) 1685 ई. (ग) 1785 ई. (घ) 1885 ई.

8. नगरों और गन्दी बस्तीयों में वृद्धि– औद्योगिक क्रान्ति से नगरों की संख्या और उनकी जनसंख्या भी बढ़ी। बहुत से नए तथा बड़े नगर बसे और बहुत से पुराने नगर तथा ग्राम लगभग उजड़ गए। ये नगर ऐसे स्थानों पर बसे, जहाँ कारखाने खोलने की सुविधाएँ थीं। बिना किसी योजना के नगर बसते और बढ़ते चले गए। कारखानों के आसपास गन्दी बस्तियाँ (Slums) बसने लगीं। इंग्लैण्ड की लगभग 80 प्रतिशत जनता ऐसे ही गन्दे नगरों में निवास करने लगी।

9. कारखानों तथा उनमें काम करने वाले मजदूरों की स्थिति– खानों के निकट अनेक कारखाने खुल गए। बहुत से किसान अपनी खेती छोड़कर कारखानों में काम करने के लिए नगरों में आ गये। बर्मिंघम, मानचेस्टर और शेफ्फील्ड जैसे बड़े-बड़े औद्योगिक नगर बस गए। इन नगरों के कारखानों में सफाई, रोशनी, मजदूरों की सुरक्षा तथा चिकित्सा आदि की कोई व्यवस्था नहीं थी। मजदूरों को दिन में 14 घण्टे और कभी-कभी रात-दिन भी काम करना पड़ता था। सबसे बड़ी बुराई यह थी कि इन कारखानों के मालिक छोटे-छोटे बच्चों तथा स्त्रियों को भी काम पर लगा लेते थे।

नए औद्योगिक नगरों के कारखानों में काम करने वाले मजदूर अपने कारखाने के आसपास गन्दे, अँधेरे तथा अस्वास्थ्यकर मकानों में रहते थे।

10. श्रम विभाजन– उद्योगों में कारखाना प्रणाली आरम्भ होने के परिणामस्वरूप मजदूरों को मशीनों पर या अन्यथा लगभग एक ही काम प्रतिदिन करना पड़ता था। इस प्रकार वे अपने काम में अधिक प्रवीण हो गए। हर मजदूर एक विशेष प्रकार के काम में दक्ष होने लगा और उससे वही काम लिया जाने लगा। यही काम का बंटवारा श्रम-विभाजन कहलाता है। श्रम-विभाजन से काम अच्छा होने लगा।

11. नये साम्राज्यवाद का उदय– यूरोप के औद्योगिक देशों ने अपने देश में बने माल को बेचने के लिए विश्व के अनेक देशों पर व्यापार प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न शुरू कर दिया। इस व्यापारिक प्रतिस्पर्धा के कारण इन देशों ने अपनी व्यापारिक कम्पनियाँ खोलीं और इन कम्पनियों की महत्त्वाकांक्षाओं के कारण अनेक संघर्ष हुए। व्यापारिक कम्पनियों द्वारा अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने के प्रयत्नों को व्यापारिक साम्राज्यवाद कहा जाता है। व्यापारिक साम्राज्यवाद ने शोषण और युद्धों को जन्म दिया।

12. खुली प्रतियोगिता का सिद्धान्त (Laissez-faire) तथा जनता की दुर्दशा– इस समय एडम स्मिथ (Adam Smith) के खुली प्रतियोगिता के सिद्धांत (Laissez faire) को ठीक माना जाता था। इस सिद्धान्त का अर्थ यह था कि कारखाने का मालिक या पूँजीपति मजदूर से उसकी मजदूरी खरीदता है तथा दोनों के बीच में जो भाव तय हो जाए वही ठीक है। पूँजीपति पर मजदूर के स्वास्थय, रहन-सहन, शिक्षा, मनोरंजन आदि का कोई भार या उत्तरदायित्व नहीं होना चाहिए। कारखानों में मशीन से किसी मजदूर के घायल हो जाने की दशा मजदूरों को किसी प्रकार की क्षतिपूर्ति नहीं मिलती थी और न उनको मजदूरी सहित कभी कोई छुट्टी या बुढ़ापे में पेन्शन इत्यादि दी जाती थी। उनकी चिकित्सा और उनके बच्चों की शिक्षा का मिल मालिकों की ओर से कोई उचित प्रबंध नहीं था।

यह सिद्धान्त जितना कठोर है, उतनी ही कठोरता से लागू किया गया। कृषि की उन्नति हो जाने से इंग्लैण्ड में इस समय सस्ते मजदूर मिलते थे। बेकारी बढ़ती जा रही थी तथा ग्रामीण उद्योग नष्ट हो रहे थे। मजदूर अपनी मजदूरी के लिये अधिक कड़ाई से सौदा नहीं कर सकता था, क्योंकि उसे बेकारी तथा भूख घेरे रहती थी। इन कारणों से पूँजीपतियों को सस्ते मजदूर सरलता से मिलते थे जिनसे वे चाहे जितनी देर तक काम लिया करते थे। बच्चों से

नोट

14 घण्टे प्रतिदिन तक भी काम लिया जाता था। उन्हें बड़े कठोर दण्ड दिये जाते थे तथा उनकी शिक्षा, मनोरंजन एवं स्वास्थ्य का कोई प्रबंध नहीं किया जाता था। स्त्रियों को मजदूरी भी कम दी जाती थी तथा उनसे उनके स्वास्थ्य का विचार किये बिना काम कराया जाता था। कोयले की खानों में तो मजदूर रात-दिन काम करते रहते थे।

टास्क 1769 ई. में आर्कराइट ने एक मशीन बनाई थी, उसे क्या कहते हैं?

अधिकतर गाँव वाले कारखानों में काम करने आते थे और वे कारखानों के समीप ही रहते थे। अतएव उनके जीवन में अब खुली हवा तथा स्वच्छन्दता न रही तथा वे गन्दे घरों और कारखानों के धुएँ से भरे मुहल्लों में रहते थे। इस कारण सामान्यत: मजदूरों का स्वास्थ्य खराब हो गया।

13. समाज का दो वर्गों में विभाजन– खुली प्रतियोगिता का सिद्धान्त लागू होने से निर्धन लोग और भी निर्धन होते गये तथा धनी पूँजीपति और भी धनवान बनते गये। समाज दो वर्गों में बंटता गया तथा दोनों वर्ग एक-दूसरे से अलग होते गये। व्यापार तथा उद्योग के क्षेत्रों में जो नवीन धनवान उत्पन्न हुए, वे शीघ्र ही पुराने भूमिपतियों के समान हो गए।

14. नवीन सिद्धान्तों की उत्पत्ति– इस प्रकार दो वर्गों पूँजीपति वर्ग तथा मजदूर वर्ग में संघर्ष होने लगा। सरकार खुली प्रतियोगिता के सिद्धान्त को मानती थी। अतएव जब मजदूरों ने मजदूर संघ (Trade Unions) बनाकर अपनी दशा सुधारने का प्रयत्न किया, तो सरकार ने भी मजदूरों को ही दबाया। परन्तु अनेक विद्वानों ने एडम स्मिथ के इस सिद्धान्त का विरोध किया तथा एक नया सिद्धान्त बना जिसे समाजवाद (Socialism) कहते हैं।

समाजवाद क्रियात्मक रूप रॉबर्ट ओवन (Robert Owen) नामक एक मिल-मालिक ने इंग्लैण्ड में प्रस्तुत किया। उसने मजदूरों के हित को ध्यान में रखते हुए अपनी मिलों को चलाया और उसके इस प्रयोग से यह पता लगा कि उसके कारखानों में अन्य कारखानों की अपेक्षा उत्पादन अधिक होता था।

15. कारखाना ऐक्ट, मजदूर संघ और समाजवाद का प्रभाव– मजदूरों के वेतन, उनके काम की अवस्था और उनके अधिकारों की रक्षा के लिए उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में कई कानून बने, मजदूर संघों का संगठन किया गया और समाजवादी विचारधारा को शक्तिशाली बनाया गया। कारखाना ऐक्ट बनाकर मजदूरों के काम के घण्टे निश्चित किये गये, छोटे-छोटे बच्चों को कारखानों में काम पर लगाने की प्रथा बन्द कर दी गई। स्त्रियों की मजदूरी और काम के घण्टे भी निर्धारित कर दिये गए। मजदूर संघ आंदोलन शक्तिशाली बना और मजदूरों के हितों के लिये इसे मालिकों से सौदेबाजी करने का हक दिया गया। समाजवाद की भावना के विकास से एक नई धारणा का विकास हुआ। समाजवादियों का कहना था कि उत्पादन के सब साधनों अर्थात् कारखानों, बैंकों, व्यापार और जमीन आदि पर समाज का कब्जा हो, पूँजीपतियों का नहीं। इनसे होने वाली आय पूँजीपतियों की जेब में न जाये बल्कि सारे समाज के कल्याण के लिए खर्च हो। मजदूरों व कर्मचारियों को अच्छा वेतन दिया जाये और उनके लिए शिक्षा, मकान, स्वास्थय आदि के कल्याणकारी काम किए जायें।

समाजवादी विचारधारा के विकास में कार्ल मार्क्स, एन्जिल और लेनिन के नाम बड़े विख्यात हैं।

16. पार्लियामेंट के प्रतिनिधित्व में सुधार का सूत्रपात– औद्योगिक क्रान्ति से कारखानों के पास बड़े-बड़े नगर खड़े हो गये तथा जनसंख्या की अदल-बदल (Shift of population) हुई। जनसंख्या कम हो गई तथा कहीं बढ़ गई। इन परिवर्तनों का फल यह हुआ कि अनेक ऐसे छोटे नगरों तथा गाँवों के सदस्य पार्लियामेंट में बैठते रहे जिनकी जनसंख्या बहुत अधिक कम हो गई थी या जो बिल्कुल निर्जन हो गये थे तथा कारखानों के आसपास बसे और नये औद्योगिक नगरों में यद्यपि बहुत काफी जनसंख्या थी किन्तु पार्लियामेंट में उनका कोई प्रतिनिधि नहीं था।

नोट

पार्लियामेंट भूमिपतियों और किसानों के प्रतिनिधियों की सभा थी। लॉर्ड्ज बड़े भूमिपति होने के कारण ही पार्लियामेंट के बड़े सदन के सदस्य होते थे। औद्योगिकीकरण ने दो नए वर्ग पैदा किये—पूँजीपति तथा मजदूर। इनके प्रतिनिधित्व के लिए पार्लियामेंट में सुधार होने आवश्यक थे।

वास्तव में, इस क्रान्ति से जीवन के हर एक क्षेत्र में बड़ी-बड़ी समस्यायें खड़ी हो गईं। इस प्रकार जो समस्याएँ उत्पन्न हुईं उन्हें अगली शताब्दी में हल करने के भारी प्रयत्न किए गए।

14.4 सारांश (Summary)

1769 ई. में जेम्सवाट ने भाप से चलने वाला इंजन बनाया। इस इंजन में कोयला जलाकर भाप तैयार की जाती थी। इन सब कमी के कारण कोयले की आवश्यकता बहुत बढ़ गई। अत: कोयले की खानों में कोयला निकालने का काम भी बड़े पैमाने पर आरम्भ हो गया।

14.5 शब्दकोश (Keywords)

1. स्वचालित (Automatic)—अपने आप चलने वाली।
2. गंदगी (Impurity)—अशुद्धि

14.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. औद्योगिक क्रान्ति से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
2. कोयला और लोहा उद्योग में औद्योगिक क्रान्ति का वर्णन कीजिए।
3. भाप का इंजन किसने और कब बनाया?
4. आवागमन के साधनों में औद्योगिक क्रान्ति का वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. फ्लाइंग शटल	2. क्रॉम्पटन	3. वस्त्र उद्योग
4. (क) अठारहवीं शताब्दी	5. (ख) 70 लाख	6. (ग) 1785 ई.

14.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
2. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
4. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
5. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
6. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
7. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*

नोट

इकाई 15 : विजय और विनियोग (Conquest and Appropriation)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

15.1 प्रथम विश्वयुद्ध के प्रमुख कारण (Prominent Causes First World War)

15.2 तात्कालिक कारण (Contemporary Causes)

15.3 प्रथम विश्वयुद्ध (महायुद्ध) के परिणाम (Effect of First World War)

15.4 सारांश (Summary)

15.5 शब्दकोश (Keywords)

15.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

15.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- प्रथम विश्वयुद्ध के कारण जानने में।
- राजनीतिज्ञों की नीतियाँ जानने में।
- प्रथम विश्वयुद्ध के परिणाम जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

अधिकतर इतिहासकार प्रथम महायुद्ध के दीर्घकालिक तथा तात्कालिक कारणों को पृथक् करते हैं। ऐसे अनेक दीर्घकालिक कारण थे जिनके फलस्वरूप यूरोप में तनाव की स्थिति पैदा हो गई थी, इन कारणों के सम्बन्ध में किसी भी एक देश अथवा वर्ग को आरोपित नहीं किया जा सकता। प्रमुख कारण इस प्रकार समझे जा सकते हैं–

15.1 प्रथम विश्वयुद्ध के प्रमुख कारण (Prominent Causes of First World War)

28 जून 1914 ई. को पिस्तौल से छूटी दो गोलियों ने कुछ ही सप्ताहों में प्रथम विश्वयुद्ध के दावानल को धधका दिया। प्रत्यक्ष रूप से प्रथम विश्वयुद्ध का कारण बोसनिया के एक छात्र द्वारा आस्ट्रिया के युवराज आर्कड्यूक फ्रांसिस फर्डीनेण्ड और उनकी पत्नी सोफिया की हत्या थी, परन्तु वह हत्या उस माचिस की तीली के समान थी जिसने अग्नि

नोट

प्रज्वलित करने का तात्कालिक कार्य किया जबकि विस्फोटक सामग्री का वह ढेर जिसमें आग लगी, एक शताब्दी से शनैः-शनैः एकत्रित हो रहा था। अतः विश्वयुद्ध के तात्कालिक कारण और उसके बाद की घटनाओं को समझने के लिए उसके मूल कारणों पर विचार करना आवश्यक है। इन मूल कारणों में मुख्य थे- राष्ट्रीयता, आर्थिक साम्राज्यवाद और गुटबन्दी। इन मुख्य कारणों के अतिरिक्त सैन्यवाद, जर्मनी के सम्राट कैसर विलियम द्वितीय के चरित्र, समाचार-पत्र, गुप्त राजनय और अन्तर्राष्ट्रीय विधि को कार्यान्वित करने वाले संगठन के अभाव आदि को भी प्रथम विश्वयुद्ध के मूल कारणों में स्वीकार किया जाता है।

(1) राष्ट्रीयता–1789 की फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति के बाद राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निर्धारक तत्व बन गया। इस तत्व ने एक महान एकताकारी शक्ति के रूप में कार्य करके महान राष्ट्रों की स्थापना में योग दिया परन्तु साथ ही यह साम्राज्यों के विघटन, राष्ट्रीय, मुक्ति युद्धों और प्रथम विश्व युद्ध का मुख्य कारण भी सिद्ध हुआ। राष्ट्रीयता की अतियशयोक्ति और उपेक्षा दोनों ही युद्ध की विस्फोटक सामग्री के जमा होने के कारण रहे हैं। राष्ट्रीय भावना की उग्रता के कारण विश्व की विभिन्न राष्ट्रीयताओं के लोगों में अपने-अपने को विश्व की सर्वश्रेष्ठ जाति मानने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई। जर्मन लोगों ने विशेष रूप से आर्य जाति की श्रेष्ठता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके अपने को विश्व की सर्वश्रेष्ठ जाति तथा अन्य जातियों का शासक होने का अधिकारी कहना प्रारम्भ कर दिया। ब्रिटेन का "श्वेत लोगों के भार" का सिद्धान्त, फ्रांसीसी लोगों का "सभ्यता प्रसार कार्य" का सिद्धान्त भी जर्मन उग्र राष्ट्रीयता सदृश थे। इसी प्रकार की उग्र राष्ट्रीयता की भावना का प्रदर्शन अन्य राष्ट्रों ने भी किया। अपने इस उग्रवादी रूप में राष्ट्रीयता को जन्म दिया तथा अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अशांति का एक प्रधान कारण बन गयी। राष्ट्रीयता का अर्थ 'केवल अपने देश से प्रेम ही नहीं अपितु सभी देशों के प्रति घृणा' समझा जाने लगा था। राष्ट्रीयता के सिद्धांत की उपेक्षा प्रथम विश्व युद्ध के मूल कारण के रूप में उसकी अतिशयोक्ति से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। 1815 में वियना सम्मेलन की व्यवस्थाओं में प्रथम विश्वयुद्ध के बीज निहित थे। इस सम्मेलन में राजनीतिज्ञों ने लोकतन्त्र और राष्ट्रीयता की घोर उपेक्षा की थी। राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की उपेक्षा करते हुए बेल्जियम को हॉलैण्ड के साथ मिला दिया, फिनलैण्ड को रूस के साथ मिला दिया, स्वीडन और नार्वे को मिला दिया, रूस के जार को पोलैण्ड का भी जार (सम्राट) मान लिया। आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य में अनेक ऐसी जातियों को साथ-साथ रहने पर विवश किया जो एक-दूसरे से घृणा करती थीं। यूरोप के दक्षिणी-पश्चिमी में स्थित बाल्कन प्रदेश में अनेक गैर तुर्की जातियों को तुर्क साम्राज्य के अधीन रहने को विवश किया। उन्होंने जर्मन और इटालियन राष्ट्रवादियों की क्रमशः समस्त जर्मन प्रदेशों और समस्त इटालियन प्रदेशों को एक-एक राष्ट्रीय राज्य के रूप में संगठित करने की इच्छा को पूरा नहीं होने दिया। राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की अवहेलना करने वाली इन समस्त व्यवस्थाओं के विरुद्ध राष्ट्रवादी आन्दोलन चलते रहे। शनैः-शनैः इनमें से अनेक व्यवस्थाएँ समाप्त हो गयीं परन्तु राष्ट्रीयता की समस्या ने सबसे अधिक तनाव और अशांति पूर्वी यूरोप के बाल्कन प्रदेश में उत्पन्न की।

नोट्स 1815 में वियना सम्मेलन की व्यवस्थाओं में प्रथम विश्वयुद्ध के बीज निहित थे।

रूस अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के उद्देश्य से बाल्कन प्रदेश के राष्ट्रवादियों को तुर्की आधिपत्य के विरुद्ध उनके संघर्ष में अत्यधिक सहयोग करता रहता था। परन्तु इंग्लैण्ड, फ्रांस और आस्ट्रिया रूस की शक्ति बढ़ने नहीं देना चाहते थे। अतः उन्होंने रूस के विरुद्ध तुर्की का समर्थन करने की नीति अपनायी। इससे बाल्कन प्रदेश अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विस्फोटक स्थल बन गया। 1912 में यूनान, सर्बिया, मोंटेनीग्रो और बल्गारिया ने बाल्कन लीग स्थापना करके तुर्की के विरुद्ध युद्ध प्रारम्भ भी किया, जो बाल्कन का प्रथम बाल्कन युद्ध कहलाता है इसमें तुर्की पराजित हुआ, मई, 1913 में लन्दन की सन्धि के द्वारा उसने कान्सटेंटिनोपल (कुस्तुनतुनिया) को छोड़कर अपने सभी यूरोपीय प्रदेश

नोट

बाल्कन लीग को दे दिए। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्र राज्य की स्थापना अल्बानिया में की गयी। परन्तु बाल्कन लीग के सदस्य तुर्की से प्राप्त प्रदेशों के बटवारे के विषय में निर्णय न कर सके। फलस्वरूप 1913 में दूसरा बाल्कन युद्ध हुआ जिसमें एक ओर बल्गारिया और दूसरी ओर रूमानिया, यूनान, सर्विया और मोंटेनीग्रो थे। बल्गारिया पराजित हुआ और उससे अनेक क्षेत्र विजेताओं ने अधिकृत कर लिए। इन युद्धों में विजय से उत्साहित होकर सर्बिया ने बोसनिया को आस्ट्रिया से पृथक् कराने के प्रयत्न और तेज कर दिये। रूस ने पुनः बाल्कन राज्यों के 'संरक्षक' की भूमिका निभानी प्रारम्भ कर दी। अब यह 'संरक्षता' तुर्की के विरुद्ध न होकर आस्ट्रिया के विरुद्ध थी आस्ट्रिया भी सर्बिया के षड्यन्त्रों से क्षुब्ध होकर उसे युद्ध में नष्ट कर देने के लिए व्यग्र हो रहा था। 28 जून, 1914 को बोसनिया के सेराजेवो नगर में एक सर्बियन अराजकतावादी छात्र ने आस्ट्रिया के युवराज फ्रांसिस फर्डीनेण्ड की हत्या कर दी। इससे आस्ट्रिया को सर्बिया के विरुद्ध युद्ध करने का बहाना मिल गया। फ्रांसिस फर्डीनेण्ड की हत्या करने वाली गोलियाँ प्रथम युद्ध की उद्घोषक बन गयीं।

(2) आर्थिक साम्राज्यवाद—प्रथम विश्वयुद्ध के मूल कारणों में विभिन्न महाशक्तियों की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं के संघर्ष को भी स्वीकार किया जाता है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी का साम्राज्यवाद औद्योगिक क्रान्ति का शिशु था। इसलिए इसको आर्थिक साम्राज्यवाद की संज्ञा दी जाती है। **एस.बी.** के अनुसार, "आर्थिक साम्राज्यवाद के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विताओं की शृंखला आती है जो एक बड़ी सीमा तक इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति और बाद में विश्व के महान देशों में उसके प्रारम्भ हो जाने से उत्पन्न हुई थी।" इसके परिणामस्वरूप इन देशों में वस्तुओं का उत्पादन बहुत बढ़ गया, जिसकी खपत के लिए उन्हें नये बाजारों की आवश्यकता अनुभव हुई। उनकी जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई जिसको बसाने के लिए वे उपनिवेशों की स्थापना करने के लिए प्रेरित हुए। उनके पास अतिरिक्त पूँजी संचित हो गयी जिसे वे विदेशों में लगाने के अवसर ढूँढ़ने लगे। उन्हें कच्चे माल की निरन्तर प्राप्ति के लिए कच्चे माल के उत्पादक प्रदेशों पर आधिपत्य स्थापित करने की आवश्यकता अनुभव हुई। इन कारणों से यूरोपीय देशों ने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अफ्रीका में बड़े-बड़े साम्राज्यों की स्थापना की। दक्षिणी-पूर्वी एशिया में ब्रिटेन, फ्रांस और हॉलैण्ड के विस्तृत साम्राज्य स्थापित हुए। चीन में यूरोपीय महाशक्तियों ने आर्थिक रियायतें और अधिकार प्राप्त कर लिए। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के प्रारम्भ तक विश्वभर में यूरोपीय शक्तियों के साम्राज्यों का जाल फैल गया। ऐसी स्थिति में जब साम्राज्यवादी बन्दरबाँट के लिए नवीन प्रदेशों की प्राप्ति कठिन हो गयी, तब साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं के वातावरण में युद्ध अनिवार्य प्रतीत होने लगे। यह स्वीकार किया जाता है कि 1880 के पश्चात् जर्मनी के तीव्र औद्योगिक विकास से इंग्लैण्ड में यह भय उत्पन्न हो गया कि जर्मनी विश्व वाणिज्य और व्यापार क्षेत्र में उससे आगे निकल जाएगा तथा उसकी इस ईर्ष्या ने दोनों देशों के मध्य युद्ध को देर-सबेर अनिवार्य बना दिया।

(3) गुप्त मैत्रियों की पद्धति-प्रोफेसर एस.बी.फे. के अनुसार, "युद्ध का सबसे बड़ा अकेला मूल कारण गुप्त मैत्रियों की पद्धति थी, जो फ्रांस और प्रशा के युद्ध के पश्चात् विकसित हुई।" इस पद्धति के कारण यूरोप दो सशस्त्र गुटों में विभाजित हो गया। ऐसी परिस्थिति में इन दो गुटों से सम्बन्धित किन्हीं भी राज्यों के युद्ध का यूरोप के सारे राज्यों के युद्ध में बदल जाना अनिवार्य हो गया। प्रथम विश्व युद्ध जिस विवाद से प्रारम्भ हुआ वह मूल रूप से आस्ट्रिया और सर्बिया के मध्य था, परन्तु गुप्त मैत्रियों की पद्धति के कारण यूरोप के सभी प्रमुख राज्य युद्ध में सम्मिलित हो गए। 1907 तक यूरोप दो विरोधी गुटों में विभाजित हो गया-एक ओर जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली त्रिराष्ट्रीय संघ (ट्रिपल एलायंस) था, दूसरी ओर फ्रांस, रूस और इंग्लैण्ड की त्रिराष्ट्रीय मैत्री (ट्रिपल इन्टेन्ट) थी। इन गुटबन्दियों के कारण बाल्कन प्रदेश में आस्ट्रिया और सर्बिया का विवाद एक गम्भीर अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न बन गया। इन सबसे 1914 तक अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण इतना तनावपूर्ण हो गया कि लार्ड ऑक्सफोर्ड के शब्दों में, "हम यह अनुभव करते थे कि हम अत्यधिक पतले बर्फ पर स्केटिंग कर रहे थे तथा यूरोप की शान्ति अदृष्ट दुर्घटनाओं के एक अध्याय की दया पर निर्भर कर रही थी।"

नोट

क्या आप जानते हैं 1907 तक यूरोप दो विरोधी गुटों में विभाजित हो गया था।

(4) सैन्यवाद– सैन्यवाद प्रथम विश्वयुद्ध का एक अन्य प्रमुख कारण था। उन्नीसवीं शताब्दी में किसी राज्य की प्रतिष्ठा उसकी सैनिक शक्ति के आधर पर आँकी जाने लगी थी। राज्यों के मध्य सेना और शस्त्रास्त्रों को बढ़ाने की होड़ लगने लगी। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में शस्त्रास्त्रों की यह होड़, विशेष रूप से इंग्लैण्ड और जर्मनी की नौसैनिक प्रतियोगिता, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को विषाक्त करने वाला एक प्रधान तत्व बन गयी। इससे प्रत्येक देश में सैनिक और नौसैनिक अधिकारियों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया जो अत्यन्त प्रभावशाली था और युद्ध की अनिवार्यता में विश्वास रखता था। जर्मनी की जनता का युद्ध की श्रेष्ठता में विश्वास था। मिराब्यू के शब्दों में, "युद्ध प्रशा का राष्ट्रीय उद्योग है।" ऐसे वातावरण में युद्ध को टालना सम्भव नहीं हो सका और युद्ध अवश्यंभावी हो गया।

(5) राजनीतिज्ञों की नीतियाँ– प्रथम विश्वयुद्ध के लिए रूस, फ्रांस, सर्बिया, जर्मनी, आस्ट्रिया और इंग्लैण्ड के राजनीतिज्ञ भी उत्तरदायी थे। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही यूरोप के लगभग सभी राज्यों के कर्णधार इस पूर्व धारणा के आधार पर अपनी नीतियों का निर्धारण कर रहे थे कि देर-सबेर युद्ध अवश्य होगा। उन्होंने ऐसी स्थिति का सामना करने को तैयार होने के लिए सैन्यवादी नीति अपनायी। सैनिक आवश्यकताओं के कारण प्रत्येक देश के राजनीतिक और सैनिक नेताओं ने कुछ ऐसी बातें कीं, धमकियों और चेतावनियों की ऐसी भाषा का प्रयोग किया जिनका परिणाम लामबन्दियों और युद्ध की घोषणाओं के रूप में सामने आया।

(6) गुप्त राजनय– गुप्त राजनय को भी प्रथम विश्व युद्ध के मूल कारणों में स्वीकार किया जाता है। विभिन्न देशों के राजनीतिज्ञों ने परस्पर गुप्त समझौते करके ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दीं जिनसे एक ओर तो भ्रान्तिपूर्ण आशाएँ उत्पन्न हो गयीं और दूसरी ओर अनावश्यक आशंकाएँ। इन आशाओं और आशंकाओं ने युद्ध के लिए अत्यन्त उपजाऊ पृष्ठभूमि तैयार कर दी।

(7) प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का अभाव–नेपोलियन बोनापार्ट की पराजय के बाद से यूरोप के राजनीतिज्ञ इस बात को गम्भीरता से अनुभव कर रहे थे कि भविष्य में व्यापक युद्ध को रोकने के लिए किसी प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का होना आवश्यक है। यूरोपीय सहयोग (कन्सर्ट ऑफ यूरोप) नामक संस्था इसी अनुभूति का परिणाम थी। यूरोपीय सहयोग का तात्पर्य यह था कि जब भी कोई ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न हो जो शान्ति के भंग होने की आशंका उत्पन्न कर दे, तब यूरोप की महाशक्तियाँ एक सम्मेलन में एकत्रित होकर उसका समाधान खोजें। प्रोफेसर मोबात के अनुसार, यह संस्था 1871 और 1914 के मध्य महान् यूरोपीय युद्धों को बचाने में सफल हुई थी परन्तु यह संस्था किसी संवैधानिक आधार पर स्थापित नहीं की गयी थी, तथा उसकी सफलता महाशक्तियों के प्रबुद्ध स्वार्थ पर आधारित थी। स्थायी शान्ति की स्थापना के लिए यह व्यवस्था सन्तोषजनक नहीं थी। उसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय विधि और नैतिकता की एक मान्य संहिता तथा उनको कार्यान्वित करने के लिए एक प्रभावशाली यन्त्र की आवश्यकता थी। 1899 और 1907 के हेग सम्मेलनों में इन प्रकार की संहिता की रचना की दिशा में काफी प्रगति की गयी परन्तु उसको कार्यान्वित करने के लिए किसी प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना नहीं की जा सकी। प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का यह अभाव प्रथम विश्व युद्ध का एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

(8) समाचार-पत्रों द्वारा लोकमत को विषाक्त बनाना–समाचार पत्रों के द्वारा लगभग सभी देशों में लोकमत को विषाक्त बना देना भी प्रथम विश्वयुद्ध का एक मूल कारण था। प्रथम विश्व युद्ध से पहले के 40 वर्षों के कूटनीतिक पत्र-व्यवहार में इस बात के अनेकानेक उदाहरण प्राप्त होते हैं जब सरकारें मधुरतर सम्बन्धों और मैत्रीपूर्ण व्यवस्थाओं की स्थापना के लिए उत्सुक थीं, परन्तु अपने-अपने देशों के समाचारपत्रों के उद्धत राष्ट्रवादी प्रचार के कारण ऐसा करने में सफल नहीं हो सकीं। समाचारपत्रों ने अपने-अपने देशों में दूसरे देशों के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण लोकमत का निर्माण करके युद्ध को देर-सबेर अनिवार्य कर दिया।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. ..... की फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति के बाद राष्ट्रीयता अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण निर्धारक तत्व बन गया।
2. ..... में वियना सम्मेलन की व्यवस्थाओं में प्रथम विश्वयुद्ध के बीज निहित थे।
3. ..... तक यूरोप दो विरोधी गुटों में विभाजित हो गया था।

15.2 तात्कालिक कारण (Contemporary Causes)

प्रथम विश्वयुद्ध का तात्कालिक कारण आस्ट्रिया और सर्बिया की प्रतिद्वन्द्विता थी। सर्बिया में स्लाव जाति का बाहुल्य था। आस्ट्रिया के कुछ भागों में, विशेष रूप से बोसनिया और हर्जोगोविना में भी अधिकांश जनता स्लाव जाति की थी। सर्बिया और इन प्रदेशों के कुछ स्लाव नेता इन प्रदेशों को सर्बिया के साथ मिलाना चाहते थे। परन्तु आस्ट्रिया एक बहुजातीय राज्य था तथा उसके कर्णधारों को इस प्रकार के पृथकतावादी आन्दोलनों में उसके विघटन की सम्भावना प्रतीत होती थी। वे प्रत्येक कीमत पर इस आन्दोलन कर दमन करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे। स्लाव आतंकवादयों ने आस्ट्रिया को आतंकित करने के लिए "काला हाथ" (ब्लैक हैंड) का संगठन किया था। इस संगठन ने आस्ट्रिया के युवराज फ्रांसिस फर्डीनेन्ड की हत्या की योजना बनायी। 28 जून, 1914 को बोसनिया की राजधानी सेराजेवो में एक स्लाव छात्र ने फ्रांसिस फर्डीनेण्ड और उनकी पत्नी सोफिया की गोली मारकर हत्या कर दी। इस हत्याकांड ने आस्ट्रिया को क्रुद्ध कर दिया। आस्ट्रिया के विदेशमंत्री बर्खटोल्ड और प्रधान सेनापति कोन्टराड सर्बिया पर आक्रमण करने के लिए कटिबद्ध हो गए। 6 जुलाई, 1914 को आस्ट्रिया को जर्मनी से एक पत्र प्राप्त हुआ जिसमें जर्मनी ने आस्ट्रिया की सहायता करने का आश्वासन दिया था। इस परिस्थिति में 20 जुलाई, 1914 को आस्ट्रिया ने सर्बिया को 48 घण्टे की चेतावनी (अल्टीमेटम) देते हुए उससे कुछ शर्तों को स्वीकार करने का आग्रह किया। ये प्रमुख शर्तें थीं–

(1) आस्ट्रिया विरोधी सम्पूर्ण प्रचार सर्बिया तत्काल बन्द कर दे।

(2) "काला हाथ" संगठन समाप्त कर दिया जाये।

(3) कुछ ऐसे सर्बियन अधिकारियों को गिरफ्तार करके उन पर मुकदमा चलाया जाये जिन पर हत्या में सहयोग देने का सन्देह था।

(4) आस्ट्रिया के अधिकारियों को हत्या के अभियुक्तों के मुकदमे में 'सर्बिया में जाकर सहयोग' करने की अनुमति दी जाये।

सर्बिया सम्भवत: इन शर्तों को स्वीकार कर लेता, परन्तु उसी समय उसे रूस के द्वारा एक पत्र में यह आश्वासन प्राप्त हुआ कि, "रूस किसी भी स्थिति में सर्बिया के विरुद्ध आस्ट्रिया के आक्रमण को स्वीकार नहीं करेगा।" इससे प्रोत्साहित होकर सर्बिया ने आस्ट्रिया की अन्तिम शर्त को, जो किसी भी स्वतन्त्र राष्ट्र के लिए अपमानजनक प्रतीत होती थी, अस्वीकार कर दिया। अत: 28 जुलाई, 1914 को आस्ट्रिया ने सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

आस्ट्रिया के द्वारा युद्ध की घोषणा ने जर्मनी को अत्यन्त दुविधापूर्ण स्थिति में डाल दिया। वह युद्ध को स्थानीय बनाना चाहता था, परन्तु अन्य महाशक्तियों के युद्ध में भाग लेने की अवस्था में जर्मनी की सफलता श्लीफेन योजना पर निर्भर करती थी। फ्रांस और रूस दोनों सर्बिया के मित्र थे। श्लीफेन योजना की मुख्य बात यह थी कि जर्मनी को फ्रांस और रूस दोनों से एक साथ युद्ध करना पड़ता है, तो वह जनशक्ति की दृष्टि से दुर्बल होगा। इसी समय 30

नोट

जुलाई, 1914 को रूस ने सामान्य लामबन्दी का आदेश दे दिया। इस पर जर्मनी ने युद्ध की धमकी के साथ रूस को 12 घण्टे के अन्दर लामबन्दी बन्द करने की चेतावनी दी। रूस निर्धारित समय के अन्दर कोई उत्तर न दे सका। इस पर जर्मनी ने 1 अगस्त, 1914 को सर्बिया और रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार रूस के द्वारा जल्दबाजी में की गई लामबन्दी ने अन्ततः यूरोपीय युद्ध को अनिवार्य बना दिया। श्लीफेन योजना के अनुसार जर्मनी को रूस से भिड़ने से पहले बेल्जियम से होकर फ्रांस पर आक्रमण करके 6 सप्ताह के अन्दर पेरिस पर अधिकार कर लेना था और उसके बाद रूस का मुकाबला करना था। अतः उसने 3 अगस्त, 1914 को फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

इंग्लैण्ड फ्रांस की सहायता करने के लिए गुप्त रूप से वचनबद्ध था परन्तु ब्रिटिश जनता एक बाल्कन समस्या को लेकर युद्ध करने के विरुद्ध थी। परन्तु अपनी सैनिक आवश्यकताओं के कारण जर्मनी ने बेल्जियम की तटस्थता का उल्लंघन करते हुए उस पर आक्रमण कर दिया। इंग्लैण्ड बेल्जियम की तटस्थता की रक्षा का आश्वासन दे चुका था। अतः बेल्जियम पर जर्मनी के आक्रमण ने ब्रिटिश जनता को जर्मनी के विरुद्ध कर दिया। ब्रिटिश सरकार ने 4 अगस्त, 1914 को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार जैसा कि डी.एम. केटलवी का मत है, "अन्ततः यूरोप युद्धाग्नि में घिर गया।"

युद्ध और उसकी प्रगति तथा युद्ध की समाप्तिः

4 अगस्त, 1914 में प्रारम्भ हुआ यह युद्ध 11 नवम्बर, 1918 को समाप्त हुआ। अपनी विशालता, विस्तार, प्रकृति, कार्य-क्षेत्र और तकनीक में इस महान युद्ध ने मानव इतिहास के सभी ज्ञात युद्धों को पीछे छोड़ दिया। इस युद्ध में छः यूरोपीय देशों (जर्मनी, आस्ट्रिया एक ओर तथा सर्बिया, रूस, फ्रांस, इंग्लैण्ड दूसरी ओर) के अतिरिक्त शनैः-शनैः विश्व के अधिकांश देश इस युद्ध में सम्मिलित होते चले गये। इससे यह युद्ध एक यूरोपीय युद्ध मात्र न रहकर विश्व के इतिहास का प्रथम विश्वयुद्ध बन गया। यह युद्ध पुराने युद्धों की तरह केवल सैनिकों का युद्ध नहीं था, अपितु एक ऐसा युद्ध था जिसमें प्रतिपक्षों ने एक-दूसरे के सैन्यबल को ही नहीं अपितु अर्थव्यवस्था को भी क्षति पहुँचाने की पूर्ण चेष्टा की थी। इस युद्ध में नये-नये साधनों, नयी-नयी तकनीकों और नये-नये शस्त्रों का प्रयोग किया गया था। इस युद्ध में धन और जन की अपार क्षति हुई थी। इस युद्ध में मृतक सैनिकों की संख्या 100 लाख, मृतक मान लिये गये लापता सैनिकों की संख्या तीस लाख, मृतक असैनिक 130 लाख, घायल 200 लाख, बन्दी 30 लाख, युद्ध अनाथ 90 लाख, युद्ध विधवायें 50 लाख, शरणार्थी 100 लाख थे।

इस युद्ध में नवम्बर 1914 में तुर्की और अक्टूबर 1915 में बल्गारिया केन्द्रीय शक्तियों (जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी) के साथ युद्ध में सम्मिलित हो गया। इटली मित्र राष्ट्रों (इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस आदि) के पक्ष में मई, 1915 में युद्ध में सम्मिलित हुआ। जर्मनी ने मित्र राष्ट्रों, विशेषतः इंग्लैण्ड के समुद्री व्यापार को नष्ट करने का प्रयत्न किया। 1917 के प्रारम्भ में दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनायें हुईं जिनका प्रथम विश्वयुद्ध की प्रगति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर गहरा प्रभाव पड़ा। इनमें से पहली घटना थी 15 मार्च, 1917 को रूसी क्रान्ति के कारण रूसी सेनायें युद्ध में कोई प्रभावशाली भाग लेने में सर्वथा असमर्थ हो गयीं। साम्यवादी सरकार (रूस) ने जर्मनी के साथ युद्ध-विराम कर लिया। 14 मार्च, 1918 को ब्रेस्ट लिटोवस्क की सन्धि के द्वारा रूस अन्तिम रूप से युद्ध से पृथक् हो गया।

1917 की दूसरी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी–संयुक्त राज्य अमेरिका का 6 अप्रैल, 1917 को मित्र-राष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित होना। 1914 में युद्ध छिड़ने के बाद अमेरिका ने पूर्ण तटस्थता की नीति अपनायी थी। परन्तु जर्मनी द्वारा प्रारम्भ पनडुब्बी युद्ध ने अमेरिका को क्रुद्ध कर दिया। जर्मनी ने चेतावनी दी थी कि इंग्लैण्ड के पास के समुद्र तट में वह तटस्थ राष्ट्रों के जहाजों को डुबो देगा, इससे अमेरिका में उत्तेजना छा गयी और उसे जर्मनी के विरुद्ध युद्ध के लिए प्रेरित होना पड़ा। इसके अतिरिक्त अमेरिकन ऋण जो मित्र राष्ट्रों को दिया गया था, उसकी अदायगी की समस्या थी। यदि मित्र राष्ट्र पराजित हो जाते तो अमेरिकन ऋण डूब जाता अतः अमेरिका ने मित्र राष्ट्रों के पक्ष में युद्ध में सम्मिलित होने का प्रयत्न किया। शक्ति संतुलन का सिद्धान्त एक अन्य पहलू था, अमेरिका का

नोट

मित्र राष्ट्रों के पक्ष में युद्ध में सम्मिलित होने का। अमेरिका का युद्ध में सम्मिलित होना प्रथम विश्व युद्ध की सबसे अधिक निर्णयात्मक घटना थी। इससे मित्र राष्ट्रों का पक्ष धन, जन और सैनिक शक्ति सभी दृष्टियों से केन्द्रीय शक्तियों की तुलना में इतना अधिक शक्तिशाली हो गया कि उसकी विजय निश्चित थी। सितम्बर, 1918 में बल्गारिया ने, अक्टूबर 1918 में तुर्की ने आत्मसमर्पण कर दिया। 3 नवम्बर, 1918 को आस्ट्रिया-हंगरी भी युद्ध से पृथक् हो गया, 4 नवम्बर, 1918 को जर्मनी की नौसेना ने विद्रोह कर दिया। जर्मनी में एक क्रान्ति हुई। कैसर विलियम द्वितीय ने राजसिंहासन त्याग दिया। जर्मन सरकार ने मित्र राष्ट्रों से युद्ध-विराम की प्रार्थना की और फिर 11 नवम्बर, 1918 को ठीक 11 बजे समस्त रणक्षेत्रों में युद्ध-विराम की घोषणा कर दी गयी। प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हो गया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. ..... के युद्ध में सम्मिलित होना प्रथम विश्वयुद्ध की सबसे अधिक निर्णायक घटना थी।
   (क) अमेरिका (ख) जर्मनी (ग) आस्ट्रिया (घ) रूस
5. ..... को ठीक 11 बजे समस्त रणक्षेत्रों में युद्ध-विराम की घोषणा कर दी गई।
   (क) 11 अगस्त, 1918 (ख) 11 नवंबर, 1918
   (ग) 11 जनवरी, 1918 (घ) 11 जुलाई, 1918
6. ..... को जर्मनी ने सर्बिया और रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी।
   (क) 1 अगस्त, 1914 (ख) 1 जुलाई, 1914
   (ग) 1 अक्टूबर, 1914 (घ) 1 दिसंबर, 1914

15.3 प्रथम विश्वयुद्ध (महायुद्ध) के परिणाम (Effect of First World War)

इस युद्ध का सर्वाधिक प्रत्यक्ष राजनीतिक परिणाम यह हुआ कि तीन साम्राज्य जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी और रूस समाप्त हो गये। सम्पूर्ण विश्व में राजतंत्रों के विरुद्ध जन-मानस आंदोलित हो उठा। युद्ध में मित्र-राष्ट्र विजयी हुये थे जिनमें गणतन्त्रों की प्रधानता थी। युद्ध में प्रजातंत्र की रक्षा का नारा दिया गया था अब उसे नैतिक बल प्राप्त हुआ। परन्तु पश्चिमी प्रजातंत्रों ने अपने उपनिवेश स्वतंत्र नहीं किये, इससे उनका खोखलापन अर्थात् दुरंगी नीति स्पष्ट हुई उनका शोषकस्वरूप स्थापित रहा। प्रजातंत्रों की अराजकता से ही युद्ध के बाद के दिनों में इटली में फासिज्म और जर्मनी में नाज़ीवाद का उद्‌भव और विकास हुआ। युद्ध के दौरान राष्ट्रवादिता के सिद्धान्त का दोनों ही पक्षों ने समर्थन करने की घोषणा की थी परन्तु इस सिद्धान्त को यूरोप के बाहर लागू करने से इन विजेताओं ने इन्कार कर दिया। इस प्रकार पश्चिमी देशों का प्रजातांत्रिक चेहरा बेनकाब हो गया और सम्पूर्ण एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमरीका में राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों का आंदोलन प्रस्फुटित होने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति अब यूरोप के देशों के वैदेशिक सम्बन्धों तक ही सीमित नहीं रह गई। अब विश्व के उन देशों को भी विश्व राजनीति में महत्त्व प्राप्त होने लगा जिन्हें उपेक्षित समझा जाता था।

संयुक्त राज्य अमेरिका की वास्तविक शक्ति का उद्‌घाटन हुआ और अब उसे विश्व की प्रथम दर्जे की शक्ति स्वीकार किया जाने लगा। प्रथम महायुद्ध के पश्चात उसकी विश्वव्यापी भूमिका बनी रही। हार्डी के अनुसार यूरोपीय व्यवस्था के स्थान पर एक विश्वव्यापी व्यवस्था अनिवार्य हो गई। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन था युद्ध के दौरान रूस में हुई क्रान्ति से एक सर्वथा नवीन आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक प्रणाली की स्थापना। रूसी समाजवादी व्यवस्था ने

नोट

पहली बार समाज में आमूल परिवर्तन से शोषण पर आधारित समाज को समाप्त कर दिया। शनैः-शनैः विश्व में समाजवादी आंदोलन विकसित होने लगा। विश्व की राजनीति में पूँजीवादी-साम्राज्यवादी शक्तियों का एकाधिकार समाप्त हो गया। विश्व के शोषित, प्रताड़ित देशों में आशा की एक नवीन किरण उत्पन्न हो गई। सम्पूर्ण विश्व में जन आंदोलनों का विस्तार हुआ।

टास्क फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति कब हुई थी?

युद्ध-काल में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का महत्त्व स्पष्ट हुआ। इसीलिए व्यापक स्तर पर सहयोग का सूत्रपात हुआ और अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन की प्रेरणा और पहले से राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई। छोटे स्तर पर परस्पर सहयोग का महत्त्व दिया जाने लगा और गुप्त सन्धियों की नीति के घातक परिणामों के कारण 'खुली कूटनीति' का प्रारम्भ दृष्टिगत हुआ। युद्धकाल में बढ़ते औद्योगीकरण से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि हुई थी। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग राजनीति से भी अधिक यथार्थवादी आधार पर आर्थिक क्षेत्र में प्रारम्भ हुआ। व्यवसाय अब अनिवार्यतः अन्तर्राष्ट्रीय हो गया। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग और नीति निर्धारण के तत्व प्रत्येक राष्ट्र की विदेश नीति के आधारभूत सिद्धान्त बन गये।

श्रमिक वर्ग की स्थिति पर भी प्रथम विश्व युद्ध का क्रान्तिकारी प्रभाव दृष्टिगत हुआ। युद्धकाल में उत्पादन बहुत तेजी से बढ़ा था। इसलिए मजदूरों की संख्या के साथ उनकी शक्ति भी बढ़ने लगी। रूस में 'मजदूरों का राज्य' स्थापित हो जाने के बाद अब अन्य देशों के मजदूर शान्त नहीं रह सकते थे। उनका आंदोलन आक्रामक होने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का महत्त्व बढ़ने लगा। मजदूरी श्रम के लिए अनुकूल स्थितियाँ, बीमा, सुरक्षा आदि क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण सुधार हुए।

मजदूरों की तरह युवा आंदोलनों को भी बल प्राप्त हुआ। समस्त विश्व में युवा और विद्यार्थी अब सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में सक्रिय भाग लेने लगे। युद्धकाल की आवश्यकताओं और विवशताओं ने नारी को रसोई से निकालकर कल-कारखानों और कार्यालयों में काम करने के लिए प्रेरित कर दिया। इससे नारी-स्वतन्त्रता आंदोलन को बल प्राप्त हुआ। शनैः-शनैः नारियों को राजनीतिक अधिकार मिलने लगे और उसे पुरुषों के बराबर स्थान मिलने लगा।

सांस्कृतिक जगत में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन दृष्टिगत हुए। शिक्षा का स्वरूप परिवर्तित होने लगा। साहित्य में नवीन धारा प्रवाहित हुई। छोटे नाटकों और कहानियों को बड़े उपन्यासों और नाटकों के स्थान पर अधिक पढ़ा जाने लगा। चिन्तन की मूलधारा युद्ध और हिंसा के विरोध में समाजवादी और मानवतावादी हो गई। राष्ट्रवादी विचार पनपने लगे। इस प्रकार प्रथम विश्वयुद्ध के बड़े ही महत्त्वपूर्ण परिणाम सभी क्षेत्रों में दृष्टिगत हुये।

15.4 सारांश (Summary)

प्रथम विश्युद्ध के लिए रूस, फ्रांस, सर्बिया, जर्मनी, आस्ट्रिया और इंग्लैण्ड के राजनीतिज्ञ भी उत्तरदायी थे। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही यूरोप के लगभग सभी राज्यों के कर्णधार इस पूर्व धारणा के आधार पर अपनी नीतियों का निर्धारण कर रहे थे कि देर-सबेर युद्ध अवश्य होगा। उन्होंने ऐसी स्थिति का सामना करने को तैयार होने के लिए सैन्यवादी नीति अपनायी। सैनिक आवश्यकताओं के कारण प्रत्येक देश के राजनीतिक और सैनिक नेताओं ने कुछ ऐसी बातें कीं, धमकियों और चेतावनियों की ऐसी भाषा का प्रयोग किया जिनका परिणाम लामबन्दियों और युद्ध की घोषणाओं के रूप में सामने आया।

नोट

15.5 शब्दकोश (Keywords)

1. तात्कालिक (Contemporary)–समकालीन।
2. लोकतंत्र (Democracy)–जनतंत्र

15.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. प्रथम विश्वयुद्ध के प्रमुख कारण बताइए।
2. आर्थिक साम्राज्यवाद से आप क्या समझते हैं? स्पष्ट कीजिए।
3. प्रथम विश्वयुद्ध के तात्कालिक कारण बताइए।
4. प्रथम विश्वयुद्ध के परिणामों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. 1789
2. 1815
3. 1907
4. (क) अमेरिका
5. (ख) 11 नवंबर, 1918
6. (क) 1 अगस्त, 1914

15.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
2. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
4. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
5. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
6. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
7. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*

नोट

इकाई 16 : प्रव्रजन और समझौता
(Migrations and Settlements)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

16.1 शान्ति-समझौता (Peace Settlement)

16.2 यूरोपीय समझौता (The European Settlement)

16.3 निकट-पूर्व और अफ्रीका (The Near East and Africa)

16.4 अमेरिका और सुदूर-पूर्व (America and The Far East)

16.5 पेरिस का शान्ति सम्मेलन (Peace Settlement of Paris)

16.6 पेरिस शान्ति सम्मेलन की कार्य पद्धति तथा सम्मेलन के कर्णधारों के परस्पर विरोधी व्यक्तित्व (Procedure of Paris-Peace Settlement and Opposing Personality between each other Steersman of Conference)

16.7 पेरिस सम्मेलन की सन्धियाँ (शान्ति समझौता) [Treaties of Paris Conference (Peace Settlement)]

16.8 वर्साय की सन्धि (Treaty of Versai)

16.9 सेंट जर्मेन की सन्धि (Treaty of St. Germain)

16.10 न्यूली की सन्धि (Treaty of Neuilly)

16.11 त्रिआनों की सन्धि (Treaty of Trianon)

16.12 सेव्र की सन्धि (Treaty of Sevres)

16.13 लोसाने की सन्धि (Treaty of Lawsanne)

16.14 अल्पसंख्यक सन्धियाँ (Treaties of Minorities)

16.15 विल्सन के चौदह सूत्र (8 जनवरी, 1918) [14 Formulae of Wilson, (8 January,1918)]

16.16 चार सिद्धांत (11 फरवरी, 1918) (Four Principles, 11 February 1917)

16.17 वर्साय सन्धि की समीक्षा (Review of Versai Treaty)

16.18 वर्साय सन्धि का औचित्य (Appropriateness of Versai Treaty)

नोट

16.19 वर्साय की सन्धि की विफलता और द्वितीय विश्वयुद्ध (Defeat of Versai Treaty and IInd World War)

16.20 सारांश (Summary)

16.21 शब्दकोश (Keywords)

16.22 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

16.23 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- शान्ति समझौते को जानने में।
- यूरोपीय समझौते को जानने में।
- वाशिंगटन समझौते के परिणामस्वरूप हुई तीन संधियों को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

वर्साय की सन्धि में कुछ विशेषताएँ थीं जिन्होंने इस सन्धि के परवर्ती इतिहास को बहुत प्रभावित किया।

एक तो यह सन्धि जर्मन प्रचारकों के सुपरिचित शब्दों में "आदिष्ट सन्धि" थी। वह विजेताओं द्वारा विजितों पर लादी गई तथा आदान-प्रदान की प्रक्रिया के आधार पर परस्पर बातचीत द्वारा तय नहीं थी। वैसे तो युद्ध समाप्त करने वाली लगभग प्रत्येक सन्धि ही, एक सीमा तक, आरोपित शान्ति स्थापित करने वाली सन्धि होती है क्योंकि एक पराजित राज्य अपनी पराजय के परिणामों को कभी स्वेच्छा से स्वीकार नहीं करता। किन्तु वर्साय की सन्धि में आरोपण की मात्रा आधुनिक युग की किसी भी पिछली शान्ति-सन्धि की अपेक्षा अधिक स्पष्ट थी।

16.1 शान्ति-समझौता (Peace Settlement)

प्रथम विश्वयुद्ध की अवधि चार वर्ष तथा तीन महीनों से कुछ अधिक ही थी–28 जुलाई, 1914 से जब सर्बिया (Serbia) के विरुद्ध ऑस्ट्रिया-हंगरी ने युद्ध की घोषणा की, 11 नवम्बर, 1918 तक जब मित्र-राष्ट्रों ने जर्मनी से युद्ध-विराम किया। युद्ध-विराम के बाद सामान्य शान्ति-समझौता सम्पन्न होने में पाँच वर्ष और लग गए।

मित्र और साथी राष्ट्रों (Allied and Associated Powers) ने 1919 में जर्मनी से वर्साय (Versailles) की सन्धि (28 जून), ऑस्ट्रिया से सेन्ट जर्मेन (St. Germain) की सन्धि (10 सितम्बर), बल्गारिया से न्यूइली (Neuilly) की सन्धि (27 नवम्बर) तथा 1920 में हंगरी से त्रिआनों (Trianon) की सन्धि (4 जून) की, किन्तु तुर्की के साथ अन्तिम शान्ति-सन्धि पर 23 जुलाई, 1923 को जाकर कहीं लौसाँ (Lausanne) में हस्ताक्षर हो सके। यह सन्धि 6 अगस्त, 1924 को अमल में आई और उसके बाद ही अन्त में सारे संसार में पुन: विधिवत् शान्ति स्थापित हो सकी। इस बीच प्रशान्त महासागर में हित रखने वाले राष्ट्र 1921-22 के शीतकाल में वाशिंगटन में एक सम्मेलन करके कई सन्धियाँ कर चुके थे जिनका उद्देश्य सुदूर-पूर्व (Far East) में युद्ध से पूर्व की स्थिति को दृढ़ आधार पर स्थापित करना था। इन सभी सन्धियों और इनके कारण की गई अनेक छोटी-मोटी सन्धियों और इकरारनामों को शान्ति-समझौता कहा जा सकता है। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध के बीच के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप की प्राय: प्रत्येक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटना प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस समझौते का ही परिणाम थी; इसलिए यह

आवश्यक है कि हम अपना अध्ययन उसकी मुख्य-मुख्य विशेषताओं पर एक संक्षिप्त दृष्टिपात करते हुए प्रारम्भ करें।

नोट

नोट्स राष्ट्र संघ का प्रमुख उद्देश्य शांति बनाए रखना है।

16.2 यूरोपीय समझौता (The European Settlement)

वर्साय में जर्मन प्रतिनिधिमण्डल को सन्धि के प्रारूप पर लिखित आलोचना करने का केवल एक ही अवसर दिया गया था। उसकी कुछ आलोचनाओं पर ध्यान भी दिया गया, किन्तु संशोधित सन्धि उसको इस धमकी के साथ सौंपी गई थी कि यदि उस पर पाँच दिन के अन्दर हस्ताक्षर नहीं किये गये, तो युद्ध पुनः प्रारम्भ कर दिया जायेगा। जर्मन प्रतिनिधिमण्डल का कोई भी सदस्य प्रारूप दिये जाने और सन्धि पर हस्ताक्षर किये जाने के दो औपचारिक अवसरों को छोड़ और किसी भी समय मित्र-राष्ट्रों के प्रतिनिधियों से आमने-सामने नहीं मिला। इन अवसरों पर भी साधारण शिष्टाचार का पालन नहीं किया गया। जर्मनी की ओर से हस्ताक्षर करने वाले दोनों ही प्रतिनिधियों को हस्ताक्षर-विधि के समय मित्र-राष्ट्रों के प्रतिनिधियों की बराबरी से नहीं बैठाया गया, अपितु इसके विपरीत, उन्हें पहरे में अपराधियों की भाँति हॉल के भीतर और बाहर लाया-लेजाया गया। इन अनावश्यक अपमानों के, जिनका कारण केवल युद्ध-काल की अवशिष्ट तीव्र कटुता ही हो सकती थी, जर्मनी में व अन्यत्र दूरगामी मनोवैज्ञानिक परिणाम हुए। उन्हीं के कारण "आदिष्ट शान्ति" की धारणा जर्मन लोगों के मन में घर कर गई और जर्मनों में सर्वत्र यह विश्वास व्यापक रूप में फैल गया कि उपर्युक्त परिस्थितियों में जर्मनी से कराये गये हस्ताक्षर उस पर नैतिक दृष्टि से बन्धनकारी नहीं हैं। अन्य देशों में भी अधिकांश लोग ऐसा ही मानते थे।

दूसरे, वर्साय की सन्धि पिछली किसी भी शान्ति-सन्धि से इस बात में भिन्न थी कि वह युद्ध के समय घोषित कुछ सामान्य सिद्धान्तों पर आधारित की गई थी जिनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन के चौदह सूत्र थे जिन्हें जर्मनी ने विराम-सन्धि से पहले ही समझौते के आधार के रूप में स्वीकार कर लिया था। मुख्यतः विल्सन के इन सिद्धान्तों पर दृढ़ आग्रह के कारण ही इस सन्धि की नींव विशुद्ध आदर्शवाद पर रखी गई थी। इस सन्धि में निम्नलिखित संस्थाओं की स्थापना की व्यवस्था की गई थी– राष्ट्र-संघ (League of Nations) जिसका प्रमुख उद्देश्य शान्ति बनाये रखना था; अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (International Labour Organisation) जिसका कार्य श्रमिकों की स्थिति का नियमन करना था, और जर्मनी द्वारा समर्पित किये जाने वाले उपनिवेशों के लिए शासन की एक प्रादेशात्मक पद्धति (Mandatory System of Government)। 1919 के बाद ये संस्थाएँ नयी विश्व-व्यवस्था की नियमित और आवश्यक अंग बन गईं। किन्तु सन्धिकर्ताओं द्वारा विजेता-राष्ट्रों की तात्कालिक आवश्यकताओं के साथ आदर्शवाद का मेल बैठाने के प्रयत्न के अन्य परिणाम इतने शुभ नहीं रहे। सन्धि के कुछ भागों की मूल चौदह सूत्रों के साथ तुलना कर उन्हें बदनाम करना आलोचकों के लिए कठिन नहीं था। यह बात शायद विवादास्पद थी कि जो क्षेत्र जर्मनी ने पोलैण्ड को सौंपे थे वे 'निर्विवाद रूप में पोल आबादी' के थे। इसी प्रकार यह बात भी विवादास्पद थी कि जर्मनी से उसके समुद्र-पार के समस्त प्रदेशों को छीन लेना 'समस्त औपनिवेशिक दावों का अबाधित, उदार एवं पूर्णतया निष्पक्ष निबटारा' करना था और जब मित्र-राष्ट्र प्रादेशिक समझौतों के लिए एक पथप्रदर्शक सिद्धान्त के रूप में जनता द्वारा आत्मनिर्णय की घोषणा कर चुके थे तो ऐसी स्थिति में जर्मनी और आस्ट्रिया के संयोग का निषेध करना भी अक्षम्य था। सिद्धान्त और व्यवहार में इन और इसी प्रकार की अन्य असंगतियों से उन लोगों को बड़ी सुविधा हो गई जिसका यह मत था कि वर्साय की सन्धि एक कलुषित दस्तावेज थी और मित्र-राष्ट्रों ने उन शर्तों का ही उल्लंघन किया था जिन पर विराम-सन्धि आधारित थी।

नोट

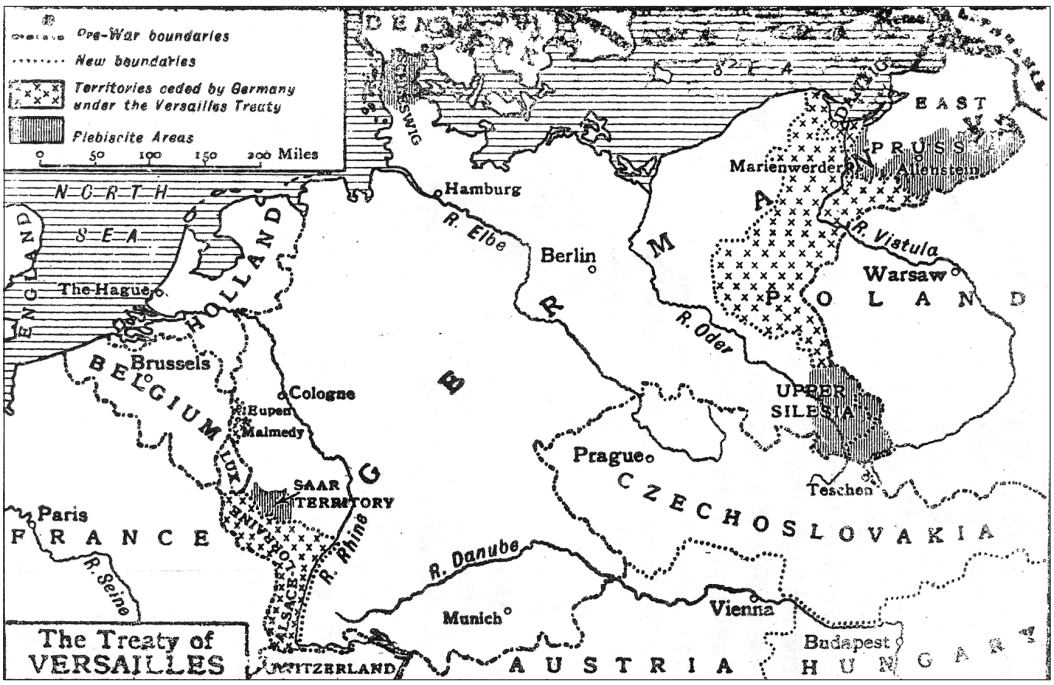

वर्साय की सन्धि के अनुसार जर्मनी पर लगाये गये बन्धन, कुछ ही अपवादों को छोड़कर, या तो आपसी समझौतों के द्वारा या समय की गति के साथ-साथ या जर्मनी द्वारा अस्वीकार कर दिये जाने के कारण, अन्ततः रद्द हो गये। उनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बन्धनों [दण्ड (Penalties), क्षतिपूर्ति (Reparations), असैन्यीकृत क्षेत्र (Demilitarised zone), निःशस्त्रीकरण (Disarmament)] का विवेचन अगले अध्यायों में किया जाएगा। यहाँ केवल यूरोपीय प्रदेशों-सम्बन्धी व्यवस्था का सार दे देना ही आवश्यक है। पश्चिम में, जर्मनी ने फ्रांस को आलसेस (Alsace) और लॉरेन (Lorraine) वापस दे दिये, यूपेन (Eupen) तथा मालमेडी (Malmedy) में दो छोटे-छोटे प्रदेश-खण्ड बेल्जियम को सौंप दिये तथा लक्जेमबर्ग के साथ पुराने सीमाकर-संयोग (Customs Union) समझौते को समाप्त कर दिया। सार (Saar) के कोयला खदान क्षेत्र का प्रशासन पन्द्रह वर्ष के लिए राष्ट्र-संघ आयोग (Commission) को सौंप दिया गया और यह व्यवस्था की गई कि इस अविध के बाद उसके भाग्य का निपटारा जनमत द्वारा किया जाए।

पूर्व में जर्मनी ने मेमल (Memel) बन्दरगाह और उसकी समुद्रतटीय पार्श्व भूमि प्रमुख मित्र और साथी राष्ट्रों (Principal Allied and Associated powers) को अन्त में उन्हें लिथुआनिया को हस्तान्तरित कर देने के लिए सौंप दिये। पोलैण्ड को उसने पोजेन (Posen) का प्रान्त और लगभग चालीस मील समुद्री किनारे के प्रदेश सहित पश्चिमी प्रशा के प्रान्त का अधिकांश–तथाकथित गलियारा (corridor) जो पूर्वी प्रशा को शेष जर्मनी से अलग करता है–सौंप दिया। डानझिग (Danzig) नामक एक जर्मन नगर जो वास्तव में पोलैण्ड का ही (जिसे चौदह सूत्रों में ''समुद्र तक अबाधित और सुरक्षित मार्ग की सुविधा'' देने का वचन दिया गया था) एक प्राकृतिक बन्दरगाह था, एक स्वतन्त्र नगर (Free City) बन गया जिसने पोलैण्ड के साथ सन्धि-सम्बन्ध स्थापित करके उसके सीमाकार-क्षेत्र (customs area) में सम्मिलित होकर अपने वैदेशिक सम्बन्ध पोलैण्ड के हाथों में सौंप दिये। इसके अतिरिक्त, पश्चिमी प्रशा के मेरीनवर्डर (Marienwerder) और पूर्वी प्रशा के एलेन्स्टीन (Allenstein) जिलों तथा समस्त ऊपरी सिलेशिया (Upper Silesia) में जनमत लेने की व्यवस्था भी की गई। जुलाई 1920 में मेरीनवर्डर और एलेन्स्टीन में जनमत लिया गया जिसका परिणाम अत्यधिक जर्मन बहुमत रहा, केवल थोड़े से गाँवों में पोलैण्ड के पक्ष में बहुमत रहा और उन्हें पोलैण्ड को हस्तान्तरित कर दिया गया। ऊपरी सिलेशिया में जनमत अगले

नोट

वर्ष तक के लिए स्थगित कर दिया गया। जिससे दोनों पक्षों में तीव्र दुर्भावना फैली और गम्भीर हिंसात्मक उपद्रव भी हुए। अन्य जनमत-जिलों (plebiscite districts) से ऊपरी सिलेशिया इस बात में भिन्न था कि उसमें कोयले और लोहे की प्रचुरता थी तथा एक विस्तृत और घनी आबादीवाला औद्योगिक क्षेत्र भी उसमें शामिल था। मतदान से कुछ निर्माण नहीं हो सका। लगभग 60 प्रतिशत मत जर्मनी के पक्ष में पड़े तो करीब 40 प्रतिशत पोलैण्ड के पक्ष में। किन्तु कुछ स्पष्ट ग्रामीण क्षेत्रों को छोड़कर बाकी क्षेत्र में जनमत इतना अस्पष्ट और मिश्रित था कि किसी निर्णय पर पहुँच सकना अत्यन्त कठिन हो गया। एक तरफ तो ब्रिटिश और इटेलियन आयुक्तों (commissioners) ने और दूसरी तरफ फ्रांसीसी आयुक्त ने परस्पर अत्यधिक विरोधी सिफारिशें प्रस्तुत कीं। मित्र-राष्ट्रों की सर्वोच्च परिषद् (Supreme Council) इन सिफारिशों के सम्बन्ध में एकमत नहीं हो सकी और उसने न जाने किस दुष्प्रेरणावश यह मामला राष्ट्रसंघ-परिषद् में भेज दिया। दूसरी बार भी गतिरोध की आशंका से परिषद् ने फ्रांसीसी आयुक्त तथा ब्रिटिश और इटेलियन आयुक्तों द्वारा प्रस्तावित नीति के मध्य का मार्ग अपनाया। चूँकि ब्रिटिश-इटेलियन नीति मतदान के परिणामों को यथासम्भव अमली रूप दिलाने का एक सतर्कतापूर्ण प्रयत्न थी और फ्रांसीसी नीति स्पष्ट रूप से पोलैण्ड के दावों की पक्षपाती थी, इसलिए परिषद् के निर्णय का भी उसे पूर्णतया न्यायपूर्ण कहकर समर्थन नहीं किया जा सकता था। इस निर्णय से जर्मनी में रोष फैल गया और राष्ट्र-संघ के प्रारम्भिक काल में जर्मन लोकमत को राष्ट्र-संघ विरोधी बनाने में उसने काफी सहायता की। वार्साई की सन्धि के प्रादेशिक उपबन्धों के परिणामस्वरूप जर्मनी को यूरोप में 25,000 वर्ग मील से भी अधिक भूमि और लगभग 70 लाख बाशिन्दों से हाथ धोना पड़ा।

क्या आप जानते हैं तुर्की के साथ अंतिम शांति संधि 23 जुलाई, 1923 में हुई थी।

अन्य यूरोपीय शान्ति-सन्धियों पर और भी संक्षेप में विचार किया जा सकता है।

नवम्बर 1918 में ऑस्ट्रो-हंगेरियन राजतन्त्र के पतन के कारण जर्मन ऑस्ट्रिया एक पृथक्, बेतुके अनुपातवाला अवशेष रह गया; उसके 70,00,000 निवासियों में से 20,00,000 से भी अधिक विएना में ही बसे हुए थे। बोहेमिया, मोरेविया और ऑस्ट्रियन सिलेशिया उससे अलग होकर चेकोस्लोवाकिया का केन्द्रभाग बन चुके थे। सर्बिया (Serbia) और क्रोएशिया से स्लोवेनिया मिल गया था जिससे यूगोस्लाव राज्य का निर्माण किया गया था। इटली ने ट्रीस्ट (Trieste) और उससे लगी हुई पार्श्वभूमि पर अधिकार कर लिया था। सेन्ट जर्मन की सन्धि ने इन सम्पन्न तथ्यों (accomplished facts) को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं किया। आत्मनिर्णय के सिद्धांत का स्पष्ट रूप से उल्लंघन करने वाले दो प्रावधान इस सन्धि में भी थे। उनमें से एक था ऑस्ट्रिया और जर्मन के सयोग का निषेध जो वर्साय की सन्धि में की गई व्यवस्था की पुनरावृत्ति था। दूसरा प्रावधान था विशुद्ध जर्मन-भाषी दक्षिणी टायरोल (Tyrol) का इटली को सौंपा जाना ताकि उसे ब्रेनर का सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सीमान्त मिल जाए। किन्तु ऑस्ट्रिया की आर्थिक स्थिति इतनी खराब थी (कुछ महीनों तक विएना के लोग वास्तव में भूखों मरते रहे) कि शान्ति से सम्बन्धित राजनीतिक अपमानों का उसे शायद ही अनुभव हुआ हो। मित्र-राष्ट्रों ने इस भय से कि जर्मनी के साथ संयोग बनाने का आन्दोलन उग्र रूप धारण न कर ले, सन्धि के क्षेत्रेतर (non-territorial) उपबन्धों को लागू करने का कोई गम्भीर प्रयत्न ही नहीं किया; और ऑस्ट्रिया क्षतिपूर्ति आयोग (Austrian Reparation Commission) भी एक सहायता-संगठन (relief organisation) मात्र बन गया।

बल्गारिया को भी हंगरी के समान बहुत अधिक हानि उठानी पड़ी, किन्तु उसकी अधिकांश हानि 1919 के समझौते से नहीं अपितु 1913 के शान्ति-समझौते के समय हुई थी जिसके द्वारा द्वितीय बाल्कन-युद्ध समाप्त हुआ था। 1912 के प्रथम बाल्कन-युद्ध के समय तुर्की को बाल्कन द्वीपों से निकाल बाहर करने और उसे कॉन्स्टेण्टिनोपल (Constantinople) से लगभग 50 मील की दूरी तक खदेड़ देने के उद्देश्य से बल्गारिया ने सर्बिया, यूनान और रूमानिया से सहयोग किया था। किन्तु लूट के विभाजन के प्रश्न पर विजेताओं में फूट पड़ गई। द्वितीय बाल्कन-युद्ध

नोट

में बल्गारिया के तीनों ही पुराने साथियों और तुर्की ने एक साथ बल्गारिया पर आक्रमण किया। इस युद्ध के परिणामस्वरूप जो सन्धि हुई उसके अनुसार बल्गारिया को विवश होकर इन चारों राष्ट्रों को भूमि देनी पड़ी। 1919 की न्यूइली की सन्धि ने बल्गारिया की हानि पर अपनी मुहर लगा दी और बल्गारिया को भी अधिक हानि में डालते हुए सर्बिया और यूनान से लगी हुई उसकी सीमाओं में परिवर्तन कर दिया तथा रूमानिया से लगे हुए उसके 1913 में निर्धारित स्पष्टतया अन्यायपूर्ण सीमान्त को वैसा ही अछूता छोड़ दिया। बल्गारिया की सबसे बड़ी और मर्मान्तक शिकायत उसे मेसिडोनिया के नहीं मिलने मे थी जिसे प्रथम बाल्कन-युद्ध में भाग लेने के बदले में उसे दिये जाने का वचन दिया गया था, और यहाँ हमारे सामने एक ऐसी क्षेत्रिक समस्या आती है जो अभी तक विवेचित समस्याओं से भिन्न है। जर्मनी और पोलैण्ड या हंगरी और रूमानिया के बीच न्यायपूर्ण सीमान्त निश्चित करना कठिन हो सकता था; किन्तु सम्बन्धित आबादियाँ किस मूलप्रजाति (race) की थी, उसके बारे में तो कम से कम कोई सन्देह था ही नहीं। मेसिडोनिया में यह प्रारम्भिक मुद्दा ही कटु विवाद का विषय था। मेसिडोनिया के लोग स्लाव प्रजाति के थे किन्तु उनमें राष्ट्रीय चेतना या तो कमजोर थी या उसका अभाव था; उनकी बोली एक तरफ़ सर्बियन में मिल गई थी तो दूसरी तरफ़ बल्गारिया में। समय आने पर वे बड़ी सरलता से पूरे बल्गारियन या पूरे सर्बियन, कुछ भी बन सकते थे। 1913 के समझौते के अनुसार जिसकी पुष्टि 1919 में हुई, मेसिडोनिया का अधिकांश सर्बिया को मिला और शेष भाग का भी अधिकांश यूनान के हाथ आया। किन्तु मेसिडोनिया के लोग असभ्य थे जिनमें लूट-खसौट को सम्मान की बात माना जाता था। उनमें से कुछ साहसी लोग बल्गारिया चल दिये और वहाँ उन्होंने मेसिडोनियन क्रान्तिकारी संगठन (Mecedonian Revolutionary Organisation) की स्थापना की जो यूगोस्लाव या यूनान-क्षेत्र में समय-समय पर धावे बोलता रहता था, सीमान्त के दोनों ओर की जनता में आतंक फैलाता था और जिसने युद्ध के बाद के दस वर्ष से भी अधिक समय तक बल्गारिया और उसके पड़ोसी देशों के सम्बन्धों को कटु बनाये रखा। इस अवधि मे यूरोप के अन्य किसी भी भाग की अपेक्षा मेसिडोनिया में जीवन और सम्पत्ति सम्भवत: कम सुरक्षित थे।

अन्त में, इस बात का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि नवनिर्मित राज्यों को–पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया–तथा जिन राज्यों के क्षेत्र में काफी वृद्धि हुई थी उन्हें–यूगोस्लाविया, रूमानिया और यूनान–प्रमुख मित्र और साथी राष्ट्रों से सन्धियाँ करनी पड़ी जिनके अनुसार इन राज्यों ने अपने क्षेत्र में रहने वाले ''प्रजातीय (racial) धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यकों'' को यह गारण्टी दी कि उन्हें राजनीतिक अधिकार और धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त रहेंगे, उनके लिए विद्यालय खोले जायेंगे और वे न्यायालयों में तथा शासन के साथ काम-काज में अपनी भाषा का उपयोग कर सकेंगे। ऑस्ट्रिया, हंगरी, बल्गारिया और तुर्की के साथ हुई शान्ति-सन्धियों में भी इसी प्रकार की व्यवस्था की गई थी। किन्तु जर्मनी को अल्पसंख्यकों के सम्बन्ध में कोई कर्तव्य स्वीकार करने के लिए नहीं कहा गया। बड़ी विचित्र बात है कि वर्साय के शान्ति-स्थापकों ने केवल इसी मामले में जर्मनी को अन्य बड़े राष्ट्रों के साथ बराबरी का स्तर दिया था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. ..... के अनुसार जर्मनी पर लगाए गए बंधन अंतत: रद्द हो गए।
2. ..... के कोयला खदान क्षेत्र का प्रशासन 15 वर्ष के लिए राष्ट्र संघ आयोग को सौंप दिया गया।
3. ..... में ऑस्ट्रो-हंगेरियन राजतंत्र के पतन के कारण जर्मन ऑस्ट्रिया एक बेतुके अनुपात वाला अवशेष रह गया।

16.3 निकट-पूर्व और अफ्रीका (The Near East and Africa)

नोट

जुलाई 1923 में तुर्की के साथ की गई लोसाँ की सन्धि (Treaty of Lausanne) ही केवल एक ऐसी शान्ति-सन्धि है जिसे उसके सभी हस्ताक्षरकर्ता तेरह वर्षों तक वैध और प्रयोज्य (valid and applicable) मानते रहे तथा जिसे 1936 में भी स्वेच्छापूर्ण समझौते द्वारा और केवल एक ही बात के लिए संशोधित किया गया था। ऐतिहासिक दृष्टि से, उसको यह लाभ कई बातों के लिए कारण था जिसकी वजह से वह अन्य शान्ति-सन्धियों से विशिष्ट हो सकी। यह सन्धि उस समय की गई थी जबकि युद्ध समाप्त हुए लगभग पाँच वर्ष बीत चुके थे और युद्ध की कड़वाहट को कम होने के लिए अवसर मिल चुका था; वह थोपी नहीं गई थी अपितु दोनों ही पक्ष लम्बी चर्चाओं के बाद उस पर सहमत हो सके थे और उस पर हस्ताक्षर भी किसी मित्र-राष्ट्र की राजधानी में नहीं; अपितु तटस्थ देश की भूमि पर किये गये थे। जिन लम्बी और जटिल घटनाओं के कारण यह सन्तोषजनक सन्धि हो सकी, उन पर यहाँ एक सरसरी निगाह डालना उचित होगा।

मई 1919 में जबकि शान्ति-सम्मेलन (Peace Conference) जर्मनी की अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या में उलझे हुए भी बीच-बीच में तुर्की के भविष्य पर विचार कर रहा था, यूनानी प्रधानमन्त्री वेनिंजेलॉस (Venizelos) ने यूनानी सैनिकों द्वारा एशिया माइनर में स्थित स्मर्ना पर अधिकार कर लेने के लिए मित्र-राष्ट्रों को राजी कर लिया। तुर्की ने अपने कट्टर और अत्यन्त घृणायोग्य शत्रु द्वारा, विराम-सन्धि के काफी समय बाद, अपनी भूमि का इस प्रकार अतिक्रमण किये जाने पर बहुत रोष प्रकट किया। इस रोष के फलस्वरूप राष्ट्रीय विद्रोह का एक व्यापक आन्दोलन उठ खड़ा हुआ जिसका नेतृत्व मुस्तफा कमाल के समर्थ और शक्तिशाली हाथों में आया। लगभग एक वर्ष में ही कमाल के दल के लोग सारे देश में छा गये और मित्र-राष्ट्रों की एक नगर-रक्षक सेना के बल पर ही कॉन्स्टेण्टिनोपल में एक कठपुतली सरकार कायम रह सकी। खतरे की इस सूचना के बावजूद भी, मित्र-राष्ट्रों ने अगस्त 1920 में, सेव्रे (Sevres) में कॉन्स्टेण्टिनोपल सरकार से एक शान्ति-सन्धि कर ली। यह सन्धि के ढंग की ही थी और उसमें अन्य बातों के साथ ही साथ व्यवस्था की गई कि स्मर्ना पाँच वर्ष तक यूनान के कब्जे में रहे तथा उसके बाद जनमत द्वारा उसके भाग्य का निबटारा किया जाए।

1918 की विराम-सन्धि के साथ ऑस्ट्रो-हंगेरियन राजतन्त्र की भाँति ऑटोमन (Ottoman) साम्राज्य भी विघटन के रास्ते लग चुका था; उसके अधीनस्थ विशाल अरब प्रदेश ब्रिटिश और फ्रांसीसी सेनाओं के कब्जे में थे। सौभाग्य से, कमाली आन्दोलन ने आरंभ से ही ऑटोमन साम्राज्य के प्राचीन इस्लामी आधार को अस्वीकार कर, राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के आधुनिक धर्मनिरपेक्ष (secular) सिद्धान्त की घोषणा कर दी थी। तुर्की की नयी सरकार ने अरब-बहुमत वाले क्षेत्रों-सम्बन्धी अपने सभी दावों को खुलेआम त्याग दिया; इस कारण शान्ति स्थापित करने में कोई बहुत बड़ी अलध्य कठिनाई नहीं आई। यूरोप में यूनान को क्षति पहुँचाते हुए तुर्की की सीमा एड्रियानोपाल (Adrianople) से भी आगे बढ़ा दी गई, और स्मर्ना में जनमत-सम्बन्धी कोई चर्चा भी आगे नही सुनाई दी। सेव्रे की सन्धि की दण्ड, क्षतिपूर्ति और नि:शस्त्रीकरण-सम्बन्धित धाराएँ भी लुप्त हो गई, किन्तु आश्चर्य की बात है कि तुर्की सरकार ने दो असैन्यीकृत क्षेत्र–थ्रेस (Thrace) में और जलडमरूमध्य (Straits) के अंचल में–अपनी ही भूमि पर स्थापित करना स्वीकार कर लिया। अंगोरा में, राष्ट्रीय सभा (National Assembly) ने जो कुछ प्राप्त हो सका था उससे सन्तुष्ट हो, टर्की को गणतन्त्र (Republic) घोषित कर दिया तथा मुस्तफा कमाल को उसका राष्ट्रपति बनाया। उसके बाद उसने धर्म-निरपेक्षता के अपने कार्यक्रम को जोरों से कार्यान्वित करना प्रारम्भ किया और 1924 के बसन्त में, इस्लाम धर्म के प्रमुख खलीफा का पद भी समाप्त का दिया जो साढ़े चार सौ वर्षों से कॉन्स्टेण्टिनोपल में चला आ रहा था।

प्राचीन ऑटोमन साम्राज्य के अरब प्रान्तों की जो स्थिति हुई उस पर विचार करने के साथ हम राष्ट्र-संघ द्वारा प्रचलित प्रादेश-पद्धति (Mandatory System) का अध्ययन आरम्भ करते हैं। राष्ट्र-संघ की प्रसंविदा (Covenant) में यह व्यवस्था की गई थी कि पराजित राष्ट्रों द्वारा समर्पित उन क्षेत्रों को, "जिनके निवासी आधुनिक संसार की कठिन

नोट

परिस्थितियों में अपने पैरों पर खड़े होने में असमर्थ हों," "समुन्नत राष्ट्रों" के संरक्षण में रखा जाए और समुन्नत राष्ट्र "यह संरक्षण राष्ट्र-संघ की ओर से नियुक्त प्रादेश-पालक (Mandatories) के रूप में ही करेंगे।" ये प्रादेशपालक राष्ट्र किस सीमा तक राष्ट्र-संघ की ओर से काम करने वाले कहे जा सकते थे यह बात संदेहास्पद ही थी। जिन प्रदेशों का उल्लेख किया जा रहा है उन्हें जर्मनी और तुर्की ने प्रमुख मित्र और साथी राष्ट्रों को समर्पित किया था और प्रादेशपालक राष्ट्रों का चुनाव भी मित्र और साथी राष्ट्रों द्वारा होना था। राष्ट्र-संघ ने प्रादेश की शर्तों पर अपनी स्वीकृति दी थी। प्रादेशपालक राष्ट्र अपने प्रादेश-संबंधी प्रतिवेदन (report) प्रति वर्ष राष्ट्र-संघ को भेजते भी थे किन्तु, राष्ट्र-संघ उनकी केवल मित्रतापूर्ण आलोचना ही कर सकता था। चूँकि प्रादेश उसने नहीं दिये थे, इसलिए वह उन्हें वापस भी नहीं ले सकता था। इसके साथ ही यह प्रश्न भी कि प्रादेशाधीन प्रदेशों की सम्प्रभुता (Sovereignty) किसमें निहित है, एक ऐसी कानूनी पहेली थी जिसका कोई हल नहीं था।

प्रसंविदा में तीन प्रकार के प्रादेशाधीन प्रदेशों (जिन्हें साधारण: 'A' 'B' और 'C' प्रादेशाधीन प्रदेश कहा जाता है) की व्यवस्था की गई थी। यह वर्गीकरण संबंधित निवासियों के विकास की अवस्था के आधार पर किया गया था।

प्रदेशाधीन प्रदेशों में, जिनमें तुर्की के भूतपूर्व प्रान्त थे, प्रादेशपालक राष्ट्र का कर्तव्य "जब तक कि वे अपने पैरों पर खड़े न हो जायें...तब तक उन्हें प्रशासकीय सलाह और सहायता देना" निश्चित किया गया था...इसके साथ ही यह स्पष्ट कर दिया गया कि प्रादेशपालक का चुनाव करते समय इनके लोगों की इच्छाओं का मुख्य रूप से ध्यान रखा जाए। यह नहीं कहा जा सकता कि इस अन्तिम शर्त का पूरी तरह पालन किया गया था। इंग्लैण्ड और फ्रांस के बीच युद्ध के समय ही एक गुप्त समझौता हो जाने के कारण, अरब क्षेत्रों के भाग्य का निर्णय पहले ही चुका था। युद्ध के बाद इस समझौते को लागू करने के लिए काफी खींचातानी हुई किन्तु जनता की भावना का सम्मान करने का किसी ने नाम तक भी नहीं लिया। सीरिया का प्रादेश फ्रांस के जिम्मे किया गया, तथा ईराक, फिलिस्तीन और ट्रांसजोर्डन का ब्रिटेन के। फिलिस्तीन का प्रादेश अंग्रेज सरकार द्वारा 1917 में दिये गये इस वचन पर आधारित था कि वह फिलिस्तीन को 'यहूदी लोगों का राष्ट्रीय स्वेदश' बना देगी। ऑटोमन साम्राज्य के शेष अरब प्रान्तों को स्वतंत्रता मिल गई। लाल सागर के किनारे के अरब प्रदेश का समुद्रतटीय भाग जिसे सभी मुसलमान महत्त्वपूर्ण क्षेत्र मानते हैं क्योंकि उसमें मक्का और मदीना नामक धार्मिक स्थान है–हजाज (Hedjaz) नामक स्वतंत्र राजतंत्र के रूप में गठित हो गया। शेष अरब प्रदेशों में तुर्की की सम्प्रभुता हमेशा ही नाममात्र की रही थी, और जहाँ-जहाँ इन प्रदेशों की जनता स्थिर रूप से निवास करती थी वहाँ कई सुल्तान, शेख और इमाम उन पर स्वायत्त रूप में राज्य करते थे।

'B' प्रादेशाधीन प्रदेशों की जिनमें अफ्रीका में स्थित जर्मनी की अधिकांश बस्तियाँ थीं, जनता को किसी भी प्रकार की प्रशासनिक स्वायत्तता (autonomy) के अयोग्य माना गया। किन्तु प्रादेशपालक राज्य का केवल यही कर्तव्य नहीं था कि वह दासों तथा शस्त्रों के व्यापार को रोके, और "पुलिस के प्रयोजनों या अपने क्षेत्र की रक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य के लिए" (यह दोहरे और संदिग्ध अर्थवाली भाषा ही है) देशी लोगों की भरती न करे अपितु राष्ट्र-संघ के अन्य सदस्यों को व्यापार और वाणिज्य के समान अधिकार देना भी उसके लिए आवश्यक था। पूर्वी अफ्रीका में, भूतपूर्व जर्मन उपनिवेश टेंगानिका (Tanganyika) को सम्पूर्णतया इंग्लैण्ड को प्रादिष्ट कर दिया गया, केवल इस उपनिवेश के बेल्जियम कांगो (Congo) से लगे हुए दो पश्चिमी प्रान्तों का प्रादेश बेल्जियम को मिला और दक्षिण में कियोंगा (Kionga) नामक बंदरगाह पुर्तगाल को बिल्कुल ही दे दिया गया। पश्चिमी अफ्रीका में केमेरून्स (Cameroons) और टोगोलैण्ड (Togoland) दोनों ही इंग्लैण्ड और फ्रांस के प्रादेशों में विभक्त कर दिये गये।

'C' वर्ग के प्रादेशाधीन प्रदेशों में जर्मन दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका और जर्मन प्रशान्त द्वीप थे और इन्हें क्रमश: यूनियन ऑफ साउथ अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और जापान को प्रादिष्ट किया गया था। 'C' वर्ग के प्रादेशाधीन प्रदेशों का प्रशासन प्रादेशपालक राज्यों के कानूनों के अनुसार चलता था और 'B' तथा 'C' वर्ग के प्रादेशाधीन प्रदेशों

में मुख्य व्यावहारिक अन्तर यह था कि 'C' प्रदेशों को अपने-अपने प्रदेशों में अन्य राज्यों को व्यापार और वाणिज्य के समान अधिकार देने का कोई बंधन नहीं था।

नोट

16.4 अमेरिका और सुदूर-पूर्व (America and The Far East)

युद्ध के बाद किये गये समझौते के प्रति यूनाइटेड स्टेट्स की जनता का रुख कभी उग्र आदर्शवाद की ओर रहा तो कभी अत्यन्त सतर्कता बरतने की ओर। उन दिनों विदेशी मामलों के प्रति उसका रुख इसी प्रकार बदलता रहता था। पहले तो अपने राष्ट्रपति के जरिए उसने इस बात पर जोर दिया कि राष्ट्र-संघ की प्रसंविदा (Covenant of the League) को भी वर्साय की संधि में सम्मिलित किया जाए, किन्तु बाद में अपनी ही महासभा (Congress) के जरिए उसने इस संधि को इसी प्रसंविदा से उत्पन्न कर्तव्यों के कारण अस्वीकृत कर दिया। यूनाइटेड स्टेट्स के इस असहयोग के परिणाम अन्ततोगत्वा अचिन्तनीय और दूरगामी हुए। किन्तु यूरोपीय समझौते पर उसका तत्काल कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यूनाइटेड स्टेट्स ने जर्मनी, ऑस्ट्रिया और हंगरी (बल्गारिया या तुर्की से यूनाइटेड स्टेट्स का युद्ध नहीं हुआ था) से पृथक् किन्तु मुख्यत: औपचारिक सन्धियाँ कीं और इस प्रकार अमेरिका पर यूरोप-संबंधी अप्रिय कर्तव्यों का भार डाले बिना ही शान्ति पुन: स्थापित हो गई।

किन्तु सुदूर-पूर्व में अमेरिका शान्त असंलग्नता का रुख बनाये नहीं रह सकता था। जिस जापान ने युद्ध में नाममात्र से कुछ ही अधिक भाग लिया था, वही जापान, युद्ध समाप्त होने के बाद, प्रशान्त महासागर क्षेत्र में एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में सामने आया। वर्साय की सन्धि के अनुसार जर्मनी से उसे चीन ने शान्तुंग प्रान्त में स्थित कियोचाओ (Kiaochow) नामक क्षेत्र जो उसके पास पट्टे पर था, मिला। यह ऐसा निर्णय था जिसके कारण ही चीन ने सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया था। इसके साथ ही साथ जापान को उत्तरी प्रशान्त महासागर में स्थित जर्मनी के भूतपूर्व द्वीपों का प्रादेश भी दिया गया था। क्रान्ति में ग्रस्त होने के कारण रूस इन दिनों अस्त-व्यस्त एवं प्रभावहीन था और अब चीन की सीमा पर केवल जापान ही एकमात्र बड़ा राष्ट्र (Great Power) बन गया था और रूसी तथा जर्मन बेड़ों के एक साथ ही नष्ट हो जाने के कारण, जापान न केवल सुदूर-पूर्व में ही सबसे अधिक शक्तिशाली समुद्री बेड़ेवाला राष्ट्र रह गया था अपितु संसार में भी वह तीसरे नम्बर की समुद्री शक्ति हो गया था। जापान से चीन को खतरे की आशंका और प्रशान्त महासागर में अपना सामुद्रिक प्रभुत्व स्थापित करने के जापान के प्रयत्नों से अमेरिकी पर्यवेक्षकों को बहुत चिन्ता हुई। आखिर, 1921 के अन्त में, यूनाइटेड स्टेट्स सरकार ने अन्य बड़े राष्ट्रों (ब्रिटिश साम्राज्य, जापान, फ्रांस और इटली) और प्रशान्त में प्रादेशिक हित रखने वाले अन्य तीन राष्ट्रों (चीन, नीदरलैण्ड और पुर्तगाल) तथा बेल्जियम (जिसका सम्मेलन में बुलाये जाने का दावा केवल भावुकतापूर्ण था) को ''शस्त्रास्त्रों को सीमित करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए होने वाले एक सम्मेलन में भाग लेने के लिए, जिसके सम्बन्ध में प्रशान्त महासागर और सुदूर-पूर्व के प्रश्नों पर भी विचार किया जायेगा,'' आमन्त्रित किया। यह सम्मेलन नवम्बर 1912 में वाशिंगटन में हुआ।

टास्क जुलाई, 1923 में तुर्की के साथ कौन-सी शांति-संधि की गई थी?

वाशिंगटन-सम्मेलन के परिणामस्वरूप तीन सन्धियाँ हुईं। उनमें प्रथम चार राष्ट्रों की सन्धि (Four Power Treaty) कहलाती है जो यूनाइटेड स्टेट्स, ब्रिटिश साम्राज्य, फ्रांस तथा जापान के बीच की गई थी। उसके अनुसार इन राष्ट्रों ने यह समझौता किया था कि वे प्रशान्त महासागर में स्थित अधीनस्थ प्रदेशों-सम्बन्धी एक-दूसरे के अधिकारों का सम्मान करेंगे और यदि इन अधिकारों के सम्बन्ध में उनमें कोई विवाद उठ खड़ा हुआ या अन्य किसी राष्ट्र की आक्रमणात्मक कार्रवाई के कारण यदि उन्हें किसी प्रकार का खतरा हुआ तो वे आपस में परामर्श करेंगे।

नोट

इस साधारण से दस्तावेज का महत्त्व दो बातों में था। उसके फलस्वरूप यूनाइटेड स्टेट्स पहली बार (राष्ट्र-संघ की प्रसंविदा को अस्वीकार कर देने के बाद) सामान्य हित के मामलों पर अन्य बड़े राष्ट्रों से परामर्श करने की एक सीमित व्यवस्था में शामिल हो गया। इसके साथ ही इस सन्धि से उस ऐंग्लो-जापानी गुटबन्दी को भी जो इस समय निरर्थक हो गई थी और यूनाइटेड स्टेट्स, अधिराज्यों (Dominions) और ग्रेट ब्रिटेन के अधिकांश लोगों में बहुत अप्रिय हो चुकी थी, समाप्त करने का अच्छा बहाना मिल गया। द्वितीय या पाँच राष्ट्रों की सन्धि (Five Power Treaty) में विस्तृत नौसैनिक नि:शस्त्रीकरण (Naval disarmament) की व्यवस्था की गई थी। उसकी प्रमुख विशेषताएँ थी–ब्रिटिश साम्राज्य और यूनाइटेड स्टेट्स के बीच नौसैनिक समानता स्थापित करना तथा जापान के बड़े जहाजों की संख्या ब्रिटेन और अमेरिका की संख्या के 60 प्रतिशत के बराबर निश्चित करना। फ्रांस और अमेरिका, इटली के लिए यह संख्या 35 प्रतिशत थी। हलके गश्ती जहाजों (cruisers), विध्वंसकों (destroyers),पनडुब्बियों (submarines) या अन्य सहायक यानों (auxiliary craft) की संख्या पर कोई बन्धन नहीं लगाया गया। सन्धि पर हस्ताक्षरकर्ता-राष्ट्र इस बात पर भी सहमत हो गये कि प्रशान्त महासागर के एक निर्धारित क्षेत्र में वे किलेबन्दियों और समुद्री अड्डों-सम्बन्धी यथास्थिति (status quo) बनाये रखेंगे। तृतीय या नौ राष्ट्रों की सन्धि (Third,or Nine Power Treaty) के अनुसार सम्मेलन में शामिल हुए सभी राष्ट्रों ने यह वचन दिया कि वे चीन की स्वतन्त्रता और अखंण्डता का सम्मान करेंगे तथा "चीन की स्थिति से लाभ उठाकर उससे ऐसे कोई भी विशेष अधिकार या सुविधाएँ प्राप्त नही करेंगे जिनसे अन्य मित्र-राज्यों की प्रजा और नागरिकों (subject and citizens) के अधिकारों में किसी प्रकार की कमी हो।"

वाशिंगटन-सम्मेलन का एक महत्त्वपूर्ण सफलता के रूप में स्वागत हुआ और यह अकारण नहीं था। उसके फलस्वरूप प्रत्यक्षत: प्रशान्त महासागर में युद्धपूर्व का शक्ति-सन्तुलन पुन: स्थापित हो गया। दृढ़ ऐंग्लो-अमेरिकी मोर्चे से भयभीत होकर और विश्व-लोकमत के नैतिक दबाव के कारण जापान ने यद्यपि प्रकट रूप से अपनी पराजय स्वीकार नहीं की थी, तथापि उसने महत्त्वाकांक्षाओं पर काफी कड़ा अंकुश स्वीकार कर लिया था। चीन की मुख्य भूमि पर युद्ध से उसे जो एकमात्र प्राप्ति हुई थी, उसका भी परित्याग कर देने के लिए उसे राजी कर लिया गया था। उसने ब्रिटिश साम्राज्य और यूनाइटेड स्टेट्स के साथ नौसैनिक समानता का दावा करने का साहस नहीं किया था और उसके अपने बेड़े के टनभार (Tonnage) के लिए ब्रिटिश और अमेरिकन टनभार के 70 प्रतिशत की उसकी माँग कम कर 60 प्रतिशत कर दी गई थी। इस प्रकार चीन की अखण्डता और प्रशान्त महासागर में ऐंग्लो-अमेरिकी सामुद्रिक प्रभुत्व के लिए जापानी खतरा दूर किया जा चुका था। किन्तु फिर भी वाशिंगटन-सन्धियों से उत्पन्न यह स्थिति खतरे से खाली नहीं थी क्योंकि उसका आधार एशिया की मुख्य भूमि पर आगे बढ़ने की अपनी नीति का जापान द्वारा अनिच्छापूर्वक त्याग था। यह निश्चित था कि कभी न कभी, अपनी शक्ति से परिचित होते ही, जापान वाशिंगटन-समझौते से हुई अपनी प्रतिष्ठा-हानि का विरोध अवश्य करेगा। यह मूल प्रश्न कि सुदूर-पूर्व में ऐंग्लो-सेक्सन प्रभुत्व रहेगा या जापान की ही तूती बजेगी, अभी भी अनिर्णीत था। किन्तु यह वाशिंगटन-सम्मेलन का ही परिणाम था कि यह प्रश्न ठीक दस वर्ष तक स्थगित ही पड़ा रहा।

16.5 पेरिस का शान्ति सम्मेलन (Peace Settlement of Paris)

लगभग चार वर्ष तीन माह (28 जुलाई, 1914 से 11 नवम्बर, 1918) के तुमुल संघर्ष के पश्चात् अर्थात् प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् 18 जनवरी, 1919 को मित्र राष्ट्रों के प्रतिनिधि यूरोप तथा विश्व के भावी मानचित्र की रचना के उद्देश्य से पेरिस में एकत्रित हुए। पेरिस का यह शान्ति सम्मेलन वियना सम्मेलन (सितम्बर, 1814 से जुलाई, 1815) के बाद विश्व के इतिहास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सम्मेलन था। यह इतिहास का प्रथम विश्व सम्मेलन था और इसके निर्णयों ने केवल यूरोप को ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व को प्रभावित किया। पेरिस सम्मेलन को अपने कार्य को प्रतिकूल वातावरण और परिस्थितियों में सम्पन्न करना पड़ा था।

16.6 पेरिस शान्ति सम्मेलन की कार्यपद्धति तथा सम्मेलन के कर्णधारों के परस्पर विरोधी व्यक्तित्व (Procedure of Paris-Peace Settlement and Opposing Personality between each other Steersman of Conference)

नोट

पेरिस सम्मेलन का संगठन अत्यन्त जटिल था। कार्य पद्धति दोषपूर्ण थी। 18 जनवरी, 1919 को सम्मेलन का प्रथम पूर्ण अधिवेशन हुआ, जिसमें सभी प्रतिनिधियों ने भाग लिया। परन्तु उसके बाद सम्मेलन के केवल 5 और पूर्ण अधिवेशन हुए। सम्मेलन के आरंभ में ही यह स्पष्ट हो गया कि पूर्ण अधिवेशन कूटनीतिक कार्य के लिए एक उपयुक्त संस्था नहीं थी। सम्मेलन के कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए एक 'दस सदस्यों की परिषद्' की स्थापना की गयी जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और जापान के दो-दो प्रतिनिधि थे। परन्तु यह दस सदस्यों की परिषद् भी कूटनीतिक कार्य के कुशल सम्पादन के लिए उपयुक्त प्रतीत नहीं हुई। अत: मार्च, 1919 में चार सदस्यों की परिषद् की नियुक्ति की गई। इसके सदस्य थे–अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन, ब्रिटिश प्रधानमंत्री लायड जार्ज, फ्रेंच प्रधानमंत्री क्लेमेन्सो तथा इटालियन प्रधानमंत्री औरलैण्डो। शीघ्र ही फ्यूम के प्रश्न पर विल्सन और औरलैण्डो के मध्य तीव्र मतभेद हो गए, अत: विल्सन, क्लेमेन्सो तथा लायड जार्ज की त्रिसदस्यीय परिषद् ने सम्मेलन के सभी महत्त्वपूर्ण निर्णय किये। पूर्ण सम्मेलन का कार्य इन निर्णयों पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगाने तक सीमित रह गया। इस प्रकार छोटे राष्ट्रों को सम्मेलन के निर्णयों को प्रभावित करने का अवसर नहीं मिला। इस प्रकार सम्मेलन का संगठन दोषपूर्ण था। उसकी कार्यप्रणाली भी संतोषजनक नहीं थी। सम्मेलन का अध्यक्ष क्लेमेन्सो अनुपयुक्त सिद्ध हुआ। क्लेमेन्सो सम्मेलन के कार्य के प्रति उदासीन और कलहप्रिय था।

पेरिस सम्मेलन के कर्णधारों में राजनीतिक दूरदर्शिता और कूटनीतिक योग्यता के गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान नहीं थे। विल्सन तथा लायड जार्ज में राजनीतिक दूरदर्शिता तो उच्चकोटि की थी, परन्तु इतनी कूटनीतिक योग्यता नहीं थी कि वे अन्य प्रतिनिधियों को पराजित राष्ट्रों के साथ व्यवहार करने के लिए तैयार कर सकते। इसके विपरीत क्लेमेन्सो और औरलैण्डो में उच्चकोटि की कूटनीतिक योग्यता थी परन्तु राजनीतिक दूरदर्शिता नहीं थी। वे यह नहीं समझ सके कि पराजित राष्ट्रों के साथ कठोर व्यवहार करने से स्थायी शान्ति स्थापित नहीं की जा सकती। पेरिस सम्मेलन के नेताओं के व्यक्तित्व परस्पर विरोधी थे। विल्सन एक प्रतिभाशाली वक्ता तथा आदर्शवादी विचारक था। वह हजरत मूसा और ईसा की भाँति एक नवीन व्यवस्था का पैगम्बर बनना चाहता था। परन्तु अपरिवर्तनीय विश्वासों का यह राजनीतिज्ञ राजनीतिक सौदेबाजी की बारीकियों से परिचित नहीं था। वह कूटनीति के क्षेत्र में एक नौसिखिया सिद्ध हुआ। वह न केवल शान्ति समझौते को अपने आदर्शों के अनुरूप बनाने में सफल नहीं हो सका, अपितु स्वयं उसके देशवासियों ने भी उसके आदर्शों को ठुकरा दिया।

ब्रिटिश प्रधानमंत्री लायड जार्ज एक यथार्थवादी, कुशाग्र बुद्धि, अथक कार्य-शक्ति, प्रत्युत्पन्नमति वाला तथा विनोदप्रिय राजनीतिज्ञ था। इस उदारदलीय नेता में शीघ्र निर्णय करने तथा अपने सहायकों का ठीक-ठीक उपयोग करने की अद्‌भुत क्षमता थी। यद्यपि लायड जार्ज तथा उसकी राष्ट्रीय सरकार ने 1918 का निर्वाचन "जर्मनी से पूर्ण हरजाना लो", "शिलिंग के बदले शिलिंग", "कैसर को फाँसी पर लटकाओ" जैसे नारों के आधार पर जीता था, परन्तु उसने पेरिस सम्मेलन में जर्मनी के साथ उदार व्यवहार पर बल दिया क्योंकि वह जानता था कि ब्रिटिश व्यापार के पुनरुत्थान तथा सोवियत साम्यवाद के प्रसार के अवरोध के लिए एक सुदृढ़ आर्थिक व्यवस्था वाले जर्मनी की आवश्यकता थी। परन्तु शीघ्र शान्ति स्थापना भी ब्रिटिश व्यापार की उन्नति के लिए आवश्यकता थी। अपनी शीघ्र शान्ति स्थापना की तीव्र अभिलाषा के कारण वह क्लेमेन्सो के जर्मनी के साथ कठोर व्यवहार के प्रस्तावों का तीव्र विरोध नहीं कर सका।

पराजित राष्ट्रों के साथ कठोर व्यवहार के लिए सर्वाधिक उत्तरदायी व्यक्ति था–पेरिस सम्मेलन का अध्यक्ष फ्रेंच प्रधानमंत्री क्लेमेन्सो। फ्रांस के इस 77 वर्षीय चीते ने 1871 में जर्मन प्रशा द्वारा फ्रांस के पराभव और अपमान को

नोट

अपनी आँखों से देखा था और वह उसका प्रतिशोध लेने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ था। वह एक दयाहीन, अनुभवी और रुक्ष व्यक्ति था। उसे मानव प्रकृति का गहरा ज्ञान था। वह सम्मेलन का सर्वाधिक कुशल कूटनीतिज्ञ था। वह विल्सन के आदर्शवाद और लायड जार्ज के उदारवाद दोनों को उपहास की वस्तु समझता था। विल्सन की मजाक उड़ाते हुए वह कहता था कि "लायड जार्ज अपने को नेपोलियन समझता है, परन्तु विल्सन अपने को ईसा मानता है।" लायड जार्ज के उदारवाद को वह "सौ-सौ चूहे खाए बिल्ली चली हज को" का उदाहरण समझता था। क्लेमेन्सो को इस बात का दृढ़ विश्वास था कि जर्मनी शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझता, उसका एकमात्र उद्देश्य जर्मनी का इतना दमन करना था कि वह फिर कभी फ्रांस के लिए संकट न बन सके।

16.7 पेरिस सम्मेलन की सन्धियाँ (शान्ति समझौता) [Treaties of Paris Conference (Peace Settlement)]

पेरिस सम्मेलन में मित्र राष्ट्रों तथा पराजित राष्ट्रों के मध्य 5 शांति सन्धियाँ सम्पन्न हुईं:

1. 28 जून, 1919 को जर्मनी के साथ वर्साय की सन्धि।
2. 10 सितम्बर, 1919 को आस्ट्रिया के साथ सेंट जर्मेन की सन्धि।
3. 27 नवम्बर, 1919 को बल्गारिया के साथ न्यूली की सन्धि।
4. 4 जून, 1920 को हंगरी के साथ त्रिआनो की सन्धि।
5. 10 अगस्त, 1920 को तुर्की के साथ सेव्र की सन्धि।

इन सन्धियों में से सेव्र की सन्धि का तुर्की ने अनुसमर्थन नहीं किया तथा मित्र राष्ट्रों को 23 जुलाई, 1923 को तुर्की के साथ एक नवीन और उदार सन्धि 'लोसाने' की सन्धि पर हस्ताक्षर करने पड़े। इनके अतिरिक्त अनेक अल्पसंख्यक सन्धियाँ भी सम्पन्न हुईं। ये सब सन्धियाँ सम्मिलित रूप से 'शान्ति समझौता' कहलाती हैं।

16.8 वर्साय की सन्धि (Treaty of Versai)

पेरिस सम्मेलन की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, वृहद और विवादग्रस्त सन्धि वर्साय की सन्धि थी। 200 पृष्ठों तथा 80 हजार शब्दों और 439 धाराओं में विभक्त यह सन्धि 15 अध्यायों में उल्लिखित थी। सन्धि की मुख्य व्यवस्थाएँ इस प्रकार थीं:

1. प्रादेशिक व्यवस्थाएँ: वर्साय सन्धि की प्रादेशिक व्यवस्थाएँ निम्नलिखित थीं–

(*i*) जर्मनी ने अल्सास-लारेन का प्रदेश फ्रांस को वापस कर दिया।

(*ii*) उत्तरी जर्मनी का श्लेसविग नामक प्रदेश एक जनमत संग्रह के पश्चात् डेनमार्क को दे दिया गया।

(*iii*) जर्मनी ने मार्सनेट, यूपेन तथा मालमेडी के प्रदेश बेल्जियम को दिये।

(*iv*) जर्मनी ने पश्चिमी प्रशा, पोसेन तथा साइलीशिया के कुछ भाग पोलैण्ड को दिये। इससे पोलैण्ड को बाल्टिक समुद्र तक एक गलियारा (कारीडोर) मिल गया जिससे पूर्वी प्रशा शेष जर्मनी से पृथक् हो गया। डैंजिंग का जर्मन नगर जर्मनी से छीनकर राष्ट्र-संघ में एक स्वतंत्र नगर बना दिया गया। एक सन्धि द्वारा उसे पोलैण्ड के साथ एक बहि:शुल्क संघ (कस्टमस यूनियन) में सम्मिलित कर दिया गया तथा पोलैण्ड को उसके विदेशी संबंधों का संचालन करने का अधिकार दे दिया गया।

(*v*) जर्मनी का मेमल बन्दरगाह मित्र राष्ट्रों को दे दिया गया, जिसे मित्र राष्ट्रों ने लिथुआनिआ को दे दिया।

नोट

(*vi*) सार के औद्योगिक प्रदेश पर जर्मनी की प्रभुसत्ता को स्वीकार किया गया, परन्तु 15 वर्ष के लिए उसका शासन-प्रबंध राष्ट्र-संघ द्वारा नियुक्त एक आयोग द्वारा किए जाने की व्यवस्था की गयी। 15 वर्ष बाद एक जनमत संग्रह का विधान किया गया। जनवरी, 1935 में 90% सारवासियों ने जर्मनी के पक्ष में अपना मत दिया और यह क्षेत्र जर्मनी को पुनः प्राप्त हो गया।

(*vii*) राइन नदी के बायें तट को स्थायी रूप से निःशस्त्र कर दिया गया।

(*viii*) जर्मनी तथा आस्ट्रिया के संघीकरण का निषेध कर दिया गया।

(*ix*) जर्मनी के सभी उपनिवेश तथा चीन, मिस्र और मोरक्को में जर्मन विशेषाधिकार छीन लिये गए। जर्मनी के उपनिवेशों को मित्र राष्ट्रों ने परस्पर मैन्डेटों के रूप में विभाजित कर लिया।

2. आर्थिक व्यवस्थाएँ: वर्साय सन्धि की आर्थिक व्यवस्थाएँ थीं–

(*i*) जर्मनी ने स्वीकार किया कि "जर्मनी और उसके मित्रों द्वारा थोपे गए युद्ध के परिणामस्वरूप मित्र राष्ट्रों की सरकारों तथा नागरिकों को होने वाले क्षति के उत्तरदायित्व को जर्मनी स्वीकार करता है।"

(*ii*) जर्मनी मित्र राष्ट्रों के नागरिकों को हुई सम्पूर्ण हानि की क्षतिपूर्ति करेगा।

(*iii*) क्षतिपूर्ति की राशि का निर्धारण मित्र राष्ट्रों द्वारा नियुक्त एक क्षतिपूर्ति आयोग करेगा।

(*iv*) जब तक क्षतिपूर्ति आयोग अपना प्रतिवेदन दे, जर्मनी 1919 से 1921 के मध्य तक एक अरब पौण्ड अदा करेगा।

(*v*) जर्मनी अपनी पनडुब्बी बेतार के तार मित्र राष्ट्रों को सौंप देगा। जर्मनी 1600 टन से अधिक के अपने सब व्यापारिक जहाज मित्र राष्ट्रों को सौंप देगा।

(*vi*) जर्मनी, फ्रांस तथा बेल्जियम को बड़ी संख्या में घोड़े तथा अन्य पशु देगा। वह दस वर्ष तक फ्रांस को 70 लाख टन कोयला, प्रतिवर्ष, बेल्जियम को 80 लाख टन कोयला प्रतिवर्ष, इटली को 60 लाख टन कोयला प्रतिवर्ष देगा।

3. निःशस्त्रीकरण संबंधी व्यवस्थाएँ: वर्साय सन्धि में जर्मनी को निःशस्त्र करने तथा सैनिक दृष्टि से पंगु बनाने के लिए निम्न व्यवस्थाएँ की गई थीं–

(*i*) जर्मनी अनिवार्य भर्ती को समाप्त कर देगा और उसकी स्थल सेना एक लाख से अधिक नहीं होगी।

(*ii*) जर्मनी कोई वायुसेना नहीं रखेगा।

(*iii*) जर्मनी की जलसेना में 10 हजार टन के 6 युद्धपोतों, 6 क्रूजरों, 12 डेस्ट्रायर जहाजों और 12 टारपीडो नौकाओं से अधिक नहीं होगी। उसमें कोई पनडुब्बी नहीं रहेगी।

(*iv*) जर्मनी राइन नदी के बायें तट पर जर्मन क्षेत्र में तथा दायें तट पर 50 कि.मी. के भीतर किसी प्रकार की किलेबंदी नहीं करेगा।

4. युद्ध अपराध तथा दंड संबंधी व्यवस्थाएँ: जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय को अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता तथा सन्धियों की पवित्रता के विरुद्ध सर्वाधिक गंभीर अपराध का दोषी ठहराया गया। परन्तु विलियम द्वितीय ने नीदरलैण्ड की सरकार से शरण माँगी और नीदरलैण्ड की सरकार ने मित्र राष्ट्रों की उसके प्रत्यर्पण की माँग को ठुकरा दिया। मित्र राष्ट्रों ने लगभग 100 अन्य जर्मन पदाधिकारियों को युद्ध अपराधी घोषित कर दिया परन्तु वर्साय सन्धि के युद्ध अपराध संबंधी अनुच्छेदों का जर्मन जनता ने उग्र विरोध किया और अन्ततः केवल 12 व्यक्तियों को साधारण दण्ड दिया जा सका।

नोट

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. ..... को ऑस्ट्रिया-हंगरी ने सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की थी।

   (क) 28 जुलाई, 1914 (ख) 28 अगस्त, 1914

   (ग) 28 सितंबर, 1914 (घ) 28 अक्टूबर, 1914

5. ..... 1918 को मित्र-राष्ट्रों ने जर्मनी से युद्ध-विराम कर दिया।

   (क) 11 जनवरी (ख) 11 फरवरी

   (ग) 11 मार्च (घ) 11 नवंबर

6. मित्र राष्ट्रों ने ..... में जर्मनी से वर्साय की संधि की।

   (क) 28 जून, 1919 (ख) 28 जुलाई, 1919

   (ग) 28 अगस्त, 1919 (घ) 28 दिसंबर, 1919

16.9 सेंट जर्मेन की सन्धि (Treaty of St. Germain)

381 धाराओं वाली यह सन्धि वर्साय की सन्धि के सदृश थी। सन्धि की प्रस्तावना में कहा गया था कि पूर्ववर्ती आस्ट्रो-हंगेरियन राजतंत्र समाप्त हो गया है। उसके स्थान पर आस्ट्रिया में एक गणतांत्रिक सरकार की स्थापना कर दी गयी है। इस सन्धि के परिणामस्वरूप आस्ट्रिया का क्षेत्रफल तथा जनसंख्या क्रमशः 1,84,000 वर्ग कि.मी. से घटकर 51,200 कि.मी. तथा तीन करोड़ के स्थान पर केवल 65 लाख रह गयी। आस्ट्रिया के विशाल साम्राज्य का अधिकांश भाग उससे छीनकर चार नवीन राज्यों की रचना की गयी। ये राज्य थे—पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी तथा यूगोस्लाविया। आस्ट्रियन गैलीशिया पोलैण्ड को; बोहेमिया, मोराबिया, आस्ट्रियन साइलीशिया चेकोस्लोवाकिया को; बोसनिया, हर्जेगोविना, डालमेशिया तट का भाग यूगोस्लाविया को; बुकोबिना रूमानिया को; दक्षिणी टिरोल इटली को दे दिये गये। टेशेन का उद्योग प्रधान प्रदेश पोलैण्ड तथा चेकोस्लोवाकिया में विभाजित कर दिया गया। यद्यपि शेष आस्ट्रिया की अधिकांश जनसंख्या जर्मन थी परन्तु आस्ट्रिया तथा जर्मनी के एक संघ के निर्माण का निषेध कर दिया गया।

आस्ट्रिया की स्थल सेना को घटाकर 30 हजार कर दिया गया। उसकी नौसेना को डेन्यूब नदी पर 3 पुलिस नौकाओं तक सीमित कर दिया गया। उसे क्षतिपूर्ति आयोग द्वारा निर्धारित क्षतिपूर्ति का देनदार ठहराया गया। परन्तु मित्र राष्ट्रों ने इस आशंका से कि कहीं आस्ट्रिया को जर्मनी से संयुक्त करने का आंदोलन उग्र रूप धारण न कर ले, सेंट जर्मेन की संधि के क्षेत्रेत्तर (नान टेरीटोरियल) उपबंधों को कार्यान्वित करने का विशेष प्रयत्न नहीं किया।

16.10 न्यूली की सन्धि (Treaty of Neuilly)

इस सन्धि के अनुसार बल्गारिया को पश्चिमी बल्गारिया का कुछ भाग यूगोस्लाविया को, पश्चिमी थ्रेंस यूनान को तथा दोब्रुज का प्रदेश रुमानिया को देना पड़ा। उसका सैन्य बल घटाकर 33,000 कर दिया गया तथा उसकी क्षतिपूर्ति संबंधी देनदारी 45 करोड़ डालर निश्चित हुई।

नोट

16.11 त्रिआनो की सन्धि (Treaty of Trianon)

इस सन्धि के परिणामस्वरूप हंगरी को स्लोवाकिया का क्षेत्र चेकोस्लोवाकिया को; क्रोशिया का क्षेत्र यूगोस्लाविया को; ट्रांसिल्वानिया का क्षेत्र रुमानिया को देना पड़ा। हंगरी के सैन्यबल को घटाकर 35,000 कर दिया गया।

16.12 सेव्र की सन्धि (Treaty of Sevres)

इस सन्धि के द्वारा मिस्र, सूडान, साइप्रस, ट्रिपोली, मोरक्को, ट्यूनिस, अरब, फिलिस्तीन, मेसोपोटामिया, सीरिया, पूर्वी थ्रेस, इजियन सागर के द्वीप, स्मर्ना, दक्षिणी पूर्वी लघु एशिया, आर्मीनिया, कुर्दिस्तान आदि के प्रदेश तुर्की से छीन लिए गये। इसके परिणामस्वरूप खलीफा के विशाल साम्राज्य का अन्त हो गया। तुर्की केवल अनातोलिया के पहाड़ी प्रदेश और कॉन्स्टेन्टिनोपल (कुस्तुनतुनिया) के समीपस्थ क्षेत्र तक में ही सीमित रखा गया।

16.13 लोसाने की सन्धि (Treaty of Lausanne)

सेव्र की सन्धि को क्रियान्वित नहीं किया जा सका। सन्धि से तथा शान्ति सम्मेलन की कार्यवाहियों से तुर्की की जनता में रोष तथा क्षोभ व्याप्त था। तुर्की जनता मुस्तफा कमाल के समर्थन और शक्तिशाली नेतृत्व में खलीफा के विरुद्ध विद्रोह कर उठी। एक ही वर्ष के अंदर एक मित्र राष्ट्रीय सैन्यबल द्वारा रक्षित कुस्तुनतुनिया नगर को छोड़कर शेष तुर्की का कमाल की राष्ट्रीय सरकार का शासन स्थापित हो गया। कमाल ने सेव्र की संधि को मानने से इन्कार कर दिया। अन्त में विवश होकर मित्र राष्ट्रों ने मुस्तफा कमाल की राष्ट्रवादी सरकार को तुर्की की सरकार के रूप में मान्यता दे दी और 9 नवम्बर को तुर्की में सुल्तान का पद समाप्त कर दिया। अन्ततोगत्वा मित्र राष्ट्रों तथा राष्ट्रवादी तुर्की के मध्य लोसाने नामक स्थान में 23 जुलाई, 1923 ई. को सन्धि सम्पन्न हुई।

लोसाने की सन्धि द्वारा तुर्की ने मेसोपोटामिया, अरब, सीरिया, मिस्र, फिलिस्तीन, सूडान, ट्रांसजोर्डन, हेजाज आदि प्रदेशों पर अपने अधिकार त्याग दिये। परन्तु उससे तुर्की को विशेष हानि नहीं हुई क्योंकि तुर्की की नई राष्ट्रवादी सरकार ने आंटोमन साम्राज्य के प्राचीन इस्लामी आधार को त्यागकर आत्म निर्णय तथा धर्मनिरपेक्ष राज्य के सिद्धांतों को अपना लिया था। इन सिद्धांतों की स्वीकृति के कारण तुर्की उपर्युक्त गैर-तुर्क प्रदेशों को अपने अधीन रखने को उत्सुक नहीं था। सेव्र की सन्धि द्वारा छीने गये प्रदेशों में से पूर्वी थ्रेस, इजियन सागर के द्वीप, स्मर्ना आदि प्रदेश तुर्की को वापस कर दिये गये। सेव्र की सन्धि द्वारा तुर्की की स्थल सेना तथा जल सेना पर लगायी गयी सीमाएँ तथा उसकी वित्त व्यवस्था पर लगाये गये नियंत्रण हटा लिए गये। उससे क्षतिपूर्ति की रकम नहीं माँगी गयी परन्तु दर्रे दानियाल तथा बास-फोरस के जलडमरूमध्य के क्षेत्रों को अन्तर्राष्ट्रीय और असैन्यीकृत रहने दिया गया।

16.14 अल्पसंख्यक सन्धियाँ (Treaties of Minorities)

पेरिस सम्मेलन में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धांत को कार्यान्वित करने और राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों की संख्या को कम करने का प्रयत्न किया गया था। सात नवीन राष्ट्रों की रचना की गयी थी (इस्टोनिया, लैटविया, लिथुआनिया फिनलैण्ड, पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया) परन्तु फिर भी विभिन्न राष्ट्रों में एक करोड़ सत्तर लाख के लगभग अल्पसंख्यक रह गये थे। इन अल्पसंख्यकों को बहुमत जाति के अत्याचार से बचाने के लिए आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गारिया और तुर्की आदि पराजित राष्ट्रों पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया आदि नवनिर्मित राष्ट्रों तथा यूगोस्लाविया, रूमानिया, यूनान आदि उन राष्ट्रों, जिनके क्षेत्र में पर्याप्त वृद्धि हुई थी, को मित्र राष्ट्रों से अल्पसंख्यक सन्धियाँ करनी पड़ीं। लिथुआनिया, लैटविया, इस्टोनिया, फिनलैण्ड, अल्बानिया को भी राष्ट्र-संघ से इसी प्रकार की सन्धियाँ करनी

नोट

पड़ी थीं। इन सन्धियों के द्वारा "जातीय, धार्मिक और भाषायी अल्पसंख्यकों को इस बात का आश्वासन दिया गया कि उन्हें धार्मिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त रहेंगे। इस प्रसंग में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि जर्मनी को इस प्रकार की कोई सन्धि करने को विवश नहीं किया गया।"

पेरिस शान्ति सम्मेलन के समझौतों की समीक्षा

स्टीफन किंगहाल के कथनानुसार, "शान्ति वार्ता की घटनाओं को संक्षेप में एक कूटनीतिक ढरकी (शटल) के चित्र की कल्पना करके जाना जा सकता है, जो एक ऐसा जाल (वेब) बुनते हुए आगे पीछे जाती है जिसमें विल्सन के चौदह सूत्रों के ताने (वूफ) में बाहर-भीतर पिरोई हुई यूरोपियन शक्तियों की परस्पर विरोधी महत्त्वाकांक्षायें बाने (वेफ्ट) के समान थीं।"

प्रथम विश्वयुद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय का एक प्रधान कारण संयुक्त राज्य अमेरिका की समयोचित सहायता थी। 1917 की सोवियत क्रान्ति के पश्चात् रूस शनैः-शनैः युद्ध से पृथक् हो गया था और ऐसा प्रतीत होने लगा कि मित्र राष्ट्र शीघ्र ही पराजित हो जाएँगे। परन्तु अमेरिकन सहायता ने उनकी सम्भावित पराजय को विजय में परिवर्तित कर दिया। अतः यह स्वाभाविक था कि युद्धोत्तर शान्ति समझौते में मुख्य भूमिका अमेरिकी राष्ट्रपति विल्सन की हो।

राष्ट्रपति विल्सन एक आदर्शवादी विचारक था। वह अपने को शान्ति और स्वतंत्रता का एक नवीन पैगम्बर समझता था। उसका विश्वास था कि युद्ध कुछ निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ही लड़ा जाना चाहिए और युद्धोत्तर शान्ति व्यवस्था कुछ निश्चित सिद्धांतों पर आधारित होनी चाहिए। 6 अप्रैल, 1917 को अमेरिका ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की थी। उससे चार दिन पूर्व 2 अप्रैल, 1917 को विल्सन ने कांग्रेस के समक्ष घोषणा की कि–"विश्व को अवश्य ही जनतंत्र के लिए सुरक्षित होना चाहिए। इसकी शान्ति का निर्माण राजनीतिक स्वतंत्रता के सुपरीक्षित आधार पर होना चाहिए। हमें अपनी कोई स्वार्थपूर्ति नहीं करनी है। हमें किसी विजय के द्वारा प्रदेशों की आकांक्षा नहीं है। हम तो केवल मानव जाति के अधिकारों के संरक्षक हैं।"

16.15 विल्सन के चौदह सूत्र (8 जनवरी, 1918) [14 Formulae of Wilso, (8 January 1918)]

(*i*) शान्ति के अनुबंध प्रकट रूप से किए जाएँगे; किसी भी प्रकार के गुप्त अन्तर्राष्ट्रीय समझौते नहीं किये जाएँगे।

(*ii*) शान्ति और युद्ध काल दोनों में ही समान रूप से प्रादेशिक समुद्र से बाहर नौकाचालन की पूर्ण स्वतंत्रता।

(*iii*) समस्त राष्ट्रों के लिए आर्थिक प्रतिबंधों का निराकरण; व्यापारिक परिस्थितियों की समानता की स्थापना।

(*iv*) राष्ट्रों के शस्त्रास्त्र घरेलू सुरक्षा से संगति रखते हुए न्यूनतम कर दिये जाएँ।

(*v*) सभी औपनिवेशिक दावों का निर्बाध, उदार और निष्पक्ष समायोजन; जिसका आधार इस सिद्धांत का कठोर पालन हो कि सम्प्रभुसत्ता के ऐसे सभी प्रश्नों का निर्णय करते समय सम्बन्धित जनता के हितों का पूर्ण ध्यान रखा जाए।

(*vi*) समस्त रूसी क्षेत्र से विदेशी सेनाओं का हटाना और रूस से संबंधित सभी प्रश्नों का इस प्रकार समाधान हो कि रूस को अपने राजनीतिक विकास और अपनी राष्ट्रीय नीति के निर्धारण के लिए अवसर प्राप्त हो सके।

(*vii*) बेल्जियम से विदेशी सेनाएँ हटा ली जाएँ और उसे पुनः सम्प्रभु राष्ट्र बना दिया जाए।

(*viii*) आल्सास लारेन का प्रदेश फ्रांस को वापिस किया जाए।

नोट

(*ix*) इटली की सीमाओं की पुनर्व्यवस्था राष्ट्रीयता के आधार पर की जाए।

(*x*) आस्ट्रिया-हंगरी की जनता को स्वायत्तशासिक विकास का अवसर दिया जाए।

(*xi*) रुमानिया, सर्बिया और मान्टेनीग्रो से विदेशी सेनाएँ हटा ली जाएँ। अधिकृत क्षेत्र वापिस किये जाएँ। सर्बिया को निर्बाध और सुरक्षित समुद्री मार्ग दिया जाए।

(*xii*) वर्तमान आटोमन साम्राज्य को सुरक्षित प्रभुसत्ता का आश्वासन दिया जाए, परन्तु इस समय जो अन्य राष्ट्र जातियाँ तुर्की शासन में रह रही हैं, उन्हें पूर्णतया सुरक्षापूर्ण जीवन तथा स्वतंत्र विकास के निर्बाध अवसर का आश्वासन दिया जाए तथा दर्रे दानियाल के जलडमरूमध्य को अंतर्राष्ट्रीय प्रत्याभूतियों के अन्तर्गत सभी राष्ट्रों के व्यापार और जहाजों के लिए निर्बाध मार्ग के रूप में स्थायी रूप से खोल दिया जाए।

(*xiii*) एक स्वतंत्र पोलिश राज्य की स्थापना की जाए, जिसमें वे क्षेत्र सम्मिलित किए जाएँ जिनमें निर्विवाद रूप से पोल आबादी हो। इस राज्य को निर्बाध समुद्री मार्ग दिया जाए तथा अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा उसकी राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता तथा प्रादेशिक अखण्डता की प्रत्याभूति की जाये।

(*xiv*) छोटे और बड़े दोनों ही प्रकार के राज्यों को राजनीतिक स्वतंत्रता और प्रादेशिक अखण्डता की पारस्परिक प्रतिभूतियाँ समान रूप से प्राप्त हो सकें, इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए कुछ विशिष्ट समझौतों के अन्तर्गत राष्ट्रों के एक सामान्य संगठन (राष्ट्र संघ) का निर्माण किया जाए।

16.16 चार सिद्धांत (11 फरवरी, 1918) [Four Principles, (11 February 1918)]

(*i*) अन्तिम समझौते की ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए जो ऐसी शान्ति की स्थापना कर सके जो स्थायी हो।

(*ii*) विभिन्न जनसमूहों और प्रान्तों को एक प्रभुसत्ता से दूसरी प्रभुसत्ता को इस प्रकार न दिया जाए मानो वे शक्ति संतुलन के खेल के मोहरे मात्र हों।

(*iii*) इस युद्ध से संबंधित प्रत्येक प्रादेशिक व्यवस्था उस प्रदेश की जनता के हित की दृष्टि में होनी चाहिए।

(*iv*) राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं की अधिकतम पूर्ति और सम्पुष्टि होनी चाहिए।

विल्सन के चौदह सूत्रों की व्याख्या करते हुए अनेक राजनीतिज्ञों ने यह कहा था कि वे न्यूनाधिक रूप से अव्यावहारिक थे। विल्सन के चौदह सूत्रों को शान्ति समझौते का आधार स्वीकार किया गया था। राष्ट्रपति विल्सन का यूरोप में अभूतपूर्व स्वागत हुआ था। रोम, लंदन, पेरिस आदि में उसकी शान्ति दूत के रूप में अभ्यर्थना की गयी। विल्सन ने समझा कि पेरिस सम्मेलन में वही महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का वास्तविक निर्णायक होगा, परन्तु वस्तुतः स्थिति दूसरी ही थी। पेरिस सम्मेलन के अन्य कर्णधार एक आदर्श विश्व की स्थापना का स्वप्न नहीं देख रहे थे। अपने-अपने राष्ट्रों की महत्त्वाकांक्षाओं और स्वार्थों की पूर्ति के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ थे। सम्मेलन का अध्यक्ष क्लेमेन्सो विल्सन के आदर्शवाद तथा चौदह सूत्रों को उपहास की वस्तु समझता था। क्लेमेन्सो कहा करता था–"भगवान तक दस आदेशों से संतुष्ट हो गये थे, परन्तु विल्सन चौदह का आग्रह करता है।" इसी प्रकार अन्य राजनीतिज्ञ भी विल्सन का मजाक उड़ाते रहते थे। परिणामस्वरूप पेरिस सम्मेलन शान्ति और सहयोग के नवयुग का प्रणेता न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शों तथा राष्ट्रीय स्वार्थों का संघर्ष-स्थल बन गया। लेंगसम के शब्दों में–"सम्मेलन में विल्सन के आदर्शवाद तथा यूरोपियन भौतिकवाद में तीव्र संघर्ष हुआ और अधिकांशतः भौतिकवाद की विजय हुई।"

युद्धकाल में मित्र राष्ट्रों ने परस्पर अनेक गुप्त सन्धियाँ करके अपने-अपने स्वार्थानुकूल व्यवस्थाएँ कर ली थीं। 26 अप्रैल, 1915 का लन्दन का समझौता, अगस्त 1916 की रुमानिया के साथ सन्धि, फरवरी, 1917 की

नोट

ब्रिटिश-जापानी सन्धि, मार्च, 1917 का फ्रांस-रूस समझौता आदि इसी प्रकार की सन्धियाँ थीं। सम्मेलन में इन सन्धियों को विल्सन के सिद्धांतों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया।

विल्सन ने इस बात का आग्रह किया कि सम्मेलन सर्वप्रथम राष्ट्र-संघ की स्थापना करे परन्तु अन्य प्रतिनिधिमण्डल राष्ट्र-संघ के प्रति उत्साहपूर्ण नहीं थे। सम्मेलन के एक पूर्ण अधिवेशन में राष्ट्र-संघ संबंधी धाराएँ बिना किसी विरोध के हर्षध्वनि के मध्य स्वीकार कर ली गयी। परन्तु जिला सरलता से उनको स्वीकार किया गया था उससे ऐसा प्रतीत होता था कि सम्मिलित राजनीतिज्ञों ने राष्ट्र-संघ के संबंध में अधिक विचार नहीं किया था, अपितु राष्ट्र-संघ को एक पवित्र अभिलाषा मानकर स्वीकार कर लिया था।

नि:शस्त्रीकरण के प्रश्न पर विल्सन पूर्णतया असफल रहे। क्लेमेन्सो ने जर्मनी और अन्य पराजित राष्ट्रों के नि:शस्त्रीकरण का स्वागत किया, परन्तु फ्रेंच नि:शस्त्रीकरण का डटकर विरोध किया। नि:शस्त्रीकरण की दिशा में पेरिस में पेरिस सम्मेलन कोई आधारभूत प्रगति नहीं कर सका।

पेरिस सम्मेलन में जर्मन को सदा के लिए इतना दुर्बल बना देने के लिए कि वह पुन: फ्रांस के लिए संकट का कारण न बन सके, क्लेमेन्सो ने यह माँग की–

(*i*) सार का जर्मन प्रदेश फ्रांस को दे दिया जाए।

(*ii*) राइन नदी के बाएँ तट पर स्थित प्रदेश को जर्मनी से छीन लिया जाए।

राष्ट्रपति विल्सन तथा ब्रिटिश प्रधानमंत्री लायड जार्ज दोनों ने इन माँगों का प्रबल विरोध किया। अन्तत: एक समझौते के द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि–

(*i*) राइन नदी के प्रदेश का असैन्यीकरण कर दिया जाए।

(*ii*) राइन नदी का बायां तट 25 वर्ष तक मित्रराष्ट्रीय सेनाओं के अधिकार में रहे।

(*iii*) सार का प्रदेश 15 वर्ष तक राष्ट्र-संघ के अधीन रहे तथा इस प्रदेश की कोयले की खानें फ्रांस को दे दी जाएँ।

पूर्वी यूरोप से संबंधित प्रश्नों का निबटारा करते समय पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया आदि नवनिर्मित राज्यों के हितों के पोषण के लिए आत्मनिर्णय के सिद्धांत को लगभग तिलांजलि ही दे दी गयी। लायड जार्ज के विरोध के बावजूद पोलिश गलियारे का निर्माण किया गया और अपर साइलीशिया पोलैण्ड को दे दिया गया। आस्ट्रिया और जर्मनी के संघ का निषेध कर दिया गया।

इस प्रकार पेरिस सम्मेलन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में विल्सन के सिद्धांत पर आधारित शांति और सहयोग के स्वर्ण-युग का सूत्रपात करने में असफल रहा परन्तु यह कहना गलत होगा कि शान्ति समझौते पर विल्सन के आदर्शवाद का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ा। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण और न्याययुक्त समाधान के लिए राष्ट्रसंघ का निर्माण हुआ। राष्ट्रीयता के आधार पर सात नये राष्ट्रों–पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, फिनलैण्ड, एस्टोनिया, लैटविया, लिथुआनिया का निर्माण हुआ। विल्सन ने राष्ट्रीयता का उल्लंघन करने वाले अनेक प्रस्तावों का विरोध किया था। उसने फ्रांस के राइन प्रदेश में पृथक् राज्य की स्थापना के प्रस्ताव को स्वीकृत नहीं होने दिया था। यूरोप में राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों की संख्या 540 लाख से घटकर 170 लाख रह गयी थी, इसका श्रेय विल्सन को है। आत्मनिर्णय के सिद्धांत का अनेक प्रश्नों के समाधान में पालन किया गया। यूपेन, मालमेडी, साइलीशिया, श्लेसविग के भविष्य का निर्णय जनमत संग्रह के द्वारा किया गया। सार प्रदेश में भी जनमत संग्रह की व्यवस्था की गयी।

चौदह सूत्रों के आधार पर शांति सन्धियों की विवेचना करने पर प्रकट होता है कि 14 सूत्रों में से केवल 4 सूत्रों का पूर्णत: तथा 2 सूत्रों को अंशत: कार्यान्वित किया गया। सूत्र नं. 7 के अनुसार, बेल्जियम को पुन: स्वाधीन कर दिया गया, सूत्र नं. 8 के अनुसार आल्सास लारेन फ्रांस को लौटा दिया गया। सूत्र नं. 10 के अनुसार, आस्ट्रिया-हंगरी

नोट

के साम्राज्य में निवास करने वाले अल्पसंख्यक राष्ट्रों के स्वतंत्र राज्य बना दिए गये। सूत्र नं. 11 के अनुसार, रूमानिया, सर्बिया और मोंटेनीग्रो को पुनः स्वाधीनता प्रदान की गयी। सूत्र नं. 13 और 14 का आंशिक पालन हुआ। सूत्र नं. 13 के अनुसार एक स्वतंत्र पोलिश राज्य की स्थापना कर दी गयी, परन्तु उसे जो प्रदेश दिए गये थे वे सब निर्विवाद रूप से पोल आबादी वाले ही थे। सूत्र नं. 14 के अनुसार राष्ट्र-संघ का निर्माण किया गया, परन्तु राष्ट्र संघ छोटे और बड़े राष्ट्रों के साथ समान व्यवहार करने में असमर्थ रहा। अन्य सूत्रों को कार्यान्वित नहीं किया गया। शान्ति-परिषद् की सम्पूर्ण कार्यवाही अत्यन्त गुप्त रूप से हुई, जिसे प्रथम सूत्र का उल्लंघन कहा जा सकता है। समुद्रों की स्वतंत्रता संबंधी दूसरे सूत्र का पालन नहीं हुआ। स्वतंत्र व्यापार संबंधी तृतीय सूत्र न केवल कार्यान्वित ही नहीं हुआ अपितु युद्ध के पश्चात् विभिन्न राष्ट्रों ने तटकर तथा अन्य आर्थिक प्रतिबंध और भी अधिक बढ़ा दिये। निःशस्त्रीकरण संबंधी चौथा सूत्र केवल पराजित राष्ट्रों पर लागू किया गया, विजयी राष्ट्रों पर नहीं। पाँचवें सूत्र अर्थात् उपनिवेशों की व्यवस्था को विल्सन की इच्छानुसार क्रियान्वित नहीं किया गया अर्थात् उपनिवेशों की व्यवस्था जनता के हित में नहीं स्थापित हुई। रूस को स्वतंत्र राष्ट्रों के समाज में सम्मानित स्थान देने से संबंधित छठे सूत्र का भी पालन नहीं किया गया। नवें सूत्र का उल्लंघन करते हुए इटली को टिरोल का जर्मन बहुल प्रदेश दे दिया गया।

इस प्रकार के चौदह सूत्रों का पूर्णरूपेण पालन नहीं किया गया। यह कहना युक्तिसंगत नहीं है जैसा कि हार्डी ने लिखा–"वर्साय की सन्धि में 14 सूत्रों का अधिकतम पालन किया गया।" हैरल्ड निकोल्सन का यह मत भी अतिशयोक्तिपूर्ण है कि, "विल्सन के किसी सूत्र का पालन नहीं हुआ।"

विल्सन न केवल पेरिस सम्मेलन में ही पराजित हुआ अपितु स्वयं उसके देशवासियों ने भी उसके सिद्धांतों और आदर्शों को अस्वीकार कर दिया। अमेरिकन सिनेट ने वर्साय की सन्धि तथा राष्ट्रसंघ को अस्वीकृत कर दिया। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का पैगम्बर विल्सन मित्र राष्ट्रों द्वारा पराजित और अपने देशवासियों द्वारा उपेक्षित हो गया।

16.17 वर्साय सन्धि की समीक्षा (Review of Versai Treaty)

वर्साय की सन्धि (एक कलुषित दस्तावेज)–पेरिस के शान्ति समझौते का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग वर्साय की सन्धि थी। इसके आलोचकों ने इसे एक अन्यायपूर्ण और कलुषित दस्तावेज कहा है। सन्धि मित्र-राष्ट्रों के वास्तविक उद्देश्यों का पर्दाफाश करती है।

जवाहरलाल नेहरू का मत था, "मित्र-राष्ट्र घृणा और प्रतिशोध की भावना से भरे हुए थे और वे मांस का पौंड ही नहीं चाहते थे अपितु जर्मनी के अर्धमृत शरीर से खून की आखिरी बूँद तक ले लेना चाहते थे।" इस प्रकार जर्मन ही नहीं, अन्य देशों के विचारकों ने भी वर्साय की सन्धि को अन्यायपूर्ण माना है। फिर भी अनेक राजनीतिज्ञों ने इस सन्धि की प्रशंसा की थी। गेथोर्न हार्डी का मत था कि "ऐसे आदर्शस्वरूप की शान्ति-सन्धि आज तक कभी नहीं की गयी।"

वर्साय की सन्धि के दोषः

(*i*) **एक विश्वासघाती सन्धिः** वर्साय की सन्धि को जर्मन जाति ने एक अत्यन्त अन्यायपूर्ण सन्धि माना है। उनका इसके विरुद्ध सर्वाधिक प्रबल तर्क यह था कि उन्होंने विल्सन के 14 सूत्रों के आधार पर आत्मसमर्पण किया था। परन्तु वर्साय की सन्धि में मित्र-राष्ट्रों ने उन सिद्धांतों की नितान्त अवहेलना पर पराजित राष्ट्रों के साथ विश्वासघात किया है। सन्धि पर हस्ताक्षर करते समय जर्मन प्रतिनिधिमण्डल के नेता ने स्पष्ट रूप से कहा था, "हमारे प्रति फैलायी गयी घृणा से हम आज सुपरिचित हैं। मेरा देश दबाव के कारण आत्मसमर्पण कर रहा है, परन्तु जर्मनी कभी नहीं भूलेगा कि यह अन्यायपूर्ण सन्धि है।"

(*ii*) **एक आरोपित सन्धिः** वर्साय की सन्धि एक आरोपित सन्धि थी क्योंकि जर्मनी को उससे संबंधित वार्ताओं में भाग लेने का अवसर प्रदान नहीं किया गया और उसे जर्मनी से तलवार की नोक पर स्वीकार कराया

नोट

गया। सन्धि का प्रारूप इस धमकी के साथ जर्मन प्रतिनिधियों को दिया गया कि यदि उन्होंने उसे 5 दिन के अंदर स्वीकार नहीं किया तो युद्ध पुनः प्रारंभ कर दिया जायेगा। स्पष्ट है कि मित्र-राष्ट्र जर्मनी पर एक कठोर सन्धि बलात् लादने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ थे, यहाँ तक कि जर्मनी के साथ उदार व्यवहार के प्रबल समर्थक लायड जार्ज तक का कथन था, "ये शर्तें युद्ध में वीरगति पाने वाले सैनिकों के रक्त से लिखी गयी हैं। हमको भगवान के आदेश को कार्यान्वित करना चाहिए। हमें यह देखना चाहिए कि जिन लोगों ने इस युद्ध को प्रारंभ किया वे फिर कभी ऐसा करने की स्थिति में न हो सकें। जर्मन कहते हैं कि वे इन पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे, उनके समाचारपत्र और राजनीतिज्ञ भी यही कहते हैं, किन्तु हम कहते हैं– सज्जनो! तुम्हें हस्ताक्षर करने होंगे। यदि तुम वर्साय में ऐसा नहीं करते हो तो तुम्हें बर्लिन में ऐसा करना होगा।"

(*iii*) **एक कठोर और अपमानजनक सन्धिः** लेनसिंग ने वर्साय की सन्धि की शर्तों को अपरिमित रूप से कठोर और अपमानजनक कहा है। लैंगसम के अनुसार, "इसने जर्मनी के यूरोपीय प्रदेश के आठवें भाग तथा 65 लाख जनसंख्या को कम कर दिया। इसने उसे उसके समस्त उपनिवेशों तथा विदेशी विनियोगों से वंचित कर दिया। उसकी 15% कृषि योग्य-भूमि, 12% पशु तथा लगभग 10% कारखाने छिन गये। उसके व्यापारी जहाज 57 लाख टन से घटकर 5 लाख टन रह गये। उसकी नौ सेना जो पहले केवल ब्रिटेन से ही कम थी, बिल्कुल नष्ट कर दी गयी और उसकी स्थल सेना घटाकर फ्रांस की सेना का 1/7 कर दी गयी। उसे अपने कोयले के 2/5 भाग से, लोहे के 2/3 भाग से, जस्ते के 7/10 भाग से तथा आधे से अधिक सीसे से हाथ धोना पड़ा। उपनिवेशों के छिन जाने से उसे बड़ी मात्रा में रबड़ और रेशेदार पदार्थों की हानि हुई। क्षतिपूर्ति के लिए उसने कोरे चैक पर हस्ताक्षर कर दिये।"

(*iv*) **व्यक्तिगत जर्मन सम्पत्ति का अधिग्रहणः** व्यक्तिगत जर्मन सम्पत्ति का अधिग्रहण वर्साय की सन्धि की एक अविवेकपूर्ण मौलिकता थी। 1919 तक यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि का एक सर्वमान्य नियम था कि शत्रु राष्ट्रों की सरकारी सम्पत्ति जब्त कर ली जाती थी। परन्तु उनके नागरिकों की व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरुद्ध ऐसी कोई कार्यवाही नहीं की जाती थी। परन्तु वर्साय की सन्धि के द्वारा मित्र-राष्ट्रों ने अपने क्षेत्र में स्थित जर्मन व्यक्तिगत सम्पत्ति को जब्त कर लिया और जर्मन सरकार को अपने नागरिकों को उसका मुआवजा देने के लिए उत्तरदायी बना दिया।

(*v*) **पारस्परिकता का अभावः** वर्साय की सन्धि पारस्परिकता और समानता पर आधारित नहीं थी। यह एक ऐसी सन्धि थी जिसके द्वारा पराजित राष्ट्रों पर निःशस्त्रीकरण, उपनिवेशों का त्याग, संग्रहालयों की लूट की वापसी आदि अनेकानेक ऐसी व्यवस्थाएँ लाद दी गयीं जो विजयी राष्ट्र पर लागूनहीं की गयीं। जर्मनी नेताओं पर युद्ध अपराध के मुकदमे चलाये गए परन्तु युद्ध के नियमों का उल्लंघन करने वाले मित्र-राष्ट्रीय नेताओं पर नहीं। जर्मनी को राष्ट्र-संघ की सदस्यता से भी वंचित कर दिया गया। विल्सन के 14 सूत्र जहाँ उनके विपक्ष में थे। वहाँ तो लागू कर लिए गये परन्तु जहाँ पक्ष में थे वहाँ उनकी अवहेलना कर दी गयी। जनरल स्मट्स के अनुसार वर्साय की सन्धि राजनीतिज्ञों की शान्ति थी, जनता की नहीं।

(*vi*) **प्रतिशोध के प्राचीन सिद्धांत पर आधारितः** वर्साय की सन्धि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के नवीन सिद्धांत पर आधारित न होकर प्रतिशोध के प्राचीन सिद्धांत पर आधारित थी।

इस प्रकार वर्साय की सन्धि में अनेकानेक दोष थे। यह न केवल अन्यायपूर्ण और अमानवीय कही जाती है, अपितु विश्वासघाती, आदर्शहीन और स्वार्थपूर्ण भी कही जाती है। इसकी कठोरता ने न केवल जर्मनी के वाईमार गणतंत्र के भविष्य को प्रारंभ से ही अंधकारमय कर दिया, अपितु अनेकानेक छोटे राष्ट्रों की रचना कर यूरोप की शान्ति के स्थायित्व की सम्भावना को भी नष्टप्राय कर दिया।

16.18 वर्साय सन्धि का औचित्य (Appropriateness of versai Treaty)

नोट

जहाँ अनेक विद्वानों ने वर्साय की सन्धि की कटु आलोचना की है मित्र-राष्ट्रीय नेताओं तथा गेयोर्न हार्डी, लिप्सन, जेसप आदि अनेक विद्वानों ने इस मत का खण्डन किया है कि वर्साय की संन्धि अन्यायपूर्ण थी। इन विद्वानों का पहला तर्क यह है कि वर्साय की सन्धि में 14 सूत्रों का उल्लंघन नहीं किया गया। गेयोर्न हार्डी का मत है कि विल्सन के 14 सूत्रों में केवल चार (5वां, 7वां, 8वां, 13वां) ही जर्मनी से सम्बन्धित थे और इन चारों का पालन किया। दूसरा तर्क यह है कि विल्सन के सिद्धांत शान्ति समझौते के आधार नहीं थे। मित्र-राष्ट्रों ने अपने 5 नवम्बर, 1918 के पत्र में यह स्पष्ट कर दिया था कि "समुद्रों की स्वतंत्रता" के सिद्धांत को मान्यता नहीं दी जाएगी तथा जर्मनी मित्र राष्ट्रों को हुई क्षति की पूर्ति करेगा। तीसरा तर्क यह था कि विल्सन के सिद्धांत परस्पर विरोधी थे, अत: उनका पूर्णरूप से पालन असम्भव था। चौथा तर्क यह था कि जर्मनी ने स्वयं रूस के साथ 3 मार्च, 1918 को की गयी वेस्ट लिटोवस्क की सन्धि के द्वारा अत्यन्त कठोर तथा अन्यायपूर्ण व्यवहार किया था, अत: वह उदार व्यवहार का अधिकारी नहीं था। पांचवां तर्क यह था कि जर्मन अधिनायक हिटलर ने न केवल वर्साय की 'आरोपित' सन्धि का उल्लंघन किया, अपितु उन सन्धियों का भी उल्लंघन किया जो जर्मनी ने बाद में स्वेच्छा से स्वीकार की थी। अत: उसे विश्वासघात की दुहाई देने का कोई अधिकार नहीं था।

परन्तु जहाँ वर्साय की सन्धि के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है, वहाँ यह दुखद तथ्य स्वीकार नहीं किया जा सकता कि जर्मन प्रतिनिधियों के साथ अत्यन्त अपमानजनक तथा अन्यायपूर्ण व्यवहार किया गया था। जर्मन प्रतिनिधिमण्डल के नेताओं विदेश मंत्री हर्मान्न मुइलर तथा उपनिवेश मंत्री जोहान्नेस बेल के साथ बन्दियों का-सा व्यवहार किया गया, तथा उन्हें पेरिस के समीप वर्साय के राज-प्रसाद के उसी शीशमहल में सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश किया गया, जहाँ इससे 50 वर्ष पूर्व प्रशा के राजा को जर्मन सम्राट घोषित किया था। ई.एच. कार के शब्दों में, "इन अनावश्यक अपमानों से जर्मनी में अत्यन्त दूरगामी मनोवैज्ञानिक परिणाम हुए। उन्हीं के कारण आरोपित शान्ति की धारणा ने लोगों के मन में घर कर लिया और जर्मनों में यह विश्वास सामान्य रूप से फैल गया कि उपरोक्त परिस्थितियों में जर्मनी से कराये गये हस्ताक्षर उस पर नैतिक रूप से बन्धनकारी नहीं हैं।"

16.19 वर्साय की सन्धि की विफलता और द्वितीय विश्वयुद्ध (Defeat of Versai Treaty and IInd World War)

वर्साय की सन्धि की गणना विश्व की सर्वाधिक कम सफल सन्धियों में की जाती है। स्थायी शान्ति की स्थापना के उद्देश्य से की गयी इस सन्धि के ठीक 20 वर्ष 2 माह 4 दिन बाद द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारंभ हो गया। यह 20 वर्ष की अवधि भी यूरोपीय इतिहास का एक अत्यन्त अशान्त युग था। यह कहा गया है कि 1919 से 1939 तक का यूरोपीय इतिहास वर्साय की प्रधान भूल को सुधारने के प्रयत्नों का इतिहास है। वास्तव में इस अवधि में वर्साय की सन्धि का लगभग सम्पूर्णत: खण्डन हो गया, इसकी भूलों का भी, इसकी सफलताओं का भी। इसकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि राष्ट्र-संघ की स्थापना थी। 1939 तक राष्ट्र-संघ एक प्रभावहीन संस्था रह गया। क्षतिपूर्ति से संबंधित अध्याय शनै:-शनै: विफल हो गया। नि:शस्त्रीकरण संबंधी अध्याय को हिटलर ने भंग कर दिया। मार्च, 1938 में आस्ट्रिया का जर्मनी के साथ एकीकरण कर दिया। सितम्बर, 1938 में चेकोस्लोवाकिया का अंग-भंग कर दिया, तथा मार्च 1939 में हिटलर ने बोहेमिया और मोराविया पर अधिकार कर लिया। अन्त में जब उसने वर्साय की सन्धि की पोलिश गलियाए संबंधी व्यवस्थाओं को भंग करने के उद्देश्य से पोलैण्ड पर आक्रमण किया तब द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ गया। मार्शल फौच का यह कथन सत्य सिद्ध हुआ कि "यह (वर्साय की सन्धि) शान्ति नहीं अपितु बीस वर्ष के लिए युद्ध-विराम है।"

नोट

इस प्रकार वर्साय की सन्धि के उन्मूलन की प्रक्रिया का अन्त द्वितीय विश्वयुद्ध में हुआ। वर्साय की सन्धि को प्राय: द्वितीय विश्व युद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है। यह कहा जाता है कि यह सन्धि इतनी अपमानजनक थी कि इससे जर्मन जनता के हृदयों में प्रतिशोध की ज्वाला भड़का दी। इस सन्धि से संबंधित होने के कारण जर्मन में वाईमार गणतंत्र का चिरस्थायी होना असम्भव हो गया। क्षतिपूर्ति की रकम की अधिकता ने जर्मनी और यूरोप की अर्थव्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर दिया तथा ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दीं जिससे हिटलर के उदय का मार्ग प्रशस्त हो गया। इस संधि ने नि:शस्त्रीकरण को एकपक्षीय बनाकर उसकी सफलताओं की आशाओं को समाप्त कर दिया। इस सन्धि की रचना के रूप में राष्ट्र-संघ प्रारंभ से ही एक कलंकित संस्था हो गयी और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को चिरस्थायी बनाने का यह यंत्र अपनी उपयोगिता खो बैठा। इस सन्धि ने जर्मनी के साथ कठोर व्यवहार कर तथा इटली और जापान की आकांक्षाओं की पूर्ति न कर रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी के बीज बो दिये। इसने यूरोप में आस्ट्रिया, चेकोस्लोवाकिया, लैटविया, इस्टोनिया, लिथुआनिया, हंगरी आदि अनेक ऐसे छोटे राष्ट्रों की सृष्टि कर दी जो जर्मन और रूस के विरुद्ध अपनी रक्षा करने में असमर्थ थे। यही अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति का कारण बन गए।

अपने अनेक दोषों के बावजूद वर्साय की सन्धि विश्व के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। आत्मनिर्णय के सिद्धांत की स्वीकृति, नि:शस्त्रीकरण की आवश्यकता की अनुभूति तथा राष्ट्रसंघ की स्थापना इस सन्धि की महत्त्वपूर्ण सफलताएँ थीं। यह सन्धि अत्यन्त कठोर और बहुत अंशों में अन्यायपूर्ण थी, परन्तु वर्साय की सन्धि के निर्माताओं ने न केवल जर्मनी का विध्वंस नहीं किया अपितु अपनी शर्तों की कठोरता को कम करने के लिए दो उपायों की व्यवस्था भी की। पहला तो क्षतिपूर्ति आयोग की नियुक्ति थी जो उसकी हर्जाने की राशि को कम कर सकता था और दूसरा राष्ट्र-संघ था जो उसके अन्याय को हटा सकता था। परन्तु इतना होते हुए भी वर्साय सन्धि की गणना बुद्धिमत्तापूर्ण शान्ति सन्धियों में नहीं की जा सकती। इसमें अनेक गम्भीर दोष थे। वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सहयोग के आधुनिक सिद्धांतों के अनुकूल नहीं थी। यह ठीक ही कहा गया है कि इस सन्धि के द्वारा चिरस्थायी शान्ति की स्थापना का एक स्वर्णिम अवसर खो दिया गया।

16.20 सारांश (Summary)

वाशिंगटन-सम्मेलन का एक महत्त्वपूर्ण सफलता के रूप में स्वागत हुआ और यह अकारण नहीं था। उसके फलस्वरूप प्रत्यक्षत: प्रशान्त महासागर में युद्धपूर्व का शक्ति-सन्तुलन पुन: स्थापित हो गया। दृढ़ ऐंग्लो-अमेरिकी मोर्चे से भयभीत होकर और विश्व-लोकमत के नैतिक दबाव के कारण जापान ने यद्यपि प्रकट रूप से अपनी पराजय स्वीकार नहीं की थी, तथापि उसने महत्त्वाकांक्षाओं पर काफी कड़ा अंकुश स्वीकार कर लिया था। चीन की मुख्य भूमि पर युद्ध से उसे जो एकमात्र प्राप्ति हुई थी, उसका भी परित्याग कर देने के लिए उसे राजी कर लिया गया था। उसने ब्रिटिश साम्राज्य और यूनाइटेड स्टेट्स के साथ नौसैनिक समानता का दावा करने का साहस नहीं किया था और उसके अपने बेड़े के टनभार (Tonnage) के लिए ब्रिटिश और अमेरिकन टनभार के 70 प्रतिशत की उसकी माँग कम कर 60 प्रतिशत कर दी गई थी। इस प्रकार चीन की अखण्डता और प्रशान्त महासागर में ऐंग्लो-अमेरिकी सामुद्रिक प्रभुत्व के लिए जापानी खतरा दूर किया जा चुका था। किन्तु फिर भी वाशिंगटन-सन्धियों से उत्पन्न यह स्थिति खतरे से खाली नहीं थी क्योंकि उसका आधार एशिया की मुख्य भूमि पर आगे बढ़ने की अपनी नीति का जापान द्वारा अनिच्छापूर्वक त्याग था। यह निश्चित था कि कभी न कभी, अपनी शक्ति से परिचित होते ही, जापान वाशिंगटन-समझौते से हुई अपनी प्रतिष्ठा-हानि का विरोध अवश्य करेगा। यह मूल प्रश्न कि सुदूर-पूर्व में ऐंग्लो-सेक्सन प्रभुत्व रहेगा या जापान की ही तूती बजेगी, अभी भी अनिर्णीत था। किन्तु यह वाशिंगटन-सम्मेलन का ही परिणाम था कि यह प्रश्न ठीक दस वर्ष तक स्थगित ही पड़ा रहा।

16.21 शब्दकोश (Keywords)

नोट

1. संधि (Treaty)–समझौता।
2. यथास्थिति (Status quo)–स्थिति जैसी अभी है।

16.22 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. यूरोपीय समझौते का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
2. 'वर्साय संधि' से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
3. सन् 1913 का समझौता क्या था? उल्लेख कीजिए।
4. लोसाँ की संधि किसके साथ हुई थी? इसका संक्षेप में वर्णन कीजिए।
5. पेरिस के शांति-सम्मेलन से आप क्या समझते हैं? वर्णन कीजिए।
6. वर्साय की सन्धि की विफलता का वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. वर्साय की सन्धि
2. सार (Saar)
3. नवंबर, 1918 में
4. (क) 28 जुलाई, 1914
5. (घ) 11 नवंबर
6. (क) 28 जून, 1919

16.23 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
2. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
4. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
5. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
6. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
7. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*

नोट

इकाई 17: साम्राज्यवाद (Imperialism)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

17.1 साम्राज्यवाद का प्रसार (Spread of Imperialism)

17.2 विचारों के क्षेत्र में क्रांति (Revolution in the Field of Thoughts)

17.3 उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद (Colonialism and Imperialism in 19th and 20th Centuries)

17.4 साम्राज्यवाद के उत्थान एवं विकास के कारण (Causes of Rising up of Imperialism and Development)

17.5 अफ्रीका में साम्राज्यवाद: अफ्रीका का विभाजन (Imperialism in Africa : Partition of Africa)

17.6 लिओपोल्ड द्वितीय द्वारा अफ्रीका-विभाजन का सूत्रपात्र (Beginning of Africa-Partition by Leopold II)

17.7 सारांश (Summary)

17.8 शब्दकोश (Keywords)

17.9 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

17.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- साम्राज्यवाद का प्रसार जानने में।
- विचारों के क्षेत्र में क्रान्ति को जानने में।
- अफ्रीका में साम्राज्यवाद को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

इंग्लैण्ड में उदारवाद के अन्तर्गत आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप की अवांछनीयता (Laissez faire) का सिद्धान्त भी स्वीकार किया गया था। उन्नीसवीं शताब्दी में इस सिद्धान्त का विकास करते हुये जर्मन विचारक

फर्डीनेण्ड लासाल ने 'मजदूरी के लौह नियम' (Iron-Law of Wages) की घोषणा की थी। डेविड रिकार्डो का भी मत था कि प्रत्येक राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था कुछ अटल नियमों पर आधारित है जिनमें से एक 'मजदूरी का लौह-नियम' है। इस नियम के अनुसार मजदूर के लिये केवल जीविका से अधिक कमा सकना असम्भव है।

नोट

17.1 साम्राज्यवाद का प्रसार (Spread of Imperialism)

पूँजीवाद ने साम्राज्यवाद के प्रसार में योगदान किया, पिछड़े देशों की स्वतंत्रता को विनष्ट किया। कारखानों की उन्नति के साथ उत्पादन में वृद्धि हुई। शीघ्र ही उत्पादन इतना बढ़ गया कि देश में उसकी खपत नहीं रही और बचे हुये माल को बेचने के लिये बाहर बाज़ार की तलाश करनी पड़ी। अन्ततोगत्वा औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप इंग्लैण्ड तथा कालान्तर में यूरोप का माल अमेरीका, अफ्रीका तथा एशिया के बाज़ारों में बिकने लगा। शनैः-शनैः इन क्षेत्रों में यूरोपियनों के उपनिवेश बसने लगे परन्तु जब विभिन्न यूरोपीय देशों में प्रतिद्वन्द्विता बढ़ी तो उपनिवेशों पर एकाधिकार करने और अधिकाधिक प्रदेशों पर अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न होने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में यूरोपीय राज्यों में बड़ी भीषण औपनिवेशिक स्पर्द्धा रही। इस स्पर्द्धा के फलस्वरूप इंग्लैण्ड, फ्रांस, बेल्जियम, हॉलैण्ड आदि ने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित कर लिये। इस स्पर्द्धा से अन्तर्राष्ट्रीय मनोमालिन्य बढ़ा तथा यूरोप का अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण अत्यन्त अशान्त बन गया।

नोट्स पूँजीवाद ने साम्राज्यवाद के प्रसार में योगदान किया और पिछड़े देशों की स्वतंत्रता को विनष्ट किया।

17.2 विचारों के क्षेत्र में क्रान्ति (Revolution in the Field of Thoughts)

औद्योगिक क्रान्ति, पूँजीवाद के प्रसार तथा साम्राज्यवाद से उत्पन्न नवीन परिस्थितियों के कारण विचारों के क्षेत्र में क्रान्ति आ गई। अठारहवीं शताब्दी में यूरोप में उदारवाद (Liberalism) का प्रचार था, जिसका आधार वैयक्तिक स्वतन्त्रता का सिद्धान्त था। अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिकों एवं विचारकों ने इसे जन्म दिया था और 1789 की फ्रांस की क्रान्ति ने इसकी पुष्टि की थी। उदारवाद का सिद्धान्त प्रधानतः राजनीतिक था और उससे साधारणतया पाँच बातों का बोध होता था-

(*i*) सांविधानिक एकतन्त्र अथवा संविधानवाद

(*ii*) जनता का प्रभुत्व

(*iii*) कानून के समक्ष सभी की समानता

(*iv*) धार्मिक सहिष्णुता

(*v*) राष्ट्रीयता

स्वतंत्र प्रतियोगिता पूँजीवादी व्यवस्था का आधार स्तम्भ है, यह स्पष्ट है कि इन अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों से उस व्यवस्था को पूर्ण सैद्धान्तिक समर्थन प्राप्त होता है, जिन विभिन्न प्रकार की स्वतन्त्रताओं का वे प्रतिपादन करते थे, वे सब पूँजीवाद के हित में थीं, जैसे स्वतन्त्र व्यापार, स्वतन्त्र इकरार (जिसके अनुसार पूँजीपति अपनी इच्छानुसार मजदूरों को नियुक्त कर सकता था और निकाल सकता था), स्वतंत्र प्रतियोगिता, सरकारी हस्तक्षेप से स्वतन्त्रता (क्योंकि सरकार मजदूरों के हित में इस भ्रमपूर्ण सिद्धान्त के आधार पर हस्तक्षेप करती थी कि उनकी दुर्दशा

नोट

पूँजीपतियों के क्रूर स्वार्थ के कारण थी) आदि। उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में औद्योगिक क्रान्ति के व्यापक हो जाने के उपरान्त पूँजीपतियों और मध्यवर्ग का समाज में प्राधान्य बढ़ता गया, इसका प्रभाव राजनीतिक क्षेत्र में दृष्टिगत हुआ। उन्होंने सामन्तों के महत्त्व का विरोध किया और वैयक्तिक स्वतन्त्रता के आधार पर, जिससे वास्तव में उन्हीं की स्वतन्त्रता का आशय था, राजनीतिक शक्ति अपने हाथ में ले ली परन्तु मध्यवर्ग के इस प्राधान्य का विरोध अवश्यम्भावी था। दलित मजदूर वर्ग उनके अत्याचार को अधिक दिनों तक सहन नहीं कर सकता था। शनैः-शनैः मजदूर वर्ग भी संगठित होने लगा। मजदूरों की दुर्दशा की ओर कुछ विचारकों ने ध्यान आकृष्ट किया फलस्वरूप वैयक्तिक स्वतन्त्रता के मुकाबले में समाजवाद का प्रचार प्रारम्भ हुआ।

क्या आप जानते हैं जर्मन विचारक फर्डीनेंड लासाल ने 'मजदूरी के लौह नियम' की घोषणा की थी।

17.3 उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद (Colonialism and Imperialism in 19th and 20th Centuries)

औपनिवेशिक इतिहास में 1815 के उपरान्त औपनिवेशिक उदासीनता का अन्त हो गया। उपनिवेशों के प्रति यूरोपीय शक्तियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन भी दृष्टिगत हुआ और साम्राज्यवाद ने नया रूप धारण कर लिया। 1880 से अगले 25 वर्षों में नये साम्राज्यवाद ने विशेष आकार ग्रहण किया तथा संसार के अनाधिकृत अथवा पिछड़े हुये प्रदेशों पर अधिकार करने के लिए यूरोप की महान सत्ताओं में भयंकर स्पर्धा रही जिसके फलस्वरूप उन्होंने समस्त अफ्रीका को परस्पर बाँट लिया और एशिया के कई प्रदेशों तथा प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीपों पर अधिकार कर लिया।

व्यापक अर्थों में साम्राज्यवाद से अभिप्राय उस प्रक्रिया से है जब एक देश दूसरे की सीमाओं का अतिक्रमण करके अपनी सीमाओं का विस्तार करता है। **प्रो. शूमेन** ने लिखा हैं–'अधीन देशों पर शक्ति और हिंसा के द्वारा विदेशी राज्य बनाये रखने को साम्राज्यवाद कहते हैं।' **प्रो. लेंगर** ने साम्राज्यवाद को अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा– "साम्राज्यवाद से तात्पर्य उस तीव्र इच्छा से है जिसके कारण एक राज्य के लोग राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से, प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से, किसी दूसरे समूह या भू-क्षेत्र पर अधिकार जमाने का प्रयत्न करते हैं।"

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. औपनिवेशिक इतिहास में ..... के उपरांत औपनिवेशिक उदासीनता का अंत हो गया।
2. स्वतंत्र प्रतियोगिता ..... का आधार स्तंभ है।
3. उदारवाद का सिद्धांत प्रधानतः ..... था।

17.4 साम्राज्यवाद के उत्थान एवं विकास के कारण (Causes of Rising up of Imperialism and Development)

1. आर्थिक कारण- औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप जैसे-जैसे उद्योगों और व्यापार का विकास हुआ, उसी के तदनुसार कच्चे माल की प्राप्ति और उत्पादन की खपत के लिये यूरोपीय देशों में प्रतिस्पर्धा आरम्भ हो गई। इसी प्रतिस्पर्धा का शिकार अफ्रीका महाद्वीप और एशियाई क्षेत्र बने। आर्थिक क्षेत्र में साम्राज्यवादी देशों के लिये अधीन देश या उपनिवेश 'अतिरिक्त धन के निवेश' का कार्य भी करते थे। अतिरिक्त पूँजी को अधिक गुणकों में बढ़ाने

नोट

के लिये उपनिवेश उपयुक्त साधन थे। उन्नीसवीं शताब्दी का अन्तिम चरण जिसमें यूरोप में सर्वत्र संरक्षण की नीति जारी थी, औपनिवेशिक विस्तार का काल था।

2. जनसंख्या वृद्धि के लिये आवास और व्यवसाय की सुविधा- यूरोप के देशों में जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। औद्योगीकरण के फलस्वरूप गाँव के लोग रोजगार की तलाश में नगरों में बसने लगे थे परन्तु यूरोप के देश बढ़ती हुई आबादी के लिये पर्याप्त नहीं थे अतः यूरोपियनों ने औपनिवेशिक, साम्राज्यवाद का मार्ग अपनाया जहाँ बढ़ी हुई जनसंख्या को व्यवसाय व आवास प्राप्त हो सके।

3. यातायात के साधनों में सुधार- यातायात के साधन यूरोपीय देशों की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षा को प्रदीप्त करने में निश्चय ही सहायक सिद्ध हुये। अफ्रीका और एशिया में यूरोपीय उद्योगों का माल यातायात के साधनों के कारण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने लगा। रेलों के आविष्कार, मेकएडम प्रकार की सड़कें तथा भाप से चलने वाले जहाज आदि उत्पादित माल का अपेक्षित स्थान के लिये अपेक्षित समय पर निर्यात कर सकते थे। फलस्वरूप दूर-दूर के प्रदेशों पर अधिकार करना और उन पर शासन करना सरल हो गया था।

4. विजय की महत्त्वाकांक्षाः उग्र राष्ट्रवाद- राष्ट्रवाद उन्नीसवीं शती के अन्त में उग्रता में बदलने लगा, अनेक राष्ट्र केवल अपने-अपने देश के स्वार्थी को महत्त्व देने लगे। प्रत्येक राष्ट्र अपने को महान और दूसरे को हीन समझने लगा। अनेक राष्ट्र शक्ति का आधार साम्राज्य विस्तार को समझने लगे। इस प्रकार शक्ति-प्राप्ति और विजय प्राप्ति की लालसा के कारण ही आधुनिक साम्राज्यवाद का उदय हुआ। इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा जर्मनी ने सामरिक महत्त्व के अनेक प्रदेशों पर अधिकार स्थापित कर लिया। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् फासिस्टवादियों के अनुसार साम्राज्यवाद का अर्थ देश का विस्तार और राष्ट्रीय ओज की अभिव्यक्ति बन गया। अनेक राजनीतिज्ञों में जैसे इंग्लैण्ड के चैम्बरलेन, रोजबरी, किचनर फ्रांस के फेरी और जर्मन सम्राट कैसर विलियम द्वितीय ने साम्राज्यवाद को अपनी कूटनीति तथा लेखन द्वारा प्रोत्साहित किया था।

5. साम्राज्यवादी देशों का प्रचार तंत्र- यूरोपीय देशों का एक वर्ग साम्राज्यवाद को शोषण नहीं मानता था। उनके विचारानुसार पिछड़े हुये देशों को सभ्य बनाने के लिये ही इस व्यवस्था का उदय हुआ था परन्तु यह विचार मात्र ढोंग था। साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने अपने साम्राज्यवादी प्रयास को न्यायोचित सिद्ध करने के लिये यह प्रचार कर रखा था कि उनका लक्ष्य पिछड़ों को सभ्य बनाना है। साम्राज्यवाद के समर्थन में प्रस्तुत किये गये 'श्वेत लोगों के बोझ' (The White Men's Burden) के विषय में यह कहा गया कि सभ्य व सुविकसित अंग्रेजों को पिछड़े हुये देशों के लोगों को प्रगतिशील, सभ्य व ज्ञानवान बनाना चाहिये। **जूल्स फेरी** ने कहा था कि सभ्य जातियों का परम कर्तव्य है कि वे पिछड़े हुये लोगों को सभ्य बनायें। ईसाई पादरियों के पक्ष में भी यह तर्क उपस्थित किया गया कि वे लोक सेवा से प्रेरित होकर विश्व के पिछड़े हुये प्रदेशों में जायें परन्तु यह सब दिखावा था। धर्म-प्रचारकों ने शासकों का साथ साम्राज्य विस्तार में दिया था। लन्दन की धर्म प्रचार समिति (Missionary Society) ने अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार के लिए निरन्तर प्रयत्न किये थे।

17.5 अफ्रीका में साम्राज्यवादः अफ्रीका का विभाजन (Imperialism in Africa : Partition of Africa)

उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपीय साम्राज्यवादी इतिहास की एक प्रमुख विशेषता 'अफ्रीका का विभाजन' (The Partition of Africa) है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक अफ्रीका महाद्वीप के सम्बन्ध में जानकारी अत्यल्प थी इसीलिये इसे 'अन्ध महाद्वीप' (Dark Continent) के नाम से पुकारा जाता था। अन्वेषकों ने, धर्म प्रचारकों ने, राष्ट्र की आर्थिक साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं ने (यूरोपियन राष्ट्रों) और दास व्यापार ने अफ्रीका के विस्तृत भू-भाग की जानकारी की पर्तें खोली और फिर अत्यन्त पिछड़ा हुआ महाद्वीप यूरोपीय देशों की महत्त्वाकांक्षाओं का शिकार बन गया। स्वेज नहर के निर्माण से यह क्षेत्र अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण हो गया।

नोट

अफ्रीकी अन्वेषणकर्ताओं में अंग्रेज, फ्रेंच, पुर्तगाली, डच, जर्मन और बेल्जियम के अनेकानेक खोजकर्मी सम्मिलित थे। इंग्लैण्ड के डेविड लिविंगस्टोन (David Livingstone) और हेनरी स्टेनली (Henry Stanley) का इन खोजकर्मियों में अग्रणी स्थान है। लिविंगस्टोन अफ्रीकी खोज के कार्य में 1840 से अपनी मृत्यु पर्यन्त (1873)तक संलग्र रहा था। 33 वर्षों के अपने प्रयासों से उसने विश्व को, एक प्रकार से नया महाद्वीप ज्ञात कराया। लिविंगस्टोन ने ऊपरी कांगों की जम्बेसी नदी के मार्ग का पता लगाया, टंगानिका और न्यासा झीलों का समीपवर्ती क्षेत्र ज्ञात किया। उसने उन गहरे और विस्तृत समुद्र को, जहाँ उस समय तक कोई नहीं जा सका था, अफ्रीका के एक किनारे से दूसरे किनारे तक यात्रा की। नि:सन्देह वह भौगोलिक अन्वेषणकर्ताओं में वह सबसे महान था। लिविंगस्टोन अफ्रीका महाद्वीप के स्थलों की खोज में खो गया तो उसका पता लगाने के लिये हेनरी स्टेनली को नियत किया गया। स्टेनली की 1874 से 1878 तक की अफ्रीका की यात्रा का वर्णन यूरोपवासियों के आकर्षण का विषय बन गया। उसकी पुस्तकों 'थ्रू दि डार्क कांटीनेंट' (Through the Dark Continent) और 'हाउ आई फाउंड लिविंगस्टोन' (How I Found Livingstone) से यूरोपीय लोगों को अफ्रीका महाद्वीप की विस्तृत जानकारी प्राप्त हुई।

इसी प्रकार औद्योगिक क्रान्ति के कारण जहाँ कल-कारखानों का विस्तार हुआ था वहाँ व्यापार में वृद्धि के लिये नवीन क्षेत्रों की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। इसके लिये अफ्रीका के क्षेत्र जहाँ अभी तक किसी राष्ट्र की पहुँच नहीं हुई थी, महत्त्वपूर्ण समझे जा रहे थे। अफ्रीका प्रदेशों के पिछड़ेपन के कारण ही यूरोप के साम्राज्यवादी देश वहाँ पर अपने-अपने उपनिवेशों की स्थापना करने लगे। इस परिप्रेक्ष्य में डेरी व जारमेन का कथन युक्तिसंगत है– "अफ्रीका की खोज को आधुनिक साम्राज्यवाद की महानतम उपलब्धि कहा जा सकता है। इस कार्य में अन्वेषकों, व्यापारियों, धर्म-प्रचारकों तथा अनेक देशों की सरकारों ने भाग लिया था।" शनै:-शनै: यूरोपीय देशों में अफ्रीकी महाद्वीप को अपने-अपने सुविधा क्षेत्रों में विभाजित कर लिया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. ..... के शासक लिओपोल्ड द्वितीय ने अफ्रीका-विभाजन में विशेष रुचि प्रदर्शित की थी।
   (क) बेल्जियम (ख) फ्रांस (ग) रूस (घ) अमेरिका
5. ..... के विभाजन में इंग्लैण्ड को सर्वाधिक क्षेत्र प्राप्त हुए थे।
   (क) अल्जीरिया (ख) अफ्रीका (ग) बेल्जियम (घ) फ्रांस
6. ..... में स्वेज नहर के निर्माण से मिस्र का महत्त्व बढ़ गया था।
   (क) 1569 (ख) 1669 (ग) 1769 (घ) 1869

17.6 लिओपोल्ड द्वितीय द्वारा अफ्रीका-विभाजन का सूत्रपात (Beginning of Africa-Partition by Leopold II)

बेल्जियम के शासक लिओपोल्ड द्वितीय ने अफ्रीका-विभाजन में विशेष रुचि-प्रदर्शित की थी। उसने अफ्रीका के विषय में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिये 1876 में ब्रूसेल्स में एक सम्मेलन आयोजित किया, जिसमें "अन्तर्राष्ट्रीय अफ्रीकी संघ" की स्थापना की गयी थी। इस संघ का अध्यक्ष स्वयं लिओपोल्ड द्वितीय बना था। उसने स्टेनली की सहायता से 1878 में 'अन्तर्राष्ट्रीय कांगीसंघ' की स्थापना की थी। इस संघ ने अफ्रीका के सरदारों से लगभग 400 संधियाँ करके कम मूल्य पर विस्तृत भू-भाग प्राप्त कर लिये। लिओपोल्ड द्वितीय 1885 में 'कांगो स्वतंत्र राज्य' (Congo Free State) का, जिसमें लगभग 14 लाख वर्ग कि.मी. भू-क्षेत्र और रबड़ तथा हाथी दाँत जैसी

नोट

बहुमूल्य सम्पदा से युक्त क्षेत्र थे, स्वयं राजा बन गया। लिओपोल्ड द्वितीय को इससे 2 करोड़ डालर का लाभ हुआ। यद्यपि 1884–85 की बर्लिन सभा में इस बात पर बल दिया गया कि कांगो राज्य में सभी राष्ट्र समान अधिकार के साथ व्यापार कर सकेंगे, परन्तु इसके सम्पूर्ण अधिकार लिओपोल्ड द्वितीय को ही प्राप्त रहे। 1885 से 1908 तक बेल्जियम तथा कांगो दोनों राज्यों का वही शासक था। एक प्रकार से कांगो राज्य कोई स्वतंत्र राज्य नहीं था अपितु लिओपोल्ड द्वितीय की व्यक्तिगत सम्पत्ति के समान था। 1908 में जनता की आवाज पर कांगो राज्य बेल्जियम का उपनिवेश घोषित किया गया था।

पुर्तगाल के उपनिवेश– 'कांगो स्वतंत्र राज्य' के अनुकरण पर यूरोप के राष्ट्रों में अफ्रीका में भू-भाग प्राप्त करने हेतु तीव्र प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हुई। पुर्तगाल ने अंगोला का क्षेत्र जो कांगो के निकट था, अधिकृत कर लिया। उसने अफ्रीका में दक्षिण-पूर्व के क्षेत्र मोजम्बीक और उसके समीपवर्ती प्रदेश को अधिकृत करके 'पुर्तगाली पूर्वी अफ्रीका' का नाम दिया।

फ्रांस के उपनिवेश– अफ्रीका विभाजन में फ्रांस की भागीदारी भी अत्यधिक थी। 1882 में फ्रांस ने सम्पूर्ण अल्जीरिया पर अधिकार कर लिया, इस उपनिवेश से फ्रांस को अत्यधिक व्यापारिक लाभ हुआ था। इस उपनिवेश (अल्जीरिया) के पूर्व ट्यूनिस पर फ्रांस ने 12 मई, 1881 की बोर्डो सन्धि द्वारा अधिकार स्थापित कर लिया था। फ्रांस के अन्वेषणकर्ता ब्राजा ने कांगो नदी के उत्तर में फ्रांस के लिये उपनिवेश प्राप्त करने में सहयोग किया जिसे 'फ्रांसीसी कांगो' कहा गया था। फ्रांस ने पश्चिमी अफ्रीका में भी अपने साम्राज्य का विस्तार किया। 1900 के लगभग पश्चिमी अफ्रीका के अनेक प्रदेश (सेनेगल, गिनी, आइवरी कोस्ट, दाहोमे, मेरतानिया, फ्रेंच सूडान, वोल्टा, नाइजर क्षेत्र) फ्रांसीसी प्रभाव में आ गये। फ्रांसीसियों ने इन सभी औपनिवेशिक क्षेत्रों का डटकर शोषण किया। 1912 में अफ्रीका के उत्तरी तट पर स्थित मोरक्को भी फ्रांस का संरक्षित राज्य बन गया। इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली, जर्मन आदि के मध्य अफ्रीका के प्रदेशों के विभाजनार्थ पारस्परिक समझौते भी सम्पन्न हुये, इसी समझौतों के फलस्वरूप फ्रेंच कांगो का एक लाख वर्ग कि.मी. के लगभग का प्रदेश जर्मनी को प्राप्त हुआ। 1899 के समझौते के अनुसार सूडान का जो भाग मिस्र का था, ब्रिटेन को प्राप्त हुआ था। मध्य तथा पश्चिमी सूडान फ्रांस को मिला था।

इंग्लैण्ड के उपनिवेश– अफ्रीका के विभाजन में इंग्लैण्ड को सर्वाधिक क्षेत्र प्राप्त हुये थे। उसके पास सम्पूर्ण महाद्वीप का लगभग एक तिहाई क्षेत्र आ गया था। 1869 में स्वेज नहर के निर्माण से मिस्र का महत्त्व बढ़ गया था, स्वेज नहर के निर्माण का अधिकार फ्रांस की कम्पनी को प्राप्त था। अत: फ्रांस की दृष्टि मिस्र पर थी परन्तु इंग्लैण्ड की महत्त्वाकांक्षा मिस्र में अग्रसारित थी अत: 1869 में इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री डिजरायली ने मिस्र के पाशा से स्वेज नहर के शेयर खरीद लिये। यहाँ का पाशा खदीव इस्माइल का प्रशासन अपव्ययी, भ्रष्ट एवं अत्याचारी था। कमजोर अर्थव्यवस्था के कारण मिस्र में विदेशी प्रभाव बढ़ रहा था, ऐसी स्थिति में इंग्लैण्ड ने सैनिक हस्तक्षेप द्वारा 13 सितम्बर, 1882 को तेल-अल-कबीर की लड़ाई में अरबी पाशा को पराजित कर मिस्र पर अधिकार कर लिया। फ्रांस ने 1904 के एक समझौते के द्वारा इंग्लैण्ड के प्रभाव को मान्यता दे दी। इस प्रकार प्रथम महायुद्ध तक (1914) मिस्र को स्वतन्त्रता दे दी परन्तु स्वेज पर उसके अधिकार बने रहे। सूडान पर 1899 के समझौते के अनुसार फ्रांस, इंग्लैण्ड दोनों का अधिकार स्वीकार कर लिया गया था। पूर्वी अफ्रीका में इंग्लैण्ड को युगान्डा और सोमालीलैण्ड के कुछ क्षेत्र और 1890 में जंजीबार के उपनिवेश मिल गये थे। पश्चिमी अफ्रीका में उसे नाइजीरिया, गोल्ड-कोस्ट, सायरालियोन और गैम्बिया आदि पर अधिकार प्राप्त हो गया था। दक्षिणी अफ्रीका में ब्रिटेन ने 1814 में केपकॉलोनी हालैण्ड से खरीद लिया था। 1824-1843 के प्रयासों में इंग्लैण्ड को नेटाल पर अधिकार प्राप्त हो गया था। दक्षिणी अफ्रीका में ट्रांसवाल पर अधिकार प्राप्त करने के लिये इंग्लैण्ड को भीषण संघर्ष से गुजरना पड़ा था। 1902 की नेरीनाइंग की सन्धि के द्वारा बोअर युद्धोपरान्त ट्रांसवाल पर इंग्लैण्ड का अधिकार स्थापित हो गया था। अंग्रेज सेसिल रोड्स ने अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार में अत्यधिक योगदान किया था। उसी के नाम पर एक अफ्रीकी उपनिवेश का नाम रोडेशिया रखा गया जिसे जिम्बाब्वे के नाम से भी जाना जाता है। बेचुआना लैंड, रोडेशिया, स्वाजीलैण्ड, बसूटोलैंड पर ब्रिटिश प्रभुत्व स्थापित हो गया था।

नोट

जर्मनी के उपनिवेश- 1880 के पश्चात् अपने औद्योगिक व आर्थिक विकास के कारण जर्मनी भी उपनिवेश प्राप्त करने के लिये प्रतिद्वन्द्वी बना। सर्वप्रथम जर्मनी ने टोगोलैण्ड नामक प्रदेश संरक्षण में लेकर उपनिवेश प्राप्ति का खाता खोला। इसके पश्चात् केमरून, 1884 में जंजीबार और उसके समीपवर्ती क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। यह 'जर्मन पूर्वी अफ्रीका' के नाम से प्रसिद्ध रहा। 1890 में जर्मनी ने यह प्रदेश इंग्लैण्ड को देकर हैलीगोलैण्ड का द्वीप प्राप्त किया था।

इटली के उपनिवेश- 1870 के पश्चात् इटली की महत्त्वाकांक्षा साम्राज्य विस्तार के क्षेत्र में दिग्दर्शित हुई थी। 1882 में इटली ने एरीट्रिया और कुछ समयोपरान्त सोमालीलैण्ड का क्षेत्र अधिकृत कर लिया था। 1912 में इटली ने ट्रिपोली और सिरेनिका के उपनिवेश प्राप्त कर लिये थे।

अफ्रीका के विभाजन की मुख्य विशेषता इस तथ्य में निहित है कि विभाजन को लेकर राष्ट्रों में परस्पर तनाव तो दिखाई पड़ा अथवा स्थानीय संघर्ष हुये परन्तु कोई व्यापक युद्ध नहीं हुआ। नि:सन्देह, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ की यह घटना 'अफ्रीका का बँटवारा' युग की एक अत्यन्त असाधारण घटना स्वीकार की जाती है। इसकी असाधारणता दो बातों में दृष्टिगत होती है। प्रथम इतना बड़ा कार्य बिना युद्ध के ही हो गया था। समय-समय पर विभिन्न राष्ट्रों के बीच तनातनी हुई, कटुता भी उत्पन्न हुई, संघर्ष की सम्भावनायें भी दिखाई दीं, परन्तु सभी संकटों का कूटनीति द्वारा निवारण हो गया और कोई व्यापक युद्ध नहीं हुआ। द्वितीय, यह बँटवारा धीरे-धीरे क्रमिक रूप से नहीं अपितु बड़ी तीव्रता से हुआ और पच्चीस-तीस वर्ष में समाप्त हो गया। इसका कारण यह था कि इस समय जर्मनी तथा इटली के नये साम्राज्यहीन किन्तु उग्र राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण राज्य मैदान में आ गये थे जो शीघ्रातिशीघ्र अपने लिये साम्राज्य की स्थापना के लिये लालायित थे। इल नवागन्तुकों को लक्ष्य कर इंग्लैण्ड और फ्रांस ने अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा को तीव्र कर दिया। प्रत्येक राष्ट्र शीघ्रातिशीघ्र और अधिकाधिक प्रदेश हस्तगत करने के लिये प्रयत्नशील हो गया। इस प्रकार अफ्रीका का विभाजन बड़ी तेजी से समाप्त हो गया।

एशिया में साम्राज्यवाद:

अफ्रीका के साथ-साथ यूरोपीय देशों ने एशिया में भी उपनिवेश स्थापित किये। इसका मूल कारण था एशिया में सभी देशों की सरकारों की निर्बल स्थिति। आर्थिक दृष्टि से एशिया के देश यूरोप की तुलना में पिछड़े हुये थे परन्तु एशिया की जनता पर प्राचीन सभ्यता का प्रभाव था। एशिया के देशों ने यूरोपीय साम्राज्यवाद को ईश्वर की अनुकम्पा समझकर स्वीकार नहीं किया। एशिया में जापान एक ऐसी शक्ति के रूप में उदय हुआ जिसने यूरोपीय साम्राज्यवाद की जड़ों को हिला दिया और स्वयं साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में उपस्थित होना आरम्भ कर दिया।

चीन में यूरोपीय साम्राज्यवाद:

चीन यूरोपीय साम्राज्यवाद का शिकार रहा। चीन में मन्चू वंश का शासनकाल निर्बलता का द्योतक था। चीन का इस दुर्बल स्थिति को यूरोपियन साम्राज्यवादी ने लाभ उठाया। वे चीन में अधिक सुविधायें प्राप्त करने लगे। चीनी प्रशासन ने विदेशी व्यापार व विदेशी प्रभाव को रोकने के प्रयत्न किये। परिणामस्वरूप 1839 में प्रथम अफीम युद्ध (Opium War) हुआ। युद्ध में इंग्लैण्ड ने चीन को पराजित कर दिया तथा 1842 की नानकिंग की सन्धि द्वारा चीन को अनेकानेक रियायतें इंग्लैण्ड को देना स्वीकार करनी पड़ी थीं। तत्पश्चात् फ्रांस, स्पेन, बेल्जियम और अमेरिका की सरकारों ने भी शीघ्र ही चीन में अनेक सुविधायें प्राप्त कर लीं। इस प्रकार नानकिंग सन्धि से विदेशियों ने चीन में सुविधा के प्राप्त करने का क्रम प्रारम्भ कर दिया था। इस बढ़ते साम्राज्यवादी हस्तक्षेप के कारण 1857 में चीन में द्वितीय अफीम युद्ध हो गया। 1858 की तिन्तसिन सन्धि के द्वारा अनेक अधिकार अंग्रेजों को प्राप्त हो गये। इंग्लैण्ड को अफीम के व्यापार का अधिकार मिल गया। चीन के लगभग सभी बन्दरगाह इंग्लैण्ड के व्यापार के लिये खुल गये। चीन में यूरोपीय साम्राज्यवाद के चरमोत्कर्ष का प्रतीक 1894-95 का चीन-जापान युद्ध था। इस युद्ध में चीन-जापान द्वारा पराजित हो गया। चीन को अनेक सुविधायें विजेता (जापान) को देनी पड़ीं तथा क्षतिपूर्ति के रूप में 15 करोड़ डालर की राशि देने का वचन भी देना पड़ा। चीन की आर्थिक स्थिति इस क्षतिपूर्ति की अदायगी का भार सहन करने में असमर्थ हो गयी। अत: फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी और रूस ने चीन की सहायता की परन्तु यह सहायता चीन को अत्यधिक

महँगी पड़ी। यूरोपीय राष्ट्र चीन में निरन्तर हस्तक्षेप करके अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करने लगे। अन्ततः चीन को दबना पड़ा और वह उन सबके शोषण का शिकार हो गया।

नोट

इसी प्रकार इन साम्राज्यवादी शक्तियों ने प्रशान्त महासागर के द्वीपों व दक्षिण-पूर्व एशिया के क्षेत्रों पर भी अपनी पकड़ स्थापित कर शोषण की प्रक्रिया को तीव्र कर दिया। 1900 शती तक प्रायः समस्त द्वीप किसी न किसी के पास पहुँच गये थे। इंग्लैण्ड और फ्रांस वहाँ पहले पहुँचे थे, अतः अधिकांश द्वीप उनके हाथ लगे। हालैण्ड को भी एशिया के दक्षिण-पश्चिम में पूर्वी इण्डीज के द्वीप-समूह में विस्तृत साम्राज्य बना रहा। जर्मनी ने न्यूगिनी के विशाल द्वीप के एक भाग तथा उसके उत्तर की ओर के कई द्वीप और सेमोआ द्वीप समूह के दो सबसे बड़े द्वीपों पर अधिकार कर लिया। संयुक्त राज्य अमरीका ने ग्वाम तथा फिलिपाइन द्वीप अधिकृत कर लिये। 1898 में संयुक्त राज्य अमरीका ने हवाई द्वीप पर अधिकार कर लिया था। 1899-1900 में इंग्लैण्ड तथा जर्मनी ने मिलकर सेमोआ द्वीप समूह से कई द्वीपों को भी अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था। 1900 के एक समझौते द्वारा इन साम्राज्यवादी शक्तियों ने परस्पर अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों का निर्धारण भी कर लिया था।

टास्क उन्नीसवीं सदी के यूरोपीय साम्राज्यवादी इतिहास की प्रमुख विशेषता क्या थी?

साम्राज्यवाद के परिणामः मूल्यांकन

अफ्रीका और एशिया में यूरोपीय साम्राज्यवाद के अनेक परिणाम दृष्टिगत हुये-

(*i*) साम्राज्यवादी शक्तियों के शोषण के फलस्वरूप इन अफ्रीकी- एशियायी क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था नष्टप्राय हो गई। साम्राज्यवादी देश इन उननिवेशों से कच्चा माल ले जाते थे और उत्पादित माल वहाँ भेजते थे, जिसके परिणामस्वरूप स्थानीय उद्योग नष्ट होने लगे। इन यूरोपीय साम्राज्यवादियों ने विदेशी जमींदारों और व्यापारियों को अनेक सुविधाएँ प्रदान कर रखी थीं। विदेशी जमींदारों को बहुत कम लगान पर भूमि मिल जाती थी। ये भाँति-भाँति से उपनिवेशों की जनता का शोषण करते थे। उन्हें कम मजदूरी देते थे। अपनी उत्पादित वस्तुएँ ऊँची कीमतों पर बेचते थे। इस प्रकार उपनिवेश आर्थिक दृष्टि से पिछड़ गये।

(*ii*) साम्राज्यवादी देशों के प्रभाव ने समाज में दो वर्गों को जन्म दिया– शोषक और शोषित। यूरोपीय अपने को प्रत्येक दृष्टि से श्रेष्ठ समझते थे। स्थानीय जनता को हीन समझते थे। उनसे घृणा करते थे। समस्त उच्च प्रशासनिक पदों पर यूरोपियनों का एकाधिकार था। इन उपनिवेशों की जनता प्रत्येक प्रकार के सामाजिक भेदभाव का शिकार रही थी।

(*iii*) साम्राज्यवादी देशों के प्रभाव से इन उपनिवेशों की जनता में अन्ततोगत्वा सशक्त जन-जागरण दृष्टिगत हुआ। यूरोपीय शोषण-लूटपाट व अमानवीय कृत्यों से उत्पन्न अकुलाहट ने उन्हें अपनी निर्बलताओं को पहचानने की क्षमता प्रदान की। अपनी प्राचीन संस्कृति से प्रेरणा पाने की शक्ति प्रदान की तथा उनमें स्वातन्त्र्य प्रेम उद्भासित होकर देशभक्ति की भावना का संचार हुआ जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आंदोलन का सूत्रपात हुआ और वे सभी अपनी स्वतंत्र राष्ट्रीय छवि प्राप्त करने के लिए साम्राज्यवादियों के विरुद्ध संघर्षशील हो गये।

17.7 सारांश (Sumamry)

अफ्रीका के विभाजन की मुख्य विशेषता इस तथ्य में निहित है कि विभाजन को लेकर राष्ट्रों में परस्पर तनाव तो दिखाई पड़ा अथवा स्थानीय संघर्ष हुये परन्तु कोई व्यापक युद्ध नहीं हुआ। निःसन्देह, उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ की यह घटना 'अफ्रीका का बँटवारा' युग की एक अत्यन्त असाधारण घटना स्वीकार की

नोट

जाती है। इसकी असाधारणता दो बातों में दृष्टिगत होती है। प्रथम, इतना बड़ा कार्य बिना युद्ध के ही हो गया था। समय-समय पर विभिन्न राष्ट्रों के बीच तनातनी हुई, कटुता भी उत्पन्न हुई, संघर्ष की सम्भावनायें भी दिखाई दीं, परन्तु सभी संकटों का कूटनीति द्वारा निवारण हो गया और कोई व्यापक युद्ध नहीं हुआ। द्वितीय, यह बँटवारा धीरे-धीरे क्रमिक रूप से नहीं अपितु बड़ी तीव्रता से हुआ और पच्चीस-तीस वर्ष में समाप्त हो गया। इसका कारण यह था कि इस समय जर्मनी तथा इटली के नये साम्राज्यहीन किन्तु उग्र राष्ट्रीय भावना से परिपूर्ण राज्य मैदान में आ गये थे जो शीघ्रातिशीघ्र अपने लिये साम्राज्य की स्थापना के लिये लालायित थे। इल नवागन्तुकों को लक्ष्य कर इंग्लैण्ड और फ्रांस ने अन्तर्राष्ट्रीय स्पर्धा को तीव्र कर दिया। प्रत्येक राष्ट्र शीघ्रातिशीघ्र और अधिकाधिक प्रदेश हस्तगत करने के लिये प्रयत्नशील हो गया। इस प्रकार अफ्रीका का विभाजन बड़ी तेजी से समाप्त हो गया।

17.8 शब्दकोश (Keywords)

1. विभाजन (Partition)–बँटवारा
2. पूँजीपति (Capitalist)–धनवान व्यक्ति

17.9 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. साम्राज्यवाद के प्रसार पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
2. साम्राज्यवाद के उत्थान और विकास के कारणों का वर्णन कीजिए।
3. 'अफ्रीका का विभाजन' पर टिप्पणी लिखिए।
4. अफ्रीका और एशिया में यूरोपीय साम्राज्यवाद के परिणामों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. 1815	2. पूँजीवादी व्यवस्था	3. राजनीतिक
4. (क) बेल्जियम	5. (ख) अफ्रीका	6. (घ) 1869

17.10 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
2. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
3. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
4. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
5. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
6. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
7. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*

नोट

इकाई 18: उपनिवेशवाद (Colonialism)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

18.1 उपनिवेशी साम्राज्य के कारण (Causes of Colonial Empire)

18.2 अफ्रीका में उपनिवेशी साम्राज्य (Colonial Empire in Africa)

18.3 एशिया में उपनिवेशी साम्राज्य (Colonial Empire in Asia)

18.4 उपनिवेशी साम्राज्यवाद के प्रभाव (Effects of Colonial Imperialism)

18.5 सारांश (Summary)

18.6 शब्दकोश (Keywords)

18.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

18.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- उपनिवेशी साम्राज्य के कारण जानने में।
- अफ्रीका में उपनिवेशी साम्राज्य को जानने में।
- उपनिवेशी साम्राज्यवाद के प्रभाव को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

आधुनिक युग का इतिहास और विशेष रूप से पुनर्जागरण और औद्योगिक क्रांति के बाद का इतिहास उपनिवेशी साम्राज्य का इतिहास कहा जाता है। प्राचीन काल में उपनिवेश बसाने तथा नए राज्यों को जीतकर साम्राज्य बढ़ाने के पीछे एक भिन्न भावना थी, किन्तु आधुनिक युग में एक नए लक्ष्य के लिए उपनिवेशी साम्राज्यों की स्थापना हुई। उपनिवेशी साम्राज्यों की स्थापना इतिहास की आवश्यकता थी किन्तु यह मानव इतिहास का एक कलंकित पृष्ठ है। कलंकित इसलिए है कि इसी के कारण अनेक युद्ध व संघर्ष हुए, अनेक देशों को गुलाम बनाया गया, उनकी आजादी तथा विकास की आकांक्षाओं की हत्या की गई और अनेक जातियों पर निर्मम अत्याचार करके उनकी सुख-शान्ति नष्ट की गई तथा उनका शोषण किया गया।

प्रश्न यह है कि उपनिवेशी साम्राज्य की आवश्यकता क्या थी? इसका आरम्भ कैसे तथा किन कारणों से हुआ।

नोट

18.1 उपनिवेशी साम्राज्य के कारण (Causes of Colonial Empire)

आधुनिक युग में उपनिवेशी साम्राज्य की स्थापना और उसके विस्तार के अनेक कारण थे, जिनमें महत्त्वपूर्ण ये थे–

1. भौगोलिक खोजें– पुनर्जागरण और भौगोलिक खोजों के परिणामस्वरूप संसार के ऐसे अनेक भागों का पता लग गया, जहाँ अपना प्रभुत्व जमा कर यूरोप के लोग अपना स्वार्थ-साधन कर सकते थे। इस कार्य में स्पेन, पुर्तगाल, हालैंड, फ्रांस और इंग्लैण्ड ने प्रमुख रूप से भाग लिया। उनमें आपसी प्रतिद्वन्द्विता भी पैदा हो गई और उनमें अनेक विनाशकारी युद्ध भी हुए। इन देशों ने संसार के हर भाग में नवीन उपनिवेश स्थापित किए और वहाँ की स्मृद्धि को लूटने की कोशिश की।

2. नए आविष्कारों व शस्त्रास्त्रों का जन्म– यातायात के साधनों में सुधार, नए आविष्कारों तथा नए शस्त्रास्त्रों के जन्म ने यूरोप की इन शक्तियों को इतना शक्तिशाली बना दिया कि ये कहीं भी जाकर शक्ति के बल पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकें और वहाँ के लोगों को अपनी अधीनता स्वीकार कराने के लिए बाध्य कर सकें।

3. औद्योगिक सामान बेचने के लिए बाजारों को आवश्यकता– यूरोप में हुई औद्योगिक क्रांति ने यूरोप के देशों और विशेषतया इंग्लैण्ड को बाध्य किया कि वे अपना औद्योगिक सामान बेचने के लिए विदेशों में अपने बाजार स्थापित करें। विदेशी बाजारों की स्थापना के लिए यूरोप के अनेक देश प्रयत्नशील थे, उनमें जोरदार होड़ थी और वे अपने उपनिवेश में किसी दूसरे देश को व्यापार करने या वस्तुएँ बेचने की सुविधा देने को तैयार नहीं थे। अत: उपनिवेशों पर पूर्ण नियंत्रण व प्रभुत्व स्थापित करना आवश्यक था।

4. कच्चे माल की आवश्यकता– औद्योगिक क्रांति ने यूरोप के देशों को कच्चे माल की आवश्यकता बहुत बढ़ा दी। औद्योगिक कच्चा माल उन्हें यूरोप के बाहर से ही मिल सकता था। इस मामले में भी यूरोप के देशों में प्रतिद्वन्द्विता थी। यूरोप का हर देश अधिक उपनिवेश स्थापित करके वहाँ से कच्चा माल सस्ती कीमत पर प्राप्त करने की कोशिश में था। कोई देश इस बात के लिए तैयार नहीं था कि कोई अन्य देश उसके उपनिवेश से कच्चा माल सस्ती कीमत पर ले जाये। इसका कारण यह था कि जो देश सस्ती कीमत पर कच्चा माल पायेगा, वह तैयार माल सस्ती कीमत पर बेच सकेगा और उस सस्ते माल को दुनिया का प्रत्येक देश आसानी से खरीदने को तैयार होगा। इस प्रकार वह देश अधिकाधिक लाभ कमा सकेगा। अत: यूरोप के देश अपने उपनिवेशों को पूर्णत: अपने अधीन रखना चाहते थे और उनका पूरा लाभ स्वयं उठाना चाहते थे।

5. जनसंख्या की वृद्धि– इस काल में यूरोप की जनसंख्या तेजी से बढ़ गई थी और आगे भी बढ़ रही थी। इन लोगों के निवास की समस्या बढ़ रही थी अत: बढ़ती हुई जनसंख्या को अन्यत्र बसाने के लिए भी नए उपनिवेश ढूंढ़ने तथा बसाने आवश्यक थे।

6. एशिया व अफ्रीका के देशों की निर्बलता एवं समृद्धि–पुनर्जागरण, औद्योगिक क्रांति तथा नवीन शिक्षा के बल पर यूरोप के देश अधिक उन्नत, शक्तिशाली और प्रबुद्ध थे। इनकी तुलना में पूर्व के देश और अफ्रीका के देश पिछड़े हुये, निर्बल तथा अज्ञान में थे। लेकिन एशिया और अफ्रीका के देश जहाँ निर्बल और पिछड़े हुए थे, वहाँ उनमें बहुत कच्चा माल तथा अन्य प्रकार की समृद्धि थी। कच्चे माल के लालच तथा इन देशों की समृद्धि को लूटने की इच्छा से भी यूरोप के देशों ने इन देशों पर प्रभुत्व जमाने की कोशिश की। एशिया और अफ्रीका के देशों की निर्बलता तथा उनकी समृद्धि ने भी यूरोपीय देशों को उपनिवेशी साम्राज्य बढ़ाने की प्रेरणा दी।

7. फालतू पूँजी का सदुपयोग– औद्योगिक क्रांति के बाद इंग्लैण्ड ने अपने व्यापार के बल पर बहुत धन कमाया। यूरोप के अन्य देश भी अपने व्यापार से काफी धन कमा रहे थे। इस धन को उन्होंने अपने देश के उद्योगधन्धों में लगाया किन्तु उसके बाद भी इस समय यूरोप के देशों के पास पर्याप्त पूँजी इकट्ठी हो गई थी। यह पूँजी व्यर्थ पड़ी रहती तो कोई लाभ न था। अत: यूरोप के देश अपनी फालतू पूँजी लाभदायक काम धंधे में लगाना चाहते थे। इस पूँजी को वे सुरक्षित स्थान पर ही लगाने के इच्छुक थे और उपनिवेश ही इसके सुरक्षित स्थान हो सकते थे क्योंकि वहाँ पूँजी के लिए कोई खतरा नहीं हो सकता था और उसका पूरा लाभ भी मिल सकता था।

नोट्स उपनिवेशी साम्राज्यों की स्थापना इतिहास की आवश्यकता थी।

नोट

8. सागर तथा युद्ध-महत्त्व के स्थानों पर कब्जा करने की आवश्यकता–व्यापार-वाणिज्य की सुगमता और उपनिवेशों तथा उनमें लगी पूँजी की रक्षा के लिए सागर और युद्ध-महत्त्व के स्थानों पर कब्जा तथा नियंत्रण रखना भी आवश्यक था। इन स्थानों पर अपना नियंत्रण रखने के लिए इनके आस-पास की भूमि पर भी कब्जा रखना आवश्यक था। इस आवश्यकता ने भी उपनिवेशी साम्राज्य के विकास में योग दिया।

9. समुद्री बेड़े– समुद्री बेड़े की शक्ति ने भी उपनिवेशी साम्राज्य की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। जिन देशों के पास शक्तिशाली समुद्री बेड़े थे, उन्होंने दूसरे देशों के उपनिवेशी प्रसार को रोका और अपना साम्राज्य बढ़ाया।

क्या आप जानते हैं औद्योगिक क्रान्ति के बाद इंग्लैण्ड ने अपने व्यापार के बल पर बहुत धन कमाया।

18.2 अफ्रीका में उपनिवेशी साम्राज्य (Colonial Empire in Africa)

चित्र 1 डेविड लिविंगस्टोन

उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक यूरोपवासियों को अफ्रीका महाद्वीप के भीतरी भाग के बारे में कुछ भी मालूम नहीं था। इसके कई कारण थे। एक कारण यह था कि यहाँ की जलवायु बहुत गर्म थी। इसके अतिरिक्त अफ्रीका घने जंगलों तथा विशाल रेगिस्तान का देश है। अफ्रीका के मूल निवासियों को दास बनाकर अमेरिका ले जाया जाता था, जहाँ उनसे खेती कराई जाती थी। किन्तु 1850 ई. के बाद यूरोप के लोगों ने अफ्रीका महाद्वीप के भीतरी भागों में जाकर पता लगाने का काम शुरू किया। अफ्रीका के भीतरी भागों की खोज करने वालों में डेविड लिविंगस्टोन, स्टेनली, स्प्रीक और बेकर का नाम विख्यात है। इन लोगों के अलावा ईसाई मिशनरियों ने भी अफ्रीका के भीतरी भागों में जाकर वहाँ के लोगों की सेवा की और उन्होंने अपने काम में काफी कठिनाइयाँ झेली। उनके माध्यम से भी अफ्रीका के भीतरी भागों के बारे में काफी जानकारी प्राप्त हुई।

इन साहसी खोजकर्ताओं और ईसाई मिशनरियों के द्वारा जब यूरोपवासियों को पता लगा कि अफ्रीका में बहुमूल्य खनिज, रबर, सोना, हीरे-मोती और अन्न कीमती चीजें हैं, तो यूरोपवासियों के मुँह से लार टपकने लगी।

अफ्रीका में सबसे पहले बेल्जियम ने प्रवेश किया। उसने कांगो पर कब्जा किया और वहाँ के रबर का लाभ उठाने लगा। बेल्जियम की देखादेखी स्पेन, पुर्तगाल, इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस और इटली ने भी अफ्रीका में घुसने की कोशिश की। स्पेन ने अफ्रीका के उत्तरी तट के कुछ भाग पर कब्जा कर लिया। पुर्तगाल ने पूर्वी तट का कुछ भाग हथिया लिया। अल्जीरिया और ट्युनीशिया पर फ्रांस ने प्रभुत्व स्थापित किया। फ्रांस ने कांगो में भी अपना पैर बढ़ाना शुरू किया। किन्तु वहाँ बेल्जियम जमा हुआ था। फ्रांस व बेल्जियम में झगड़ा हो गया; अत: दोनों ने कांगो को बाँट लिया।

पूर्वी अफ्रीका का बँटवारा– पूर्वी अफ्रीका में प्रथम एक जर्मन अन्वेषक कॉर्ल पीटर्स (Karl Peters) ने प्रवेश कर वहाँ के मूल निवासियों को अपनी ओर मिलाकर उनके प्रदेश पर अधिकार कर लिया। जर्मनी की इस घुसपैठ से अंग्रेज और फ्रांसीसी चौंक गए। उन्होंने शीघ्र ही पूर्वी अफ्रीका पर अधिकार प्राप्त करने के लिए सैनिक-तैयारियाँ आरम्भ कर दीं, परन्तु युद्ध की भयंकरता से भयभीत होकर इस भाग का बँटवारा करने का निर्णय किया गया। जर्मन और अंग्रेजों ने पूर्वी भाग का बँटवारा करने का निर्णय किया। फ्रांस ने मेडागास्कर (Medagascar) द्वीप पर अधिकार कर लिया। पुर्तगाल का भी पूर्वी अफ्रीका के कुछ भाग पर पहले से ही अधिकार था। इटली ने भी इस

नोट

लूट में हिस्सा लिया। उसने इरीट्रिया (Eritrea) और सुमालीलैंड (Somaliland) पर अधिकार कर लिया। इटली ने सीरिया, लीबिया से लेकर इथोपिया (Ethiopia) पर भी अधिकार करने के लिए हमला किया, किन्तु उस समय उनकी वह विजय स्थायी नहीं रही। उसको वहाँ से कुछ समय बाद हटना पड़ा।

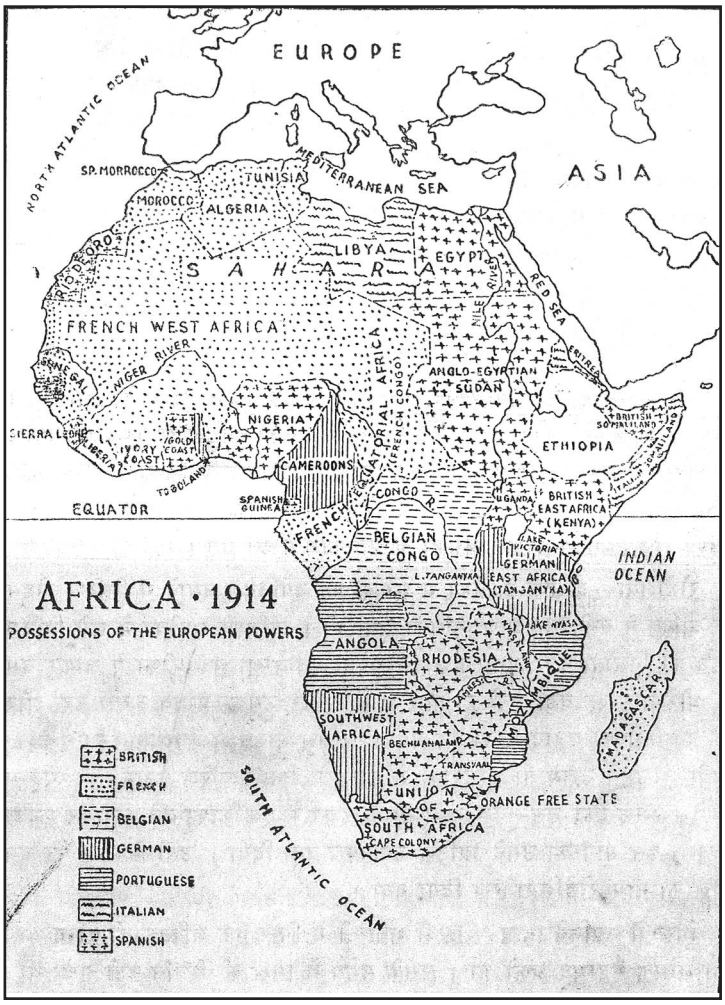

चित्र 2 अफ्रीका में यूरोपीय उपनिवेश

पश्चिमी अफ्रीका का बँटवारा– पश्चिमी अफ्रीका के लिए भी बड़ा संघर्ष हुआ। अन्त में 1884–85 ई. में बर्लिन सम्मेलन (Berlin Conference) में इसके बँटवारे के लिए निर्णय किया गया। इंग्लैण्ड, जर्मनी और फ्रांस ने आपस में समझौता किया। जर्मनी ने दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका, ऑरैन्ज नदी के उत्तर की ओर केमेरून्ज अपने अधिकार में किए। कांगो नदी के मुहाने के भाग का भी बँटवारा किया गया। फ्रांस और अंग्रेजों ने अपने अधिकार क्षेत्रों को संगठित करने का कार्य शुरू किया।

उत्तरी अफ्रीका का बँटवारा– उत्तरी अफ्रीका में फ्रांस, अंग्रेज, जर्मनी और इटली सब अपना-अपना उपनिवेश स्थापित करना चाहते थे। फ्रांस ने सबसे पहले सन् 1830 ई. में अल्जीरिया (Algeria) पर कब्जा किया। फिर उसने धीरे-धीरे ट्यूनिशिया (Tunisia), सैनीगल, मोरक्को व सुमालीलैंड पर अपना अधिकार-क्षेत्र बढ़ा लिया। ग्रेट ब्रिटेन ने भी मिस्र (Egypt) और सूडान (Sudan) अपने अधिकार में किए। लीबिया (Libya) इटली का अधिकार-क्षेत्र हुआ।

नोट

दक्षिण अफ्रीका पर अधिकार– उत्तर में जिस प्रकार फ्रांस की शक्ति व अधिकार था, दक्षिणी अफ्रीका में उसी प्रकार अंग्रजों का अधिकार बहुत हो गया। केप कॉलोनी (Cape Colony) नैटाल, ट्रान्सवाल, ऑरैन्ज-फ्री-स्टेट (Orange-Free-State), बिचुआनालैण्ड (Bechuanaland), रोडेशिया (Rhodesia), और न्यासालैण्ड (Nyasaland) सब अंग्रेजों के अधिकार में आ गए।

रोडेशिया– दक्षिणी अफ्रीका में अंग्रेजों का उपनिवेश बसाने में सिसिल रोड्स नाम के व्यक्ति ने बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। दक्षिणी अफ्रीका में उसे ब्रिटिश उपनिवेश का निर्माता कहा जाता है। वह अपनी युवावस्था में अफ्रीका में जाकर बस गया। धीरे-धीरे वह बड़ा धनी हो गया। धीरे-धीरे उसका प्रभाव बढ़ता रहा और वह केप कॉलोनी का प्रधानमंत्री बन गया। सिसिल रोड्स ने बेचुआनालैंड पर कब्जा कर लिया। उसने उत्तमाशा अन्तरीप से काहिरा तक रेल लाइन बनाने की योजना तैयार की। इसके बाद उसने केप कॉलोनी के उत्तर में एक काफी बड़े भाग पर कब्जा कर लिया। इस भाग को उसने ब्रिटिश उपनिवेश बना दिया। उसी के नाम पर इस उपनिवेश का नाम रोडेशिया रख दिया गया।

मिस्र में उपनिवेशवाद– 19वीं शताब्दी में मिस्र एक शक्तिशाली राज्य था। वहाँ का शासक मुहम्मद अली था। उसके समय में मिस्र की स्थिति बड़ी सुदृढ़ थी। किन्तु 1848 में मुहम्मद अली की मृत्यु के बाद मिस्र के शासक अयोग्य निकले। इस्माइल नामक शासक के समय में मिस्र ने फ्रांस व इंग्लैण्ड की सहायता से स्वेज नहर का निर्माण कराया। मुहम्मद अली की मृत्यु के बाद से ही मिस्र के शासक इंग्लैण्ड और फ्रांस के चंगुल में फंसने लगे थे। स्वेज नहर बनने के बाद तो मिस्र के शासक उनके हाथों में कठपुतली बन गए। इस्माइल के बाद तिपलिक शासक बना। उसके शासन काल में शासन के अनेक मामलों में फ्रांसीसियों व अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इसी बीच इंग्लैण्ड की सरकार ने स्वेज नहर पर से मिस्र के प्रभुत्व को धन देकर खरीद लिया। मिस्र की सरकार ब्रिटिश से ऋण लेती रही थी। अत: ऋणदाता होने की हैसियत से ब्रिटेन उस पर धीरे-धीरे अपना प्रभुत्व जमाता गया।

धीरे-धीरे स्थिति यह आ गई कि मिस्र पर ब्रिटिश सरकार का प्रतिनिधि शासन करने लगा। यह उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त के लगभग की बात है। अंग्रेजों ने मिस्र का खूब शोषण किया और वहाँ की राष्ट्रीय भावनाओं को खूब निर्दयता से कुचला।

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक लगभग सारे अफ्रीका को यूरोप के देशों ने हड़प लिया। अफ्रीका में यूरोपवासियों के उपनिवेश बनने की कहानी बड़ी दर्दनाक है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. पुर्तगालियों की शक्ति ..... के अंत तक समाप्त हो गई।
2. ..... के अंत में पुर्तगाल के नाविक वास्को-डी-गामा ने भारत की खोज कर ली थी।
3. ..... के मध्य तक फ्रांसीसी शक्ति का भी ह्रास हो गया था।

18.3 एशिया में उपनिवेशी साम्राज्य (Colonial Empire in Asia)

यूरोप के देशों को उपनिवेशी साम्राज्य के विस्तार के लिए एशिया में भी बड़ी गुंजाइश थी। एशिया में उस समय कोई भी अतिशक्तिशाली देश नहीं था। व्यापार-वाणिज्य की दृष्टि से भी एशिया आगे नहीं था। औद्योगीकरण के क्षेत्र में एशिया यूरोप से बहुत पीछे था। एशिया के देशों में कृषि ही मुख्य व्यवसाय था और इन देशों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ नहीं थी। यह अवस्था उपनिवेशी साम्राज्यवाद के विकास के लिए अनुकूल ही कही जा सकती है। यूरोप के समृद्धशाली देशों ने एशिया में अपने उपनिवेश स्थापित करने हेतु बड़े जोर-शोर से प्रयत्न आरम्भ किये।

नोट

भारत– 15वीं शताब्दी के अन्त में पुर्तगाल के नाविक वास्को-डी-गामा ने भारत की खोज कर ली थी। पुर्तगालियों ने भारत के साथ अपने व्यापार को बढ़ाया और भारत में कुछ उपनिवेश भी स्थापित कर लिए। गोवा उनकी राजधानी थी। 17वीं शताब्दी में ब्रिटेन, हॉलैंड और फ्रांस की व्यापारिक कम्पनियों ने भी भारत के साथ व्यापार करना आरम्भ कर दिया। भारत में इन चारों यूरोपीय देशों के बीच प्रभुत्व जमाने के लिए संघर्ष होने लगा। पुर्तगालियों की शक्ति तो 17वीं शताब्दी के अन्त तक समाप्त हो गई। गोवा, दमन और ड्यु ही उनके कब्जे में रह गया। हॉलैंड वाले भी इस संघर्ष में अधिक समय तक नहीं टिक पाये। बाद में अंग्रेज व फ्रांसीसी कम्पनियों के बीच झगड़े चलते रहे। 18वीं शताब्दी के मध्य तक फ्रांसीसी शक्ति का भी ह्रास हो गया।

1757 ई. में अंग्रेजों ने बंगाल के नवाब को प्लासी के युद्ध में हराया और 1764 ई. में बक्सर के युद्ध में अंग्रेजों ने अवध के नवाब, मुगल सम्राट और बंगाल के नवाब तीनों की संयुक्त सेना को पराजित कर दिया। इन विजयों के फलस्वरूप बंगाल और बिहार पर अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस समय भारत में मुगल साम्राज्य लगभग बिल्कुल नष्ट हो गया था। मराठों की शक्ति काफी बढ़ी हुई थी। हैदराबाद में वहाँ का निजाम शक्तिशाली था और मैसूर का राज्य भी अंग्रेजों का कट्टर शत्रु था।

भारत में ब्रिटिश कम्पनी के कारनामों से भारत की जनता अत्यधिक असंतुष्ट थी। यह असंतोष धीरे-धीरे बढ़ता रहा और 1857 में भारत की जनता ने कम्पनी के शासन से मुक्त होने तथा भारत से कम्पनी को उखाड़ फेंकने के लिए विद्रोह कर दिया। किन्तु ब्रिटिश कम्पनी के पीछे ब्रिटेन के साम्राज्य की सेना व शक्ति थी। भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन को अंग्रेजों ने कुचल दिया। इसी साल से भारत में ब्रिटिश कम्पनी के पास जो राज्य था, उसे ब्रिटिश साम्राज्य ने अपने हाथ में ले लिया। वैसे तो 1857 तक लगभग सारे भारत पर ब्रिटिश कम्पनी का प्रभुत्व स्थापित हो गया था, किन्तु जो कसर बची थी, उसे ब्रिटिश सरकार ने पूरी कर दी। अब सारा भारत अंग्रेजों के अधीन हो गया और अंग्रेजों ने जी भरकर भारत का शोषण किया। भारत का कच्चा माल इंग्लैंड जाने लगा। इंग्लैंड का बना माल भारत में बिकने लगा। भारत में उद्योगों की स्थापना को हतोत्साहित किया गया।

लंका– लंका में भी सबसे पहले पुर्तगाल वालों ने अधिकार जमाया। सत्रहवीं शताब्दी में हॉलैंड वालों ने पुर्तगाल वालों से लंका छीन लिया और अगली शताब्दी में लंका ब्रिटेनवासियों के हाथ में आ गया। अंग्रेजों ने इस पर पूरी तरह से कब्जा रखा क्योंकि लंका व्यापार-वाणिज्य की दृष्टि से और सामरिक दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण था।

चीन– चीन में सबसे पहला यूरोपवासी मार्कोपोलो स्थल-मार्ग से पहुँचा था। उसके बाद यूरोप के सब बड़े-बड़े राज्य चीन में अपनी सत्ता जमाने की बात सोचने लगे। सत्रहवीं शताब्दी में चीन के समुद्रतट पर अंग्रेज, पुर्तगाल और डच व्यापारी आने-जाने लगे। धीरे-धीरे समुद्रतटीय भागों पर इनका प्रभाव बढ़ता गया। 18वीं शताब्दी में चीन के राज्य की केन्द्रीय सत्ता दुर्बल हो गई। इसका लाभ उठाकर यूरोप वालों ने चीन के भीतरी भागों में घुसने की कोशिश की। चीन के लोग अफीम का सेवन बहुत करते थे। अतः चीन में अफीम का खूब व्यापार होता था। चीन की सरकार द्वारा चीन अफीम का आयात बन्द करने के प्रश्न को लेकर उन्नीसवीं के शताब्दी के मध्य में चीन में दो युद्ध हुये जिनमें चीन की हार हुई और उसे बड़ी अपमानजनक शर्तें माननी पड़ीं। इन शर्तों के अनुसार चीन के समुद्रतट के अनेक बन्दरगाहों पर अंग्रेजों का प्रभुत्व हो गया और चीन के अनेक नगरों में व्यापार का अधिकार मिल गया।

दक्षिण-पूर्वी एशिया– पूर्वी द्वीपसमूह में मसाले पैदा होते हैं और इन देशों से मसाले ले जाकर यूरोप के देशों में उनको बेचने का कारोबार बड़ा लाभप्रद था। इस क्षेत्र में पहले पुर्तगाल वाले आये। किन्तु कुछ समय बाद फिलीपाइन्स द्वीप पर स्पेन का अधिकार हो गया। आगे चलकर स्पेन और पुर्तगाल निर्बल हो गए और ये द्वीप हालैंडवालों के प्रभुत्व में आ गए।

सिंगापुर पर अंग्रेजों ने 1840 ई. में और मलाया प्रायद्वीप पर 1865 ई. में कब्जा कर लिया। हिन्द-चीन पर फ्रांसीसियों का प्रभुत्व स्थापित हुआ। जावा, सुमात्रा और बोर्नियो आदि पर हालैंड का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इन देशों में रबर, नारियल, मसालों का उत्पादन बहुतायत से होता है। मलाया में टिन खूब मिलता है। अतः साम्राज्यवादी शक्तियों ने

नोट

इनका जी भर कर लाभ उठाया। प्रशान्त महासागर में अमेरिका के पास हवाई, क्यूबा और समाओ द्वीप और ब्रिटेन के पास न्युगिनी थे। बाद में अमेरिका ने फिलीपाइन्स पर भी कब्जा कर लिया।

ईरान व अफगानिस्तान– ईरान की सरकार की निर्बलता का लाभ उठाकर रूस और ब्रिटेन दोनों ने ईरान में अपना प्रभुत्व जमाने की कोशिश की। काफी समय तक दोनों ही अपनी शक्ति दृढ़ करते रहे। किन्तु अन्त में उन्होंने ईरान में अपने प्रभाव-शक्ति बाँट लिए। उत्तरी ईरान रूस के प्रभाव क्षेत्र में और दक्षिणी ईरान ब्रिटेन के प्रभाव क्षेत्र में आ गया। ईरान का महत्त्व वहाँ की मिट्टी के तेल की खानों के कारण बहुत है। साम्राज्यवादी शक्तियों ने ईरान के तेल से लाभ उठाने के लिए ईरान में रेलें बनवायीं, खानें खुदवायीं और धीरे-धीरे कई तेल कम्पनियाँ बन गयीं।

अफगानिस्तान पर भी रूस व ब्रिटेन दोनों ने दाँत लगा रखा था। उन्नीसवीं शताब्दी में अफगानिस्तान के अन्दरूनी मामलों में विदेशियों ने दखल देना शुरू किया। कुछ समय बाद रूस वहाँ से हट गया और ब्रिटेन ने अपनी सेना के बल पर अफगानिस्तान पर अपनी प्रभुता जमा ली।

अमेरिका की साम्राज्यवादी नीति– पहले तो अमेरिका स्वयं यूरोप के देशों का उपनिवेश था किन्तु स्वतंत्र होने के बाद अमेरिका ने भी अपना औद्योगिक विकास किया। यूरोप के देशों की साम्राज्यवादी नीति को देखकर अमेरिका ने 'अमेरिका अमेरिकावासियों के लिए' नारा लगाया। इस प्रकार यूरोप वालों को अमेरिका में घुसने का मार्ग बन्द हो गया।

जब अमेरिका का औद्योगिकीकरण हुआ, तो उसे भी अपना माल बेचने के लिए उपनिवेश बनाने की आवश्यकता महसूस हुई। एशिया में उन दिनों यूरोप के देश अपने उपनिवेशों का लाभ उठा रहे थे। अमेरिका ने भी बहती गंगा में हाथ धोया। 1867 ई. में उसने रूस से अलास्का ले लिया। 20वीं शताब्दी के आरम्भ में उसने प्रशान्त महासागर के कई द्वीपों जैसे फिलीपाइन्स, क्यूबा, पार्टोरिकों आदि पर कब्जा कर लिया। चीन की लूट में अमेरिका भी कुछ हद तक शामिल हुआ। 1903 ई. में अमेरिका ने पनामा जलडमरूमध्य पर अधिकार करके लेटिन अमेरिका के देशों में हस्तक्षेप शुरू कर दिया। इस प्रकार अमेरिका का प्रभाव-क्षेत्र उसके व्यापारिक हितों के लिए बड़ा लाभकारी हुआ।

ऊपर हम एशिया में उपनिवेशी साम्राज्यवाद के विस्तार का वर्णन पढ़ चुके हैं। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड का संक्षिप्त वर्णन कर देना भी अपेक्षित है।

आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड– आस्ट्रेलिया की खोज 1770 ई. में कैप्टन कुक ने की थी। कैप्टन कुक ब्रिटेन निवासी था। अत: आस्ट्रेलिया पर ब्रिटेन का अधिकार हो गया। पहले तो आस्ट्रेलिया का कोई उपयोग नहीं हो सका। कुछ समय बाद ब्रिटेन ने वहाँ उपनिवेश बसाया। आयरलैंड और स्काटलैंड के बहुत से लोग आस्ट्रेलिया जाकर बस गए। आस्ट्रेलिया महाद्वीप में भेड़ पालने का और डेरी तथा ऊन का काम बहुत विकसित हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य-भाग में आस्ट्रेलिया के न्युसाउथवेल्स और विक्टोरिया भाग में सोने की खानों का पता चला। इसके बाद वहाँ और भी उपनिवेश बसे। 1860 ई. तक वहाँ सात उपनिवेश बस गये थे। न्यूजीलैंड भी ब्रिटेन के ही अधिकार में था।

उपनिवेशी साम्राज्यवादी देशों ने अपने उपनिवेशों में वहाँ के प्राचीन उद्योगों को नष्ट किया, वहाँ के लोगों में फूट डाली और उन्हें लड़वाया, वहाँ के लोगों की राष्ट्रीय भावनाओं के विकास को बलपूर्वक दबाने की कोशिश की।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. ..... ब्रिटेननिवासी था जिसने आस्ट्रेलिया की खोज की थी।

   (क) कैप्टन कुक (ख) कैप्टन हॉब्स (ग) कैप्टन हॉक (घ) कैप्टन जिम

5. ..... में अंग्रेजों ने बंगाल के नवाब को प्लासी के युद्ध में हराया।

   (क) 1857 ई. (ख) 1757 ई. (ग) 1957 ई. (घ) 1557 ई.

नोट

6. ..... तक लगभग सारे भारत पर ब्रिटिश कंपनी का प्रभुत्व स्थापित हो गया था।

(क) 1857 (ख) 1757 (ग) 1957 (घ) इनमें से कोई नहीं

टास्क

आस्ट्रेलिया की खोज 1770 ई. में किसने की थी?

18.4 उपनिवेशी साम्राज्यवाद के प्रभाव (Effects of Colonial Imperialism)

उपनिवेशों साम्राज्यवाद यूरोप के देशों के लिए एक ऐसा साधन था, जिसकी सहायता से वे अपना प्रभुत्व क्षेत्र बढ़ाकर अधिकाधिक लाभ कमा सकते थे और विश्व के एक विस्तृत भाग पर अपना आर्थिक, राजनैतिक तथा साम्राज्यीय प्रभुत्व कायम रख सकते थे। यहाँ हम उपनिवेशी साम्राज्यवाद के मुख्य प्रभावों का अध्ययन करेंगे।

1. साम्राज्यवादी देशों के प्रभुत्व व शक्ति में वृद्धिः यूरोप के जिन देशों ने उपनिवेशी साम्राज्य बनाये, उनका प्रभुत्व और उनकी शक्ति बढ़ गई। अपनी शक्ति के बल पर उन्होंने अनेक युद्ध लड़े और अपने उपनिवेशी साम्राज्य की वृद्धि की। उन दिनों उपनिवेशी साम्राज्य गौरव तथा प्रभुत्व को बढ़ाने का एक मुख्य साधन था। उपनिवेशों की सम्पत्ति को लूटकर साम्राज्यवादी देशों ने यूरोप को मालामाल कर दिया।

2. युद्धों की भरमारः उपनिवेशी साम्राज्य बढ़ाने की दौड़ में यूरोप के देश आपस में प्रतिद्वन्द्विता कर रहे थे। इस प्रतिद्वन्द्विता के कारण उनके हितों में संघर्ष होते ही उनका युद्ध आरंभ हो जाता था। जब यूरोप के किन्हीं दो या दो से अधिक साम्राज्यवादी देशों के बीच युद्ध शुरू होता था, तो जहाँ-जहाँ इन देशों के पारस्परिक हितों में टक्कर होती थी, उन सभी स्थानों पर इनके पारस्परिक युद्ध आरंभ हो जाते थे। इस प्रकार इन युद्धों के कारण सम्पूर्ण विश्व की शान्ति सदैव खतरे में पड़ी रहती थी।

3. अफ्रीका और एशिया के देशों का शोषणः साम्राज्यवाद शोषण और रक्तपात के बल पर ही पनपा। साम्राज्यवादी शक्तियों ने क्रूरता अन्याय और स्वार्थ के अधिकार पर उपनिवेशों का खून चूसा। अफ्रीका और एशिया के देश पिछड़े हुए और निर्धन अवश्य थे किन्तु शान्तिपूर्वक रह रहे थे। उपनिवेशी शक्तियों ने शक्ति के बल पर उनकी स्वतंत्रता को नष्ट करके उन पर कब्जा कर लिया, उनके उद्योग-धंधे नष्ट कर दिए, उनकी सम्पत्ति लूटी और उनका आर्थिक शोषण किया। साम्राज्यवादी शक्तियों के सामने केवल एक ही उद्देश्य था अर्थात् अपने देश का हित। अपने हित के लिए उन्होंने क्रूरता, नीचता, हिंसा, अन्याय और अनैतिक उपाय का सहारा लिया। उपनिवेशों के शोषण की कहानी साम्राज्यवादी निर्लज्जता की घृणित तथा गंदी कहानी है।

4. निर्बल देशों पर अत्याचारः उपनिवेशवादियों ने अफ्रीका के लोगों को गुलाम बनाकर उनको बेचने का घृणित काम किया। उन्होंने पुरानी आदिम जातियों तथा उनकी सभ्यता व संस्कृति को समूल नष्ट कर दिया। उपनिवेश की संस्कृति व सभ्यता के विकास के मार्ग में रोड़े अटकाये और उनका बलात् धर्म परिवर्तन किया। निर्बल उपनिवेशों को हर प्रकार के अन्याय व अत्याचार सहने पड़े।

5. नैतिकता का ह्रासः अनैतिकता उपनिवेशी साम्राज्यवाद का मूल मंत्र था। उपनिवेशी साम्राज्यवाद का मुख्य लक्ष्य अपने स्वार्थ को पूरा करना था और इसे पूरा करने के लिए वह सब कुछ करते थे, चाहे उनके काम नैतिकता के स्तर से कितने भी गिरे हुए क्यों न हों। अनैतिकता के दो पक्ष हैं, एक साम्राज्यवादी देशों के अपने अनैतिक कार्य और दूसरा, उपनिवेशों के अनैतिकता की वृत्ति को बढ़ावा देना। साम्राज्यवादी देशों ने झूठ, धोखा, प्रपंच, विश्वासघात और बेईमानी का खुलकर प्रयोग किया। लोगों को गुलाम बनाने तथा बलात उनका धर्म परिवर्तन जैसे अनेक अनैतिक कार्य उन्होंने बिना किसी संकोच से किए। दूसरे ओर उपनिवेशों की जनता में फूट डालना, धर्म के नाम पर उन्हें

नोट

लड़ाना, उनमें राष्ट्रीय भावना पैदा न होने देना, उनके उद्योगों को नष्ट करके, उनको गरीब बनाना तथा उसमें चारित्रिक अनैतिकता पैदा करना साम्राज्यवादियों का सामान्य धर्म बन गया था।

6. मानव सिद्धांतों की हत्या: अपने को सभ्य, संस्कृत और उच्च आदर्शों का अनुयायी कहने वाले यूरोपीय साम्राज्यवादियों ने उपनिवेशों में मानवता विरोधी काम किये। मनुष्य को गुलाम बनाना मानवता की सबसे बड़ी हत्या है किन्तु उन्होंने इसे धन कमाने का साधन बनाया। बलात् धर्म परिवर्तन मानवीय सिद्धांतों का हनन है किन्तु साम्राज्यवादियों को इस काम में भी संकोच नहीं था। इसी कारण एक विद्वान का कहना है कि साम्राज्यवादियों ने संसार के हित के लिए चाहे जो कुछ भी किया हो किन्तु मानवता की उन्होंने निमर्म हत्या की।

7. साम्राज्यवादियों की सभ्यता का विस्तार: यूरोप के साम्राज्यवादियों ने जिन-जिन देशों में अपने उपनिवेश बसाये, वहाँ उन्होंने अपनी सभ्यता व संस्कृति का विस्तार किया।

8. उपनिवेशों की भौतिक प्रगति: साम्राज्यवादियों ने अपने उपनिवेशों में अपने स्वार्थ के लिए अनेक ऐसे काम किए जिनसे उपनिवेशों की भौतिक प्रगति हुई। उन्होंने सड़कें बनवाईं, कारखाने खोले, रेलें चलाईं व आवागमन के साधनों को सुधारा, यद्यपि ये सब काम साम्राज्यवादियों के व्यापारिक लाभ को बढ़ाने के लिए किए गए थे किन्तु इनसे उपनिवेशों में भौतिक प्रगति हुई। साम्राज्यवादियों ने खानें खुदवाईं और जंगलों को साफ करके काम के लिए, जमीन उपलब्ध कराई। अपनी जरूरत के लिए उन्होंने कारखाने खोले, लोगों को शिक्षित बनाया, किन्तु इन बातों का अप्रत्यक्ष प्रभाव उपनिवेशों की भौतिक प्रगति पर पड़ा।

9. राष्ट्रीय भावनाओं का उदय और विकास: उपनिवेशी साम्राज्य की स्वार्थपूर्ण नीतियों, उसके अत्याचार और उसकी अनैतिकता को सहते-सहते उपनिवेशवासियों का मन भर गया। इन बातों से उपनिवेशवासियों के मन में प्रबल राष्ट्रीय विचारों का जन्म हुआ। अपने देश का शोषण, अपने देश की सम्पत्ति विदेशों में जाना, अपने राष्ट्रीय अपमान और अपनी पतित अवस्था को आखिर वे कब तक सहन करते। उनके मन विद्रोह से भर गये। उन्होंने अपने को स्वतंत्र कराने का संकल्प किया और साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए कमर कस ली। इस संघर्ष में उन्हें महान् संकट का सामना करना पड़ा, दीर्घकाल तक अकथनीय कष्ट झेलने पड़े, यातनाएँ सहनी पड़ीं। इनके बावजूद भी वे विचलित नहीं हुए। उनके दृढ़ संकल्प तथा उत्कट देश-भक्ति ने साम्राज्यवादी शक्तियों की नींव हिला दी। धीरे-धीरे साम्राज्यवादी यह समझने लगे कि अब उपनिवेशों को अधिक समय तक गुलामी या अधीनता में नहीं रखा जा सकता। कुछ उपनिवेशों को उन्होंने स्वेच्छा से स्वतंत्र कर दिया और कुछ में काफी पिटने के बाद वे वहाँ से भाग गये।

इन साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों के कारण ही आगे चलकर दो विश्वयुद्ध हुए जिन्होंने विश्व की शान्ति नष्ट कर दी अवर्णनीय विनाश किया।

18.5 सारांश (Summary)

भारत में ब्रिटिश कम्पनी के कारनामों से भारत की जनता अत्यधिक असंतुष्ट थी। यह असंतोष धीरे-धीरे बढ़ता रहा और 1857 में भारत की जनता ने कम्पनी के शासन से मुक्त होने तथा भारत से कम्पनी को उखाड़ फेंकने के लिए विद्रोह कर दिया। किन्तु ब्रिटिश कम्पनी के पीछे ब्रिटेन के साम्राज्य की सेना व शक्ति थी। भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन को अंग्रेजों ने कुचल दिया। इसी साल से भारत में ब्रिटिश कम्पनी के पास जो राज्य था, उसे ब्रिटिश साम्राज्य ने अपने हाथ में ले लिया। वैसे तो 1857 तक लगभग सारे भारत पर ब्रिटिश कम्पनी का प्रभुत्व स्थापित हो गया था, किन्तु जो कसर बची थी, उसे ब्रिटिश सरकार ने पूरी कर दी। अब सारा भारत अंग्रेजों के अधीन हो गया और अंग्रेजों ने जी भरकर भारत का शोषण किया। भारत का कच्चा माल इंग्लैंड जाने लगा। इंग्लैंड का बना माल भारत में बिकने लगा। भारत में उद्योगों की स्थापना को हतोत्साहित किया गया।

नोट

18.6 शब्दकोश (Keywords)

1. उपनिवेशी (Colonial)–उपनिवेश से संबंधित।
2. औद्योगिक (Industrial)–उद्योग से संबंधित।

18.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. उपनिवेशी साम्राज्य के विस्तार के कारण बताइए।
2. पूर्वी अफ्रीका के बँटवारे पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
3. 'मिस्र में उपनिवेशवाद' पर टिप्पणी लिखिए।
4. उपनिवेशी साम्राज्यवाद के प्रभाव के कारण बताइए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. सत्रहवीं शताब्दी
2. पंद्रहवीं शताब्दी
3. अठारहवीं शताब्दी
4. (क) कैप्टन कुक
5. (ख) 1757 ई.
6. (क) 1857 ई.

18.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
2. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
3. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
4. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
5. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
6. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
7. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*

नोट

इकाई 19: गैर–उपनिवेशीय (Decolonization)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

19.1 मध्य–पूर्व (The Middle East)

19.2 सुदूर–पूर्व (The Far East)

19.3 सारांश (Summary)

19.4 शब्दकोश (Keywords)

19.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

19.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- मध्य–पूर्व के बारे में जानने में।
- ब्रिटेन के बारे में जानने में।
- सुदूर–पूर्व के बारे में जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

1936 के अन्त तक यह स्पष्ट हो चुका था कि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जो व्यापक व्यवस्था लादी गयी थी, उसका अब कोई स्वीकृत आधार नहीं रह गया था। अब हमें यह विचार करना है कि किस प्रकार सन्धियों का परित्याग किए जाने के बाद आश्चर्यकारक कार्रवाई द्वारा उस व्यवस्था को, जिसकी स्थापना करना सन्धियों का लक्ष्य था, उलट देने के प्रयत्न किए गए। किन्तु, चूँकि अपने विषय की लगभग हर अन्य पुस्तक की भाँति यह पुस्तक भी असमान अनुपात में यूरोपीय मामलों का ही विवेचन करती प्रतीत होती है, इसलिए सम्भवत: इस अध्याय से इस कमी की पूर्ति होने में सहायता मिले। इस अध्याय के बाद हम अपने मुख्य विषय पर पुन: विचार करेंगे क्योंकि अन्य किसी भी बात की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नेतृत्व भले या बुरे के लिए यूरोप के हाथों में ही रहा है। यहाँ जिन देशों के विषय में विचार किया जायगा, उनमें से कुछ का इन पृष्ठों में अभी तक उल्लेख मात्र ही किया गया है। अन्य देशों का विस्तृत विवेचन पहले ही किया जा चुका है। उनके सम्बन्ध में केवल इतना कहना ही आवश्यक होगा कि उनकी कहानी को भी अद्यावधिक (up-to-date) बना लिया जाए।

नोट

19.1 मध्य-पूर्व (The Middle East)

पूर्वीय भूमध्य सागर से लेकर भारत के उत्तर-पश्चिम सीमान्त तक फैले हुए जितने देश हैं तथा जिन्हें सुविधा की दृष्टि से "मध्य-पूर्व" कहा जाता है, उनमें 1919 के बाद निरन्तर उथल-पुथल होती रही तथा कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी हुए। इन देशों में से तुर्की ने जानबूझकर इस्लाम धर्म और उसकी परम्परा का त्याग कर दिया तथा मुस्लिम जगत से अपना सम्बन्ध तोड़कर मध्य-पूर्वी और एशियाई राष्ट्र होने की अपेक्षा अपने निकट-पूर्वी और यूरोपीय राष्ट्र होने की अपनी महत्त्वाकांक्षा पूरी कर ली। ईरान जिसके पास पूर्वी गोलार्द्ध में सबसे अधिक समृद्ध तेल के भण्डार हैं, अपने प्रभावशाली शाह रिजा खाँ के, जिसने 1925 में तख्त पर जबर्दस्ती अधिकार कर लिया था, शासन में समृद्धिशाली हो रहा था। प्राकृतिक सम्पदा से शून्य तथा सोवियत मध्य-एशिया और ब्रिटिश भारत के बीच स्थित अफगानिस्तान कुछ संदिग्ध स्वतन्त्रता का उपभोग करता चला आ रहा था, किन्तु 1934 में उसे राष्ट्र-संघ में प्रवेश मिल जाने से उसकी स्वतन्त्रता किसी प्रकार सुदृढ़ हो गई थी।

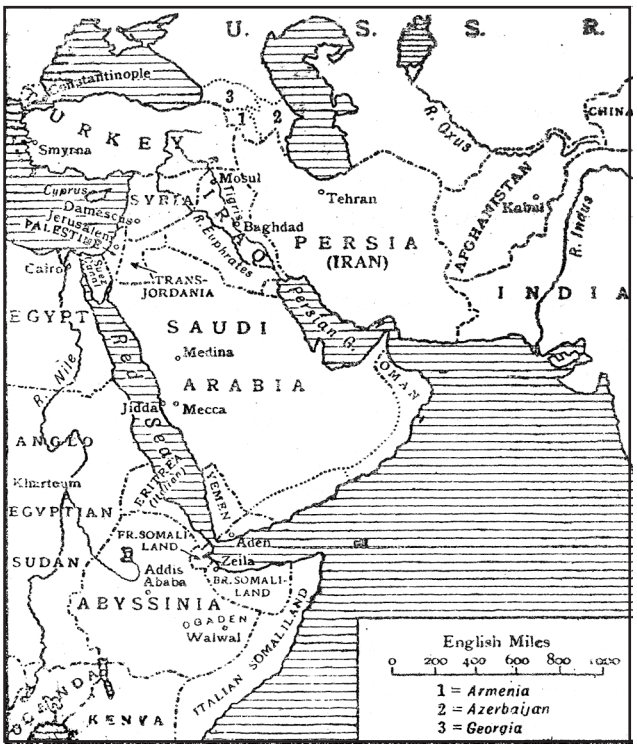

चित्र 1. मध्य-पूर्व

मध्य-पूर्व के अन्य देश तुर्की साम्राज्य के वे भूतपूर्व अरब प्रान्त थे जिनके भाग्य का विवेचन पहले ही किया जा चुका है। इन सभी देशों में अरब राष्ट्रवाद (nationalism) ही दोनों विश्वयुद्धों के बीच के वर्षों की प्रमुख समस्या थी। प्रमुख अरब क्षेत्रों का ब्रिटिश और फ्रांसीसी प्रादेशित राज्यों में विभाजन हो जाने से अरब नेताओं को बड़ी तीव्र निराशा हुई जो एक संयुक्त अरब राज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे। इस निराशा को कम करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने कुछ प्रयत्न किया। हजाज (Hadjaz) के बादशाह हुसैन का एक लड़का इराक का बादशाह बन गया और दूसरा ट्रांसजोर्डानिया (Transjordania) का अमीर (Emir)। किन्तु अरब लोगों के विभिन्न तबकों में परम्परा तथा विकास का बहुत बड़ा अन्तर होने से समस्या जटिल हो गई थी। उनमें सभ्य शहरवासियों से लेकर

नोट

आदिमजातीय खानाबदोश (primitive nomads) तक सभी प्रकार के लोग थे। अरब राजनीतिक एकता इस समय भी एक स्वप्न ही थी। किन्तु अरब राष्ट्रवाद के कारण, जिसे युद्ध-काल में मित्र-राष्ट्रों ने तुर्की को पराजित करने की दृष्टि से जानबूझकर बढ़ावा दिया था, युद्ध के बाद अनेक अवसरों पर अरब लोगों का प्रादेश-प्राप्त राष्ट्रों और अरब जनता के बीच रहने वाले गैर-अरब अल्पसंख्यकों (non-Arab minorities) से संघर्ष हो जाया करता था।

नोट्स हजाज के बादशाह हुसैन का एक लड़का इराक का बादशाह बन गया और दूसरा ट्रांसजोर्डानिया का अमीर।

ब्रिटेन के प्रथम प्रादेशित प्रदेश (mandated territory) इराक की स्थिति प्रारम्भ से ही अनियमित (anomalous) थी। उस पर प्रदेश-अधिकार विधिवत् कभी भी प्रदान नहीं किया गया, किन्तु उसके स्थान में ग्रेट ब्रिटेन और इराक में एक सन्धि हुई थी– जिसका राष्ट्र-संघ ने अनुमोदन किया था और जिसके अनुसार ग्रेट ब्रिटेन ने इराक को उसके (इराक के) राष्ट्रीय प्रभुत्व पर विपरीत प्रभाव डाले बिना "आवश्यक सलाह और सहायता देने" का वचन दिया था। ग्रेट ब्रिटेन के लिए इराक का महत्त्व कुछ अंशों में उसके समृद्ध तेल-कुओं और कुछ अंशों में यूरोप तथा भारत के बीच सीधे वायु-पथ पर उसकी अनुकूल स्थिति के कारण था। किन्तु बहुत से ब्रिटिश लोग इस बात के विरुद्ध थे कि एशिया के लगभग भू-वेष्टित (land-locked) क्षेत्र पर अनिश्चितकाल तक ब्रिटेन का शासन जारी रहे और इराक को उस समय की प्रतीक्षा करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता रहा, जबकि वह प्रसंविदा (Convenant) के शब्दों में, "अपने पैरों पर स्वयं खड़ा हो सकेगा।" यह घड़ी 1932 में आई। उस समय प्रादेशात्मक शासन समाप्त कर दिया गया और इराक ग्रेट ब्रिटेन से पच्चीस वर्षों के लिए मैत्री-सन्धि करके राष्ट्र-संघ का सदस्या बन गया। उसकी स्वतन्त्रता से जो समस्याएँ उठ खड़ी हुईं, उनमें सबसे कठिन समस्या उसके गैर-अरब अल्पसंख्यकों की थी जिनमें कुर्द और असीरियन (Kurds and Assyrians) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे। दुर्भाग्य से इराक के राष्ट्र-संघ में प्रविष्ट होने के एक वर्ष के भीतर ही असीरियनों में उत्पात हुए जिनके परिणामस्वरूप इराकी सैनिक टुकड़ियों ने पाँच सौ असीरियनों को मौत के घाट उतार दिया। स्वतन्त्र राष्ट्रों के परिवार में शामिल हुए इस नये सदस्य– राष्ट्र-संघ के प्रथम अरब सदस्य– राज्य की निरन्तर स्थिरता काफी हद तक इस बात पर निर्भर प्रतीत होती थी कि वे अनुभवी ब्रिटिश सलाहकार, जो प्रशासन के अनेक विभागों में सरकार की सहायता कर रहे थे, इराकी सरकार की सेवा में बने रहें।

पेलेस्टाइन में प्रादेशित राज्य स्थापित करने की शर्तों के अनुसार (जो ब्रिटिश सरकार द्वारा 1917 में यहूदियों को दिए गए वचन की पूर्ति थी) प्रादेश-प्राप्त राष्ट्र का यह कर्त्तव्य निर्धारित किया गया था कि, "वह उस देश की ऐसी राजनीतिक, प्रशासनिक और आर्थिक व्यवस्था करे कि यहूदियों के लिए एक राष्ट्रीय मातृभूमि (national home) स्थापित करना सम्भव हो सके तथा इसके साथ ही साथ पेलेस्टाइन के सभी निवासियों के नागरिक और धार्मिक अधिकार सुरक्षित रह सकें।" यदि युद्ध-काल में मित्र-राष्ट्र सरकारों ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए अरबों की महत्त्वाकांक्षाओं को प्रोत्साहन नहीं दिया होता तो भी इस कर्तव्य को पूरा करना कठिन हो सकता था। किन्तु यहूदियों से की हुई प्रतिज्ञा और अरबों को दिए गए अस्पष्ट वचन में (जिसमें गलती से या ठीक ही, पेलेस्टाइन को भी शामिल मान लिया गया था) परस्पर-विरोध ने भविष्य के लिए गम्भीर आपत्ति खड़ी कर दी। 1919 में पेलेस्टाइन की आबादी लगभग बिलकुल अरब थी तथा उसकी जनसंख्या 7,00,000 से कुछ ही कम अनुमानित की गई थी। प्रादेश-शासन की स्थापना से पेलेस्टाइन विश्व के यहूदियों का अधिकृत केन्द्र बन गया तथा यहूदी-आप्रवासन (Jews-immigration) के लिए उसके द्वार खुल गए। यहूदियों का आगमन, जो प्रथम वर्षों में तुलनात्मक दृष्टि से कम था, यूरोप में आर्थिक संकट के प्रारम्भ पर तेजी से बढ़ गया और नात्सी क्रान्ति के बाद जब जर्मनी से यहूदियों का

नोट

निष्क्रमण (exodus) शुरू हुआ तो उसमें और भी वृद्धि हो गई। 1934 के अन्त तक पेलेस्टाइन में यहूदियों की संख्या 3,00,000 तक पहुँच गई थी और यदि प्राधिकारीगण आप्रवासन को कठोरतापूर्वक सीमित नहीं करते तो यह संख्या और भी अधिक बढ़ जाती। यहूदी-आप्रवासी एक पिछड़े हुए पूर्वी देश में अपने साथ पाश्चत्य सभ्यता लाये। नीबू-जातीय फलों की खेती आधुनिक रीति से संगठित एक उन्नतिशील बड़ा उद्योग बन गई और ऐसा प्रतीत होने लगा कि पेलेस्टाइन मध्य-पूर्व का वाणिज्य-केन्द्र बन जाएगा। यहूदी नगर तेल-अवीव (Tel-Aviv) का निर्माण और हैफा (Haifa) बन्दरगाह का विकास आधुनिक संसार के आश्चर्य बन गए। आर्थिक संकट की अवधि में पेलेस्टाइन ही केवल एक ऐसा देश था जिसका घरेलू और विदेशी व्यापार दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ा था।

क्या आप जानते हैं 1934 के अंत में पेलेस्टाइन में यहूदियों की संख्या 3,00,000 तक पहुंच गई थी।

समृद्धि की इस लहर में गैर-यहूदी जनता ने भी उठाया। 1919 और 1934 के बीच उसकी संख्या बढ़कर 9,00,000 हो गई। इस तरह यहूदियों और गैर-यहूदियों का अनुपात इस समय भी 1: 3 का था। किन्तु अरब किसान जो अशिक्षित, अमितव्ययी और पूँजीहीन था, यहूदी की बराबरी नहीं कर सकता था और अपने ही देश में अपमानजनक हीनता की स्थिति में पहुँच गया। 1921, 1929 और 1936 में छोटी-छोटी घटनाओं के अतिरिक्त गम्भीर उपद्रव भी हुए जिनमें सैकड़ों व्यक्तियों के प्राण गए। इन घटनाओं के समय हर बार अरब लोग पहले यहूदियों पर आक्रमण करते थे और उसके बाद व्यवस्था बनाये रखने वाली ब्रिटिश पुलिस तथा सेना पर। इन उपद्रवों के बारे में सर्वाधिक गम्भीर तथ्य यह था कि वे यहूदी-आप्रवासन के कारण अरब हितों पर आ पड़ी प्रासंगिक कठिनाइयों के विरोध में नहीं बल्कि पेलेस्टाइन को यहूदियों की मातृभूमि बनाने के समूचे सिद्धान्त के ही विरोध में हुआ करते थे।

1936 के अन्त में उपद्रवों के कारणों का पता लगाने और सिफारिशें करने के लिए एक शाही आयोग (Royal Commission) की नियुक्ति की गई। जुलाई 1937 में इस आयोग का प्रतिवेदन प्रकाशित हुआ जिसमें पेलेस्टाइन का त्रिपक्षीय विभाजन करने का प्रस्ताव रखा गया था। प्रस्ताव के अनुसार धार्मिक स्थान (Holy Places) स्थायी रूप से ब्रिटेन के अधिकार में रहने थे; गेलिली (Galilee) तथा समुद्र-तटीय मैदानों को मिलाकर यहूदी प्रभुतासम्पन्न राज्य (sovereign state) का निर्माण किया जाना था तथा शेष भाग को ट्रांसजोर्डानिया में मिलाकर एक अरब राज्य का निर्माण किया जाना था। इस योजना की सभी ने आलोचना की तथा राष्ट्र-संघ के प्रादेश-आयोग (Mandates Commission) ने भी जिसके समक्ष यह प्रतिवेदन प्रस्तुत किया गया था, इसे नापसन्द किया। इस बीच उपद्रव होते रहे। न केवल यहूदियों और ब्रिटिश लोगों की ही अपितु उन अरबों की भी, जो समझौते के पक्ष में समझे जाते थे, हत्याएँ की गईं। इस योजना की व्यवहार्यता पर विचार करने के लिए एक और आयोग की नियुक्ति की गई। किन्तु 1938 के दौरान इस आयोग ने विभाजन के विरोध में इतनी निश्चयात्मक रिपोर्ट दी कि इस योजना को ही त्याग देना पड़ा और लन्दन में एक सम्मेलन बुलाया गया। प्रतिनिधि-यहूदियों और अरबों को ब्रिटिश सरकार के सामने अपना मामला पृथक रूप से रखने के लिए आमन्त्रित किया गया। बाद में यदि सम्भव दिखाई देता तो एक संयुक्त सभा में समाधान निकालने का प्रयत्न किया जाना था। किन्तु कोई समझौता नहीं हो सका और ब्रिटिश सरकार ने अपना ही हल लादने का निश्चय किया जिसमें पाँच वर्ष तक यहूदी-आप्रवासियों की संख्या प्रतिवर्ष 10,000 तक सीमित करने की व्यवस्था करके समझौते की नींव डाली गई। इसी बीच और भी अधिक कठोर सैनिक नियन्त्रण के कारण पुन: व्यवस्था करने में सफलता मिल चुकी थी और कुछ हद तक मोटे तौर पर मुस्लिम जगत सन्तुष्ट हो चुका था। उसके लिए पेलेस्टाइन का प्रदेश अरब पितृभूमि का एक आवश्यक भाग था। किन्तु फिर भी पश्चिमी जगत के और विशेषकर प्रोटेस्टेण्ट धर्मानुयायी अंग्रेजी राष्ट्रों के कई लोगों का, जो प्राचीन और अर्वाचीन टेस्टामेण्ट के इतिहास से तो परिचित थे, किन्तु पॉन्टियस पाइलेट (Pontius Pilate) के बाद के एशिया माइनर के घटनाचक्र के बारे में बहुत कम जानकारी रखते थे, यह विश्वास इतना ही दृढ़ था कि पेलेस्टाइन स्वाभाविक रूप में यहूदियों

नोट

का ही है। इसके अतिरिक्त यहूदी जाति को जिस भयंकरता से एवं अधिकाधिक सताया जा रहा था, उसे देखते हुए उसके लिए कोई आश्रय-स्थान होना एक अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकता थी।

इसके विपरीत सीरिया में अरब राष्ट्रीयतावाद उतना ही प्रबल था जितना इराक और पेलेस्टाइन में। इराक में ग्रेट ब्रिटेन ने अल्पसंख्यकों की बलि चढ़ाते हुए एक एकीकृत राज्य की स्थापना की थी। सीरिया में फ्रांस ने इससे उलटी नीति अपनाई और मुख्य सीरिया से इन तीनों क्षेत्रों को पृथक् कर दिया जिनमें मुख्यत: गैर-अरब बसते थे। उनमें दो क्षेत्रों–समुद्र-तटीय लेटेकिया (Latakia) और दक्षिण में स्थित डूज क्षेत्र (Jebel Druse territory)–को फ्रांसीसियों के सीधे ही प्रशासन में रखा गया था। तीसरा क्षेत्र–उत्तर में अलेक्जांड्रिटा (Alexandretta) का तुर्की जिला–सीरियन सरकार के नाममात्र के प्रभुत्व (suzerainty) के अधीन एक स्वायत्तशासी प्रान्त बन गया। अपनी सामान्य भूमध्य सागरीय नीति के अंग के रूप में जून 1939 में फ्रांस ने एक समझौता किया जिसके अनुसार इस जिले का अधिकांश भाग–अलेक्जांड्रिटा का संजक (Sandjak)–तुर्की को इस शर्त पर सौंप दिया गया कि तुर्की लोग सीरिया पर अपने अन्य दावों का परित्याग कर देंगे तथा उस देश में प्रचार नहीं करेंगे। विखण्डन (dismemberment) की इस नीति के प्रति सीरियन अरबों ने गम्भीर रोष प्रकट किया। समय-समय पर गम्भीर विद्रोह भी होते रहे जिनमें प्रमुख 1925 का विद्रोह था, जबकि फ्रांसीसी सैनिक टुकड़ियों ने दमस्कस (Damascus) पर बम-वर्षा की थी। 1933 के बाद से तो सीरियन संविधान को बिल्कुल ही निलम्बित (Suspended) कर दिया गया था। 1936 में सीरियन नेताओं और फ्रांसीसी सरकार में नये सिरे से वार्ताएँ चलीं जिनके परिणामस्वरूप नवम्बर में आंग्ल-ईराकी सन्धि (Anglo-Iraqi Treaty) के ढंग की एक सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसमर्थन के बाद फ्रांस के समर्थनपूर्वक सीरिया द्वारा राष्ट्र-संघ की सदस्यता के लिए आवेदन किया जाना था। किन्तु अनुसमर्थन में इतना विलम्ब हो गया कि 1939 के प्रारम्भ में दमस्कस में राष्ट्रीयतावादी उत्पाद हुए और उच्चायुक्त (High Commissioner) ने सीरियन संसद को विघटित कर दिया तथा कार्यपालिका शक्ति पाँच संचालकों की एक परिषद् (Council of Directors) के हाथों में सौंप दी; सैनिक प्रतिरक्षा (military defence) का नियन्त्रण फ्रांस के पास रहा।

अरेबिया में इस अवधि की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना इब्न सऊद (Ibn Saud) का उदय थी जो पहले नज्द का सुल्तान (Sultan of Nejd) था। प्रथम विश्वयुद्ध के समय इब्न सऊद ने तुर्की के विरुद्ध मित्र-राष्ट्रों की सहायता की थी और मित्र-राष्ट्र उसे आर्थिक सहायता देते थे। शान्ति-समझौते में उसे मान्यता नहीं दी गई थी। किन्तु खानाबदोश आबादी तथा अस्पष्ट सीमान्तों के इस प्रदेश में उसने धीरे-धीरे अतिक्रमण करके तथा कठोर शासन द्वारा अपने राज्य का विस्तार कर लिया। 1926 में हैजाज (Hedjaz) के शाह हुसैन को पराजित कर और उसे निष्कासित कर, उसने उसके क्षेत्र को भी अपने राज्य में मिला लिया तथा अपने आपको हजाज एवं नज्द का शाह घोषित कर दिया। आगे चलकर इसने सारे देश का नाम बदल कर सउदी अरब (Saudi Arabia) रख दिया। इब्न सऊद ने स्पष्टत: अपने को एक शक्तिशाली स्वतन्त्र अरब शासक माने जाने का अधिकार सिद्ध कर लिया था। सउदी अरब ने राष्ट्र-संघ की सदस्यता के लिए आवेदन नहीं किया किन्तु 1936 में ईराक, ट्रांसजोर्डानिया और मिस्र से सन्धियाँ कर अपनी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति सुदृढ़ बना ली। अरब ऐक्य के इन प्रदर्शनों की प्रेरणा कुछ अंश तक अबीसीनिया में इटली की सफलता के बाद इटली की महत्त्वाकांक्षाओं के भय से मिली थी और इसी परिस्थिति के कारण ग्रेट ब्रिटेन तथा अरब राज्यों से सम्बन्ध और मित्रतापूर्ण हो गए।

अगस्त 1936 में हस्ताक्षरित सन्धि के अधीन ग्रेट ब्रिटेन ने कुछ शर्तों पर मिस्र के अर्न्तप्रदेश से अपनी सैनिक टुकड़ियाँ हटा कर उन्हें केवल नहर-क्षेत्र (Canal Zone) में ही सीमित रखने, प्रमुख विदेशी राष्ट्रों के निवासियों द्वारा मिस्र में उपभोग किए जाने वाले राज्य क्षेत्रातीत अधिकारों (Capitulations) का अन्त करने में मिस्र की सहायता करने; राष्ट्र-संघ की सदस्यता के लिए मिस्र के दावे का समर्थन करने; तथा सूडान के प्रशासन में मिस्री (Egyptian) अधिकारियों को भी शामिल करने का वचन दिया।

नोट

ये वचन उस समय पूरे हो गए, जब 8 मई, 1937 को मांट्रो (Montreux) में हुए एक सम्मेलन में मिस्र में हित रखने वाले राष्ट्रों ने राज्य क्षेत्रातीत अधिकार-समझौते के द्वारा प्राप्त अपने अधिकार त्याग दिए तथा 26 मई को एक संप्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की हैसियत से मिस्र को राष्ट्र-संघ का सदस्य बना लिया गया। 1938 में ग्रेट ब्रिटेन के साफ उन ब्रिटिश सैनिक टुकड़ियों की स्थिति के बारे में, जो पिछले समझौते के अधीन स्वेज नहर की रक्षा के लिए रखी गई थीं, एक समझौता किया गया। मिस्र अपनी स्वतन्त्र स्थिति की रक्षा करते हुए भी ग्रेट ब्रिटेन के प्रति अपने कर्तव्यों के प्रति पूरी तरह ईमानदार रहा।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. ..... में ग्रेट ब्रिटेन ने मिस्र की स्वतंत्रता स्वीकार कर ली थी।
2. ..... में तुर्की सम्प्रभुता समाप्त कर दी गई।
3. प्रथम विश्वयुद्ध के समय ..... ने तुर्की के विरुद्ध मित्र-राष्ट्रों की सहायता की थी।

19.2 सुदूर-पूर्व (The Far East)

मार्च 1933 में जापान के राष्ट्र-संघ से हट जाने के कारण सुदूर-पूर्व में निरन्तर बढ़ती हुई तनाव की स्थिति उत्पन्न हो गई। जापान अपनी मंचूरिया-विजय को शीघ्र ही सुदृढ़ बनाकर पूर्वी एशिया में प्रमुख राष्ट्र (dominant power) के रूप में सामने आ गया। जापान के विदेश विभाग ने अप्रैल 1934 में समाचारपत्रों को जो वक्तव्य प्रकाशित करने को दिया, उसमें जापान की नीति की प्रथम महत्त्वपूर्ण घोषणा हुई। इस वक्तव्य में "पूर्वी एशिया में (जापान की) विशेष जिम्मेदारियों" का उल्लेख करने के बाद यह स्पष्ट रूप से घोषित किया गया था कि, "चीन के अतिरिक्त ऐसा कोई भी देश नहीं है जो पूर्वी एशिया में शान्ति बनाये रखने की जिम्मेदारियों का जापान के साथ दावा कर सके।" इसके साथ यह भी घोषणा की गई कि विदेशी राष्ट्रों द्वारा चीन की सहायता पहुँचाने के लिए पृथक् अथवा संयुक्त रूप में किसी भी प्रकार की कार्रवाई पर जापान को "आपत्ति" है। इन आपत्तियों में "प्राविधिक अथवा वित्तीय (technical or financial) सहायता (जैसी राष्ट्र-संघ ने चीन को हाल ही में देना स्वीकार किया था) के नाम पर" की जानेवाली कार्रवाई तथा युद्ध-सामग्री भेजने या शिक्षकों अथवा सलाहकारों (instructors or advisers) की सेवाएँ उधार देने के रूप में दी जाने वाली सैनिक सहायता भी शामिल थी। यह घोषणा, जो "जापान के मुनरो-सिद्धान्त" ("Monroe Doctrine") के नाम से विख्यात हुई, बाद में अनेक अवसरों पर दोहराई गई। 1935 के ग्रीष्म में शेष चीन से उसके अनेक उत्तरी प्रान्तों को पृथक् करने का प्रयत्न चीनियों के सत्याग्रह के सामने विफल हो गया, परन्तु मंचूरिया के समीप के चीनी क्षेत्र में जापानी सैनिक अधिकारियों को 'पूर्वी होपी स्वायत्तशासी सरकार' (East Hopei Autonomous Government) नामक एक कठपुतली सरकार की स्थापना में सफलता मिल गई। इसके अतिरिक्त आगे चलकर उन्होंने चीनी सीमाशुल्क अधिकारियों के कार्य में जानबूझकर हस्तक्षेप करके इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में से चोरीं से माल लाने-ले जाने वालों को काफी प्रोत्साहित किया। अवैध लाभ को जापानी व्यापारियों की जेबों में पहुँचाने और चीनी सरकार के माली साधनों को नष्ट करने तथा उसकी प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचाने के लिए यह एक बड़ी चतुराई-पूर्ण चाल थी। 1936 में चीन के अनेक भागों में की गई जापानियों की यदा-कदा हत्याएँ (sporadic murders) इस बात का प्रमाण थीं कि जापानियों के प्रति कितनी कटु भावनाएँ उत्पन्न हो चुकी थीं।

स्वयं चीन में जापान के भय ने चीनियों को एकता के सूत्र में बाँधने का काम किया, यद्यपि उसके परिणाम आशा के विपरीत बहुत धीमे एवं आंशिक (partial) थे। मध्य-चीन में बोरोडिन के चले जाने के काफी समय बाद भी

नोट

अनेक स्थानीय सोवियतें नानकिंग सरकार का सिरदर्द बनी रहीं और विस्तृत क्षेत्र तथाकथित चीनी सोवियत सरकार के नियन्त्रण में बने रहे। 1933 के बाद इनमें से अनेक क्षेत्रों को नानकिंग सरकार ने पुनः अपने क्षेत्र में विलीन कर लिया। उत्तर-पश्चिमी चीन में सुसंगठित चीनी कम्युनिस्ट सेनाएँ अब भी विद्यमान थीं, किन्तु कम्युनिस्ट इण्टरनेशनल (Communist International) की कांग्रेस के 1935 के अधिवेशन में निर्धारित की गई नीति के अनुसार इन सेनाओं का लक्ष्य अब नानकिंग सरकार को उलटना नहीं था, बल्कि उत्तरी चीन में जापानियों के विरुद्ध उसके विरोध से सुदृढ़ बनाना तथा उसका मुकाबला करने में उसकी सहायता करना था। दक्षिणी चीन में 1936 के ग्रीष्म में नानकिंग सरकार के विरुद्ध एक सैनिक विद्रोह हुआ किन्तु उसे कोई सहायता नहीं मिली और उसके परिणामस्वरूप केन्टन को अर्द्ध-स्वतन्त्र सरकार का दमन कर दिया गया। इन वर्षों में नानकिंग और केन्टन के बीच सहयोग और किसी भी समय की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ दिखाई देता था। इस प्रकार 1936 के अन्त में नानकिंग स्थित चीनी सरकार का, जिसे सेनापति च्याँग काई-शेक का योग्य नेतृत्व प्राप्त था, मध्य और दक्षिणी चीन में धीरे-धीरे अधिकार दृढ़ होता गया तथा उत्तरी चीन में जापान के विरुद्ध वह अपने प्रभाव को दृढ़ता से बनाये रही। दिसम्बर में उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर एक अल्पकालीन विद्रोह हुआ और विद्रोही सेना ने स्वयं च्याँग काई-शेक को ही अनेक दिनों तक बन्दी बनाये रखा। किन्तु अपने बन्दी बनाने वालों के आत्मसर्मपण से च्याँग की स्थिति सुदृढ़ हो गई और चीन एकता के रास्ते की ओर अग्रसर होता तथा जापान के आक्रमण के विरुद्ध संयुक्त होता दिखाई दिया।

किन्तु जुलाई, 1937 में पेकिंग के निकट चीनी और जापानी सैनिक टुकड़ियों के बीच होने वाली एक मुठभेड़ के फलस्वरूप और भी मुठभेड़ें हुईं तथा युद्ध की घोषणा किए बिना ही युद्ध आरम्भ हो गया। पेकिंग खाली कर दिया गया और चीनी, जो अब भी मुकाबला कर रहे थे, धीरे-धीरे येलो नदी (Yellow River) तक खदेड़ दिए गए। उधर नौ-सेना और वायु-सेना ने शंघाई पर आक्रमण किया। इस वर्ष के अन्त तक जापानियों ने न केवल इस नगर पर अपितु राजधानी नानकिंग पर भी अधिकार कर लिया था। हवाई बमबाजी ने बचाव के साधनों से हीन जन-समुदाय का बड़ा वध किया और चाहे संयोग से हो या गलत उत्साह के कारण हो, चीन में स्थित ब्रिटिश राजदूत को घायल कर दिया तथा ऊपरी याँगट्सी (Yangtse) में एक अमेरिकी और एक ब्रिटिश जहाज को भी क्षति पहुँचाई। किन्तु योरोप में कुछ ऐसा घटनाचक्र चल रहा था कि ग्रेट ब्रिटेन को राजनीतिक विरोध तक ही अपना रोष सीमित रखना पड़ा और इसी प्रकार यूनाइटेड स्टेट्स ने भी जापान से क्षमा-याचना प्राप्त करके सन्तोष मान लिया। इसी बीच राष्ट्र-संघ ने, जिसके सामने चीनी प्रतिनिधियों ने तथ्य प्रस्तुत किए थे, जापान की कार्रवाई को सन्धिजन्य कर्तव्यों का अन्यायपूर्ण भंग बताकर उसकी विधिवत् निन्दा की तथा अपने सदस्यों से इस बात पर विचार करने के लिए अनुरोध किया कि वे व्यक्तिगत रूप से आक्रमण के शिकार राष्ट्र की किस सीमा तक सहायता कर सकते हैं। यद्यपि सामग्री और अनुशासन में श्रेष्ठ होने के कारण जापानी सेनाएँ हर स्थान पर आगे बढ़ने में सफल हो सकीं, तो भी चीनी बराबर उनका मुकाबला करते रहे। सबसे पहले हंकाऊ, जो अस्थायी राजधानी बन चुका था तथा उसके उप-नगरों का जुलाई 1938 में पतन हुआ और अक्टूबर में केण्टन पर भी अप्रत्याशित सफलतापूर्वक शत्रु का अधिकार हो गया। धीरे-धीरे जापान ने सभी बन्दरगाहों पर अधिकार कर लिया और चीनी सेनाएँ उस रसद पर निर्भर रह गईं, जो उन्हें भूमि के रास्ते सोवियत संघ से रेलमार्ग द्वारा फ्रांसीसी हिन्द-चीन (Indo-China) से या नवनिर्मित मोटर-मार्ग द्वारा बर्मा में स्थित ब्रिटिश साधनों से प्राप्त हो सकती थी। 1939 के अन्त तक जापानियों ने हिन्द-चीन रेलमार्ग काट दिया और मोटर-मार्ग पर अत्यधिक भार पड़ने लगा। सोवियत सहायता पर भी और अधिक निर्भर नहीं रहा जा सकता था, किन्तु चीन मुकाबला करता ही रहा।

जापान द्वारा मंचूकुओं (Manchukuo) की विजय के कारण सोवियत रूस में गंभीर आशंका फैल गई थी और प्रतिकारस्वरूप कई प्रकार के कदम उठाये गए थे। सबसे पहले तो सोवियत सरकार ने यूनाइटेड स्टेट्स सरकार द्वारा राजनयिक मान्यता प्राप्त करने की चेष्टा की और उसमें उसे सफलता भी मिल गई। दूसरे, उसने जापान को (या नाम के लिए मंचूकुओ को) मंचूरिया में से होकर जाने वाली चीनी पूर्वी रेलवे में रूसी हित बेचकर संघर्ष के अवसरों में कमी करने का प्रयत्न किया। तीसरे, मध्य एशिया में उसने सोवियत प्रभाव बढ़ाया। चीन के बिल्कुल पश्चिम में

नोट

स्थित सिंकियांग (Sinkiang) प्रान्त या चीनी तुर्किस्तान (Chinese Turkistan), जिसमें अनेक मूल जातियों की मिश्रित आबादी बसती है, बहुत समय से नानकिंग सरकार से लगभग स्वतंत्र चला आ रहा था तथा वहाँ पर प्रतिद्वन्द्वी अधिकारियों में समय-समय पर गृह-युद्ध होते रहते थे। 1933 में सोवियत सेना और वायुयानों ने ऐसे ही एक स्थानीय संघर्ष में हस्तक्षेप किया तथा नानकिंग सरकार द्वारा मान्य स्थानीय चीनी राज्यपाल (Governor) को पुन: व्यवस्था तथा अपना शासन स्थापित करने में सहायता दी। कुछ समय के लिए सिंकियांग में रूस का राजनीतिक तथा आर्थिक प्रभाव सर्वोपरि हो गया। मार्च 1936 में बाहरी मंगोलिया (Outer Mongolia) ने, जो नाममात्र के लिए चीन के प्रभुत्व में होते हुए भी वास्तव में 1921 से एक सोवियत गणतंत्र (Soviet Republic) बना हुआ था, सोवियत संघ से एक संश्रय-सन्धि की, जिसके अनुसार हर पक्ष ने विदेशी आक्रमण के समय एक-दूसरे की सहायता करने का वचन दिया। लगभग इसी समय स्टालिन ने एक अमेरिकी पत्रकार को स्पष्ट रूप में कहा कि यदि बाहरी मंगोलिया में जापान ने किसी प्रकार का हस्तक्षेप किया तो उसका अर्थ सोवियत संघ से युद्ध मोल लेना होगा। इस प्रकार जापान द्वारा मंचूकुओं में कायम की गई बाहरी चौकियों (outposts) की ही तरह सोवियत संघ ने भी सिंकियांग और बाहरी मंगोलियों में चौकियाँ कायम कर रखी थीं, किन्तु उनके स्थानीय प्रशासनों में सोवियत नियंत्रण उतना प्रत्यक्ष नहीं था, जितना मंचूकुओं में जापान का था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. ..... में अफगानिस्तान को राष्ट्र संघ में प्रवेश मिल गया था।

   (क) 1934 (ख) 1944 (ग) 1954 (घ) 1914

5. 1919 में पेलेस्टाइन की जनसंख्या ..... से कुछ कम अनुमानित की गई थी।

   (क) 8,00,000 (ख) 7,00,000 (ग) 9,00,000 (घ) 3,00,000

6. 1934 के अंत तक पेलेस्टाइन में यहूदियों की संख्या ..... तक पहुंच गई थी।

   (क) 5,00,000 (ख) 4,00,000 (ग) 3,0,000 (घ) 6,00,000

अमेरिका और विश्व-राजनीति (America and World Politics)

1930-33 के आर्थिक संकट के जितने विनाशकारी परिणाम अन्य देशों में हुए थे उतने यूनाइटेड स्टेट्स में नहीं हुए थे। किन्तु राज्य की कर्तव्य-संबंधी वर्तमान धारणा में और कहीं भी इतना प्रत्यक्ष एवं मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ जितना यूनाइटेड स्टेट्स में हुआ। संकट से पहले यूनाइटेड स्टेट्स में लासा फेयर (laissez faire) अर्थात् निर्बाध निजी उद्यम के सिद्धांतों का लगभग पूरी तरह पालन होता रहा था; सीमा कर-संरक्षण (tariff protection) ही केवल एक अपवाद था। उद्योग और वाणिज्य में राज्य के हस्तक्षेप को अब भी अधिकांशत: अवांछनीय, अमेरिकी परम्परा के विरुद्ध, यहाँ तक कि अनैतिक भी माना जाता था। संकट ने इस दृष्टिकोण की भ्रांति को उसके सच्चे स्वरूप में प्रकट कर दिया। जब उद्योग और वित्त-व्यवस्था का सारा ढाँचा ढहढहाने लगा तथा अमेरिकी जनसंख्या का दसवाँ हिस्सा बेकार हो गया, तब पूँजी और श्रम (capital and labour) दोनों ही परित्राण के लिए राज्य का मुँह ताकने लगे। राष्ट्रपति रूजवेल्ट का प्रशासन-काल नये आधार पर अमेरिकी आर्थिक जीवन के पुनर्निर्माण के लिए किए गए प्रयत्नों की एक लंबी कहानी है। स्थिति में जब पुन: सुधार होने लगा, तब प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने अमेरिकी पुनर्व्यवस्था के विरुद्ध, जो 'नई नीति' (New Deal) के नाम से विख्यात हो गई थी, सिर उठाने का प्रयत्न किया। अमेरिकी संविधान द्वारा अमेरिकी कांग्रेस को "विदेशों से तथा विभिन्न राज्यों के बीच वाणिज्य का विनियमन करने" की शक्ति दी गई है। व्याख्या में कुछ खींचतान करके ही मूल्य-नियंत्रण तथा श्रम की अवस्थाओं का निर्धारण (fixing of labour conditions) जैसे विषय इस व्यवस्था के अन्तर्गत लाये गए थे। उद्योग और कृषि को

नोट

नियंत्रित करने तथा श्रमिकों को संरक्षण प्रदान करने-संबंधी सरकार के और अधिक क्रान्तिकारी कदमों को सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) ने असंवैधानिक घोषित कर दिया था और इस कारण उन्हें वापस लेना पड़ा था। परन्तु नवम्बर 1936 में जिस अत्यधिक बहुमत से राष्ट्रपति रूजवेल्ट का निर्वाचन हुआ, उससे स्पष्ट था कि राज्य द्वारा विनियमन (state regulation) के नये सिद्धांत को अमेरिकी जनता ने किस प्रकार सहर्ष स्वीकार कर लिया है।

1933 के बाद के वर्षों में इस शान्तिपूर्ण गृह क्रान्ति (peaceful domestic revolution) में ही अमेरिकी सरकार की शक्ति लगी रही तथा विदेशी मामलों का स्थान गौण हो गया। जापान की मंचूरिया-संबंधी कार्रवाई का प्रथम प्रभाव अमेरीका के राष्ट्र-संघ के साथ सहयोग करने के लिए प्रेरित करना हुआ था। 1932 के ग्रीष्म-काल में रिपब्लिकन (Republican) और डेमोक्रेटिक (Democratic) दोनों ही पार्टियों ने पेरिस-समझौते (Pact of Paris) के भंग होने की स्थिति में अथवा उसके भंग किए जाने की आशंका होने पर अमेरिकी सरकार और अन्य सरकारों के परस्पर परामर्श का समर्थन करने की घोषणा की। मई 1933 में नि:शस्त्रीकरण-सम्मेलन में अमेरिकी प्रतिनिधि ने यह घोषित किया कि यदि कोई नि:शस्त्रीकरण-समझौता किया गया तो अमेरिकी सरकार भविष्य में संकट के समय अन्य सरकारों से परामर्श करने के लिए सहमत होगी और वे जो कार्रवाई करना चाहेंगी, उसमें अमेरिकी सरकार बाधा नहीं डालेगी। किन्तु जब सम्मेलन असफल हो गया और यूरोप तथा प्रशान्त सागर में स्थिति अधिक उद्विग्न एवं भयावह हो गई तब अमेरिकी लोकमत तेजी से पृथक्करण (isolation) की नीति की ओर लौट आया। दिसम्बर, 1935 में लंदन में एक नौसैनिक सम्मेलन यह विचार करने के लिए हुआ कि वर्ष के अन्त में लंदन नौसैनिक सन्धि समाप्त हो जाने पर क्या स्थिति होगी। 1934 के अंत में जापान ने 1921 में की गई वाशिंगटन पंच-राष्ट्र-सन्धि को समाप्त करने के लिए विहित दो वर्ष की सूचना दे दी थी। जापान को हमेशा के लिए वाशिंगटन-अनुपात या ऐसा अन्य कोई अनुपात स्वीकार कर लेने के लिए राजी कर लेना असम्भव प्रतीत हुआ था जो उसके समुदी बेड़े का परिसीमन ब्रिटिश और अमेरिकी बेड़े से नीचे स्तर पर निश्चित करता हो। लन्दन-सम्मेलन का एकमात्र परिणाम ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस का यह समझौता था, जिसके अनुसार इन देशों ने, जो जहाज निर्मित किए हों या प्राप्त किए हों, उनके बारे में अग्रिम सूचना देने तथा विभिन्न प्रकार के युद्धपोतों का अधिकतम टन-भार (maximum tonnage) परिसीमित करने का वचन दिया; अन्य सभी बातों में 1936 के अन्त में सभी पक्षों को पुन: स्वतंत्रता मिल गई।

अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में 1935 के आरंभ से ही अमेरिकी सरकार का प्रमुख उद्देश्य युद्ध में घसीटे जाने की किसी भी सम्भावना से बचते रहना था। दस वर्ष, अपने दायित्वों को कम करने की नीति का अनुसरण करते हुए, उसने फिलिप्पाइनस (Philppines) से, जो पश्चिमी प्रशान्त सागर में एकमात्र अमेरिकी सैनिक अड्डा था, हट जाने तथा इन द्वीपों को दस वर्ष की परिवीक्षा-अवधि के बाद पूर्ण स्वतंत्रता देने का निश्चय किया। 1935 के ग्रीष्मकाल में तटस्थता अधिनियम (Neutrality Act) का पारित होना भी इस निश्चय के समान ही महत्त्वपूर्ण था। इस अधिनियम के अनुसार युद्ध भड़क उठने की स्थिति में अमेरिकी राष्ट्रपति को दोनों ही युद्धरत पक्षों की युद्ध-सामग्री तथा मूल उत्पादन (key products) के निर्यात पर रोक लगाने का अधिकार मिल गया था। अमेरिकी राष्ट्रपति ने इस अधिकार का उपयोग इटली-अबीसीनिया युद्ध में किया भी था। फरवरी 1936 में इस अधिनियम में किए गए एक संशोधन के अनुसार यह रोक भावी युद्ध में न केवल ऐच्छिक अपितु अनिवार्य हो गई। संशोधन में युद्धरत पक्षों को ऋण दिए जाने पर भी रोक लगा दी गई, किन्तु महत्त्व की बात यह थी कि इस अधिनियम से अमेरिकी गणतंत्रों (republics) को मुक्त रखा गया था।

यूनाइटेड स्टेट्स की यूरोप तथा सुदूर-पूर्व के बखेड़ों से अपने आपको पृथक् रखने की इस कोशिश के साथ ही साथ अन्य अमेरिकी देशों के अधिकाधिक निकट आने की इच्छा भी उतनी ही प्रबल थी। मध्य और दक्षिणी अमेरिका के देशों में यूनाइटेड स्टेट्स के प्रति परम्परागत अविश्वास कई वर्षों से चला आ रहा था। मुनरो-सिद्धांत का यह

नोट

व्यापक अर्थ लगाया गया था कि व्यवस्था बनाये रखने और विदेशी जान-माल की रक्षा करने के लिए आवश्यकता पड़ने पर मध्य-और दक्षिणी अमेरिकी के मामलों में हस्तक्षेप करना यूनाइटेड स्टेट्स का अधिकार एवं कर्तव्य है। इस प्रकार 1903 में क्यूबा (Cuba) और यूनाइटेड स्टेट्स के बीच की गई सन्धि द्वारा यूनाइटेड स्टेट्स को इन प्रयोजनों के लिए हस्तक्षेप करने का स्पष्ट अधिकार दिया गया था। यूनाइटेड स्टेट्स के नौसैनिक निकारागुआ (Nicaragua) में कुछ थोड़े समय को छोड़कर 1912 से ही तथा हैटी (Haiti) में 1915 से ही रहे थे, तथा अन्य देशों में भी कुछ कम स्थायी हस्तक्षेप किया गया था। समय-समय पर होने वाली अखिल अमेरिकी महासभाओं (Pan-American Congresses) से, जिनमें से प्रथम 1889 में हुई थी, वह दुर्भावना दूर नहीं हो सकी थी जो उस नीति के परिणामस्वरूप हुई थी जिसका शक्ति-प्रदर्शन (Big Stick) और 'डॉलर साम्राज्यवाद' (Dollar Imperialism) के नाम से आम वर्णन किया जाता था।

1930 के लगभग किसी सीमा तक आर्थिक संकट के कारण, अमेरिकी लोकमत मध्य और दक्षिणी अमेरिका में हस्तक्षेप की नीति से हटने लगा। 1933 के प्रारंभ में निकारागुआ से यूनाइटेड स्टेट्स के नौसैनिक हटा लिये गए और इसी वर्ष के मार्च में जब राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अपने उद्घाटन भाषण में कहा कि, "यह राष्ट्र अच्छे पड़ोसी (Good Neighbour) की नीति पर चलेगा", तब इन शब्दों का यह अर्थ लगाया गया कि यूनाइटेड स्टेट्स का परंपरागत रुख निश्चित रूप से बदल चुका है। इसी वर्ष में अर्जेण्टाइना गणतंत्र ने एक नये समझौते की चर्चा चलाई जिसके अनुसार आक्रमणात्मक युद्ध का त्याग तथा शक्ति के प्रयोग से उत्पन्न स्थितियों को अमान्य करने की व्यवस्था की जानी थी। यूनाइटेड स्टेट्स ने इसका स्वागत किया और कई अमेरिकी तथा कुछ यूरोपीय राज्यों ने उस पर हस्ताक्षर किए। 1933 के अन्त में मोन्टीविडियो (Montevideo) में हुई सातवीं अखिल-अमेरिकी महासभा (The Seventh Pan-American Congress) में यूनाइटेड स्टेट्स के सेक्रेटरी ऑव स्टेट ने एक सान्त्वनाप्रद घोषणा की। अगले वर्ष यूनाइटेड स्टेट्स के जहाज हेटी से अन्तिम रूप से हट गए और 1903 में क्यूबा से की गई सन्धि भी रद्द कर दी गई। दिसम्बर 1936 में, अपने पुनर्निर्वाचन के तुरन्त बाद ही, राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने ब्यूनोस एयर्स (Buenos Aires) में हुई आठवीं अखिल-अमेरिकी महासभा में स्वयं उपस्थित होकर लेटिन अमेरीका को सम्मानित किया। इस महासभा में एक सन्धि स्वीकार की गई जिसके अनुसार यह व्यवस्था की गई कि यदि किसी भी अमेरिकी गणतंत्र की शान्ति को कोई खतरा उत्पन्न हुआ तो हस्ताक्षरकर्ता "शान्तिपूर्ण सहयोग से कदम उठाने पर परस्पर परामर्श करेंगे।" 1930 के बाद के दशक में हुए उन दो युद्धों के बावजूद भी, जिन्होंने दक्षिण अमेरिका को विकृत कर दिया, अमेरिकी महाद्वीपों में अन्तर्राष्ट्रीय संबंध इतने सच्चे रूप में मित्रतापूर्ण कभी नहीं रहे थे, जितने वे इस समय हो गए थे।

इसी बीच अमेरिकी गणतंत्रों में अधिकाधिक मेल कराने और उन्हें अन्य राष्ट्रों के युद्धों में फँसने से बचाने की दोहरी प्रवृत्ति यूनाइटेड स्टेट्स के नेतृत्व में जारी रही, जहाँ तटस्थता (neutrality) बनाये रखने के उद्देश्य की पूर्ति के लिए और भी कानून बन चुके थे। 1935 के अधिनियम के उपबंध (provisions) और उनके बाद के संशोधन केवल दो वर्षों के लिए ही स्वीकार किए गए थे। 1937 में एक नया तटस्थता अधिनियम स्वीकृत हुआ। उसने शस्त्रास्त्रों के निर्यात और ऋणों पर पुनः रोक लगा दी। राष्ट्रपति को "यूनाइटेड स्टेट्स की सीमा पर स्थित देशों" अर्थात् कनाडा को माल का परिवहन करने की अनुमति देने का अधिकार दे दिया गया क्योंकि मार्ग में किसी बाधा से संघर्ष का कोई कारण उपस्थित नहीं हो सकता था।

जो भी हो, यूरोप में राजनीतिक दायित्वों से बचने के संकल्प का आशय पूर्ण अलगाव (complete isolation) नहीं था। अन्य महाद्वीपों के समान यूरोप से आर्थिक सहयोग की नीति पर चलने के लिए अमेरिकी लोकमत लगभग निर्विरोध रूप से पक्ष में था। 1934 में प्रथम बार स्वीकृत तथा 1937 में तीन और वर्ष के नवीकृत (renewed) पारस्परिक व्यापार समझौता अधिनियम (Reciprocal Trade Agreement Act) का पूरा-पूरा लाभ मंत्री कॉर्डेल हल (Secretary Cordell Hull) ने सर्वाधिक-अनुगृहीत राष्ट्र (most favoured nation) के आधार पर बाईस राष्ट्रों से, जिनसे अमेरीका का अधिकांश विदेश-व्यापार होता था, व्यापारिक समझौते करने में उठाया जिसमें

नोट

पारस्परिक आधार पर सीमाकर में कमी तथा व्यापार पर लगाये गए अन्य बंधनों को सीमित करना शामिल था। उसका यह विश्वास था कि राजनीतिक संकट उत्पन्न करने में, जिसके अन्त में युद्ध की नौबत आई, आर्थिक राष्ट्रीयता (economic nationalism) एक बड़ा कारण था और यदि न्याथ्य सीमाकर-संरक्षण (tariff protection) के साथ सुसंगत यथासंभव निर्बाध (freest possible) आधार पर बहुपक्षीय व्यापार (multilateral trade) पुन: प्रारंभ किया जाए तो वह केवल राजनीतिक और प्रादेशिक पुनर्विन्यास (rearrangements) की अपेक्षा तानाशाही, आक्रमण और युद्धों की पुनरावृत्ति (recurrence) रोकने में अधिक सक्षम हो सकेगा।

किन्तु सुदूर-पूर्व में यूनाइटेड स्टेट्स ने 1934-37 की अल्पीकृत दायित्वों (reduced commitment) संबंधी नीति के विरुद्ध प्रतिक्रिया के आसार प्रकट किए। अमेरिकी राष्ट्रपति ने जानबूझकर यह स्वीकार करने से बचने का प्रयत्न किया कि चीन में जापान की कार्रवाई "युद्ध की स्थिति" (state of war) है, क्योंकि ऐसी स्वीकृति से तटस्थता अधिनियम (Neutrality Act) के उपबंध लागू हो जाते और चीन को अमेरिकी सहायता बंद कर देनी पड़ती। संघर्षरत चीनियों के प्रति स्पष्ट रूप से अधिमान (preference) दर्शाया गया तथा आयात-निर्यात बैंक (Import-Export Bank) के जरिए उन्हें ऋण दिए गए। यूनाइटेड स्टेट्स की सरकार ने चीन में अपने किन्हीं भी परंपरागत अधिकारों को छोड़ने से दृढ़तापूर्वक इन्कार कर दिया और चीनी सन्धि-बन्दरगाहों तथा समुद्र (treaty Ports and waters) में अपनी नौ-सेना एवं थल-सैना की पूरी शक्ति कायम रखी। जुलाई 1939 में उसने जापान-अमेरिका वाणिज्य सन्धि को रद्द करने की सूचना प्रकाशित की। यह सन्धि अन्त में जनवरी 1940 में समाप्त कर दी गई। अमेरिकी और जापान के बीच वाणिज्य संबंध दैनंदिन (day-to-day) आधार पर चलते रहे और कांग्रेस तथा देश के प्रभावशाली दलों द्वारा अपनी आयातों पर रोक या विभेदात्मक चुंगी (discriminatory duties) लगाने की जोरदार माँग की स्वीकृति के भय से जापान ने अमेरिकी अधिकारों का और अधिक अतिक्रमण (encroachment) नहीं किया। 1946 में फिलिप्पाइन को विधिवत् (legally) पूर्ण स्वतंत्रता दी जाने वाली थी; उसके विरुद्ध भी फिलिप्पाइन द्वीपों तथा यूनाइटेड स्टेट्स में आंदोलन जोर पकड़ रहा था। जिस अवधि तथा फिलिप्पाइन-व्यापार (Philippine trade) को अधिमानात्मक सुविधाएँ (preferential advantages) दी जानी थीं, उसमें वृद्धि कर दी गई तथा राजनीतिक एवं सैनिक शासन की समाप्ति की व्यवस्था करने के लिए बनाये गए अधिनियम (Act) में संशोधन करने का प्रश्न भी प्राय: उठा करता था।

टास्क ईरान के पास पूर्वी गोलार्द्ध में सबसे अधिक किसके भंडार हैं?

ब्रिटिश राष्ट्रमंडल (The British Commonwealth of Nations)

ग्रेट ब्रिटेन और स्वशासी अधिराज्यों (self-governing dominions) के आपसी संबंधी सही अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय संबंध नहीं कहे जा सकते और वे इस पुस्तक के विषय के बाहर हैं। किन्तु चूँकि अधिराज्य राष्ट्र-संघ के सदस्य है (जैसा भारत भी है) तथा उनकी अपनी स्वतंत्र विदेश-नीति है, इसलिए उनकी स्थिति का यहाँ कुछ उल्लेख किया जा सकता है।

1919 में वर्साई की संधि पर जब कनाडा, ऑस्ट्रेलिया-न्यूजीलैण्ड, दक्षिण अफ्रीका और भारत ने स्वयं अपनी पृथक् हैसियत से हस्ताक्षर किए, तब वे प्रथम बार अन्तर्राष्ट्रीय समाज के सदस्यों के रूप में सामने आये। सन्धि पर हस्ताक्षरकर्ताओं की वर्णक्रमानुसार (alphabetical) सूची में उनका नाम नहीं था बल्कि उन्हें "ब्रिटिश साम्राज्य" शीर्षक के अन्तर्गत ही रखा गया था। यह तथ्य इस बात को स्पष्ट करता था कि उन्हें स्वतंत्र संप्रभुतासम्पन्न (sovereign) राज्य नहीं माना गया था। प्रसंविदा का अनुच्छेद 1, जिसके अनुसार "कोई भी पूर्णत: स्वशासी राज्य, अधिराज्य का उपनिवेश" राष्ट्र-संघ का सदस्य हो सकता था, स्पष्ट ही उनकी विशेष स्थिति को ध्यान में रखते हुए

नोट

रखा गया था। 1923 में जब आयरिस स्वतंत्र राज्य (Irish Free State) ने राष्ट्र-संघ की सदस्यता के लिए आवेदन किया, तब उसके आवेदन-पत्र को राष्ट्रसंघ-सभा ने इस आधार पर स्वीकार किया था कि "जो अधिराज्य पहले से ही राष्ट्र-संघ के सदस्य हैं, उनकी ही भांति आयरिश राज्य भी उन्हीं शर्तों पर ब्रिटिश साम्राज्य का ही एक अधिराज्य है।" अधिराज्यों की स्थिति स्पष्ट करने के लिए 1926 के पहले और कोई प्रयत्न नहीं किया गया। इस वर्ष साम्राज्यिक सम्मेलन (Imperial Conference) ने ग्रेट ब्रिटेन तथा स्वशासी अधिराज्यों की परिभाषा इस प्रकार की कि वे "ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वायत्तशासी समुदाय (autonomous communities) है, जिनकी स्थिति बराबरी की है...यद्यपि जो सम्राट (Crown) के प्रति सामान्य निष्ठा द्वारा संयुक्त है और स्वेच्छा से ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल के सदस्य हैं। स्टेच्यूट ऑव् वेस्टमिन्स्टर (Statute of Westminster), जिसमें इस स्थिति को वैधिक तथा संवैधानिक आधार दिया गया था, ब्रिटिश संसद (Parliament) द्वारा पारित किया गया था तथा अधिराज्यों ने भी उसे स्वीकार किया था।"

इस सैद्धांतिक कठिनाइयों के साथ ही साथ मूलभूत प्रश्नों पर भी कुछ महत्त्वपूर्ण मतभेद थे। वास्तव में उन विदेशियों के भय उचित नहीं थे जो यह सोचते थे कि राष्ट्र-संघ के संविधान के कारण ब्रिटिश सरकार को छः मत प्राप्त हो गये हैं, क्योंकि विस्तार की बातों पर–केवल इन्हीं पर जेनेवा में बहुमत से निर्णय किया जाता था–ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल के सभी सदस्य कदाचित् ही एक पक्ष में पाए जाते थे। वित्तीय और आर्थिक मामलों में अधिराज्य और भारत ग्रेट ब्रिटेन के विरुद्ध भी अपने राष्ट्रीय हितों का पक्ष लेते थे। राजनीतिक क्षेत्र में भारत स्वतंत्र कार्रवाई नहीं कर सकता था और ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल के अन्य सदस्यों के बीच मतभेद सारभूत न होकर केवल बल (emphasis) संबंधी सिद्ध होते थे। कनाडा जो स्वयं सुरक्षित एवं यूनाइटेड स्टेट्स की निकटता से प्रभावित था, राष्ट्र-संघ के अन्य सदस्यों की सुरक्षा की रक्षा से संबंधित अपने कर्तव्यों को कम से कम रखने की दृढ़ इच्छा व्यक्त करता था। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड इतने दूर प्रतीत होते थे कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में उनका लगातार रुचि दिखाना कठिन था। लेकिन समय-समय पर उन्हें जापान का भय लगा रहता था, और जब कभी भी अश्वेत आप्रवासियों (coloured immigrants) को अपने देश में न आने देने-संबंधी उनकी नीति की आलोचना की जाती थी, तो वे हमेशा ही उसे नापसंद करते थे। दक्षिण अफ्रीका सम्भवतः सुरक्षा-समस्याओं में अधिक रुचि दिखाता था। वह उन इने-गिने देशों में से था, जिसने जुलाई 1936 में इटली के विरुद्ध लगी हुई अनुशास्तियों को वापस लेने का विरोध किया था। आयरिश (Irish) लोग अपनी किसी अन्तर्राष्ट्रीय नीति पर चलने की अपेक्षा अपनी स्वतंत्रता का सिद्धांत स्थापित करने में ही अधिक व्यस्त प्रतीत होते थे। तीन अधिराज्य–आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और दक्षिणी अफ्रीका–कुछ प्रादेशाधीन क्षेत्रों पर प्रशासन करते थे, जिनके विषय में वे राष्ट्र-संघ को प्रतिवर्ष प्रतिवेदन देते थे। 1927 के बाद से परिषद् (Council) में एक अस्थायी स्थान हमेशा ही किसी-न-किसी अधिराज्य को प्राप्त रहा।

1939 में युद्ध आरंभ होने पर यह बात अन्तिम रूप से स्पष्ट हो गई कि अधिराज्य ग्रेट ब्रिटेन का अनुकरण करने के लिए अपने आपको बाध्य नहीं मानते थे तथा उनमें से प्रत्येक अपने ही अधिकार से तथा अपनी प्रतिष्ठा एवं अपने हित का विचार करते हुए कार्य करता था।

19.3 सारांश (Summary)

मार्च 1933 में जापान के राष्ट्र-संघ से हट जाने के कारण सुदूर-पूर्व में निरन्तर बढ़ती हुई तनाव की स्थिति उत्पन्न हो गई। जापान अपनी मंचूरिया-विजय को शीघ्र ही सुदृढ़ बनाकर पूर्वी एशिया में प्रमुख राष्ट्र (dominant power) के रूप में सामने आ गया। जापान के विदेश विभाग ने अप्रैल 1934 में समाचारपत्रों को जो वक्तव्य प्रकाशित करने को दिया, उसमें जापान की नीति की प्रथम महत्त्वपूर्ण घोषणा हुई। इस वक्तव्य में पूर्वी एशिया में (जापान की) विशेष जिम्मेदारियों का उल्लेख करने के बाद यह स्पष्ट रूप से घोषित किया गया था कि, "चीन के अतिरिक्त ऐसा कोई भी देश नहीं है जो पूर्वी एशिया में शान्ति बनाये रखने की जिम्मेदारियों का जापान के साथ दावा कर सके।"

19.4 शब्दकोश (Keywords)

नोट

1. खानाबदोश (Nomads)–भ्रमणशील, यायावर।
2. स्वायत्तशासी (Autonomous)–स्वतंत्र

19.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. मध्य-पूर्व किसे कहा जाता है? स्पष्ट कीजिए।
2. ग्रेट ब्रिटेन के लिए इराक का क्या महत्त्व था?
3. सीरिया में फ्रांस ने कौन-सी नीति अपनाई?
4. प्रथम विश्वयुद्ध के समय किसने तुर्की के विरुद्ध मित्र-राष्ट्रों की सहायता की थी?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. 1922	2. दिसंबर, 1914	3. इब्न सऊद
4. (क) 1934	5. (ख) 7,00,000	6. (ग) 3,00,000

19.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
2. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
3. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
4. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
5. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
6. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
7. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*

नोट

इकाई 20: राष्ट्र-राज्य व्यवस्था (Nation-State System)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

20.1 इटली का एकीकरण (The Unification of Italy)

20.2 जर्मनी का एकीकरण (The Unification of Germany)

20.3 जर्मन एकीकरण में बिस्मार्क की भूमिका (Role of Bismark in the Unification of German)

20.4 सारांश (Summary)

20.5 शब्दकोश (Keywords)

20.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

20.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- इटली का एकीकरण जानने में।
- जर्मनी का एकीकरण जानने में।
- जर्मनी एकीकरण में बिस्मार्क की भूमिका जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

1848 ई. की क्रान्ति की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि आस्ट्रिया में भी विद्रोह हो गया और वहाँ के प्रधानमंत्री मेटरनिख को, जो प्रतिक्रियावाद का मुख्य संचालक था आस्ट्रिया छोड़कर भाग जाना पड़ा। इससे इटली के लोगों में नया जोश आ गया और प्राय: सभी राज्यों में लोगों ने निरंकुश राजतंत्र तथा आस्ट्रिया के प्रभाव से मुक्त होने की खुशी मनाने के लिए विद्रोह कर दिया। लोम्बार्डी और वेनेशिया के लोगों ने आस्ट्रिया के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। पीडमांट के शासक चार्ल्स एलबर्ट ने भी आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। अब इटली के सभी लोग आस्ट्रिया के साथ अंतिम फैसला करने के लिए उतावले हो रहे थे। आस्ट्रिया की सेना हर जगह परास्त होने लगी।

20.1 इटली का एकीकरण (The Unification of Italy)

यूरोप में फ्रांस की राज्य क्रान्ति और नेपोलियन के कार्यों और अन्य देशों में उसकी गतिविधियों के कारण पुरातन यूरोप के समाज और राज्यों पर जो गहरा एवं दूरगामी प्रभाव पड़ा उसके कारण दो विशाल राष्ट्रीय राज्यों का

नोट

सुदृढ़ीकरण और एकीकरण संभव हुआ। ये दो शक्तिशाली राज्य थे–**इटली** और **जर्मनी**। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति ने राजनीति को राज-दरबारों और निजी-कक्षों से बाहर कर उसे अखबारों, सड़कों और सर्वसाधारण की वस्तु बना दिया था। इसी प्रकार नेपोलियन ने अपनी उच्च महत्त्वाकांक्षा के कारण इटली के भौगोलिक क्षेत्र तथा जर्मन राज्यों में जो हस्तक्षेप किया था, उसका परोक्ष प्रभाव यह पड़ा कि इन दोनों क्षेत्रों के सामंतवादी और पुरातन राज्यों की जनता में राष्ट्रीयता की उत्कट भावना उत्पन्न हुई। नेपोलियन वह पहला व्यक्ति था, जिसने इटली और जर्मनी के राज्यों को केवल एक भौगोलिक नाम के स्थान पर उन्हें वास्तविक रूपरेखा प्रदान की। इससे इटली एवं जर्मनी के अलग-अलग राज्यों के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त हुआ।

एकीकरण से पूर्व इटली की स्थिति: यूरोप के प्राचीन इतिहास में इटली का गौरवपूर्ण सांस्कृतिक महत्त्व था। ईसा पूर्व तीसरी सदी में इटली के रोमन राज्य की स्थापना के बाद लगभग आधे यूरोप में इटली की प्रभुसत्ता स्थापित हो गई थी। मध्यकाल में रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात् इटली की शक्ति बिखर गई और वहाँ अनेक छोटे-बड़े राज्यों का जन्म हुआ। अठारहवीं शताब्दी में इटली का भौगोलिक क्षेत्र अनेक राज्यों का समूह था। इन राज्यों में टस्कनी, पारमा, मोडेना, नीस, सेवाय, सार्डिनिया, पीडमान्ट, वेनिस, जिनेवा, मध्य इटली में पोप का राज्य और सुदूर दक्षिण में नेपल्स और सिसली के राज्य थे। वस्तुत: फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय इटली नाम का कोई देश नहीं था, किन्तु इटली भौगोलिक और सांस्कृतिक दृष्टि से एक पूर्ण इकाई जरूर था। भौगोलिक दृष्टि से इटली यूरोप के दक्षिण का एक प्रायद्वीप था जो उत्तर में आल्पस पर्वत और तीन ओर से सागर से पूर्णत: सुरक्षित था। यह यूरोपीय महाद्वीप में दक्षिण की ओर भूमध्य सागर में घुसे हुए जूते के आकार का देश है। इसके राजनीतिक एकीकरण का सर्वप्रथम कार्य नेपोलियन ने सम्पन्न किया। अपने उत्कर्ष के काल में ही नेपोलियन ने इटली प्रायद्वीप के उन राज्यों पर विजय प्राप्त की जो आस्ट्रिया के अधीन थे। कालान्तर में उसने सम्पूर्ण इटली पर विजय प्राप्त करके वहाँ के अनेक छोटे-बड़े राज्यों को समाप्त कर उन्हें केवल तीन प्रशासकीय राज्यों में समूहित कर दिया था। इटलीवासियों को फ्रांस की क्रान्ति की सबसे बड़ी देन थी–सामंतवादी व्यवस्था की समाप्ति तथा आंतरिक व्यापार पर प्रतिबंधों का अंत। नेपोलियन ने यहाँ अनेक प्रशासकीय सुधार किए। उसने इटली में कोड नेपोलियन, एक-सी मुद्रा-प्रणाली, एक समान कानून आदि लागू करके इटलीवासियों में पहली बार एकीकरण की अनुभूति उत्पन्न की। आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासकीय एकता ने इटली के विभिन्न राज्यों के निवासियों को एक-दूसरे के निकट आने का अवसर प्रदान किया। इस प्रकार एकीकरण के लिए भावनात्मक पृष्ठभूमि तैयार करने का श्रेय नेपोलियन को है।

इटली के एकीकरण के क्रमिक सोपान: इटली के एकीकरण की दिशा में जो प्रयत्न 1815 ई. में नेपोलियन के पतन के पश्चात् आरंभ हुए थे वे 1870-71 तक चलते रहे। इस दीर्घ अवधि में अनेक उतार-चढ़ाव आए और ऐसा प्रतीत होने लगा कि एकीकरण के मार्ग में बाधाएँ अत्यन्त दुष्कर हैं और एकीकरण का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकेगा। अन्तत: **मेजिनी, कावूर** और **गेरीबाल्डी** जैसे देशभक्तों के योगदान के कारण सारी बाधाएँ समाप्त हुईं और एकीकरण का कार्य पूर्ण हो सका। 1871 ई. में इटली के एकीकृत शक्तिशाली राज्य का यूरोप में उदय हुआ। लंबे समय तक चलने वाले एकीकरण के प्रयत्नों के सोपानों (Stages) का परिचय अधोलिखित हैं–

1. एकीकरण के मार्ग में बाधाएँ:

(*i*) नेपोलियन के पतन के बाद वियना सम्मेलन के निर्णयों के परिणामस्वरूप इटली भी प्रतिक्रियावादी शासन पद्धति का शिकार बना। इटली के विभिन्न राज्यों में पुन: निरंकुश सामन्तीय राजतंत्रों की स्थापना हुई। उत्तरी इटली के राज्य **लोम्बार्डी** और **वेनेशिया** आस्ट्रिया के सीधे नियंत्रण में थे और **मोडेना** और **टस्कनी** आस्ट्रिया से संबंधित राजकुमारों के प्रभुत्व में थे। परमा की **रानी लुईसा** आस्ट्रिया की राजकुमारी थी। अतएव प्रतिक्रियावादी (स्वतंत्रता और क्रान्ति का विरोधी) आस्ट्रिया, इटली के एकीकरण के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा थी जिसे पराजित किए बिना एकीकरण का कार्य संभव नहीं था।

(*ii*) इटली राजनीतिक तथा प्रशासकीय दृष्टि से मोटे तौर पर तीन भिन्न इकाइयों में विभाजित था–उत्तरी, मध्य और दक्षिणी इटली। दूसरे, पोप जो कैथोलिक ईसाइयों का सर्वोच्च अधिकारी था, अपने राज्य रोम पर अपना आधिपत्य बनाए रखना चाहता था। सम्पूर्ण यूरोप के कैथोलिकों का सहयोग भी पोप को प्राप्त था।

नोट

(*iii*) संयुक्त इटली के स्वरूप के विषय में स्वतंत्रतावादी राजनीतिज्ञों में कोई एक निश्चित मत नहीं था। मेजिनी इटली का गणतंत्रीय स्वरूप चाहता था गैरीबाल्डी भी गणतंत्र के पक्ष में था जबकि जियोबर्टी जैसे कुछ अन्य राजनीतिज्ञ संघीय वैधानिक राजतंत्र के समर्थक थे।

(*iv*) फ्रांसीसी क्रान्ति और नेपोलियन के कारण इटली के प्रबुद्ध नागरिकों में राष्ट्रवादी एवं स्वतंत्रता की भावना का संचार अवश्य हुआ था, किन्तु इटली के अलग-अलग राज्य दूसरे राज्य के विरुद्ध, एक शहर से दूसरे शहर के विरुद्ध, एक परिवार दूसरे परिवार के विरुद्ध और आदमी, आदमी के विरुद्ध था।

(*v*) वियना कांग्रेस के निर्णयों के अनुसार समस्त यूरोप के साथ इटली में भी सामंतवादी और जागीरदारी प्रथा को राजाओं ने प्रश्रय प्रदान किया। ये सामंत, जागीरदार और राजा एकीकरण और स्वतंत्रता के विरोधी थे।

(*vi*) आर्थिक दृष्टि से इटली के राज्यों में एकरूपता तथा समन्वय नहीं था उत्तरी इटली का क्षेत्र कुछ उद्योगों के कारण विकसित था जबकि दक्षिणी इटली अविकसित एवं ग्रामीण था।

उपर्युक्त अनेक बाधाएँ होते हुए भी इटली के एकीकरण की दिशा में प्रयास चलते रहे क्योंकि फ्रांसीसी क्रान्ति के प्रभाव से इटली में स्वतंत्रता और राष्ट्रवाद की जिस भावना का प्रस्फुटन हुआ था, वह अब जन-जन तक पहुँच चुका था और उसे दबाना अत्यन्त कठिन था। जनता स्वतंत्रता और राष्ट्रप्रेम तथा एकता का सम्मान करती थी। सौभाग्य से लोगों की राष्ट्रीय एकता की भावना को उपयुक्त दिशा देने वाले नेताओं का उदय इस समय होता रहा जिसके परिणामस्वरूप अन्ततः एकीकरण का लक्ष्य प्राप्त करने में सफलता मिली।

2. संयुक्त इटली के तीन महान रचनाकार–मेजिनी, कावूर और गैरीबाल्डी: इटली के एकीकरण में जिन तीन महान नेताओं ने अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया वे थे–मेजिनी, कावूर और गैरीबाल्डी। मेजिनी इटली के राष्ट्रीय आंदोलन का पैगम्बर था जिसने संयुक्त इटली के भावी स्वरूप को आत्मा प्रदान की, कावूर एक कुशल राजनीतिज्ञ और प्रशासक था जिसने कूटनीतिपूर्वक इटली के एकीकरण को एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न बनाकर विदेशी सहायता प्राप्त करके एकीकरण के कार्य को गतिशीलता प्रदान की तथा गैरीबाल्डी राष्ट्र गौरव तथा स्वतंत्रता की भावना से ओतप्रोत एक निःस्वार्थ सेनानायक था, जिसने देश के लिए अपना बलिदान करने वाले सैनिकों को कुशल नेतृत्व प्रदान करके एकीकरण के कार्य को पूर्णता प्रदान की। इटली के एकीकरण के विभिन्न सोपानों में इन नेताओं के कार्यों का वर्णन किया जाएगा। यदि भारत के स्वतंत्रता आंदोलन के महान नेताओं से इटली के नेताओं की तुलना करनी हो तो मेजिनी का योगदान महात्मा गाँधी के समान, कावूर के कार्य जवाहरलाल नेहरू के समान और गैरीबाल्डी के कार्य सुभाषचंद्र बोस के समकक्ष रखे जा सकते हैं।

3. एकीकरण का प्रथम चरण–कार्बोनरी और यंग इटली: इटली के देशभक्तों और राष्ट्रवादी लोगों की स्वतंत्रता की भावना को कुचलने के लिए आस्ट्रिया का प्रधानमंत्री मेटरनिख सदैव प्रयत्नशील रहता था। इसलिए 1848 ई. में मेटरनिख के पतन तक इटली के राष्ट्रवादी लोगों ने अनेक गुप्त संस्थाओं का गठन किया, जिनके मंत्र पर एकत्र होकर इटलीवासियों ने अपने स्वतंत्रता-आंदोलन को आगे बढ़ाया। इटली में स्थान-स्थान पर जो गुप्त समितियाँ संगठित हुईं, उनमें सबसे प्रमुख थी **कार्बोनरी** (Carbonary) समिति। इटली के कोयला खदानों से संबंधित लोगों के नाम से इस गुप्त संस्था की स्थापना 1810 ई. में नेपल्स में सर्वप्रथम हुई थी। कार्बोनरी में सभी वर्गों के लोग सम्मिलित थे। इसमें कुलीन वर्ग, सैनिक, अफसर, किसान, धर्मगुरु और यहाँ तक कि बुर्जुआ समान्त वर्ग के लोगों ने भी इसकी सदस्यता ग्रहण की। इस संस्था के कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं थे फिर भी इसके दो प्रमुख उद्देश्य थे–विदेशियों को इटली से बाहर निकालना और संवैधानिक स्वतंत्रता की स्थापना करना। इस संस्था के तिरंगे, काला, लाल और नीरे रंग वाले झंडे ने शीघ्र ही लोकप्रियता प्राप्त कर ली और लोग उसकी पूजा करने लगे। कार्बोनरी की शाखाएँ लगभग समस्त इटली में फैल गईं। इसके प्रभाव और प्रेरणा से सन् 1821 में नेपल्स और पीडमांट के राष्ट्रवादियों ने विद्रोह किए, परन्तु मेटरनिख ने आस्ट्रिया से सेना भेजकर इन विद्रोहों को कुचल दिया। इन राज्यों में निरंकुश राजा पुनः गद्दी पर बैठा दिए गए और आंदोलनकारियों पर भीषण अत्याचार किए गए। उद्देश्यों में एकरूपता

नोट

एवं समन्वय तथा स्पष्ट एवं प्रभावशाली नेतृत्व के अभाव में कार्बोनरी असफल सिद्ध हुई। इतना अवश्य है कि कार्बोनरी ने इटलीवासियों की स्वतंत्रता और राष्ट्रवाद की भावनाओं को कुछ समय तक तीव्रता प्रदान की।

4. यंग इटली (Young Italy)– मेजिनी के कार्य–: सन् 1830 में यूरोप के अनेक देशों में प्रतिक्रियावाद के विरुद्ध क्रान्ति हुई। इस क्रान्ति का प्रभाव इटली पर भी पड़ा। इटली के एक कोने से दूसरे कोने तक निरंकुशता के विरुद्ध विद्रोह की अग्नि धधक पड़ी। यहाँ के शासकों को प्राण बचाकर भागना पड़ा। इन शासकों ने जब मेटरनिख से सहायता की याचना की तो उसे आस्ट्रिया की सेना के बल पर इन विद्रोहों को कुचल दिया। इस प्रकार एक बार पुन: इटली में उदारवाद की पराजय हुई, किन्तु लगभग इसी समय इटली में एक महान् विभूति का आविर्भाव हुआ जिसने इटली के राष्ट्रीय जीवन में नई जान फूँक दी। इस व्यक्ति का नाम था **जोसेफ मेजिनी** (Joseph Maggini)। उसके हृदय में यह अन्त:प्रेरणा उत्पन्न हुई कि इटली का उद्धार करने का कार्य ईश्वर ने उसी को सौंपा है।

1830 ई. की क्रान्ति से पूर्व मेजिनी कार्बोनरी समिति का सदस्य था। इस वर्ष की क्रान्ति में उसने भी भाग लिया था और जब क्रान्ति का दमन कर दिया गया तो उसे बंदी बनाकर जेल में डाल दिया गया। कारागार में ही उसके हृदय में इटली को विदेशी आधिपत्य से मुक्त कराने की अन्त:प्रेरणा उत्पन्न हुई। कुछ दिनों के कारावास के बाद मेजिनी को देश से निर्वासित कर दिया गया। कई देशों की यात्रा के बाद वह 1831 में फ्रांस पहुंचा और वहाँ उसने यंग इटली (Young Italy) नामक एक संस्था की स्थापना की जिसने इटली के राष्ट्रीय आंदोलन में कार्बोनरी का स्थान ले लिया। यंग इटली के संदर्भ में मेजिनी ने कहा था–"यदि समाज में क्रान्ति लानी है तो नेतृत्व युवकों के हाथ में सौंप दो, युवक समाज के हृदयों में असीम शक्ति छुपी होती है।" वस्तुत: मेजिनी के मस्तिष्क में संयुक्त इटली का जितना स्पष्ट स्वरूप निश्चित था, उतना अन्य किसी के मस्तिष्क में नहीं था। उसका उद्देश्य था, इटली के लोगों को शिक्षित कर यह अनुभूति उत्पन्न करना कि इटली एक राष्ट्र है। 1835 ई. में मेजिनी ने लिखा था–"हमारी आबादी लगभग 12 करोड़ है और प्राचीन काल से लोग हमें इटली की जनता पुकारते रहे हैं। हमारे देश की सीमाएँ प्राकृतिक हैं और बिल्कुल स्पष्ट है– हम एक ही भाषा बोलते हैं। हमारा धर्म एक है, शिष्टाचार एक है, आदतें एक हैं। हमें अपनी उन राजनैतिक, वैज्ञानिक और कला परंपराओं पर अभिमान है, जो यूरोप के इतिहास को अलंकृत करती हैं...किन्तु न हमारे पास राष्ट्रीय झण्डा है और न कोई राजनीतिक नाम है...और हम आठ राज्यों में तितर-बितर हो रहे हैं...हमें किसी तरह की कोई आजादी नहीं, जो भावनाएँ हमारे हृदय में उबल रही हैं, उनको प्रकट करने का कोई साधन हमारे पास नहीं है। इन सबका कारण है कि विदेशी लोगों ने हमें गुलाम बना लिया है।"

मेजिनी ने इटली के युवकों को तीन नारे दिए–**'परमात्मा में विश्वास रखो', 'सब इटलीवासियों को एक साथ मिलाओ'** और **'इटली को मुक्त करो।'** उसके उद्देश्य स्पष्ट थे–इटली की एकता और स्वतंत्रता की प्राप्ति, समानता और लोक कल्याण पर आधारित समाज की स्थापना। मेजिनी के कार्यों और उद्‌बोधनों का इटली के नवयुवकों पर चमत्कारिक प्रभाव पड़ा। उसके प्रयासों से शीघ्र ही यंग इटली के झण्डे के नीचे साठ हजार ऐसे युवक एकत्र हो गए जो इटली की स्वतंत्रता और एकता के लिए कुछ भी करने को तैयार थे। उसने इन युवकों को सैनिक प्रशिक्षण दिया और स्थान-स्थान पर इसकी शाखाएँ खोलीं। इन युवकों ने एक ऐसा वातावरण उत्पन्न किया कि सम्पूर्ण इटली में राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए एक प्रबल जनमत तैयार हो गया। नि:संदेह मेजिनी के कार्यों से इटली में स्वतंत्रता-संग्राम एक नया युग आरंभ हुआ था। उसके प्रयत्नों से 1849 ई. में रोम में एक गणतंत्र की स्थापना हुई। चूँकि रोम में पोप का राज्य था इसलिए फ्रांस की सेनाओं ने पोप को पुन: सत्तारूढ़ कर दिया। इससे मेजिनी की कोई निराशा नहीं हुई।

नोट्स 1830 ई. की क्रान्ति से पूर्व मेजिनी कार्बोनरी समिति का सदस्य था।

नोट

मेजिनी ने अन्य देशों में भ्रमण करते हुए भी अपने कई लेखों द्वारा लोगों के मस्तिष्क में इस बात को सुदृढ़ कर दिया कि इटली व्यावहारिक दृष्टि से एक हो सकता है। यंग इटली यद्यपि एक तरह की गुप्त संस्था थी और उसे सरकारी अनुमति प्रदान नहीं थी। किन्तु कार्बोनरी से यह इस बात में भिन्न थी कि इसके उद्देश्य तथा कार्यक्रम बिल्कुल स्पष्ट थे।

वस्तुत: यह मेजिनी ही था जिसने इटली के एकीकरण की आधारशिलाा रखी और लोगों में बलिदान के विचार उत्पन्न किए। मेजिनी का मूल्यांकन करते हुए साउथगेट ने लिखा है कि–"यह मेजिनी ही था, जिसने अपने देशवासियों में स्वतंत्रता की भावना उत्पन्न की। यद्यपि यह कावूर की भाँति सेनानायक एवं राजनीतिज्ञ नहीं था, परन्तु वह एक कवि, आदर्शवादी विचारक और क्रान्ति का अग्रदूत था।"

5. एकीकरण की दिशा में किए गए अन्य प्रयास: मेजिनी और यंग इटली द्वारा राष्ट्रीय एकता एवं स्वतंत्रता के कार्यों के अतिरिक्त इस दिशा में कुछ अन्य प्रयास भी इटली के विभिन्न क्षेत्रों में चलते रहे। कुछ नरमपंथी लोग केवल आर्थिक उन्नयन एवं शिक्षा के प्रसार द्वारा इटली के एकीकरण के लक्ष्य तक पहुँचना चाहते थे। उदार राजतंत्रवादी देशभक्त, पीडमान्ट के राजघराने, सेवोय (Savoy) राजवंश के अधीन संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना सम्पूर्ण इटली में करना चाहते थे। इस समय **चार्ल्स एलबर्ट पीडमान्ट** का शासन था, जो पहले प्रतिक्रियावादी था, किन्तु नये युग की ध्वनि पहचानकर वह उदारवादी राजतंत्र का समर्थक बन चुका था। उसने अपने राज्य में अनेक आर्थिक और सैनिक सुधार भी लागू किए थे। चार्ल्स एल्बर्ट स्वयं इटालियन एकता का एक बड़ा समर्थक था और अब राष्ट्रीय संग्राम का बड़ा नेता बनना चाहता था। उसने यह घोषणा की–"जब समय आएगा तब मेरा जीवन, धन, मेरा सर्वस्व इटली की वेदी पर बलिदान किया जाएगा।" चार्ल्स एलबर्ट ने पीडमांट राज्य में अनेकानेक सुधारों द्वारा इस बात का प्रमाण दिया कि वह सच्चा राष्ट्रवादी और उदार संवैधानिक शासक है।

पोप की उदारवादी नीति: कैथोलिकों के सर्वोच्च धर्माधिकारी पोप ग्रेगरी का देहावसान् 1846 ई. में हो गया। नया **पोप पायस नवम्** दयालु और उदार प्रवृत्ति का था। वह आस्ट्रिया विरोधी और स्वतंत्रता का समर्थक था। पोप बनते ही उसने सारे राजनीतिक बंदियों को मुक्त कर दिया और उदारवादी नीति के अन्तर्गत अपनी रियासत में अनेक सुधार लागू किए। पोप के इन सुधारों और कार्यों से देशभक्त स्वतंत्रता सैनिकों के मनोबल में वृद्धि हुई। इस समय तक मेटरनिख ही आस्ट्रिया की चांसलर (प्रधानमंत्री) था। उसने पोप के इन कार्यों को पसंद नहीं किया और आस्ट्रिया की सेना को पोप के नगर फेरारा में प्रविष्ट करा दिया। मेटरनिख के इस कार्य से यूरोप भर के कैथोलिक अप्रसन्न हो गए। इसलिए मेटरनिख को अपनी सेना वापस बुलानी पड़ी। अपने पतन की दिशा में मेटरनिख की यह पहली पराजय थी।

6. 1848 ई. की क्रान्ति का प्रभाव: प्रतिक्रियावाद के विरुद्ध यूरोप में पहली क्रान्ति 1830 ई. में हुई थी, दूसरी क्रान्ति 1848 ई. में फ्रांस से आरंभ होकर यूरोप के अनेक देशों में हुई। इसका प्रभाव इटली पर भी पड़ना स्वाभाविक ही था। इस वर्ष सर्वप्रथम सिसली के लोगों ने विद्रोह किया। विद्रोही लोग चाहते थे कि सिसली की शासन-पद्धति में सुधार किए जाएँ और लोगों को राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों। यहाँ के राजा ने शुरू में विद्रोह का दमन करने का प्रयत्न किया, किन्तु अंत में उसे पराजय स्वीकार करनी पड़ी और सिसली में वैधानिक राजतंत्र की स्थापना हो गई। नेपल्स में भी जनक्रान्ति हो गई। यहाँ के शासक फर्डीनेन्ड द्वितीय को उदारवादी संविधान स्वीकार करना पड़ा। इसके पश्चात् पीडमान्ट, टस्कनी और पोप के राज्यों में भी संवैधानिक शासन की माँग बढ़ी और मार्च 1848 ई. तक इन तीनों राज्यों में भी संवैधानिक शासन की स्थापना हो गई।

1848 ई. की क्रान्ति की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि आस्ट्रिया में भी विद्रोह हो गया और वहाँ के प्रधानमंत्री मेटरनिख को, जो प्रतिक्रियावाद का मुख्य संचालक था आस्ट्रिया छोड़कर भाग जाना पड़ा। इससे इटली के लोगों में नया जोश आ गया और प्राय: सभी राज्यों में लोगों ने निरंकुश राजतंत्र तथा आस्ट्रिया के प्रभाव से मुक्त होने की खुशी मनाने के लिए विद्रोह कर दिया। लोम्बार्डी और वेनेशिया के लोगों ने आस्ट्रिया के विरुद्ध विद्रोह कर दिया।

नोट

पीडमांट के शासक चार्ल्स एलबर्ट ने भी आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। अब इटली के सभी लोग आस्ट्रिया के साथ अंतिम फैसला करने के लिए उतावले हो रहे थे। आस्ट्रिया की सेना हर जगह परास्त होने लगी। ऐसा प्रतीत होने लगा कि आस्ट्रिया का प्रभाव इटली से मिट जाएगा। किन्तु आंदोलनकारियों के समक्ष मुख्य प्रश्न यह था कि सम्पूर्ण इटली की ओर से आस्ट्रिया के विरुद्ध विद्रोह और युद्ध का नेतृत्व कौन करे? पीडमान्ट का शासक चार्ल्स एलबर्ट स्वयं नेतृत्व करने के लिए उत्सुक था। एक अपील निकाली गई जिसमें कहा गया कि–"सार्डिनिया-पीडमांट के राजवंश के लिए भाग्य-निर्माण का समय आ गया है। सभी का केवल एक ही कर्तव्य है कि आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध छेड़ दें।" एलबर्ट को इटली राष्ट्र का नेता मान लिया गया और सभी राजाओं को आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध करने के लिए अपना सैनिक सहयोग देना पड़ा। सारा इटली पीडमांट के नेतृत्व में एक झंडे के नीचे संघर्ष के लिए तैयार हो गया। लोगों में इतना जोश उमड़ा और ऐसा प्रतीत होने लगा कि इटली स्वतंत्र हो जाएगा और लोगों की सारी महत्त्वाकांक्षाएँ पूर्ण हो जाएँगी। इटली का एक राष्ट्रीय संग्राम इस समय अपने उच्च बिन्दु पर पहुँच गया था। आस्ट्रिया की सेना कई जगह परास्त होने लगी। इटली के इतिहास में राष्ट्रीय स्तर का यह पहला युद्ध था जिसमें इटली के हर भाग के सैनिक हिस्सा ले रहे थे। यह युद्ध आस्ट्रिया के लिए एक कठिन संकट था।

असफलता: परन्तु इटलीवासियों के भाग्य में अभी आगे और संघर्ष करना शेष था। इटली के राजाओं में अपने भविष्य के प्रति चिन्ता उत्पन्न हुई। वे अपने अधिकारों को इतनी शीघ्रता से, लोगों के विद्रोहों के दबाव से छोड़ने के लिए हृदय से तैयार नहीं थे। इसके परिणामस्वरूप इटली में एकता की लहर शीघ्र समाप्त हो गई। पोप सबसे पहले पीछे हट गया। नेपल्स के राजा ने भी अपनी सेनाओं को वापस बुला लिया। टस्कनी ने भी सहायता देने से इंकार कर दिया। इन राजाओं की गद्दारी के कारण चार्ल्स एलबर्ट अकेला रह गया। उसे आस्ट्रिया से परास्त होकर आत्मसमर्पण करना पड़ा। लोम्बार्डी और वेनेशिया पर आस्ट्रिया का प्रभुत्व फिर से स्थापित हो गया।

रोम में क्रान्ति और रोमन गणराज्य–अस्थायी सफलता (1849 ई.): 1848 ई. के इटालियन राष्ट्रीय संग्राम के कारण मेजिनी, जिसे निर्वासित जीवन व्यतीत करना पड़ रहा था, पुन: इटली आ गया। उसने देखा कि चार्ल्स एलबर्ट के नेतृत्व में इटली में संवैधानिक राजतंत्र की योजना असफल हो गई है। इसलिए उसने सम्पूर्ण इटली में गणतंत्रीय शासन की स्थापना के लिए इटली के राष्ट्रीय संग्राम का नेतृत्व किया। उसने कहा–"चार्ल्स एलबर्ट कमजोर निकला और पोप पायस नवम् अस्थिर सिद्ध हुआ। राजाओं द्वारा स्वतंत्रता युद्ध समाप्त किया जा चुका है। अब सर्वसाधारण द्वारा स्वतंत्रता युद्ध आरंभ किया जाना चाहिए।" फरवरी, 1849 ई. में मेजिनी के नेतृत्व में पोप की राजधानी रोम में विद्रोह हो गया और पोप रोम छोड़कर भाग गया। रोम में गणतंत्र की स्थापना हो गई। फ्लोरेंस और टस्कनी में भी इसी तरह के गणतंत्र स्थापित हुए। इन गणराज्यों ने अब सम्पूर्ण इटली के लिए एक गणतंत्रीय संविधान तैयार करके इटालियन गणतंत्र की स्थापना की योजना बनाई, किन्तु गणतंत्रीय प्रवृत्ति के जोर पकड़ने से चार्ल्स एलबर्ट डर गया। वह चाहता था कि एक संवैधानिक राजतंत्र इटली में स्थापित हो जिसका नेतृत्व पीडमान्ट करे। उसने आस्ट्रिया के साथ हुई संधि को भंग करके पुन: युद्ध करने की योजना बनायी वस्तुत: एलबर्ट पर राजतंत्रवादियों का गहरा दबाव था। उसने पुन: आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। किन्तु 23 मार्च, 1849 को आस्ट्रिया की सेना ने पीडमान्ट की सेना को बुरी तरह पराजित किया। इस पराजय के बाद एलबर्ट ने अपने पुत्र विक्टर इमेन्युअल के पक्ष में सिंहासन त्याग दिया। अब इटली के स्वतंत्रता संग्राम ने एक नए युग में प्रवेश किया।

किन्तु निराशा के इस घटाटोप में भी आशा की किरण विद्यमान थी। चार्ल्स एलबर्ट का उत्तराधिकारी और पुत्र विक्टर इमेन्युअल (Victor Emmanuel) एक ईमानदार राजा, दूरदर्शी राजनीतिज्ञ और सच्चा देशभक्त था। वह इटली के उद्धार के लिए कृतसंकल्प था और पूरी निष्ठा से इस दिशा में कार्य करने को तत्पर था। इटली की जनता ने भी समझ लिया था कि इटली के एकीकरण और आस्ट्रिया से उसकी स्वतंत्रता का संघर्षपूर्ण कार्य पीडमांट-सार्डिनिया के राजा के नेतृत्व में ही संभव है। पीडमांट-सार्डिनिया के राजा के प्रति लोगों को पूर्ण विश्वास भी था क्योंकि विक्टर इमेन्युअल अपने विशेष गुणों के कारण सामान्य जनता में लोकप्रिय था। सौभाग्य से कुछ समय बाद 1852

नोट

ई. में सार्डिनिया को कावूर जैसा सुयोग्य प्रधानमंत्री मिल गया। योग्य राजा और चतुर प्रधानमंत्री (कावूर) के नेतृत्व में इटली के एकीकरण के संघर्ष ने एक नए युग में प्रवेश किया।

7. एकीकरण का द्वितीय चरण–कावूर (Camillo de cavour) के कार्य: काउन्ट केमिलो-डी-कावूर ने एक कुलीन परिवार में जन्म लेकर उच्च सैनिक शिक्षा प्राप्त की थी। वह उदार विचारों का व्यक्ति था। उसने अनेक बार फ्रांस और इंग्लैण्ड की यात्राएँ की थीं और इस कारण वह वहाँ की संवैधानिक शासन-व्यवस्था तथा लोकतंत्रीय विचारधारा से बड़ा प्रभावित था। वह इटली के एकीकरण का समर्थक था। 1848 ई. में उसने अपना राजनीतिक जीवन शुरू किया। सार्डिनिया-पीडमांट की संयुक्त संसद का सदस्य चुने जाने के बाद अपने गुणों के कारण वह 1852 ई. में सार्डिनिया का प्रधानमंत्री नियुक्त हुआ।

इटली के एकीकरण का लक्ष्य प्राप्त करने के बारे में कावूर के स्पष्ट विचार थे। उसका मत था कि केवल पीडमांट-सार्डिनिया के नेतृत्व में ही एकीकरण किया जाना संभव है तथा इसके लिए इटली की आर्थिक और सैनिक उन्नति जरूरी है। उसका यह भी स्पष्ट मत था कि एकीकरण के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा आस्ट्रिया है और किसी विदेशी सहायता के बिना आस्ट्रिया को हराना संभव नहीं है। इस प्रकार अपने स्पष्ट और सुलझे हुए विचारों तथा राजा विक्टर इमेन्युअल के सक्रिय सहयोग के आधार पर कावूर ने इटली के एकीकरण के लिए अपना मार्ग निश्चित कर लिया।

कावूर के आर्थिक और सैनिक सुधार: कावूर सार्डिनिया के वित्त और उद्योगमंत्री के रूप में कार्य कर चुका था इसलिए वह इस तथ्य से अवगत था कि इटली आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा हुआ देश है। अपनी फ्रांस और ब्रिटेन की यात्रा के दौरान वह इस बात को समझ चुका था कि रेल मार्गों, सड़कों, कल-कारखानों तथा उन्नत व्यापार के बगैर इटली की आर्थिक उन्नति संभव नहीं है। अत: सर्वप्रथम कावूर ने मुक्त-व्यापार की नीति को अपनाकर विदेश-व्यापार को प्रोत्साहन दिया। उसने यातायात के साधनों में सुधार, बैंकों की स्थापना, सहकारी समितियों की स्थापना तथा कृषि की उन्नति की दिशा में अनेक सुधार किए। उसने चर्चों की सम्पत्ति में हस्तक्षेप करके चर्च की भूमि पर कर लगा दिया। उसका मत था कि कैथोलिक ईसाई धर्मानुयायी इटली के एकीकरण के विरोधी हैं, इसलिए चर्च के विशेषाधिकार समाप्त करना आवश्यक है। आर्थिक सुधारों के अतिरिक्त कावूर ने पीडमांट-सार्डिनिया की सेना में भी महत्त्वपूर्ण सुधार किए। जनरल लामारमोरा को उसने सेना का अध्यक्ष नियुक्त किया और उसके नियंत्रण में 90 हजार सैनिकों की एक प्रशिक्षित सेना तैयार की। इस प्रकार कावूर ने पीडमांट जैसे छोटे तथा गरीब राज्य को अपने कार्यों में सुदृढ़, समृद्ध एवं एक आदर्श राज्य में परिणत कर दिया। संक्षेप में, कावूर की गृहनीति अत्यन्त सफल रही। इसी योग्यता के आधार पर उसने अपनी विदेश नीति का निर्धारण किया।

क्या आप जानते हैं सन् 1830 में यूरोप के अनेक देशों में प्रतिक्रियावाद के विरुद्ध क्रान्ति हुई।

कावूर की विदेशी नीति के उद्देश्य: इटली के एकीकरण के लिए आस्ट्रिया के प्रभुत्व से मुक्त होना तथा पीडमांट के शासक की अध्यक्षता में उसे संगठित करना, कावूर की विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य था। वह मेजिनी से इस बात में असहमत था कि अकेला इटली अपने बल पर एकीकरण के उद्देश्य में सफल हो सकता है। उसका मत था कि आस्ट्रिया के प्रभुत्व से मुक्ति का मार्ग उससे युद्ध करना है लेकिन किसी बाहरी देश की सहायता के बगैर आस्ट्रिया को पराजित नहीं किया जा सकता। ऐसा देश उसकी दृष्टि में फ्रांस ही था। इंग्लैण्ड की सहानुभूति भी इटलीवासियों के प्रति थी, किन्तु इंग्लैण्ड से सक्रिय सैनिक सहायता प्राप्त होने की आशा नहीं थी। अत: कावूर ने विशुद्ध यथार्थवादी नीति का अनुसरण करते हुए फ्रांस की सैनिक सहायता से आस्ट्रिया को पराजित करने का निश्चय किया। एक अवसर पर उसने कहा था–**"हमारा भाग्य फ्रांस पर निर्भर है।"**

नोट

1815 ई. में इटली की समस्या को यूरोप के राजनीतिज्ञ आस्ट्रिया की एक घरेलू समस्या समझते थे। कावूर ने उसे एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न बना दिया। उसने इटली के एकीकरण के पक्ष में यूरोपीय देशों की सहानुभूति अर्जित करने में सफलता प्राप्त की। यह कार्य उसने क्रीमिया युद्ध के द्वारा किया।

क्रीमिया युद्ध–कावूर द्वारा फ्रांस और इंग्लैण्ड की सहायता: यथार्थवादी राजनीतिज्ञ कावूर ऐसे मौके की तलाश में था, जब उसे फ्रांस की सहायता प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हो सके। क्रीमिया के युद्ध ने कावूर को ऐसा अवसर दे दिया। पूर्वी समस्या के उलझ जाने के कारण इंग्लैण्ड और फ्रांस को मिलकर क्रीमिया नामक स्थान पर रूस के विरुद्ध युद्ध करना पड़ा। क्रीमिया युद्ध काला-सागर के तट पर 1854 ई. में शुरू हुआ था। जनवरी, 1854 में कावूर ने रूस के विरुद्ध और तुर्की की सहायता के उद्देश्य से इंग्लैण्ड और फ्रांस की सहायता का वचन दिया था। अप्रैल, 1854 में कावूर ने पीडमांट के चुने गए 18,000 सैनिकों की सेना क्रीमिया पहुँचा दी। इटली के कुछ उदारवादियों ने कावूर की इस नीति का विरोध भी किया था, लेकिन विक्टर इमेन्युअल ने कावूर की इस नीति का समर्थन किया। कावूर की इस सहायता से फ्रांस और इंग्लैण्ड प्रसन्न हुए। इस सहायता के लिए कावूर ने किसी प्रकार की कोई पूर्व शर्त नहीं रखी थी।

पूर्वी समस्या में इटली का कोई हित अथवा प्रयोजन नहीं होते हुए भी कावूर क्रीमिया के युद्ध में क्यों सम्मिलित हुआ? इस प्रश्न का उत्तर कावूर की दूरदर्शी नीति में निहित है। कावूर इंग्लैण्ड और फ्रांस जैसे बड़े देशों को सहयोग देकर इटली के एकीकरण में उनका समर्थन और सहयोग चाहता था। उसे पक्का विश्वास था कि क्रीमिया युद्ध में इटालियन सैनिकों के बलिदान का लाभ उसे आगे चलकर मिलेगा। उसका अनुमान सही था। क्रीमिया युद्ध की समाप्ति के बाद पूर्वी समस्या के प्रश्न पर जब पेरिस में सम्मेलन हुआ (मार्च, 1856 ई.) तो फ्रांस और इंग्लैण्ड के कारण ही कावूर को सम्मेलन में भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ। कावूर ने इस अवसर का पूरा लाभ उठाया। उसने पेरिस सम्मेलन के समक्ष इटली की दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति का चित्र प्रस्तुत किया और इटली की दुर्दशा के लिए आस्ट्रिया को जिम्मेदार ठहराया। इस प्रकार कावूर ने इटली की समस्या को एक यूरोपीय प्रश्न बनाकर सफल कूटनीति का परिचय दिया। इससे सम्पूर्ण इटली कावूर सम्मान का पात्र बन गया। वस्तुत: क्रीमिया युद्ध इटली के लिए एक वरदान सिद्ध हुआ। इसलिए कहा जाता है कि–"क्रीमिया के कीचड़ में इटली का जन्म हुआ।" क्रीमिया युद्ध का मुख्य लाभ इटली को यह हुआ कि फ्रांस के शासक नेपोलियन तृतीय को क्रीमिया युद्ध के पहले भी इटली के प्रति सहानुभूति थी। वह अब इटली जैसे दलित राष्ट्र का उद्धारक बनकर अपना और फ्रांस का गौरव बढ़ाने का इच्छुक था।

प्लोम्बियर्स का समझौता–फ्रांस का सहयोग एवं लोम्बार्डी की प्राप्ति: पेरिस सम्मेलन के बाद कावूर फ्रांस से सहायता प्राप्त करने और आस्ट्रिया से युद्ध करने के अवसर की प्रतीक्षा में था। इसी बीच इटली का एक नागरिक आर्सिनी, नेपोलियन तृतीय की हत्या करने के प्रयास में बंदी बनाया गया। इससे कावूर को निराशा हुई, किन्तु शीघ्र ही नेपोलियन से प्लोम्बियर्स का समझौता करने में वह सफल हो गया। नेपोलियन छुट्टियाँ व्यतीत करने के उद्देश्य से सार्डिनिया की सीमा के निकट प्लोम्बियर्स नामक स्थान पर ठहरा हुआ था। कावूर बिना किसी निमंत्रण के अनौपचारिक रूप से नेपोलियन से भेंट करने पहुँच गया। यहाँ पर इन दोनों राजनेताओं के बीच 1858 में एक समझौता हुआ। इसके द्वारा मुख्यत: ये शर्तें निश्चित की गईं:

(*i*) आस्ट्रिया से इटली को मुक्त करने के लिए फ्रांस दो लाख सैनिकों की सहायता देगा।

(*ii*) आस्ट्रिया को बाहर निकालने के बाद लोम्बार्डी और वेनेशिया के राज्यों को सार्डिनिया (पीडमांट) में सम्मिलित किया जाएगा।

(*iii*) सहायता के बदले फ्रांस को सेवाएँ और नीस के प्रदेश प्राप्त होंगे।

आस्ट्रिया से युद्ध: प्लोम्बियर्स समझौता हो जाने के बाद कावूर ऐसे अवसर की ताक में था। जिसमें आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो सके। कावूर अपने कार्यों से आस्ट्रिया को इटली पर आक्रमण करने के लिए

नोट

उकसाना चाहता था ताकि अन्य देशों की दृष्टि में आस्ट्रिया को आक्रामक देश ठहराया जा सके। सार्डिनिया के समाचारपत्रों में आस्ट्रिया के विरुद्ध भड़काने वाली सामग्री छपने लगी। कावूर ने इटालियन भूमि के दो स्थानों-मस्स और फर्रारा में विद्रोह करवा दिए। ये दोनों स्थान आस्ट्रिया के अधीन थे। इस प्रकार कावूर की योजनानुसार युद्ध के कारण सरलता से पैदा हो गए।

29 अप्रैल, 1859 को आस्ट्रिया ने अपनी सेनाओं को सार्डिनिया की सीमा में प्रविष्ट करा दिया और युद्ध आरंभ हो गया। विक्टर इमेन्युअल ने स्वयं मोर्चा सम्भाला और फ्रांस ने अपने वचन के अनुसार दो लाख सैनिक भेज दिए। आस्ट्रिया के आक्रामक होने से नेपोलियन का संकोच भी समाप्त हो गया। 3 मई, 1859 को फ्रांस आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित हो गया। पीडमांट और फ्रांस की संयुक्त सेनाओं ने आस्ट्रिया की सेना को 20 मई, 30 मई और 4 जून को क्रमशः मांटेबेलो, पोलेस्ट्रो और मेगेन्टा में पराजित कर दिया। कुछ ही दिनों बाद मिलाना पर भी उसका अधिकार हो गया। 24 जून को सालफरीनो में पीडमांट ने शानदार विजय प्राप्त की। इस पराजय के बाद ऐसा प्रतीत होने लगा कि लोम्बार्डी और वेनेशिया पर भी पीडमांट का अधिकार हो जाएगा, किन्तु लोम्बार्डी पर विजय प्राप्त होने के बाद अचानक ही नेपोलियन ने युद्ध बंद करने की घोषणा कर दी और इसकी सूचना पीडमांट को नहीं दी। एक प्रकार से फ्रांस द्वारा यह पीडमांट को मझधार में छोड़ने के समान था। युद्ध बंद करने और फ्रांसीसी सेना को वापस बुला लेने के बाद नेपोलियन ने आस्ट्रिया से बिलाफ्रेंका की संधि कर ली।

नेपोलियन द्वारा अचानक युद्ध बंद करने के कारणः नेपोलियन तृतीय ने आकस्मिक रूप से और पीडमांट को सूचित किए बिना ही युद्ध बंद कर दिया था। इसके मुख्य कारण थे–

(*i*) फ्रांस को इस युद्ध में काफी हानि उठानी पड़ी थी और यदि युद्ध अधिक समय तक चलता तो और अधिक हानि की संभावना थी।

(*ii*) आस्ट्रिया से युद्ध करने के कारण फ्रांस के कैथोलिकों ने अपनी अप्रसन्नता प्रकट की थी।

(*iii*) आस्ट्रिया को इटली से निकालने के बाद संयुक्त इटली एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में भविष्य में फ्रांस के लिए खतरा बन सकता था।

(*iv*) नेपोलियन को इस युद्ध में यह अनुभव हो चुका था कि पराजय के बाद भी आस्ट्रिया की सैनिक शक्ति कमजोर नहीं हुई थी। साथ ही प्रशिया भी आस्ट्रिया की सहायता करने का विचार करने लगा था। नेपोलियन प्रशिक्षा और आस्ट्रिया की संयुक्त सेना का सामना करने की स्थिति में नहीं था।

फ्रांस और आस्ट्रिया में बिलाफ्रेंका की संधि (11 जुलाई, 1859): नेपोलियन तृतीय ने बिलाफ्रेंका नामक स्थान पर आस्ट्रिया के सम्राट फ्रांसिस जोसेफ से भेंट करके युद्ध विराम की शर्तें तय कर लीं। ये शर्तें निम्नलिखित थीं–

(*i*) लोम्बार्डी सार्डिनिया को दे दिया जाए, वेनेशिया आस्ट्रिया के पास ही बना रहेगा।

(*ii*) मध्य इटली के राज्य परमा, मोडेना और टस्कनी के राज्य वहाँ के शासकों को पुनः लौटा दिए गए।

(*iii*) पोप के अधिकार में एक संघ राज्य बनाकर वेनेशिया को इस संघ में सम्मिलित करने की घोषणा की गई।

नेपोलियन तृतीय के विश्वासघात और बिलाफ्रेंका की संधि से कावूर अत्यन्त क्षुब्ध हो गया और एकीकरण की आशाओं पर तुषारापात हो गया। इस स्थिति के बारे में इतिहासकार लिप्सन ने ठीक ही लिखा है–"इस देश ने विजयोल्लास का प्याला होठों से लगाया ही था कि वह गिरकर चकनाचूर हो गया।" अब कावूर अकेला ही वेनेशिया को प्राप्त करने के उद्देश्य से युद्ध जारी रखने के पक्ष में था। परन्तु विक्टर इमेन्युअल अधिक व्यावहारिक और विवेकशील था। वह जानता था कि अकेले पीडमांट सार्डिनिया द्वारा आस्ट्रिया को पराजित नहीं किया जा सकता। उसने युद्ध जारी रखने की अनुमति नहीं दी और आस्ट्रिया से ज्यूरिख की संधि कर ली। क्षुब्ध और कुपित कावूर ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। 10 नवंबर, 1859 ई. को ज्यूरिख की संधि में बिलाफ्रेंका की संधि की पुष्टि कर दी गई। आस्ट्रिया ने लोम्बार्डी पर पीडमांट का अधिकार स्वीकार कर लिया। बाद में कावूर ने विक्टर इमेन्युअल के

नोट

इस कार्य को स्वीकार कर लिया और उसे उसके पद पर पुनः नियुक्त कर दिया गया।

कावूर और विक्टर इमेन्युअल के साहसपूर्ण कार्यों ने इटली के एकीकरण की दिशा में 1859 ई. तक एक महत्त्वपूर्ण चरण पूरा कर लिया था। यद्यपि पीडमांट की आशाएँ पूरी नहीं हो सकीं तथापि उसे लाभ अवश्य मिला था। यह स्पष्ट हो गया कि जब यूरोप ने लोम्बार्डी पर इटली का अधिकार मान लिया है तो परोक्ष रूप से वेनेशिया पर भी इटली का नैतिक अधिकार स्वीकृत हो चुका है।

8. एकीकरण का तृतीय चरण–मध्य इटली का विलयः मध्य इटली में परमा, मोडेना और टस्कनी के राज्य थे जिन पर विदेशी आस्ट्रियन राजवंश से संबंधित निरंकुश शासक शासन कर रहे थे। यहाँ की इटालियन प्रजा ने अनेक बार इन निरंकुश राजाओं के विरुद्ध विद्रोह किए और एक से अधिक बार इन राजाओं को अपना राज्य छोड़कर भागने के लिए विवश किया था। अंतिम बार वे बिलाफ्रेंका संधि द्वारा अपने राज्यों में पुनः आसीन किए गए थे।

आस्ट्रिया-सार्डिनिया के युद्ध के फलस्वरूप इन राज्यों की जनता में स्वतंत्रता की उत्कट भावना उत्पन्न हो चुकी थी और उसने निरंकुश राजाओं के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इन विद्रोहों की प्रेरणा और मार्गदर्शन 'नेशनल सोसायटी' से प्राप्त हो रहा था, जिसका उद्देश्य था–इटली का एकीकरण और नारा था–"एकता, स्वतंत्रता और विक्टर इमेन्युअल" विद्रोहियों ने पोप के राज्य के उत्तरी भाग रोमेना से पोप के प्रतिनिधियों को भगा दिया और अन्य राज्यों के शासकों को खदेड़कर वहाँ अस्थायी सरकारों का निर्माण कर लिया जनता ने पीडमांट राज्य के साथ मिल जाने की इच्छा व्यक्त की। इन राज्यों की जनता को **इंग्लैण्ड** के प्रधानमंत्री **पामर्स्टन** का भी समर्थन प्राप्त हो गया। इसने कहा था कि, "इटलीवासियों को अपने मामले स्वयं तय करने का अधिकार है।" इस अन्तर्राष्ट्रीय समर्थन के कारण विक्टर इमेन्युअल और कावूर ने फ्रांस के शासक नेपोलियन तृतीय से पुनः चर्चाएँ आरंभ कीं। नेपोलियन ने मध्य इटली के इन राज्यों–परमा, मोडेना और टस्कनी को पीडमांट में विलय करने की अनुमति दे दी और इसके बदले नीस और सेवाए के राज्य फ्रांस को दिए जाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इस लाभ को प्राप्त करके नेपोलियन फ्रांस की जनता के असंतोष को भी दूर करने का इच्छुक था।

मार्च, 1860 ई. में मध्य इटली के राज्यों में जनमत संग्रह कराया गया जो एक नया प्रयोग था। परमा, मोडेना, टस्कनी, बोलोना और पियोकेन्जा राज्यों ने भारी बहुमत से पीडमांट-सार्डिनिया में अपना विलय स्वीकार कर लिया। नीस और सेवाए के नागरिकों ने फ्रांस के साथ मिलना स्वीकार किया और इन राज्यों पर फ्रांस का प्रभुत्व स्थापित हो गया, किन्तु नीस और सेवाए पर फ्रांस के अधिकार की कटु आलोचना भी हुई, क्योंकि नीस इटली के महान नेता गैरीबाल्डी की जन्मभूमि थी। गैरीबाल्डी ने कावूर की आलोचना करते हुए कहा–"तुमने मुझे अपनी मातृभूमि में ही विदेशी बना दिया है।"

मध्य इटली के राज्यों के एकीकरण के परिणामस्वरूप पीडमांट सार्डिनिया राज्य की शक्ति बढ़ गई। निःसंदेह यह कावूर की महान उपलब्धि थी।

एकीकरण का चतुर्थ चरण–नेपिल्स और सिसली का विलयः नेपिल्स और सिसली, दक्षिण इटली के दो बड़े राज्य थे। वियना संधि के अनुसार यहाँ बोर्बो राजवंश के शासक पदासीन थे। इन दोनों राज्यों के लिए संघर्ष करने का श्रेय गैरीबाल्डी के साहस और देश भक्ति की भावना है। दोनों राज्यों के निवासियों द्वारा गैरीबाल्डी से निवेदन के पश्चात् उसके एक हजार लाल कुर्ती वाले स्वयं सेवकों ने जून, 1860 में सिसली पहुँच कर इस राज्य पर अपना अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् 19 अगस्त, 1860 ई. को गैरीबाल्डी ने नेपिल्स पर आक्रमण करके उस पर भी अपना अधिकार कर लिया। यहाँ लोगों ने उसका शानदार स्वागत किया। गैरीबाल्डी में अद्भुत सैन्य प्रतिभा थी। उसके सैनिकों ने अब वेनिश और रोम पर आक्रमण करने का अतिरेक उत्साह उत्पन्न हो चुका था और इसीलिए गैरीबाल्डी ने घोषणा कर दी कि वह अब वेनिस और उसके बाद रोम पर आक्रमण करेगा। इससे कावूर और विक्टर इमेन्युअल के सामने जटिल समस्या उत्पन्न हो गई। गैरीबाल्डी द्वारा किए गए आक्रमण से आस्ट्रिया और फ्रांस के साथ युद्ध छिड़ जाने की पूर्ण सम्भावना थी। किन्तु गैरीबाल्डी अब पीछे हटने को तैयार नहीं था। उसे कावूर की दुरंगी चाल

नोट

पसंद नहीं थी। गैरीबाल्डी के दृढ़ निश्चय को देखते हुए कावूर ने पीडमांट की सेना को गैरीबाल्डी से रोम की रक्षा करने के लिए रवाना कर दिया, (11 सितम्बर, 1860 ई.)। इससे गैरीबाल्डी का रोम की ओर बढ़ना रुक गया। कावूर एक कूटनीतिज्ञ था और गैरीबाल्डी एक खुले हृदय का संवेदनशील देश भक्त। कावूर पोप की रियासतों को जीतने का श्रेय पीडमांट को दिलाना चाहता था। इस स्थिति में कावूर ने फ्रांस के शासक नेपोलियन तृतीय का समर्थन प्राप्त करके पोप की रियासतों पर आक्रमण कर दिया और आम्ब्रिया और मार्चेस पर अधिकार कर लिया। इसके बाद विक्टर इमेन्युअल ने जब नेपिल्स में प्रवेश किया तो गैरीबाल्डी ने उसका शानदार स्वागत किया। 7 नवंबर, 1760 को उसने सिसली और नेपिल्स के राज्य राजा विक्टर इमेन्युअल को सौंप दिए। उसने अपने महान कार्यों का कोई पुरस्कार नहीं लिया। नेपिल्स, सिसली और पोप के जीते हुए भाग में जनमत संग्रह कराया गया। सभी क्षेत्रों की जनता ने उत्तरी इटली के राज्य में सम्मिलित होने का निर्णय लिया। इससे कावूर की स्थिति मजबूत हो गई। इस प्रकार वेनेशिया और रोम को छोड़कर शेष इटली पीडमांट में सम्मिलित हो गया। 18 फरवरी, 1861 को विक्टर इमेन्युअल संयुक्त इटली का सम्राट घोषित कर दिया गया।

कावूर की मृत्यु: इटली के एकीकरण के अंतिम चरण रोम और वेनेशिया की प्राप्ति से पूर्व ही 6 जून, 1861 ई. को कावूर का निधन हो गया। इटली के एकीकरण के उद्देश्य को पूरा करने में कावूर का महान योगदान माना जाता है। एलीसन फिलिप्स ने कावूर के विषय में लिखा है कि–"एक राष्ट्र के रूप में इटली कावूर की देन है।" कावूर के राजनीतिक रंगमंच पर आने से पूर्व एकीकरण के सारे कार्य असफल सिद्ध हुए थे। वस्तुत: कावूर के बिना मेजिनी का आदर्शवाद और गैरीबाल्डी की वीरता, निष्फल लड़ाई और निराशा के इतिहास का एक अध्याय और जोड़ देते। कावूर ने इटली के एकीकरण की दिशा में व्यावहारिक और यथार्थवादी नीति का अनुसरण किया। उसने एक कुशल राजनेता की भांति यह जान लिया कि इटली की समस्याओं का समाधान अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, यूरोपीय कूटनीति तथा युद्ध द्वारा ही हो सकेगा। यद्यपि उसकी मृत्यु तक एकीकरण का कार्य पूर्ण नहीं हुआ था तथापि उसकी सूझबूझ और कूटनीति के अभाव में एकीकरण का मार्ग निश्चित होना अत्यन्त कठिन था। इसमें कोई संदेह नहीं कि कावूर आधुनिक इटली का स्वप्न दृष्टा ही नहीं, जन्मदाता भी था।

9. एकीकरण का पाँचवाँ चरण–वेनेशिया का विलय: आस्ट्रिया के अधीनस्थ वेनेशिया के इटली में एकीकरण का अवसर सन् 1866 ई. में आया। इन दिनों प्रशिया का चांसलर बिस्मार्क भी जर्मनी के एकीकरण के लिए संघर्षरत था। उसके इस उद्देश्य में आस्ट्रिया बाधक था। अत: बिस्मार्क आस्ट्रिया के विरुद्ध इटली की सहायता प्राप्त करना चाहता था। अप्रैल 1866 में बिस्मार्क ने इटली के सम्राट् विक्टर इमेन्युअल से एक संधि की जिसके अनुसार इटली, आस्ट्रिया के विरुद्ध प्रशिया की सहायता करेगा और आस्ट्रिया की सेना को युद्ध में वेनेशिया में उलझाए रखेगा। प्रशिया ने इटली की सैनिक सहायता के बदले इटली को वेनेशिया दिलाने का वचन दिया। 20 जून, 1868 को प्रशिया और आस्ट्रिया में युद्ध शुरू हो गया। उसी दिन विक्टर इमेन्युअल ने आस्ट्रिया के दक्षिण से वेनेशिया पर आक्रमण कर दिया। इससे आस्ट्रिया की सेना दो क्षेत्रों में बँट गई और प्रशिया ने सेडोवा के युद्ध में आस्ट्रिया को बुरी तरह पराजित कर दिया। इस निर्णायक युद्ध के बाद प्राग की जो संधि हुई, उसमें वेनेशिया पीडमांट को दे दिया गया। जनमत संग्रह के द्वारा वेनेशिया का इटली में विलय सम्पन्न हुआ।

10. एकीकरण का अंतिम चरण–रोम की प्राप्ति (1870 ई.): 1866 ई. तक केवल रोम को छोड़कर सम्पूर्ण इटली का एकीकरण सम्पन्न हो चुका था। रोम के बिना इटली की स्थिति उसी प्रकार थी जैसे–'हृदय के बिना शरीर'। पिछले 1200 वर्षों से रोम पर पोप का अधिकार चला आ रहा था और यूरोप के सभी कैथोलिक धर्मानुयायी पोप के भक्त थे। रोम की रक्षा के लिए फ्रांस की सेनाएँ वहाँ मौजूद थीं। गैरीबाल्डी ने 1867 ई. में रोम पर अधिकार करने का असफल प्रयास किया था।

रोम की प्राप्ति का कार्य उस समय पूरा हुआ जब जर्मनी के एकीकरण के लिए 1870 ई. में फ्रांस और प्रशिया में युद्ध हुआ। नेपोलियन तृतीय को विवश होकर रोम से फ्रांसीसी सेना को प्रशिया से लड़ने के लिए बुलाना पड़ा। फ्रांस

नोट

को प्रशिया में उलझा हुआ देखकर विक्टर इमेन्युअल ने रोम पर आक्रमण कर दिया। 20 सितम्बर, 1870 ई. को रोम पर इटली का अधिकार हो गया। रोम में जनमत संग्रह कराया गया जिसमें 40 हजार से अधिक मत एकीकरण के लिए विक्टर इमेन्युअल के पक्ष में पड़े और पोप को केवल 46 मत प्राप्त हुए। इसके आधार पर रोम इटली में सम्मिलित कर लिया गया और उसे संयुक्त इटली की राजधानी बनाया गया। 2 जून, 1871 ई. को विक्टर इमेन्युअल ने एकीकृत इटली के सम्राट के रूप में रोम में प्रवेश किया। रोम की प्राप्ति के साथ ही इटली के एकीकरण का मेजिनी का स्वप्न पूर्ण हुआ। अब इटली मात्र एक भौगोलिक अभिव्यक्ति मात्र नहीं रहा वरन् एक स्वतंत्र और प्रभुता सम्पन्न राज्य बन गया।

समीक्षा: इटली का एकीकरण यूरोपीय इतिहास में राष्ट्रवाद की विजय की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। यह एक कठिन कार्य था जिसे मेजिनी गैरीबाल्डी, कावूर और विक्टर इमेन्युअल ने अपनी-अपनी योग्यता और सूझबूझ से पूरा किया। इस एकीकरण की आत्मा मेजिनी, मस्तिष्क कावूर और शरीर का मुख्य भाग गैरीबाल्डी की तलवार थी। दूसरे शब्दों में, मेजिनी ने नैतिक बल, गैरीबाल्डी की तलवार, कावूर की कूटनीति तथा विक्टर इमेन्युअल की व्यावहारिक कुशलता और बुद्धि तथा असंख्य इटलीवासियों के समर्पण, त्याग और बलिदान से इटली विदेशी राजसत्ता से मुक्त हुआ और यूरोप का एक संगठित और शक्तिशाली राष्ट्र बन गया। केटलबी के शब्दों में–"रोम की प्राप्ति के साथ ही अब इटली एक भौगोलिक अभिव्यक्ति मात्र नहीं रहा अपितु एक स्वतंत्र और सम्प्रभु राष्ट्र बन गया।"

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. इटलीवासियों को फ्रांस की क्रान्ति की सबसे बड़ी देन थी ..... की समाप्ति।
2. ..... में इटली के एकीकृत शक्तिशाली राज्य का यूरोप में उदय हुआ।
3. प्रतिक्रियावाद के विरुद्ध यूरोप में पहली क्रान्ति ..... में हुई थी।

20.2 जर्मनी का एकीकरण (The Unification of Germany)

आधुनिक जर्मनी यूरोप और विश्व का एक उन्नत और विकसित राष्ट्र है। मध्य यूरोप में स्थित जर्मनी एक ऐसा राष्ट्र है जिसने दोनों विश्वयुद्धों की घातक पृष्ठभूमि तैयार करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। जर्मनी ऐसा राष्ट्र है, जिसने प्रथम विश्वयुद्ध में अपनी पूर्ण पराजय के उपरांत वर्साय की अपमानजनक संधि पर विवश होकर हस्ताक्षर किए, किन्तु अगले 20 वर्षों में उसने अपने अपमान का बदला लेने के लिए द्वितीय महायुद्ध शुरू कर दिया। जर्मनी वह राष्ट्र है जहाँ बिस्मार्क जैसे महान् कूटनीतिज्ञ तथा हिटलर जैसे तानाशाह ने जन्म लिया। जर्मनी की समस्त उपलब्धियों की पृष्ठभूमि इस राष्ट्र के एकीकरण के पश्चात् ही तैयार हो सकी थी। जर्मनी के एकीकरण-अर्थात् अनेक जर्मन राज्यों को संयुक्त करने का कार्य-प्रशा के चांसलर (प्रधानमंत्री) बिस्मार्क के नेतृत्व में 1871 में सम्पन्न हुआ था।

एकीकरण से पूर्व जर्मन राज्यों की स्थिति:

(*i*) फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति (1789 ई.) से पूर्व जर्मनी राजनीतिक दृष्टि से यूरोप का सर्वाधिक विभाजित और विशृंखलित देश था जिसमें 300 से भी अधिक असमान राज्यों का अस्तित्व था। ये राज्य राजनीतिक, धार्मिक और अन्य आधारों पर विभाजित थे। व्यावहारिक तथा भौगोलिक दृष्टि से ये राज्य तीन समूहों में माने जा सकते हैं–उत्तरी, मध्य तथा दक्षिण के जर्मन राज्य। उत्तरी राज्य में प्रशा, सैक्सनी, हैनोवर तथा फ्रेंकफर्ट प्रमुख थे। इनमें से कुछ राज्य पवित्र रोमन साम्राज्य अर्थात् आस्ट्रिया के साम्राज्य के अधीनस्थ थे।

नोट

(*ii*) विभिन्न राज्यों में किसी भी प्रकार की समानता का नितान्त अभाव था। इनमें से कुछ बड़े और सामरिक तथा सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली और कुछ बिल्कुल निर्बल थे। इन राज्यों में सम्पत्ति और आर्थिक दृष्टि से भी असमानती थी। इनमें धार्मिक असमानता भी थी। कुछ प्रोटेस्टेंट थे तो अन्य कैथोलिक धर्म को मानते थे। इन राज्यों में ग्रामीण एवं शहरी दोनों प्रकार की जीवन पद्धतियाँ विद्यमान थीं। कृषि दासों की स्थिति प्राय: सभी राज्यों में अत्यन्त दयनीय थी। एकीकरण से पूर्व अथवा फ्रांसीसी क्रान्ति से पूर्व प्रशा को छोड़कर सभी जर्मन राज्य उद्योग और व्यापार की दृष्टि से पिछड़े हुए थे। जर्मन-उद्योगपतियों और व्यवसायियों को व्यापारिक और औद्योगिक स्पर्धा में यूरोप के अन्य देशों का सामना करना पड़ता था। अन्य यूरोपीय देशों के समान जर्मन उद्योग एवं व्यापार को राज्यों की ओर से प्रोत्साहन एवं सहयोग भी प्राप्त नहीं था। इस स्थिति का मुख्य कारण यह था कि जर्मनी में कोई शक्तिशाली और सुदृढ़ केन्द्रीय सत्ता नहीं थी। अत: अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुई यूरोपीय औद्योगिक क्रान्ति ने जर्मन लोगों को यह सोचने पर विवश किया कि जर्मन राज्यों का राजनीतिक एकीकरण आवश्यक है। समस्त जर्मन राज्यों में प्रशा ही एक ऐसा राज्य था जो अन्य जर्मन भाषी राज्यों की तुलना में राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली और उन्नत था। अत: जर्मन राज्यों के संयुक्तिकरण का कार्य प्रशा के नेतृत्व में होना स्वाभाविक था।

बिस्मार्क के आगमन से पूर्व जर्मन एकीकरण के प्रयास:

***(i)* फ्रांसीसी क्रान्ति, नेपोलियन तथा जर्मनी:** फ्रांस की 1789 ई. राज्य क्रान्ति का प्रभाव समीपवर्ती जर्मन राज्यों पर पड़ना स्वाभाविक था। फ्रांस की क्रान्ति के परिणामस्वरूप जब नेपोलियन का अभ्युदय हुआ तो उसने अपनी महत्त्वाकांक्षा का शिकार जर्मन राज्यों को भी बनाया। यूरोप के इतिहास की यह एक विडम्बना है कि आधुनिक एकीकृत जर्मनी की नींव रखने वाला फ्रांस का नेपोलियन था जिसने जर्मन क्षेत्रों पर आक्रमण करके उसे लूटा-खसोटा था। जर्मनी में यद्यपि नेपोलियन के विरुद्ध शत्रुता और आक्रोश की भावना थी तथापि 1805 ई. में आस्ट्रिया को पराजित करने के पश्चात् नेपोलियन ने जर्मन भाषी छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर एक ढीलाढाला संघ राज्य बनाया जिसे **"राइन का संघ"** (Confederation of Rhine) नाम दिया गया। इसमें आस्ट्रिया और प्रशिया को छोड़कर 16 जर्मन राज्य सम्मिलित थे। इस संघ को 38 खंडों में विभाजित किया गया। यह जर्मनी के एकीकरण का प्रथम चरण था। अतएव नेपोलियन को जर्मनी के एकीकरण का सूत्रधार कहा जाता है। अपने अल्प शासनकाल में नेपोलियन ने प्रशा में बहुत अत्याचार किए थे। इसलिए प्रशा के लोग नेपोलियन के शत्रु बन गये और 1813 ई. में जब नेपोलियन जर्मनी की ओर बढ़ा तो प्रशा सहित मित्र राज्यों ने उसे लिप्जिंग के युद्ध में परास्त करके राइन नदी के पीछे तक धकेल दिया था। नेपोलियन द्वारा राइन-संघ के निर्माण और जर्मन राज्यों पर उसके आक्रमणों से जर्मनभाषी राज्यों में एकता और राष्ट्रवाद की भावना का प्रथम बार उदय हुआ। जर्मन लोग राइन नदी को सदैव अपनी पैतृक भूमि की प्राकृतिक सीमा समझते थे, इसीलिए राइन-भूमि पर फ्रांसीसी अधिकार से वे बहुत क्रुद्ध थे। यही क्रोध आगे चलकर राष्ट्रीय भावना की जाग्रति की एक कारण बना। दूसरी ओर, फ्रांस की क्रान्ति के विचारों–स्वतंत्रता, समानता, बन्धुत्व ने जर्मनी में व्याप्त, सामन्तवाद के विरुद्ध लोगों को मानसिक रूप से तैयार करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। संक्षेप में, फ्रांसीसी क्रान्ति और नेपोलियन के कार्यों से जर्मनी में प्रगतिशील विचारों की लहर उत्पन्न हुई। इससे एकीकरण के लिए वातावरण तैयार हुआ।

2. वियना समझौता, मेटरनिख और जर्मनी का संघ: नेपोलियन के पतन के पश्चात् वियना सम्मेलन (1815 ई.) में जर्मनी में 38 राज्यों का एक शिथिल संघ बनाया गया जिसे जर्मन कान्फेडरेशन (Germen confederation) कहा गया। आस्ट्रिया को इस संघ का अध्यक्ष बना दिया गया। इन 38 राज्यों में निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी शासकों को पुन: पदस्थ कर दिया गया तथा उच्च वर्ग के सामंतों को उनके विशेषाधिकार दे दिये गये। इस संघ की एक संघीय संसद (Federal Diet) फ्रेंकफर्ट में स्थापित की गई। इस संघीय संसद में जनता का प्रतिनिधित्व नहीं था अपितु विभिन्न राज्यों के शासकों के मनोनीत प्रतिनिधि इसके सदस्य थे। यह तथ्य सुविदित है कि आस्ट्रिया का चांसलर मेटरनिख क्रान्तिकारी विचारों और प्रगतिशीलता का कट्टर शत्रु था इसलिए जर्मनी में भी परंपरागत ढंग का निरंकुश शासन पुन: स्थापित हो गया। यद्यपि मेटरनिख ने जर्मनी राज्यों में उत्पन्न स्वतंत्रता के क्रान्तिकारी विचारों का दमन करने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी, किन्तु जर्मनी के विद्वानों, दार्शनिकों, विचारकों और प्राध्यापकों ने अनेक

नोट

गुप्त समितियों का गठन किया तथा लोगों को आंदोलनों के लिए तैयार किया। इन समितियों के सिद्धांत थे–"सम्मान, स्वतंत्रता और पितृभूमि"। इन संस्थाओं ने देशभक्ति, राष्ट्रीयता, एकीकरण, नैतिकता और उदारवाद का खूब प्रचार किया। आस्ट्रिया मेटरनिख ने बुद्धिजीवियों और विद्यार्थियों के प्रचार-आंदोलन के दमन के लिए कार्ल्सवाद में जर्मन संघ की एक गुप्त बैठक में 1819 ई. में कुछ दमनकारी कानून पास करा दिये। इन कानूनों को कार्ल्सवाद के आदेश (Decrees) कहा जाता है इन आदेशों के अनुसार–

(*i*) प्रेस पर प्रतिबंध लगा दिया गया और उदारवादी साहित्य का प्रकाशन समाप्त कर दिया गया।

(*ii*) विश्वविद्यालयों में पर्यवेक्षक नियुक्त किए गए जो शिक्षा, पाठ्यक्रमों, शिक्षकों तथा विद्यार्थियों को स्वतंत्र और उदारवादी विचारों से दूर रखते थे।

(*iii*) धार्मिक संस्थाओं और चर्चों को भी उदारवादी विचारों से दूर किया गया तथा कट्टरपंथी पादरियों की नियुक्ति की गई।

(*iv*) गुप्त समितियों को अवैध घोषित कर दिया गया।

(*v*) सभी राज्यों के शासकों को उदारवाद का दमन करने का आदेश दिया गया।

मेटरनिख की जर्मनी में दमनकारी-नीति के परिणामस्वरूप आगामी दस वर्षों तक राष्ट्रीय एकता की गतिविधियाँ अवरुद्ध हो गईं।

3. 1830 की फ्रांसीसी क्रान्ति का प्रभाव: 1830 में फ्रांस में पुन: क्रान्ति हुई और वहाँ उदारवाद की विजय हुई, किन्तु जर्मनी पर इसका बहुत सीमित प्रभाव ही पड़ा। इसके दो मुख्य कारण थे–प्रथम यह कि जर्मनी में अभी तक फ्रांस की तरह एक सुस्पष्ट विचारधारा से युक्त सुसंगठित मध्यम वर्ग का उदय नहीं हुआ था। दूसरा कारण यह था कि 1834 ई. में मेटरनिख ने वियना में एक सभा आमंत्रित की जिसमें क्रान्तिकारी आंदोलन के दमन हेतु कुछ नियम बनाए गए। विश्वविद्यालयों पर कड़े प्रतिबंध लगाए गए। विद्यार्थियों के संघ बनाने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। अनेक देशभक्तों और राष्ट्रवादियों को कठोर दंड दिया गया अथवा उन्हें देश से निष्कासित कर दिया गया। इसके परिणामस्वरूप 1830 की फ्रांसीसी क्रान्ति के प्रभाव से कुछ जर्मन राज्यों में जो हलचल हुई थी वह शीघ्र ही समाप्त हो गई।

4. 1848 ई. की क्रान्ति का प्रभाव: 1848 ई. की यूरोपीय क्रान्ति के परिणामस्वरूप आस्ट्रिया में भी आंदोलन हुए और मेटरनिख का पतन हो गया। जर्मन राज्यों को भी मेटरनिख के पतन से प्रोत्साहन मिला। विभिन्न जर्मन राज्यों में उदारवादी और राष्ट्रवादी सक्रिय हो गए। वस्तुत: 1848 ई. में क्रान्ति के समय जर्मन उदारवादी एक ओर जहाँ संवैधानिक सुधार और जन प्रतिनिधित्व चाहते थे, वहीं दूसरी ओर उनका लक्ष्य जर्मनी का एकीकरण भी था। दक्षिणी जर्मनी के उदारवादी, मताधिकार के विस्तार की माँग कर रहे थे। अनेक जर्मन राज्यों में संवैधानिक राजतंत्रीय सरकारें स्थापित हो गईं। कई राज्यों में लेखन, भाषण और प्रेस की स्वतंत्रता प्राप्त हो गई। प्रशा में भी आंदोलन हुआ और वहाँ के तत्कालीन राजा फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ ने लोकतंत्रीय संविधान लागू करने का वचन दिया किन्तु जब क्रान्ति का उत्साह ठंडा पड़ गया तो उसने अपने वचन को पूर्ण नहीं किया। इस प्रकार संक्षेप में 1848 ई. की क्रान्ति ने जर्मन राज्यों को आस्ट्रिया के मेटरनिख की निरंकुशता से मुक्त करके एकीकरण की दिशा में एक कदम और आगे बढ़ाया।

5. जोलवेरिन की भूमिका: जोलवेरिन का अर्थ है जर्मनी का आर्थिक एकीकरण। राजनीतिक एकीकरण से पूर्व प्रशा और कुछ अन्य राज्यों के व्यापारियों तथा उद्योगपतियों ने इस बात को अनुभव किया कि जर्मन राज्यों का औद्योगिक एवं व्यापारिक तथा उद्योगपतियों ने इस बात को अनुभव किया कि जर्मन राज्यों का औद्योगिक एवं व्यापारिक विकास सैकड़ों स्थानों पर चुंगी की बाधा के कारण अवरुद्ध है। अकेले प्रशा के विभिन्न परगनों में 67 चुंगी नाके थे। दूसरे राज्यों में भी यही स्थिति थी। चुंगी की इस बाधा को सदूर करने का विचार सर्वप्रथम जर्मनी के एक अर्थशास्त्री फ्रेडरिक लिस्ट के मस्तिष्क में उत्पन्न हुआ। उसका तर्क था कि अनेक स्थानों पर व्यापारिक

नोट

माल की चुंगी चुकाने के कारण वस्तुएँ महंगी हो जाती है तथा व्यापार में विलंब होता है। लिस्ट आर्थिक राष्ट्रवादी विचारों का व्यक्ति था। उसका मत था कि जर्मनी की सीमा के अंदर नि:शुल्क वाणिज्य नीति प्रचलित होनी चाहिए जिससे जर्मनी में आर्थिक एकता स्थापित हो सके। जर्मनी के रेलमार्गों के निर्माण में भी फ्रेडरिक लिस्ट का महत्त्वपूर्ण योगदान था।

व्यापारिक चुंगी की बाधा को दूर करने की दृष्टि से सन् 1818 ई. में जर्मनी के 12 राज्यों में बिना चुंगी करों के आवागमन की दृष्टि से जोलवेरिन नामक शुल्क-संघ (Customs Union) की स्थापना की गई। इसके साथ ही समूचे प्रशा में स्वतंत्रता और चुंगी-मुक्त व्यापार आरंभ हो गया। प्रशा एक विकसित और शक्तिशाली राज्य था। व्यापार की उन्नति को देखकर उसने अन्य राज्यों को भी जोलवेरीन में सम्मिलित होने की प्रेरणा दी। सन् 1834 ई. तक जर्मनी के सभी प्रमुख राज्य अपनी आर्थिक सुविधाओं को ध्यान में रखकर जोलवेरीन के सदस्य बन गये। इस चुंगी संघ में यह निश्चय किया गया कि इस संघ के सदस्य अधिकांश वस्तुओं का स्वतंत्र व्यापार करेंगे और एक-दूसरे के सामान पर चुंगी नहीं लेंगे। आस्ट्रिया ने यद्यपि इस आर्थिक संघ को स्वीकार नहीं किया, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि जोलवेरिन के आर्थिक संघ ने जर्मनी के राजनीतिक एकीकरण हेतु महत्त्वपूर्ण योगदान किया। आर्थिक क्षेत्र में एकता की इस अनुभूति से विभिन्न राज्य एक-दूसरे के निकट आए और जर्मनी के राजनीतिक एकीकरण की आवश्यकता को अनुभव करने लगे। आर्थिक एकीकरण का यह कार्य चूँकि प्रशा के नेतृत्व में ही सम्पन्न हुआ था इसलिए राष्ट्रीय और राजनीतिक एकीकरण के लिए भी सभी राज्यों ने प्रशा के नेतृत्व को स्वीकार कर लिया।

6. औद्योगिक विकास तथा मध्यम एवं पूँजीपति वर्ग का उदय: 1830 से 1860 ई. के मध्य सभी जर्मन राज्यों और विशेषकर प्रशा में औद्योगिक विकास तीव्रगति से हुआ। व्यापार-वाणिज्य में भी वृद्धि हुई। प्रशा की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी हो गई। इसमें मध्यम तथा पूँजीपति वर्ग का उदय हुआ। यह वर्ग जर्मनी के राजनैतिक एकीकरण का इच्छुक था क्योंकि जर्मनी में एक शाक्तिशाली राज्य की स्थापना से अंतर्देशीय तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि होने की काफी संभावना थी। थामसन डेविड का मत है कि, "पूँजीपति वर्ग का सहयोग मिल जाने से एकीकरण के आंदोलन को ऐसा बल प्राप्त हुआ जो इससे पहले के किसी आंदोलन को नहीं प्राप्त हो सका।"

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions) :

4. फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय ..... नाम का कोई देश नहीं था।
   (क) इटली (ख) जिनेवा (ग) वेनिस (घ) टस्कनी
5. कैथोलिकों के सर्वोच्च धर्माधिकारी पोप ग्रेगरी का देहावसान ..... में हो गया।
   (क) 1746 ई. (ख) 1546 ई. (ग) 1846 ई. (घ) 1946 ई.
6. ..... को आस्ट्रिया की सेना ने पीडमांट की सेना को बुरी तरह पराजित किया।
   (क) 23 जनवरी, 1849 (ख) 23 फरवरी, 1849
   (ग) 23 दिसंबर, 1849 (घ) 23 मार्च, 1849

20.3 जर्मन एकीकरण में बिस्मार्क की भूमिका (Role of Bismark in the Unification of German)

1850 ई. तक यह बात स्पष्ट हो चुकी थी कि जर्मन भाषी राज्यों को मिलाकर एक सुदृढ़ जर्मन के एकीकरण का कार्य प्रशा के नेतृत्व में ही हो सकता है। 1848 ई. में फ्रेंकफर्ट में एक संसद की बैठक का आयोजन हुआ। इस

नोट

संसद में सभी जर्मन राज्यों के प्रतिनिधि एकत्र हुए। प्रशा का प्रतिनिधि बिस्मार्क था। ऑटोवन बिस्मार्क आरंभ से ही प्रशा के नेतृत्व में जर्मन राज्यों के एकीकरण का इच्छुक था। वह उदारवादी विचारों का कट्टर विरोधी था और सभी जर्मन राज्यों को संगठित करके प्रशा के नेतृत्व को प्रभावशाली बनाने का इच्छुक था। फ्रेंकफर्ट की संसद में उसने आस्ट्रिया के तर्कों पर घोर विरोध करके सभी जर्मन राज्यों के एकीकरण के पक्ष में अपने ठोस तर्क प्रस्तुत किए। इस प्रकार जर्मनी की राजनीति में बिस्मार्क के आविर्भाव के पश्चात् एकीकरण की वास्तविक एवं व्यावहारिक प्रक्रिया आरंभ हो गई। जर्मनी के एकीकरण का सूत्रधार बिस्मार्क ही था। बिस्मार्क के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण के विभिन्न सोपानों का क्रम इस प्रकार है–

1. जर्मनी एकीकरण प्रशा के नेतृत्व में: प्रशा अथवा जर्मनभाषी राज्यों में सबसे अधिक प्रगतिशील और शक्तिशाली राज्य था। सन् 1861 तक प्रशा का शासक फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ था। उसके देहान्त के बाद उसका भाई विलियम प्रथम के नाम से प्रशा का शासक बना। उसके हृदय में प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण करने की उत्कण्ठा थी। उसकी यह महत्त्वाकांक्षा थी कि वह समस्त जर्मनी पर अपना शासन तथा प्रभुत्व स्थापित करे। उसका कथन था–"जो भी जर्मनी पर शासन करने की अभिलाषा रखता है, उसे ऐसा शासन स्वयं छीनना होगा।" विलियम प्रथम प्रशा की सैनिक शक्ति को बढ़ाकर एकीकरण के पक्ष में था। उसका मत था कि, "प्रशा का भाग्य उसकी सेना पर निर्भर है।" इस कार्य के लिए उसने अनेक उपाय किए। वान रून (Voon Roon) और वान मोलटके (Von Moltke) जैसे सैन्य विशेषज्ञों को उसने क्रमश: युद्धमंत्री तथा आर्मी स्टॉफ के प्रमुख पदों पर नियुक्त किया। इसी समय सौभाग्य से उसे बिस्मार्क की सेवाएँ प्राप्त हो गईं। सितम्बर, 1862 ई. में विलियम प्रथम ने बिस्मार्क को प्रशा के चांसलर (प्रधानमंत्री) के पद पर नियुक्त कर दिया।

2. ऑटोवान बिस्मार्क: जर्मनी के लिए योग्य नेतृत्व: जर्मनी के प्रशा राज्य का चांसलर बिस्मार्क एक प्रतिष्ठित सामंत परिवार में जन्मा था। उसकी प्रजातंत्र में बिल्कुल आस्था नहीं थी। उसका उद्देश्य यूरोप में जन्मी उदारवादी भावना का विरोध करके प्रशा के राजतंत्र के सुदृढ़ नेतृत्व में जर्मन राज्यों का एकीकरण करना था। उसने एक अवसर पर कहा भी था–"मैं इस युग की भावुकता से डरता हूँ जिसमें प्रत्येक दीवाने विद्रोही को सच्चा देशभक्त समझा जाता है।" उसकी संवैधानिक राजतंत्र में भी कोई आस्था नहीं थी। वह प्रशा राज्य के स्वतंत्र स्वरूप को बनाए रखते हुए भी प्रशा के नेतृत्व में एकीकरण का इच्छुक था। उसकी राजनीतिक पृष्ठभूमि भी बहुत श्रेष्ठ थी। 1851 ई. तक बिस्मार्क राजतंत्र के कट्टर समर्थक के रूप में पहचाना जाने लगा था। उसने विभिन्न पदों पर काम करके एक कुशल कूटनीतिज्ञ के रूप में ख्याति प्राप्त कर ली थी। अपने कार्यकाल के प्रारंभिक वर्षों में वह आस्ट्रिया का समर्थक था, किन्तु जब उसने यह अनुभव किया कि आस्ट्रिया, प्रशा को समान महत्त्व देना नहीं चाहता तो वह आस्ट्रिया का विरोधी हो गया। वह शीघ्र ही इस निष्कर्ष पर पहुँच गया कि आस्ट्रिया को पराजित किए बिना, प्रशा के नेतृत्व में जर्मन राज्यों का एकीकरण संभव नहीं है।

बिस्मार्क के उद्देश्य:

(*i*) बिस्मार्क प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी का एकीकरण कर उसे एक राष्ट्र के रूप में संगठित करना चाहता था।

(*ii*) प्रशा द्वारा जर्मनी राज्यों पर विजय प्राप्त करके एकीकरण के कार्य को पूरा करते हुए वह प्रशा की सभ्यता, परम्पराओं और शासन-पद्धति का विस्तार करना चाहता था।

(*iii*) एक कुशल और दूरदर्शी कूटनीतिज्ञ के रूप में उसने यह भलीभाँति समझ लिया था कि जर्मनी भाषी राज्यों के एकीकरण में आस्ट्रिया तथा फ्रांस मुख्य बाधाएँ हैं। अत: प्रशा की सैनिक शक्ति को मजबूत बनाकर इन दोनों बड़े शक्तिशाली देशों को पराजित करके ही एकीकरण के कार्य को सम्पन्न किया जा सकता है। इस दिशा में बिस्मार्क 'लौह और रक्त की नीति' (Policy of Blood and Iron) का समर्थक था। इस नीति से उसका अभिप्राय यह था जर्मनी का एकीकरण जन-आंदोलन अथवा संवैधानिक उपायों द्वारा संभव नहीं है। इन तरीकों की

नोट

अपेक्षा उसका विश्वास कूटनीति, सैन्यबल और युद्ध में था। दूसरे शब्दों में, बिस्मार्क सफल एवं गौरवशाली विदेश नीति, युद्ध और निरंकुश आंतरिक नीति द्वारा एकीकरण के लक्ष्य को प्राप्त करना चाहता था।

इस समय यूरोप की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति भी बिस्मार्क के लिए अनुकूल थी। रूसी साम्राज्य के अधीन पोलैण्ड के लोगों ने जब रूसी शासन के विरुद्ध 1862 ई. में विद्रोह किया तो बिस्मार्क ने विद्रोह के दमन में रूसी सम्राट की सहायता की और रूस के सम्राट की सहानुभूति प्रशा के लिए प्राप्त कर ली। आस्ट्रिया का रुख पोल विद्रोहियों के पक्ष में होने के कारण रूस आस्ट्रिया से अप्रसन्न हो गया। इसी प्रकार उसने फ्रांस से व्यापारिक संधि करके उससे निकटता स्थापित कर ली। संक्षेप में, बिस्मार्क ने ऐसी व्यवस्था स्थापित कर ली कि यदि एकीकरण के लिए प्रशा को आस्ट्रिया से युद्ध करना पड़े तो उसे रूस और फ्रांस से किसी प्रकार की सहायता प्राप्त न हो।

3. जर्मनी के एकीकरण के लिए बिस्मार्क की विभिन्न युद्धों में विजय: बिस्मार्क ने जर्मनी के एकीकरण हेतु तीन युद्धों में सफलता प्राप्त की। प्रथम डेनमार्क से युद्ध (1864 ई.), द्वितीय प्रशा-आस्ट्रिया युद्ध (1866 ई.) तथा तृतीय प्रशा-फ्रांस युद्ध (1870-71 ई.)। उपर्युक्त तीनों युद्धों से पूर्व उसने प्रशा को सैनिक दृष्टि से सुदृढ़ बनाया। आस्ट्रिया और फ्रांस की तुलना में प्रशा एक छोटा और अल्प सैनिक शक्तिवाला राष्ट्र था। अत: बिस्मार्क ने कूटनीति में सफलता प्राप्त करने के साथ ही प्रशा को सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाने के लिए अनेक उपाय किए। प्रशा का शासक विलियम प्रथम भी सैनिक सुदृढ़ता का कट्टर समर्थक था। जर्मन राज्यों की फ्रेंकफर्ट की संसद से संघर्ष करते हुए उसने धन एकत्र करने की पर्याप्त व्यवस्था की। इस प्रकार धन प्राप्त करके बिस्मार्क ने प्रशा की सेना को संगठित और प्रशिक्षित करके उसे यूरोप में सर्वश्रेष्ठ बना दिया। अब वह उन यूरोपीय राज्यों से युद्ध शुरू कर सकता था जो जर्मन राज्यों के एकीकरण के विरोधी थे। डेनमार्क, आस्ट्रिया और फ्रांस से प्रशा के युद्धों का संक्षिप्त वर्णन अधोलिखित हैं–

***(i)* डेनमार्क से युद्ध और गेस्टाइन समझौता:** प्रशिया के उत्तर में तथा डेनमार्क राज्य के दक्षिण में स्थित दो रियासतें (डची, अर्थात् छोटे राज्य)–**श्लेसविग** (Schleswig) और **हॉल्सटाइन** (Holestine) स्थित थीं। इन दोनों राज्यों की राजनीतिक पृष्ठभूमि लंबे समय से विवादग्रस्त थी। हॉल्सटाइन जर्मन संघ का सदस्य था और यहाँ की जनता भी जर्मनभाषी थी जबकि श्लेसविग में बहुमत जर्मनों का था और कुछ डेनिश लोग भी रहते थे। यद्यपि ये दोनों डेनमार्क राज्य के अधीन थीं तथापि यहाँ की संस्थाएँ और संविधान अलग-अलग थे। ये दोनों डेनमार्क का हिस्सा नहीं थीं। डेनमार्क का शासक इन दोनों राज्यों का विलय डेनमार्क में करने के लिए प्रयत्नशील था। जर्मन लोग इसके विरोधी थे। 1852 ई. के लंदन में हुए समझौते के द्वारा डेनमार्क ने इस शर्त को स्वीकार किया कि डेनमार्क इन राज्यों का विलय अपने राज्य में कभी नहीं करेगा। किन्तु 1863 ई. में एक नया संविधान बनाकर हॉल्सटाइन को पूरी तरह डेनमार्क में मिला लिया गया और श्लेसविग को स्वतंत्रता दे दी। बिस्मार्क के लिए यह एक अच्छा अवसर था। उसने इन दोनों राज्यों के प्रश्न को एक यूरोपीय प्रश्न बनाकर डेनमार्क से युद्ध करने की योजना बनाई। सर्वप्रथम उसने आस्ट्रिया के साथ अच्छे संबंध स्थापित करके श्लेसविग और हॉल्सटाइन के बारे में एक मिलीजुली योजना बनाई। उसे विश्वास था कि आगे चलकर इनके बँटवारे को लेकर आस्ट्रिया से युद्ध का बहाना अवश्य मिल जाएगा। उसने आस्ट्रिया के सामने लंदन की संधि की रक्षा करने का प्रस्ताव रखा। आस्ट्रिया का सम्राट इस समय जर्मन-संघ का अध्यक्ष था। आस्ट्रिया बड़ी दुविधा में पड़ गया क्योंकि बिस्मार्क के प्रस्ताव को अस्वीकार करने का अर्थ था कि सारा श्रेय प्रशा को मिल जाता और स्वीकार करने के कारण ये दोनों राज्य प्रशा में विलीन हो सकते थे। अन्तत: प्रशा और आस्ट्रिया दोनों ने मिलकर डेनमार्क को यह चेतावनी दी कि वह 48 घंटे में नवीन संविधान समाप्त कर दे। वह ऐसा नहीं कर सका क्योंकि इस समय डेनमार्क की संसद का अधिवेशन नहीं हो रहा था और संविधान निरस्त करने का अधिकार केवल संसद को ही था। इसके परिणामस्वरूप प्रशा और आस्ट्रिया की संयुक्त सेना ने आक्रमण करके डेनमार्क को सरलता से पराजित कर दिया। बिस्मार्क की यह एक महत्त्वपूर्ण कूटनीतिक सफलता थी। इससे जहाँ एक ओर जर्मन जाति के लोग प्रशा से प्रसन्न हुए, वहीं दूसरी ओर दोनों राज्यों के बँटवारे के प्रश्न को लेकर आस्ट्रिया से युद्ध करने का बहाना मिल सकता था।

नोट

वियना की संधि और डचियों का हस्तांतरण (27 अक्टूबर, 1864 ई.): पराजित डेनमार्क को प्रशा और आस्ट्रिया दोनों से संयुक्त संधि करनी पड़ी जिसके अनुसार श्लेसविग, हॉल्सटाइन और लावेनबुर्ग की डचियों को दोनों विजेता देशों के संयुक्त आधिपत्य में सौंप दिया गया। डेनमार्क इस बात पर सहमत हो गया कि आस्ट्रिया और प्रशा इन डचियों का जो भी प्रबंध करेंगे, वह उसे स्वीकार होगा। संयुक्त अधिकार का अर्थ स्पष्ट था अर्थात् किसी भी समय प्रशा इन दोनों डचियों को अपने ही अधिकार में लाने का प्रयास करेगा तो इससे तनाव उत्पन्न होगा और आस्ट्रिया तथा प्रशा के मध्य युद्ध अनिवार्य हो जाएगा। वस्तुत: बिस्मार्क इस तथ्य से भलीभांति अवगत था कि जर्मन एकीकरण के मार्ग में आस्ट्रिया बाधक बनेगा और निकट भविष्य में ही उससे युद्ध अवश्य होगा। उसके मत में श्लेसविग तथा हॉल्सटाइन के आधिपत्य को लेकर ही युद्ध की परिस्थिति आसानी से निर्मित हो सकती है।

गेस्टाइन का समझौता (14 अगस्त, 1865 ई.): श्लेसविग तथा हॉल्सटाइन पर आधिपत्य के बाद प्रशा और आस्ट्रिया में शीघ्र ही विवाद उत्पन्न हो गया। काफी तर्क-वितर्क और लंबी चर्चा के बाद गेस्टाइन नामक स्थान पर दोनों देशों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसके अनुसार आस्ट्रिया को हॉल्सटाइन और प्रशा को श्लेसविग का आधिपत्य प्राप्त हुआ। लावेनबुर्ग नामक डची को प्रशिया ने आस्ट्रिया से मूल्य देकर खरीद लिया। श्लेसविग तथा लावेनबुर्ग पर प्रशा का अधिकार हो जाने से प्रशा को कील (Kiel) का बंदरगाह भी प्राप्त हो गया। इससे प्रशा की सीमा तथा सैनिक शक्ति में वृद्धि हो गई।

***(i)* बिस्मार्क के कूटनीतिक दाँवपेंच:** डेनमार्क से युद्ध और गेस्टाइन समझौते के संबंध में इतिहासकार केटलबी का कथन है कि–"यह बिस्मार्क की एक महान् कूटनीतिक विजय थी। दोनों डचियों पर आस्ट्रिया और प्रशा का संयुक्त अधिकार स्थापित रहा लेकिन वास्तविक लाभ प्रशा को ही हुआ। हॉल्सटाइन आस्ट्रिया से बहुत दूर पड़ता था और यह संभव नहीं था कि आस्ट्रिया अधिक दिनों तक इस पर अपना प्रभुत्व कायम रख सके। श्लेसविग पर तो प्रशा का पूरा अधिकार था ही, हॉल्सटाइन में भी उसे अनेक लाभकारी अधिकार प्राप्त हुए।"

गेस्टाइन समझौता आस्ट्रिया और प्रशा के मध्य विवाद का एक कारण बने, यह बिस्मार्क की कूटनीति चाल थी। अपने इस उद्देश्य में वह पूर्णत: सफल सिद्ध हुआ, किन्तु आस्ट्रिया से युद्ध शुरू करने से पूर्व वह अपनी कूटनीतिक तैयारी कर लेना चाहता था। वस्तुत: बिस्मार्क ने जानबूझकर हॉल्सटाइन की डची आस्ट्रिया को दी थी। यह क्षेत्र चारों ओर से प्रशा के राज्य से घिरा हुआ था और यहाँ पहुँचने का मार्ग भी प्रशा के क्षेत्र से ही गुजरता था। इसके अतिरिक्त हॉल्सटाइन के अधिकांश निवासी जर्मनी-भाषी लोग थे जो प्रशा का समर्थन करने के लिए तैयार हो सकते थे। साथ ही हॉल्सटाइन प्रशा के आर्थिक संघ में भी सम्मिलित हो गया। इस कारण बिस्मार्क अब सरलता से वहाँ के लोगों को आस्ट्रिया के विरुद्ध भड़का सकता था। संक्षेप में, बिस्मार्क की कूटनीति ने ऐसी स्थिति निर्मित कर दी थी कि आस्ट्रिया से संघर्ष के कारण आसानी से उत्पन्न हो सकते थे। अब उसे प्रशा के राजा और मंत्रिमंडल को ही आस्ट्रिया से संघर्ष के लिए तैयार करना था जो इस समय आस्ट्रिया से युद्ध करने के पक्ष में नहीं थे।

***(ii)* आस्ट्रिया और प्रशा का युद्ध (1866 ई.)–दूसरा चरण:** बिस्मार्क वस्तुत: आस्ट्रिया से युद्ध छेड़ने की जल्दबाजी में नहीं था। युद्ध करने से पूर्व वह कूटनीतिक तैयारी कर लेना चाहता था। उसकी योजना यह थी कि युद्ध के समय आस्ट्रिया बिल्कुल अकेला रह जाए और अन्य यूरोपीय देश उसकी सहायता न करें। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु बिस्मार्क ने रूस के जार से इस बात का वचन ले लिया कि वह प्रशा-आस्ट्रिया के युद्ध में तटस्थ रहेगा। यह स्मरणीय है कि जार के विरुद्ध पोलैंड में विद्रोह के समय बिस्मार्क ने जार का समर्थन करके उसे प्रसन्न कर लिया था। अब बिस्मार्क ने फ्रांस के सम्राट नेपोलियन तृतीय से सन् 1865 में भेंट कर उसे बेल्जियम के कुछ भाग देने का लालच देकर उससे आस्ट्रिया-प्रशा के युद्ध में तटस्थ रहने का वचन ले लिया था। आंतरिक रूप से नेपोलियन भी चाहता था कि आस्ट्रिया और प्रशा युद्ध करके अपनी-अपनी शक्ति का क्षय कर लें जिससे कि वह अपना प्रभुत्व राइन नदी के क्षेत्र तक बढ़ा ले। अब बिस्मार्क ने इटली का सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से, नेपोलियन की सहायता से इटली से अप्रैल 1866 ई. में संधि की। इसके अनुसार प्रशिया-आस्ट्रिया युद्ध में इटली ने सहायता का वचन दिया।

नोट

यहाँ यह स्मरण रखा जाना चाहिए कि इटली के एकीकरण के मार्ग में भी आस्ट्रिया ही मुख्य बाधा था। इस सहयोग के लिए इटली को वेनेशिया पर अधिकार करने का बिस्मार्क ने वचन दिया। इस प्रकार बिस्मार्क ने आस्ट्रिया के विरुद्ध पूरी राजनीतिक और सैनिक तैयारी और नाकेबंदी कर ली। इटली से संधि में यह भी निश्चय किया गया कि प्रशा का आस्ट्रिया से युद्ध होने पर इटली वेनिशया पर आक्रमण कर देगा और प्रशिया आस्ट्रिया से उस समय तक संधि नहीं करेगा जब तक आस्ट्रिया, वेनिशिया त्यागने की बात मान न ले।

युद्ध की तैयारी: यूरोप के प्रमुख राज्यों का समर्थन प्राप्त करके और अपनी कूटनीतिक स्थिति को सुदृढ़ करने के बाद अब बिस्मार्क को केवल अपने सम्राट विलियम प्रथम को आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध के लिए तैयार करना था। सम्राट इस प्रकार के युद्ध के विरुद्ध था, किन्तु बिस्मार्क ने उसे युद्ध के लिए राजी कर लिया। अब वह युद्ध छेड़ने के अवसर की प्रतीक्षा में था। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया पर आरोप लगाया कि उसने श्लेसविग तथा हॉल्सटाइन के प्रश्न को फ्रेंकफर्ट की संसद में प्रस्तुत करके गेस्टाइन के समझौते का उल्लंघन किया है। उधर हॉल्सटाइन में भी आस्ट्रिया के विरुद्ध लोगों में असंतोष था। 1866 ई. के आरंभ में वियना की सरकार के विरुद्ध बिस्मार्क ने एक आरोप-पत्र भेजा और आक्रमण के लिए अपनी सैनिक तैयारी पूर्ण कर ली।

युद्ध और प्राग की संधि: बिस्मार्क ने 14 जून, 1866 ई. को आस्ट्रिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और हॉल्सटाइन पर अधिकार करने के लिए अपने सैनिक भेज दिए। तीन दिनों के युद्ध में ही प्रशा की सेनाओं ने हनोवर, ड्रेस्डन, केसेल और सेक्सनी पर अपना अधिकार करने में सफलता प्राप्त कर ली। 3 जुलाई, 1866 ई. को प्रशा और आस्ट्रिया की सेनाओं में सेडोवा के मैदान में निर्णायक युद्ध हुआ जिसमें आस्ट्रिया बुरी तरह परास्त हुआ। इस युद्ध में किसी भी यूरोपीय देश ने आस्ट्रिया का साथ नहीं दिया। उधर पीडमांट (इटली) की सेनाओं ने वेनेशिया पर आक्रमण कर दिया। इससे आस्ट्रिया की सेना को दो अलग-अलग मोर्चों पर उलझे रहना पड़ा। सात सप्ताह में यह युद्ध समाप्त हो गया इसलिए इतिहास में यह सात सप्ताह के युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। यह एक अत्यधिक निर्णायक युद्ध था और इसके परिणाम सबसे अधिक चमत्कारपूर्ण थे।

बिस्मार्क की कूटनीतिक दूरदर्शिता: सेडोवा में आस्ट्रिया की पूर्ण पराजय के पश्चात् जब प्रशा की सेनाएँ आस्ट्रिया की राजधानी वियना की ओर बढ़ने लगीं तो बिस्मार्क ने अकस्मात युद्ध बंद कर दिया। यह बिस्मार्क की कूटनीतिक दूरदर्शिता थी क्योंकि उसका उद्देश्य केवल आस्ट्रिया से जर्मन राज्यों को छीनना था। आस्ट्रिया को अपमानित करके यूरोपीय राज्यों की सद्भावना वह खोना नहीं चाहता था। वह जानता था कि यदि वियना का आक्रमण कर दिया तो संभव है यूरोप के अन्य देश आस्ट्रिया की सहायता हेतु हस्तक्षेप करेंगे। अपनी भावी योजना (अर्थात् फ्रांस के विरुद्ध संघर्ष) में भी वह आस्ट्रिया के प्रति उदार व्यवहार कर, उसकी मैत्री प्राप्त करना आवश्यक समझता था, जिससे कि वह अपनी पराजयजनित घृणा को भूलकर प्रशा का मित्र बन सके। इस प्रकार बिस्मार्क ने सेडोवा में आस्ट्रिया की पराजय के बाद उससे उदार व्यवहार करने की दूरदर्शिता का परिचय दिया।

प्राग की संधि (23 अगस्त, 1866 ई.): युद्ध के बाद प्रशा और आस्ट्रिया में प्राग की संधि हुई। इसकी धाराएँ अधोलिखित थीं–

(*i*) श्लेसविग तथा हॉल्सटाइन पर प्रशा का अधिकार हो गया।

(*ii*) वेनेशिया प्रदेश संयुक्त इटली को प्राप्त हो गया।

(*iii*) वियना संधि (1864 ई.) द्वारा निर्मित जर्मनी संघ समाप्त कर दिया गया। इसके स्थान पर मेन नदी के उत्तर के समस्त राज्य प्रशा के नेतृत्व में एकीकृत किए गये और उनका एक संघ बनाया गया जिसे **उत्तरी जर्मन संघ** (North German Confederation) कहा गया। प्रशिया इस संघ का अध्यक्ष बना और आस्ट्रिया को इससे बाहर रखा गया।

(*iv*) दक्षिण के जर्मन राज्य को अपना स्वतंत्र संघ बनाने की छूट दी गई।

नोट

प्रशा के प्रभुत्व का विस्तार–बिस्मार्क यूरोप का सर्वाधिक सफल कूटनीतिज्ञः आस्ट्रिया-प्रशा युद्ध के परिणाम का महत्त्व मुख्य रूप से, इस बात में है कि प्रशा, जो पहले मध्य यूरोप का एक छोटा-सा महत्त्वहीन राज्य था, अब एक बड़े संघ-राज्य के रूप में उत्तरी जर्मनी संघ बनकर अस्तित्व में आया। अब प्रशा का सम्राट इस नवीन संघ का अध्यक्ष बन गया। इस जर्मन संघ में 22 राज्य सम्मिलित थे जिसका स्वरूप और संविधान संघीय (Federal) स्वरूप का था। इन राज्यों के संघ की द्वि-सदनीय व्यवस्था थी। इस जर्मन संघ के अध्यक्ष के रूप में प्रशा के सम्राट को विदेश नीति, युद्ध एवं संधि समझौते करने का अधिकार था। बिस्मार्क इस संघ का चांसलर (प्रधानमंत्री) नियुक्त हुआ। वह इस पद को 1890 ई. तक सुशोभित करता रहा। इस प्रकार सम्पूर्ण उत्तरी जर्मनी में प्रशा का विस्तार और प्रभुत्व स्थापित हो गया। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के कारण बिस्मार्क की गणना प्रसिद्ध सफल कूटनीतिज्ञ तथा यूरोप के सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्तियों में होने लगी। जर्मनी के एकीकरण के इस द्वितीय चरण में बिस्मार्क के उद्देश्य के लगभग तीन-चौथाई उद्देश्य की पूर्ति हो चुकी थी। अब दक्षिणी जर्मनी के कुछ राज्यों को जर्मन साम्राज्य में सम्मिलित करने का कार्य शेष था जिसके लिए प्रशा और फ्रांस के मध्य युद्ध होना अनिवार्य था क्योंकि इन राज्यों पर फ्रांस का प्रभुत्व स्थापित था। कुछ ऐसे भी छोटे राज्य थे जिन पर फ्रांस अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। फ्रांस से युद्ध करना जर्मनी के एकीकरण की एक आवश्यकता थी, किन्तु फ्रांस जैसे शक्तिशाली देश से युद्ध करने से पूर्व उसे अकेला (मित्रहीन) करना आवश्यक था।

प्रशा-फ्रांस युद्ध के कारण और घटनाएँः कटुता और मनमुटाव के वातावरण में युद्ध के कारण आसानी से पैदा होते हैं। बिस्मार्क जैसे कुशल कूटनीतिज्ञ के लिए तो युद्ध के कारण उत्पन्न करना और भी अधिक आसान था। इन कारणों का संक्षिप्त विश्लेषण निम्नानुसार है–

***(i)* आस्ट्रो-प्रशियन युद्ध के बाद नेपोलियन की चिंताः** प्रशा द्वारा आस्ट्रिया की सेडोवा में पराजय फ्रांस के लिए एक अप्रत्याशित घटना थी। फ्रांस की सीमा पर स्थित प्रशा के शक्तिशाली होने से फ्रांस का सम्राट नेपोलियन बेहद चिंतित था। फ्रांस में यह कहा जाने लगा कि सेडोवा में वस्तुतः आस्ट्रिया की नहीं, फ्रांस की पराजय हुई है। फ्रांस के एक समकालीन राजनीतिज्ञ **दीयर्स** ने इस संबंध में कहा था–"सेडोवा में जो कुछ हुआ है, वह फ्रांस के लिए अत्यन्त ही चिंताजनक है। पिछली चार शताब्दियों में फ्रांस के लिए इतनी घोर विपत्ति की कोई घटना नहीं हुई थी।" फ्रांस के सम्राट ने इस घटना को अपनी कूटनीतिक पराजय के रूप में अनुभव किया। दूसरी ओर 1864 ई. के बाद नेपोलियन की विदेश नीति और गृह नीति भी असफल समझी जा रही थी। मेक्सिको में गणतंत्र राज्य को समाप्त कर वहाँ फ्रांसीसी राज्य स्थापित करने का उसका अभियान असफल हो चुका था। 1866 ई. तक अपनी असफल गृहनीति के कारण भी नेपोलियन फ्रांस में अलोकप्रिय हो रहा था। ऐसी अपकीर्ति के कारण नेपोलियन अब प्रशा से युद्ध करके फ्रांसीसी जनता में अपनी खोई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करना चाहता था।

***(ii)* जर्मनी के दक्षिणी राज्यों को फ्रांस के विरुद्ध भड़काने में बिस्मार्क की सफल कूटनीतिः** सन् 1866 ई. में आस्ट्रो-प्रशियन युद्ध में नेपोलियन तृतीय तटस्थ रहा था। उसने अपनी इस तटस्थता के पुरस्कारस्वरूप बिस्मार्क से दक्षिणी जर्मनी में स्थित मेज, बेबेरिया, पोलटिनेट और लक्समबर्ग के देशों की माँग की। बिस्मार्क ने नेपोलियन की माँगों को समाचारपत्रों में प्रकाशित करवा दिया। इससे दक्षिण जर्मन राज्य नेपोलियन तृतीय से कुपित हो गए और वे अपने संरक्षण के लिए बिस्मार्क की ओर झुके।

***(iii)* स्पेन राज्य के उत्तराधिकार की समस्या– युद्ध का तात्कालिक कारणः** स्पेन फ्रांस के पश्चिम में निकटवर्ती पड़ोसी देश है। सन् 1868 ई. में स्पेन की जनता ने विद्रोह करके वहाँ की स्वेच्छाचारी साम्राज्ञी **ईसाबेला** को पदच्युत कर दिया। स्पेन की गद्दी पर उत्तराधिकार को लेकर फ्रांस और प्रशा में जो गहरे मतभेद उत्पन्न हुए, उन्हीं के कारण प्रशा और फ्रांस में 1870 ई. में युद्ध आरंभ हुआ। प्रशा का सम्राट विलियम प्रथम और बिस्मार्क स्पेन के सिंहासन पर **होहेन्जोलर्न राजवंश** के शासक, विलयम प्रथम के संबंधी, लियोपाल्ड को आसीन करना चाहते थे। फ्रांस के सम्राट नेपोलियन ने इसका कठोरतापूर्वक विरोध किया क्योंकि लियोपाल्ड के शासक बन जाने से फ्रांस

नोट

चारों ओर से शत्रुओं के घेरे में फँस जाता। नेपोलियन को डर था कि प्रशा की स्पेन संबंधी योजना सफल हो जाने पर प्रशा का प्रभुत्व बढ़ेगा और वह यूरोप की सबसे बड़ी शक्ति बन जाएगा। फ्रांस की तीखी प्रतिक्रिया और नेपोलियन तृतीय के घोर विरोध से प्रशिया का शासक भी दब गया और लियोपाल्ड ने भी अपना नाम वापस ले लिया।

नेपोलियन इतने से ही संतुष्ट नहीं हुआ। वह प्रशा के सम्राट से यह लिखित आश्वासन ले लेना चाहता था कि होहेन्जोलर्न राजवंश के किसी भी व्यक्ति को स्पेन के सिंहासन पर नहीं बिठाया जाएगा। इसे प्राप्त करने के लिए उसने बर्लिन स्थित फ्रांसीसी राजदूत **बैनडेडी** को आदेश दिया कि वह प्रशा के राजा से इस बात की माँग करे कि वह भविष्य में कभी लियोपाल्ड या होहेन्जोलर्न वंश के किसी व्यक्ति को स्पेन के उत्तराधिकार के लिए उम्मीदवार बनने की अनुमति नहीं देगा। प्रशा के सम्राट से फ्रांसीसी राजदूत ने उस समय भेंट की जब विलियम प्रथम विश्राम हेतु एम्स नामक स्थान पर ठहरा हुआ था। फ्रांस के राजदूत से शांतिपूर्ण चर्चा के बाद विलियम प्रथम ने इस बात का आश्वासन दे दिया कि लियोपाल्ड कभी-भी स्पेन के सिंहासन पर नहीं बैठेगा।

युद्ध की घटनाएँ: फ्रेंको-प्रशा युद्ध (1870 ई.) में फ्रांस के सम्राट नेपोलियन तृतीय को इस बात से घोर निराशा हुई कि यूरोप के किसी भी देश ने फ्रांस को सहयोग या समर्थन नहीं दिया। बिस्मार्क ने फ्रांस को मित्रहीन करने में अपनी कूटनीतिक सफलता युद्ध से पहले ही प्राप्त कर ली थी। नेपोलियन ने प्रशा की दृढ़ एवं अनुशासनबद्ध शक्तिशाली सेना का न तो कोई सही मूल्यांकन किया था और न ही युद्ध की कोई विशेष तैयारी की थी। इसके फलस्वरूप एक सितम्बर, 1870 को सेडान के मैदान में प्रशा के द्वारा फ्रांस अंतिम रूप से पराजित कर दिया गया। सम्राट नेपोलियन को अपने 83,000 सैनिकों सहित प्रशा के सम्मुख आत्मसमर्पण करना पड़ा। वह कैद कर लिया गया।

***(viii)* फ्रांस में गणतंत्र तथा जर्मन साम्राज्य की स्थापना:** नेपोलियन द्वारा आत्मसमर्पण करने के साथ ही पेरिस और फ्रांस के अन्य स्थानों में क्रान्ति हो गई। पराजय की सूचना प्राप्त होने पर 4 सितम्बर, 1870 को फ्रांस में तृतीय गणतंत्र की स्थापना होने की घोषणा कर दी गई, परन्तु फ्रांस की नई गणतंत्र सरकार ने प्रशा से युद्ध जारी रखने का निर्णय किया। प्रशा की शक्तिशाली सेना ने फ्रांस के भीतरी भागों तक पहुँचकर अनेक दुर्गों पर अधिकार कर लिया। प्रशा द्वारा की गई घेराबंदी इतनी कठोर सिद्ध हुई कि अन्ततः फ्रांस की गणतंत्रीय सरकार ने 28 जनवरी, 1871 को पेरिस में आत्मसमर्पण कर दिया।

टास्क फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति कब हुई थी?

वर्साय के राजमहल में जर्मन साम्राज्य की घोषणा: बिस्मार्क का इरादा फ्रांस पर विजय प्राप्त करने के साथ ही फ्रांस को नीचा दिखाना और प्रशा को यूरोप में शक्तिशाली सिद्ध करने का भी था। इस उद्देश्य से उसने 18 जनवरी, 1871 को पेरिस के निकट वर्साय के प्रसिद्ध शीश सभागृह (Hall of Mirrors) में एक शानदार सम्मेलन आयोजित किया, जिसमें समस्त जर्मन राज्यों के शासक तथा राज्याधिकारी खूब शान से उपस्थित हुए। इसी सम्मेलन में बिस्मार्क ने जर्मन साम्राज्य के स्थापित होने की घोषणा की और प्रशिया के सम्राट विलियम प्रथम को प्रथम जर्मन सम्राट घोषित किया गया। **जर्मन-एकीकरण के दीर्घकाल नाटक का यह अंतिम दृश्य** था।

फ्रेंकफर्ट की संधि: 26 फरवरी, 1871 के युद्ध विराम की शांति संधि के आधार पर फ्रांस और प्रशा ने 10 मई, 1871 को **फ्रेंकफर्ट** की संधि पर हस्ताक्षर किए। इसकी मुख्य धाराएँ अधोलिखित थीं–

(*i*) बेलफर्ट को छोड़कर **अल्सास** और **लारेन** के प्रदेश फ्रांस ने जर्मनी को दे दिए। मेट्स तथा स्टेसवर्ग के दुर्ग भी प्रशा को प्राप्त हुए।

नोट

(*ii*) फ्रांस बीस करोड़ पौंड (5 खरब फ्रेंक) क्षतिपूर्ति के रूप में जर्मनी को देगा।

(*iii*) क्षतिपूर्ति होने तक जर्मन सेना फ्रांस में, फ्रांस के खर्च पर बनी रहेगी।

फ्रेंको-प्रशा युद्ध के पश्चात् दक्षिणी जर्मनी के शेष चारों राज्य-बेवेरिया, बुटम्बर्ग, बेडन तथा हेस्स भी जर्मन राज्य में सम्मिलित कर लिए गए। इस प्रकार जर्मनी के राष्ट्रीय एकीकरण का कार्य पूर्ण हुआ।

जर्मन-एकीकरण में बिस्मार्क की भूमिका का महत्त्व नये युग का सूत्रपात– बिस्मार्क, जो प्रशा राज्य का चांसलर था, ने जर्मन राज्यों के राष्ट्रीय एकीकरण में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। वह अपने युग का एक अद्वितीय कूटनीतिज्ञ और अद्‌भुत सूझबूझ का राजनीतिज्ञ था। उसने अपने कूटनीतिक चातुर्य से प्रशा के एक छोटे-से राज्य को सम्पूर्ण जर्मनी का स्वामी बना दिया। वह एकीकृत जर्मन साम्राज्य का प्रणेता था। जर्मन एकीकरण के मार्ग में यूरोप के दो शक्तिशाली राज्य, आस्ट्रिया और फ्रांस, बाधक थे। उसने इन दोनों प्रतिष्ठित राज्यों को अपनी कूटनीतिक कुशलता से अकेला कर दिया और एक के बाद दूसरे को युद्धों में पराजित कर दिया। एकीकरण के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसका विश्वास शांति-समझौते या संधियों में नहीं था। वह अपनी रक्त और लौह की नीति (The Policy of Blood and Iron) में विश्वास करता था। इसी नीति के अनुरूप बिस्मार्क ने प्रशा की सेना का सुदृढ़ीकरण किया और आस्ट्रिया तथा फ्रांस को क्रमशः सेडोवा तथा सेडान में पराजित करके जर्मन एकीकरण के अपने उद्देश्य को पूरा किया। उसने इस बात का विशेष ध्यान रखा कि जर्मनी के एकीकरण के दौरान कहीं प्रशा का अस्तित्व जर्मन राष्ट्र में विलीन न हो जाए। उसने प्रशा के राजा विलियम प्रथम को ही प्रथम जर्मन सम्राट के रूप में मान्यता दिलाई और स्वयं जर्मन साम्राज्य का चांसलर बना। बिस्मार्क के जर्मन एकीकरण के कार्य ने परोक्ष रूप में इटली के एकीकरण के कार्य को भी पूरा कर दिया। 1870 ई. में जब फ्रांस-प्रशा युद्ध हुआ तो नेपोलियन को रोम पर से अपनी सेना हटानी पड़ी। इसका लाभ उठाकर पीडमान्ट-सार्डिनिया के शासक विक्टर इमेन्युअल ने रोम पर अपना अधिकार प्राप्त कर लिया।

20.4 सारांश (Summary)

निःसंदेह बिस्मार्क अपने समय का अत्यन्त कुशल राजनीतिज्ञ और महान कूटनीतिज्ञ था। यूरोप के अपने समकालीन राजनीतिज्ञों में वह सर्वाधिक श्रेष्ठ था। उसका कार्य इटली के कावूर से अधिक कठिन था, क्योंकि कावूर को इटली की जनता का समर्थन प्राप्त था उतना बिस्मार्क को जर्मन जनता का नहीं था। प्रशा जैसे एक अपेक्षाकृत कम शक्तिशाली राज्य द्वारा डेनमार्क, आस्ट्रिया और फ्रांस जैसे महारथियों की पराजय एक आश्चर्यजनक तथ्य है।

बिस्मार्क द्वारा फ्रांस की पराजय और तत्पश्चात् फ्रेंकफर्ट की संधि के परिणाम दूरगामी सिद्ध हुए। फ्रांस बुरी तरह अपमानित और आहत हुआ था। अल्सास और लारेन के प्रदेशों पर प्रशियन अधिकार फ्रांस का घोर अपमान था जिसे वह कभी भूल नहीं सका। फ्रांस और जर्मनी की यही शत्रुता अन्ततः प्रथम विश्वयुद्ध का कारण बनी। बिस्मार्क के जर्मन एकीकरण के घटनाक्रम में ही फ्रांस में राजतंत्र के स्थान पर गणतंत्र की स्थापना हुई थी। **हेजन** के मतानुसार, "1871 ई. के पश्चात्, फ्रेंकफर्ट की संधि यूरोप का रिसने वाला फोड़ा बन गया।" यूरोपीय देश अपनी बनाई हुई व्यवस्था को भग्न होते देखते रहे, परन्तु कोई बिस्मार्क को रोक न सका। बिस्मार्क ने यूरोप के युग को पलट दिया। "दार्शनिकों और वैज्ञानिकों का जर्मनी तो पीछे रह गया लेकिन रक्त और लौह की नीति का अनुसरण करते हुए शक्तिशाली फौजों वाला जर्मनी यूरोप के महाद्वीप पर हावी होने लगा।"

20.5 शब्दकोश (Keywords)

1. संघ (Confederation)–महासंगठन
2. सभागृह (Hall)–हॉल

नोट

20.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. इटली के एकीकरण से क्या अभिप्राय है? स्पष्ट कीजिए।
2. इटली के एकीकरण के मार्ग में आई बाधाओं का वर्णन कीजिए।
3. कावूर के आर्थिक और सैनिक सुधारों का वर्णन कीजिए।
4. 'जर्मनी का एकीकरण' पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. सामंतवादी व्यवस्था
2. 1871 ई.
3. 1830 ई.
4. (क) इटली
5. (ग) 1846 ई.
6. (घ) 23 मार्च, 1849

20.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
2. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
4. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
5. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
6. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
7. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*

नोट

इकाई 21: बीसवीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्वी (International Rivalries of Twentieth Century)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

21.1 फ्रांस और उसके साथी (France and Her Allies)

21.2 पराजित जर्मनी (Germany in Defeat)

21.3 सारांश (Summary)

21.4 शब्दकोश (Keywords)

21.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

21.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- यूरोपीय घटनाचक्र को जानने में।
- गारण्टी-व्यवस्था को जानने में।
- जर्मनी की पराजय को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

राष्ट्र-संघ जिस समय वास्तव में अस्तित्व में आया, उस समय फ्रांसीसियों का प्रसंविदा की प्रभावकारिता के संबंध में संशय बढ़ गया था। दिसम्बर 1920 में, जेनेवा में जब राष्ट्रसंघ-सभा (Assembly) की प्रथम बैठक हुई, तब अनुच्छेद 10 और 16 की ही सबसे पहले आलोचना हुई। कनाडा अनुच्छेद 10 को बिल्कुल ही निकलवा देना चाहता था। इसी प्रकार स्केंडिनेविया के प्रतिनिधिमंडल की यह इच्छा थी कि अनुच्छेद 16 के अधीन आर्थिक अनुशास्तियों के अपने आप ही लागू होने के संबंध में कुछ अपवाद भी रखे जाएँ। इन दोनों ही प्रस्तावों के कारण लंबा विचार-विनिमय हुआ।

21.1 फ्रांस और उसके साथी (France and Her Allies)

1919 के बाद के वर्षों में यूरोपीय घटनाचक्र का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं स्थायी तथ्य फ्रांस द्वारा सुरक्षा की माँग था। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में फ्रांस ठीक ही अपने आपको यूरोप की सबसे शक्तिशाली सैनिक शक्ति मानता

नोट

रहा; यह परंपरा नेपोलियन-युद्धों के बाद तक चलती आई थी जबकि यूरोप के अन्य राज्य आपस में गठबंधन करके ही उसे हरा सके थे। 1870 में, फ्रांस व प्रशा (Prussia) के मध्य युद्ध ने उसकी शक्ति का भ्रम एकाएक दूर कर दिया। उस समय मध्य-यूरोप में एक ऐसे नये राज्य का उदय हो चुका था जिसके लोगों में राष्ट्रीय भावना फ्रांसीसियों के समान ही दृढ़ और ऐक्यपूर्ण थी तथा जिसके प्राकृतिक संसाधन फ्रांस के संसाधनों की तुलना में बहुत अधिक थे। अपनी खनिज सम्पत्ति के कारण जर्मनी को औद्योगिक विकास का अवसर तो मिला ही, किन्तु उसके साथ ही साथ उसमें युद्ध-साम्रगी के उत्पादन की वह क्षमता भी आ गई जिसकी समता करने की फ्रांस आशा भी नहीं कर सकता था। फ्रांस की जनसंख्या लगभग चार करोड़ से भी कम पर स्थिर हो गई थी। जर्मनी की आबादी हर दशक में 50 लाख के हिसाब से बढ़ रही थी और 1905 तक वह छः करोड़ से भी अधिक हो चुकी थी। इसके अतिरिक्त जर्मन लोगों में सैन्य-संगठन की अपूर्व क्षमता भी थी। फ्रांस की अपेक्षा जर्मनी का सैन्य-संगठन न केवल अधिक सुसज्जित था, उसके सैनिक भी श्रेष्ठ थे और उसका संचालन भी अधिक अच्छे ढंग से होता था। 1914 में यदि ब्रिटेन तुरन्त ही हस्तक्षेप नहीं करता तो फ्रांस छः सप्ताह में ही पुनः पराजित हो जाता और फ्रांसीसी इस बात को भलीभांति जानते भी थे। यद्यपि यह हस्तक्षेप नाममात्र का ही था। 1918 की विजय की प्रसन्नता अल्पकालिक ही सिद्ध हुई; विजयोल्लास के साथ ही साथ गंभीर चिन्ता भी शीघ्र ही परिलक्षित होने लगी।

इस प्रश्न पर फ्रांस का प्रथम उत्तर स्पष्ट और आग्रहपूर्ण था। उसकी यह माँग थी कि उसे "भौगोलिक गारण्टी" दी जाए अर्थात् राइन नदी और उसके पुल, जिन्हें पूर्व की ओर से फ्रांस पर आक्रमण करने के हेतु आक्रामक के लिए पार करना आवश्यक था, स्थायी रूप से उसके अधिकार में रहें। फरवरी 1919 में हुए शान्ति-सम्मेलन में फ्रांस द्वारा प्रस्तुत एक ज्ञापन (memornadum) में कहा गया था, "खतरे का स्रोत है, राइन के बायें किनारे और उसके पुलों पर जर्मनी का अधिकार...पश्चिमी और समुद्र-पार के प्रजातंत्रों की अपनी सुरक्षा के लिए, वर्तमान परिस्थितियों में यह नितान्त आवश्यक है कि वे स्वयं राइन नदी के पुलों की रक्षा करें।" किन्तु फ्रांस को बिल्कुल निराश होना पड़ा। मित्र-राष्ट्रों ने फ्रांस को राइन सीमान्त की सुरक्षा देना इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि इस प्रकार की व्यवस्था करने से राइन के बायें किनारे पर रहने वाले 50 लाख से भी अधिक जर्मन निवासियों को जर्मनी से पृथक् करना पड़ता। काफी सिर पटक लेने के बाद फ्रांस को अपनी माँग छोड़ देनी पड़ी और उसकी इस माँग के बदले में–

1. वर्साई की सन्धि में इस आशय की धाराएँ जोड़ी गई कि राइन का बायाँ किनारा पन्द्रह वर्षों तक मित्र-राष्ट्रों की सेना के अधिकार में रहेगा और उसका स्थायी रूप से असैन्यीकरण (demilitarisation) कर दिया जाएगा (अर्थात् राइन के पश्चिम में किले बनाना या सेना रखना निषिद्ध कर दिया गया); तथा

2. वर्साई की सन्धि के साथ ही साथ ब्रिटिश साम्राज्य और यूनाइटेड स्टेट्स ने फ्रांस से सन्धियाँ कीं जिनके अनुसार फ्रांस को यह वचन दिया गया कि, "यदि जर्मनी ने अकारण ही फ्रांस पर आक्रमण करने-संबंधी कोई गतिविधि की" तो वे तुरन्त ही फ्रांस की सहायता करेंगे।

इस प्रकार "भौगोलिक गारण्टी" की आशा छोड़ने के लिए बाध्य कर दिए जाने के बाद फ्रांस अगले चार वर्ष में जर्मनी की तुलना में अपनी प्राकृतिक हीनता का निवारण करने वाली व्यवस्था करने और जर्मन प्रतिशोध के भय को दूर करने की उधेड़बुन में ही लगा रहा। उसने दो पृथक् किन्तु समानान्तर मार्ग अपनाये: उनमें से एक था सन्धियों द्वारा गारण्टी प्राप्त करना और दूसरा संश्रय (alliances) का था।

नोट्स 1905 में जर्मनी की आबादी छह करोड़ से अधिक हो गई थी।

नोट

गारण्टी-व्यवस्था (The System of Guarantees)

1920 के प्रारंभ के लगभग जब यह बात स्पष्ट हो गई कि अकारण आक्रमण के विरुद्ध ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका ने फ्रांस को जो गारण्टी दी है वह कभी भी पूरी नहीं की जाएगी, तब राष्ट्र-संघ की प्रसंविदा में निहित संरक्षण के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार का संधिजनित संरक्षण फ्रांस को जर्मनी के विरुद्ध प्राप्त नहीं था। फ्रांस ने आरंभ से ही यह विश्वास कर लिया था कि यह संरक्षण अपर्याप्त है। यह तो सत्य था कि प्रसंविदा के दसवें अनुच्छेद के अनुसार राष्ट्र-संघ के सदस्य इस बात के लिए वचनबद्ध थे कि वे "राष्ट्र-संघ के सभी सदस्य-राष्ट्रों की वर्तमान राजनीतिक और प्रादेशिक अखण्डता (territorial integrity) को मानेंगे और उसकी बाह्य आक्रमण से रक्षा करेंगे।" साथ ही अनुच्छेद 16 और 17 में यह व्यवस्था भी की गई थी कि अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करते हुए यदि कोई राज्य युद्ध का आश्रय लेगा तो उसके विरुद्ध अनुशास्ति (sanctions) या दण्ड (penalties) की कार्रवाई की जाएगी। किन्तु दसवें अनुच्छेद को ब्रिटेन ने (जिसका सबसे अधिक महत्त्व था) अनिच्छापूर्वक ही स्वीकार किया था; और फ्रांस के एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना संगठित करने के, प्रस्ताव को जिसके द्वारा अनुशास्ति को प्रभावकारी बनाया जा सकता था, ग्रेट ब्रिटेन और यूनाइटेड स्टेट्स ने कड़ा विरोध कर अस्वीकृत कर दिया था। अनुच्छेद 16 के अनुसार आक्रमणकर्ता से अपने वित्तीय और आर्थिक संबंध विच्छेद कर लेना राष्ट्र-संघ के सदस्यों का कर्तव्य था।

अगले वर्ष (1921 में) राष्ट्रसंघ-सभा ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया जिसमें और बातों के साथ यह व्यवस्था की गई थी कि आवश्यकता पड़ने पर परिषद् "यह सिफारिश करेगी कि अनुच्छेद 16 के अधीन आर्थिक अनुशास्तियाँ किस तारीख से लागू की जाएँ।" इस प्रस्ताव का परिणाम यह हुआ कि परिषद् को आर्थिक अनुशास्तियों पर अमल स्थगित करने, और उसमें परिवर्तन करने की स्वतंत्रता मिल गई। 1923 में इस आशय का एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया गया था कि अनुच्छेद 10 के अधीन कर्तव्यों का पालन कराने के लिए कौन से कदम उठाना आवश्यक है, इस बात का निश्चय "हर सदस्य (राष्ट्र) के संवैधानिक अधिकारियों (constitutional authorities) द्वारा ही किया जाना चाहिए।" इस प्रस्ताव के अनुसार सैनिक सहायता-संबंधी सारे मामलों का निबटारा संबंधित सरकारों के विवेक (discretion) के अनुसार ही होता, किन्तु एक छोटे से राज्य के विपरीत मत (adverse vote) के कारण यह प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हो सका। यद्यपि अनुच्छेद 10 और 16 में कोई औपचारिक संशोधन नहीं हुए तथापि इन चर्चाओं से यह स्पष्ट हो चुका था कि संकटकाल में इन अनुच्छेदों का वास्तविक प्रवर्त्तन प्रसंविदा की वास्तविक मंशा के काफी पीछे ही रहेगा। स्पष्टतया राष्ट्र-संघ (जेनेवा) की समस्त कार्यप्रणाली तत्काल वह सैनिक कार्यवाही भी सम्भवत: नहीं कर सकेगी जिसके द्वारा ही फ्रांस के प्रति आक्रमण से रक्षा की जा सकती थी।

ऐसी स्थिति में, यदि फ्रांस ग्रेट ब्रिटेन से यह आग्रह करता रहा कि वह जर्मन आक्रमण से उसकी रक्षा के लिए अतिरिक्त गारण्टी दे तो इससे आश्चर्य की कोई बात नहीं थी। किन्तु इन प्रयत्नों के परिणाम विरोधाभासी हुए। जनवरी 1922 में, ब्रिटिश सरकार ने अन्तत: हिम्मत की और 1919 की निष्फल संधि की शर्तों के ही लगभग समान शर्तों पर फ्रांस को गारण्टी देने के लिए वह तैयार हो गई। किन्तु उस समय फ्रांसीसी प्रधानमंत्री पुंकारे (Poincare) हठी और अदूरदर्शी था। वह 'सब कुछ या कुछ नहीं' की नीति में विश्वास रखता था। उसने यह माँग रखी कि इस गारण्टी के साथ ही साथ एक सैनिक समझौता भी किया जाए जिसमें यह बात सुस्पष्ट कर दी जाए कि ब्रिटिश सेना किस प्रकार की सहायता देगी और इसके साथ ही घोषणा की कि इस प्रकार के समझौते के बिना केवल गारण्टी-संधि फ्रांस के लिए व्यर्थ होगी। ब्रिटिश सरकार इस सीमा तक बचनबद्ध होने के लिए तैयार नहीं थी।

क्या आप जानते हैं जुलाई, 1920 में सोवियत सेना वारसा की ओर बढ़ रही थी।

संश्रय-व्यवस्था (The System of Alliances)

पुंकारे के इस मनमानीपूर्ण रुख का कारण कुछ अंशों में यह भी था कि फ्रांस की सुरक्षा-निर्माण के अपने दूसरे प्रयत्न-संश्रयों का निर्माण करने में इसी बीच सफलता मिल चुकी थी। आक्रमण से सुरक्षा की कोरी गारण्टियों पर

नोट

भरोसा करने की अपेक्षा सैनिक संश्रयों की नीति अपनाना फ्रांसीसी प्रकृति और परंपरा के अधिक अनुकूल था। इसी नीति के कारण अठारहवीं शताब्दी में फ्रांस की धाक सारे यूरोप में जम गई थी जबकि उसने ऑस्ट्रिया के छोटे-छोटे पड़ोसियों से गुटबंदी कर उसे चारों ओर से घेर लिया था। इस समय भी वह इसी नीति का अनुसरण कर जर्मनी को घेर लेना चाहता था। पश्चिम में, बेल्जियम के साथ सितम्बर 1920 में सैनिक संश्रय-व्यवस्था कर लेने से उसकी स्थिति सुरक्षित हो चुकी थी। अन्य दिशाओं में उसे यह कार्य नये सिरे से करना था। रूस अब एक सैनिक राष्ट्र नहीं रह गया था। किन्तु उसके स्थान में जर्मनी के पूर्वी सीमान्त पर पोलैण्ड के नये गणतंत्र का उदय हो चुका था। दक्षिण में, मित्र-राष्ट्रों की विजय के परिणामस्वरूप तीन नये या परिवर्धित राज्य—चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया और रूमानिया—अस्तित्व में आ चुके थे जो फ्रांस के स्वाभाविक मित्र और आश्रित थे। इन्हीं को लेकर युद्ध के बाद के तीन वर्षों में फ्रांस ने एक प्रभावशील और सुगठित संश्रय-व्यवस्था की।

पोलैण्ड

युद्ध-समाप्ति के बाद गठित पोलिश गणतंत्र कोई नया राज्य नहीं था, एक प्राचीन राज्य की पुनः अस्तित्व में आ गया था। दसवीं शताब्दी से लगाकर अठारहवीं शताब्दी तक पोलैण्ड एक विशाल और शक्तिशाली राजतंत्र था। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उसे रूस, प्रशा और ऑस्ट्रिया की संयुक्त शत्रुता का सामना करना पड़ा; और तीन विभाजनों के बाद, जिनमें उसके क्षेत्र का अधिकाधिक भाग उसके हाथ से निकलता गया, 1971 में उसकी स्वतंत्रता भी जाती रही। 1918 में रूसी, जर्मन और ऑस्ट्रिया साम्राज्यों का एक साथ ही ह्रास हो जाना पोलैण्ड के लिए सौभाग्य की एक ऐसी घड़ी थी, जिसने उसका पुनरुत्थान सुनिश्चित बना दिया। किन्तु आरंभ के कुछ वर्ष उसके लिए बड़ी कठिनाई के रहे। रूसी, जर्मन और ऑस्ट्रियन पोल (Pole) लोग जिन्हें संयुक्त कर अब एक राज्य का निर्माण किया गया था, सवा सौ वर्षों तक विभिन्न कानूनों और विभिन्न प्रशासनों के अधीन रह चुके थे, उन्होंने विभिन्न सेनाओं में काम किया था और एक-दूसरे के विरोधी पक्ष की ओर से युद्ध लड़े थे; और उनकी विभिन्न परम्पराएँ एवं विभिन्न निष्ठाएँ बन चुकी थीं। दृष्टिकोण की इन विभिन्नताओं को मिटाने के लिए सामान्य देश-प्रेम की स्वल्प भावना से ही काम नहीं चल सकता था।

नोट

दक्षिण-पश्चिम में ऑस्ट्रियन सिलेशिया (Silesia) का छोटा-सा जिला, जो एक महत्त्वपूर्ण कोयला-खदान क्षेत्र था और जिसमें चेक (Czech) और पोलिश (Polish) मिश्रित आबादी थी, पोलैण्ड और नवगठित चेकोस्लोवाकिया राज्य के बीच झगड़े की जड़ बन गया। 1919 के प्रारंभ में ही चेक और पोलिश सेनाओं में इस विवादग्रस्त क्षेत्र के लिए मुठभेड़ हो गई और ब्रिटिश तथा फ्रांसीसी अधिकारियों की मध्यस्थता के कारण ही घमासान युद्ध टल सका। अन्त में, यह निश्चय किया गया कि इस विवाद का निबटारा जनमत द्वारा किया जाए। किन्तु मतदान का समय समीप आते-आते इतनी उत्तेजना फैल गई कि इस योजना को भी त्याग देना पड़ा। अन्त में फ्रांस द्वारा बहुत अधिक दबाव डाले जाने पर, दोनों पक्षों ने समझौता कर लिया। इस समझौते के अनुसार चेकोस्लोवाकिया को कोयले की खदानें मिलीं ओर पोलैण्ड को टेशेन (Teschen) नामक प्रमुख नगर। (पोलैण्ड को इस शहर का रेलवे-स्टेशन नहीं मिला; वह चेकोस्लोवाकिया के अधिकार में ही रहा)। यह एक समझौता था जिसका मूल्य समझौते के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था, इसलिए दोनों ही पक्ष मानते रहे कि उन्हें बहुत अधिक हानि उठानी पड़ी है।

ऑस्ट्रियन पोलैण्ड में एक दूसरी ही समस्या उठ खड़ी हुई। उसे पूर्वी और पश्चिमी गेलेशिया (Galicia) नामक दो प्रांतों में विभाजित किया गया था। उनमें पश्चिमी गेलेशिया मे विशुद्ध पोलिश आबादी थी। पूर्वी गेलेशिया में जमींदार और अधिकांश बुद्धिवादी (यहूदियों को छोड़कर जिनकी संख्या यहाँ विशेष रूप से अधिक थी) पोल थे, किन्तु वहाँ का किसान-वर्ग दक्षिण-पश्चिम में रहने वाले उन लोगों का सजातीय था जो लिटिल-रशियन (Little-Russians), यूक्रेनियन (Ukranians) या रूथेनीज (Ruthenes) आदि कहे जाते हैं। यह सम्भव है कि पूर्वी गेलेशिया का भूमिहीन रूथेनी किसान पोलिश जमींदार को पोल होने की अपेक्षा जमींदार होने के कारण ही अधिक घृणा करता हो। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि घृणा अत्यन्त तीव्र थी। 1919 के आरम्भिक महीनों में पूर्वी गेलेशिया में सत्तारूढ़ पोल अल्पसंख्यकों और शासित बहुसंख्यकों में एक दुर्दम गृहयुद्ध छिड़ गया। शीघ्र ही अधिक पोलिश सेना बुलाई गई और रूथेनियों का यह संघर्ष जिसे पोलैण्ड की अत्याचारपूर्ण नीति के विरुद्ध पेरिस में एकत्र मित्र-राष्ट्रों के मामूली विरोध के अतिरिक्त और किसी का भी प्रभावपूर्ण समर्थन प्राप्त नहीं था, मई में समाप्त हो गया। इन घटनाओं के पटाक्षेप पर मित्र-राष्ट्रों ने और कुछ न कर सकने पर पोलैण्ड के समक्ष उसके पक्ष में पूर्वी गेलेशिया पर पच्चीस वर्ष तक के प्रादेश (Mandate) का प्रस्ताव रखा और उसके बाद उसके भाग्य का निबटारा राष्ट्र-संघ द्वारा किया जाए। पोलैण्ड ने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और पूर्वी गेलेशिया पर अपना अधिकार पूर्ववत् बनाये रखा। आखिर 1923 में मित्र-राष्ट्रों ने पूर्वी गेलेशिया पर पोलैण्ड की सम्प्रभुता, इस वचन (जो कभी पूरा नहीं किया गया) के बदले कि पूर्वी गेलेशिया में स्वायत्त-शासन (autonomous-regime) स्थापित किया जाएगा, विधिवत् स्वीकार कर ली।

पोलैण्ड के पूर्वी सीमान्त पर यही समस्या और भी बड़े पैमाने पर सामने आई। अपनी महानता के दिनों में पोल राजतंत्र केवल पोलिश आबादी वाले क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं था अपितु वह पूरे लिथुआनिया, श्वेत रूस (White Russia) के अधिकांश भाग और काला सागर (Black Sea) तक पूरे यूक्रेन में फैला हुआ था। इन क्षेत्रों की अधिकांश भूमि पोलिश जमींदारों के अधिकार में थी। वह अवस्था 1917 की रूसी क्रान्ति के समय तक चलती रही। क्रान्ति के बाद इन जमींदारों ने पोलैण्ड में शरण ली। अत: यह स्वाभाविक ही था कि इन जमींदारों ने पोलैण्ड की सरकार पर इस बात के लिए बहुत अधिक दबाव डाला कि उनकी भूमि पुन: जीतकर पुन: उनके अधिकार में दी जाए। कुछ उत्साही देशभक्त तो बाल्टिक से काला सागर तक पुन: पोलिश साम्राज्य स्थापित करने के स्वप्न भी देखने लगे। पेरिस में एकत्र मित्र-राष्ट्रों का इस आशय का एक प्रस्ताव कि पोलैण्ड का पूर्वी सीमान्त इस प्रकार निश्चित किया जाए कि उसमें केवल वे ही क्षेत्र आयें जिनमें पोल जनता बहुसंख्यक हो, घोर अपमान समझा गया।

ऐसी मनोदशा में, पोलिश राज्य का अध्यक्ष एवं सर्वोच्च सेनापति पिलसुदस्की (Pilsudski) 1920 के वसन्त में यूक्रेन-विजय के लिए निकल पड़ा। गृहयुद्ध के कारण अव्यवस्थित सोवियत सेना उसका अच्छी तरह सामना न कर सकी, और पोल सेना तेजी से कीव (Kiev) तक पहुँच गई। किन्तु जून में सोवियत सेना ने बड़े पैमाने पर प्रत्याक्रमण

नोट

(counter-offensive) किया जिसके परिणामस्वरूप न केवल पोल सेना तितर-बितर कर यूक्रेन के बाहर खदेड़ दी गई, अपितु सोवियत सेना वारसा (Warsaw) से कुछ ही मील की दूरी तक आ पहुँची। यहाँ युद्ध ने एक बार फिर पलटा खाया। पोलिश आक्रमणकारियों की भाँति सोवियत आक्रमणकारी भी शिथिल पड़ गए। पोलैण्ड की सेना एक बार फिर आगे बढ़ी, किन्तु इस बार वह यूक्रेन को छोड़, पूर्व की ओर श्वेत रूस (White Russia) में घुस गई। अंत में, जब विराम-सन्धि हुई, तब जो सीमा-रेखा निश्चित की गई, वह मित्र-राष्ट्रों द्वारा प्रस्तावित तथाकथित "कर्जन-रेखा" (Curzon line) के पूर्व में लगभग 150 मील की दूरी पर थी। किन्तु सोवियत सरकार इस समय उदारतापूर्वक भूमि देने के लिए तैयार थी क्योंकि उसे शांति की आवश्यकता थी। 1921 में हुई रिगा की संधि (Treaty of Riga) ने उक्त विराम-संधि-रेखा की पुष्टि कर उसे पोलैण्ड और सोवियत रूस के बीच स्थायी सीमान्त के रूप में निश्चित कर दिया। पोलैण्ड ने यूक्रेन पर अपने दावे का परित्याग कर दिया और उसके बदले में उसे श्वेत रूस का छुटपुट आबादीवाला किन्तु विस्तृत भू-भाग मिला।

इसके बाद लिथुआनिया (Lithuania) की बारी आई। वहाँ झगड़े की मुख्य जड़ विलना (Vilna) नगर और जिला थे। मध्ययुग में विलना लिथुआनिया साम्राज्य (जो सोलहवीं शताब्दी में एक शाही विवाह के कारण पोलैण्ड में मिल चुका था) की राजधानी रह चुका था। जब 1918 में लिथुआनिया के स्वतंत्र राज्य की पुनः स्थापना की गई, तब उसने विलना को तुरन्त अपनी राजधानी घोषित कर दिया। दुर्भाग्य से विलना के लोगों में पोलैण्ड में ही बने रहने के लिए भी उतनी ही अधिक भावुकतापूर्ण आसक्ति थी। वहाँ एक प्रसिद्ध पोलिश विश्वविद्यालय था और पोलैण्ड के ज्ञान-विज्ञान का वह एक प्राचीन केन्द्र भी था। नृवंश-शास्त्र की दृष्टि से, न तो लिथुआनिया और न पोलैण्ड का ही उस पर दावा मजबूत था। इस नगर की आबादी यहूदी (यहूदियों का वहाँ पूर्ण बहुमत था), पोलिश और श्वेत रूसी थी, और उसके आसपास के क्षेत्र में श्वेत रूसी तथा लिथुआनी थे।

लघु समहितसंघ (The Little Entente)

लघु समहितसंघ उन तीन राज्यों के संश्रय का गैर-सरकारी नाम था जिन्हें ऑस्ट्रो-हंगेरियन राजतंत्र के खण्डित हो जाने से सबसे अधिक लाभ पहुँचा था। ये राज्य चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और यूगोस्लाविया थे।

चेकोस्लोवाकिया का, जैसा उसके नाम से ही स्पष्ट है (हाल ही में नामकरण किया गया), निर्माण दो पड़ोसी प्रदेशों की जनता को संयुक्त कर किया गया था। चेक और स्लोवाक एक ही स्लाव (Slav) वंश की दो शाखाएँ हैं जो एक ही भाषा की परस्पर अति निकट बोलियाँ बोलती हैं, किन्तु इन दोनों लोगों का इतिहास एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है। चेक लोग जिनकी मध्ययुग में बोहेमिया के एक स्वतंत्र राजतंत्र में केन्द्रीय स्थिति थी, 1620 के बाद से ऑस्ट्रियन साम्राज्य के जर्मन प्रभाव में आ गये थे। प्राचीन चेक अभिजातवर्ग पूरी तरह जर्मन हो चुका था, जबकि अर्वाचीन चेक जनता मिव्ययी, परिश्रमी, सुशिक्षित मध्यमवर्गीय और श्रमिकवर्ग की है। इसके विपरीत, स्लोवाकिया 1918 से एक हजार वर्ष पहले से ही हंगरी एक भाग रह चुका था। स्लोवाक लोग अशिक्षित किसान वर्ग के थे और उनकी (स्लोवाक) संस्कृति के प्रतिनिधि विदेशों में, मुख्यतः अमेरीका में रहने वाले मुठ्ठी भर बुद्धिजीवी लोग थे। इन परिस्थितियों में, नये चेकोस्लोवाक राज्य के लिए, अपने सैनिक अधिकारी, प्रशासनिक कर्मचारी (civil servants) और शिक्षक, मुख्यतः चेक लोगों में से ही लेना अनिवार्य हो गया। किन्तु स्लोवाक क्षेत्रों में इस असमानता का विरोध हुआ; और स्लोवाक जनता का सर्वाधिक प्रतिनिधित्व करने वाली स्लोवाक पार्टी स्लोवाकिया में "राष्ट्रीय स्वायत्त शासन" (national autonomy) की स्थापना का निरन्तर आग्रह करती रही।

चेकोस्लोवाकिया की अधिकांश भूमि पर खेती होती थी। नये राज्य ने विस्तृत भूमि-सुधार कर अपनी स्थिति सुदृढ़ बना ली; बड़े-बड़े जमींदारों से, जो मुख्यतः जर्मन या हंगेरियन थे, भूमि छीनकर छोटे-छोटे किसानों और खेतिहारों में, जो चेक या स्लोवाक थे, बाँट दी गई। किन्तु चेकोस्लोवाकिया एक अत्यन्त विकसित उद्योग-प्रधान राज्य भी था और वहा युद्ध-सामग्री प्रचुर मात्रा में तैयार होती थी। उसके भूतपूर्व ऑस्ट्रियन प्रांतों में युद्ध-पूर्व के ऑस्ट्रियन साम्राज्य

नोट

के कोयले और लोहे तथा बड़े-बड़े उद्योगों का लगभग 80 प्रतिशत उत्पादन होता था। परन्तु जहाँ इतने लाभ थे वहाँ उनके मुकाबले में कुछ अड़चनें भी थीं। उसकी भौगोलिक स्थिति कमजोर थी और जनसंख्या मिश्रित थी। उसकी एक करोड़ चालीस लाख से अधिक की आबादी में चेक लोगों की, जो शासकवर्ग के थे, संख्या 65 लाख थी और स्लोवाकियन लोगों की संख्या इनसे 20 लाख अधिक थी। शेष आबादी बोहेमिया के किनारे रहने वाले सुसंगठित और परिश्रमी जर्मन अल्पसंख्यकों की, जिनकी संख्या 30 लाख थी, और हंगेरियन, रूथेनी तथा पोलिश अल्पसंख्यकों की थी। संकट-काल के समय स्लोवाक लोग साथ देंगे या नहीं, यह संदिग्ध था और यदि चेकोस्लोवाकिया किसी युद्ध में फँसा तो ऐसे समय में सभी अल्पसंख्यकवर्ग विरोधी हो सकते थे। इसके अतिरिक्त चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग (Prague) सीमान्त क्षेत्र के इतने निकट बसा हुआ था कि जर्मनी से युद्ध छिड़ जाने पर जर्मन सैनिक उस पर कुछ ही दिनों में या शायद कुछ ही घण्टों में अधिकार कर सकते थे। इसी तरह यदि हंगरी आक्रमण करता तो स्लोवाकिया के लंबे और सँकरे भू-भाग की रक्षा करना कठिन हो जाता।

रूमानिया युद्ध-काल में अपने अनुभवों की अपेक्षा शान्ति-समझौते से अधिक प्रसन्न था। युद्ध-काल में, उसने दो बार पक्ष बदले थे, फिर भी युद्ध समाप्त होने पर उसे हंगरी से ट्रांसिलवानिया (Transylvania) का अधिकांश और सोवियत सरकार के विरोध के बावजूद भी, रूस से बेसारेबिया (Bessarabia) मिला जिससे उसकी भूमि दुगुनी हो गई और उसकी जनसंख्या भी 70 लाख से 170 लाख हो गई। चेकोस्लोवाकिया की भाँति रूमानिया ने भी विस्तृत भूमि-सुधार किये और छोटे-छोटे किसानों में भूमि का पुनर्वितरण किया। उसके अल्पसंख्यकवर्ग–हंगेरियन, रूसी और यहूदी–इतने महत्त्वपूर्ण नहीं थे कि उनसे उसकी राष्ट्रीय सुरक्षा को किसी प्रकार का खतरा पैदा होता। परन्तु रूमानिया का शासन भ्रष्टाचार के लिए बदनाम था। रूमानिया सेना की क्षमता भी, बाल्कन सेनाओं के मानदण्ड से देखते हुए, ऊँची नहीं थी। सोवियत यूनियन के बाद यूरोप में सबसे अधिक तेल रूमानिया में ही उत्पन्न होता था; और तेल तथा गेहूँ की उसकी सम्पत्ति के प्रमुख साधन थे।

घरेलू मामलों में यूगोस्लाविया को भी चेकोस्लोवाकिया जैसी ही समस्या का सामना करना पड़ा। यह समस्या सगोत्र अथवा एक ही कुल से संबंधित विभिन्न जातियों में एकरूपता लाने की थी। यूगोस्लाव राज्य की जनसंख्या में शामिल तीन प्रकार के लोगों में से, सर्ब लोग (Serb), 1867 में तुर्की नगर-रक्षक सेनाओं के अन्तिम रूप से हटा लिये जाने के बाद से, स्वतंत्रता का उपभोग करते आ रहे थे। 1918 तक क्रोट लोग (Croats) हंगरी के और स्लोवेन लोग (Slovenes) ऑस्ट्रिया के अधीन रहे थे। सर्ब लोग, जो आरंभ से ही यूगोस्लावियन संघ राज्य के सबसे प्रमुख अंग थे, अच्छे योद्धा थे, और उनमें संगठित हो सकने की प्रवृत्ति थी, किन्तु राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से वे क्रोट और स्लोवेन लोगों की तुलना में नीचे थे और वे दोनों उन्हें आधे जंगली मानते थे। इन तीनों लोगों का संघर्ष नये राज्य की प्रगति में बड़ा बाधक बन गया। कुछ तो इस कारण और कुछ स्वयं सर्ब लोगों की राजनीतिक अपरिपक्वता के कारण देश में किसी भी प्रकार संसदीय शासन-व्यवस्था (Parliamentary system) चल सकना कठिन हो गया। क्रोट नेता स्वायत्त-शासन (autonomy) की माँग करते ही रहे।

बाह्य रूप से यूगोस्लाविया लघु समहितसंघ का एक ऐसा सदस्य था जिसके हित सर्वाधिक विविधतापूर्ण और विस्तृत थे। चेकोस्लोवाकिया प्रधानत: मध्य-यूरोप का देश था और रूमानिया बालकन देशों में से था, किन्तु यूगोस्लाविया दोनों ही में समान रूप से शामिल था। उत्तर में, उसकी सीमा विएना के एक सौ मील के भीतर तक थी और दक्षिण-पूर्व में एजियन (Aegean) सागर से पचास मील के भीतर। हितों की इस बहुलता के कारण समहितसंघ में उसका एक विशिष्ट स्थान बन गया। लघु समहितसंघ की स्थापना हंगरी से सामूहिक रक्षा के लिए की गई थी और केवल हंगरी ही एक ऐसा देश था जिसके नाम का स्पष्ट उल्लेख समहितसंघ की स्थापना-संबंधी संधियों में किया गया था। किन्तु यूगोस्लाविया को सबसे अधिक भय हंगरी से कभी भी नहीं रहा। उसके हिस्से में हंगरी का जो भू-भाग आया था, वह चेकोस्लोवाकिया और रूमानिया के हिस्सों से छोटा था। उसे हंगरी के उन लोगों से भी भय कम ही था जो अपने पड़ोसी राज्यों के हंगेरियन भाषा-भाषी क्षेत्रों को छीनकर हंगरी में शामिल करना चाहते

नोट

थे। इसके विपरीत एड्रियाटिक (Adriatic) तट पर इटली की प्रमुख स्थिति से उसे अत्यन्त ईर्ष्या थी। यूगोस्लाविया को यह शिकायत थी कि इटली ने अपने उचित हिस्से से भी अधिक स्लाव (Slav) क्षेत्र हड़प लिया था और यह भी सर्वविदित था कि इटली यूगोस्लाव राज्य को ही छिन्न-भिन्न करने के स्वप्न देख रहा था और शायद उसके लिए षड्यंत्र भी रच रहा था। यूगोस्लाविया के लोग तीव्र घृणा करने वाले थे। दोनों युद्धों के बीच की अवधि में यूरोप में जितने भी आपसी झगड़े हुए उनमें यूगोस्लाविया और इटली का आपसी द्वेष सबसे अधिक स्थायी था।

लघु समहितसंघ के प्रत्येक सदस्य के जोड़ों द्वारा 1920 और 1921 में जो आपसी समहित संधियाँ की गई थीं। उनके परिणामस्वरूप संघ का अस्तित्व प्रकाश में आया था। उसके काफी समय बाद फ्रांस ने लघु समहितसंघ के राज्यों से राजनीतिक संधियाँ कीं। किन्तु आरंभ से ही, औपचारिक रूप से या अनौपचारिक रूप से ऐसे सैनिक समझौते (जैसा पोलैण्ड के साथ हुई संधि में किया गया था) हो चुके थे जिनमें फ्रांसीसी सैनिक मिशनों की नियुक्ति को तथा लघु समहितसंघ की सेनाओं के लिए फ्रांस द्वारा युद्ध-सामग्री दिये जाने की व्यवस्था थी और चाहे जेनेवा हो या अन्य कोई स्थान, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और यूगोस्लाविया विदेशी मामलों में फ्रांस के विश्वासपात्र पिछलग्गू बन गये थे। लघु समहितसंघ के साथ फ्रांस के संबंधों का आधार पोलैण्ड के साथ उसके संबधों से भिन्न था। पोलैण्ड के साथ उसकी संश्रय-व्यवस्था का आधार जर्मनी को आगे न बढ़ने देने में दोनों का सीधा सामान्य हित था। इसके विपरीत, लघु समहितसंघ के देशों के साथ उसके समझौते में एक अव्यक्त सौदा गर्भित था, जिसके अनुसार वर्साई की संधि को कार्यान्वित करने में फ्रांस की सहायता करना लघु समहितसंघ के तीनों राष्ट्रों का कर्तव्य था, यद्यपि इस संधि में स्वयं उनका अपना हित नगण्य ही था। फ्रांस ने इसके बदले में लघु समहितसंघ के सभी देशों की, हंगरी से तथा यूगोस्लाविया की विशेष रूप में इटली से, रक्षा करने का वचन दिया। इस सारे प्रयत्न का महत्त्व इस बात में था कि फ्रांस की अपनी सुरक्षा की कल्पना विस्तृत हो गई। अब वह केवल वर्साई की संधि का ही नहीं अपितु सारे यूरोपीय शान्ति-समझौते के पालन के लिए भी निश्चित रूप से वचनबद्ध था। अब उसकी चिन्ता केवल इतनी ही नहीं थी कि वह जर्मनी को राइन की दिशा में अपनी रक्षा के लिए व्यस्त रखे और पूर्व में उसे अपनी स्थिति सुदृढ़ न बनाने दे बल्कि लिथुआनिया के विरुद्ध पोलैण्ड का, हंगरी के विरुद्ध चेकोस्लोवाकिया का, और बल्गारिया के विरुद्ध यूगोस्लाविया तथा रूमानिया का समर्थन करना एवं अपने मित्र राष्ट्रों को उनके अल्पसंख्यकों के प्रति जबरन तोड़-मोड़ के अर्थों में लादे गये अर्थों की असुविधाओं से बचाना भी फ्रांस का खुला हित बन गया था।

1920-1924 की अवधि में फ्रांस, जिसके पास एक विशाल, सुसज्जित और विजयी सेना थी तथा प्रचुर मात्रा में गोला-बारूद का संग्रह था, यूरोप में शक्ति और गौरव की चरम सीमा पर पहुँच गया। वह यथा-स्थिति बनाये रखने का प्रबल समर्थक और "संशोधनवाद" (Revisionism) का कट्टर विरोधी था। उसकी स्थिति की तुलना 1815 के शान्ति-समझौते के बाद मेटरनिख (Metternich) की स्थिति से की जा सकती है। पोलैण्ड और लघु समहितसंघ के देशों के साथ समझौते कर उसने अपने आप को "पवित्र संघ" (Holy Alliance) के प्रबल आधुनिक प्रतिद्वन्द्वी के रूप में भी तैयार कर लिया था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. ..... युद्ध-काल में अपने अनुभवों की अपेक्षा शांति-समझौते से अधिक प्रसन्न था।
2. घरेलू मामलों में यूगोस्लाविया को ..... जैसी समस्या का सामना करना पड़ा।
3. यूगोस्लाविया ..... का एक ऐसा सदस्य था जिसके हित सर्वाधिक विविधतापूर्ण और विस्तृत थे।

21.2 पराजित जर्मनी (Germany in Defeat)

नोट

फ्रांस की पराकाष्ठा का काल जर्मनी के लिए मर्मान्तक अपमान का काल भी था। घरेलू राजनीति इस पुस्तक का विषय नहीं है। किन्तु दोनों ही विश्व-युद्धों के बीच की अवधि में जर्मनी के आंतरिक घटनाचक्र का अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर इतना सीधा प्रभाव पड़ा था कि उसके बारे में दो शब्द यहाँ कहना आवश्यक है। 1914 से पहले जर्मनी में संसदीय प्रजातंत्र (parliamentary democracy) और सैनिक निरंकुशता (military autocracy) की मिश्रित शासन-प्रणाली थी। सम्भवत: यह प्रणाली जर्मन जनता के राजनीतिक विकास की तत्कालीन अवस्था के अनुकूल थी। युद्ध के बाद प्रजातंत्र-प्रेम की विश्वव्यापी लहर जर्मनी में भी फैल गई; और नवम्बर 1918 की अराजकता के बाद वहाँ जो सरकार बनी उसका स्वरूप गणतंत्रीय था जिसमें सोशल डेमाक्रेट दल सत्तारूढ़ हुआ और इबर्ट (Ebert) नामक एक भूतपूर्व चर्मकार राष्ट्रपति बनाया गया।

"वाइमर गणतंत्र" ("Weimar Republic") (यह नाम इसलिए पड़ा कि वाइमर नामक स्थान पर राष्ट्रीय सभा ने 1919 में उसका संविधान स्वीकार किया था) का प्रारंभ बहुत ही निराशाजनक परिस्थितियों में हुआ। उसे चारों ओर अव्यवस्था, असंगठन और अभाव का सामना करना पड़ा। उसका पहला कार्य वर्साई की संधि का अनुसमर्थन (ratification) करना था। इस कारण जर्मन जनता के मन में उसका नाम राष्ट्रीय अपमान के साथ जुड़ गया। 1815 मे नेपोलियन का तख्ता उलट देने वाले राष्ट्र यह समझते थे कि यदि वे फ्रांस में पुन:स्थापित राजतंत्र को बनाये रखना चाहते हैं तो उन्हें उसके प्रति सम्मान और औदार्य दिखाना चाहिए; किन्तु 1918 के विजेताओं ने इस प्रकार की बुद्धिमानी नहीं दिखाई। यह उनके हित में ही था कि शान्तिप्रिय वाइमर प्रजातंत्र जर्मनी में अपनी स्थिति सुदृढ़ कर लेता। किन्तु उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने का हर सम्भव प्रयत्न करने के बदले, वे उसे हमेशा इस प्रकार नीचा दिखाते रहे कि वह प्रजातंत्र जर्मन जनता का प्रेम और उसकी निष्ठा प्राप्त करने की कभी आशा भी नहीं कर सकता था। वर्साई की संधि के क्षेत्रिक उपबंधों की चर्चा विषय-प्रवेश वाले अध्याय में की जा चुकी है। इस अध्याय का विषय संधि की वे अन्य धाराएँ हैं जिनका 1920 से 1924 तक जर्मनी के अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों में सबसे अधिक प्रभाव रहा।

युद्ध-अपराध और युद्ध-अपराधी (War Guilt and War Criminals)

संधि की "युद्ध-अपराध" और "युद्ध-अपराधियों" संबंधी धाराओं का फ्रांस की तरह ग्रेट-ब्रिटेन में भी बड़े उत्साहपूर्वक अनुमोदन किया गया था। पिछले युद्धों के विजेताओं ने अपने पराजित शत्रु के साथ कितना ही निर्दयतापूर्ण व्यवहार क्यों न किया हो, वे अपने शत्रु की सार्वजनिक रूप से नैतिक निन्दा करना अनावश्यक समझते थे। परन्तु ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस दोनों ही देशों में युद्ध-प्रचार के समय जर्मनी के विरुद्ध निरन्तर नैतिक पथभ्रष्टता के आरोपों (विशेषकर बेल्जियम की तटस्थता भंग करने, अधिकृत क्षेत्रों को अनावश्यक रूप से नष्ट-भ्रष्ट करने, बमवर्षा द्वारा नागरिकों की हत्या करने और व्यापारिक जहाजों पर पनडुब्बियों द्वारा अबाधित आक्रमण करने) पर इतना जोर दिया गया था कि लोकमत जर्मनी के कृत्यों की औपचारिक रूप से निन्दा करने की माँग कर रहा था। जर्मनी के इन अपराधों पर निरन्तर दबाव से संधि की शर्तों की कठोरता के लिए उचित आधार मिल गया जिसकी ब्रिटिश और अमेरिका दोनों ही आवश्यकता अनुभव करते थे। क्षतिपूर्ति-संबंधी अध्याय के आरंभ में ही लिखे गए एक अनुच्छेद के अनुसार, जर्मनी को "जर्मनी और उसके साथी राष्ट्रों द्वारा आक्रमण के कारण विवशतापूर्वक युद्ध में सम्मिलित होने के परिणामस्वरूप मित्र और साथी राष्ट्रों की सरकारों तथा जनता को जो भी हानि और क्षति उठानी पड़ी, उसकी जिम्मेदारी जर्मनी और उसके साथी राष्ट्रों की थी", यह स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। इस अनुच्छेद की स्थिति महत्त्वपूर्ण थी।

प्रथम विश्वयुद्ध के मूल कारणों पर इतिहासकार सम्भवत: शताब्दियों तक बहस करते रहेंगे। इतिहास का निर्णय शायद यह हो सकता है कि सभी युद्धरत राष्ट्रों में जर्मनी और उसके साथी राष्ट्रों पर ही युद्ध की सबसे अधिक जिम्मेदारी थी। किन्तु ऐतिहासिक सत्य की स्थापना किसी अन्तर्राष्ट्रीय संधि से नहीं की जा सकती–जो संधि विजेताओं द्वारा विजितों पर लादी गई हो उससे तो कदापि नहीं। उत्तेजना के उन क्षणों में मित्र-राष्ट्रों की सरकारों ने यह नहीं सोचा

नोट

कि जबरदस्ती अपराध स्वीकार कराने से कुछ काम नहीं चल सकता और उसके परिणामस्वरूप जर्मन जनता में तीव्र रोष की भावना फैले बिना नहीं रहेगी। जर्मनी का विद्वत् समाज यह सिद्ध करने में लग गया कि उनका देश निर्दोष था। इस समाज का यह स्वप्न था कि यदि यह बात सिद्ध कर दी गई तो संधि का सारा ढाँचा ही लड़खड़ा पड़ेगा। मित्र-राष्ट्रों में भी, युद्ध-अपराध-संबंधी धारा की व्यर्थता शीघ्र ही अनुभव कर ली गई, किन्तु उसे कभी भी विधिवत् रद्द नहीं किया गया और संधि के साथ ही नष्ट होने के लिए छोड़ दिया गया।

संधि के युद्ध-अपराधियों-संबंधी अनुच्छेद [तत्संबंधी अध्याय का शीर्षक है–Penalties (दण्ड)] तत्काल अपना प्रभाव दिखाने वाले थे। उनमें से पहले में मित्र-राष्ट्रों ने "भूतपूर्व जर्मन सम्राट–होहेन्जॉलेर्न (Hohenzollern) का द्वितीय विलियम–पर सार्वजनिक रूप से यह आरोप लगाया कि उसने अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता और संधियों की पवित्रता के विरुद्ध गुरुतम अपराध किया है।" इस भूतपूर्व कैसर पर पाँच–अमेरिकी, ब्रिटिश, फ्रांसीसी, इटालियन और जापानी–न्यायाधीशों वाले न्यायालय में मुकदमा चलाया जाना था जिसका काम "दण्ड निश्चित करना" था। संधि अमल में आने के तुरन्त बाद ही मित्र-राष्ट्रों ने सरकारी तौर पर हॉलैण्ड (जहाँ नवम्बर 1918 में भूतपूर्व कैसर ने शरण ली थी) की सरकार से उक्त कैसर को उन्हें सौंप देने का अनुरोध किया। हॉलैण्ड सरकार ने, जैसी आशा थी, यह उत्तर दिया कि, "राजनीतिक शरणार्थी को वापस सौंप देना अन्तर्राष्ट्रीय प्रथा (usage) के विरुद्ध है" और इस प्रकार संधि के अत्यन्त कुख्यात अनुच्छेदों में से एक तो कुछ ही महीनों में भूली-बिसरी बात बन गई। यह एक सौभाग्यपूर्ण अन्त था। यदि मित्र-राष्ट्र भूतपूर्व कैसर पर खुलेआम मुकदमा चलाते तो सम्भवत: जर्मनी में उसकी खोई हुई प्रतिष्ठा फिर से स्थापित हो जाती और वह जर्मनी के राष्ट्रीय नेता एवं शहीद के रूप में सामने आ जाता।

उपर्युक्त अनुच्छेद के बाद के अनुच्छेदों के अनुसार जर्मनी ने यह वचन दिया कि मित्र-राष्ट्रों ने जर्मनी में स्थित जिन व्यक्तियों पर "युद्ध के नियमों और प्रथाओं का उल्लंघन करने वाले कृत्य करने" का आरोप लगाया हो उन्हें वह मित्र-राष्ट्रों के सैनिक न्यायालयों को मुकदमा चलाने के लिए सौंप देगा। इसमें संदहे ही है कि यह उपबंध कितना ही युक्तिसंगत अर्थ लगाते हुए भी जर्मनी में क्रान्ति उत्पन्न किये बिना अमल में लाया जा सकता था। किन्तु जब इस बात का पता चला कि मित्र-राष्ट्रों द्वारा तैयारी की गई सूची में युवराज, हिण्डेनबर्ग, लुडेनडॉर्फ और युद्ध के समय जर्मनी की ओर के लगभग हर प्रमुख व्यक्ति का नाम सम्मिलित है, तब क्रोधाग्नि इतनी भड़क उठी कि इस माँग को पूरा करना असम्भव हो गया। जर्मनी और मित्र-राष्ट्रों (Allies) की सरकारों के बीच लम्बी कशमकश के बाद एक समझौता हुआ जिसके अनुसार जर्मन सरकार ने यह स्वीकार कर लिया कि वह कुल अपराधियों में से बारह अपराधियों को (जिनके विरुद्ध युद्ध-नियमों को निश्चित और निन्दाजनक रूप में भंग करने का आरोप था) लिपझिग (Leipzig) स्थित जर्मन सर्वोच्च न्यायालय (German Supreme Court) के सामने उपस्थित करेगी और इस न्यायालय में मित्र-राष्ट्रों की सरकारें अभियोक्ता (prosecutor) रहेंगी। मुकदमे 1921 में चले। छ: अपराधियों का अपराध सिद्ध हुआ और उन्हें कारावास की सजा दी गई। उसके बाद संधि की इन धाराओं के विषय में और कुछ कभी भी नहीं सुना गया। यदि उस समय के उत्तेजित वातावरण के अनुसार मित्र-राष्ट्र यही व्यवस्था अपने ऊपर लागू कर तदनुसार अपने देशवासियों पर भी, जिन पर जर्मन सरकार द्वारा इसी प्रकार के अपराधों के आरोप लगाये गये थे, मुकदमा चलाने के लिए तैयार हो जाते तो यह समस्त कार्यवाही एक बहुमूल्य सुधारात्मक कदम होता और अन्तर्राष्ट्रीय कानून को यथार्थ में प्रभावशाली बनाने का श्रेय मानवता के हित में अति प्रेरणादायक हो जाता।

नि:शस्त्रीकरण और असैन्यीकरण (Disarmament and Demilitarisation)

मित्र-राष्ट्रों की विजय का यह स्वाभाविक एवं आवश्यक परिणाम था कि उनके मन में अपने शत्रुओं को यथासम्भव दीर्घकाल तक के लिए सैनिक दृष्टि से पंगु बना देने की इच्छा हो। विराम-संधि के अनुसार जर्मनी ने अपना अधिकांश बेड़ा और भारी तोपखाना समर्पित कर दिया था। संधि के द्वारा उसकी सैनिक शक्ति पर स्थायी प्रतिबंध लगा दिये गये थे। उसकी सेना की संख्या सीमित कर 1,00,000 कर दी गई थी जिसमें स्वेच्छा से ही किसी को

नोट

भर्ती किया जा सकता था [अनिवार्य भर्ती (conscription) करने का निषेध किया गया था;] उसकी नौसेना में केवल छः युद्धपोत (battleships) और उतने ही गश्ती जहाज (cruisers) तथा विध्वंसक (destroyers) रह सकते थे। वह पनडुब्बियाँ (submarines), सैनिक वायुयान और भारी तोपें नहीं रख सकता था तथा किलेबंदी नहीं कर सकता था। प्रत्येक प्रकार की युद्ध-सामग्री का परिणाम और युद्ध-सामग्री तैयार करने वाली फैक्टरियों की संख्या भी बड़ी कड़ाई के साथ सीमित कर दी गई थी। मित्र-राष्ट्रों के सैनिक, नौसैनिक और वायुसैनिक आयोग (Allied Naval, Military and Air Commissions) जिनके अधिकारियों की संख्या एक समय लगभग 2,000 तक पहुँच गई थी, जर्मनी में इन उपबंधों का पालन करवाने के लिए रखे गये और 1927 तक उन्हें अन्तिम रूप से हटाया भी नहीं गया। इन प्रतिबंधों के कठोर कार्यान्वयन से बचने के लिए जर्मनी ने हर प्रयत्न किया। काफी युद्ध-सामग्री छिपाकर नष्ट होने से सम्भवतः बचा ली गई तथा ज्यों ही नियंत्रण शिथिल किया गया त्यों ही जर्मनी की सैनिक शक्ति को पुनः बढ़ा लेने की सर्वत्र गुप्त तैयारियाँ होने लगीं। किन्तु सभी बातों पर विचार करने के बाद इतना अवश्य कहा जा सकता है कि 1924 तक जर्मनी का जितना निःशस्त्रीकरण किया गया था वह आधुनिक इतिहास में उल्लिखित किसी भी निःशस्त्रीकरण से अधिक कठोर और पूर्ण थी।

यहाँ यह बात स्मरण रखने योग्य है कि वर्साई की संधि के अनुसार, राइन लैण्ड (Rhine land) का न केवल स्थायी रूप से असैन्यीकरण कर दिया जाना था, अपितु पन्द्रह वर्षों तक उस पर मित्र-राष्ट्रों की सेना का अधिकार भी रहना था। अधिकृत क्षेत्र का नागरिक प्रशासन जर्मन अधिकारियों के हाथों ही में रहा परन्तु अन्तर्मित्र-राष्ट्रीय उच्च आयोग (Inter Allied High Commission) को जिसमें फ्रांस, बेल्जियम, ब्रिटेन और अमेरिका के प्रतिनिधि रखे गये थे, मित्र-राष्ट्रों की सेना की "सुरक्षा, निर्वाह" (maintenance) और आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक अध्यादेश (ordinance) जारी करने की शक्ति प्राप्त थी और ये अध्यादेश कानून के समान ही प्रभावशील होते थे। यूनाइटेड स्टेट्स द्वारा संधि का अनुसमर्थन न किए जाने के बावजूद भी, अमरीकी सेनाएँ राइनलैण्ड में 1923 तक बनी रहीं और अमेरिकी आयुक्त (Commissoner) उच्च आयोग की बैठकों में बराबर भाग लेता रहा यद्यपि उसे मत देने का अधिकार नहीं था।

राइनलैण्ड पर संयुक्त अधिकार से जर्मनी के प्रति फ्रांस और ब्रिटेन के दृष्टिकोण की विभिन्नता, जिसके कारण 1920 से ही यूरोपीय राजनीति में बड़ी अनिश्चितता एवं अस्थिरता बनी रही, पहली बार प्रकट हुई। युद्ध की समाप्ति के समय जर्मन-विरोधी भावनाएँ लंदन में भी उतनी हो कटु थीं जितनी पेरिस में और वर्साई की संधि की कुछ अत्यन्त दुर्भावनाजनक धाराएँ यदि ब्रिटिश सरकार की प्रेरणा से नहीं लिखी गईं, तो कम से कम उसने उनका हार्दिक अनुमोदन तो किया ही था। किन्तु ब्रिटेन में यह दुर्भावना तेजी से कम होती गई। जहाँ फ्रांस को पराजित जर्मनी से भी भय था, वहाँ जर्मन बेड़े के नष्ट हो जाने से ब्रिटिश साम्राज्य अपने को पूरी तरह सुरक्षित समझने लगा था। ब्रिटेन इस बात के लिए कुख्यात है ही कि उसे यूरोप महाद्वीप में किसी भी एक राष्ट्र का शक्तिशाली होना फूटी आँखों नहीं सुहाता; अतः इस समय यदि ब्रिटेन फ्रांस को जर्मनी को धूल में मिला देने देता तो यह बात इस परम्परा के विरुद्ध होती। पराजित शत्रु के प्रति औदार्य दिखाने और न्याय करने की परम्परागत ब्रिटिश मान्यताओं और फ्रांसीसियों की बंधपत्र (bond) में निर्दिष्ट रक्त की अन्तिम बूँद तक निकाल लेने के लिए उत्सुक सूक्ष्म विधिनिष्ठ मनोवृत्ति में संघर्ष हुआ। राइनलैण्ड के दक्षिणी भाग पर अधिकार करने वाली फ्रांसीसी सेना ने जहाँ एक ओर शत्रुदेश में विजेताओं के समान रोब दिखाया वहाँ दूसरी ओर ब्रिटिश सेना ने जिसका मुख्यालय कोलोन (Cologne) में था, जर्मन लोगों से शीघ्र ही घनिष्ठ मित्रतापूर्ण संबंध स्थापित कर लिये। ब्रिटिश सिपाही, सैद्धांतिक रूप से एक अप्रिय अतिथि होते हुए भी बहुत लोकप्रिय बन गया।

इस प्रकार की घटनाओं में पहली घटना रूर में स्थित फ्रांस की सेना में अश्वेत (coloured) सैनिक टुकड़ी को सम्मिलित किए जाने से संबंधित थी। फ्रांस की परम्परा रंगभेद नहीं मानती और यह असम्भाव्य है कि जर्मन जनता का और भी अपमान करने के लिए फ्रांसीसी अधिकारियों ने अश्वेत सिपाहियों को जानबूझकर राइनलैण्ड में भेजा

नोट

हो। जर्मन लोगों ने तो इसका यही अर्थ लगाया और यह जानते हुए कि ब्रिटेन और अमेरिका रंगभेद की नीति में जर्मनी से भी अधिक विश्वास रखते हैं, अपनी इस शिकायत को उनके सामने रखने का अवसर हाथ से नहीं खोया। "अश्वेत-अपमान" (Black shame) और अश्वेत सेना के अभिकथित कुकृत्यों को जर्मन प्रचारकों ने अपने प्रचार का खूब साधन बनाया। इस प्रकार युद्ध के बाद पहली बार ब्रिटिश और अमेरिकी लोकमत ने फ्रांस के विरुद्ध जर्मनी का दृढ़ समर्थन किया।

दूसरी घटना फ्रांस द्वारा राइनलैण्ड में एक तथाकथित "पार्थक्यवादी" (separatist) आंदोलन को प्रोत्साहन दिए जाने से संबंधित थी। फ्रांस शान्ति-चर्चाओं के समय राइनलैण्ड को जर्मनी से बलात् पृथक् नहीं करा सका था। अब कुछ फ्रांसीसी सेनापति और अधिकारी, फ्रांसीसी सरकार के मौन अनुमोदनपूर्वक, इसी उद्देश्य की पूर्ति स्थानीय जनता को बर्लिन की सत्ता को उलटकर 'राइनलैण्ड को एक स्वतंत्र जर्मन राज्य' घोषित कर देने के लिए उभाड़कर करना चाहते थे। यह आंदोलन लगभग बिल्कुल अवास्तविक था। सौ वर्षों से भी अधिक समय से राइनलैण्ड का अधिकांश भाग प्रशा में शामिल चला आ रहा था और कोई राइनवासी फ्रांस के संरक्षण में अवास्तविक स्वायत्त शासन नहीं चाहता था। किन्तु फ्रांसीसियों को कुछ जर्मन भगोड़े मिल गये या फ्रांसीसी उन्हें बाहर से ले आए जो काफी पैसा लेकर फ्रांस का यह नाटक करने के लिए तैयार हो गए। तीन वर्ष तक पार्थक्यवादी आंदोलन का यह नाटक चलता रहा किन्तु 1923 के शरद् में परिस्थिति बिगड़ गई। पेलेटिनेट (Palatinate) में, जो बेवेरिया (Bavaria) का भाग था, न कि प्रशा का, उच्च आयोग के स्थानीय फ्रांसीसी प्रतिनिधि ने पार्थक्यवादियों को एक स्वतंत्र सरकार के रूप में मान्यता दे दी और पार्थक्यवादियों ने, जिन्हें फ्रांसीसी सैनिक अधिकारियों ने इसी उद्देश्य के लिए शस्त्रादि दिये थे, जर्मन अधिकारियों को निकाल बाहर किया तथा प्रशासन अपने हाथ में ले लिया। जनवरी 1924 में उच्च आयोग ने बहुमत से (फ्रांस और बेल्जियम ने ब्रिटेन के विरुद्ध मत दिया था) पेलेटिनेट की "स्वायत्त (autonomous) सरकार" को अधिकृत रूप से मान्यता दे दी। ब्रिटिश लोकमत एवं ब्रिटिश सरकार को यह बात बहुत बुरी लगी और जब उसने फ्रांसीसी सरकार पर काफी दबाव डाला तो फ्रांसीसी सरकार ने राइन लैण्ड स्थित अपने प्रतिनिधियों को पार्थक्यवादियों का समर्थन बंद करने का आदेश दिया। इसका परिणाम विध्वंसकारी हुआ। सारा आंदोलन कुछ ही घण्टों में समाप्त हो गया। पेलेटिनेट के प्रमुख नगरों में दंगे हुए; और सेना के हस्तक्षेप से पहले ही जनता ने कोई बीस या अधिक पार्थक्यवादियों को बड़ी यातना देते हुए मार डाला। फरवरी 1924 के बाद राइनलैण्ड में पार्थक्यवादी आंदोलन का नामोनिशान भी नहीं रहा।

जर्मनी और मित्र-राष्ट्रों, तथा फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन के संबंधों को इस अवधि में प्रभावित करने वाली तीसरी और सबसे महत्त्वपूर्ण घटना क्षतिपूर्ति के पेचीदा प्रश्न-संबंधी थी जिस पर हम अब विचार करेंगे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. ..... के बाद राइन लैण्ड में पार्थक्यवादी आंदोलन का नामोनिशान भी नहीं रहा।
   (क) जनवरी, 1924 (ख) फरवरी, 1924
   (ग) मार्च, 1924 (घ) अप्रैल, 1924
5. ..... तक जर्मन विरोध की कमर टूट गई। इसी समय बर्लिन में एक नए मंत्रिमंडल का निर्माण हुआ।
   (क) सितंबर, 1923 (ख) अगस्त, 1923
   (ग) दिसंबर, 1923 (घ) मार्च, 1923
6. ..... में फ्रांस में जो चुनाव हुए, उनमें वामपक्षियों की विजय हुई।
   (क) 1954 (ख) 1965 (ग) 1924 (घ) 1901

नोट

क्षतिपूर्ति (Reparation)

युद्ध-काल में अनेक देशों की प्रजातंत्रीय विचारधारा शान्ति-संधियों में स्वीकृत पराजित देशों से दण्ड रूप में 'युद्ध-क्षतिपूर्ति' (war indemnity) वसूल करने के रवैये का विरोध करती थी। मित्र-राष्ट्रों की सरकारों को इस राय के सामने दबना पड़ा और उन्होंने वर्साई की संधि में अपनी माँग केवल इसी बात तक सीमित रखी कि जर्मनी "मित्र और साथी राष्ट्रों की नागरिक जनता की जन-धन जो भी हानि हुई हो, उसकी क्षतिपूर्ति करे।" किन्तु इस रियायत का कोई खास व्यावहारिक परिणाम नहीं निकला, क्योंकि यह शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि जर्मनी के संसाधनों से इस क्षतिपूर्ति का भुगतान नहीं हो सकता था। जहाँ तक पराजित राष्ट्र द्वारा विजेताओं को भुगतान करने का प्रश्न है, वर्साई की संधि और पिछली शान्ति-संधियों में महत्त्वपूर्ण अन्तर यह था कि इस बार संधि में भुगतान की कोई रकम निश्चित नहीं कर गई थी। यह बात मित्र-राष्ट्र आयोग (Allied Commission) पर, जिसका नाम "क्षतिपूर्ति आयोग" था, छोड़ दी गई थी कि वह बिल तैयार करे और यह निश्चित करे कि इस बिल की रकम किस प्रकार चुकाई जाए। निर्धारण (assessment) पहली मई 1921 तक किया जाना था। इस तारीख से पहले जर्मनी को 1,00,00,00,000 पौण्ड आंशिक भुगतान के रूप में चुकाने थे। अनुमान यह लगाया कि पूरा भुगतान कम-से-कम तीस वर्षों में जाकर पूरा हो सकेगा।

वर्साई-संधि पर हस्ताक्षर होने से पहले मित्र-राष्ट्रों और जर्मन प्रतिनिधिमंडल के बीच हुए पत्र-व्यवहार में, मित्र-राष्ट्रों ने यह वचन दिया था कि "पूरे दायित्व के निबटारे में जर्मनी यदि कोई एकमुश्त रकम देना चाहे, तो मित्र-राष्ट्र ऐसे प्रस्ताव पर विचार करेंगे।" यह एकमुश्त भुगतान क्षतिपूर्ति-आयोग द्वारा निर्धारित राशि के स्थान में किया जा सकता था। इस प्रकार 1920 की प्रमुख बातें दी थीं–उक्त प्रस्ताव की सम्भावित शर्तों पर चर्चा और माल के रूप में भुगतान (deliveries in kind) (विशेषकर कोयले के रूप में) पर चर्चा, जिसके द्वारा जर्मनी 1,00,00,00,000 पौंड का प्रारम्भिक करना चाहता था। उसी वर्ष जुलाई में स्पा (Spa) में एक सम्मेलन हुआ जिसमें जर्मनी के प्रधानमंत्री (Chancellor) और विदेश-मंत्री ने मित्र-राष्ट्रों के प्रमुख मंत्रियों से पहली बार बराबरी की हैसियत से चर्चाएँ कीं। किन्तु इन मंत्रियों में केवल इस बात पर ही समझौता हो सका कि अगले छः महीनों में कितना कोयला दिया जाए; और क्षतिपूर्ति के प्रश्न पर स्पा सम्मेलन में जो प्रमुख निर्णय हुआ वह जर्मनी से जो कुछ क्षतिपूर्ति में प्राप्त होना था उसका मित्र-राष्ट्रों में आपस में बँटवारे से सम्बधित था। इस प्राप्ति का 52 प्रतिशत फ्रांस को, 22 प्रतिशत ब्रिटिश साम्राज्य को, 10 प्रतिशत इटली को और 8 प्रतिशत बेल्जियम को मिलना था। शेष भाग छोटे-छोटे मित्र-राष्ट्रों में आपसी बँटवारे के लिए छोड़ दिया गया। किन्तु, चूँकि बेल्जियम को बहुत अधिक हानि उठानी पड़ी थी, इसलिए उसे 10,00,00,000 पौण्ड तक ग्रहण करने की प्राथमिकता मिली।

जर्मनी से "एकमुश्त" कितनी रकम की आशा करना। युक्तिसंगत है, इस बारे में जर्मन सरकार और मित्र-राष्ट्रों की सरकारों में इतना मतभेद था कि कोई समझौता हो सकना कठिन था। जर्मनी द्वारा क्षतिपूर्ति का प्रारम्भिक भुगतान तथा निःशस्त्रीकरण-सम्बन्धी कुछ उपबन्धों पर अमल न होने के कारण मार्च 1921 में, मित्र-राष्ट्रों की सेना ने राइन के पूर्व में स्थित ड्यूसेलडॉर्फ (Dusseldorf), ड्यूइसबर्ग (Duisberg) और रूहरोर्ट (Ruhrort) नामक तीन नगरों पर अधिकार कर लिया। संधि का अनुसरण करते हुए क्षतिपूर्ति आयोग ने 27 अप्रैल, 1921 को जर्मनी का कुल दायित्व 6,60,00,00,000 पौण्ड निश्चित किया। इस समय तक मित्र-राष्ट्रों के समझदार व्यक्ति यह मान चुके थे कि जर्मनी इतने बड़े बिल की बहुत थोड़ी ही रकम चुका सकता है। मित्र-राष्ट्रों की सरकारों में अभी इतना साहस नहीं था कि वे अपनी दावों की कुछ रकम खुलेआम छोड़ दें। जर्मनी के ऋण को तीन प्रकार के बन्धपत्र (bonds) के अनुसार तीन भागों में बाँटा गया था। ये बन्धपत्र "A", "B" और "C" प्रकार के थे। "C" बन्धपत्रों की रकम 4,00,00,00,000 पौण्ड थी और ये बन्धपत्र जर्मनी को भुगतान-क्षमता स्थिर हो जाने तक क्षतिपूर्ति-आयोग के पास ही रहने थे। इस प्रकार पूरे कर्ज की दो-तिहाई रकम की वसूली अनिश्चित समय के लिए खटाई में डाल दी गई। शेष रकम के भुगतान के लिए मित्र-राष्ट्रों की सरकारों ने एक "भुगतान-अनुसूची" ("schedule of payment") तैयार की जिसके अनुसार जर्मनी को प्रतिवर्ष 10,00,00,000 पौण्ड और अपनी निर्यात-वस्तुओं के मूल्य का 25 प्रतिशत चुकाना था।

नोट

जर्मनी ने अनुसूची के अनुसार 5,00,00,000 पौण्ड की पहली किश्त अगस्त में चुका दी और तीन वर्ष से भी अधिक समय तक यही उसका अन्तिम नकद भुगतान रहा। किन्तु शीघ्र ही वह मुद्रा-संकट में फँस गया। संकट से पहले 20 मार्क (mark) का सामान्य मूल्य एक स्टर्लिंग पौण्ड का 1/20 था किन्तु 1920 के मध्य तक उसका मूल्य गिरते-गिरते एक पौण्ड के 1/250 तक गिर चुका था। कुछ समय तक वह इस आँकड़ें पर स्थिर रहा। इस स्थिरता के लिए विदेशी सट्टेबाज अधिकांशत: जिम्मेदार थे जो जल्दबाजी में यह मान बैठे थे कि मार्क का अपने मूल मूल्य पर किसी न किसी दिन आना सुनिश्चित है। किन्तु 1921 के ग्रीष्म में, जब यह स्पष्ट हो गया कि अनुसूची अपने दायित्वों के भुगतान के लिए जर्मनी को विदेशी मुद्रा की बहुत अधिक आवश्यकता पड़ेगी, तो मार्क के मूल्य का गिरना पुन: प्रारम्भ हो गया। नवम्बर में तो एक मार्क का एक पौण्ड के 1/1000 तक मूल्य हो गया और 1922 के ग्रीष्म में उसकी गिरावट और भी तेज और अनिष्टकारक हो गई।

इस समय तक सब जगह अर्थ-विशेषज्ञ यह मान चुके थे कि क्षतिपूर्ति का नकद भुगतान करने की जर्मनी की हैसियत अब बिल्कुल भी नहीं रही है। मित्र-राष्ट्रों के लिए मार्कों का कोई महत्त्व नहीं था और जर्मन सरकार यदि भुगतान करना चाहती भी तो उसके पास अन्य मुद्राएँ क्रय करने के साधन नहीं थे। ब्रिटिश सरकार इस बात पर जोर दे रही थी कि जर्मनी से दो वर्ष के लिए कोई नकद-भुगतान न माँगा जाए। फ्रांसीसी लोकमत यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था कि कर्जदार अपने न्याय दायित्वों से इस प्रकार बचने का प्रयत्न करे और विजयी मित्र-राष्ट्रों को युद्ध तथा पुनर्निर्माण का भारी बोझ स्वयं उठाना पड़े। 1921 की अन्तिम चेतावनी के कारण फ्रांसीसी सरकार की तृष्णा और भी बढ़ गई थी। यदि रूर पर मित्र-राष्ट्रों का दखल हो जाए, तो न केवल फ्रांस की सुरक्षा बढ़ सकती थी अपितु जर्मन उद्योग का लाभ भी मित्र-राष्ट्रों के राजकोषों में बलात् जमा कर लिया जा सकता था। यह योजना जो "उत्पादन गारण्टियों" ("productive guarantees") की नीति के रूप में घोषित की गई थी, कुछ फ्रांसीसी राजनीतिज्ञों को अत्यंत आकर्षक प्रतीत हुई। पुंकारे भी उनमें से एक था। दिसम्बर 1922 में जर्मनी ने माल के रूप में भुगतान तो किया पर स्वीकृत अनुसूची के अनुसार उसमें थोड़ी सी कमी रह गई। इस पर क्षतिपूर्ति-आयोग ने, ब्रिटिश प्रतिनिधि का मत विरोध में होते हुए भी, यह घोषित कर दिया कि जर्मनी ने "जानबूझकर भुगतान नहीं किया।" इस कदम का महत्त्व संधि के उस अनुच्छेद में निहित था जिसके अनुसार मित्र-राष्ट्रों को जर्मनी के जानबूझकर भुगतान न करने पर ऐसे कदम उठाने का अधिकार प्राप्त था। जिन्हें संबंधित सरकार आवश्यक समझतीं।

टास्क जर्मनी के 'निष्क्रिय प्रतिरोध' को समाप्त करने का भार किस पर आया?

ब्रिटिश सरकार की राय यह थी कि फ्रांस और बेल्जियम का एक अपर्याप्त कारण को लेकर और मित्र-राष्ट्रों की सहमति के बिना पृथक् रूप से यह कार्रवाई करना संधि का उल्लंघन था। उसे यह विश्वास भी नहीं था कि इस प्रकार का मार्ग अपनाने से क्षतिपूर्ति की रकम वसूल हो सकेगी। फ्रांस और ब्रिटेन के संबंधों में निश्चित रूप से तनाव आ गया। राइन लैण्ड में स्थिति अत्यंत कठिन हो गई। 1923 में उच्च आयोग ने लगभग सभी निर्णय ब्रिटेन के मत के विरुद्ध बहुमत से किये और जहाँ निर्णयों का संबंध रूर पर दखल से होता था, वहाँ ब्रिटिश क्षेत्र के अधिकारी उन्हें अमल में लाने से इंकार कर देते थे।

रूर पर फ्रांस और बेल्जियम का दखल हो जाने के कारण जर्मनी का सारा आर्थिक जीवन ही ठप्प हो गया। जहाँ तक फ्रांस का प्रश्न है, रूर क्षेत्र से प्राप्त कोयले और लोहे से खानों में काम करवाने का खर्च ही नहीं निकलता था। इधर जर्मनी पर इस दखल का तत्काल प्रभाव यह पड़ा कि उसके राजकोष का बिल्कुल ही दिवाला निकल गया। रूर क्षेत्र पर बलात् अधिकार से कुछ समय पूर्व ही मार्क का मूल्य गिरकर प्रति पौण्ड 35,000 हो चुका था। 1923 में पूरे वर्ष ह्रास जारी रहा; यहाँ तक कि कभी-कभी तो उसका मूल्य दूसरे दिन ही आधा हो जाता था। जो विदेशी अपनी खरी ("Good") मुद्राओं का इन अनापशनाप दरों पर विनियम करता था, वह कुछ ही पेंस प्रतिदिन

नोट

व्यय कर जर्मनी में ठाठ-बाट से रह सकता था या कुछ ही शिलिंग में सारे जर्मनी की यात्रा कर सकता था। 1923 के समाप्त होते-होते एक पौण्ड के 50,000 अरब मार्क प्राप्त किए जा सकते थे।

इसमें संदेह नहीं कि मार्क का आरम्भिक ह्रास जिन कारणों–युद्ध-काल की आर्थिक गड़बड़ी, प्रशासन-तंत्र का अव्यवस्थित हो जाना और अनन्त: मित्र-राष्ट्रों के दावों–से हुआ था, उन पर जर्मन सरकार का कोई बस नहीं था। किन्तु एक बार जब यह प्रक्रिया आरम्भ हो गई, तब जर्मन अधिकारियों ने उसे रोकने के सभी प्रयत्न शीघ्र ही छोड़ दिये। अत्यधिक और अनिश्चित क्षतिपूर्ति-कर्ज ने जर्मनी को न केवल अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने में बिल्कुल ही असमर्थ बना दिया अपितु इस दिशा में कोई भी गंभीर प्रयत्न करने की इच्छा को भी पंगु कर दिया, क्योंकि उसकी आर्थिक स्थिति जितनी ही अच्छी होती, उतना ही अधिक भुगतान उसे करना पड़ता। मार्क की इस तेजी से गिरावट को जर्मन अधिकारी भयानक संतोष के साथ देखते रहे क्योंकि उनका यह विचार था कि क्षतिपूर्ति वसूल करने की मित्र-राष्ट्रों की अन्तिम आशाओं पर ही ह्रास पानी फेरे दे रहा था। इस प्रक्रिया की अन्तिम अवस्थाओं ने तो मुद्रास्फीति के शब्दिक अर्थ–अर्थात् राजकोष की तात्कालिक आवश्यकताओं को छोड़ और किसी भी बात का विचार किए बिना असीमित संख्या में पत्रमुद्रा छापते चले जाना–का आदर्श उदाहरण ही प्रस्तुत कर दिया।

जो भी हो, रूर पर दखल, जिसने जर्मनी को बिल्कुल मिटा दिया, यूरोप के युद्धोत्तर इतिहास में एक नया मोड़ था। सितम्बर 1923 तक जर्मन विरोध की कमर टूट गई। इसी समय बर्लिन में एक नये मंत्रिमंडल का निर्माण हुआ था। विदेशों में अभी तक अज्ञात, गुस्टव स्ट्रेसमान (Gustav Stressmann) नामक एक राजनीतिज्ञ उसमें प्रधानमंत्री (Chancellor) और विदेशी-मंत्री बना। जर्मनी के "निष्क्रिय-प्रतिरोध" को समाप्त करने का भार स्ट्रेसमान पर ही आया। किन्तु प्रतिरोध वापस ले लेने से ही मित्र-राष्ट्र की सरकारों की समस्याएँ हल नहीं हो सकीं। किसी बड़े पैमाने पर क्षतिपूर्ति-भुगतान पुन: प्रारंभ करने से पहले, जर्मनी की अर्थव्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन करना स्पष्ट रूप में आवश्यक था। इस वर्ष के अन्त में अमेरिका ब्रिटिश, फ्रांसीसी, बेल्जियम और इटालियन सरकारों के साथ "विशेषज्ञों" की एक समिति नियुक्त करने के लिए तैयार हो गया। इस समिति का काम केवल व्यापारिक और अराजनीतिक दृष्टिकोण से इस बात पर विचार करना था कि जर्मनी की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए कौन-से उपाय काम में लाये जाएँ। फ्रांस की भावनाओं को ठेस न पहुँचाने की दृष्टि से समिति को दिए गए निर्देशों में जर्मनी की क्षतिपूर्ति करने की क्षमता पर विचार करने की आवश्यकता का कोई उल्लेख नहीं किया गया। किन्तु यह सभी जानते थे कि असली उद्देश्य क्या था। अमेरिकी "विशेषज्ञ" डावेस (Dawes) इस समिति का अध्यक्ष था और इसी कारण यह समिति "डावेस-समिति" (Dawes Committee) के नाम से विख्यात हुई। समिति ने अपना काम जनवरी 1924 में पेरिस में प्रारंभ किया।

21.3 सारांश (Summary)

जर्मनी के विदेश मंत्री पद पर स्ट्रेसमान की (उसने शीघ्र ही प्रधानमंत्री पद छोड़ दिया और अपना पूरा समय विदेशी मामलों में लगाया) नियुक्ति और डावेस-समिति का गठन उन तीन घटनाओं में से दो थीं जिन्होंने हृदय-परिवर्तन की पूर्व सूचना दी। तीसरी घटना फ्रांस में घटी। वहाँ की जनता भी यह अनुभव कर चुकी थी कि रूर पर बलात् अधिकार एक खर्चीली भूल थी और जर्मनी का दिवाला निकलने का मतलब था "उत्पादक गारण्टियों" की नीति का भी दिवाला। स्वयं फ्रांस में इस समय आर्थिक संकट की आशंका थी। इसलिए जर्मनी ने क्षतिपूर्ति की पर्याप्त रकम की उसे इस समय सबसे अधिक आवश्यकता थी। अत: स्पष्ट था कि इस रकम की वसूल करने का और कोई तरीका अपनाया जाए। मई 1924 में फ्रांस में जो चुनाव हुए, उनमें वामपक्षियों (leftists) की विजय हुई। पुंकारे-मंत्रिमंडल अपदस्थ हो गया और उसके स्थान में हैरियत (Herriot) का उग्र मंत्रिमंडल (radical ministry) बना। इस घटना की तारीख 11 मई, 1924 को शक्ति द्वारा शान्ति स्थापित करने के प्रयत्नों के प्रथम युद्धोत्तर-काल को समाप्त करने वाली तारीख माना जा सकता है। कुछ फ्रांसीसियों ने बाद में इस बात पर दु:ख भी प्रकट किया कि किसी भी कीमत पर संधि को लागू करने की पुंकारे की नीति को हमेशा के लिए तिलांजलि दे दी गई। किन्तु 1924 में

नोट

यह सामान्य रूप से स्वीकार कर लिया गया था कि वह नीति असफल रही थी और यदि वह जारी रहती तो फ्रांस ग्रेट ब्रिटेन में खुली टक्कर हो गई होती।

21.4 शब्दकोश (Keywords)

1. ज्ञापन (Memorandum)–स्मरण-पत्र
2. अनुशास्ति (Sanction)–अनुमति

21.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. यूरोपीय घटनाचक्र का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं स्थायी तथ्य क्या था?
2. गारण्टी-व्यवस्था से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।
3. 'लघु समहितसंघ' पर टिप्पणी लिखिए।
4. जर्मनी की पराजय का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. रूमानिया
2. चेकोस्लोवाकिया
3. लघु समहितसंघ
4. (ख) फरवरी, 1924
5. (क) सितंबर, 1923
6. (ग) 1924

21.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
2. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
3. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
4. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
5. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
6. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
7. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*

नोट

इकाई 22: एकल ध्रुवीय विश्व : वर्तमान-विरोधी
(The Unipolar World : Counter-Currents)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

22.1 शीतयुद्ध की प्रकृति (Nature of Cold War)

22.2 शीतयुद्ध के उत्तरदायी प्रमुख कारक (कारण) (Responsible Main Causes of Cold War)

22.3 शीतयुद्ध का अवसान: एकल ध्रुवीय विश्व-व्यवस्था (The End of Cold War : The Unipolar World-System)

22.4 शीतयुद्ध की समाप्ति का विश्व पर प्रभाव (Effect on the World of the End of Cold War)

22.5 सारांश (Summary)

22.6 शब्दकोश (Keywords)

22.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

22.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- शीतयुद्ध की प्रकृति को जानने में।
- शीतयुद्ध के उत्तरदायी प्रमुख कारण जानने में।
- शीतयुद्ध की समाप्ति का विश्व पर प्रभाव जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौर में जब हिटलर ने सोवियत संघ पर आक्रमण किया तो सोवियत संघ ने संयुक्त राज्य अमेरिका व ब्रिटेन से हिटलर के विरुद्ध दूसरा मोर्चा खोलने का आग्रह किया था परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका एवं ब्रिटेन ने स्टालिन के इस आग्रह को गंभीरता से नहीं लिया, तथा कालान्तर में जब दूसरा मोर्चा स्थापित किया वह भी गलत दिशा में रहा था, इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के दौर में दूसरे मोर्चे के प्रश्न पर दोनों महाशक्तियों में एक-दूसरे के प्रति संदेह के बीज अंकुरित हो गये जो कालान्तर में शीतयुद्ध की पृष्ठभूमि तैयार करने में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका तैयार कर दी।

नोट

22.1 शीतयुद्ध की प्रकृति (Nature of Cold War)

शीतयुद्ध की प्रकृति मूलत: एक राजनयिक युद्ध सदृश रही; यह युद्ध सैनिकों द्वारा नहीं अपितु नेताओं और राजनयिकों द्वारा लड़ा गया; इस युद्ध में दोनों महाशक्तियों (संयुक्त राज्य अमेरिका व सोवियत संघ) की राजनयिक उठापटक इतनी तीव्र हो जाती थी कि अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में युद्ध की आसन्न सम्भावना दृष्टिगत होने लगती थी; फिर भी दोनों महाशक्तियाँ परस्पर दौत्य संबंध (Diplomatic Relations) बनाये रखने में सक्रिया रहीं परन्तु उनमें परस्पर कटुता, शत्रुता बनी रही थी। दोनों महाशक्तियाँ अपनी-अपनी विचारधारा एवं नीतियों का विश्व में प्रचार-प्रसार करने तथा अपना प्रभाव व प्रभुत्व स्थापित करने में संलग्न रही और इस हेतु उन्होंने सैनिक हस्तक्षेप, सैन्य सहायता, शस्त्र आपूर्ति, शस्त्रीकरण, सैनिक गुटबंदी, प्रादेशिक संगठनों का निर्माण आदि उपायों को प्रयुक्त करती रही थीं।

नोट्स

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान सोवियत संघ को विशेष हानि हुई थी।

22.2 शीतयुद्ध के उत्तरदायी प्रमुख कारक (कारण) (Responsible Main Causes of Colw War)

शीतयुद्ध के उत्तरदायी प्रमुख कारक (कारण) इस प्रकार स्वीकार किये जाते हैं–

1. वैचारिक प्रतिद्वन्द्विता: संयुक्त राज्य अमेरिका पूँजीवादी विचारधारा का राष्ट्र था। वह सोवियत संघ की साम्यवादी विचारधारा को मानव की स्वतंत्रता एवं विश्व शान्ति के लिए गम्भीर खतरे के रूप में स्वीकार करता था। दूसरी ओर, सोवियत संघ पूँजीवादी विचारधारा को शोषणकारी एवं उपनिवेशवादी विचारधारा स्वीकार करता था, जिसे वह नष्ट करने के लिए कृत-संकल्प था। इसी परिप्रेक्ष्य में दोनों महाशक्तियों के मध्य शत्रुता-कटुता बढ़ती गई जो शीतयुद्ध के रूप में परिणत हुई।

2. दोनों महाशक्तियों के मध्य युद्ध काल का संदेह: द्वितीय विश्वयुद्ध के दौर में जब हिटलर ने सोवियत संघ पर आक्रमण किया तो सोवियत संघ ने संयुक्त राज्य अमेरिका व ब्रिटेन से हिटलर के विरुद्ध दूसरा मोर्चा खोलने का आग्रह किया था परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका एवं ब्रिटेन ने स्टालिन के इस आग्रह को गंभीरता से नहीं लिया, तथा कालान्तर में जब दूसरा मोर्चा स्थापित किया वह भी गलत दिशा में रहा था, इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध के दौर में दूसरे मोर्चे के प्रश्न पर दोनों महाशक्तियों में एक-दूसरे के प्रति संदेह के बीज अंकुरित हो गये जो कालान्तर में शीतयुद्ध की पृष्ठभूमि तैयार करने में बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका तैयार कर दी।

3. जर्मनी को अपने प्रभाव में लेने की सोवियत नीति: द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद सोवियत संघ ने जर्मनी को अपने प्रभाव क्षेत्र में व्यवस्थित करने का प्रयास किया जिसने शीतयुद्ध को प्रारंभ कर दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौर में जर्मनी ने सोवियत संघ में भारी जन-धन की क्षति की थी अत: सोवियत संघ ने अपनी विजय बेला में हानि की क्षतिपूर्ति के रूप में जर्मन औद्योगिक मशीनरी को अपने देश में ले जाना प्रारंभ कर दिया; बर्लिन की नाकेबंदी करके जर्मन नेताओं एवं जर्मन जनता को बंदी बनाना प्रारंभ किया तथा जर्मन समाजवादी दल का साम्यवादी दल में बलपूर्वक विलय किया। सोवियत संघ के इन कार्यों से संयुक्त राज्य अमेरिका तथा पश्चिमी देश क्रुद्ध हो गये।

4. सोवियत संघ द्वारा याल्टा समझौते की व्यवस्थाओं का उल्लंघन: 1945 ई. में (द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान) संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ व ब्रिटेन ने याल्टा में एक समझौता किया था कि युद्ध के पश्चात् वे पोलैण्ड में स्वतंत्र सरकार की स्थापना करेंगे परन्तु युद्ध के उपरांत सोवियत संघ ने समझौते का उल्लंघन करते हुए स्वयं द्वारा

नोट

संरक्षित 'लुबलिन सरकार' को पोलैण्ड की जनता पर थोपने का दबाव बनाया तथा अमेरिकी व ब्रिटिश पर्यवेक्षकों को पोलैण्ड में प्रवेश की अनुमति न देकर उन्हें असंतुष्ट कर दिया। इसके अतिरिक्त हंगरी, बल्गारिया, रूमानिया, चेकोस्लोवाकिया आदि पूर्वी यूरोपीय देशों में साम्यवादी सरकारों की सोवियत संघ ने स्थापना करा दी, जिससे संयुक्त राज्य अमेरिका सोवियत संघ को मित्र की अपेक्षा शत्रु के रूप में देखने लगा। जापान के विरुद्ध युद्ध में भाग लेने की सोवियत संघ की आनाकानी, जो याल्टा समझौते का खुला उल्लंघन था, ने संयुक्त राज्य अमेरिका को सोवियत संघ के प्रति संदेह से भर दिया।

5. संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा परमाणु बम के रहस्य की सोवियत संघ को जानकारी न देना: संयुक्त राज्य अमेरिका जिसने परमाणु बम का आविष्कार कर लिया था, ने सोवियत संघ से इस रहस्य को कभी प्रगट नहीं किया, जब संयुक्त राज्य अमेरिका ने जापान के हिरोशिमा एवं नागासाकी पर परमाणु बम गिराया तब सोवियत संघ को इसकी जानकारी हुई, इस प्रकरण ने सोवियत संघ को संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रति संदेह से भर दिया, इससे शीतयुद्ध का पथ-प्रशस्त हो गया।

6. पश्चिमी राष्ट्रों से सोवियत संघ को यथेष्ट सहायता राशि की प्राप्ति न होना: द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान सोवियत संघ को अपार क्षति हुई थी, जर्मन आक्रमण के वेग ने सोवियत संघ को बर्बाद कर दिया था, लैण्डलीज अधिनियम के अंतर्गत पश्चिमी राष्ट्रों से सोवियत संघ को प्राप्त होने वाली सहायता नहीं के बराबर थी, इस कारण सोवियत संघ 'संयुक्त राज्य अमेरिका' से अत्यन्त क्षुब्ध था; द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद जब संयुक्त राज्य अमेरिका ने सहायता करने से इन्कार कर दिया तो सोवियत संघ का क्रुद्ध होना स्वाभाविक था, जिसने अन्ततः शीतयुद्ध को बढ़ावा दिया।

7. सोवियत संघ द्वारा सुरक्षा परिषद् में वीटों का अधिकाधिक प्रयोग: सोवियत संघ ने पश्चिमी शक्तियों के प्रस्तावों पर बारम्बार वीटो का प्रयोग कर उन्हें असफल कर दिया, इससे संयुक्त राज्य अमेरिका क्षुब्ध हो उठा फलतः दोनों महाशक्तियों के मध्य शीतयुद्ध और भी गतिशील हो गया।

उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त कुछ और भी कारक रहे, जिनसे शीतयुद्ध को विस्तार प्राप्त हुआ, ये प्रमुख कारक थे–

(*i*) पाश्चात्य देशों तथा संयुक्त राज्य अमेरिका की सोवियत संघ के विरुद्ध प्रचार नीति;

(*ii*) सोवियत संघ द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका में साम्यवादी गतिविधियों को प्रोत्साहित करना;

(*iii*) दोनों महाशक्तियों के राष्ट्रीय हितों में अन्तर;

(*iv*) दोनों महाशक्तियों द्वारा शक्ति राजनीति का सहारा लेना;

(*v*) तुर्की पर सोवियत संघ के प्रभाव में वृद्धि।

शीतयुद्ध को गति देने वाले प्रमुख कारक:

***(i)* ट्रूमैन सिद्धांत:** संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन द्वारा साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए 'आर्थिक सहायता की नीति' जो ट्रूमैन सिद्धांत के रूप में चर्चित है, अपनाई। इस सिद्धांत के अन्तर्गत यूनान एवं तुर्की की सहायता की जानी थी तथा विश्व के स्वतंत्र समाजों को साम्यवादी खेमे में जाने से बचाना था, यह सिद्धांत लगभग तीन दशक तक संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति का आधार रहा। इस कारक ने शीतयुद्ध को जटिल बनाया।

***(ii)* मार्शल योजना:** अप्रैल, 1947 में संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेश सचिव मार्शल ने यूरोपीय राष्ट्रों को साम्यवादी प्रभाव में जाने से बचाने हेतु आर्थिक पुनर्निर्माण की योजना प्रस्तुत की। इसके अन्तर्गत आर्थिक सहायता उन यूरोपीय राष्ट्रों को मिलनी थी जो अपने देश में साम्यवाद का प्रसार न होने देने के लिए प्रयासरत होंगे, इस योजना ने शीतयुद्ध को बढ़ावा भी दिया व जटिल भी बना दिया।

नोट

***(iii)* नाटो का संगठन:** 4 अप्रैल, 1949 को संयुक्त राज्य अमेरिका एवं कनाडा सहित पश्चिमी यूरोप के दस अन्य राष्ट्रों (फ्रांस, डेनमार्क, आयरलैण्ड, इटली, हॉलैण्ड, पुर्तगाल, ब्रिटेन, नार्वे, बेल्जियम, लक्जेमबर्ग) ने मिलकर एक सैन्य संगठन (नार्थ एटलांटिक ट्रीटी आर्गेनाइजेशन) नाटो का गठन किया। इस संगठन का उद्देश्य था कि नाटो संधि में सम्मिलित किसी भी राष्ट्र के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण सभी राष्ट्रों पर आक्रमण समझा जायेगा और इसका सम्मिलित रूप से प्रतिकार किया जायेगा।

***(iv)* वारसा पैक्ट की संरचना:** नाटो के गठन के बाद सोवियत संघ ने भी नाटो शक्ति को संतुलित करने हेतु व अपने मित्र देशों की रक्षा व सहायता हेतु 14 मई, 1955 को आठ अन्य राष्ट्रों के साथ एक साम्यवादी प्रतिरक्षा समझौता (Communist Defence Pact) बनाया, जिसे वारसा पैक्ट कहा गया, यह पैक्ट नाटो को सोवियत संघ का सैन्य प्रत्युत्तर था। इससे शीतयुद्ध व्यापक व जटिल हो गया।

***(v)* आइजनहावर सिद्धांत:** 6 अक्टूबर, 1956 को संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति आइजनहावर ने सोवियत संघ के विरुद्ध उग्र नीतियों की घोषणा की जिसके अन्तर्गत मध्य पूर्व में साम्यवाद के प्रभाव को नियंत्रित करने तथा राष्ट्रीय हितों की रक्षा हेतु राष्ट्रपति को सेना के प्रयोग का अधिकार दिया गया था; इस घोषणा व सिद्धांत ने मध्यपूर्व को शीतयुद्ध का क्षेत्र बना दिया।

***(vi)* क्यूबा संकट:** क्यूबा संकट शीतयुद्ध काल की अत्यधिक त्रासदीपूर्ण घटना के नाम से चर्चित है। यह घटना शीतयुद्ध का चरम परिणति स्वीकार की जाती है। इस संकट ने दोनों महाशक्तियों को युद्ध के कगार पर पहुँचा दिया था। 1 जनवरी, 1959 को क्यूबा (कैरेबियाई सागर में संयुक्त राज्य अमेरिका में 150 किमी. दूर स्थित एक द्वीप) में फिदेल कास्त्रो के नेतृत्व में साम्यवादी सरकार गठित हुई। इससे संयुक्त राज्य अमेरिका क्षुब्ध हो उठा और उसने साम्यवाद के प्रभाव को समाप्त करने हुते राजनीतिक, आर्थिक संबंध समाप्त करते हुए क्यूबा को सैन्य घेरेबंदी में लेने का प्रयास किया, फलस्वरूप सोवियत संघ ने 1961 ई. के जनवरी माह में क्यूबा में विध्वंसात्मक मिसाइलों से युक्त सैनिक अड्डे स्थापित करना आरंभ कर दिया, इससे शान्ति खतरे में पड़ गई। अन्ततः शीतयुद्ध जटिल व विस्तृत होता गया।

क्या आप जानते हैं संयुक्त राज्य अमेरिका ने जापान के हिरोशिमा एवं नागासाकी पर परमाणु बम गिराया था।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (विश्व राजनीति) पर शीतयुद्ध का प्रभाव: अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति (विश्व राजनीति) पर शीतयुद्ध का व्यापक प्रभाव दृष्टिगत हुआ, इसके मुख्य प्रभावों को इस प्रकार स्वीकार किया जाता है–

***(i)* विश्व दो गुटों में विभाजित:** शीतयुद्ध की राजनीति के फलस्वरूप सम्पूर्ण विश्व दो गुटों में विभक्त हो गया था–एक **'पूँजीवादी राष्ट्रों का गुट'** जिसका नेतृत्व संयुक्त राज्य अमेरिका कर रहा था, दूसरा **'साम्यवादी राष्ट्रों का गुट'** जिसका नेतृत्व सोवियत संघ कर रहा था। दोनों महाशक्तियों ने अपनी विचारधारा एवं नीतियों को सम्पूर्ण विश्व पर लादने का प्रयास किया।

***(ii)* भय एवं आतंक का वातावरण स्थापित:** शीतयुद्ध के फलस्वरूप सम्पूर्ण विश्व में भय एवं आतंक का वातावरण स्थापित होता गया। महाशक्तियों की सैन्य प्रतिस्पर्धा एवं अनेक राष्ट्रों के शस्त्रीकरण से विश्व के अन्यान्य देश दहल उठे।

***(iii)* सैन्य एवं क्षेत्रीय गुटबंदी का पथ-प्रशस्त:** शीतयुद्ध ने अनेक सैन्य एवं क्षेत्रीय गुटों को जन्म दिया, नाटो, वारसा पैक्ट, सीटो, सेण्टो जैसे विभिन्न संगठन, मुख्यतः शीतयुद्धीय संबंधों की राजनीति से ही बने थे। महाशक्तियों ने सभी छोटे राष्ट्रों को दबाव बनाकर इन गुटों में सम्मिलित करना प्रारंभ किया था, इन गुटों ने शीतयुद्ध की उग्रता को बढ़ाया तथा निःशस्त्रीकरण की समस्या को जटिल बना दिया।

नोट

(iv) परमाणु युद्ध का भयाक्रांत वातावरण: महाशक्तियों के मध्य बढ़ती सैन्य प्रतिस्पर्धा व शीतयुद्ध की राजनीति ने सोवियत संघ को परमाणु अस्त्रों का विकास करने के लिए प्रेरित किया। संयुक्त राज्य अमेरिका परमाणु अस्त्रों का द्वितीय विश्वयुद्ध काल में ही विकास कर चुका था। फलस्वरूप सम्पूर्ण विश्व में परमाणु युद्ध का भयाक्रांत वातावरण छा गया, इसकी चरम परिणति 'क्यूबा संकट' में उजागर हुई; इस संकट के टलने के पश्चात् ही दोनों महाशक्तियाँ नि:शस्त्रीकरण हेतु सोचने के लिए प्रेरित हुई थीं।

(v) शस्त्रीकरण की होड़ प्रारंभ: शीतयुद्ध के फलस्वरूप विश्व में शस्त्रीकरण की होड़ प्रारंभ हुई। दोनों महाशक्तियों व उनके समर्थक राष्ट्रों ने अपनी शक्ति एवं प्रभाव में वृद्धि करने हेतु नवीनतम विध्वंसात्मक हथियारों का विकास करना प्रारंभ कर दिया।

(vi) विश्व में मानवीय हित के कल्याणकारी कार्यों की उपेक्षा: शीतयुद्ध के दौरान दोनों महाशक्तियों व उनके समर्थक राष्ट्र अपनी शक्ति संचय के लिए संसाधनों का उपयोग सैन्य योजनाओं में करते रहे जिससे मानवीय हित के कल्याणकारी कार्यों की उपेक्षा हुई। स्वास्थ्य, शिक्षा, आर्थिक व सांस्कृतिक प्रगति के कार्य बाधित हुए।

निष्कर्ष: उपरोक्त तथ्यों की समीक्षा से यह निष्कर्ष दिग्दर्शित होता है कि शीतयुद्ध के उद्भव के पीछे अनेक कारक निहित थे, शीतयुद्ध का प्रभाव वैश्विक स्तर पर पड़ा। सामान्यतया शीतयुद्ध का नकारात्मक प्रभाव ही अधिक परिलक्षित होता है परन्तु इसके कुछ सकारात्मक प्रभाव भी दृष्टिगत हुए। शीतयुद्ध और उसके फलस्वरूप उभरी द्विध्रुवीय विश्व राजनीति ने **गुटनिरपेक्ष आंदोलन** का सूत्रपात किया, **शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व** को प्रोत्साहन, **तकनीकी उन्नति** की प्रेरणा, **शक्ति संतुलन की स्थापना** इसके अन्याय सकारात्मक प्रभाव रहे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. ..... के फलस्वरूप संपूर्ण विश्व में भय एवं आतंक का वातावरण स्थापित हो गया था।
2. ..... शीतयुद्ध काल की अत्यधिक त्रासदीपूर्ण घटना है।
3. ..... तीन दशक तक संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति का आधार रहा।

22.3 शीतयुद्ध का अवसान: एकल ध्रुवीय विश्व-व्यवस्था (The End of Cold War : The Unipolar World-System)

1991 ई. में शीतयुद्ध का पूर्णत: अवसान हो गया। शीतयुद्ध की समाप्ति के उपरांत विश्व का जनसामान्य शीतयुद्ध विहीन **'एकल ध्रुवीय विश्व-व्यवस्था'** (Unipolar World System) में रह रहा है। इस व्यवस्था व शीतयुद्ध के अवसान के कुछ प्रमुख कारण व प्रेरक तत्व रहे थे, वे थे–

(i) दोनों महाशक्तियों की अवधारणाओं में परिवर्तन: 1990 के दशक में दोनों महाशक्तियों की अवधारणाओं में गंभीर परिवर्तन के लक्षण दृष्टिगत हुए। दोनों महाशक्तियों को शीतयुद्ध काल की प्रतिद्वन्द्विता एवं प्रतिस्पर्धा की निरर्थकता का अहसास हुआ और उन दोनों ने शीतयुद्धीय कटुता को समाप्त करने की चेष्टा हेतु अपनी-अपनी अवधारणाओं में परिवर्तन करने तथा परस्पर सहयोग करने की नीति अपनाई, इसी के अन्तर्गत शीतयुद्ध की समाप्ति की पृष्ठभूमि निर्मित हुई।

(ii) सोवियत संघ के राष्ट्रपति गोर्बाचोव की भूमिका: सोवियत संघ के राष्ट्रपति **मिखाइल गोर्बाचोव** ने सोवियत संघ की आर्थिक स्थिति को ठीक करने हेतु **'खुलेपन'** एवं **'आर्थिक पुनर्निर्माण'** हेतु अपनी **'ग्लासनोस्त'** एवं **'पेरेस्त्राइका'** की नीतियों पर कार्य करना प्रारंभ किया। इससे देश के सैन्य व्यय में कमी लाने, संयुक्त राज्य

नोट

अमेरिका के साथ सहयोग में वृद्धि करने तथा शीतयुद्ध के तनाव को कम करने के प्रयास प्रारंभ हुए। राष्ट्रपति गोर्बाचोव ने अफगानिस्तान से सोवियत सेनाओं की वापसी व संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ अपने प्रक्षेपास्त्र नष्ट करने संबंधी समझौता किया, परिणामस्वरूप दोनों महाशक्तियों के मध्य कटुता का अन्त हो गया व अनेक नि:शस्त्रीकरण संधियों पर हस्ताक्षर हो गये, इस प्रकार शीतयुद्ध के अवसान का अध्याय प्रारंभ हुआ।

***(iii)* संयुक्त राज्य अमेरिका पर भारी आर्थिक बोझ:** शीतयुद्ध के काल में संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपने प्रभाव विस्तार हेतु व साम्यवाद के प्रभाव को समाप्त करने हेतु अनेकानेक राष्ट्रों को सहायता दे रखी थी, उनकी सुरक्षा हेतु सैनिक अड्डे बना रखे थे और अस्त्र-शस्त्रों में अंधाधुन्ध वृद्धि कर रखी थी, जिसके कारण उस पर आवश्यकता से अधिक आर्थिक बोझ था, फलत: संयुक्त राज्य अमेरिका शीतयुद्ध के तनाव को कम करने व समाप्त करने के लिए सोवियत संघ से वार्ताएँ करने हेतु कटिबद्ध हो गया।

***(iv)* दोनों महाशक्तियों के लिए क्षेत्रीय संघर्षों के प्रतिकूल परिणाम:** दोनों महाशक्तियाँ अपने-अपने प्रभाव विस्तार हेतु जिन क्षेत्रीय संघर्षों में उलझी हुई थीं, उनके परिणाम इन महाशक्तियों की आशाओं के प्रतिकूल रहे। संयुक्त राज्य अमेरिका ने वियतनाम के संघर्ष में उलझकर भारी आर्थिक तबाही प्राप्त की और प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुँचाया।

***(v)* सोवियत संघ का विघटन:** शीतयुद्ध का अन्त एवं सोवियत संघ का विघटन दोनों घटनाएँ एक साथ हुई। 26 दिसम्बर, 1991 ई. को सोवियत संघ की सुप्रीम सोवियत ने सोवियत संघ की समाप्ति तथा स्वयं को भंग करने की घोषणा कर दी। सोवियत संघ के विघटन के साथ ही यह स्वीकार कर लिया गया कि सोवियत गुट समाप्त हो गया है, इससे शीतयुद्ध का समाप्त होना निश्चितप्राय था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय (Multiple Choice Questions):

4. ..... ई. में संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ व ब्रिटेन ने याल्टा में एक समझौता किया था।

   (क) 1945 (ख) 1845 (ग) 1645 (घ) इनमें से कोई नहीं

5. नाटो के गठन के बाद सोवियत संघ ने ..... को आठ अन्य राष्ट्रों के साथ एक साम्यवादी प्रतिरक्षा समझौता किया, जिसे वारसा पैक्ट कहा गया।

   (क) 14 मई, 1855 (ख) 14 मई, 1955

   (ग) 14 अप्रैल, 1755 (घ) 20 मई, 1955

6. ..... को संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति आइजनहावर ने सोवियत संघ के विरुद्ध उग्र नीतियों की घोषणा की।

   (क) 6 अक्टूबर, 1956 (ख) 6 नवंबर, 1956

   (ग) 6 दिसंबर, 1956 (घ) इनमें से कोई नहीं

टास्क सोवियत संघ के विघटन के उपरांत उसका उत्तराधिकार किसे प्राप्त हुआ?

22.4 शीतयुद्ध की समाप्ति का विश्व पर प्रभाव (Effect on the World of the End of Cold War)

नोट

शीतयुद्ध की समाप्ति के साथ ही विश्व-व्यवस्था में दूरगामी परिवर्तन हुए। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में हुए इन नवीन परिवर्तनों के आलोक में नवीन विचारधारा एवं नवीन संबंधों का प्रवेश और उसका प्रभाव इस प्रकार दृष्टव्य है–

(*i*) वर्तमान विश्व (शीतयुद्ध की समाप्ति के पश्चात्) में संयुक्त राज्य अमेरिका का वर्चस्व स्थापित हो गया। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में अमेरिका शक्ति को संतुलित करने वाली शक्ति के अभाव में वह अधिक महत्त्वाकांक्षी व आक्रामक हो गया तथा अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने लगा।

(*ii*) आज विश्व में शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए उत्तरदायी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ भी अमेरिका प्रभाव एवं नियंत्रण में कार्यरत हो गयी हैं; संयुक्त राज्य अमेरिका अपने प्रस्तावों के किसी भी विरोध को सहन करने के लिए तैयार नहीं हैं; उदाहरण के लिए इराक पर आक्रमण के संदर्भ में उसने धमकी देते हुए कहा था कि यदि उसके प्रस्तावों का संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अनुमोदन नहीं किया गया तो उसका वही हाल होगा जो लीग ऑफ नेशन्स का हुआ था।

(*iii*) शीतयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् राजनीतिक मुद्दों के स्थान पर आर्थिक मुद्दों को प्रमुखता दी जाने लगी; इस कारण विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ.) शनैः-शनैः संयुक्त राष्ट्रसंघ (यू.एन.ओ.) को प्रतिस्थापित करने लगा है। अब संयुक्त राज्य अमेरिका आर्थिक सुधारों के नाम पर सम्पूर्ण विश्व को पूँजीवादी बाजार व्यवस्था अपनाने के लिए विवश कर रहा है।

(*iv*) एकध्रुवीय विश्वव्यवस्था में गुटनिरपेक्ष आंदोलन को अपनी प्रासंगिकता बनाये रखने की चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। पारस्परिक एकता एवं सहयोग के अभाव के कारण निर्गुट राष्ट्र न तो विश्व व्यापार संगठन की व्यापारिक वार्ताओं में लाभकारी भूमिका निर्णीत कर पा रहे हैं और न संयुक्त राष्ट्र संघ के मंच पर कोई सार्थक पहल कर पा रहे हैं।

(*v*) नवीन विश्व व्यवस्था में संयुक्त राज्य अमेरिका की परमाणु नीति विकासशील राष्ट्रों के लिए आत्मघाती सिद्ध हो रही है। एन.पी.टी. तथा सी.टी.बी.टी. जैसी भेदभावपूर्ण संधियों के माध्यम से संयुक्त राज्य अमेरिका सम्पूर्ण विश्व में अपना परमाणु बर्चस्व स्थापित करना चाहता है, साथ ही शेष विश्व की परमाणु प्रतिरोधक क्षमता को समाप्त अथवा सीमित कर देना चाहता है।

(*vi*) शीतयुद्ध के अन्त के साथ ही शस्त्रीकरण सैन्य प्रतिस्पर्धा, सैन्य गठबंधन जैसे तथ्य अपनी सार्थकता खो बैठे। विश्व परिदृश्य में हुए इन परिवर्तनों ने बर्लिन की दीवार ढहा दी, जर्मनी का पुनः एकीकरण कर दिया, पूर्वी यूरोप से साम्यवाद की अन्त्येष्टि कर दी गई तथा सोवियत संघ से अलग हुए गणराज्यों का विश्व राज्य परिवार में उदय हुआ।

(*vii*) साम्यवादी खेमे (Communist Block) के विघटन का प्रभाव विश्व अर्थव्यवस्था पर परिलक्षित हुआ। विश्व की सबसे बड़ी समाजवादी अर्थव्यवस्था के टूटने के कारण अर्थव्यवस्था में समाजवादी मॉडल के स्थान पर 'पूँजीवादी मॉडल' को सर्वव्यापी मान्यता प्राप्त हो गई। विश्व में आर्थिक उदारवाद की एक लहर चल पड़ी, जिसे विश्व के विभिन्न भागों में पनपे आर्थिक संगठनों, मुक्त व्यापार क्षेत्रों में एकीकृत मुद्रा 'यूरो' के उदय ने और भी तीव्र बना दिया। इस आर्थिक लहर के कारण ही विश्व का प्रत्येक देश आज उदारीकरण, सार्वभौमीकरण और खुलेपन का अनुसरण करने के लिए विवश है।

नोट

22.5 सारांश (Summary)

निश्चित ही शीतयुद्ध के अन्त का सम्पूर्ण विश्व पर बहुआयामी प्रभाव पड़ा। इसने विश्व व्यवस्था को उलट दिया। विश्व भर में उदार लोकतंत्रवाद तथा पूँजीवाद का वातावरण स्थापित कर दिया। यद्यपि शक्ति के लिए निरन्तर चलने वाले संघर्ष ने कट्टरता, धार्मिक उन्माद व आतंकवाद को भी उभारने में कसर नहीं छोड़ी फिर भी राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक मित्रता, द्विपक्षीय व बहुपक्षीय सहयोग, सतत् विकास नि:शस्त्रीकरण मानव अधिकारवाद, पर्यावरणवाद तथा नारी अधिकारवाद जैसे मुद्दों पर जागरूकता तथा आम सहमति को प्रोत्साहन मिला है।

22.6 शब्दकोश (Keywords)

1. साम्यवादी (Communist)–साम्यवाद का समर्थक।
2. दौत्य संबंध (Diplomatic Relations)–कूटनीतिक संबंध

22.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. शीतयुद्ध की प्रकृति से क्या तात्पर्य है?
2. शीतयुद्ध के लिए उत्तरदायी प्रमुख कारण बताइए।
3. विश्व राजनीति पर शीतयुद्ध का क्या प्रभाव पड़ा? स्पष्ट कीजिए।
4. शीतयुद्ध के अवसान के प्रमुख कारण बताइए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. शीतयुद्ध	2. क्यूबा संकट	3. ट्रूमैन सिद्धांत
4. (क) 1945	5. (ख) 14 मई, 1955	6. (क) 6 अक्टूबर, 1956

22.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
2. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
4. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
5. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*

नोट

इकाई 23: राजनीतिक क्रान्तिः फ्रांस
(Political Revolution : France)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

23.1 फ्रांस की राज्यक्रान्ति, 1789–1799 ई. (The French Revolution, 1789-1799 A.D.)

23.2 फ्रांस की राज्यक्रान्ति का क्रमिक प्रसार (The Expansion of the French Revolution)

23.3 सारांश (Summary)

23.4 शब्दकोश (Keywords)

23.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

23.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- फ्रांस की राज्यक्रान्ति को जानने में।
- निरंकुश शासन के अन्य उपकरण जानने में।
- रूसो का सामाजिक संविदा का सिद्धांत जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

सामाजिक पुनर्गठन के लिए जो सिद्धांत और मार्ग रूसो ने खोजा वह अत्यन्त क्रान्तिकारी और सर्वथा मौलिक दर्शन था। उसने तर्कों के आधार पर पुरातन व्यवस्था की धज्जियाँ उड़ा दीं। उसके जीवनकाल में ही उसके सिद्धांतों का प्रभावशाली रूस में प्रचार-प्रसार हुआ। उसने जनतंत्र की स्थापना के लिए फ्रांस को तैयार कर दिया। स्वतंत्रता और समानता रूसो के मूल सिद्धांत थे। स्वतंत्रता और समानता का सिद्धांत ही फ्रांसीसी क्रान्ति का मुख्य नारा बन गया। इसमें बन्धुत्व की बात और जोड़ दी गई थी। संक्षेप में कहा जा सकता है कि रूसो अठारहवीं सदी का सबसे अधिक प्रभावशाली दार्शनिक था। दूषित पुरातन व्यवस्था के प्रति, रूसो ने तर्कों के आधार पर लोगों में घृणा की भावना उत्पन्न थी।

23.1 फ्रांस की राज्य क्रान्ति, 1789–1799 ई. (The French Revolution, 1789-1799 A.D.)

राज्य क्रान्ति के कारण: क्रान्ति का तात्पर्य है स्थापित व्यवस्था के प्रति सामूहिक जन समाज का विरोध एवं विद्रोह तथा उसमें किया गया आमूल परिवर्तन। जब एक बड़ा जनसमूह अपनी अशक्त जीवन प्रणाली से व्याकुल हो उठता

नोट

है, तब वह चली आ रही व्यवस्था को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न करता है और नवीन व्यवस्था स्थापित करता है। इस दृष्टि से संसार के दीर्घकाल इतिहास में अनेक बार क्रान्तियों का विस्फोट हुआ। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई फ्रांस की राज्य क्रान्ति विश्व इतिहास की अन्य अनेक क्रान्तियों की तुलना में सबसे अधिक उग्र, हिंसक और दूरगामी परिणामों वाली क्रान्ति थी। युग परिवर्तनकारी फ्रांस की क्रान्ति की इस घटना का आरंभ सन् 1789 ई. में हुआ और एक दशक अर्थात् 1799 ई. तक इसमें अनेक उतार-चढ़ाव आए। फ्रांस की राज्य क्रान्ति के कारणों, उद्देश्यस्वरूप और उसकी उपलब्धियों का विश्लेषण अलगे पृष्ठों में है।

फ्रांस की राज्य क्रान्ति के कारण: यह क्रान्ति किसी एक कारण का नहीं अपितु अनेकानेक कारणों का सामूहिक परिणाम था। इस क्रान्ति के पूर्व जो भौतिक परिस्थितियाँ थीं वे ही अन्तत: क्रान्ति के लिए उत्तरदायी थीं। लगभग पिछले एक सौ वर्षों में इस महान् क्रान्ति के लिए विविध प्रकार की विस्फोटक सामग्री संगठित हो रही थी। क्रान्ति के प्रमुख कारणों का परिचय निम्नानुसार है–

राजनीतिक कारण दूषित, निरंकुश और अनियंत्रित राजनीतिक परिदृश्य: फ्रांस के राजतंत्र की निरंकुशता क्रान्ति का एक प्रमुख कारण थी। फ्रांसीसी राजतंत्र में निरंकुशता की परंपरा बहुत पुरानी थी। पन्द्रहवीं सदी से फ्रांस में बूर्बो राजवंश का निरंकुश शासन चला आ रहा था। वहाँ के राजा स्वेच्छाचारी और निरंकुशता के प्रतीक बन चुके थे। इस राजवंश का सबसे प्रभावशाली शासक **लुई चौदहवाँ** (1643-1715 ई.) कहा करता था–"मैं ही राज्य हूँ।" वह अपनी इच्छानुसार कानून बनाता था, कर वसूल करता था और राजकीय आय को मनमाने ढंग से खर्च करता था। उसके विनाशकारी युद्धों ने राजकोष रिक्त कर दिया, उसने फ्रांस की वित्त व्यवस्था को बिगाड़ दिया, अधिकाधिक कर जनता से वसूल करते हुए उसने उसे भुखमरी का शिकार बना दिया। उसका उत्तराधिकारी लुई पन्द्रहवाँ भी अपने पूर्ववर्तियों के समान स्वेच्छाधारी और निरंकुश था। वह नितान्त अकर्मण्य और विलासी भी था। फ्रांस की आंतरिक दुर्दशा को भाँपकर उसने कहा भी था–"मेरे मरने के बाद प्रलय होगी।" लुई पन्द्रहवें ने अपने उत्तराधिकारियों के लिए विरासत में सैनिक पराजय, आर्थिक उलझनें, शासन की निष्क्रियता और अक्षमता, पार्लेमां (संसद) का विद्रोह और प्रचलित राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था के प्रति बुद्धिजीवियों के तीव्र असंतोष से युक्त राज्य छोड़ा था। क्रान्ति के समय का निरंकुश शासक लुई सोलहवाँ (1774-1793 ई.) था। फ्रांस की क्रान्ति का इतिहास लिखने वाले प्राय: सभी विद्वानों ने लुई सोलहवें का चित्रण एक अनिश्चयी, बुद्धिहीन और अक्षम शासक के रूप में किया है। निरंकुश तो वह था ही। उसका कहना था कि "यह चीज इसलिए कानूनी है कि मैं यह चाहता हूँ।"

निरंकुश शासन-व्यवस्था के अन्य उपकरण: राजा की निरंकुशता तथा उसकी दैवीय अधिकारों के सहायक साधन थे–सामंतशाही, कुलीनों का शासन व्यवस्था में निरंतर हस्तक्षेप, नौकरशाही की भ्रष्टता, शासन का केन्द्रीकरण, कानूनों में एकरूपता का अभाव, चर्च की मनमानी और उसके विशेषाधिकार तथा अयोग्य सेना। इन समस्त दोषों के कारण क्रान्ति से पूर्व फ्रांस की शासन प्रणाली अक्षम, अव्यवस्थित, भ्रष्ट और खर्चीली हो गई थी।

क्रान्ति से पूर्व फ्रांस की शासन व्यवस्था का प्रमुख राजा था, किन्तु व्यावहारिक रूप से शासन का वास्तविक संचालन कुछ कुलीन सामंत और राजा के कृपापात्र व्यक्तियों के हाथों में था। प्रशासन में न तो केन्द्रीय विभागों का निश्चित प्रणाली के अनुसार गठन किया गया था और न ही मंत्रियों तथा अधिकारियों के कर्तव्य निश्चित थे। प्रांतीय और स्थानीय शासन की भी यही स्थिति थी। केन्द्रीय, प्रांतीय और यहाँ तक कि स्थानीय शासन के प्रमुख भी वर्साय में ही निवास करते हुए विलासिता का जीवन व्यतीत कर रहे थे। पेरिस के निकट वर्साय में करोड़ों रुपयों की लागत से लुई चौदहवें ने जिस भव्य राजमहल का निर्माण राजधानी में कराया था, वह सामंतों तथा राजपरिवार के लोगों की रंगरेलियों और विलासिता का मुख्य केन्द्र था। इस महल में 18,000 व्यक्ति थे जिनमें 16,000 सम्राट तथा राजपरिवार के निजी सेवक थे और 2,000 उच्च वर्ग के कुलीन थे। केवल रानी के सेवकों की संख्या 500 थी। वर्साय के राजमहल के विलास, रागरंग तथा दरबार की शान-शौकत के व्यय का सारा भार देश की नब्बे प्रतिशत

जनता वर्षों से वहन करती आ रही थी जिसे भरपेट भोजन भी नहीं मिलता था। सबसे अधिक खर्च रानी आंत्वानेत की मूर्खता के कारण होता था।

नोट

नोट्स फ्रांस के राजतंत्र की निरंकुशता क्रान्ति का एक प्रमुख कारण थी।

कानून और करों की असमानताएँ: शासन व्यवस्था, करों की दर, नियत और न्याय प्रणाली में एकरूपता का अभाव फ्रांसीसी शासन की एक सबसे बड़ी दुर्बलता थी। देश में कानूनों की कोई एक प्रामाणिक संहिता नहीं थी। पूरे देश में लगभग 385 प्रकार के न्याय विधान प्रचलित थे। एक कस्बे में जो बात कानूनी और सही मानी जाती थी, वही बात उस स्थान से 5 मील की दूरी पर स्थित दूसरे कस्बे में गैर-कानूनी समझी जाती थी। दण्ड व्यवस्था अत्यन्त कठोर और पक्षपातपूर्ण थी। कुलीन वर्ग के लोग तो प्रायः सदैव ही अपने अपराध की किसी भी सजा से बच सकते थे। न्याय प्रणाली की एक बुराई यह भी थी कि अदालतों की भाषा लैटिन थी, जिसे फ्रांसीसी भाषा जानने वाली आम जनता समझ न पाती थी।

करों की व्यवस्था इतनी अन्यायपूर्ण थी कि करों का पूरा भार कृषकों और साधारण लोगों को वहन करना पड़ता था। कुलीन, पादरी और सामंत वर्ग के लोग जो देश की 40 प्रतिशत सम्पत्ति के स्वामी थे, कर भार से बिल्कुल मुक्त थे। सबसे बड़ी विडम्बना यह थी कि कर सरकारी कर्मचारियों द्वारा नहीं अपितु ठेकेदारों द्वारा वसूल किये जाते थे। सबसे अधिक बोली लगाने वाले ठेकेदारों को वसूली करने का एकाधिकार प्राप्त हो जाता था।

पार्लमाँः इस प्रकार राजमहल और विलासी सामंतों के बेहिसाब खर्च, कुलीनों और सामंतों की मनमानी, दूषित और विकृत न्याय और कर प्रणाली के कारण फ्रांस की राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था जर्जर हो चुकी थी। यह अराजकता और अव्यवस्था की चरम सीमा थी। इस अन्यायपूर्ण अत्याचारी राज-व्यवस्था पर किसी भी संस्था का कोई नियंत्रण नहीं था। पुरातन फ्रांस में पार्लमाँ नामक एवं संस्था थी जो राजा के स्वेच्छाचार पर कुछ अंकुश लगा सकती थी। सिद्धांत रूप से जब तक कोई कानून या कर पार्लमाँ द्वारा पारित नहीं होता था, तब तक उसे लागू नहीं किया जा सकता था। पार्लमाँ के ही अन्तर्गत एस्टेट्स जनरल नामक एक प्रतिनिधि सभा भी हुआ करती थी, किन्तु 1614 ई. के बाद उसका कोई अधिवेशन नहीं बुलाया गया, अतः लोग इसके चुनाव तथा संगठन की जानकारी भूल चुके थे। पार्लमाँ का अस्तित्व सैद्धांतिक दृष्टि से लुई सोलहवें के समय में भी था, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वह मात्र राजा का समर्थन करने वाली संस्था बनकर रह गई। उसकी स्थिति उच्च न्यायालयों के समान थी। क्रान्ति के पूर्व के वर्षों में पार्लमाँ सरकारी नीतियों के प्रति जनता का ध्यान यदा-कदा आकृष्ट करती थी और लोगों को यह बताती थी कि देश के मूलभूत कानून को मनमाने ढंग से बदलने का अधिकार राजा को नहीं है। फ्रांस के घोर कुशासन में पार्लमाँ एकमात्र आशा की किरण थी। 1789 ई. में राजा को विवश होकर पार्लमाँ की सहायता लेनी पड़ी और क्रान्ति का सूत्रपात एस्टेट्स जनरल तथा पार्लमाँ का अधिवेशन बुलाने की घटना से ही हुआ।

क्रान्ति के सामाजिक कारण विषम तथा विघटित समाज

क्रान्ति के पूर्व का फ्रांसीसी समाज मानव समाज के प्राकृतिक न्याय के विपरीत विषम वर्ग भेद पर आधारित था। ऊपरी तौर पर समाज को सुविधा युक्त एवं सुविधाहीन वर्गों में विभाजित माना जा सकता है। सामाजिक संगठन का आधार था–सामंतवादी पद्धति, असमानता और विशेषाधिकार। इस दृष्टि से समाज तीन वर्गों में विभक्त था–पादरी, कुलीन वर्ग और सर्वसाधारण वर्ग। इनमें उच्च पादरी और कुलीन वर्गों को अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त थे जबकि निम्न श्रेणी के साधारण पादरी, कृषक, व्यापारी, शिल्पी और बुद्धिजीवी आदि विशेषाधिकारों से रहित थे।

नोट

क्या आप जानते हैं फ्रांस की क्रान्ति के समय का निरंकुश शासक लुई सोलहवाँ (1774-1793 ई.) था।

फ्रांस के सामाजिक संगठन के विभिन्न वर्गों की स्थिति

(क) पादरी वर्ग: फ्रांस के समाज, राजनीति और अर्थव्यवस्था पर चर्च का गहरा प्रभाव था। अपनी परम्परागत धार्मिक मान्यताओं तथा अंधविश्वासों के कारण समाज के सभी वर्गों के लोगों का काम पादरियों से पड़ता रहता था। स्वयं राजा, राजपरिवार के सदस्य कुलीन तथा सामंत भी चर्च की अवज्ञा करने का साहस नहीं कर सकते थे। फ्रांस के सैकड़ों-हजारों चर्चों से सम्बद्ध पादरियों के दो वर्ग थे। एक, विशेषाधिकारों का उपयोग करने वाले उच्च पादरी तथा द्वितीय, साधारण पादरी। इन दोनों श्रेणियों की स्थिति में महान् अंतर था।

उच्च पादरी: इस प्रथम श्रेणी के पादरी, कुलीनों तथा सामंतों के पुत्र ही होते थे। फ्रांस की सम्पूर्ण जागीरी भूमि की बीस प्रतिशत भूमि, जो चर्च के अधीन थी, के वास्तविक स्वामी ये उच्च पादरी ही होते थे। इनकी आमदनी बहुत थी और ये शान-शौकत तथा आराम का जीवन बिताते थे। चूँकि ये बहुधा बड़े और अमीर घरानों के ही होते थे इसलिए अमीरों के समान घर से दूर रहकर भोग-विलास का जीवन व्यतीत करते थे। इनकी विलासिता एवं धन के कुत्सित दुरुपयोग का वर्णन करते हुए इतिहासकार हेजन ने लिखा है कि–"स्टासबर्ग के आर्कबिशप (पादरियों में उच्च पद) की वार्षिक आय तीन लाख डालर थी। उसके महल में शानदार दरबार लगता और एक समय में दो-दो सौ मेहमानों का सत्कार किया जाता था। उसके रसोई घर की कढ़ाइयाँ चाँदी की थीं। उसके अस्तबल में 180 घोड़े थे जो सदैव मेहमानों की सेवा के लिए तैयार रखे जाते थे।" स्वाभाविक ही है कि इन पादरियों को धार्मिक कार्यों से कोई मतलब नहीं था। इनमें से अनेक कुलीनों की भांति राजा के दरबार में विलासमय जीवन व्यतीत करते थे। इनका सारा समय षड्यंत्रों में भाग लेने अथवा मौज लूटने में व्यतीत होता था। इनमें से कुछ तो ऐसे थे जो पूर्ण नास्तिक थे और जिन्हें ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं था। साधारण श्रेणी के पादरियों और साधारण जनता में उच्च वर्ग के इन पादरियों के प्रति श्रद्धा के स्थान पर असंतोष तथा विरोध की भावना बढ़ रही थी।

साधारण पादरी: इस वर्ग में हजारों स्थानीय गिरजाघरों के छोटे पादरी थे जो प्राय: निम्न वर्ग या कृषक वर्ग से आते थे। जनसाधारण के सभी धार्मिक कार्य ये छोटे पादरी ही कराते थे और उनके सुख-दु:ख में शामिल भी होते थे। फिर भी उनको भिक्षुओं जैसा जीवन व्यतीत करना पड़ता था क्योंकि उनका वेतन इतना कम था कि जीवन निर्वाह करना ही कठिन था। जहाँ बड़े-बड़े पादरियों को सालाना लगभग पच्चीस सौ पौण्ड वेतन मिलता था, वहीं देहात के छोटे पादरियों को बीस पौण्ड से ही संतोष करना पड़ता था। बड़े पादरियों के प्रति उनकी घृणा बड़ी तीव्र थी। उनके ऐश्वर्य तथा रंगरेलियों को देखकर उनके हृदय में द्वेषाग्नि धधकती रहती थी और साधारण वर्ग के प्रति पूरी सहानुभूति थी।

(ख) कुलीन वर्ग: विशेषाधिकारों और सुविधाओं से युक्त दूसरा वर्ग कुलीनों का था जिन्हें द्वितीय इस्टेट (Second Estate) कहते थे। उच्च पादरियों की तरह इस वर्ग के लोगों को भी अनेक विशेषाधिकार और सुविधाएँ प्राप्त थीं। कुलीनों की संख्या लगभग 1,40,000 थी। राज्य चर्च तथा सेना के सभी उच्च पद इसी वर्ग के हाथों में थे तथा फ्रांस की समस्त भूमि का लगभग चौथाई भाग उनके अधिकार में था। मध्य युग में सामंतवाद में ही सत्ता का विकेन्द्रीकरण था, किन्तु लुई चौदहवें के काल में जब राजा की शक्ति सर्वोपरि हो गई तो सामंतों का राजनैतिक प्रभाव कमजोर पड़ता गया। फ्रांस के कुछ प्रभावशाली शासकों ने सामंतों की शक्ति को दुर्बल बनाने का प्रयत्न किया। प्राय: सभी सामंत कुलीन वर्ग के ही माने जाते थे। इन कुलीनों में भी वर्ग भेद था। अभिजात्य प्राचीन राजवंशों के उत्तराधिकारी तथा राजकृपा से उच्च पदों पर आसीन सामंत, प्रांतीय सामंतों को हेय दृष्टि से देखते थे।

अनेक प्रांतीय कुलीनों की स्थिति दुर्बल थी और वे सामंती परम्पराओं का निर्वाह बड़ी मुश्किल से कर पाते थे। इन विभिन्नताओं और वर्गभेद के बावजूद सभी कुलीन इस मायने में समान थे कि उन्हें समाज में विशिष्ट स्थान प्राप्त

नोट

था और उन्हें किसी भी प्रकार का कर नहीं देने का विशेषाधिकार और सुविधाएँ प्राप्त थीं। सभी कुलीन भू-स्वामी थे। वे किसानों से अपनी इच्छानुसार कर वसूल करते थे और उसका एक भाग राजकोष में जमा करते थे। वे अपनी स्वयं की भूमि पर कृषकों तथा असंख्य बंधुआ किसानों (Serfs) से बेगार (बगैर मजदूरी काम कराना) लेते थे, परन्तु किसान उनके विरुद्ध आवाज नहीं उठा सकते थे। कृषकों को सप्ताह में लगभग छः दिनों तक अपने जमींदारों की भूमि पर बेगार में काम करना पड़ता था। शिकार खेलने के लिए इन जमींदारों ने अपने क्षेत्रों में विशाल भू-भाग सुरक्षित छोड़ रखा था जहाँ जंगली जानवर रहते थे जो समीपवर्ती कृषकों की खेती को उजाड़ देते थे। सामान्य कृषकों और ग्रामों के निवासियों की मुसीबतों की कोई सीमा नहीं थी। उपरोक्त सभी प्रकार के शोषण के अलावा किसानों पर अत्याचार करने का एक तरीका यह था कि कुलीनों ने अपनी-अपनी जागीरों में आटे की चक्कियाँ, शराब की भट्टियाँ तथा तंदूर (ओवन) आदि खोल रखे थे। यहाँ के समस्त निवासियों को निश्चित मूल्य चुकाकर इन्हीं जमींदारों की शराब की भट्टियों में अंगूर की शराब तैयार करनी पड़ती थी, उनके तंदूरों पर रोटी तैयार करनी पड़ती थी और उनकी चक्कियों पर आटा तैयार कराना होता था। इस प्रकार कृषकों और सामान्य रहवासी कुलीन जमींदारों द्वारा किए जा रहे अन्तहीन आर्थिक और शारीरिक शोषण के शिकार बने हुए थे।

इतने विशेषाधिकार और सुविधाओं के होते हुए भी कुलीनों का एक बड़ा वर्ग राजनीतिक दृष्टि से पंगु हो चुका था। केवल उनकी सामंती सुविधा बच गई थी। लुई चौदहवें ने उनको दरबारी शोभा की वस्तु बना दिया था। वे राजा की कृपा से राज दरबार में अपना जीवनयापन कर रहे थे। राज दरबार में भी उनकी उपयोगिता का अनुमान केवल इसी बात से लगाया जा सकता है कि जब राजा की लड़की एक साल की थी तो उसकी देखरेख के लिए अस्सी कुलीन सामंत नियुक्त किए गए। संक्षेप में, कुलीन सामंतों के विशेषाधिकारों तथा सामान्य जनता के प्रति उनके व्यवहार ने 1789 ई. की क्रान्ति के विस्फोट के लिए काफी बारूद एकत्र कर दी थी।

(ग) सर्व साधारण वर्गः सुविधाओं तथा किसी भी प्रकार के मौलिक अधिकार से रहित सामान्य वर्ग में कृषक, मजदूर, शिल्पी, घरेलू कर्मचारी, वकील, शिक्षक, व्यापारी एवं अन्य मध्यमवर्गीय लोग सम्मिलित थे। फ्रांस की कुल संख्या का लगभग 95 प्रतिशत भाग सर्वसाधारण वर्ग का ही था। यह वर्ग किसी भी प्रकार की सुविधा और अधिकार से पूर्णतः वंचित था, किन्तु इस वर्ग में भी असमानता थी और सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से इस वर्ग के विभिन्न अंगों में व्यापक अंतर था। मोटे तौर पर सर्वसाधारण वर्ग की विभिन्न शाखाओं का क्रमशः वर्णन इस प्रकार है–

कृषक तथा मजदूरः क्रान्ति के पूर्व फ्रांस के कृषकों और श्रमिकों की स्थिति सबसे अधिक निम्न, सोचनीय और दयनीय थी। फ्रांस की कुल जनसंख्या का अस्सी प्रतिशत भाग कृषकों का था और उनकी संख्या लगभग दो करोड़ थी। कृषकों के दो वर्ग थे। प्रथम, स्वतंत्र किसान जिनकी अपनी स्वयं की खेती योग्य भूमि थी और द्वितीय अर्द्ध-दास (Serfs) जो कृषि मजदूरी करके अपना जीवन-यापन करते थे। अर्द्धदास लोग अपने स्वामी या भूमिपति का काम छोड़कर अन्यत्र नहीं जा सकते थे। 1789 ई. से फ्रांसीसी कृषकों के हाथ में फ्रांस की एक-तिहाई से अधिक जमीन थी। वे कृषि योग्य भूमि के मालिक अवश्य थे, किन्तु उन्हें अनेक प्रकार के कर चुकाने के पश्चात् जीवनयापन करने में बहुत कठिनाई होती थी। उन्हें राज्य, चर्च तथा जमींदार को अनेक प्रकार के कर देने पड़ते थे। राज्य को भूमि कर (Taille), चर्च को उपज कर (Tithe) अर्थात् उपज का दसवाँ भाग और सामंतों को सामंती कर (Futon tax) देना पड़ता था। इनमें सबसे अधिक अत्याचार से वसूल किया जाने वाला कर था जो ठेकेदारों द्वारा वसूल किया जाता था। ठेकेदार नीलामी द्वारा कर वसूल करने का एकाधिकार प्राप्त करते थे। वसूली की मात्रा का कोई निश्चित आधार नहीं था। किसान की आर्थिक स्थिति, रहन-सहन के स्तर आदि के आधार पर कर की राशि निश्चित कर दी जाती थी। इसके परिणामस्वरूप, कृषक वर्ग के लोग अच्छे संभ्रांत तरीके से रहने में भी डरते थे क्योंकि उन्हें कर की राशि अधिक वसूल किए जाने का भय होता था। चर्च को उपज कर अर्थात् दसवाँ भाग और अपने सामंत को सामंती कर देने के बाद एक सामान्य कृषक यों भी अच्छी तरह जीवनयापन करने में असमर्थ था। इसीलिए यह कहावत थी कि–"क्रान्ति के पूर्व फ्रांस में अमीर लड़ते थे, पुजारी पूजा करते थे और जनसाधारण उनका खर्च जुटाते

नोट

थे।" (The Nobles Fight, the Clergy pray and the people pay) इस कथन का तात्पर्य यही है कि राजकाज तथा सामंतों और पादरियों के भोग विलास के खर्च का सारा भार मुख्यत: कृषकों पर ही था। इस व्यवस्था की सबसे बड़ी विसंगति और विचित्रता यह थी कि ये सारे कर केवल किसानों को ही देने पड़ते थे। भूमि के स्वामी तो कुलीन वर्ग के भी लोग थे, किन्तु वे करों से मुक्त थे। यह बात साधारण कृषकों को बहुत खटकती थी। विशेषत: इसलिए कि कुलीन लोग स्वयं कृषि भी नहीं करते थे। जबकि कृषक स्वयं परिश्रमपूर्वक अपनी फसल तैयार करता था। सामंती कर वसूल करने के तरीके और भी अधिक अमानवीय और घृणित थे। जमींदारों की आटे की चक्की, रोटी पकाने के तंदूर, बूचड़खाने, सड़कों पर बने पुल आदि सामंतीय कर वसूल करने के साधन होते थे। जिनका उपयोग कृषकों और ग्रामों के अन्य निवासियों के लिए अनिवार्य था। फ्रांस में 1789 ई. में जब क्रान्ति शुरू हुई तो कृषकों और श्रमिकों ने उसका स्वागत किया।

मध्यम वर्ग: इस वर्ग में व्यापारी, साहूकार, वकील, डॉक्टर, लेखक, कलाकार, सरकारी कर्मचारी, कारखानों के मालिक आदि सम्मिलित थे। फ्रांसीसी क्रान्ति के संबंध में यह कहा जाता है कि यह एक मध्यमवर्गीय क्रान्ति थी। यह कथन सत्य है, क्योंकि क्रान्ति का आरंभ इसी वर्ग ने किया था अथवा इसमें इस वर्ग की भूमिका सबसे महत्त्वपूर्ण थी। क्रान्ति का नेतृत्व भी इसी वर्ग के लोगों ने किया तथा बाद में क्रान्ति से सर्वाधिक लाभ भी इसी वर्ग को हुआ। इस वर्ग के लोग शिक्षित थे। अत: सामंती अत्याचारों के विरुद्ध इनके हृदय में विरोध की एक चेतना सबसे पहले उत्पन्न हुई। क्रान्ति से पूर्व भी इस वर्ग के लोग शहरों और ग्रामों में निवास करने वाली सामान्य जनता से सीधे जुड़े हुए थे और इसीलिए क्रान्ति के दौरान उसे सामान्य लोगों से पूरा समर्थन मिला। इसके अतिरिक्त मध्यम वर्ग के लोगों की आर्थिक दशा अच्छी थी और शासन के ऊँचे पदों को छोड़कर शेष पद इन्हीं लोगों के हाथ में थे। बैंक, व्यापार, मजदूर संघों, कारीगरों के ऊपर इनका अच्छा प्रभाव था। कुछ मध्यम वर्ग के लोग तो इतने धनी थे कि वे सरकार और बहुत से कुलीनों को कर्ज देते थे। बहुधा शहरों में रहने के कारण इन्हें दमनात्मक सामंती करों से मुक्ति मिली हुई थी और कुछ सुविधाएँ भी प्राप्त थीं। फिर भी स्थापित व्यवस्था के प्रति मध्यम वर्ग असंतुष्ट था।

मध्यम वर्ग के असंतोष के कुछ विशिष्ट कारण थे। असंतोष का सबसे मुख्य कारण यह था कि सामंतों और पादरियों की अपेक्षा अधिक सुयोग्य और सम्पन्न होते हुए भी उन्हें किसी भी प्रकार के विशेषाधिकार और सुविधाएँ प्राप्त नहीं थीं। वे राजनीतिक अधिकारों से वंचित थे तथा उन्हें सामाजिक सम्मान भी प्राप्त नहीं था। असंतोष का एक अन्य कारण यह था कि धार्मिक असहिष्णुता, अभियोग के समय न्यायिक शक्तियों के दुरुपयोग, मनमानी गिरफ्तारी तथा निर्मम और अमानवीय दण्डों के लिए वे कुलीनों तथा उच्च पादरियों को ही उत्तरदायी मानते थे। धनी पादरियों तथा विलासी कुलीनों की सामाजिक श्रेष्ठता मध्यम वर्ग के लोगों को अखरती थी। मध्यम वर्ग के लोग सोचते थे कि उनके पास योग्यता है, धन है, सभ्यता है, फिर भी समाज में उन्हें कोई कानूनी स्थान प्राप्त नहीं है। वे चाहते थे कि सरकारी पदों एवं सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार वैयक्तिक योग्यता हो न कि वंश या वर्ग। मध्यम वर्ग के लोगों को यह आभास था कि हम कुलीनों से श्रेष्ठ हैं। क्रान्ति का यह एक मुख्य कारण था। धनी और सम्पन्न मध्यम वर्गीय लोगों को इस बात की भी चिंता थी कि फ्रांस की सरकार तेजी के साथ दिवालियापन की ओर बढ़ रही थी, इससे यह वर्ग भयभीत हो उठा कि कहीं सरकार और कुलीनों को दिए गए कर्ज की विशाल राशि डूब न जाए।

मध्यम वर्ग के अन्तर्गत आने वाले ये बुद्धिजीवी–शिक्षक, वकील, लेखक, विचारक आदि इस आदर्श भावना से प्रेरित थे कि समाज की संरचना विवेक, बुद्धि और योग्यता पर आधारित होनी चाहिए। सामाजिक असमानता ने बुद्धिजीवियों में असंतोष को भड़काया। ये लोग समकालीन लेवकों की रचनाओं को पढ़ते थे और वैचारिक क्लबों एवं संस्थाओं के सदस्य बनकर राजनीतिक विषयों, उदार प्रजातांत्रिक तथा क्रान्तिकारी विचारधाराओं पर वाद-विवाद करते थे। इनकी गतिविधियों के कारण ही फ्रांस में राजनीतिक जाग्रत तथा जनमत का निर्माण हुआ। इस प्रकार स्पष्ट है कि क्रान्ति को आरंभ करने की दिशा में मध्यम वर्गीय लोगों ने सबसे अग्रणी भूमिका खेली।

नोट

आर्थिक कारण फ्रांस की सरकार का दिवालियापन

राजपरिवार की फिजूलखर्ची तथा सरकार की दोषपूर्ण वित्तीय नीति के कारण प्रतिवर्ष आय से अधिक व्यय होता था। इतिहासकार हेजन ने लिखा है कि– "सरकार आय के अनुसार व्यय को निश्चित करने के बजाय व्यय के अनुसार, आय को निश्चित करती थी।" सरकार को आर्थिक स्थिति इतनी खराब हो चुकी थी कि अन्ततः इसी को लेकर फ्रांस में क्रान्ति का सूत्रपात हुआ। राजा के व्यक्तिगत व्यय और राजमहल की विलासिता पर होने वाले व्यय पर बजट-सीमा का कोई प्रतिबंध नहीं था। राष्ट्र की आय को ही राजा का व्यय मानकर खर्च किया जाता था। लुई चौदहवें के समय हुए दीर्घकालीन युद्धों ने फ्रांस का कोष रिक्त कर दिया था। इसीलिए लुई पन्द्रहवें को पूर्ववर्ती शासक ने मरते समय युद्ध न करने की सलाह दी थी, किन्तु उसने इस सलाह पर कोई ध्यान नहीं दिया और ऑस्ट्रिया के उत्तराधिकार युद्ध, सप्तवर्षीय युद्धों तथा अमेरिका के स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेकर फ्रांस की आर्थिक स्थिति को बिल्कुल दिवालिया बना दिया था।

अर्थशास्त्रियों द्वारा सुझाए गए उपायों की उपेक्षा–फ्रांस के कुछ कुशल अर्थशास्त्रियों तथा लुई के तीन वित्त मंत्रियों ने राज्य की वित्तीय व्यवस्था में सुधार के उपाय राजा के सामने प्रस्तुत किये, किन्तु लुई का यह दुर्भाग्य था कि वह अपने वित्त मंत्रियों के सुझाव को क्रियावित्त नहीं करा सका। उसने एक के बाद एक कई वित्तमंत्री बदले। तुर्गो, केलोन और नेकर वित्तमंत्री के पद पर क्रमशः नियुक्त हुए। इन तीनों मंत्रियों ने राज्य की आर्थिक व्यवस्था को सुधारने के अनेक उपाय बतलाए। इनमें भूमि का कुशलतापूर्वक उपयोग, व्यापारिक प्रतिबंधों को हटाना, हिसाब-किताब रखने की उपयुक्त व्यवस्था तथा सामन्तों तथा कुलीनों पर भी लगाने आदि के उपाय सम्मिलित थे, किन्तु सामन्तों और कुलीनों के प्रबल विरोध तथा रानी मेरी आंत्वानेत के दबाव के कारण लुई इन उपायों को क्रियान्वित नहीं करा सका। यदि राजा इन सुझावों और सुधारों को दृढ़ता से लागू करा सकता 1789 ई. की क्रान्ति को टाला जा सकता था। अर्थशास्त्रियों के सुधारों को यदि राजा लागू करता तो सामन्तों को कर देना पड़ता और व्यापार तथा चुंगी से उन्हें होने वाली आय पर प्रभाव पड़ता। इसलिए उन्होंने राजा पर दबाव डाला कि वह वित्तमंत्रियों के सुझावों को लागू न करे। मेरी आंत्वानेत ने राजा को वित्तमंत्रियों को उनके पद से हटाने पर मजबूर कर दिया। इस प्रकार वित्तीय सुझावों की निरंतर उपेक्षा ने फ्रांस के बेरोजगार युवकों और सैनिकों में असंतोष उत्पन्न कर दिया। औद्योगिक क्रान्ति के प्रभाव से फ्रांस में बेरोजगारी बढ़ती जा रही थी। एक अन्य समस्या फ्रांस के सैनिकों में व्याप्त असंतोष की थी। सेना के उच्च पदों पर कुलीन के अयोग्य पुत्रों का अधिकार था और प्रशिक्षित सामान्य सैनिक कम वेतन, खराब भोजन और कठोर अनुशासन की पीड़ा भुगतने के कारण असंतुष्ट थे। रूसो आदि दार्शनिकों के नवीन विचारों की प्रतिध्वनि जब इन बेरोजगारों युवकों और असंतुष्ट सैनिकों के कानों तक पहुँची तो वे परिवर्तन और क्रान्ति के समर्थक बन गए। यदि राजा में आर्थिक सुधारों को लागू करने की बुद्धि और शक्ति होती तो सैनिक क्रान्ति में भाग नहीं लेते। क्रान्ति की चेतना जब सेना में भी पहुँच जाती है तो उसे रोकना कठिन हो जाता है।

बौद्धिक कारण–फ्रांस में बौद्धिक चेतना का आविर्भावः दार्शनिकों का प्रभाव

अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस में वैचारिक स्तर पर परम्परागत विचारों को त्यागकर विवेकपूर्ण तर्कसंगत नवीन विचारों का स्वागत करने का क्रम आरंभ हो रहा था। यूरोपीय जनता अब जाग्रत हो रही थी। जाग्रति का यह कार्य फ्रांस के प्रबुद्ध वर्ग ने किया जिसके प्रमुख सूत्रधार थे–**मान्तेस्क्यू, वाल्तेयर, रूसो, दिदरो, क्वेसने, तुर्गो, डी-एल्म्बर्ट** आदि। इन बौद्धिक लेखकों ने लोगों को स्वतंत्र चिंतन की प्रेरणा प्रदान की। इन विचारकों ने असमानता, शोषण, अत्याचार, धार्मिक असहिष्णुता, भ्रष्ट तथा निरंकुश राजतंत्र, आर्थिक नियंत्रण, निम्न वर्ग की विपन्नता, प्रशासनिक तथा न्यायिक दोषों की ओर सामान्य लोगों का ध्यान आकर्षित किया। जिन विचारकों के लेखन का प्रभाव फ्रांस की क्रान्ति पर सबसे अधिक पड़ा, उसका वर्णन अधोलिखित है–

1. मान्तेस्क्यू (Montesquie) 1685-1755 ई.: फ्रांस के एक कुलीन परिवार में जन्म लेकर मान्तेस्क्यू न्यायाधीश के पद पर कार्य करता था। इसलिए उसे फ्रांस की राज्य-व्यवस्था की त्रुटियों का पूर्ण ज्ञान था। वह एक

नोट

अच्छा लेखक भी था। उसके लिखे ग्रंथों में द पर्शियन लेटर्स, रोमन लोगों की महानता और पतन के कारणों पर विचार, डायलाग ऑफ सुल्ला एंड एकेटीज और द स्प्रीट ऑफ लॉ। अंतिम ग्रंथ द स्प्रीट ऑफ लॉ अर्थात् कानून की आत्मा अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। दो वर्षों में इसके 22 संस्करण प्रकाशित हुए। इस पुस्तक में मान्तेस्क्यू ने राजा के दैवी अधिकार के सिद्धांत का जोरदार खण्डन किया और फ्रांसीसी संस्थाओं की बड़ी कड़ी व्यंग्यात्मक आलोचना की। वह इंग्लैण्ड की शासन-व्यवस्था का प्रशंसक था और उसने फ्रांस के लिए भी संवैधानिक राजतंत्र की आवश्यकता का प्रतिपादन किया था। उसका मत था कि इंग्लैण्ड का शासन संसार में सर्वोत्तम है क्योंकि वहाँ की जनता की स्वतंत्रता सुरक्षित है। शासन संबंधी मान्तेस्क्यू का सिद्धांत, शक्ति पार्थक्य के सिद्धांत (Separation of Powers) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिसके अनुसार शासन के तीन प्रमुख अंग कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका तीनों पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के हाथों में रहना चाहिए। इस प्रकार की संवैधानिक व्यवस्था से तीनों शक्तियाँ एक दूसरे के अधिकारों को सीमित रखेंगी और राजा की निरंकुशता से जनता के अधिकारों की रक्षा होगी।

2. वाल्तेयर (Voltair सन् 1694-1778): अठारहवीं सदी के लेखकों और दार्शनिकों में वाल्तेयर सबसे अधिक दक्ष लेखक था जिसके लेखों और पुस्तकों ने फ्रांस की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक व्यवस्था को झकझोर दिया। उसका जन्म फ्रांस के मध्यम वर्गीय परिवार में हुआ था। वह एक कवि, दार्शनिक, नाटककार और प्रभाव उत्पन्न करने वाला व्यंग्यकार था। उसमें व्यंग्यात्मक रूप से विसंगतियों पर प्रहार करने और उनकी कटु आलोचना करने की अद्‌भुत दक्षता और क्षमता थी।

वाल्तेयर ने अपने लेखों, पुस्तकों आदि के द्वारा कुलीनों, सामंतों और पतित भ्रष्ट पादरियों की कटु आलोचना की। इसके परिणामस्वरूप उसे वर्षों तक कारावास में रहना पड़ा या निर्वासित होकर अन्य देशों में रहना पड़ा। वह वर्षों तक इंग्लैण्ड में रहा। जर्मनी के सम्राट फ्रेडरिक महान् के निमंत्रण पर वह तीन वर्ष तक बर्लिन में रहा। वाल्तेयर व्यक्तिगत स्वतंत्रता का कट्टर समर्थक था। उसने अपनी रचनाओं में निरंकुश राजसत्ता, गिरजाघर के दोषों और पादरियों तथा धर्माधिकारियों के विलासमय जीवन पर तीखे प्रहार किए। उसका सबसे व्यंग्यात्मक प्रहार चर्च पर हुआ। चर्च की ओर संकेत करते हुए वह इस बदनाम संस्था को कुचल देने के लिए लोगों को प्रेरित करता रहा। उसने राजा की निरंकुशता को खुले रूप से निन्दनीय और उपहासस्पद बना दिया। संक्षेप में, वाल्तेयर ने अपने लेखों और पुस्तिकाओं के माध्यम से समकालीन सम्पूर्ण व्यवस्था को आहत कर दिया और उसे लोगों की दृष्टि में गिरा दिया। क्रान्तिकारियों पर वाल्तेयर के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा।

3. रूसो (Rousseau 1712-1778 ई.): समकालीन विचारकों अथवा दार्शनिकों में जीन जोकस रूसो ने सबसे अधिक प्रसिद्धि पायी है। जिनेवा के एक साधारण घड़ीसाज के यहाँ जन्म होने के कारण रूसो को उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला। किन्तु वह जन्मजात ही एक मौलिक और रचनात्मक बुद्धिवाला व्यक्ति था। दरिद्रता के कारण उसका अधिकांश जीवन इधर-उधर भटकते हुए ही व्यतीत हुआ। अपने घुमक्कड़ी जीवन में उसने विविध अनुभव प्राप्त किए तथा अमीर-गरीब, शोषक और शोषित के भेद को निकट से देखा और सामाजिक तथा राजनीतिक विसंगतियों के कारणों पर गंभीरता से विचार किया।

रूसो ने अपने ग्रंथ लिखे जिनमें भावना और संवेदना की प्रधानता है। वाल्तेयर के लेखन में जहाँ बुद्धि की प्रधानता थी, वहाँ रूसो का लेखन भावना प्रधान था। उसके द्वारा रचित **न्यू हैलोइजे** (New Heloise), **सामाजिक समझौता** (Social contract), **द कन्फेशन** (The Confession), **द रेवरीज** (The Reverise) आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। इनमें भी उसकी पुस्तक सामाजिक समझौता या **सामाजिक संविदा (द सोशल कान्ट्रक्ट)** सर्वाधिक चर्चित हुई। इस ग्रंथ में उसने अपने क्रान्तिकारी और प्रगतिवादी विचारों को अभिव्यक्त किया जिसके कारण उसे कारागार में डाल दिया गया।

रूसो का सामाजिक संविदा का सिद्धांत: रूसो अपने युग का एक ऐसा विचारक और दार्शनिक था कि वह अपने युग पर छा गया और ऐसा कहा जाता है कि जब पेरिस में उसकी मृत्यु हुई तब प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति उसकी ही पुस्तक पढ़ रहा था। उसके सामाजिक-सिद्धांत संविदा सिद्धांत की मूल भावना यह है कि–

नोट

"मनुष्य स्वतंत्र उत्पन्न हुआ था परन्तु आज वह सर्वत्र शृंखलाओं में जकड़ा हुआ है। मानव सभ्यता के आरंभ में प्रत्येक मनुष्य अपनी प्राकृतिक अवस्था में हर प्रकार के बंधन से मुक्त और सर्वथा स्वतंत्र था। सभ्यता के विकास की स्थिति में जब मनुष्य को राज्य नामक संस्था की आवश्यकता अनुभव हुई तो समाज के सब व्यक्तियों ने मिलकर एक समझौता किया जिसके आधार पर राज्य की रचना हुई। एक व्यक्ति शासक नियुक्त हुआ। उसे सब लोगों के प्रति प्रतिज्ञा करनी पड़ी कि वह सार्वजनिक हित में शासन का संचालन करेगा। यह राज्य की उत्पत्ति का सामाजिक समझौता था।"

सामाजिक पुनर्गठन के लिए जो सिद्धांत और मार्ग रूसो ने खोजा वह अत्यन्त क्रान्तिकारी और सर्वथा मौलिक दर्शन था। उसने तर्कों के आधार पर पुरातन व्यवस्था की धज्जियाँ उड़ा दीं। उसके जीवनकाल में ही उसके सिद्धांतों का प्रभावशाली रूस में प्रचार-प्रसार हुआ। उसने जनतंत्र की स्थापना के लिए फ्रांस को तैयार कर दिया। स्वतंत्रता और समानता रूसो के मूल सिद्धांत थे। स्वतंत्रता और समानता का सिद्धांत ही फ्रांसीसी क्रान्ति का मुख्य नारा बन गया। इसमें बन्धुत्व की बात और जोड़ दी गई थी। संक्षेप में कहा जा सकता है कि रूसो अठारहवीं सदी का सबसे अधिक प्रभावशाली दार्शनिक था। दूषित पुरातन व्यवस्था के प्रति, रूसो ने तर्कों के आधार पर लोगों में घृणा की भावना उत्पन्न थी। रूसो क्रान्ति का अग्रदूत था। नेपोलियन कहा करता था कि यदि रूसो न होता तो फ्रांस में राज्यक्रान्ति का होना भी असंभव था।

4. दिदरो (Didereo 1713-1784): दिदरो का नाम उसके द्वारा रचित ग्रंथ वृहत ज्ञानकोष (Encyclopaedia) के कारण विशेष प्रसिद्ध हुआ। दिदरो के द्वारा संकलित और सम्पादित इस ग्रंथ में तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक बुराइयों, पादरियों के विशिष्ट अधिकारों और चर्च में व्याप्त दोषों का परिचयात्मक वर्णन है। इस ग्रंथ को तैयार करने के लिए दिदरो ने राजनीति, अर्थशास्त्र-धर्म, कानून, नैतिकता तथा अन्य विविध विषयों पर अनेक विद्वानों से लेख लिखवाए और उन्हें संकलित करके उनका प्रकाशन किया। वृहत ज्ञानकोष में उस युग के योग्यतम विद्वानों की रचनाएँ हैं। लोगों के समक्ष ज्ञान के पहलुओं को तर्क के आधार पर रखने का यह प्रयोग बहुत सफल रहा। इसका मुद्रण सन् 1750-60 के मध्य हुआ था। इसका प्रकाशन 17 खण्डों में हुआ था। इसमें धर्म और राजनीति से संबंधित बुराइयों पर तीखे प्रहार किए गए। इसके आलोचनात्मक लेखों से रुष्ट होकर फ्रांस की सरकार ने उसे बहुत परेशान किया और वह कैद भी कर लिया गया था। ज्ञानकोष के लेखों ने फ्रांस में तहलका मचा दिया। जनसाधारण के सम्मुख भ्रष्टाचार का भंडाफोड़ हो गया। ज्ञानकोष के लेखों में व्यक्त विचारों का क्रान्तिकारियों पर गहरा प्रभाव पड़ा।

5. क्वेसने और तुर्गो: क्रान्ति से पूर्व के युग में कुछ अर्थशास्त्रियों के भी अपने मौलिक विचार थे। इनमें क्वेसने और तुर्गो सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए हैं। इन दोनों अर्थ विशेषज्ञों का मत था कि व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप समाप्त किया जाना चाहिए। चुंगी आदि के हस्तक्षेप के कारण व्यापार में बाधा उत्पन्न होती है और वस्तुओं का भाव बढ़ जाता क्वेसने आर्थिक स्वतंत्रता का प्रबल समर्थक था। उसका विचार था कि टैक्स केवल एक बार ही लगना चाहिए जो भूमि उत्पादन पर हो। क्रान्ति के समय वित्तीय सुधारों की माँग अर्थशास्त्रियों के कारण ही उत्पन्न हुई थी।

बौद्धिक आंदोलन तथा राज्य क्रान्ति का संबंध: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि फ्रांस की क्रान्ति के लिए बौद्धिक आंदोलन कहाँ तक उत्तरदायी था? इस प्रश्न का तर्कसंगत उत्तर यह है कि फ्रांस में विद्यमान राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक बुराइयों के प्रति दार्शनिकों, लेखकों और विचारकों ने विरोध और विद्रोह की चेतना उत्पन्न की थी। स्वयं नेपोलियन का कथन था कि यदि रूसो न होता तो फ्रांसीसी क्रान्ति संभव नहीं थी। जार्ज एलन ने लिखा है कि–"फ्रांस की क्रान्ति होने के कारण वहाँ के लोगों का दु:ख तथा उन पर होने वाले अत्याचार नहीं थे बल्कि उसका कारण बुद्धिवादी वर्ग के विचार थे। यह वर्ग समाज, राज्य तथा प्रशासन में व्याप्त विसंगतियों को समाप्त करने के लिए कृत संकल्प था।

अन्य देशों की घटनाओं का प्रभाव: फ्रांसीसी क्रान्ति के पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कुछ ऐसी घटनाएँ घटित हो चुकी थीं, जिनका प्रभाव फ्रांस पर पड़ा। लगभग एक सौ वर्ष पूर्व 1688 ई. में इंग्लैण्ड में हुई महान् क्रान्ति ने वहाँ वैधानिक

नोट

राजतंत्र की स्थापना कर दी थी। फ्रांस के लोग इंग्लैण्ड में हुए इस परिवर्तन और उसके लाभों को देख रहे थे। इसी प्रकार कैथोलिक देश आयरलैण्ड, जो इस समय प्रोटेस्टेंट इंग्लैण्ड के अधीन था, अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रहा था। फ्रांस की क्रान्ति से लगभग पन्द्रह वर्ष पूर्व उत्तरी अमेरिका के उपनिवेशों ने इंग्लैण्ड के विरुद्ध प्रबल विद्रोह करके पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर ली थी। अमेरिका के स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेकर वापस आए फ्रांसीसी सैनिक स्वतंत्रता की भावना से अभिभूत थे और समानता तथा स्वतंत्रता के सिद्धांतों का लोगों में प्रचार कर रहे थे। इस प्रकार फ्रांस के लोग विदेशी घटनाओं के प्रभाव के कारण निरंकुशता से मुक्त होने के लिए व्यग्र हो रहे थे। वे फ्रांस में भी इंग्लैण्ड के समान वैधानिक राजतंत्र की स्थापना देखना चाहते थे।

तात्कालिक कारण तथा क्रान्ति का सूत्रपात: फ्रांस की सरकार का आर्थिक संकट ही अन्तत: क्रान्ति का तात्कालिक कारण सिद्ध हुआ। फ्रांस की आर्थिक व्यवस्था में सुधार लाने के लिए विभिन्न सुयोग्य अर्थशास्त्रियों एवं विशेषज्ञों द्वारा अनेक योजनाएँ लुई सोलहवें के सम्मुख प्रस्तुत की गई। एक के बाद दूसरे आए कई वित्त मंत्रियों ने फ्रांस को आर्थिक संकट से उबारने के जो उपाय बतलाए, उनमें सबसे प्रमुख यह था कि सामंतों और कुलीनों से भी कर लिया जाए किन्तु दरबारियों तथा रानी के दबाव के कारण राजा सामंतों से कर लेने का साहस नहीं जुटा पाया। वस्तुत: लुई के भीरू स्वभाव और अस्थिर प्रकृति के कारण फ्रांस आर्थिक रसातल की ओर जाने लगा। आत्मविश्वासहीन लुई, रानी आंत्वानेत के प्रभाव के कारण कोई सक्रिय कार्य नहीं कर सका। इधर राज्य को कर्ज मिलना भी बंद हो गया। लुई को नए कर लगाने के लिए पार्लमाँ के सुझाव पर एस्टेट्स जनरल की बैठक बुलाने की स्वीकृति देनी पड़ी। जनता ने पार्लमाँ के निर्णय का स्वागत किया।

एस्टेट्स जनरल फ्रांस की एक पुरानी प्रतिनिधि सभा थी जिसका पिछले 175 वर्षों से अधिवेशन होना बंद हो गया था। लुई ने एस्टेट्स जनरल के बुलाने की घोषणा तो कर दी, परन्तु इस समय फ्रांस में कोई ऐसा जीवित व्यक्ति नहीं था जिसे इस संस्था के स्वरूप, संगठन, कार्यप्रणाली, चुनाव आदि के बारे में जानकारी हो। बड़े परिश्रम के बाद किसी प्रकार एस्टेट्स जनरल की प्रक्रिया विधि निश्चित की जा सकी। 1788 ई. में एस्टेट्स जनरल का चुनाव हुआ। इन निर्वाचनों से जन आकांक्षाएँ और भी बढ़ गईं। एस्टेट्स जनरल के गठन और उसकी बैठक-व्यवस्था से उत्पन्न विवाद से ही क्रान्ति का आरंभ हुआ।

क्रान्ति की शुरुआत: एस्टेट्स जनरल एक पुरातन व्यवस्था की समर्थक संस्था थी। उसका संगठन और मतदान की प्रक्रिया भी सामंतवादी थी। इसके तीन सदन थे–कुलीनों और सामंतों का सदन, पादरियों का सदन और जन साधारण का सदन। किन्तु मतदान व्यवस्था का मुख्य दोष यह था कि प्रत्येक सदन का एक मत गिना जाता था, प्रति सदस्य का नहीं। इसके परिणामस्वरूप विशेष वर्ग अर्थात् सामंतों और पादरियों के दो मत होते थे साधारण सभा का केवल एक ही मान्य होता था। 90 प्रतिशत जनसाधारण प्रतिनिधियों के सदन का एक मत तथा शेष 10 प्रतिशत जनसंख्या (पादरी और कुलीन) के दो मत स्वीकृत होते थे। यह अनुचित और तर्कहीन व्यवस्था थी। 1789 ई. की फ्रांस की जाग्रत जनता के लिए प्रतिनिधि सभा की निर्वाचन के पश्चात् जनता की ओर से दो माँगें प्रस्तुत की गईं। प्रथम यह कि सर्वसाधारण जनता के प्रतिनिधियों के तीसरे सदन के सदस्यों की संख्या दुगुनी कर दी जाए। दूसरी माँग यह कि मतदान व्यवस्था प्रति सदन के हिसाब से न होकर प्रति सदस्य के एक मत के आधार पर रखी जाए। यह दूसरी माँग स्वीकार नहीं की गई और इससे साधारण सभा के सदस्यों में रोष उत्पन्न हुआ। निर्वाचन में 308 पादरी, 245 कुलीन या सामंत और 621 जनता के प्रतिनिधि चुने गए।

5 मई, 1789 ई. को एस्टेट्स जनरल का प्रथम अधिवेशन होना ही क्रान्ति का आरंभ माना जा सकता है। कुछ विद्वानों का मत है कि बास्तिल का पतन (17 जुलाई, 1789) क्रान्ति की प्रथम घटना थी। 5 मई को स्टेट्स जनरल की बैठक वर्साय में बूर्बो वंश के परम्परागत वैभवशाली राज प्रासाद में हुई। साधारण वर्ग (तीसरा सदन) ने माँग की कि सभी वर्गों की बैठक एक ही भवन में हो परन्तु यह प्रस्ताव पादरियों तथा सामंतों को मान्य नहीं था। राजा ने पादरियों तथा कुलीनों का समर्थन किया। एक ही स्थान पर बैठक होने से साधारण सदस्यों की जीत सुनिश्चित थी

नोट

किन्तु उनकी बात नहीं मानी गई। इस विषम स्थिति को सुलझाने के लिए सरकार ने कोई प्रयास नहीं किए। 6 जून से 16 जून तक इसी प्रकार गतिरोध बना रहा।

टेनिस कोर्ट की शपथ और राष्ट्रीय सभा का जन्म: एस्टेट्स जनरल के निर्वाचन के कारण फ्रांस में जन जाग्रति हो चुकी थी। 17 जून, 1789 को पादरी सदन के 12 प्रतिनिधि साधारण सदन (तीसरे सदन) में आकर मिल गए। उसी दिन तीसरे सदन के सदस्यों ने अपने सदन को राष्ट्रीय सभा घोषित कर दिया। एक अन्य प्रस्ताव के अनुसार राष्ट्रीय सभा ने यह निर्णय लिया कि राष्ट्रीय सभा की अनुमति के बिना कोई नया कर नहीं लगाया जाएगा। यह एक महत्त्वपूर्ण क्रान्तिकारी कदम था। फ्रांस में यह क्रान्ति का आरंभ था।

राजा ने सामंतों के प्रभाव में आकर तीसरे सदन अर्थात् राष्ट्रीय सभा के कार्य को अवरुद्ध करने के उद्देश्य से सभा-भवन में ताले लगवा दिए। 20 जून को जब तीसरे सदन के सदस्यों ने सभा भवन को बंद पाया तो समीपवर्ती टेनिस खेलने के मैदान में एकत्र होकर एक सभा आयोजित की। इस सभा में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि, "राष्ट्रीय सभा यह निर्णय करती है कि हम कभी भी अलग नहीं होंगे और जब तक संविधान का निर्णय नहीं हो जाता, तब तक जहाँ भी आवश्यक होगा और परिस्थितियों की माँग होगी, परस्पर मिलते रहेंगे।"

इस प्रकार फ्रांस में क्रान्ति का बिगुल बज उठा। राष्ट्रीय सभा का गठन हो गया और क्रान्ति की अंतिम परिणति नेपोलियन के उत्कर्ष के रूप में हुई। फ्रांस की राज्य क्रान्ति लगभग एक दशक तक अर्थात् 1799 ई. तक क्रमश: आगे बढ़ती रही।

फ्रांस में ही क्रान्ति क्यों हुई?: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्रान्ति फ्रांस में ही क्यों हुई? जबकि यूरोप के अन्य देशों आस्ट्रिया, प्रशिया, रोमन, पुर्तगाल और रूस में भी सामंतवादी अत्याचार, दासता शोषण और निरंकुश राजतंत्र उतने ही बुरे थे जितने कि फ्रांस में। कुछ देशों में तो हालत फ्रांस से भी खराब थी। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि किसी भी देश में होने वाली क्रान्ति के बीज उस देश की जनता की मनोदशा में निहित रहते हैं। क्रान्ति को जन्म देने वाली ये दोनों प्रकार की स्थितियाँ फ्रांस में अन्य देशों की तुलना में अधिक थीं। सामंती विशेषाधिकार अन्य देशों में भी थे, लेकिन उनके साथ कर्तव्य भी जुड़े हुए थे। सामंत लोगों की अपनी-अपनी जागीरों में रहते हुए कानून और व्यवस्था बनाए रखना होता था जबकि फ्रांस में वे वर्साय के महलों में रहकर विलासिता का जीवन व्यतीत कर रहे थे। राजा और सामंत दोनों ही विलासी और नाकारा हो चुके थे। फ्रांस की सामंतीय व्यवस्था अंदर से बेजान और खोखली हो चुकी थी।

दूसरा कारण, फ्रांस में एक शक्तिशाली एवं प्रबुद्ध मध्यम वर्ग का अस्तित्व था जो यूरोप में अन्यत्र नहीं था। व्यापारी, उद्योगपति, प्राध्यापक, वकील एवं अन्य शिक्षित लोग यद्यपि योग्य एवं सम्पन्न थे किन्तु राजकीय व्यवस्था में उनका कोई महत्त्व नहीं था। राज्य की ओर से उनके प्रति उपेक्षा का व्यवहार मध्यमवर्गीय लोगों को बहुत खटकता था। क्रान्ति का सूत्रपात भी इसी मध्य वर्ग ने किया। इसके अतिरिक्त फ्रांस के मध्य वर्ग ने ही ऐसे कई दार्शनिक और विचारक पैदा किए जिनका लोगों पर काफी प्रभाव था। अपने लेखन से उन्होंने फ्रांसीसियों ने दिमाग में स्थापित व्यवस्था को उखाड़ फेंकने की प्रेरणा उत्पन्न कर दी। इस लेखन ने उनके सामने ऐसे आदर्श रखे, जिनके लिए वे हर प्रकार के बलिदान के लिए तैयार हो गए। यूरोप के दूसरे देशों में ऐसा प्रबुद्ध वातावरण नहीं था। अत: फ्रांस के बौद्धिक जागरण ने फ्रांस को उत्पीड़न के विरुद्ध आवाज उठाने की शक्ति प्रदान की।

अमेरिकी स्वातंत्र्य युद्ध ने भी फ्रांस को बहुत प्रभावित किया। अमेरिकी उपनिवेशों की स्वतंत्रता के लिए इंग्लैण्ड जैसे शक्तिशाली देश से युद्ध करने वाले फ्रांसीसी सैनिक जब वापस अपने देश में आए तो वे स्वतंत्रता और समानता की प्रेरणा से भरे हुए थे। फ्रांस वापसी पर स्वतंत्रता और समता के लिए लड़ने की भावना स्वाभाविक रूप से उनमें उत्पन्न हुई।

राष्ट्रीय ऋण का बेहद बढ़ा हुआ बोझ, दरबार और राजपरिवार की फिजूलखर्ची आदि के कारण फ्रांस की दशा अन्य यूरोपीय देशों की अपेक्षा अधिक सोचनीय थी। फ्रांस के शोषित किसानों और असंतुष्ट सैनिकों ने भी क्रान्ति का वातावरण बनाने में योगदान किया।

नोट

सार-संक्षेप

1. भूमिका: फ्रांस की क्रान्ति अर्थात् जीर्ण-शीर्ण सामंतवादी राजनीतिक व्यवस्था, वर्गभेद युक्त समाज और निरंकुशता के विरुद्ध किया गया जन विरोध। विश्वव्यापी प्रभाव।

2. कारण: राजनीतिक-निरंकुशतापूर्ण शासन, सामंतशाली और कुलीनों का प्रभाव, कानून और करों की असमानता, पार्लमाँ (संसद) की स्थिति।

3. सामाजिक कारण: विशेषाधिकारों का उपभोग करने वाला वर्ग एवं सामान्य नागरिक वर्ग में भेदभाव, पादरी, कुलीन और सामान्य वर्ग की स्थिति, फ्रांस मध्यम वर्ग।

4. आर्थिक: सरकार का दिवालियापन, राजमहल के भारी खर्च, अर्थशास्त्रियों के सुझावों की उपेक्षा। अर्थव्यवस्था के सुधार के लिए पार्लमाँ की बैठक तथा तीसरे सदन द्वारा क्रान्ति का आरंभ।

5. दार्शनिकों: मान्तेस्क्यू, रूसो तथा वाल्तेयर के विचारों का प्रभाव। दूरगामी व्यापक प्रभावशाली आरंभिक घटनाएँ–एस्टेट्स जनरल की मीटिंग तथा क्रान्ति का आरंभ। फ्रांस में ही क्रान्ति क्यों? कारण–अधिक अयोग्य राजा और नौकरशाही, प्रबुद्ध मध्यम वर्ग में नये विचारों की चेतना।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. लुई सोलहवें की राज्य-व्यवस्था पर उसकी पत्नी ..... का बहुत प्रभाव था।
2. फ्रांस के समाज, राजनीति और अर्थव्यवस्था पर ..... का गहरा प्रभाव था।
3. फ्रांस में 1789 ई. में कब क्रान्ति शुरू हुई तो ..... ने उसका स्वागत किया।

23.2 फ्रांस की राज्य क्रान्ति का क्रमिक प्रसार (The Expansion of the French Revolution)

फ्रांस में राज्य क्रान्ति का विस्फोट पुरातन व्यवस्था की विसंगतियों और दोषों के कारण हुआ था। एस्टेट्स जनरल के तीसरे सदन ने 17 जून, 1789 ई. को स्वयं को राष्ट्रीय सभा के रूप में घोषित कर दिया था। 20 जून को टेनिस कोर्ट में शपथ लेकर जनप्रतिनिधियों ने एक नवीन संविधान बनाने का संकल्प भी किया। इन प्रारंभिक घटनाओं के पश्चात् फ्रांस में क्रान्ति का घटनाचक्र बहुत तेजी से घूमा तथा जुलाई, 1789 से आगामी एक दशक अर्थात् 1799 ई. तक अनेक घटनाएँ हुई जिनमें मुख्य हैं–राष्ट्रीय सभा अथवा संविधान सभा की उपलब्धियाँ, व्यवस्थापिका सभा और नेशनल कन्वेंशन का शासन तथा आतंक का राज्य, संचालक मण्डल (डायरेक्टरी) का शासन तथा नेपोलियन का उदय। इन सभी घटनाओं और तीव्रगामी परिवर्तनों का संक्षेप में विवरण अधोलिखित है–

1. राष्ट्रीय सभा के काल की उपलब्धियाँ (The Achievements of National Assembly): राष्ट्रीय सभा एस्टेट्स जनरल का ही परिवर्तित स्वरूप था। इसका काल 27 जून, 1789 से 30 सितम्बर, 1991 तक रहा। इस अवधि में क्रान्ति की घटनाएँ बहुत तेजी से आगे बढ़ती रहीं। जिसका क्रम निम्नानुसार है–

***(i)* तीनों सदनों की संयुक्त बैठक (27 जून, 1789 ई.):** टेनिस कोर्ट की शपथ (20 जून) के समय तीसरे सदन के दृढ़ रुख को देखकर राजा ने तीनों सदनों की सम्मिलित बैठक आमंत्रित की और 23 जून को उसे सम्बोधित किया। उसने तीनों सदनों को अलग-अलग बैठकें करने का आदेश दिया, इस पर पादरी और सामंत प्रतिनिधि तो चले गए लेकिन तीसरे सदन के सदस्य अर्थात् साधारण वर्ग के प्रतिनिधि वहाँ से नहीं हटे। उनके एक नेता मिराबो ने सदन के अधिकारी से कहा कि–"हम यहाँ जनता की इच्छा से आए हैं और जब तक हमें बंदूक की गोली से

नोट

नहीं हटाया जाएगा, हम यहाँ से नहीं जाएँगे।" अन्ततः राजा को विवश होकर तीनों सदनों की संयुक्त बैठक की अनुमति देनी पड़ी। 27 जून को तीनों सदनों की सम्मिलित बैठक हुई। यह जनसाधारण की विजय और राजा तथा विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग की पराजय थी। राष्ट्रीय सभा को इससे वैधानिक मान्यता-सी प्राप्त हो गई।

(*ii*) संविधान सभा की घोषणा 9 जुलाई, 1789 ई.: संयुक्त बैठक के पश्चात् राष्ट्रीय सभा और राजा के बीच अविश्वास और शंका की खाई बढ़ती जा रही थी। इधर पेरिस में उपद्रवी, उद्दण्ड और बेकार लोगों की भीड़ बढ़ती जा रही थी। इस विस्फोटक वातावरण से भयभीत होकर राजा ने पेरिस और वर्साय में तथा इन दोनों नगरों को जोड़ने वाली सड़क पर बीस हजार जर्मन और स्विस सैनिक नियुक्त कर दिए। राजा के इस कार्य से राष्ट्रीय सभा (तृतीय सदन) की शंका और बढ़ गई तथा अफवाह फैल गई कि राजा सदस्यों को बंदी बनाना चाहता है। जनता में राजा के प्रति अत्यधिक आक्रोश और असंतोष था। इसी परस्पर शंका और अराजकता के वातावरण में 9 जुलाई, 1789 को राष्ट्रीय सभा ने अपना नाम राष्ट्रीय संविधान सभा (National Constituent) रख लिया और समूचे देश के लिए संविधान बनाने का कार्य प्रारंभ कर दिया। इस प्रकार राष्ट्रीय सभा और संविधान सभा दोनों एक ही सदन थे जिसका संगठन तीसरे सदन के परिवर्तित रूप में हुआ था।

जिस समय राष्ट्रीय सभा ने संविधान सभा के रूप में कार्य करना आरंभ किया, उस समय पेरिस और वर्साय का वातावरण अत्यन्त उत्तेजनापूर्ण था। दोनों नगरों में उपद्रवी भीड़ बढ़ रही थी। इसी बीच 11 जुलाई को राजा ने लोकप्रिय वित्तमंत्री नेकर को पद से हटाकर एक सामंत ब्रेन्तोल को उसके स्थान पर नियुक्त कर दिया। वस्तुतः इस समय अस्थिर और अनिश्चयी लुई पर सामंतों और राज-परिवार के सदस्यों का दबाव बढ़ता जा रहा था जो राष्ट्रीय सभा के कट्टर शत्रु थे।

(*iii*) बास्तिल का पतन (Fall of Bastille) 14 जुलाई, 1789: फ्रांस की राजधानी वर्साय और उसके समीपवर्ती पेरिस में दुर्भिक्ष, बेकारी, भुखमरी से पीड़ित उत्तेजित लोगों की भीड़ बढ़ती जा रही थी। इस विस्फोटक वातावरण में नेताओं के उत्तेजक भाषणों ने स्थिति को और भी उग्र बना दिया। फेमिले देस्मीलिज नामक एक पत्रकार ने जब भीड़ के सामने भाषण देते हुए कहा कि–"हमें अब एक पल भी व्यर्थ नहीं खोना चाहिए। इससे पहले कि जर्मन सैनिक हम निःशस्त्रों का कत्ल कर दें, हमें शस्त्र प्राप्त करना चाहिए। हमें चाहिए हथियार...हथियार और केवल हथियार। शस्त्रों का संग्रह बास्तिल में है।"

पेरिस के पूर्व में कुछ दूरी पर सन् 1343 में निर्मित बास्तिल (Bastille) का दुर्ग था, जिसका उपयोग इस समय राजद्रोही सैनिकों के कारागार के रूप में हो रहा था। लोगों की दृष्टि में बास्तिल का किला निरंकुश राजसत्ता का प्रतीक था। इसके प्रति जनता में आक्रोश और घृणा थी। 14 जुलाई को शस्त्रों की खोज में पेरिस की उत्तेजित भीड़ ने बास्तिल के इस दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। इस समय इस किले में बंदूकों और गोला-बारूद का भंडार था। क्रोधित और उग्र भीड़ ने किले के गवर्नर द लोन (De Launey) की हत्या कर दी और किले में बंदी राजनैतिक कैदियों को मुक्त कर दिया गया।

14 जुलाई, 1789 ई. को बास्तिल पर जनता की विजय की घटना का फ्रांस की क्रान्ति के इतिहास में बड़ा महत्त्व है। यह जनता की राजतंत्र पर पहली विजय थी। बास्तिल राजतंत्र की निरंकुशता का प्रतीक था। उसके पतन से जनता के मन पर यह प्रभाव पड़ा कि लोकतंत्र की निरंकुशता पर विजय है। सारे देश पर इस घटना का व्यापक प्रभाव पड़ा। इस घटना के बाद सारे फ्रांस में क्रान्ति ने हिंसक रूप धारणा कर लिया और अन्य नगरों, कस्बों तथा ग्रामीण क्षेत्रों में भी सामंतों के किले ढहा दिए गए। इससे सामंतशाही पर आधारित सामाजिक व्यवस्था की नींव हिल उठी। दुर्गों और सामंतों के महलों पर क्रान्ति का तिरंगा (लाल, सफेद और नीला) झंडा लहराने लगा। बुर्बो राजवंश का प्रतीक सफेद झंडा हटा दिया गया।

(*iv*) कम्युन और नेशनल गार्ड का गठनः पेरिस नगर में उत्पन्न अराजकता और हिंसक गतिविधियों को नियंत्रित करने तथा क्रान्ति को एक निश्चित दिशा देने के उद्देश्य से ही एक नागरिक सेना अर्थात् नेशनल गार्ड (National

नोट

Guard) का गठन किया गया। अमेरिकी युद्धों में ख्याति प्राप्त करने वाला **मार्क्विस डि लाफायेत** इस सेना का कमांडर नियुक्त हुआ। पेरिस की व्यवस्था के लिए स्वायत्तशासी संस्था कम्युन (Commune) की स्थापना की गई। देश के अन्य क्षेत्रों में भी इसी प्रकार के कम्युन शीघ्र ही गठित हो गए और इस प्रकार फ्रांस में निरंकुशता के उन्मूलन की प्रक्रिया तीव्र गति से आगे बढ़ने लगी। राजा लुई सोलहवें ने विवश होकर लाफायत एवं अन्य नेताओं की नियुक्तियों तथा क्रान्तिकारियों के झंडे को मान्यता दे दी। यदि राजा पर रानी और सामंतों का दबाव इस घटना के बाद नहीं पड़ता और वह बुद्धिमानी तथा दूरदर्शिता से काम लेता तो इस बिन्दु पर राजतंत्र की रक्षा हो सकती थी, लेकिन दुर्भाग्य से राजा कमजोर और चंचल प्रवृत्ति का था।

(*v*) सामंतवादी विशेषाधिकारों का अंत (4 अगस्त, 1789): राष्ट्रीय सभा ने 4 अगस्त के अपने महत्त्वपूर्ण अधिवेशन में 30 प्रस्ताव स्वीकार किए जिनके द्वारा सामंतों और पादरियों के विशेषाधिकार समाप्त कर दिए गए। सभी फ्रांसीसी अब समान नागरिक हो गए। सामंतीय और चर्च के कर भी समाप्त घोषित कर दिए गए। इस प्रकार 4 अगस्त को सामंतवादी फ्रांस का अंत और लोकतांत्रिक फ्रांस का उदय हुआ।

(*vi*) मानव अधिकारों की घोषणा (27 अगस्त, 1789 ई.): राष्ट्रीय सभा पर इस समय स्वतंत्रता और समानता के सिद्धांतों का व्यापक प्रभाव था। सभा के सभी सदस्य लोकतंत्र और मानवीय अधिकारों का खुलकर समर्थन कर रहे थे। इसी वातावरण में 27 अगस्त को मानव अधिकारों की घोषणा का यह प्रसिद्ध प्रस्ताव पारित किया गया कि सभी मनुष्य समान और स्वतंत्र हैं, अतएव सभी को अपनी उन्नति के समान अवसर प्राप्त होना चाहिए। इस घोषणा से फ्रांस के सभी नागरिकों को स्वतंत्रता, समानता, सम्पत्ति रखने और अभिव्यक्ति के मौलिक अधिकार प्रदान किए गए। इसके अतिरिक्त इस प्रस्ताव में यह भी व्यवस्था की गई कि कानून सभी के लिए एक समान होंगे तथा कानूनी कार्यवाही के बिना किसी भी मनुष्य को बंदी या दण्डित नहीं किया जाएगा। धर्म या विचार की भिन्नता के आधार पर किसी भी व्यक्ति को परेशान नहीं किया जा सकता।

यह घोषणापत्र न केवल फ्रांस वरन् समस्त मानव जाति के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है। इस घोषणा से विशेष अधिकारों से युक्त सामंतवादी पुरातन व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया। यह पुरातन व्यवस्था पर एक ऐसा घातक प्रहार था जिससे अन्ततः उसका अस्तित्व ही समाप्त हो गया। कालान्तर में फ्रांस की राष्ट्रीय सभा का यह छोटा-सा घोषणापत्र विश्व के महान् ग्रंथावली की एक अमूल निधि के रूप में स्वीकार किया गया।

(*vii*) सन् 1791 का संविधान और फ्रांस में संवैधानिक राजतंत्रः राष्ट्रीय सभा का एक प्रमुख कार्य फ्रांस में वैधानिक राजतंत्र की स्थापना हेतु नवीन संविधान तैयार करना था। राजा लुई सोलहवें की गतिविधि इस समय भी संदिग्ध थी। यद्यपि उसने नये संविधान को स्वीकार किया लेकिन अंदर ही अंदर वह गुप्त रूप से क्रान्ति के परिणामों को समाप्त करने के लिए षड्यंत्र भी कर रहा था। इधर दूसरी ओर फ्रांस के विभिन्न नगरों और कस्बों में विद्रोहात्मक अराजकता चल रही थी। इस अनिश्चय और अस्थिर स्थिति में राष्ट्रीय सभा ने सन् 1791 का नवीन संविधान तैयार कर लिया और राजा से उसकी स्वीकृति प्राप्त कर ली।

संवैधानिक राजतंत्र के मूल सिद्धांत के आधार पर तैयार किया गया सन् 1791 का संविधान केवल फ्रांस का ही नहीं अपितु यूरोप का प्रथम लिखित संविधान था। इसमें शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत के आधार पर कार्यपालिका, विधायकमण्डल और न्याय व्यवस्था को एक दूसरे से स्वतंत्र और पृथक् रखा गया। राजा के अधिकार और शक्ति को सीमित कर दिया गया। कानून बनाने के लिए 745 निर्वाचित सदस्यों की विधानसभा के गठन की व्यवस्था इस संविधान में रखी गई। इस प्रकार शासन व्यवस्था में प्रथम बार जनता की भागीदारी निश्चित की गई।

फ्रांस के लिए नए संविधान का निर्माण और उस पर राजा की स्वीकृति प्राप्त करने के साथ ही राष्ट्रीय सभा का कार्य समाप्त हो गया। 30 सितम्बर, 1791 ई. को राष्ट्रीय सभा तथा उसमें निहित संविधान सभा विसर्जित हो गई तथा फ्रांस में नव निर्वाचित व्यवस्थापिका का शासन आरंभ हुआ। फ्रांस की राज्य क्रान्ति को अग्रसर करने एवं फ्रांस में राजतंत्र की निरंकुशता को समाप्त करने की दृष्टि से राष्ट्रीय सभा का योगदान महत्त्वपूर्ण था।

नोट

(*viii*) चर्च की नवीन व्यवस्था–पादरियों के लिए नवीन संविधान: क्रान्तिकारियों द्वारा चर्च के अधिकारों की समाप्ति तथा उसकी सम्पत्ति को जब्त कर लेने से अनेकानेक पादरियों के जीवन निर्वाह और गिरजाघरों के रख-रखाव की समस्या उत्पन्न हो गई थी। इसके निराकरण के लिए चर्च का पुनर्गठन किया गया और पादरियों के लिए सिविल संविधान (Civil Constitution of the Clergy) बनाया गया। प्रत्येक प्रांत को एक बिशप (Bhishop) का कार्य क्षेत्र बनाया गया। उसके अधीन अलग-अलग केन्द्रों पर पादरियों की नियुक्ति की गई। नियुक्ति के पश्चात् बिशपों और अधीनस्थ पादरियों को देश, कानून और राज्य के प्रति स्वामिभक्त होने की शपथ लेनी पड़ती थी। पादरियों और बिशपों के वेतन निर्धारित कर उनको राज्य की ओर से वेतन दिया जाने लगा। संक्षेप में, पादरियों तथा चर्च पर अब सरकारी नियंत्रण स्थापित हो गया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. ..... में राजा को विवश होकर पार्लमाँ की सहायता लेनी पड़ी।

   (क) 1689 ई. (ख) 1789 ई. (ग) 1889 ई. (घ) 1989 ई.

5. ..... के लेखकों और दार्शनिकों में वाल्तेयर सबसे अधिक दक्ष लेखक था।

   (क) अठारहवीं सदी (ख) सोलहवीं सदी

   (ग) पंद्रहवीं सदी (घ) सत्रहवीं सदी

6. नेपोलियन कहा करता था कि यदि ..... न होता तो फ्रांस में राज्यक्रान्ति का होना असंभव था।

   (क) वाल्तेयर (ख) दिदरो (ग) रूसो (घ) मान्तेस्क्यू

2. फ्रांस में व्यवस्थापिका सभा (Legislative Assembly) का शासन (1 अक्टूबर, 1791 से 20 सितम्बर, 1792 ई.): लगभग एक वर्ष का व्यवस्थापिका का शासन केवल कामचलाऊ शासनकाल था। इस समय फ्रांस अत्यन्त संकटापन्न स्थिति से गुजर रहा था। फ्रांस के विभिन्न राजनीतिक दलों में गंभीर मतभेद उत्पन्न हो गए थे और क्रान्ति से भयभीत होकर अनेक उच्च पादरी, कुलीन और सामंत फ्रांस छोड़कर जर्मनी या आस्ट्रिया चले गए थे। उन्होंने वहाँ के लोगों और राजाओं को क्रान्तिकारियों के विरुद्ध भड़काया। आस्ट्रिया के राजवंश से फ्रांस के वैवाहिक संबंध थे। फ्रांस की रानी मेरी आंत्वानेत आस्ट्रिया के सम्राट जोसेफ द्वितीय की बहन थी। अतः आस्ट्रिया का राजवंश फ्रांस के राज परिवार का अपमान और बर्बादी सहन नहीं कर सकता था। लुई सोलहवाँ भी आस्ट्रिया के शासक से अपनी सुरक्षा व सहायता के लिए गुप्त पत्रव्यवहार कर रहा था। इससे जहाँ एक ओर जनता, राजा की घोर विरोधी हो गई वहीं दूसरी ओर फ्रांस पर दूसरे राज्यों के आक्रमण शुरू हो गए जिनमें आरंभ में फ्रांस की पराजय हुई।

फ्रांस के दो राजनीतिक दलों जेकोबिन्स (Jacobins) और जिरोंदिस्त (Girondists) में गंभीर मतभेद थे। जेकोबिन उग्रवादी और कट्टर गणतंत्रवादी थे जबकि जिरोंदिस्त दल संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना चाहता था। दोनों दलों में मतभेद के कारण फ्रांस की शासन व्यवस्था पूर्णतः ध्वस्त हो गई। बेकारी, अनाज की कमी और महँगाई के कारण साधारण जनता त्रस्त थी। इस अराजकतापूर्ण स्थिति के लिए सामान्य नागरिक राजा को उत्तरदायी मानते थे। राजा की सुरक्षा भी खतरे में थी। लुई सोलहवें ने अपने परिवार के साथ फ्रांस से पलायन करके आस्ट्रिया में शरण लेने का प्रयत्न किया, किन्तु रास्ते में ही पकड़ा गया। 25 जून, 1971 को राजा को बंदी बनाकर तुइलरी के राजमहल में रख दिया गया। इस घटना से लोगों का विश्वास राजा और राजतंत्रीय शासन पद्धति से बिल्कुल समाप्त हो गया। गणतंत्रवादियों की शक्ति में वृद्धि हुई। पेरिस के कम्युन शासन के सैनिकों ने गणतंत्र विरोधी देश के आंतरिक शत्रुओं को मारना शुरू कर दिया। इसी क्रम में 2 से 6 सितम्बर, 1972 की अवधि में सैकड़ों पादरियों, कुलीनों तथा

नोट

राजतंत्रवादियों को निर्ममतापूर्वक मार डाला गया। इस घटना को सितम्बर का कत्लेआम कहते हैं। दूसरी ओर फ्रांस पर विदेशी आक्रमणों का क्रम शुरू हो गया। इस प्रकार व्यवस्थापिका का एक वर्ष का शासनकाल आंतरिक और बाह्य संकटों से पूर्णत: ग्रस्त था। सन् 1792 में विधानसभा के लिए नये चुनाव हुए। जो नई विधानसभा बनी उसका नाम **नेशनल कन्वेन्शन** रखा गया।

3. नेशनल कन्वेन्शन अथवा राष्ट्रीय सम्मेलन (National Convention) (सितम्बर 1792 से अक्टूबर, 1795): फ्रांसीसी क्रान्ति की घटनाओं के एक दशक में नेशनल कन्वेन्शन का शासन सबसे अधिक हिंसक और परिवर्तनकारी रहा। फ्रांस और संपूर्ण यूरोप के इतिहास में नेशनल कन्वेन्शन से अधिक कठोर शासन किसी भी शासन-संस्था ने नहीं किया। यहाँ यह प्रश्न पूछा जाना स्वाभाविक है कि कन्वेन्शन शासन के सूत्रधारों को इतना कठोर और क्रूर क्यों होना पड़ा? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सितम्बर 1792 में जब कन्वेन्शन ने शासन सम्भाला, उस समय फ्रांस घोर संकटापन्न स्थिति में था। आंतरिक शत्रु अर्थात् देशद्रोही कुलीन, सामंत और उच्च वर्ग के पादरी विदेशी शत्रुओं से मिले हुए थे। दूसरी ओर फ्रांस पर अनेक दिशाओं से विदेशी आक्रमण हो रहे थे। आस्ट्रिया और प्रशिया के अतिरिक्त इंग्लैण्ड और अन्य यूरोपीय देशों द्वारा फ्रांस पर आक्रमण हो रहे थे। एक प्रकार से सम्पूर्ण यूरोप के राजा फ्रांस में राजतंत्र की रक्षा के लिए सक्रिय हो चुके थे। ऐसी स्थिति में कन्वेशन के संचालकों के सामने देश के आंतरिक शत्रुओं तथा विदेशी आक्रमणों से निबटने का उचित मार्ग यही था कि कठोरतापूर्वक आंतरिक देशद्रोहियों का दमन किया जाए तथा सम्पूर्ण राष्ट्र एकजुट होकर विदेशी आक्रमणों का सामना करे। नेशनल कन्वेन्शन की आतंरिक और विदेशी नीति का संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है–

***(i)* नेशनल कन्वेन्शन की गृह नीति:** कन्वेन्शन ने देश में उत्पन्न अराजकता, अशांति और विद्रोहियों की समाप्ति के लिए एक सुदृढ़ केन्द्रीय सरकार की स्थापना की। समूचे प्रशासन के सफल संचालन के लिए एक जन सुरक्षा समिति (Committee of Public Safety) स्थापित की गई। इसके उग्रवादी सदस्यों ने रक्त और लोह की नीति का अनुसरण किया। क्रान्तिकारी न्यायालयों ने संदिग्ध व्यक्तियों पर मुकदमे की संक्षिप्त कार्यवाही करके उन्हें मृत्यु दंड दिया। हजारों क्रान्ति-विरोधियों, विद्रोहियों, देशद्रोहियों तथा संदेहास्पद व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया गया। मृत्यु देने का तरीका भी अत्यन्त भयावह था। खुली सड़क पर, मनुष्य की गर्दन धड़ से अलग कर देने वाला एक यंत्र **गिलोटीन**, गाड़ी पर रखकर लाया जाता और उससे दण्डित व्यक्ति की गर्दन काट दी जाती थी। कन्वेन्शन के शासन में जब राजसत्ता जेकोबियन दल के हाथों में आई तो देशद्रोहियों और बाहरी शत्रुओं की समाप्ति के लिए आतंक का राज (The Reign of Terror) चलाया गया। इस अवधि में जेकोबियन दल के कुछ नेताओं जैसे दांते, मारा, रोब्सपियर आदि के विचार बड़े कट्टर और उग्र थे। ये लोग कठोर दंड नीति के द्वारा लोगों में भय उत्पन्न करके देश में गणतंत्र को दृढ़तापूर्वक स्थापित देखना चाहते थे।

***(ii)* आतंक का राज (The Reign of Terror) 2 जून, 1793 से 27 जुलाई, 1794 ई.:** आतंक-राज्य की स्थापना राष्ट्रीय सुरक्षा के सिद्धांत पर आधारित थी। इस समय बाहरी खतरों से देश की रक्षा के लिए ऐसे व्यक्तियों को मृत्यु दंड देना आवश्यशक था जिनकी देशभक्ति में संदेह था। फ्रांस में ऐसे लोगों की संख्या बहुत बड़ी थी जो क्रान्ति विरोधी थे तथा उसे कुचलने का प्रयास कर रहे थे। ये लोग विदेशी शक्तियों को फ्रांस पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित कर रहे थे। इनमें पादरियों की संख्या सबसे बड़ी थी। हजारों क्रान्ति विरोधी फ्रांस से भागकर दूसरे देशों में शरण लिए हुए थे और वहाँ के शासकों को फ्रांस पर आक्रमण के लिए तैयार कर रहे थे। इन्हीं लोगों के कारण फ्रांस को विदेशी शक्तियों से टक्कर लेनी पड़ रही थी।

आतंक के राज्य के दौरान पेरिस और प्रांतों की न्यायिक अदालतें (ट्रिब्यूनल्स) निर्ममतापूर्वक लोगों को दण्डित करने का काम लगभग एक वर्ष तक करती रहीं। अकेले पेरिस में 2639 लोगों को गिलोटिन पर चढ़ाकर उनकी हत्या कर दी गई। प्रांतों की स्थिति तो और भी कठोर थी। नातेंस में चार महीनों के अन्दर चार हजार व्यक्तियों को कटवा दिया गया। लियोन्स में 2000 लोगों को एक साथ खड़ाकर गोलियों से उड़ा दिया गया। आतंक के महीनों में 16594

नोट

लोगों को जान से मारा गया था। एक सर्वेक्षण के आधार पर डोनाल्ड ग्रीयर ने निष्कर्ष निकाला है कि संभवतः 35,000 से 40,000 लोगों को मौत के घाट उतारा गया, जिनमें जेलों में मृत तथा बिना मुकदमा चलाए मारे गए व्यक्ति भी शामिल थे।

(*iii*) लुई सोलहवें को मृत्युदंड (21 जनवरी, 1793 ई.): राष्ट्रीय कन्वेन्शन के कुछ उग्र गणतंत्रवादी नेता राजतंत्र को आमूल उखाड़ फेंकने के इच्छुक थे। उनकी दृष्टि में फ्रांस का राजा लुई सोलहवाँ क्रान्ति विरोधी और देशद्रोही था। राजा को कैद कर लिया गया था, किन्तु उसके साथ कैसा व्यवहार किया जाए। इस विषय में जिरोन्दिस्तों तथा जेकोबियनों में मतभेद था। कन्वेन्शन में अतिवादी जेकोबियन दल का प्रभाव अधिक था। इसलिए राजा पर एक मुकदमा क्रान्तिकारी अदालत में चलाया गया। उस पर आरोप गलाया गया कि उसने क्रान्ति विरोधी भगोड़ों का साथ दिया है तथा फ्रांस के शत्रु देशों (आस्ट्रिया तथा प्रशिया) की सहायता की है। मुकदमे के दौरान वातावरण बड़ा उत्तेजनापूर्ण था। सभागार में प्रबुद्धों की अपेक्षा उच्छृंखल लोग अधिक थे। जिरोन्दिस्त दल के लोग राजा को मृत्युदंड देने के पक्ष में नहीं थे, परन्तु राजा को बचाने के लिए उग्रवादियों के प्रतिरोध का सामना करने का साहस उनमें नहीं था। अन्ततः मात्र एक वोट के बहुमत से कन्वेन्शन की न्यायिक अदालत, जिसे राजा का मुकदमा चलाने का संवैधानिक अधिकार नहीं था, ने राजा को मृत्यु दंड देने का निर्णय दे दिया। रविवार 21 जुलाई, 1793 को जब राजा को गिलोटिन पर चढ़ाया गया तब राजा ने कहा, "महाशयों मुझ पर लगाए गए आरोप सत्य नहीं हैं। मैं निर्दोष हूँ। मैं उम्मीद करता हूँ कि मेरा खून सभी फ्रांसीसी जनों की खुशहाली को मजबूत करेगा।" इस समय एकत्र भीड़ ने नारे लगाए (Long Live The Republic और Long Live The Liberty) अर्थात् गणतंत्र और स्वतंत्रता अमर रहे।

फ्रांस की रानी मेरी आंत्वानेत को कारागार में बहुत अपमानित किया गया। उस पर अनेक अश्लील आरोप लगाए गए और अक्टूबर 1793 में उसे भी मृत्युदंड दे दिया गया।

वस्तुतः जिस न्यायिक प्रक्रिया द्वारा राज परिवार को दंडित किया गया था, वह असंवैधानिक एवं अनुचित था। जिन लोगों ने उसे फाँसी पर चढ़ाया, वे पूरे राष्ट्र के प्रतिनिधि नहीं माने जा सकते थे। लुई को गिलोटिन पर चढ़ाने का असली कारण यह था कि राजा की उपस्थिति गणतंत्र के लिए खतरा बन सकती थी।

(*iv*) कन्वेन्शन की विदेश नीति–क्रान्तिकारी युद्ध में सैनिक सफलताएँ: कन्वेन्शन शासन को बाहरी देशों के सामूहिक आक्रमण का सामना करना पड़ा। वस्तुतः सम्पूर्ण यूरोप के देशों के राजाओं के सामने यह भय उत्पन्न हो गया था कि फ्रांस की क्रान्ति का प्रभाव उनके देश पर भी पड़ेगा और राजतंत्र के स्थान पर गणतंत्र स्थापित हो जाएगा। यह डर आधारहीन भी नहीं था क्योंकि गणतंत्रीय फ्रांस के सूत्रधारों ने अन्य यूरोपीय देशों की जनता को संदेश भेजा कि वे अपने-अपने देशों में निरंकुश राजओं के विरुद्ध विद्रोह करके स्वतंत्रता प्राप्त कर लें। फ्रांस उनकी सहायता करेगा। इससे यूरोप के दरबारों में आतंक और सनसनी फैल गई और उनमें से अधिकांश फ्रांस के शत्रु हो गए। राजा को दंडित किए जाने से पूर्व तक तो केवल आस्ट्रिया और प्रशिया ही फ्रांस के शत्रु थे, किन्तु राजा लुई को मृत्यु दंड दिए जाने की सूचना प्राप्त होने पर सारे यूरोप के राजपरिवार भय से काँप उठे। अब उनके सामने क्रान्तिकारी फ्रांस के गणतंत्र को पराजित करने का कार्य एक आत्मरक्षा का कार्य बन गया। इसीलिए इंग्लैण्ड के नेतृत्व में फ्रांस के विरुद्ध यूरोपीय देशों का प्रथम गुट बना, जिसमें इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया, प्रशिया, स्पेन, पुर्तगाल, हॉलैण्ड, सार्डेनिया, टस्कनी आदि 15 देश सम्मिलित थे।

प्रारंभिक युद्धों में इंग्लैण्ड, प्रशिया और आस्ट्रिया की सेनाओं ने फ्रांस को पराजित कर दिया। फ्रांस चारों ओर से शत्रुओं से घिर गया तथा शत्रु सेनाएँ उसकी सीमा की ओर तीव्र गति से बढ़ने लगीं। इस भयावह संकट का सामना फ्रांस ने बड़े साहस और दृढ़ संकल्प के साथ किया। उसने आंतरिक शत्रुओं अर्थात् देशद्रोहियों को दंडित करने तथा अपनी सेनाओं द्वारा विदेशी आक्रमण का मुकाबला करने का कार्य एक साथ किया। फ्रांस के नागरिकों में अनेक उपायों से देशभक्ति और राष्ट्र की रक्षा के लिए बलिदान करने की भावना उत्पन्न की गई। 18 से 40 वर्ष की आयु

नोट

के व्यक्तियों के लिए सैनिक कर्तव्य अनिवार्य करके सात लाख सत्तर हजार सैनिकों की एक विशाल सेना तैयार कर ली गई जिसमें देश रक्षा, आत्म उत्सर्ग और कर्तव्य की भावना विद्यमान थी। अनुभवी **सेनानायक कार्नट** के नेतृत्व में इस सेना ने विभिन्न युद्धों में प्रथम शत्रु गुट (First Coaliation) को परास्त कर दिया। जब अक्टूबर, 1795 में नेशनल कन्वेन्शन की अवधि समाप्त हुई तब तक फ्रांस विरोधी गुट लगभग विघटित हो चुका था।

(v) नेशनल कन्वेन्शन के कार्यों का मूल्यांकन (Estimate of National Convention): नेशनल कन्वेन्शन का शासन काल नि:संदेह भयानक क्रूरता और हिंसा से ओतप्रोत था, किन्तु उसकी उपलब्धियाँ फ्रांस के लिए महत्त्वपूर्ण थीं। देशद्रोही आप्रवासियों के कारण उत्पन्न विदेशी खतरों का मुकाबला और आंतरिक संकटों का सामना कन्वेन्शन ने जिस साहस से किया, वह प्रशंसनीय है। उसने फ्रांस में राजतंत्र का उन्मूलन करके गणतंत्र की स्थापना की, धार्मिक क्षेत्र में उसने चर्च की मनमानी का अंत करके नागरिकों को धार्मिक स्वतंत्रता प्रदान की, आंतरिक प्रशासन में अनेक नई प्रणालियों की स्थापना करके सम्पूर्ण देश में एकरूपता स्थापित की। कन्वेन्शन के आतंक के राज्य के दौरान सहस्रों लोगों की हत्या किए जाने से क्रान्ति का नाम निंदा का प्रतीक अवश्य बन गया था। फिर भी क्रान्ति के प्रसिद्ध सिद्धांतों-स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व की रक्षा करने में कन्वेन्शन का शासन पूर्णत: सफल रहा।

4. डायरेक्टरी (संचालकमण्डल) का शासन–अनैतिकतापूर्ण भ्रष्ट शासन का युग (1795-1799 ई.): नेशनल कन्वेन्शन ने फ्रांस के लिए गणतंत्रात्मक संविधान बनाया था। उसके अनुसार कन्वेन्शन की समाप्ति के बाद शासन पाँच सदस्यों के संचालकमण्डल को सौंप दिया गया। संचालकमण्डल अथवा डायरेक्टरी (Directory) ने अक्टूबर, 1795 से नवंबर, 1799 तक शासन संभाला। संविधान के अनुसार संचालकमण्डल के पाँच सदस्यों में प्रत्येक सदस्य तीन माह तक संचालकमण्डल का प्रधान रहता था और इस अवधि में वह फ्रांस का राष्ट्रपति भी होता था।

डायरेक्टरी जन्म से ही भाग्यहीन रही। दुर्भाग्य से इसके पाँच निर्वाचित निदेशकों में से एक कार्नोत को छोड़कर शेष सभी भ्रष्ट, बदनाम और मक्कार थे। संचालकमण्डल में शासन का कुप्रबंध इन्हीं भ्रष्ट और स्वार्थी व्यक्तियों के कारण पनपा। आतंक के राज और कन्वेन्शन शासनकाल के अनुशासन, कठोर शासन और भय की तरह से यह प्रतिक्रिया थी। जिन लोगों ने पिछले वर्षों का जबरदस्त तनाव झेला था वे अब पूरी तरह जिन्दगी के मजे ले लेना चाहते थे। डायरेक्टरी के सदस्य के रूप में जो लोग शासक बने थे, उनमें से अधिकांश सार्वजनिक हित की अपेक्षा व्यक्तिगत स्वार्थ में दिलचस्पी रखते थे। वे अपनी-अपनी कमाई को बढ़ाकर अपना भविष्य सुरक्षित कर लेना चाहते थे। इनमें से कई तो सट्टेबाज और मुनाफाखोर व्यक्ति थे। जो सत्ता का दुरुपयोग करके अपनी स्थिति मजबूत करना चाहते थे, ऐसे स्वार्थी व्यक्तियों के हाथों में फ्रांस की सत्ता आ जाने पर परिणाम यह हुआ कि देश की आंतरिक स्थिति दुर्बल हो गई और क्रान्तिकारी फ्रांस की अब तक की उपलब्धियाँ समाप्त होने लगीं।

आंतरिक नीति: संचालकमण्डल देश की आर्थिक स्थिति को बिगाड़ने का दोषी माना जा सकता है। व्यापार और उद्योग-धंधों की स्थिति खराब हो गई तथा लोगों ने कर देना बंद कर दिया। विदेशी युद्धों और सेनाओं पर अत्यधिक व्यय हो जाने के कारण सरकार ने अपने आपको दिवालिया घोषित कर दिया। सामाजिक व्यवस्था का भी अध:पतन हुआ। तलाकों की संख्या बढ़ जाने के कारण पेरिस रंगरेलियों का केन्द्र बन गया। देश की 232 नाट्यशालाएँ भ्रष्टाचार और अनैतिकता के अड्डे बन गए थे। समाज एक प्रकार से आचरणहीनता की ओर अग्रसर हो रहा था। डायरेक्टरी के शासन की एक बड़ी संवैधानिक दुर्बलता यह थी कि कार्यपालिका विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं थी और चुनावों में उसे जनता का सामना नहीं करना पड़ा था। वस्तुत: डायरेक्टरी के शासनकाल में फ्रांस की क्रान्ति की मूल भावना स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व का अंध:पतन शुरू हो चुका था।

विदेशी नीति: डायरेक्टरी की विदेश नीति भी उसकी आंतरिक नीति की तरह असफल रही। कन्वेन्शन के शासनकाल में फ्रांस विरोधी विदेशी गुट पराजित हो चुका था, परन्तु डायरेक्टरी के शासनकाल में यूरोप के कुछ

नोट

राज्यों ने फ्रांस के विरुद्ध द्वितीय गुट बना लिया। इस गुट में इंग्लैण्ड, आस्ट्रिया और सार्डीनिया सम्मिलित थे। इस कारण फ्रांस को कई मोर्चों पर युद्ध करना पड़े। फ्रांस की सेनाएँ पराजित होने लगीं। इसी संकटपूर्ण परिस्थिति में नेपोलियन को अपने साहस और शौर्य के प्रदर्शन का अवसर मिला। सेना में नेपोलियन के बढ़ते हुए प्रभाव ने डायरेक्टरी को भयभीत कर दिया था। उसे फ्रांस से दूर भेजने के उद्देश्य से डायरेक्टरी के सूत्रधारों ने फ्रांसीसी सेना का नेतृत्व उसे सौंपकर शत्रुओं का सामना करने के लिए भेज दिया। विदेशी भूमि पर नेपोलियन ने अप्रत्याशित सफलता प्राप्त की। फ्रांसीसी सेनाओं ने सर्वप्रथम सार्डीनिया को परास्त किया और सेवाय तथा नाइस पर अधिकार कर लिया। इसी प्रकार आस्ट्रिया को परास्त करके नेपोलियन ने मिलान तथा वेनिस पर भी अधिकार करने में सफलता प्राप्त की।

केम्पोफोर्मियो की संधि: इस संधि द्वारा आस्ट्रिया और फ्रांस में युद्ध विराम हो गया। अब नेपोलियन ने 1798 ई. में मिस्र पर आक्रमण किया तथा माल्टा और सिकन्दरिया पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् इंग्लैण्ड के सेनापति नेलसन से नील नदी के युद्ध में पराजित हो जाने के कारण नेपोलियन फ्रांस वापस लौट आया।

इन उपलब्धियों के कारण नेपोलियन ने फ्रांस की जनता की प्रशंसा और लोकप्रियता प्राप्त कर ली। इसका लाभ उठाकर उसने संचालक मण्डल के एक सदस्य एबेसिये (Abbesieyes) से मिलकर संचालक मंडल के विरुद्ध षड्यंत्र की रचना की और डायरेक्टरी का तख्ता पलट दिया। इसके बाद फ्रांस में नेपोलियन का युग प्रारंभ होता है। डायरेक्टरी ने अपने क्षुद्र स्वार्थ एवं भ्रष्टाचार पूर्ण शासन के कारण क्रान्ति की मूल भावना को क्षति पहुँचाई थी। उसके कुशासन और गलत निर्णयों के कारण ही नेपोलियन को उसके शासन का तख्ता पलटने का साहस हुआ था।

टास्क फ्रांस की क्रान्ति की प्रथम घटना कौन-सी थी?

फ्रांस की क्रान्ति का प्रभाव तथा महत्त्व (The Effects and significance of French Revolution): फ्रांसीसी क्रान्ति इतिहास की एक सामान्य एवं स्थानीय घटना नहीं थी। इसने फ्रांस की जनता को ही नहीं अपितु यूरोप एवं सम्पूर्ण विश्व की जनता को प्रभावित किया। इस क्रान्ति ने एक युग का अंत कर दूसरे युग का श्रीगणेश किया। इसने मध्ययुगीन निरंकुश अथवा स्वेच्छाचारी शासन के स्थान पर संवैधानिक लोकतंत्रीय शासन प्रणाली की स्थापना के साथ आधुनिक युग के आविर्भाव की सूचना दी। फ्रांसीसी क्रान्ति के तीन आदर्श–स्वतंत्रता, समता एवं बंधुत्व (Liberty, Equality and Fratenity) सर्वत्र लोकप्रिय हुए तथा ये सिद्धांत आगामी क्रान्तियों के मार्गदर्शक बने। फ्रांसीसी क्रान्ति के राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक प्रभावों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है–

राजनीतिक प्रभाव: फ्रांसीसी क्रान्ति ने पुरातन राजनीतिक प्रणाली का अंत कर दिया जिसमें राजा स्वयं को देवी अधिकारों से युक्त तथा उसके कृपापात्र सहायक सामंत आदि विशेषाधिकारों से युक्त समझकर सामान्य जनता पर शासन करते थे। उच्च वर्ग अर्थात् राजा, पादरी एवं सामंत शोषण करते थे और सामान्य प्रजा शोषित एवं पीड़ित रहने के लिए बाध्य थी। क्रान्ति ने इस सिद्धांत को भलीभांति प्रतिपादित कर दिया कि सर्वोच्च सत्ता का सार्वभौमिक अधिकार जनता में निहित है। इसी प्रकार फ्रांसीसी क्रान्ति ने यूरोप में प्रथम बार लिखित संविधान के आधार पर जन-प्रतिनिधियों के समयबद्ध निर्वाचन तथा निर्वाचित सदस्यों द्वारा ही शासन करने की प्रणाली को आरंभ किया। संविधान ने मानव अधिकारों की घोषणा करने का श्रेय भी फ्रांस की राज्य क्रान्ति को ही है। एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि फ्रांसीसी क्रान्ति के कारण ही फ्रांस की शासन व्यवस्था में समानता और एकरूपता स्थापित हुई। सम्पूर्ण देश में एक ही कानून और न्याय प्रणाली की स्थापना भी क्रान्ति के कारण ही हुई।

नोट

धार्मिक प्रभाव–धर्म निरपेक्ष राज्य का प्रादुर्भाव: धर्म के क्षेत्र में क्रान्ति पैदा करना फ्रांसीसी क्रान्ति की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। मध्ययुग में धर्म के नाम पर शोषण और अत्याचारों का जो सिलसिला शताब्दियों से चला आ रहा था, उसे फ्रांसीसी क्रान्ति ने एक ही झटके में समाप्त कर दिया। क्रान्ति के दौरान फ्रांस के कैथोलिक चर्चों की सम्पत्ति और सत्ता नष्ट कर दी गई। चर्च की समस्त भूमि सरकार के अधिकार में कर दी गई और पादरियों के लिए नवीन संविधान लागू किया गया। पादरियों को अब सरकारी कर्मचारियों के समान वेतन दिया जाने लगा। क्रान्ति के फलस्वरूप ही फ्रांस और यूरोप के अन्य देशों में धार्मिक स्वतंत्रता और सहिष्णुता की भावना उत्पन्न हुई। सर्वप्रथम फ्रांस में ही इस सिद्धांत को मान्यता मिली कि राज्य से चर्च का कोई संबंध नहीं है और चर्च को राज्य के क्षेत्र में किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इस प्रकार फ्रांस की राज्य क्रान्ति ने धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

सामाजिक प्रभाव–व्यक्ति की महत्ता स्थापित: फ्रांस की क्रान्ति ने फ्रांस और यूरोपीय देशों में सामाजिक पुनर्गठन की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। अब सामंत प्रणाली और दास व्यवस्था का अंत हुआ और प्रत्येक व्यक्ति को समान महत्त्व मिलने की परंपरा स्थापित हुई। सभी देशवासियों को समान नागरिक अधिकार प्रदान किए गए। कृषक वर्ग के लिए तो फ्रांस की क्रान्ति एक वरदान सिद्ध हुई। उसे अब जमींदारों के शोषण, अत्याचार और बेगारी से मुक्ति मिल गई। सामंती व्यवस्था के पतन के कारण सामंतों की भूमि कृषकों को उपलब्ध कराई गई, जिसे कड़े परिश्रम से कृषकों ने खेती के लिए तैयार किया। फ्रांस की क्रान्ति ने सामाजिक भेदभाव और ऊँच-नीच की भावना का अंत कर दिया। साधारण श्रेणी के लोग उच्च श्रेणी के आतंक और भय से मुक्त होकर स्वतंत्रतापूर्वक रह सकते थे। इस प्रकार क्रान्ति ने सामाजिक भेदभाव का अंत करके व्यक्ति-स्वतंत्रता के सिद्धांत को व्यापक रूप से लोकप्रिय बना दिया। क्रान्तिकारी अन्य देशों की पीड़ित जनता को अपना भाई समझते थे। इस प्रकार उन्होंने विश्व-बन्धुत्व का नारा देकर कार्ल मार्क्स के साम्यवाद के मार्ग को प्रशस्त किया।

यूरोप में प्रतिक्रियावाद का युग: यूरोप के अनेक वर्ग के लोगों पर क्रान्ति की प्रतिकूल प्रतिक्रिया भी हुई जिसके कारण प्रतिक्रियावाद का युग 1815 ई. से आरंभ हुआ। क्रान्ति के बाद यूरोप के शासक प्रतिक्रियावादी अर्थात् क्रान्ति के विरोधी बन गए। अन्य यूरोपीय देशों में यह भय उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था कि कहीं क्रान्ति का प्रभाव उनकी राज्य सत्ता के लिए खतरा ही न बन जाए। अत: नेपोलियन के पतन के पश्चात् यूरोप के शासक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर प्रत्येक निर्णय क्रान्ति के भय को ध्यान में रखकर करने लगे। वियना कांग्रेस (1814 ई.) के सभी निर्णय क्रान्ति के विस्फोट को फिर से रोकने के लिए किए गए थे। 1815 से 1848 ई. के यूरोप का इतिहास प्रतिक्रियावाद के युग के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका प्रणेता और सूत्रधार आस्ट्रिया का चांसलर मेटरनिख था।

फ्रांस की क्रान्ति के प्रभाव की व्यापकता तथा उसके दूरगामी प्रभाव के बारे में इतिहासकारों में मतभेद हो सकता है, किन्तु यह सत्य है कि 1917 ई. की रूसी क्रान्ति से पूर्व यूरोप में घटित अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं जैसे इटली और जर्मनी के एकीकरण, पूर्वी यूरोपीय देशों में स्वतंत्रता आंदोलन एवं 1830 ई. की यूरोपीय क्रान्ति पर फ्रांस की क्रान्ति का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। यह तथ्य निर्विवाद है कि क्रान्ति के बाद यूरोप और विशेषकर फ्रांस वह नहीं रहा जो पहले था। यह क्रान्ति एक युग प्रवर्तक घटना थी।

23.3 सारांश (Summary)

क्रान्ति की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है–फ्रांसीसियों में राष्ट्रवाद की चेतना का आविर्भाव। इतिहासकार गुच के शब्दों में–"राष्ट्रवाद फ्रांसीसी क्रान्ति की संतान है।" इसी राष्ट्रवादी भावना के कारण कन्वेन्शन के शासनकाल में और बाद में नेपोलियन के काल में दूसरे देशों से युद्ध करने और विजयी होने का जोश और उत्साह फ्रांस के लोगों में उत्पन्न देशप्रेम और बलिदान की भावना से अन्य देश भी प्रभावित और प्रेरित होने लगे। आगे चलकर 1815 ई. में अन्य देशों द्वारा नेपोलियन को पराजित करने में राष्ट्रप्रेम की इसी भावना ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इतना ही नहीं

राष्ट्रीयता की भावना मनुष्य मात्र के लिए एक स्थाई तत्व बन गया। अनेक देशों में राष्ट्रीय राज्य (National State) की स्थापना के आंदोलनों में लोगों को इस भावना से नई स्फूर्ति प्राप्त हुई।

नोट

23.4 शब्दकोश (Keywords)

1. स्वतंत्रता (Liberty)–स्वाधीनता
2. समता (Equality)–समानता, बराबरी
3. बंधुत्व (Fraternity)– भाईचारा

23.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. फ्रांस की राज्यक्रान्ति के कारण बताइए।
2. जिन विचारकों के लेखन का प्रभाव फ्रांस की क्रान्ति पर सबसे अधिक पड़ा, उनका वर्णन कीजिए।
3. फ्रांस में ही क्रान्ति क्यों हुई? स्पष्ट कीजिए।
4. 'फ्रांस में व्यवस्थापिका सभा का शासन' पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. मेरी आंत्वानेत
2. चर्च
3. कृषकों और श्रमिकों
4. (ख) 1789 ई.
5. (क) अठारहवीं सदी
6. (ग) रूसो

23.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
2. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
4. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
5. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
6. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
7. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*

नोट

इकाई 24: राजनीतिक क्रान्ति : रूस
(The Political Revolution : Russia)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

24.1 रूसी क्रान्ति के कारण (Causes of the Russian Revolution)

24.2 मार्च, 1917 की क्रान्ति (Revolution of March, 1917)

24.3 बोल्शेविक क्रान्ति, नवम्बर, 1917 (Bolshevik Revolution, November, 1917)

24.4 बोल्शेविक सरकार के समक्ष चुनौतियाँ (Challenges Before Bolshevik Govt.)

24.5 रूसी क्रान्ति के परिणाम एवं उसका विश्व-इतिहास में स्थान व महत्त्व (The Consequences of Russian Revolution and Its Place and Significance in World History)

24.6 सारांश (Summary)

24.7 शब्दकोश (Keywords)

24.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

24.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- रूस की क्रान्ति के कारण जानने में।
- बोल्शेविक क्रान्ति को जानने में।
- रूसी क्रान्ति के परिणाम और विश्व-इतिहास में उसका स्थान जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

सन् 1917 की रूसी क्रान्ति 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद विश्व-इतिहास की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना थी। यह अपने ढंग की एक विलक्षण और स्थाई क्रान्ति सिद्ध हुई जिसने रूसी जनता के जीवन के सभी अंगों को प्रभावित किया और इससे जो विचार उत्पन्न हुए वे संसारभर में फैल गए। यद्यपि यह क्रान्ति तब हुई जब रूसी जनता जर्मनी के हाथों शर्मनाक ढंग से हार रही थी, तथापि इसे रूस की मात्र सैनिक पराजय का परिणाम कहना भूल होगी। पराजय ने क्रान्ति की केवल उस प्रक्रिया को अधिक तीव्र बना दिया जो विगत कई शताब्दियों से रूस की निरंकुश जारशाही-व्यवस्था की जड़ों को खोखला कर रही थी। क्रान्ति के लक्षण तो 1905 ई. में ही प्रकट हो गए थे, किन्तु

नोट

उस समय तो जारशाही ने उसे दबा दिया। जार निकोलस द्वितीय ने शासन-सुधारों की घोषणा करके और राष्ट्रीय संसद ड्यूमा (Duma) की स्थापना का वचन देकर जनता के क्रोध को शान्त कर दिया; पर जार ने पुन: प्रतिक्रियावादी रूप धारणा कर लिया। वैधानिक शासन को ठुकरा दिया गया जिसके फलस्वरूप जनता में क्रान्ति की ज्वाला भीतर ही भीतर सुलगती गई और अन्त में 1917 की वह महान् बोल्शेविक क्रान्ति होकर रही जिसने रूस की काया पलट दी और जारशाही को सदा के लिए दफनाकर रूस को एक साम्यवादी देश बना दिया।

24.1 रूसी क्रान्ति के कारण (Causes of the Russian Revolution)

सन् 1917 की रूसी क्रान्ति के कारण कुछ दीर्घकालीन तथा कुछ तात्कालिक थे। अन्य क्रान्तियों की भाँति यह भी क्रान्ति अपने पीछे एक लम्बा इतिहास लिए हुए थी और कुछ तात्कालिक परिस्थितियों ने उस लम्बे इतिहास के अंदर धधकते हुए ज्वालामुखी का एकाएक विस्फोट कर दिया। क्रान्ति के दीर्घकाल और तात्कालिक कारण निम्नलिखित थे–

1. जारशाही की निरंकुशता: रूस में सदियों से निरंकुश जारों का शासन चला आ रहा था। रूस के जार स्वेच्छाचारी शासन और दैवी अधिकार के सिद्धांत के समर्थक थे। जार एलेक्जेण्डर प्रथम ने प्रारंभ में कुछ उदार नीति अपनाने के बाद पुन: प्रतिक्रियावादी नीति अपना ली। तत्पश्चात् निकोलस प्रथम ने भी पूरी तरह प्रतिक्रियावादी और दमनकारी नीति का अनुसरण किया। उसके उत्तराधिकारी जार एलेक्जेण्डर द्वितीय (1855-81) ने अवश्य ही अपने राज्यकाल के प्रारंभ में स्थानीय शासन की स्थापना की; न्याय-पद्धति में सुधार किया और जनता के प्रति कुछ उदार नीति अपनाई; लेकिन जब सुधारों के विरुद्ध सामंतों और जमींदारों की तीव्र प्रतिक्रिया हुई और साथ ही देश में संवैधानिक शासन की माँग अधिक जोर पकड़ने लगी तो एलेक्जेण्डर द्वितीय भी पुन: निरंकुश और कठोर बन गया। जनता में संवैधानिक शासन की जो आशा पैदा हुई थी वह निराशा में बदल गई और सरकार के विरोध में 'निहिलिस्ट आंदोलन' उठ खड़ा हुआ। अन्त में मार्च 1881 में एक आतंकवादी द्वारा जार की हत्या कर दी गई। उसके बाद एलेक्जेण्डर द्वितीय का पुत्र एलेक्जेण्डर तृतीय गद्दी पर बैठा जो निरंकुशता में अपने सभी पूर्वजों से दो कदम आगे बढ़ा हुआ था। उसका सम्पूर्ण शासनकाल (1881-94) दमन और प्रतिक्रियावादी नीति का प्रतीक था। उसने सुधारों का जनाजा निकाल दिया और उदारवादियों के प्रति घोर शत्रुतापूर्ण नीति अपनाई। आतंकवादी अपना हौसला खो बैठे, लेकिन भीतर ही भीतर असंतोष तीव्रतर होता गया। अलेक्जेंडर तृतीय की मृत्यु के बाद उसका पुत्र निकोलस (1894-1917) तो रूढ़िवाद का अवतार ही था। वह परिवर्तन, उदारवाद और सुधारों का कट्टर विरोधी था और उसने न केवल अपने पिता की दमन-नीति को जारी रखा, बल्कि उससे भी अधिक अत्याचार किए। वह अपनी रानी के अत्यधिक प्रभाव में था जो स्वयं रास्पुटिन (Rasputin) नामक एक भ्रष्ट साधु के प्रभाव में थी। निकोलस द्वितीय ने गृह-मंत्री प्लेहव (Pleheve) की सहायता से आतंक का मार्ग ग्रहण किया और रूस की जनता को कुचल दिया। निकोलस के दमन ने जनता के असंतोष को बुरी तरह भड़का दिया। किन्तु जब विदेशी नीति के क्षेत्र में भी निकोलस असफल रहा तथा रूस को जापान के हाथों अपमानजनक रूप में पराजित होना पड़ा तो 1905 की क्रान्ति हो गई। जार ने किसी प्रकार क्रान्ति को शांत किया और जनता को शासन-सुधारों का आश्वासन दिया, पर यह एक धोखा था। विद्रोह शांत होने के कुछ समय बाद ही उसने पुन: निरंकुश शासन आरंभ कर दिया। 1905 ई. की क्रान्ति के फलस्वरूप जनता ने जो अधिकार प्राप्त किए थे, वे सब छीन लिए गए। अत: असंतोष की आग सुलगती रही और अन्त में 1917 की क्रान्ति के रूप में प्रकट हुई। जारों का अत्याचारी शासन ही अन्त में जारशाही को ले डूबा।

2. ड्यूमा के प्रभाव को कुचलने की चेष्टा: अक्टूबर, 1905 की क्रान्ति में मास्को तथा रूस के अन्य प्रमुख नगरों की सड़कों पर नारे लगाए गए–"निरंकुश शासन का अन्त हो।" सारा रूस वैधानिक शासन के लिए बेचैन हो उठा और जब जनवरी, 1905 में सैनिकों ने निहत्थे मजदूरों को गोलियों से भूनकर लाशों का ढेर लगा दिया (खूनी रविवार Bloody Sunday) तो जगह-जगह विद्रोह फूट पड़ा। परिस्थिति को संभालने के लिए जार निकोलस ने

नोट

शासन-सुधारों की घोषणा की और कहा कि ड्यूमा (संसद) की स्थापना की जाएगी जिसके सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होंगे और जिसकी स्वीकृति से ही कानून बनाए जाएँगे। किन्तु विद्रोह के शान्त होने पर शीघ्र ही जार ने ड्यूमा को संसद का प्रथम सदन मानकर साम्राज्य-परिषद् के नाम से दूसरे सदन का निर्माण कर दिया जिसके सदस्य सम्राट द्वारा नियुक्त किए जाने लगे। यही नहीं जार निकोलस द्वितीय ने ड्यूमा को हर तरह से निष्क्रिय बनाने की चेष्टा की। प्रथम ड्यूमा को जुलाई, 1906 में और द्वितीय ड्यूमा को जून, 1907 में भंग कर दिया गया। केवल ड्यूमा को भंग ही नहीं किया गया बल्कि मताधिकार को भी अत्यन्त सीमित कर दिया गया। फलस्वरूप तीसरी ड्यूमा में अधिकांश अनुदारवादी (Conservative) बड़े जमींदार ही चुने गए।

3. किसानों की दयनीय दशा: रूस का सामाजिक ढाँचा मध्ययुगीन था जिसमें मुख्यत: दोनों प्रधान वर्ग थे–सामंत (Nobles) और कृषि-दास (Serfs)। यद्यपि एलेक्जेण्डर द्वितीय के सुधारों से कृषि-दास स्वतंत्र हो गए, किन्तु उनकी दयनीय आर्थिक दशा में कोई सुधार नहीं हुआ। रूस कृषि-प्रधान देश होते हुए भी कृषि-क्षेत्र में बहुत पिछड़ा हुआ था और अधिकांश किसान अत्यन्त गरीबी का जीवन व्यतीत कर रहे थे सामंत धनवान थे और उन्हें बहुत विशेषाधिकार प्राप्त थे। कृषि-दासों की मुक्ति का नियम भी रूस के सभी प्रांतों में लागू किया गया था और व्यवहार में उनकी स्थिति 'अर्द्ध-दासों' जैसी थी। अत: रूस के कृषक असंतुष्ट थे और अपनी स्थिति सुधारने के लिए किसी भी आंदोलन में सहयोग देने को तैयार थे। सन् 1902 में हारकोव तथा मोल्टावा के किसानों में विद्रोह की भावना उत्कट हुई। क्रान्तिकारी समाजवादी दल (Socialist Revolutionaries) ने किसानों को सरकार और जमींदारों के विरुद्ध उत्तेजित किया। सन् 1905 में भी रूस के अनेक भागों में किसानों के दंगे हुए और इसी वर्ष मास्को में कृषक-प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें 'रूसी कृषक-संघ' बनाने का निश्चय किया गया। किसानों के बढ़ते हुए असंतोष को देखकर यद्यपि सन् 1906 में और सन् 1910 में कुछ भूमि संबंधी सुधार किए गए; लेकिन ये सर्वथा अपर्याप्त थे। भूमिहीन किसानों की समस्या नहीं सुलझ सकी और किसानों की दरिद्रता बढ़ती गई। युद्धकालीन कष्टों ने किसानों के दबे हुए आक्रोश को भड़का दिया और रूस में क्रान्ति परिपक्व होने लगी।

नोट्स सन् 1917 की रूसी क्रान्ति के कारण कुछ दीर्घकालीन तथा कुछ तात्कालिक थे।

4. श्रमिकों का असंतोष: रूसी श्रमिकों की दशा भी किसानों के समान ही दयनीय थी। औद्योगीकरण की गति तीव्र होने से श्रमिकों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही थी और उनके कष्ट भी कम होने के बजाय बढ़ रहे थे। रोजगार की तलाश में भूमिहीन कृषक औद्योगिक केन्द्रों में पहुँच रहे थे और उधर कारखानेदारों की नीति यह थी कि उनकी असहाय स्थिति से लाभ उठाकर उन्हें मजदूरी कम-से-कम दी जाती थी जबकि उनसे काम अधिक-से-अधिक लिया जाता था। श्रमिक बहुत ही दीन-हीन हालत में थे। वे गंदी बस्तियों की तंग कोठरियों या झोंपड़ियों में रहते थे और मजदूरी में इतना कम वेतन पाते थे कि जीवन-निर्वाह भी मुश्किल था। उन्हें अपने संघ बनाने का अधिकार नहीं था। सन् 1885 के बाद यद्यपि कुछ श्रमिक कानून बनाए गए, लेकिन मजदूरों की स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया क्योंकि शासन की नीति मूलत: उद्योगपतियों के हितों की रक्षा करने की थी। इन परिस्थितियों में श्रमिकों में समाजवादी सिद्धांतों का प्रचार होने लगा। क्रान्तिकारी समाजवादी दल ने उन्हें पूँजीवाद के विरुद्ध संगठित होने के लिए उत्साहित किया। रूसी औद्योगीकरण अति केन्द्रित था और अधिकांश कारखानों में मजदूरों की संख्या अधिक थी, अत: श्रमिकों की संगठन-शक्ति का विकास हुआ। श्रमिक वर्ग में क्रान्तिकारी विचारों ने जोर पकड़ा और वे अपने अधिकारों के लिए संघर्ष को कटिबद्ध हो गए। मजदूरों को अपना राजनीतिक प्रभाव बढ़ाने का अवसर मिला जिसके फलस्वरूप 1917 ई. की क्रान्ति में सर्वहारा वर्ग (Proletariat) की प्रधानता कायम रही। बीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही श्रमिक हड़तालें करने लगे। सन् 1905 की क्रान्ति का आरंभ भी मजदूरों

नोट

के जुलूस से हुआ। इस समय उनकी शक्ति यहाँ तक बढ़ गई कि सेन्ट पीटर्सबर्ग में उन्होंने 'श्रमिक-सोवियत' (Workers Soviet) की भी स्थापना कर ली। श्रमिक असंतोष बढ़ता गया। समाजवादी दलों के प्रभाव से उनका आंदोलन अधिकाधिक राजनीतिक होता गया और वे पूँजीवादी व्यवस्था तथा जार की निरंकुशता को समाप्त कर सर्वहारा वर्ग का शासन स्थापित करने के लिए कटिबद्ध हो गए।

5. गैर रूसी जातियों का असंतोष: जारशाही ने गैर-रूसी जातियों मुख्यत: यहूदियों (Jews) के साथ बड़ी कठोरता का व्यवहार किया। एलेक्जेण्डर ने गैर-रूसी लोगों का रूसीकरण शुरू कर दिया। उन पर समान रूप से रूसी भाषा और रूसी कानून लाद दिए गए। "एक भाषा, एक धर्म, एक कानून" (One Language, One Religion, One Law) की नीति पर कठोरता से अमल किया गया। रूसीकरण की धुन में यहूदियों और आर्मीनियनों पर भीषण अत्याचार किए गए, अत: उनमें विद्रोह की भावना पैदा हुई। जो लोग विदेशों में चले गए वे वहाँ रूस के विरुद्ध प्रचार करने लगे और जो विदेशी में न जा सके उन्होंने नगरों में अलग-अलग अपनी बस्तियाँ बसा लीं। धीरे-धीरे उनमें राष्ट्रीय भावना उमड़ने लगी। रूसीकरण (Russification) की नीति से बाल्टिक प्रांतों में भी गहरा असंतोष पैदा हो गया। 19वीं शताब्दी के अन्त में किरगीज तथा उजबेक जातियों के विद्रोह हुए। निकोलस द्वितीय ने फिनलैंड (Finland) को अपनी निरंकुशता का शिकार बनाया। सन् 1906 में जॉर्जिया, पोलैण्ड और बाल्टिक (Baltik) प्रांतों में भयंकर विद्रोह हुए। जारशाही के अंतर्गत और विशेषकर अन्तिम दो जारों के समय में गैर-रूसी जातियों के साथ जो अमानुषिक अत्याचार हुए और उनकी धार्मिक भावनाओं को जिस प्रकार कुचला गया, उसने उन्हें विद्रोही बना दिया। वे उस अवसर का इंतजार करने लगे जब जारशाही के खिलाफ बगावत हो और निरंकुश शासन से मुक्ति मिल सके।

क्या आप जानते हैं जारशाही ने गैर-रूसी जातियों मुख्यत: यहूदियों के साथ बड़ी कठोरता का व्यवहार किया।

6. समाजवाद का विकास तथा बोल्शेविक आंदोलन: रूस में किसानों और श्रमिकों की जो दयनीय दशा थी और रूस की सामान्य जनता जिस प्रकार अभावों और कष्टों से पीड़ित थी, उन परिस्थितियों में रूस में मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ना स्वाभाविक था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में रूस में समाजवादी दो दलों में विभाजित हो गए–(*i*) क्रान्तिकारी समाजवादी दल (Socialist Revolutionaries), तथा (*ii*) सामाजिक लोकतांत्रिक दल (Social Democratic Party)। क्रान्तिकारी समाजवादी दल का नेतृत्व मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों के हाथ में आया। यह दल किसानों को संगठित करके नेतृत्व मध्यमवर्गीय बुद्धिजीवियों के हाथ में आया। यह दल किसानों को संगठित करके देश में क्रान्ति लाने के पक्ष में था अत: इसने आतंकवादी कार्यक्रम अपनाया और अनेक राजनीतिक हत्याएँ कीं। समाजवादी लोकतांत्रिक दल किसानों के स्थान पर सर्वहारा वर्ग को क्रान्ति की मुख्य प्रेरक शक्ति मानता था। उसका उद्देश्य था जारशाही और सामंती व्यवस्था को समाप्त करके बुर्जुआ जनतंत्र की स्थापना करना और तत्पश्चात् सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व (Dictatorship) स्थापित करना। सन् 1903 में यह दल दो भागों में विभक्त हो गया–बोल्शेविक (Bolsheviks) और मेनशेविक (Mensheviks)। बोल्शेविक जिनका नेता लेनिन (Lenin) था, उग्रवादी थे और उनकी संख्या भी अधिक थी। मेनशेविक नरमदलीय और अल्पसंख्यक थे। बोल्शेविक चाहते थे कि जितनी जल्दी हो सके श्रमिक वर्ग का राज्य स्थापित हो। श्रमिकों के अलावा वे किसी अन्य वर्ग को मान्यता नहीं देना चाहते थे और न ही मध्यवर्ग के लोगों से सहयोग प्राप्त करने के पक्ष में थे। मेनशेविकों के विचार इतने उग्र नहीं थे। ये लोग श्रमिक वर्ग के साथ-साथ अन्य वर्गों के सहयोग से जनतंत्र की स्थापना करना चाहते थे। सुधारों और संघर्षों के आधार पर धीरे-धीरे समाजवाद की स्थापना करना उन्हे अभीष्ट था।

7. क्रान्तिकारी साहित्य: शस्त्रों की क्रान्ति से विचारों की क्रान्ति कहीं अधिक प्रबल होती है। यद्यपि जारों ने रूसी जनता को पाश्चात्य विचारों के प्रभाव से वंचित रखने का हर सम्भव प्रयास किया, लेकिन रूस यूरोप के नवीन

नोट

विचारों से अछूता नहीं रह सका। यद्यपि जनसाधारण में शिक्षा व्यापक रूप से नहीं फैली, तथापि रूस में अनेक ऐसे लेखक हुए जिनके साहित्य ने रूसियों के विचारों में उथल-पुथल मचा दी। जिस तरह सन् 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति के पहले फ्रांस में लेखकों और दार्शनिकों में मानसिक क्रान्ति हुई थी, उसी तरह रूस में टॉलस्टाय, तुर्गनेव, दास्तोविस्की, मेक्जिम गोर्की आदि विद्वानों ने क्रान्तिकारी साहित्य का निर्माण कर रूसी जनता के विचारों को प्रभावित किया, विशेषकर युवा वर्ग बहुत अधिक प्रभावित हुआ और धीरे-धीरे रूस में पश्चिमी यूरोप की तरह सुधारों की माँग शुरू हो गई। जब जारों ने इस माँग को ठुकराया तो जनता में तीव्र असंतोष फैला। कुछ ऐसे वर्गों का उदय भी हुआ जिन्होंने तत्कालीन शासन-पद्धति को बिल्कुल नष्ट करने और अराजकता की शरण लेने पर जोर दिया।

8. नवीन मध्यम वर्ग: उस समय तक शिक्षा का विकास हो गया था। लोगों के विचार निरन्तर बदल रहे थे। पश्चिमी यूरोप में लिखी पुस्तकों का रूसी भाषा में अनुवाद हुआ। इससे मध्यम वर्ग के लोग अत्यन्त प्रभावित हुए। नवयुवकों को अपनी हीन दशा तथा निरंकुश शासन की बुराइयों का स्पष्ट ज्ञान हुआ और वे प्रजातंत्रीय शासन की माँग करने लगे। इस नवीन मध्यम वर्ग का नेतृत्व जेम्सत्वोस (Zemstevos) ने किया।

9. औद्योगिक क्रान्ति का प्रभाव: यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी। उसका प्रभाव रूस पर भी पड़ा। रूस में चारों ओर कारखानों का जाल-सा बिछ गया और ग्रामीण जनता शहरों में आकर बस गई। लोगों ने अपने संगठन बनाए। अन्य देशों के विचारों से भी रूसी जनता परिचित हो रही थी जिससे उनमें संगठन की भावना प्रबल होने लगी।

10. तत्कालीन कारण: उपर्युक्त सभी कारणों से क्रान्ति का बारूद पूरी तरह एकत्र हो गया और जो कमी रही उसे दो मुख्य तात्कालिक कारणों ने पूरा कर दिया–

***(i)* महायुद्ध में पराजय तथा सैनिक विनाश:** जब अगस्त, 1914 में रूस ने महायुद्ध में प्रवेश किया तो केवल गिने-चुने सदस्यों को छोड़कर रूसी संसद के लगभग सभी सदस्यों ने इसका स्वागत किया। यदि जार निकोलस और प्रशासनिक अधिकारी समझदारी से काम लेते तथा कर्तव्यनिष्ठ रहते तो रूसी जनता की राष्ट्रभक्ति के जोश से लाभ उठा सकते थे, लेकिन हुआ यह कि जार और जारिना तथा शासन के उच्चाधिकारियों ने विवेकहीनता, युद्ध-कार्य में अनावश्यक हस्तक्षेप, अयोग्यता और कर्तव्यहीनता का परिचय दिया जिससे सेना के मनोबल पर विपरीत प्रभाव पड़ा। सैनिक युद्ध में लड़ने के लिए गए, लेकिन उनके पास युद्ध-सामग्री का अभाव रहा। रूसी सरकार ने युद्ध के प्रारंभिक तीन वर्षों में लगभग 150 लाख सैनिक युद्ध क्षेत्र में भेज दिए, किन्तु फिर भी रूसी सेनाओं को लज्जाजनक पराजयों का सामना करना पड़ा। युद्ध के प्रथम दो वर्षों में ही रूस के लगभग 20 लाख सैनिक मारे गए और 50 लाख से भी अधिक सैनिक घायल हुए। युद्ध में पराजय और घोर सैनिक विनाश के कारण रूस में क्रान्ति के स्पष्ट संकेत दृष्टिगोचर होने लगे।

***(ii)* अकाल की स्थिति:** जार के शासन का निकम्मापन इस बात से भी स्पष्ट हो गया कि युद्धक्षेत्र में अंधाधुंध सैनिक भेज दिए गए जिससे खेतों में काम करने वालों की कमी हो गई और देश का कृषि-उत्पादन गिर गया। इस प्रकार न केवल नागरिकों के लिए बल्कि युद्ध में प्राणों की होली खेलने वाले सैनिकों के लिए भी पर्याप्त मात्रा में सामग्री की व्यवस्था करना कठिन हो गया। समुचित युद्ध-सामग्री और खाद्यान्न के अभाव में मोर्चों पर रूसी सैनिक बे-मौत मरने लगे। अत: फौज में भी विद्रोह की भावना घर करने लगी। इस राष्ट्रीय संकटकाल में भी शासन का भ्रष्टाचार बढ़ता गया। युद्ध-व्यय को पूरा करने के लिए सरकार ने मुद्रास्फीति का सहारा लिया, अत: कीमतें आकाश छूने लगीं और 1917 ई. तक निर्वाह व्यय 1914 की तुलना में लगभग 700 गुना बढ़ गया। अनाज, ईंधन, कपड़े आदि की भारी कमी हो गई और अनेक स्थानों पर भुखमरी फैलने लगी।

ऐसी स्थिति में हड़तालों और दंगों का सिलसिला शुरू हो गया। सैनिक भी फौज से भागने लगे और असंतुष्ट किसानों तथा श्रमिकों के साथ हो गए। यह स्पष्ट दिखाई देने लगा कि क्रान्ति सन्निकट है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

नोट

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. रूस में जो क्रान्ति मार्च, 1917 में हुई, वह ..... कहलाती है।
2. रूस में जो क्रान्ति नवंबर, 1917 में हुई, वह ..... कहलाती है।
3. उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में ..... जातियों के विद्रोह हुए।

24.2 मार्च, 1917 की क्रान्ति (Revolution of March, 1917)

क्रान्ति का विस्फोट और जारशाही का अंत

1916–17 के शीतकाल में सारे देशभर में तीव्र असंतोष व्याप्त हो गया। दिसम्बर, 1916 में पापात्मा रास्पुटिन की हत्या कर दी गई, दंगे-फसाद होने लगे और मार्च, 1917 में रूस की राजधानी पैट्रोग्राड में अप्रत्याशित रूप से क्रान्ति का श्रीगणेश हो गया। यह क्रान्ति अप्रत्याशित इसलिए थी कि उस समय इसके लिए क्रान्तिकारी दल भी तैयार नहीं थे। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि रूस क्रान्ति के कगार पर है, लेकिन एकाएक 7 मार्च को भयानक विद्रोह के फूट पड़ने की आशा किसी को नहीं थी। विद्रोह का तात्कालिक कारण युद्ध से शान्ति, भूमि तथा रोटी की माँग थी। 7 मार्च को पैट्रोग्राड में भूख से व्याकुल मजदूरों ने हड़ताल कर दी और सड़कों पर घूमना तथा रोटी के नारे लगाते हुए लूटमार करना आरंभ कर दिया। सैनिकों को गोली चलाने का आदेश दिया गया, पर उन्होंने आदेश की अवहेलना की। अगले दिन कपड़ा मिलों की मजदूर औरतों ने हड़ताल कर दी और सड़कों पर रोटी की माँग के नारे लगाए। अन्य मजदूर भी भीड़ में शामिल हो गए। शहर की सड़कों पर 'रोटी दो', 'युद्ध बंद करो', 'अत्याचारी शासन का नाश हो' आदि नारे लगने लगे। 10 मार्च को पैट्रोग्राड के सभी कारखानों में काम बंद हो गया। शहर के बाहरी भागों में मजदूरों ने पुलिस से हथियार छीन लिए। दमन के लिए जो सैनिक भेजे गए वे आंदोलनकारियों के साथ मिल गए। क्रोध से उन्मत्त जार ने 11 मार्च को ड्यूमा को भंग कर दिया, अत: ड्यूमा के सदस्यों ने भी विद्रोह कर दिया। सैनिक टुकड़ियाँ अधिकारियों के साथ जा मिली। क्रान्तिकारी मजदूरों और सैनिकों ने मिलकर 'सैनिकों तथा मजदूरों के प्रतिनिधियों की क्रान्तिकारी सोवियत' (Soviet of Workmen and Soldier's Deputies) का निर्माण कर लिया। जार के समर्थक सैनिक पदाधिकारियों ने गोलियों की बौछार की, लेकिन विद्रोह व्यापक होता गया। 14 मार्च को क्रान्तिकारी सोवियत (परिषद्) और ड्यूमा के सदस्यों की एक समिति ने मिलकर एक 'अस्थायी सरकार' का निर्माण कर लिया जिसका नेता प्रिंस ल्वोव था। इस 'अस्थायी सरकार' में क्रान्तिकारी समाजवादी दल के नेता एलेक्जेण्डर केरेंस्की (Alexander Kerensky), कान्स्टीट्यूशनल डेमोक्रेटिक दल के नेता मिल्यूकोव (Miliukov) तथा अक्टूबरिष्ट दल के नेता गुशकोव को भी शामिल किया गया। विवश होकर 15 मार्च को जार निकोलस द्वितीय ने अपने भाई ग्राण्ड ड्यूक माइकेल के पक्ष में राजगद्दी छोड़ दी। 'अस्थायी सरकार' के प्रमुख सदस्य इस बारे में एकमत नहीं हो सके कि राजतंत्र कायम रखा जाए या गणतंत्र की स्थापना कर दी जाए, अत: ड्यूक माइकेल ने भी सिंहासन पर बैठना स्वीकार नहीं किया। इस तरह मार्च, 1917 की क्रान्ति के फलस्वरूप रूस से निरंकुश जारशाही का अन्त हो गया और उसके स्थान पर नवीन क्रान्तिकारी सरकार स्थापित हुई। पैट्रोग्राड की क्रान्ति को सारे देश ने स्वीकार कर लिया।

अस्थायी उदारवादी सरकार द्वारा महत्त्वपूर्ण सुधारों की घोषणा

मार्च, 1917 की इस क्रान्ति से सत्ता उदार तत्वों के हाथ में आई। प्रिंस ल्वोव एक उदारवादी नेता था। अस्थायी सरकार के मंत्री बड़े योग्य थे। मिल्यूकोव विदेश मंत्री था, केरेंस्की न्याय मंत्री और गुशकोव युद्धमंत्री था। यह उदारवादी मंत्रिमंडल संवैधानिक तरीकों में विश्वास करता था, अत: इसने तुरन्त ही अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार लागू किए और उदार घोषणाएँ कीं–

नोट

1. अधिकांश राजनीतिक बन्दियों को स्वतंत्र कर दिया गया तथा निर्वासित व्यक्तियों को पुनः देश में आने की अनुमति दे दी गई।

2. यहूदियों के विरुद्ध लागू कानूनों को रद्द कर दिया गया।

3. भाषण, प्रेस, लेखन आदि पर लगाए गए प्रतिबंध हटा दिए गए।

4. मजदूरों के संघ बनाने और हड़ताल करने के अधिकार को मान्यता दी गई।

5. मृत्युदण्ड समाप्त कर दिया गया और प्रशासन को सुधारने का आश्वासन दिया गया।

6. ग्रीक चर्च के विशेष अधिकार समाप्त कर दिए गए।

7. देश के लिए एक नया शासन विधान बनाने के लिए नवीन संविधान-सभा की स्थापना की घोषणा की गई।

8. वयस्क मताधिकार प्रदान किया गया।

9. पुलिस को नागरिकों को मनमाने ढंग से गिरफ्तार करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया।

10. पोलैण्ड की स्वायत्त शासन का वचन दिया गया तथा फिनलैण्ड के वैध अधिकारों को मान्यता दी गई।

11. अस्थायी सरकार ने युद्ध को जारी रखकर दुगुने उत्साह से लड़ने की घोषणा की।

अस्थायी सरकार की समस्याएँ

अस्थायी उदारवादी सरकार को प्रारंभ से ही जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ा, अतः इसकी स्थिति डाँवाँडोल बनी रही। मुख्य समस्याएँ थीं–

1. स्थिर सरकारः सबसे बड़ी समस्या अपनी सत्ता को दृढ़ और अपरिवर्तनशील बनाना था। श्रमिक वर्ग शासन सत्ता अपने हाथ में लेना चाहता था। अस्थायी सरकार और पैट्रोग्राड के श्रमिकों व सैनिकों की सोवियत के बीच आंतरिक नीति संबंधी सैद्धांतिक मतभेद था। अस्थायी सरकार के मंत्री मुख्यतः मध्यवर्गीय उदारवादी विचारधारा के प्रतिनिधि थे और यह आशा करते थे कि क्रान्ति का उत्साह समाप्त होने के बाद देश में संवैधानिक राजतंत्र की स्थापना की जा सकेगी। उनकी इच्छा एक ऐसे उदार शासन की स्थापना करने की थी जिसमें लोगों को न केवल वैयक्तिक स्वतंत्रता हो, बल्कि व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार की गारण्टी भी हो और भूमि समस्या को वैधानिक ढंग से सुलझाने का प्रयत्न हो। अस्थायी सरकार के विपरीत श्रमिकों और सैनिकों की सोवियत क्रान्तिकारी विचारों की थी जो राजतंत्र के समूल विनाश के लिए कटिबद्ध थी। यह सोवियत चाहती थी कि भूमिपतियों की भूमि बिना मुआवजे के किसानों में वितरित कर दी जाए तथा देश के सभी महत्त्वपूर्ण उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर लिया जाए।

2. युद्ध अथवा शांतिः अस्थायी सरकार मित्र-राष्ट्रों के सहयोग से युद्ध जारी रखना चाहती थी ताकि भविष्य में टर्की जलडमरूमध्य (Straits) तथा बाल्कन क्षेत्र पर रूसी नियंत्रण स्थापित किया जा सके। लेकिन क्रान्तिकारी सोवियत युद्ध जारी रखने के विरुद्ध थी। उसका कहना था कि युद्ध में फँसे रहने पर शासन की बुराइयाँ दूर नहीं की जा सकतीं और लोकतंत्र को सफल नहीं बनाया जा सकता। सैनिक भी लड़ते-लड़ते ऊब चुके थे और जनता भी युद्ध के बोझ से छुटकारा चाहती थी। अतः यह प्रश्न बड़ा विवादस्पद हो गया कि रूस युद्ध को जारी रखे या इससे अलग हो जाए।

3. हड़तालेंः श्रमिकों ने अस्थायी सरकार को सहयोग न देकर कारखानों में हड़तालें करना और जगह-जगह आतंक पैदा करना आरंभ कर दिया। इससे अस्थाई सरकार की स्थिति और भी जटिल हो गई।

वास्तव में अस्थायी सरकार और पैट्रोग्राड की क्रान्तिकारी सोवियत में तनातनी तो 15 मार्च से ही शुरू हो गई थी। इस दिन क्रान्तिकारी सोवियत ने अपने आज्ञापत्र नंबर 1 (Order No. 1) प्रसारित करके जल एवं थल सेना को केवल उन्हीं आदेशों का पालन करने के लिए आग्रह किया था जो सोवियत के आदेशों के विपरीत न हों। किन्तु अस्थायी सरकार ने इस आज्ञापत्र का विरोध किया और इस तरह दोनों के बीच तनातनी शुरू हो गई।

नोट

तनातनी के इसी वातावरण में जून, 1917 में पैट्रोग्राड सोवियत ने 'सोवियतों की अखिल रूसी कांग्रेस' (All Russian Congress of Soviets) आमंत्रित की जिसमें स्पष्ट और जोरदार शब्दों में घोषणा की गई कि केवल राजनीतिक क्रान्ति से ही काम नहीं चलेगा, सामाजिक और आर्थिक क्रान्ति भी बहुत जरूरी है। कांग्रेस के सम्मेलन में क्रान्तिकारी समाजवादी, मेनशेविक और बोल्शेविक दलों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इसमें 390 सदस्यों की एक 'अखिल रूसी सोवियत कार्यकारिणी समिति' (All Russian Executive Committee of Soviets) गठित की गई; किन्तु वास्तविक कार्यकारी शक्ति 20 सदस्यों के प्रेसीडियम (Presidium) को सौंपी गई। बोल्शेविक प्रतिनिधियों ने यह विचार प्रस्तुत किया कि अस्थायी उदारवादी मंत्रिमंडल की जगह क्रान्तिकारियों को अपना मंत्रिमंडल गठित करना चाहिए। जुलाई, 1917 के प्रारंभ में अस्थायी सरकार के विरुद्ध एक बड़ा विद्रोह हुआ जिसे दबा दिया गया। सरकार को संदेह था कि विद्रोह को भड़काने में बोल्शेविक दल का हाथ था; अत: बोल्शेविक नेताओं को गिरफ्तार करने के आदेश दिए गए और लेनिन, जिनोविव आदि नेता रूस छोड़कर भाग गए।

केरेंस्की सरकार की स्थापना

जनता के बढ़ते हुए विरोध और गैलीशिया में रूसी आक्रमण की विफलता के फलस्वरूप प्रिंस ल्वोव और उनके साथियों की उदारवादी सरकार ने इस्तीफा दे दिया। इसके बाद केरेंस्की के नेतृत्व में एक नई सरकार बनी। शासन सत्ता अब समाजवादियों के हाथ में आ गई। बोल्शेविक लोग केरेंस्की सरकार का विरोध करते रहे और 'शांति, भूमि और रोटी' के नारे लगाते रहे। मजदूरों, किसानों और सैनिकों में असंतोष तीव्र गति से बढ़ता गया। केरेंस्की की सरकार ने युद्ध-नीति को बढ़ावा दिया, पर रूस को असफलताओं के गहरे भटके झेलने पड़े। सितम्बर के प्रारंभ में रीगा (Riga) का पतन हुआ और जर्मन सेनाएँ तेजी से आगे बढ़ने लगीं। जन-असंतोष का लाभ उठाकर कार्निलाव ने 7 सितम्बर को रूसी कोसाक सैनिक टुकड़ी को पैट्रोग्राड पर अधिकार करने के आदेश दे दिए। केरेंस्की सरकार ने बोल्शेविकों की सहायता से सैनिक विद्रोह को दबा दिया, किन्तु अब बोल्शेविक दल का प्रभाव तेजी से बढ़ने लगा। मेनशेविक दल के मंत्री भी केरेंस्की की नीतियों से असंतुष्ट होकर मंत्रिमण्डल से हटने लगे और यह स्पष्ट हो गया कि केरेंस्की सरकार का पतन सन्निकट है। बोल्शेविक दल सशस्त्र क्रान्ति द्वारा शासन पर अधिकार करने की योजना बनाने लगा और अन्त में नवम्बर, 1917 की बोल्शेविक क्रान्ति हो गई।

24.3 बोल्शेविक क्रान्ति, नवम्बर, 1917 (Bolshevik Revolution, November 1917)

लेनिन बोल्शेविक दल का प्रमुख संस्थापक था। मार्च, 1917 की क्रान्ति के समय वह देश से बाहर था। क्रान्ति के आरंभ में मेनशेविक दल ने अपनी शक्ति बढ़ा ली, बोल्शेविक दल को क्रान्ति से कोई लाभ नहीं हुआ जिसके फलस्वरूप बोल्शेविकों ने सत्ता में आने के लिए 'प्रावदा' (Pravda) नामक समाचारपत्र के माध्यम से अपनी दलीय नीति और कार्यक्रम का प्रचार आरंभ कर दिया। 3 अप्रैल, 1917 को लेनिन पैट्रोग्राड आ पहुँचा और उसने अपने साथियों, पैट्रोग्राड सोवियत के मेनशेविकों तथा अन्य समाजवादी नेताओं के सामने क्रान्ति के संबंध में अपने विचार रखे। लेनिन का मत था कि क्रान्ति का पहला दौर, जिसमें शक्ति बुर्जुआ वर्ग के हाथों में पहुँची, समाप्ति पर था और अब आवश्यकता इस बात की थी कि सत्ता श्रमिकों और किसानों या सर्वहारा वर्ग को प्राप्त कराने की तैयारी की जाए। दूसरे शब्दों में लेनिन 'मध्यमवर्गीय क्रान्ति' को 'समाजवादी क्रान्ति' में परिणत करना चाहता था। लेनिन के विचार बहुत-उग्र और व्यावहारिक मालूम होते थे, किन्तु स्टालिन, जिनोविव आदि नेताओं ने उसके विचारों का स्वागत किया। अप्रैल-सम्मेलन में सोवियतों को सम्पूर्ण शक्ति का केन्द्र बनाने का निश्चय कर लिया गया। मई, 1917 में ट्रॉटस्की भी अमेरिका से लौटकर पैट्रोग्राड पहुँच गया। उसका अपना एक पृथक् दल था। ट्रॉटस्की और लेनिन में पारस्परिक सहयोग हो गया। बोल्शेविक दल अधिकाधिक प्रभावशाली बनता गया। जुलाई में केरेंस्की सरकार ने बोल्शेविक नेताओं को गिरफ्तार करना शुरू कर दिया। लेनिन रूस छोड़ कर फिनलैण्ड चला गया। इसी समय

नोट

ट्रॉटस्की बोल्शेविक दल के साथ पूरी तरह मिल गया। सितम्बर में वह पैट्रोग्राड-सोवियत का प्रधान बन गया। मास्को-सोवियत पर भी बोल्शेविक ने कब्जा कर लिया। उधर लेनिन अपने गुप्त पत्रों में बोल्शेविक कार्यकारिणी को निर्देश देता रहा कि सशस्त्र क्रान्ति द्वारा सत्ता हथियाने का समय आ गया है।

क्रान्ति का विस्फोट

बोल्शेविक नेताओं के पास लगभग 25 हजार सशस्त्र मजदूर थे जिन्हें 'लाल रक्षक' (Red Guards) कहा जाता था। किन्तु यह अधसधी सेना सरकारी सेना के आगे नहीं ठहर सकती थी और पैट्रोग्राड की सेना पर ही सब कुछ निर्भर था। पैट्रोग्राड की सरकारी सेना डरती थी कि कहीं उसे भी मोर्चे पर न भेज दिया जाए, अत: बोल्शेविकों के प्रचार से यह उनके पक्ष में हो गई। उधर 23 अक्टूबर को बोल्शेविक दल की कार्यकारिणी ने लेनिन के आदेशानुसार सशस्त्र क्रान्ति द्वारा सत्ता हथियाने की योजना को कार्यान्वित करने के लिए एक 'पोलित ब्यूरो' नियुक्त कर दिया। 5 नवम्बर को केरेंस्की सरकार ने बोल्शेविक नेताओं को गिरफ्तार करने का आदेश दिया, किन्तु इस समय तक बोल्शेविक क्रान्ति की तैयारियाँ पूरी हो चुकी थीं। 6-7 नवम्बर की रात्रि तक बोल्शेविकों ने क्रान्ति के पहियों को चलाना शुरू कर दिया। 'लाल रक्षकों' तथा छोटी-छोटी सशस्त्र सैनिक टुकड़ियों ने रेलवे स्टेशन, स्टेट बैंक, टेलीफोन, डाकघर और अन्य सरकारी इमारतों पर अधिकार कर लिया। विद्रोह व्यवस्थित ढंग से हुआ। विद्रोह के परम्परागत चिह्न जैसे सड़कों पर प्रदर्शन और तोड़-फोड़ आदि तो देखने को भी नहीं मिलते थे। इसका कारण शायद यह होगा कि जब सरकारी दफ्तरों पर कब्जा किया जाने लगा तो कोई रोकथाम ही नहीं की गई। पैट्रोग्राड की सोवियत को जो रिपोर्ट भेजी गई उसमें ट्रॉटस्की ने कहा था कि, "लोग कहते थे कि जब विद्रोह होगा तो रक्त की नदियाँ बहेंगी परन्तु हमने एक भी व्यक्ति की मृत्यु की खबर नहीं सुनी। इतिहास में कोई उदाहरण नहीं है कि किसी क्रान्ति में इतने लोग सम्मिलित हों और वह रक्तहीन रहे।" क्रान्ति के मुख से ये वचन जीत के समय निकले थे। परन्तु क्रान्ति की कीमत उस वक्त तक नहीं आँकी जाती जब तक कि वह पूरी मंजिल तय न कर ले, क्योंकि इसके बाद ही गृहयुद्ध शुरू हुआ करता है। बहुत वर्षों के बाद रूसी क्रान्ति के इतिहासकार की हैसियत से ट्रॉटस्की ने बोल्शेविक विजयों का मूल्यांकन इन शब्दों में किया–"लाखों आदमी दफन हो गए, पूर्वी और दक्षिणी रूस को रौंदकर नष्ट कर डाला, देश का उद्योग लगभग नष्ट हो गया और लोगों पर 'रैड टेरर' (लाल आतंक) बिठा दिया।" 7 नवम्बर की प्रात:काल केरेंस्की राजधानी छोड़कर भाग गया, अस्थायी सरकार के सभी मंत्री बंदी बना लिए गए और राजधानी के प्रमुख स्थानों पर पोस्टर्स चिपका दिए गए जिनमें घोषणा की गई थी कि, "अस्थायी सरकार समाप्त कर दी गई है और उसके स्थान पर सर्वहारा वर्ग की क्रान्तिकारी समिति तथा पैट्रोग्राड की 'रक्षक सेना' (Garrison) ने सत्ता सम्भाल ली है।"

बोल्शेविक सरकार का कार्यक्रम

7 नवम्बर की शाम को ही 'अखिल रूसी सोवियत सम्मेलन' के अधिवेशन में, जिसके 649 प्रतिनिधियों में 390 बोल्शेविक थे, लेनिन ने दो महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पेश किए–

1. युद्धरत राष्ट्रों से अपील की गई कि वे युद्धविराम करके शान्ति की बातचीत आरंभ करें।

2. भूमिपतियों की भूमि बिना मुआवजे के हस्तगत कर ली जाए।

सम्मेलन अथवा कांग्रेस ने अस्थायी सरकार के पतन और उसकी जगह नई सरकार के निर्माण का स्वागत किया और अगले ही दिन 8 नवम्बर, 1917 को नई सरकार का प्रथम मंत्रिमण्डल (Council of Peoples Commissars) गठित हुआ। लेनिन मंत्रि-परिषद् का अध्यक्ष बना। ट्रॉटस्की को विदेश मंत्री (Commissar for Foreign Affairs) और स्टालिन को राष्ट्रिक जातियों का मंत्री (Commissar for Nationalities) बनाया गया। राइकोव गृहमंत्री बना। लेनिन ने कई आदेश जारी करके नवनिर्मित सरकार के कार्यक्रम की घोषणा की। धुरी राष्ट्रों (Axis Power) के साथ तुरन्त संधि करने, राज्य में व्यापक राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन करने, सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व को स्थायित्व प्रदान करने, सर्वहारा क्रान्ति का प्रसार करने आदि महत्त्वपूर्ण निश्चय किए गए।

नोट

सरकारी आदेश निकालकर जमीनों पर से जमींदारों का स्वामित्व बिना मुआवजा दिए समाप्त कर दिया गया। किसानों, मजदूरों और सैनिकों की सोवियतों को शासन की इकाई घोषित किया गया। पुराने सरकारी अफसरों के स्थान पर बोल्शेविक दल के सदस्यों की नियुक्ति की घोषणा की गई। बोल्शेविक लोगों ने कार्ल मार्क्स से एक सबक सीखा था। मार्क्स ने बतलाया था कि सन् 1848 में जर्मनी का विद्रोह क्यों असफल रहा। कारण यह था कि केवल राजमंत्रियों को ही हटाया गया था जबकि शासन-प्रबंध उन नौकरशाहों, जजों तथा सैनिक अधिकारियों के हाथ में ही रहने दिया गया जो पुरानी परम्पराओं में पले थे। इसीलिए बोल्शेविकों ने जार के शासन-तंत्र को जड़ से उखाड़ना शुरू किया और इसके स्थान पर एक बिल्कुल भिन्न व्यवस्था स्थापित की जो सोवियतों की कौंसिलों पर आधारित थी। इस प्रकार किसान-मजदूर राज्य स्थापित हुआ और प्रबंध करने के लिए नए कर्मचारी नियुक्त हुए। बोल्शेविक दल की शक्ति स्थापित करने के लिए लेनिन ने कारखानों, बैंकों, बीमा कम्पनियों तथा व्यक्तिगत फैक्टरियों को हस्तगत करके उन्हें सरकारी सम्पत्ति बना दिया। बड़ी-बड़ी जायदादों के जब्त हो जाने से किसान लोग बोल्शेविकों के पक्ष में हो गए और जब प्रतिक्रान्ति हुई तो किसानों से बोल्शेविकों को भारी सहयोग मिला।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Mutiple Choice Questions):

4. ..... में एक आतंकवादी द्वारा जार की हत्या कर दी गई थी।

   (क) मार्च, 1881 (ख) अप्रैल, 1881 (ग) मई 1881 (घ) जून, 1881

5. मार्क्स ने बताया था कि ..... में जर्मनी का विद्रोह क्यों असफल रहा।

   (क) 1858 (ख) 1848 (ग) 1874 (घ) 1875

6. बोल्शेविकों को अपने विरोधियों से लगभग तीन साल तक नवंबर, ... के आरंभ तक लड़ना पड़ा।

   (क) 1915 से 1918 (ख) 1910 से 1913

   (ग) 1917 से 1919 (घ) इनमें से कोई नहीं

24.4 बोल्शेविक सरकार के समक्ष चुनौतियाँ (Challenges Before Bolshevik Govt.)

बोल्शेविक सरकार को दो सर्वाधिक गंभीर चुनौतियों का सामना करना पड़ा–एक तो गृहयुद्ध की चुनौती का, और दूसरे विदेश-नीति विषयक समस्याओं का जिनमें पश्चिमी राष्ट्रों के सैनिक हस्तक्षेप की समस्या सबसे प्रबल थी। क्रान्तिकारी सरकार ने दोनों ही चुनौतियों पर सफलता प्राप्त की और साम्यवादी शासन को स्थायित्व प्रदान किया।

1. गृह-युद्ध की चुनौती: बोल्शेविक सत्ता कायम हो जाने के बावजूद रूस में उनके विरोधियों की कमी नहीं थी। बोल्शेविकों को अपने विरोधियों से लगभग तीन साल तक नवम्बर, 1917 से 1919 के आरंभ तक लड़ना पड़ा। इन विरोधियों में तीन प्रकार के व्यक्ति थे–1. रमानोफ (Romanoff) राजवंश के समर्थक, जो जार शासन को फिर से कायम करना चाहते थे; 2. लोकतंत्रवादी; जो फ्रांस और अमेरिका के नमूने का लोकतांत्रिक शासन स्थापित करना चाहते थे; एवं 3. मेनशेविक (Menshevik), जो साम्यवादी होते हुए भी समाज के आर्थिक संगठन को एकदम क्रान्तिकारी उपायों से बदलने के खिलाफ थे। तीनों में मेनशेविक शक्तिशाली थे।

बोल्शेविकों को नवम्बर, 1917 की विजय बड़ी आसानी से प्राप्त हो गई थी और वे विरोधियों के निर्बल हाथों से सत्ता छीनने में सफल हुए थे, लेकिन जिन वर्गों का सर्वस्व छिन गया था वे नवम्बर की क्रान्ति के निर्णयों को चुपचाप स्वीकार नहीं कर सकते थे। अत: बोल्शेविकों के विरोधियों का मनोबल काफी बढ़ गया। इसके अतिरिक्त उन्हें पश्चिमी शक्तियों की सहायता भी प्राप्त हुई क्योंकि सन् 1918 में क्रान्तिकारी सरकार द्वारा जर्मनी के साथ

नोट

ब्रेस्ट-विटोवस्क ही संधि कर लेने और युद्ध से विमुख हो जाने से पश्चिमी राष्ट्र बहुत क्षुब्ध थे। इन अनुकूल परिस्थितियों से प्रोत्साहित होकर शासन हथियाने के उद्देश्य से, मेनशेविकों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इसी समय मित्र-राष्ट्रों ने भी रूस पर आक्रमण कर दिया। उनकी सेनाओं ने, जैसा कि हम क्रान्तिकारी सरकार की विदेश-नीति के प्रसंग में देखेंगे, अनेक प्रदेशों को जीतकर बोल्शेविकों के लिए कठिन परिस्थिति पैदा कर दी। मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं ने प्रत्येक क्षेत्र में बोल्शेविक-विरोधी दलों के सहयोग से प्रतिक्रान्तिवादी अर्थात् 'श्वेत' (White) सरकारें स्थापित कीं। मेनशेविक सेनाओं ने बोल्शेविक सरकार को हर तरफ से घेर लिया। प्रारंभ में यही लगा कि बोल्शेविक सरकार आंतरिक विरोध और बाह्य शत्रुओं की संयुक्त शक्ति का सामना नहीं कर सकेगी। एक समय तो ऐसा आया कि बोल्शेविक सरकार की सत्ता व्यावहारिक तौर पर केवल पैट्रोग्राड और मास्को तथा निकटवर्ती प्रांतों तक ही सीमित रह गई। पर अन्त में लेनिन के नेतृत्व में बोल्शेविकों ने विजय प्राप्त की। बोल्शेविकों की 'लाल सेना' और प्रतिक्रान्तिकारियों की 'श्वेत सेना' में घमासान युद्ध हुआ। रूस एक ओर क्रान्ति के 'लाल आतंक' (Red Terror) का और दूसरी ओर प्रतिक्रान्ति के 'श्वेत आतंक' (White Terror) का शिकार हो गया। इसमें पाशविकता तथा नृशंसता का खुलकर प्रदर्शन हुआ। दुर्भिक्ष के कारण जनता को और भी भारी कष्ट उठाने पड़े।

कई बार हार के कगार पर पहुँचने पर भी बोल्शेविक सरकार की अन्ततोगत्वा निर्णायक जीत के निम्नलिखित कारण थे–

1. किसानों ने इनको सहायता दी, क्योंकि उनको यह भय था कि कहीं भू-स्वामी पुनः शक्तिशाली न बन जायें।

2. देश का क्षेत्रफल बहुत बड़ा होने से बोल्शेविकों को युद्ध लम्बा करने में सहायता मिली और इस अर्से में उन्होंने शक्ति संचित कर ली। ट्रॉटस्की के नेतृत्व में 'लाल सेना' का संगठन किया गया। यह युद्ध यंत्र बड़ी शीघ्रता से तैयार किया गया। इस विषय में इसकी तुलना क्रॉमवेल की 'आइरन साइड्स' (Iron Sides) सेना से या फ्रेंच क्रान्ति की सेनाओं से की जा सकती है।

3. श्वेत सेनाओं ने बड़ी नृशंसता से लूटमार तथा हत्याएँ कर लोगों को भीषण यातनाएँ दीं।

4. विदेशी सेनाएँ रूस की भूमि पर युद्ध करती थीं जिससे रूस की देशभक्त जनता सरकार के पक्ष में हो गई।

5. अन्तिम कारण यह था कि दूसरे देशों के मजदूर दबाव डाल रहे थे कि विदेशी सरकारों को रूस के मामले में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।

जर्मनी के साथ ब्रेस्ट-लिटोवस्क की संधि–क्रान्ति के बाद रूस युद्ध से अलग हो गया और उसके मार्च 1918 में जर्मनी के साथ ब्रेस्ट-लिटोवस्क की संधि कर ली जिससे जर्मनी पूर्वी मोर्चे से निश्चित होकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति पश्चिमी और दक्षिणी मोर्चे पर लगा सका। इस संधि के द्वारा रूस ने जर्मनी को रूसी प्रदेश–पोलैण्ड, लिथुआनिया, कूरलैण्ड, लिबोनिया, इस्टोनिया प्रदेश और कुछ टापू प्रदान किए। तुर्की को कार्स, बातुम, अदहिन के प्रदेश मिले। फिनलैण्ड, यूक्रेन तथा जार्जिया को रूस द्वारा स्वतंत्र देश स्वीकार किया गया। इसके अतिरिक्त रूस ने 12 करोड़ मार्क का हर्जाना जर्मनी को देना स्वीकार किया। ब्रेस्ट-लिटोवस्क की इस संधि से रूस को लगभग 5 लाख वर्गमील प्रदेश से हाथ धोना पड़ा। संधि से जर्मनी को यूक्रेन का उपजाऊ प्रदेश और अजरबैजान के तेल-कूप प्राप्त हुए। साथ ही ईरान, अफगानिस्तान और भारत में ब्रिटिश-विरोधी प्रचार के द्वार खुल गए और पूर्वी मोर्चे पर युद्ध की तरफ से निश्चिन्त हो जाने से पश्चिमी मोर्चों पर जर्मन फौजों की शक्ति आशातीत बढ़ गई। मित्र-राष्ट्रों ने इस संधि को रूस द्वारा उन्हें हराने के लिए जानबूझकर किया गया विश्वासघात समझा, जबकि इस संधि की अपमानजनक धाराओं को रूस ने बड़ी शान्तिपूर्वक इस विश्वास के साथ सहन किया कि जितने अधिक जर्मन लोग रूस के आन्तरिक प्रदेश में प्रवेश कर जाएँगें उतने ही अधिक वे अपने देश में रूसी क्रान्ति के संदेशवाहक बनेंगे।

मित्र-राष्ट्रों द्वारा सैनिक हस्तक्षेप–संघर्ष का सबसे प्रमुख कारण था पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा रूस के गृहयुद्ध में बोल्शेविक विरोधी दलों को युद्ध-सामग्री की सहायता और सैनिक हस्तक्षेप तथा रूस के अधिक प्रतिरोध की नीति। पश्चिमी शक्तियों की सहायता पाकर एक ओर तो प्रतिक्रियावादियों ने संघर्ष छेड़ दिया और दूसरी ओर मित्र-राष्ट्रों

नोट

ने स्वयं भी रूस पर धावा बोल दिया। चूँकि रूस पर हमले के लिए कोई न कोई बहाना होना चाहिए था, अत: मित्र-राष्ट्रों ने आक्रमण से पहले ऐसा बहाना भी खोज निकाला। उस समय आर्केंजिल तथा मुरमांस में युद्ध सामग्री प्रचुर मात्रा में पड़ी थी। इस विशाल युद्ध-सामग्री को जर्मनी के हाथों में पड़ने से बचाने का बहाना लेकर मित्र-राष्ट्रों ने रूस पर आक्रमण कर दिया। 16 नवम्बर, 1917 को फ्रांस, ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका ने बोल्शेविक शासन को सब प्रकार का सामान देना बंद कर दिया। 30 दिसम्बर, 1917 को जापानी सेनाएँ ब्लाडीवोस्टक में उतरी, 1918 में चेकोस्लोवाक, फ्रेंच, अमेरिकी और जापानी फौजों ने बोल्शेविक क्रान्ति के विरोधी रूसियों से सहयोग कर रूस के विभिन्न प्रदेशों को जीतना शुरू किया। फ्रांस ने ओडेसा, ब्रिटेन ने घाकु, जापान ने पूर्वी साइबेरिया, अमेरिका ने आर्केंजिल तथा ब्लाडीवोस्टक और रूमानिया ने बेसरेविया पर अपना अधिकार जमा लिया। उधर इस्टोनियां, लेटाविया, लिथुआनिया, फिनलैण्ड तथा काकेशस के प्रान्तों ने भी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। इस तरह आंतरिक और बाह्य दोनों दृष्टियों से सोवियत साम्यवादी सरकार की हालत शोचनीय बन गई।

साम्यवादी सरकार ने स्थिति का पूर्ण अदभ्य साहस के साथ सामना किया। ट्रॉटस्की के नेतृत्व में 'लाल सेना' युद्ध क्षेत्र में कूद पड़ी। मित्र-राष्ट्र अनेक वर्षों से लड़ते-लड़ते इतने परिश्रान्त हो चुके थे कि उनमें रूस की इस लाल सेना के विरुद्ध अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाने की क्षमता नहीं रही थी। इसके अतिरिक्त रूस एक विशाल देश था, अत: मित्र-राष्ट्रों के लिए इस विशाल क्षेत्र में रूसियों की पूरी तरह मुकाबला करना आसान न था। परिणाम यह हुआ कि शीघ्र ही उनके पाँव उखड़ गए और अन्त में बोल्शेविकों कि विजय हुई। मित्र-राष्ट्रों की सहायता मिलने के बावजूद क्रान्ति-विरोधी प्रतिक्रियावादी अधिक दिनों तक मैदान में नहीं टिक सके। बोल्शेविकों ने बहुत क्रूरता के साथ उनका दमन कर दिया। युद्ध अक्तूबर, 1920 में समाप्त हुआ और 1921 तक रूस में सर्वत्र बोल्शेविक शासन सुदृढ़ हो गया।

पोलैण्ड से संघर्ष और संधि–रूस की आंतरिक कठिनाइयों से लाभ उठाकर पोलैण्ड ने उसके शोषण करने वाले देश रूस पर आक्रमण कर दिया, किन्तु इससे उसे कुछ भी लाभ नहीं हुआ। गृहयुद्ध समाप्त होते ही रूसी फौजें पोलिश सेनाओं को खदेड़ते हुए राजधानी बारसा तक जा पहुँची और तब दोनों में संधि हो गई जिसके अनुसार पोलैण्ड की पूर्वी सीमाओं के संबंध में रूस के साथ अच्छी शर्तें तय हुईं। ऐसी अच्छी शर्तें तो पेरिस की संधि में भी उसके लिए निश्चित नहीं हुई थीं। स्वशासन के सिद्धान्त पर रूस के लोगों को विश्वास था कि वे इस बात पर सहमत थे कि अधीन जातियाँ रूस से अलग हो सकती हैं। उन्होंने रूसी पोलैण्ड नवनिर्मित पोलिश जनतंत्र को दे दिया और सीमान्त प्रदेशों में स्वतंत्र बाल्टिक राज्य बना दिए गए यथा फिनलैण्ड, लिथुआनिया, इस्टोनिया और लेटविया।

इस प्रकार नव-निर्मित साम्यवादी सरकार ने अपने महान नेता लेनिन के नेतृत्व में आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं से मुक्ति प्राप्त कर नवम्बर, 1917 की क्रान्ति की न केवल रक्षा की, बल्कि उसे चिरस्थायी बना दिया।

टास्क रूस के जार किस सिद्धांत के समर्थक थे?

24.5 रूसी क्रान्ति के परिणाम एवं उसका विश्व-इतिहास में स्थान व महत्त्व (The Consequences of Russian Revolution and Its Place and Significance in World History)

रूसी क्रान्ति का महत्त्व केवल रूस में क्रान्तिकारी सामाजिक एवं राजनीतिक परिवर्तन लाने के लिए ही नहीं है बल्कि विश्व-इतिहास की भावी गतिविधियों के निर्माण में भी उसके दूरगामी प्रभाव स्पष्टत: दृष्टिगत होते हैं। विश्व-इतिहास में उसका स्थान एवं महत्त्व उल्लेखनीय है। निम्नांकित बिन्दु रूसी क्रान्ति के दूरगामी प्रभावों को स्पष्ट करते हैं–

नोट

(1) सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति द्वारा समाजवाद की स्थापना–रूसी क्रान्ति की सफलता ने मार्क्स की उस विचारधारा की ओर सभी का ध्यान आकर्षित किया जिसके अनुसार समाजवाद की स्थापना सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति द्वारा ही की जा सकती है। रूसी क्रान्ति के प्रणेता लेनिन द्वारा इसी विचार को क्रियान्वित करने के संबंध में अपना मत प्रकट करते हुए क्रिस्टोफर हिल ने कहा है–"इस प्रकार कार्ल मार्क्स के सिद्धांत के अनुसार लेनिन द्वारा अग्रहीत सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति ही श्रमिक वर्ग के शासन द्वारा समाजवाद की स्थापना करेगी जिस प्रकार 1640 तथा 1789 की बुर्जुआ क्रान्तियों से मध्यय वर्ग का शासन स्थापित हुआ था।" यह समाजवादी विचारधारा साम्यवाद के रूप में केवल रूस तक ही सीमित नहीं रहीं बल्कि इसका शीघ्रता से विस्तार विश्व के अन्य देशों में भी हुआ। आधुनिक विश्व के अनेक देशों में साम्यवादी सरकारें हैं तथा अधिकांश देशों में साम्यवादी दलों द्वारा सत्ता प्राप्त करने के प्रयास हो रहे हैं। इस प्रकार विश्व में साम्यवादी के प्रचार एवं प्रसार में रूसी क्रान्ति को अभूतपूर्व योगदान रहा है।

(2) अधिनायकवाद का उदय–रूसी क्रान्ति ने जिस प्रकार साम्राज्यवाद के स्थान पर सर्वहारा वर्ग को शासन-सत्ता सौंप कर उसे सर्वाधिकारी तथा अधिनायक बनाया, उसका दूरगामी प्रभाव यूरोप के कुछ राष्ट्रों पर पड़ा। जर्मनी में नाजीवाद तथा अधिनायक हिटलर का उदय और इटली में फासिस्टवाद व अधिनायक मुसोलिनी का सत्ता में आना रूसी क्रान्ति के ही दूरगामी परिणाम थे। जर्मनी व इटली में रूस की भाँति सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद के स्थान पर व्यक्ति विशेष के सर्वाधिकारी बन जाने से घातक परिणाम निकले जो द्वितीय विश्व युद्ध में प्रकट हुए।

(3) लोकतंत्र का प्रसार–फ्लोरिंस्की का कथन है–"कालान्तर में यह तर्कसम्मत प्रतीत हुआ कि जो क्रान्ति 1917 में मित्र-राष्ट्रों के प्रति षड्यंत्र समझी जाती थी तथा कृषकों द्वारा अराजकता फैलाने के कारण निन्दनीय थी, वह आगे चलकर रूस तथा समस्त विश्व में लोकतंत्र के प्रसार में सहायक हुई।" वस्तुत: सर्वहारा वर्ग की रूस में विजय ने विश्व के जनसाधारण को लोकतंत्र की स्थापना हेतु उत्प्रेरित किया।

(4) विश्व में पूँजीवादी व साम्यवादी गुटों का निर्माण–मार्क्स (Marx) के साम्यवादी विचारों से प्रेरित रूस की क्रान्ति का दूरगामी प्रभाव यह पड़ा कि विश्व में पूँजीवादी व साम्यवादी गुटों का निर्माण हो गया जो शक्ति-संतुलन हेतु परस्पर संघर्षरत हो गए। रूस के साम्यवादी समस्त विश्व में पूँजीवादी का अन्त चाहते थे। ई.एच. कार के शब्दों में–"हर सच्चे साम्यवादी का कर्तव्य सारे विश्व में उस क्रान्ति का प्रचार करना था जो रूस में सफल हो चुकी थी, और चूँकि सोवियत संघ के आरम्भिक दिनों के नेताओं का यह विश्वास था कि शेष संसार में भी पूँजीवाद की समाप्ति हुए बिना रूस में क्रान्तिकारी सरकार टिक नहीं सकेगी।" पूँजीवाद का अन्त सशस्त्र संघर्ष द्वारा ही सम्भव है, यह साम्यवादियों का विश्वास हो गया।

(5) शान्ति-समझौते को प्रभावित किया–रूसी क्रान्ति की सफलता से साम्यवाद के प्रसार के भय का शान्ति-समझौते पर प्रभाव पड़ा। रूस को इसलिए शान्ति-सम्मेलन में आमन्त्रित नहीं किया गया तथा उसे राष्ट्र-संघ का सदस्य नहीं बनाया गया। इसके अतिरिक्त रूसी प्रदेश का अधिकांश भाग नवनिर्मित राष्ट्रों में सम्मिलित कर लिया गया। यह सब साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए ही किया गया था। रूस जैसे विशाल देश की उपेक्षा करने से रूस में साम्यवाद सुदृढ़ हुआ तथा वह विश्व में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को समाप्त कर साम्यवाद स्थापित करने का प्रयास करने लगा।

उपरोक्त बिन्दुओं से यह स्पष्ट होता है कि रूस की क्रान्ति के विश्व की भावी गतिविधियों पर दूरगामी प्रभाव हुए।

24.6 सारांश (Summary)

रूसी क्रान्ति की सफलता ने मार्क्स की उस विचारधारा की ओर सभी का ध्यान आकर्षित किया जिसके अनुसार समाजवाद की स्थापना सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति द्वारा ही की जा सकती है। रूसी क्रान्ति के प्रणेता लेनिन द्वारा इसी विचार को क्रियान्वित करने के संबंध में अपना मत प्रकट करते हुए क्रिस्टोफर हिल ने कहा है–"इस प्रकार कार्ल मार्क्स के सिद्धांत के अनुसार लेनिन द्वारा अग्रहीत सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति ही श्रमिक वर्ग के शासन द्वारा समाजवाद

की स्थापना करेगी जिस प्रकार 1640 तथा 1789 की बुर्जुआ क्रान्तियों से मध्यय वर्ग का शासन स्थापित हुआ था।" यह समाजवादी विचारधारा साम्यवाद के रूप में केवल रूस तक ही सीमित नहीं रहीं बल्कि इसका शीघ्रता से विस्तार विश्व के अन्य देशों में भी हुआ।

नोट

24.7 शब्दकोश (Keywords)

1. विश्वव्यापी (Worldwide)–विश्वभर में।
2. अधिनायकत्व (Dictatorship)–तानाशाही

24.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. रूसी क्रान्ति के दीर्घकाल और तात्कालिक कारण बताइए।
2. 'जारशाही के अंत' पर टिप्पणी लिखिए।
3. बोल्शेविक क्रान्ति का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।
4. रूसी क्रान्ति के परिणाम एवं उसका विश्व-इतिहास में स्थान व महत्त्व का वर्णन कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. मार्च की क्रान्ति
2. बोल्शेविक क्रान्ति
3. किरगीज तथा उजबेक
4. (क) मार्च, 1881
5. (ख) 1848
6. (ग) 1917 से 1919

24.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
2. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
4. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
5. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
6. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
7. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*

नोट

इकाई 25: ज्ञान क्रान्ति : मुद्रण एवं सूचना (Knowledge Revolution: Printing and Information)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

25.1 वैज्ञानिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तन : तीन विचारधाराएँ (Scientific Development and Social Changes : Three Views)

25.2 विज्ञान और धर्मसुधार आंदोलन (Science and Reformation Movement)

25.3 सारांश (Summary)

25.4 शब्दकोश (Keywords)

25.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

25.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- वैज्ञानिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तन जानने में।
- धर्म और वैज्ञानिक प्रगति के बारे में रैब का तर्क जानने में।
- विज्ञान के विकास के संबंध में हिल के विचारों को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

कोई इतिहासकार चाहे कोई भी दृष्टिकोण अपनाए, प्रत्येक विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थिति के बारे में उसके गुण-दोष के आधार पर विचार करना होता है। यदि इंग्लैंड में प्रयोगात्मक विज्ञान के उदय की व्याख्या प्रोटेस्टेंट नैतिकता के संदर्भ की जाती है तो उसका यह अर्थ नहीं कि अन्य परिस्थितियों में भिन्न कारणों के संदर्भ में कोई व्याख्या नहीं की जा सकती।

25.1 वैज्ञानिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तन : तीन विचारधाराएँ (Scientific Devleopment and Social Changes : Three Views)

विज्ञान ने यूरोप में आधुनिक काल के आरंभ में क्यों जड़ जमाई और उसके बाद ही उसकी उन्नति क्यों हुई? जब कि अधिकतर इतिहासकार–भले ही उनके सैद्धांतिक रुझान और पूर्वाग्रह कुछ भी हों–इस बात से सहमत हैं कि आधुनिक विज्ञान का उदय पुनर्जागरण, धर्मसुधार, व्यापार की महान उन्नति एवं पूँजीवाद के विकास के साथ-साथ

नोट

हुआ तथापि यह पता लगाना कठिन है कि एक ओर तो इन सामाजिक–आर्थिक परिवर्तनों और दूसरी ओर वैज्ञानिक क्षेत्र में हुई खोजों के बीच सही–सही क्या संबंध थे, वैज्ञानिक क्रांति के क्या कारण थे–इस संबंध में लंबे अर्से तक विवाद चलता रहा है। एक विचारधारा यह है कि विज्ञान की प्रगति स्वत: प्रेरित थी जब कि दूसरी विचारधारा के अनुसार यह प्रगति धर्म–निरपेक्षता की प्रक्रिया से प्रेरित थी। विज्ञान के अधिकतर इतिहासकार पहली विचारधारा के पक्षधर हैं। प्रत्येक वैज्ञानिक घटना का अलग–अलग विवेचन करने की पद्धति (case history method) पर ध्यान केंद्रित करके वे व्यापक ऐतिहासिक संदर्भ की ओर संकेत किए बिना ही, आधुनिक विज्ञान के उदय का विवरण देने में सफल हुए हैं। आधुनिक विज्ञान के सभी सामान्य इतिहास लगभग अनिवार्य रूप से इस दृष्टिकोण में लिखे गए हैं। विज्ञान के इतिहासकार सामान्यत: इस बात को स्वीकार नहीं करते कि विज्ञान का अन्य घटनाओं से अभिन्न संबंध था। आधुनिक विज्ञान के स्वत: प्रेरित होने की बात प्रतिपादित करने के लिए इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया गया है कि आधुनिक विज्ञान और प्रविधि एक दूसरे से अत्यधिक प्रभावित थे।

अन्य इतिहासकारों ने अपनी रचनाओं में इस बात पर जोर दिया है कि विज्ञान के उद्‌गम में व्यक्तिगत प्रतिभा की निर्णायक भूमिका थी। इन इतिहासकारों में बटरफ़ील्ड, कैरलर तथा कोयरे के नाम उल्लेखनीय हैं। बटरफ़ील्ड बराबर इस बात पर ज़ोर देता रहा था कि 'सोचने की नई टोपी' पहनना अर्थात नई प्रणाली से सोचना, शिक्षा तथा आदतों और व्यावहारिक अनुभव के बंधनों को तोड़ना कितना कठिन है। उसके अनुसार वैज्ञानिक क्रांति की व्याख्या करना असंभव है और उसकी पूर्वकल्पना भी नहीं की जा सकती थी। बटरफ़ील्ड ने ऐसी कई जटिल परिस्थितियों का उल्लेख किया है जो केवल पश्चिमी यूरोप में ही वर्तमान थीं, जैसे मध्य वर्ग का उदय और प्रविधि का प्रभाव। लेकिन बटरफ़ील्ड ने इस पृष्ठभूमि का केवल उल्लेख भर ही किया है। कैरलर की पुस्तक में मुख्यत: तीन विचारकों का रेखांचित्र अंकित किया गया है जिन्होंने प्रतिभा, अंतर्दृष्टि, भ्रांति एवं त्रुटियों के फलस्वरूप उपलब्धियाँ अर्जित की थीं और जो गलत रास्तों पर चलकर सही नतीजे पर पहुँचे थे।

इस दृष्टिकोण का एक और विकल्प कॉम्बी और क्लेगेट जैसे इतिहासकारों की रचनाओं में मिलता है। ये इतिहासकार विज्ञान के विकासशील पक्ष पर ज़ोर देते हैं और इस बात को मानते हैं कि गैलीलियो और उसके साथी अपने पूर्ववर्ती (प्राचीन एवं मध्ययुगीन) चिंतकों के ऋणी हैं। विज्ञान के क्षेत्र में उठाए गए क़दम उतने चमत्कारी नहीं थे जितने कि आरंभ में दिखाई पड़े थे। इन दोनों एवं कई अन्य इतिहासकारों की राय में अरस्तु विज्ञान की प्रगति में एक बाधा न होकर उसकी सफलता का एक महत्त्वपूर्ण कारण था। आधुनिक विचारक मध्ययुगीन चिंतकों द्वारा धैर्यपूर्वक किए गए कार्य के फलस्वरूप ही सफल हुए, भले ही मध्ययुगीन चिंतकों को अपने श्रम का समुचित पुरस्कार न मिला हो।

नोट्स एक विचारधारा यह है कि विज्ञान की प्रगति स्वत:प्रेरित थी जबकि दूसरी विचारधारा के अनुसार यह प्रगति धर्म–निरपेक्षता की प्रक्रिया से प्रेरित थी।

इस सबके विपरीत, 1930 से आरंभ होने वाले दशक में अनेक मार्क्सवादी और नव–मार्क्सवादी लेखकों ने विज्ञान के सामाजिक विश्लेषण को पसंद किया। बोरिस हेसेन के अनुसार–आधुनिक विज्ञान की उत्पत्ति नए बुर्जुआ वर्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु हुई। उसने न्यूटन के 'प्रिंसिपिया' में वर्णित सबसे अमूर्त साध्यों का संबंध सत्रहवीं शताब्दी के इंग्लैंड के व्यापारी वर्ग की प्राविधिक आवश्यकताओं से जोड़ा। एडगर ज़िलसेल की राय में विभिन्न वर्गों के बीच की सीमाएँ प्राचीन विद्वानों और शिल्पकारों के बीच विचारों के आदान–प्रदान को प्राचीन काल से ही बाधित करती थीं। इन सीमाओं के नाटकीय ढंग से हट जाने के फलस्वरूप इन्द्रियानुभववाद और युक्तिवाद का परस्पर मिश्रण हुआ और पुनर्जागरण के बाद इटली में एक नए प्रकार के विज्ञान का जन्म हुआ।

नोट

क्या आप जानते हैं 'सोचने की नई टोपी' पहनना अर्थात् नई प्रणाली से सोचना कठिन है, ऐसा बटरफील्ड ने कहा था।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. रैब ने वैज्ञानिक खोज में ..... योगदान का उल्लेख किया है।
2. एलेक्जेंडर कोयरे के अनुसार, वैज्ञानिक क्रान्ति का श्रेय केवल ..... को ही है।
3. ..... के बाद इटली में एक नए प्रकार के विज्ञान का जन्म हुआ।

25.2 विज्ञान और धर्मसुधार आंदोलन (Science and Reformation Movement)

यूरोप के महाद्वीप और विशेषकर इंग्लैंड में निर्णायक निर्माणावस्था में जिन तत्त्वों ने विज्ञान को प्रभावित किया उनके बारे में काफ़ी विवाद हुआ है। इस चर्चा का केंद्रबिंदु यह परिकल्पना थी कि प्रायोगिक विज्ञान, धर्मसुधार आंदोलन की महत्त्वपूर्ण सांस्कृत अभिव्यक्ति, अर्थात् प्रोटेस्टेंट नैतिकवाद, का स्वाभाविक परिणाम था। इंग्लैंड का समाज, जो कि काल्विनवाद से बहुत ज़्यादा प्रभावित था और विज्ञान तथा वैज्ञानिक संस्थाओं के विकास सें बहुत अधिक जुड़ा हुआ था, एक ऐसा दृष्टांत उपस्थित करता है जिसके द्वारा हम यह पता लगा सकते हैं कि विज्ञान और धर्म के बीच क्या संबंध था। धर्म के साथ इसके संबंध का परिणाम यह हुआ कि सामाजिक नैतिकता भी इसके दायरे में आ गई और फिर तो सामाजिक एवं आर्थिक तत्त्वों का व्यापक क्षेत्र ही इसकी परिधि में आ गया। मेसन ने आरंभ के कतिपय वैज्ञानिकों एवं धर्मसुधार आंदोलन के नेताओं के बीच कुछ समानताएँ दिखाई हैं। प्रोटेस्टेंटवाद और विज्ञान के बीच संबंध होने के उसने तीन कारण बताए–

(1) आरंभिक प्रोटेस्टेंट लोकाचार और वैज्ञानिक अभिवृत्ति में सादृश्य, (2) बाद के काल में काल्विनवाद में अच्छे कर्मों पर ज़ोर और (3) प्रोटेस्टेंट धर्मशास्त्रों के कुछ सूक्ष्म तत्त्वों और आधुनिक विज्ञान के कतिपय सिद्धांतों में एक निश्चित साम्य। मेसन ने अपनी अभिधारणा के समर्थन में जान विल्किन्स (1614-12) का उदाहरण दिया, जो उस समय जागीर के 'प्रिन्स इलेक्टर' का पादरी था। मेसन के अनुसार विल्किन्स ने सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में इंग्लैंड में विज्ञान के अनुप्रयोग, प्रचार और संगठन को बढ़ाने के लिए काफ़ी प्रयत्न किया। साथ ही वह "उन व्यक्तियों में से एक था, जिन्होंने आरंभ में ही काल्विनवादी धर्म-विज्ञान और आधुनिक विज्ञान के नए सिद्धांतों के बीच साम्य देखा"।

वेबर के अनुसार–मेर्टन की परंपरा और प्रोटेस्टेंटवाद–विशेषकर काल्विनवाद ने पश्चिमी यूरोप में प्रामाणिक विज्ञान के लिए अनुकूल वातावरण पैदा किया। मेर्टन की अभिधारणा की कड़ी आलोचना हुई। केपन, कोचर, कोनांट, हाल और कर्टिस आदि सभी ने मेर्टन की मान्यताओं को चुनौती दी है। रैब ने, मेर्टन के केवल आँकड़ों को ही चुनौती नहीं दी है वरन् उसने यह सिद्ध करने के प्रयत्न को भी चुनौती दी है कि मूल रूप से प्यूरिटन गुणों ने वैज्ञानिक खोज का संवर्धन किया। मेर्टन की अभिधारणा का विरोध भले ही सफल न हुआ हो फिर भी उस पर उठाई गई आपत्तियों का समाधान किया जाना अभी भी शेष है। इस प्रकार मेर्टन के निष्कर्षों से संबंध में पूरी तरह शंका बनी हुई है और यह सिद्ध करने के लिए नए प्रमाणों की आवश्यकता है कि 1640 के पूर्व प्यूरिटनवाद और विज्ञान के बीच विशेष संबंध था।

रैब का तर्क है कि यद्यपि सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से परिष्कृत धर्म और वैज्ञानिक प्रगति के बीच जो संबंध थे उनको दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता तथापि 1640 से पूर्व वर्षों की स्थिति इस संबंध में इतनी स्पष्ट नहीं

नोट

है। इतना ही कहा जा सकता है कि 1640 तक, जबकि गैलीलियो, हार्वे और देकार्त का कार्य लगभग पूरा हो चुका था, विज्ञान का भी उदय हो चुका था। प्रोटेस्टेंटवाद और विज्ञान के बीच 1640 से पूर्व कोई स्पष्ट संबंध खोज पाना सरल नहीं है। वस्तुत: रैब ने प्रोटेस्टेंट धर्मज्ञान के बीच बहुत सारे अंतर्विरोध होने के उदाहरण दिए हैं। इन वर्षों में इटली, जो कि एक कैथोलिक देश था, वैज्ञानिक अनुसंधान का एकमात्र निर्विवाद केंद्र था। लगभग उन सभी व्यक्तियों ने, जिनका नाम उस समय हुई खोजों से जुड़ा हुआ है, इटली में रहकर अध्ययन किया था।

टी.एस. कुन तथा अन्य विद्वानों का यह भी कहना है कि सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में कोपर्निकसवाद का विरोध दोनों ही धार्मिक पक्षों (प्रोटेस्टेंट तथा कैथोलिक) की ओर से हुआ था।

क्रिस्टोफर हिल की पुस्तक **द सेंचुरी ऑफ़ रिवोल्यूशन** (1961) का प्रकाशन होने से वैज्ञानिक क्रांति में समाज वैज्ञानिक विश्लेषण का सामान्य इतिहास पर पहला वास्तविक प्रभाव पड़ा। इस पुस्तक में व्यक्त विचारों की पुष्टि उसकी फ़ोर्ड व्याख्यानमाला 'इन्टलेक्चुअल ऑरिजिन्स ऑफ़ द इंगलिश रिवोल्यूशन' में भी हुई। यह स्थिति विज्ञान और साहित्य के इतिहास के क्षेत्र में किए गए विशिष्ट अध्ययनों से भिन्न थी। हिल के अनुसार विज्ञान एक सामान्य सामाजिक परिघटना है जो प्यूरिटनवाद और बुर्जुआ वर्ग के उत्थान के सदृश्य ही हुई और जिसका उनसे संबंध भी था। उसने अंग्रेजी समाज की तत्कालीन स्थिति में विज्ञान के उदय के कारणों को खोजने का प्रयत्न किया है। उसकी दृष्टि में सामाजिक आंदोलन और प्रवृत्तियाँ किसी भी व्यक्ति विशेष अथवा जनसाधारण से अधिक महत्त्व रखती हैं। हिल ने अपने निर्वचन को बड़े कौशल से और आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. सन् ..... तक, जबकि गैलीलियो, हार्वे और देकार्त का कार्य लगभग पूरा हो चुका था, विज्ञान का भी उदय हो चुका था।

   (क) 1640 (ख) 1740 (ग) 1840 (घ) 1940

5. प्रोटेस्टेंटवाद और ..... के बीच 1640 से पूर्व कोई स्पष्ट संबंध खोज पाना सरल नहीं है।

   (क) भूगोल (ख) विज्ञान (ग) इतिहास (घ) अर्थशास्त्र

6. ..... से आरंभ होने वाले दशक में अनेक मार्क्सवादी और नव-मार्क्सवादी लेखकों ने विज्ञान के सामाजिक विश्लेषण को पसंद किया।

   (क) 1910 (ख) 1920 (ग) 1930 (घ) 1940

हिल के विचारों के उत्तर में अंग्रेजी विज्ञान के ग़ैर-प्यूरिटन पहलुओं की ओर काफ़ी ध्यान दिया गया है। हिल की दृष्टि में ग्रीशम कॉलेज उसके इस विचार का निर्णायक प्रमाण है कि प्यूरिटनवाद, आधुनिक विज्ञान और व्यापारी, शिल्पी समुदायों के बीच परस्पर संबंध था क्योंकि कॉलेज की स्थापना 1579 में सर टामस ग्रीशम की वसीयत के द्वारा हुई जो लंदन का एक बड़ा व्यापारी था। इस कॉलेज का संचालन व्यापारियों के हाथों में था और इनमें व्यापारियों तथा शिल्पियों को अंग्रेजी भाषा में अद्यतन विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। कार्नी के अनुसार ग्रीशम कॉलेज मध्यवर्गीय प्यूरिटन शैक्षणिक संस्था न होकर एक ऐसी संस्था थी जो विश्वविद्यालयों की शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक परंपराओं पर आधारित थी। कार्नी ने अपने तर्क में कहा है कि इस कॉलेज के शिक्षक वर्ग में कई लब्धप्रतिष्ठित वैज्ञानिक थे। इस दृष्टि से यह कोई सामान्य वैज्ञानिक विद्यालय नहीं था। धर्म, विधि, भौतिक, कला, संगीत, भाषणकला के साथ-साथ इसमें खगोलशास्त्र तथा ज्यामिति का भी अध्यापन किया जाता था तथा इसकी संकल्पना ऑक्सफ़ोर्ड और कैम्ब्रिज के समान ही थी। ग्रीशम कॉलेज एक ऐसा कॉलेज न था जो मात्र नवोदित पूँजीपति वर्ग

नोट

के हित में खोला गया है वरन् यह एक ऐसी संस्था थी जिसने ऑक्सफ़ोर्ड और कैम्ब्रिज से बहुत कुछ ग्रहण किया था।

रैब ने वैज्ञानिक खोज में कैथोलिक योगदान का उल्लेख किया है। उसका कहना है कि केपलर यद्यपि प्रोटेस्टेंट था तथापि वह खगोलीय प्रेक्षणों के लिए जेसूट लोगों पर निर्भर रहता था और एक जेसूट ने ही गैलीलियो की खोजों के विवरण को पीकिंग में चीनी भाषा में प्रकाशित किया। रैब के अनुसार हिल ने प्यूरिटनवाद के केवल उन्हीं पक्षों को प्रस्तुत किया है जो विज्ञान के अनुकूल थे और उसके अन्य पारलौकिक तथा अबौद्धिक पक्षों को नज़रअंदाज़ कर दिया है। उसके अनुसार प्यूरिटनवाद का मुख्य प्रयोजन धार्मिक शिक्षा था न कि विज्ञान। यद्यपि रैब ने इस बात को स्वीकार किया है कि 1640 के बाद के वर्षों में प्यूरिटनवाद वैज्ञानिक प्रगति में सहायक सिद्ध हुआ तथापि विज्ञान के उद्गम की संपूर्ण कहानी में धर्म का स्थान नगण्य है।

टास्क बोरिस हेसेन के अनुसार आधुनिक विज्ञान की उत्पत्ति किसलिए हुई?

विज्ञान के विकास में ऐसे लोगों ने योगदान किया जो प्यूरिटन अथवा प्रोटेस्टेंट नहीं थे–इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि प्यूरिटनवादियों की वैज्ञानिक उपलब्धियाँ कम थीं। यद्यपि यूरोप के कई वैज्ञानिक कैथोलिक थे तथापि यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि प्रतिसुधार आंदोलन के बाद वैज्ञानिक विचारों के प्रसार के लिए रोमन कैथोलिक वातावरण की तुलना में प्रोटेस्टेंट वातावरण अधिक अनुकूल था। इंग्लैंड में विज्ञान बहुत लोकप्रिय था और अधिकाधिक लोग विज्ञान में रुचि लेते थे और उसको समझते थे जिसके फलस्वरूप एक ऐसे समाज का निर्माण हुआ जो "पहले से अधिक जिज्ञासु, शंकालु, गतिशील तथा निर्माणशील था और जो सुधार का इच्छुक था एवं जो प्रयोग में अधिकाधिक रुचि ले रहा था"।

समाज के साथ विज्ञान के संबंधों के बारे में जो विभिन्न परिकल्पनाएँ हैं उनका मूल्यांकन और परीक्षण करने के लिए रॉयल सोसायटी के इतिहास की–उसकी उत्पत्ति एवं उसके सदस्यों द्वारा किए गए अनुसंधान की–जाँच की गई है। कुछ लोगों का विचार है कि रॉयल सोसायटी का प्रेरणास्रोत प्यूरिटनवाद था और कुछ का विचार है कि वह स्रोत उदारवाद था जब कि कुछ के विचार में इसे इंग्लैंड से प्रेरणा मिली। मेर्टन के अनुसार एक वैज्ञानिक संस्था के रूप में इस सोसायटी के कार्य केवल उपयोगिता से संबंधित थे जब कि परबर के विचार में उनका उपयोगिता से कोई संबंध न था। मेर्टन ने अपने निष्कर्ष निकालने के लिए "फिलोसोफिकल ट्रांजेक्शन्स" का विश्लेषण किया जब कि अन्य लोगों ने शुद्ध परिमाणात्मक प्रणाली का सहारा नहीं लिया है। लोट मलिगन ने विज्ञान के प्रति रुचि एवं राजनीति तथा धार्मिक प्रवृत्तियों के बीच संबंध का पता लगाने के लिए सरल परिमाणात्मक प्रणाली को अपनाया। मलिगन ने यह निष्कर्ष निकाला कि 1660 के बाद के वर्षों में जिन लोगों में विज्ञान के प्रति खास तरह का उत्साह थे जिनकी पृष्ठभूमि एक राजभक्त आंग्लवादी अथवा विश्वविद्यालय में शिक्षाप्राप्त भद्र पुरुष की थी। ऐसे व्यक्ति मध्यवर्गीय, व्यापारी, प्यूरिटन, राजनीतिक उग्रवादी, अशिक्षित अथवा उपयोगितावादी नहीं थे। आँकड़ों से जो जानकारी मिलती है उससे इस धारणा का खंडन होता है कि विज्ञान का प्यूरिटनवाद से कोई संबंध था।

25.3 सारांश (Summary)

यदि हम पुनर्जागरण काल और प्रबोधन काल के बीच के यूरोपीय इतिहास पर नज़र डालें तो हम देखेंगे कि उस समय कई आंदोलन साथ-साथ चल रहे थे– पूँजीवाद का उदय, व्यापारी वर्ग की उन्नति, कैथोलिक चर्च से संबंध-विच्छेद तथा प्यूरिटन नैतिकता का उदय और आधुनिक विज्ञान का आगमन। इन आंदोलनों के बीच कोई

कारण-कार्य संबंध थे या नहीं और यदि थे तो वे क्या संबंध थे–यह प्रश्न अभी भी इतिहासकारों में चर्चा का विषय बना हुआ है। इतना अवश्य है कि राजनीतिक एवं धार्मिक क्षेत्रों के समान विज्ञान के क्षेत्र में भी पुरानी परंपराओं से संबंध-विच्छेद हुआ जिसके फलस्वरूप मानवीय सृजनात्मकता उन्मुक्त हुई।

नोट

25.4 शब्दकोश (Keywords)

1. वैज्ञानिक प्रगति (Scientific Development)–विज्ञान का विकास।
2. धर्म सुधार (Reformation)–धर्म में सुधार

25.5 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. वैज्ञानिक क्रान्ति के क्या कारण थे? स्पष्ट कीजिए।
2. 'सीमित इतिहास' से क्या तात्पर्य है? बेब्स्टर के दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए।
3. प्रोटेस्टेंटवाद और विज्ञान के बीच क्या संबंध है? तीन कारण बताइए।
4. क्रिस्टोफर हिल की पुस्तक 'द सेंचुरी ऑफ रिवोल्यूशन' से वैज्ञानिक क्रान्ति में क्या प्रभाव पड़ा?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. कैथोलिक
2. गैलीलियो
3. पुनर्जागरण
4. (क) 1640
5. (ख) विज्ञान
6. (ग) 1930

25.6 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
2. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
4. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
5. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
6. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
7. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*

नोट

इकाई 26: प्रौद्योगिकीय क्रान्ति : संचार-व्यवस्था एवं चिकित्सा (Technological Revolution: Communication and Medical)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

26.1 एसियंतों (Asianton)

26.2 पुनर्जागरण से पहले की स्थिति (Circumstances before Renaissance)

26.3 पुनर्जागरण-काल में विज्ञान (Science in Renaissance-Age)

26.4 स्थिति-विज्ञान तथा गति-विज्ञान (Statics and Dynamics)

26.5 चुंबकत्व : नार्मन और गिलबर्ट (Magnetism: Norman and Gilbert)

26.6 सारांश (Summary)

26.7 शब्दकोश (Keywords)

26.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

26.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- पुनर्जागरण से पहले की स्थिति जानने में।
- स्थिति-विज्ञान तथा गति-विज्ञान को जानने में।
- हार्वे और रुधिर परिसंचरण को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों की वैज्ञानिक क्रान्ति के बारे में अब आमतौर से यह माना जाता है कि इसने यूरोपीय इतिहास को एक नया और निर्णयात्मक मोड़ दिया। अधिकतर इतिहासकारों की राय में यह क्रान्ति पुनर्जागरण और धर्मसुधार जैसे अन्य आंदोलनों के ही समान थी और उन आंदोलनों से इनको अलग नहीं रखा जा सकता। पुनर्जागरण के बाद न्यूटन के काल तक प्रकृति तथा समाज संबंधी विचारों में आमूल परिवर्तन हुआ। इसी अवधि में विश्व-संबंधी आधुनिक दृष्टिकोण की नींव पड़ी और बौद्धिक क्रान्ति संपूर्ण हुई। वैज्ञानिक क्रान्ति से नई पद्धतियों का निर्माण हुआ। ये नई पद्धतियाँ चिंतन के उन परंपरागत तरीकों में परिवर्तन का मुख्य कारण बनीं जिनमें सत्ताधारी वर्ग को प्रकृति

नोट

की देन और वांछनीय मान लिया गया था। परंपरागत तरीकों का स्थान आधुनिकता ने ले लिया जिसमें सभी मान्यताओं के समीक्षात्मक मूल्यांकन को प्रोत्साहित किया जाता है। वैज्ञानिक क्रान्ति के फलस्वरूप प्राकृतिक तत्त्वों की समीक्षा के लिए परिकल्पना और प्रयोग का तरीका अपनाया जाने लगा और चिंतन की शैली तर्कसंगत और युक्तिमूलक होने लगी।

इन दो सौ वर्षों में विज्ञान के विभिन्न विषयों में जो भारी प्रगति हुई उसका पूर्ण उल्लेख स्पष्टत: असंभव है। इस लेख के प्रथम भाग में हम इन वर्षों में विज्ञान के क्षेत्र में हुए विकास की मुख्य बातों का वर्णन करने की चेष्टा करेंगे। वैज्ञानिक क्रान्ति पूँजीवाद और प्यूरिटनवाद के उदय और आधुनिक राज्य और जनतंत्र के विकास के साथ ही साथ संपन्न हुई। वैज्ञानिक क्षेत्र में हुए विकास को ऐतिहासिक संदर्भ में देखना आवश्यक है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह एक ऐसा आंदोलन था जो उस समय हुआ जब यूरोप में भारी आर्थिक, राजनीतिक, समाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन हो रहे थे। इन परिवर्तनों और आधुनिक विज्ञान के उदय के बीच वास्तव में क्या संबंध है इस विषय में भ्रांति बनी हुई है। इस प्रश्न को लेकर अंग्रेजों और स्पेनियों में बाँटना पड़ेगा जिससे इन गुलामों की कीमत बढ़ सकती थी और गुलामों द्वारा उत्पादित स्पेनी शक्कर का मूल्य यूरोपीय बाजार में अंग्रेजी शक्कर से टक्कर ले सकता था। इससे ब्रिटिश शक्कर उद्योग पर बुरा असर पड़ सकता था।

दास-व्यापार के संबंध में सरकारी व्यापारवादी नीति को एक बड़ी असमंजसपूर्ण स्थिति का सामना करना पड़ा। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सरकार ने कृषक-स्वामियों के मुकाबले दास व्यापारियों के दावों का मुख्यत: समर्थन किया। अब स्पेनी अमेरिका को गुलामों की आपूर्ति के लिए एक पृथक अनुबंध प्राप्त होने की ही केवल मात्र आशा शेष रह गई थी। इसे फ्रांसीसियों ने 1701 में ही प्राप्त कर लिया था।

दास-व्यापार के संबंध में विवाद नैतिक एवं मानवीय विचार में बिल्कुल अछूते रहे। फ्रांसीसी उपनिवेशों के कानूनों की भाँति इंडीज-संबंधी स्पेनी कानून में दासों को अनेक नागरिक अधिकारों की गारंटी थी और उनको अपने परिवारों से पृथक् रखने पर प्रतिबंध लगाया गया था। अन्य देशों की तुलना में स्पेनी उपनिवेशों में नीग्रो गुलामों के साथ कहीं अच्छा व्यवहार किया जाता था।

अमेरिका की जनसंख्या पर दास-व्यापार के बहुत दूरगामी परिणाम हुए। स्पेनी और पुर्तगाली अमेरिका में दास-श्रम का उपयोग मुख्यत: शक्कर उत्पादक क्षेत्रों तक ही सीमित था, जबकि ब्रिटिश और फ्रांसीसी उपनिवेशों में दासों का तंबाकू, चावल और बाद में कपास उत्पादन के लिए भी उपयोग किया जाता था। दास प्रथा ने मुक्त श्रमिकों को बेरोजगार कर दिया और गुलामों द्वारा खेती किए जाने वाले प्रदेशों के मध्यम श्रेणी के जमीदार किसानों को अपने प्रदेशों से बाहर खदेड़ दिया। शक्कर उत्पादन के प्रचलन के साथ ही पश्चिमी इंडीज में श्वेत जनसंख्या कम होने लगी और अठारहवीं शताब्दी में उनकी संख्या घटकर सात प्रतिशत मात्र रह गई। उत्तरी ब्राजील में आज नीग्रो लोगों की जनसंख्या विद्यमान होने का आंशिक रूप से यही कारण है। हैटी एक नीग्रो गणतंत्र है जबकि सांतों डोमिगों में अधिकांशत: नीग्रो लोग ही रहते हैं।

26.1 एसियंतों (Asianton)

सोलहवीं शताब्दी में स्पेनी अमेरिका के गुलामों की आवश्यकता की आपूर्ति के लिए मुख्यत: पुर्तगालियों पर आश्रित रहना पड़ता था। 1596 में स्पेनी सरकार एसियंतों गुलामों की लंबी शृंखला की पहली किश्त स्वीकार करने को सहमत हो गई। यह दास-व्यापार या उसके अधिकांश भाग को ठेकेदारों को इजारेदारी पर देने से संबंधित एक समझौता था। इसके अंतर्गत ठेकेदारों को स्पेन, अफ्रीका और इंडीज में अपने स्वंय के स्टेशनों (दासक्रय केंद्रों) की स्थापना करके संपूर्ण दास व्यापार का संगठन करना होता था। सहायक ठेकेदारों की लाइसेंस बेचने और सरकारी लाइसेंस फीस भेजने के कार्य भी सरकार ने इन्हीं ठेकेदारों को सौंप दिए। ठेकेदार एवं उनके सहायक ठेकेदार गुलामों से लदे जहाजों को अफ्रीका से सीधे अमेरिका भेज सकते थे। इसके लिए उन्हें सार्थवाहों की और आवश्यकता पड़ने पर, उन्हें साथ

नोट

ले जाने की स्वयं व्यवस्था करनी थी। ब्यूनेस आयर्स बंदरगाह को अस्थायी रूप से गुलामों के आयात के लिए खोल दिया गया। यह एक बहुत बड़ी रियायत थी क्योंकि ब्यूनेस आयर्स के व्यापार को नियंत्रित करने की कठिनाई के कारण राजा ने इस बंदरगाह को समस्त व्यापार के लिए अनेक वर्षों से बंद कर रखा था। इस रियासत के बदले ठेकेदारों को सम्राट द्वारा निर्धारित बंदरगाहों पर एक निश्चित संख्या में गुलामों को जहाज से लाने का वचन देना पड़ता था। ये गुलाम उन स्थानों पर ले जाए जाते थे जहाँ इनकी आवश्यकता होती थी।

नोट्स अमेरिका की जनसंख्या पर दास-व्यापार के बहुत दूरगामी परिणाम हुए।

पहला ठेका एसियंतों पुर्तगाली ठेकेदार रेनेल को प्रदान किया गया, परंतु डच प्रतिस्पर्धा के कारण पुर्तगाली अपने लिए माल (अर्थात् गुलामों) को उपलब्ध नहीं कर पाए (अत: उन्हें गुलामों की कीमत बढ़ानी पड़ी)। अंतत: स्पेनी शासकों के विरुद्ध 1640 के सफल पुर्तगाली विद्रोह के परिणामस्वरूप एसियंतों समाप्त हो गया। 1634 में कुरकाओं पर डचों द्वारा एवं 1655 में जमाइका पर अंग्रेजों द्वारा अधिकार स्थापित करने के कारण स्पेनी राजा व्यक्तिगत लाइसेंस प्रदान करने की पद्धति स्थापित करने में विफल रहा। स्पेन के व्यापारिक शत्रुओं के इंडीज के प्रत्येक कोने में व्यापारिक स्टेशन थे। स्पेन के लिए दास-व्यापार नुकसान और जोखिमों से भरा हुआ होता जा रहा था और अब बहुत थोड़े लोग स्पेनी लाइसेंस खरीदने को तैयार थे। 1640 से सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक स्पेनी इंडीज की ओर होने वाला दास-व्यापार के साथ-साथ भारत के प्रमुख उत्पादनों, जैसे शक्कर, तम्बाकू, चॉकलेट और चाँदी का समान रूप से आकर्षक अवैध व्यापार भी चलता रहा। स्पेनी एकाधिकारवादी व्यापार यद्यपि प्रयोगिक रूप से यों तो कभी भी यूरोपीय देश के साथ प्रतिस्पर्धा नहीं कर पाया, पर अब वह लगभग बिल्कुल ही समाप्तप्राय हो गया।

क्या आप जानते हैं विश्व का केन्द्र पृथ्वी नहीं सूर्य है—इस सिद्धांत की खोज कोपर्निकस ने की थी।

26.2 पुनर्जागरण से पहले की स्थिति (Circumstances before Renaissance)

आधुनिक विज्ञान की उत्पत्ति प्राचीन यूनान में हुई। यद्यपि प्राचीन यूनान में हुई क्रान्तिकारी प्रगति इस लेख की विषय-वस्तु नहीं है तथापि आगे जाकर इसका जो प्रभाव यूरोप पर पड़ा उसको देखते हुए उसका उल्लेख करना आवश्यक है। पाइथागोरस की गणितीय उपलब्धियाँ, प्लेटो के अनुभव, अरस्तु का अनुभववाद, यूक्लिड की ज्यामिति, आर्किमीडीज की यांत्रिकी-संबंधी अंतर्दृष्टि, टॉलमी के खगोलीय परीक्षण, गेलैन की चिकित्साशास्त्र-संबंधी शोध-रचनाएँ आदि सभी की बारहवीं शताब्दी के बाद फिर से खोज हुई। यूनानी दर्शन और आधुनिक विज्ञान के बीच जटिल संबंध हैं। यूनानी दर्शन ने आधुनिक विज्ञान को एक ऐसा तत्त्व प्रदान किया जिसके आधार पर आधुनिक विज्ञान का निर्माण हुआ और जिसके बिना विज्ञान का वैसा विकास न हो पाता जैसा हुआ है। दूसरी ओर आधुनिक विज्ञान का निर्माण यूनानी दर्शन की कतिपय मान्यताओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में भी हुआ।

यूनान में विज्ञान के पुनरन्वेषण की प्रक्रिया पाँच शताब्दियों तक चलती रही। 1500 ई. तक अरस्तु, गेलैन और टॉलमी के विचारों को अपना लिया गया। ईसाई सिद्धातों में इन विचारों को काफी हद तक शामिल किया गया और इस तरह विचारों का एक विशाल सम्मिश्रण हुआ जिसको चर्च और राज्य के संसाधनों का भी समर्थन प्राप्त हुआ।

ईश्वर, मनुष्य, देवदूत, वनस्पति और पशु-पक्षी आदि सभी का इस विश्व में अपना-अपना स्थान था और पृथ्वी इस पृथ्वी की केंद्र थी। विश्व-संबंधी यह दृष्टिकोण जो भावनात्मक दृष्टि से तृप्तिकारक, धार्मिक दृष्टि से परंपरानिष्ठ

नोट

और कवियों के लिए प्रेरणाप्रद था, बहुत शीघ्र ही परित्यक्त हो गया। दो सौ वर्षों के भीतर लगभग उन सभी मान्यताओं का विरोध होने लगा जो 500 ई.पू. के बाद स्वीकार की गई थीं और जिन्हें बारहवीं शताब्दी के बाद पुन:समझा गया था।

26.3 पुनर्जागरण-काल में विज्ञान (Science in Renaissance-Age)

पुनर्जागरण-काल में दो क्रान्तियाँ हुईं। पहली क्रान्ति सांस्कृतिक थी। यह एक वास्तविक पुनर्जागरण था जिसके दौरान पुरातन परंपराओं की रमणीयता और महत्ता पुन: स्थापित हुई तथा जिसकी अभिव्यक्ति कला, स्थापत्य, साहित्य तथा ज्ञान के पुनरुत्थान में हुई। दूसरी क्रान्ति आर्थिक थी। यह क्रान्ति 'काली मृत्यु' (प्लेग से उत्पन्न महामारी) तथा निरंतर चलने वाले युद्धों से जनसंख्या में कमी और परंपरागत व्यापार-मार्गों के बंद होने के कारण पैदा हुई। इसके फलस्वरूप वाणिज्य-व्यापार का विकास हुआ, नए समुद्री मार्गों का पता लगा तथा प्रौद्योगिकी और खनन उद्योग में प्रगति हुई। इन दो क्रान्तियों की समसामयिकता ने ही नवीन वैज्ञानिक प्रवृत्तियों को जन्म दिया। यद्यपि मानवतावादी पुनर्जागरण के फलस्वरूप डेमोक्रिटस, आर्किमीडीज तथा अन्य यूनानी विद्वानों की वैज्ञानिक रचनाओं के प्रकाशन को प्रोत्साहन मिला तथापि इसके फलस्वरूप वैज्ञानिक दृष्टिकोण का निर्माण न हो सका। लेकिन नई प्रविधियों में दिलचस्पी के कारण इतिहास में पहली बार सिद्धांत का व्यावहार से तथा गणित का यंत्रिकी से संयोग हुआ। लियोनार्दो द विन्सी जैसे व्यक्ति की प्रतिभा में पुनर्जागरण की इन प्रवृत्तियों का संयोजन हुआ।

इन वर्षों में हुए विज्ञान के पुनर्जन्म की जड़े तीन केंद्रों में देखने को मिलती हैं। पहले तथा सर्वाधिक विख्यात केंद्रों को 'मानव एवं प्रकृति की खोज' की संज्ञा दी जा सकती है। यह खोज इटली में पंद्रहवीं शताब्दी में कला के क्षेत्र में हुए पुनर्जागरण की उपज थी जिसमें कला अधिक यथार्थिक और जागृत हुई। कलाकारों ने नई समस्याएँ उठाई और उनकी खोज में लग गए। वे दर्शन (vision), दृष्टिमय जगत (perspective), शरीर-रचना विज्ञान तथा शरीर-क्रिया विज्ञान में रुचि लेते थे। लियोनार्दो ने चित्रकला को विज्ञान की संज्ञा दी। तीन विमाओं वाली आकृति को दो विमाओं में दर्शाने के लिए चित्रकार को ज्योमिति का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक था।

साथ-ही-साथ दक्षिण जर्मनी के पर्वतीय क्षेत्र में, जिसका छोर न्यूरेम्बर्ग तथा क्राको तक था, खनन-उद्योग, धातु-कर्म विज्ञान तथा व्यापार में तेजी से वृद्धि हुई। यही धातु-कर्म विज्ञान के सिद्धांत तथा व्यवहार पक्ष का विकास हुआ। यह क्षेत्र राइन द्वारा फ्लैंडर्स के समृद्ध बुनाई क्षेत्रों से जुड़ा हुआ था। इसी व्यापार-मार्ग पर गुटनबर्ग ने छापेखाने का आविष्कार किया। इस आविष्कार के बाद छपाई की मशीन का प्रयोग जल्दी ही अधिकाधिक स्थानों पर होने लगा और पंद्रहवीं शताब्दी के अंत तक प्रत्येक मुख्य नगर में छपाई की मशीन लग गई।

इन्हीं वर्षों में स्पेन और पुर्तगाल ने अपनी खोजें आरंभ की। इथियोपिया में स्वर्ण की खोज में और पुराकथाओं में वर्णित क्रिश्चियन मोंक (Christian Monk) प्रेस्टर जॉन का पता लगाने में पुर्तगाली नाविकों ने सारे अफ्रीकी तट की परिक्रमा कर डाली। इस प्रयत्न में उन्होंने भारत का समुद्री मार्ग खोज लिया। कोलंबस ने जिसे स्पेन से आर्थिक सहायता प्राप्त हुई, तथा स्पेन के विजेताओं ने नई दुनिया के द्वार खोल दिए।

कोपर्निकस–खगोलशास्त्र के क्षेत्र में टॉलमी मान्य विद्वान था। 'अल्माजेस्ट' (Almagest) में टॉलमी ने विश्व का जो वर्णन किया है उसमें सहजबुद्धिजनित इस सिद्धांत को स्वीकार किया गया है कि पृथ्वी केंन्द्र में स्थित है और आकाशीय पिण्ड समानवृत्तीय कक्षाओं में उसकी परिक्रमा करते हैं। इस सिद्धांत ने अरस्तु के विश्व-संबंधी दृष्टिकोण की पुष्टि की। टॉलमी का खगोलीय सिद्धांत पश्चिम में चौदह शताब्दियों तक मान्य रहा, किंतु निकोलस कोपर्निकस (1473-1543) ने इस सिद्धांत को उलट दिया।

विश्व का केंद्र पृथ्वी नहीं सूर्य है–इस क्रान्तिकारी सिद्धांत की खोज कोपर्निकस जैसा व्यक्ति करेगा इस बात की संभावना बहुत कम थी। उसका जन्म पोलैंड के ऐसे क्षेत्र में हुआ था जिसका नगरीकरण नहीं हुआ था वह एक बिशप का भतीजा था और स्वयं 1512 ई. से मृत्युपर्यन्त फ्राउएनबर्ग के गिरजाघर का पादरी रहा। किंतु खगोलशास्त्र

नोट

से उसका गहरा लगाव था और वह अपने निजी जीवन का अधिकतर समय विश्व का ऐसा चित्र खोजने में लगाता था जो तर्कसंगत हो। उसके विचार में टॉलमी का सिद्धांत उलझा हुआ था और खगोलीय जगत की व्याख्या करने में असमर्थ था। उसका विश्वास था कि प्रकृति जटिल न होकर अवश्य ही सरल होगी। यद्यपि पोलैंड में कोपर्निकस अलग-थलग रहा तथापि वह पुनर्जागरण काल में इटली में दस वर्ष रह चुका था जहाँ उसने बोलोग में खगोलशास्त्र, पदुआ में चिकित्साशास्त्र और फेरारा में विधिशास्त्र का अध्ययन किया था। मध्ययुग में लोग ज्योतिष में रुचि लेते थे, अत: खगोलशास्त्र का भी अध्ययन किया जाता था। किंतु पंद्रहवी शताब्दी में जब पंचांगों को सुधारने के लिए तालिकाएँ बनाने की आवश्यकता अनुभव हुई तब खगोल-विद्या के पुनरुत्थान में तेजी आई। इटली में कोपर्निकस प्लेटो के नवअध्यात्मवाद से प्रभावित हुआ। सन् 1453 में कुस्तुनतुनिया के पतन के बाद पश्चिम को वे गुप्त रचनाएँ उपलब्ध हुईं जिनमें मिस्र का ज्ञान संचित होने की बात कही जाती थी। कोसीमोड मेडिसाई (Cosimode Medici) ने इन ग्रंथों का यूनानी भाषा में अनुवाद करने का आदेश दिया। इन रचनाओं के अनुसार सूर्य विश्व के केंद्र में स्थित था और पृथ्वी उसकी परिक्रमा करती थी। कोपर्निकस ने प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन से पता लगाया कि सिसरो (Cicero) के अनुसार हिसेटस (Hisetas) का मत था कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है और प्लूटार्क (Plutarch) का कहना था कि अन्य विद्वानों का भी यह मत था। एरिस्टार्कस (Aristarchus) ने इस बात पर बल दिया कि पृथ्वी सूर्य के चारों और घूमती है।

कोपर्निकस ने यह क्रान्तिकारी खोज की कि विश्व का केंद्र सूर्य है न कि पृथ्वी, और पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है तथा चौबीस घंटे में एक चक्कर पूरा करती है। इस सिद्धांत का प्रतिपादन उसने किसी नवीन खगोलीय प्रेक्षण के आधार पर नहीं किया वरन् गणितीय आकलन के आधार पर किया। उसके सिद्धांत ने इस विचार को जन्म दिया कि विश्व की कोई सीमा नहीं है और पृथ्वी इस विश्व का एक बहुत छोटा भाग है। यह सोचना गलत होगा कि आकाशीय पिण्डों के घूर्णन से संबंधित उसकी **डि रिवोल्यूनिनबस ओरबियम सिलेस्टियम** (*De Revolutioninbus Orbium Coelestium*) नामक महान कृति ने यूरोपीय चिंतन की जड़ों को एकदम हिला दिया अथवा केवल उसी के फलस्वरूप वैज्ञानिक क्रान्ति संपन्न हुई। लगभग 150 वर्ष बीत गए तब कहीं जाकर अनेक प्रकार के विचारों के संयोजन से विश्व प्रणाली के संबंध में एक ऐसे सिद्धांत का पता चला जिससे पृथ्वी तथा अन्य ग्रहों की गतिविधि स्पष्ट हुई। इसी सिद्धांत के आधार पर वैज्ञानिक विकास का काम आगे बढ़ा। इस प्रकार अंतत: यह स्पष्ट हो गया कि कोपर्निकस ने मध्ययुगीन दृष्टिकोण में भारी परिवर्तन किया और टॉलमी और अरस्तू के प्रभाव को समाप्त कर दिया।

ब्रूनो तथा ब्राहे–कोपर्निकसजनित क्रान्ति का खगोलविदों ने स्वागत किया क्योंकि इससे खगोलीय तालिकाओं में सुधार का मार्ग प्रशस्त हुआ। इससे पुरातन, मध्ययुगीन तथा अरस्तू द्वारा प्रतिपादित विचारों की कमियों का भी पता लगा। सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सूर्य-केंद्रीय सिद्धांत के सबसे उत्साही प्रवर्तकों में गियोर्डीनो ब्रूनो (Giordino Bruno, 1548-1600) था। ब्रूनो ने कोपर्निकस के सिद्धांत में और सुधार किया। उसने इस धारणा का परित्याग किया कि नक्षत्र अपने-अपने स्थान पर स्थिर हैं। उसके विचार में ये नक्षत्र अनंत अंतरिक्ष में बिखरे हुए अनेक सूर्य थे जो हमारी जैसी सौर-प्रणालीयों के केंद्र थे। ब्रूनो को अंत: प्रेरणा से ऐसी अनेक खोजों का पूर्वज्ञान हुआ जिनकी भविष्य में प्रेक्षणों तथा प्रयोगों द्वारा पुष्टि हुई। उसका विचार था कि पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है तथा ध्रुवों पर चपटी है। धूमकेतू भी नक्षत्रों की श्रेणी में ही हैं तथा सौर-मंडल में नक्षत्रों की संख्या, ज्ञात नक्षत्रों से कहीं अधिक है। ब्रूनो ने "ऊर्जा के संरक्षण संबंधी सिद्धांत" का भी पूर्वसंकेत दिया। इन धर्म-भ्रष्ट विचारों के कारण उसे सात वर्ष तक ईसाई न्यायालयों के कारागारों में रहना पड़ा और अंतत: उसे जिंदा जला दिया गया। ब्रूनो की अनेक धारणाओं की संपुष्टि डेनमार्क के वैज्ञानिक टाइकों ब्राहे (1546-1601) ने की। ब्राहे ने डेनमार्क के राजा की सहायता से पहली बार ऐसी वेधशाला का निर्माण किया जो सही अर्थों में वैज्ञानिक तथा आधुनिक थी। यह वेधशाला वेन द्वीप (स्वीडन का एक द्वीप) में **रेनीबोर्ग** नामक जहाज पर स्थित थी तथा उत्तम उपकरणों से सज्जित थी। यहाँ ब्राहे ने ग्रहों तथा नक्षत्रों की स्थिति का प्रेक्षण किया।

नोट

सन् 1572 में ब्राहे ने एक नए नक्षत्र को देखा। 1577 में जब वह एक पुच्छल तारे का परीक्षण कर रहा था तब वह इस नक्षत्र का लंबन (parallax) निर्धारित करने में सफल हुआ और इस प्रकार उसने यह सिद्ध किया कि यह नक्षत्र चंद्रमा से भी अधिक दूर है, और इसलिए यह 'प्राथमिक भूमंडल' से परे है। इससे अपरिवर्तनशील गोलार्धों में परिवर्तन की संकल्पना की शुरुआत हुई जो कि अरस्तु के नियमों के विपरीत थी। उसने सुझाव दिया कि पुच्छल तारे का मार्ग एकदम गोल न होकर लंबा हो सकता है। ब्राहे द्वारा ग्रहों पर किए गए बहुत से प्रेक्षणों के आधार पर कैपलर उनकी कक्षाओं के सही रूप का पता लगाने में समर्थ हुआ।

केपलर–जब जोहांस केपलर (1571-1630) ने टाइको के प्रक्षेण का निष्पादन किया तब वे विज्ञान की प्रगति के लिए कहीं अधिक मूल्यवान साबित हुए। केपलर पहला महान प्रोटेस्टेंट वैज्ञानिक था। उसके कार्य का प्रेरणास्रोत उपयोगिता से संबंधित न होकर विश्व के गुप्त रहस्यों का पता लगाने की अलौकिक भावना पर आधारित था "मिस्टीरियम कॉस्मोग्राफियन" (*Mysterium Cosmographian*) में केपलर ने दीर्घवृत्ताकार कक्षाओं की परिकल्पना प्रस्तुत की। उसने इसके साथ-साथ कक्षा में ग्रहों की गति से संबंधित दो नियमों का भी विवरण दिया। इसके फलस्वरूप कोपर्निकस की व्याख्या पर की गई आपत्तियाँ समाप्त हो गईं तथा प्लेटो और पाइथागोरस द्वारा प्रस्तुत किए गए नक्षत्रों के वर्तुल गति-संबंधी विचार भी ध्वस्त हो गए।

गैलीलियो–दूरबीन की खोज की खबर गैलीलियो गैलिली (1564-1642) को भी मिली। गैलीलियो पदुआ विश्वविद्यालय में भौतिकशास्त्र तथा सैनिक इंजीनियरी का प्राध्यापक था। वह कोपर्निकस के सिद्धांत के प्रति पहले से ही निष्ठा रखता था। उसने एक दूरबीन बनाई और उसके द्वारा आकाश का अवलोकन किया। जो कुछ भी उसने दूरबीन से देखा उससे उसके विश्वास की पुष्टि हुई और आकाश संबंधी मध्ययुगीन सिद्धांत गलत साबित हुआ। उसने देखा कि चंद्रमा पूरी तरह से गोलाकार नहीं है वरन् उसमें पर्वत और समुद्र हैं। शुक्र में चंद्रमा के समान कलाएँ देखी जाती हैं तथा बृहस्पति की परिक्रमा 3 चंद्र अथवा नक्षत्र करते हैं। यह कोपर्निकस द्वारा प्रतिपादित प्रणाली का एक छोटा मॉडल था। गैलीलियो ने फ्लोरेंस के ड्यूक, फ्रांस के राजा तथा पोप के नाम पर इन नक्षत्रों का नामकरण करने की पेशकश की परन्तु वे लोग इस सम्मान का मूल्य चुकाने के लिए तैयार नहीं थे। गैलीलियो ने 1610 में **सिडेरिव नन्टिस** (*Siderivs Nuntis*) 'नक्षत्रों का संदेशवाहक' नामक रचना का प्रकाशन किया। इसमें उसने अपने प्रेक्षणों का विवरण दिया। इस प्रकाशन से एक सनसनी तो अवश्य पैदा हुई, परंतु उसके विरुद्ध कोई प्रतिक्रिया तुरंत नहीं हुई। गैलीलियो के विरुद्ध मुकदमा 24 वर्ष बाद चलाया गया।

गतिकी (वस्तुओं का गिरना)

गैलीलियो इस बात से संतुष्ट नहीं था कि उसने कोपर्निकस के सिद्धांत को प्रेक्षण के द्वारा सत्य सिद्ध कर दिया है। वह तर्क द्वारा भी इस प्रणाली का अस्तित्व सिद्ध करना चाहता था। यह स्पष्ट करना भी आवश्यक था कि पृथ्वी जब घूमती है तब हवा का भारी झोंका विरोधी दिशा में क्यों नहीं आता अथवा ऊपर हवा में उठी हुई वस्तुएँ पीछे क्यों नहीं रह जातीं। सोलहवीं शताब्दी में टार्टाग्लिया, बेनेदिती आदि ने इस प्रक्रिया के जो कारण बताए थे उनकी गणित द्वारा पुष्टि नहीं हुई थी। गैलीलियो ने वस्तुओं की गति की गणितीय व्याख्या की। यह उसके जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था। यह व्याख्या उसको मृत्युदंड दिए जाने के बाद **डायलॉग्स ऑन टून्यू साइंसेज** नामक प्रकाशन में विस्तृत रूप में प्रकाशित हुई यद्यपि उसके पूर्व प्रकाशन, **डायलॉग कन्सर्निंग द टू चीफ सिस्टम्स ऑफ दी वर्ल्ड** में भी उनका उल्लेख था–जिसको लेकर उसका चर्च में झगड़ा शुरू हुआ।

यही प्रयोग किसी हद तक आधुनिक विज्ञान के आरंभिक प्रयोग थे। गैलीलियो ने ये प्रयोग स्वयं को आश्वस्त करने के लिए नहीं वरन् दूसरों को आश्वस्त करने के लिए किए क्योंकि उसे इस बात का पूरा विश्वास था कि वह प्रकृति का तार्किक निर्वचन कर सकता है। इस दृष्टि से उसके प्रयोगों को प्रयोग न कहकर प्रदर्शन कहना उचित होगा। जो भी हो, उसने वास्तव में ये प्रयोग किए। जब इन प्रयोगों से असंभावित परिणाम प्राप्त हुए तब उसने उन्हें अस्वीकार नहीं किया बल्कि स्वयं अपनी परिकल्पना पर शंका भी की। इस प्रकार उसने तथ्यों के सामने झुककर उस भावना

नोट

का परिचय दिया जो प्रयोगात्मक विज्ञान के ध्येय में आवश्यक है। यथार्थ प्रयोगों के साथ-साथ गणितीय विश्लेषण का प्रयोग करके उसने वस्तुओं के गिरने से संबंधित समस्या का हल खोज निकाला। इस पद्धति से उसने सिद्ध कर दिया कि वायु की अनुपस्थिति में वस्तुएँ गिरने के समय परवलयिक पथ का अनुसरण करती हैं। ऐसा करके उसने आधुनिक भौतिकी की पद्धतियों का प्रथम सुस्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया। ऐसी पद्धतियों का आगे की शताब्दियों का प्रथम सुस्पष्ट सफलता के साथ विकास हुआ। वस्तुत: उसने ऐसी पद्धति को शुरुआत की जो अब से कुछ काल पूर्व आधारभूत वैज्ञानिक पद्धति के रूप में प्रचलित हुई।

गणित

गैलीलियो तथा केपलर अच्छे गणितज्ञ होने के कारण सफल हुए। वीयेटा (1540-1603) ने केवल बीजगणित में ही नहीं बल्कि त्रिकोणमिति में भी सभी बीजीय तर्कों को प्रतीकात्मक शैली में प्रस्तुत किया। इस विशुद्ध तकनीकी विधा के द्वारा गणना का काम बहुत कम समय में संपन्न होने लगा। साइमन स्टेविन (1548-1620) ने 1585 में दशमलव और नेपियर (1550-1617) ने 1614 में लघुगणक (लॉगरिथ्म) का प्रयोग किया जिससे गणितीय प्रयोग के क्षेत्र में महान प्रगति हुई। अपने तर्क-प्रणाली को पूर्ण करने के लिए गैलीलियो के लिए यह आवश्यक था कि वह गणित एवं यंत्र-गति-विज्ञान के बीच संबंध स्थापित कर सके। अपने वैज्ञानिक जीवन में उसने मुख्य रूप से इसी काम में अपने आप को लगाया। लियोनार्दो भी परिमाणात्मक यंत्र-विज्ञान की खोज में लगा रहा था, परन्तु गैलीलियो को श्रेष्ठतर प्रयोगों एवं अधिक प्रयोजनीय गणित की सुविधा प्राप्त थी। समय बीतने पर उसकी गणना वैज्ञानिक यांत्रिकी के संस्थापकों में हुई।

26.4 स्थिति-विज्ञान तथा गति-विज्ञान (Statics and Dynamics)

स्थूल वस्तुओं की गति को पूरी तरह समझने के लिए यह आवश्यक है कि बलों की व्याख्या प्रथमत: संतुलित अवस्था में की जाए जैसा कि स्थिति-विज्ञान में किया जाता है, तदुपरांत गति-विज्ञान की विधि के अनुसार असंतुलित अवस्था में की जाए। इन 'दो नए विज्ञानों' में गैलीलियो ने न केवल गति-संबंधी नियमों की नींव डाली वरन् पदार्थों के बल संबंधी गणितीय सिद्धांत का भी आधार प्रस्तुत किया।

गैलीलियो का कहना था कि पदार्थ के स्वाभाविक गुण विस्तार, स्थिति और घनत्व हैं और अन्य सभी गुण, जैसे रंग, स्वाद अथवा गंध गौण होते हैं।

गैलीलियो ने अपनी अनेक खोजों द्वारा अरस्तु के संपूर्ण दर्शन को ध्वस्त कर दिया जो 2000 वर्षों तक प्राकृतिक तथा सामाजिक विज्ञान की सभी शाखाओं का आधार बना हुआ था। उसने अरस्तु के दर्शन का अध्ययन पदुआ में किया था और उसके सिद्धांत का उसे पूरा ज्ञान था। इसी कारण वह अरस्तु के सिद्धांतों को उसके ही तर्कों द्वारा इस ढंग से काटने में सफल हुआ जिसकी कि विद्वान लोग उपेक्षा न कर सके। यद्यपि उसके सभी कार्यों में अरस्तु का विरोध अंतर्निहित था तथापि उसने अरस्तु पर प्रकट रूप में विरोध अपनी खंडन-मंडन शैली में लिखी पुस्तक **डायलॉग कन्सर्निंग द टू चीफ सिस्टम्स ऑफ द वर्ल्ड, द टॉलमिक एंड द कोपर्निकस** में किया जो 1632 में प्रकाशित हुई और जिसे उसने पोप को समर्पित किया। इतालवी भाषा में, जिस भाषा को सब पढ़ सकते थे, लिखी गई इस पुस्तक में उसने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषयों से संबंधित सर्वमान्य विचारों की निर्दयता से आलोचना की और खिल्ली उड़ाई। यही नवविज्ञान का महान् उद्घोष था।

गैलीलियो की चुनौती की अनदेखी नहीं की जा सकती थी। फलत: उस पर मुकदमा चलाया गया जो सर्वप्रसिद्ध है। उसे दंडित किया गया और अपने मत का खंडन करने के लिए भी मजबूर किया गया तथापि कारागार की सजा केवल नाम के लिए उसने अपने मित्र के एक महल में काटी। अपने अवकाश काल में उसने अपनी गति-विज्ञान एवं स्थितिविज्ञान-संबंधी रचनाएँ पूरी कीं।

नोट

इस मुकदमे के द्वारा विज्ञान और धार्मिक रूढ़िवाद के बीच चल रहा संघर्ष नाटकीय रूप से सामने आया। इस मुकदमे के निर्णय का किसी भी विद्वान ने स्वागत नहीं किया। अत: यह मुकदमा प्रभावी रूप से असफल रहा। फलत: नवीन विज्ञान की प्रतिष्ठा अत्यधिक बढ़ गई। गैलीलियो के बाद प्राचीन ब्रह्मांड विज्ञान (Cosmology) का चुपचाप परित्याग कर दिया गया तथा खगोलविदों ने कोपर्निकस तथा केपलर द्वारा बनाए गए सौर-परिवार-मॉडल को स्वीकार कर लिया। गैलीलियो पर मुकदमा चलाए जाने और उसको दंड दिए जाने का एक परिणाम यह निकला कि वैज्ञानिक परंपरा भूमध्य सागरीय क्षेत्र में तो समाप्त हो गई और उत्तरी यूरोप में विकसित होने लगी। निस्संदेह इसी कारण इंग्लैंड और हॉलैंड व्यापार और जहाजरानी के क्षेत्र में अग्रणी बन गए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. ..... में महारानी एलिजाबेथ के चिकित्सक विलियम गिलबर्ट ने डि मेग्नेट नामक रचना प्रकाशित की।

   (क) 1600 (ख) 1700 (ग) 1800 (घ) 1900

5. सन् ..... में ब्राहे ने एक नए नक्षत्र को देखा।

   (क) 1572 (ख) 1672 (ग) 1772 (घ) 1872

6. ..... में स्पेनी सरकार एसियंतों गुलामों की लंबी शृंखला की पहली किश्त स्वीकार करने को सहमत हो गई।

   (क) 1196 (ख) 1296 (ग) 1496 (घ) 1596

26.5 चुंबकत्व: नॉर्मन और गिलबर्ट (Magnetism : Norman and Gilbert)

1600 में महारानी एलिजाबेथ के चिकित्सक विलियम गिलबर्ट ने **डि मेग्नेट** नामक रचना प्रकाशित की। इसमें उसने चुंबकत्व संबंधी सभी ज्ञात तथ्यों का समावेश किया। अनेक परिशुद्ध और सावधानीपूर्वक अभिलिखित प्रयोगों से उसने यह निष्कर्ष निकाला कि पृथ्वी एक चुबंक है और इसी चुंबकीय बल के कारण नक्षत्र अपने-अपने मार्गों पर स्थिर रहते हैं। संतुलित सुई के झुकाव का प्रयोग–जिसके आधार पर उसने यह निष्कर्ष निकाला–हार्टमेन (1489-1564) की जानकारी में पहले आ चुका था। बहुत ही साधारण परिवार में जन्मे राबर्ट नॉर्मन द्वारा, जो एक नाविक था तथा कुतुबनुमा का निर्माता था, इस प्रयोग का विस्तृत अध्ययन भी किया जा चुका था। गिलबर्ट द्वारा प्रस्तुत विश्व-व्यवस्था की भौतिक तथा गैर-मिथकीय व्याख्या से न्यूटन को अपने कार्य में सहायता मिली।

जर्मन डॉक्टर पारासेल्स (1493-1547) ने मध्ययुगीन विश्वविद्यालयों के शिक्षण की आलोचना की। ये विश्वविद्यालय हिपोकेटीज तथा गेलैन से प्रभावित थे तथा उच्च वर्ग–भूस्वामियों तथा बुर्जुआ वर्ग–की आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। पारासेल्स का पालन-पोषण स्विटजरलैंड के खदान क्षेत्र के एक गाँव में हुआ था और वह खनिकों तथा किसानों के प्रति सहानुभूति रखता था। उसने खनिकों को होने वाली बीमारियों के बारे में एक पुस्तक लिखी। ये बीमारियाँ पारद और संखिया के विष के कारण होती थीं। सुविधाप्राप्त विशिष्ट वर्ग का विरोध होने के कारण उसने गेलैन के रूढ़िवाद की आलोचना की। किंतु उसके आमूल परिवर्तनवाद (radicalism) का बौद्धिक आधार भी था क्योंकि उनकी नव-प्लेटोवाद तथा हर्मीज की परंपरा में निष्ठा थी। उसका मत था कि रोग शरीर में बाहर से आते है और विशेष रोगों के उपचार भी विशेष होते हैं। उसने रसायनशास्त्र तथा रासायनिक औषधियों के अध्ययन को बढ़ावा दिया। उसने धर्म, जादू-टोना और समाज-संबंधी अपनी धारणाओं को आधार बनाकर गेलैन की आलोचना की। वह कीमियागिरी में रुचि रखता था, और उसके कार्य में हमें पुनर्जागरण काल के जादू-टोना संबंधी तथा रहस्मय पक्ष

नोट

की झलक मिलती है जिसका सही अनुमान वे इतिहासकार नहीं लगा पाए जिन्होंने केवल पुनर्जागरण के तार्किक पक्ष को ही महत्त्व दिया।

हार्वे और रुधिर-परिसंचरण–विलियम हार्वे (1578-1657) एक अंग्रेज था। उसने कैम्ब्रिज और पदुआ में शिक्षा पाई थी। इटली में पुनर्जागरण काल के चित्रकारों तथा मूर्तिकारों ने जो रुचि शरीररचना-शास्त्र में दिखाई उसका संयोग हार्वे ने उस नई प्रयोग विधि से किया जिसकी व्याख्या करना चाहता था। एक हजार वर्ष तक हृदय तथा रक्त की क्रिया की वही व्याख्या की जाती रही थी जो गेलैन ने दूसरी शताब्दी में प्रस्तुत की थी। हार्वे ने 1628 में एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें उसने नए प्रकार के शरीररचना-शास्त्र तथा शरीरक्रिया-शास्त्र का प्रतिपादन किया। वह तर्क द्वारा यह बात सिद्ध करने में सफल हुआ कि रुधिर का अवश्य ही परिसंरचण होता है क्योंकि रुधिर हृदय के एक भाग से बाहर निकलता है तथा दूसरे भाग में भीतर वापस पहुँचता है। परंतु वह यह नहीं समझ पाया कि यह होता कैसे है। मालपिघे (1628-94) ने आगे जाकर सूक्ष्मदर्शी की सहायता से यह दिखाया कि रुधिर, नलिकाओं वाली पाँच धमनियों में से होकर बहता है।

हार्वे की खोज का प्राचीन शरीरक्रिया-शास्त्र पर, जिसका श्रेय अभी तक गेलैन को ही था, उसी तरह का क्रान्तिकारी असर पड़ा जिस तरह गैलीलियो और केपलर की खोजों का प्लेटो तथा अरस्तु द्वारा प्रतिपादित खगोलशास्त्र पर पड़ा था। उसने यह बताया कि शरीर एक द्रव-चालित मशीन की तरह है और उसमें रहस्मय आत्मा का कोई निवास नहीं है। उसकी दृष्टि में हृदय का शरीर में वैसा ही शीर्षस्थ और मुख्य स्थान है जैसा कि सूर्य का विश्व में। हार्वे की खोजों का चिकित्साशास्त्र पर कोई तात्कालिक प्रभाव नहीं पड़ा फिर भी उनसे एक तर्कसंगत शरीर-विज्ञान की नींव अवश्य पड़ी।

फ्रांसिस बेकन–फ्रांसिस बेकन (1561-1626) एक अधिवक्ता, दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनीतिज्ञ और नीतिशास्त्रवेत्ता था। उसने सत्रहवीं शताब्दी के चिंतन को कई प्रकार से प्रभावित किया। अपने **नोवम आर्गेनम** (*Novem Organum*) नामक प्रकाशन में उसने प्रयोग और प्रेक्षण की वैज्ञानिक विधि का प्रतिपादन किया और उसका वास्तविक योगदान यही था कि उसने प्रयोगों के विचार को लोकप्रिय बनाया। उसने विचारों के आदान-प्रदान और सामूहिक अनुसंधान एवं शोध की आवश्यकता अनुभव की और वह रॉयल सोसायटी के संस्थापकों में एक था।

रेने देकार्त–रेने देकार्त (1596-1650) ने भी बेकन की ही भाँति नए ज्ञान की संभावनाओं को देखा था। उसके **डिस्कोर्स ऑन मैथड** (1637) नामक प्रकाशन में साहित्यिक लालित्य, मानवीय अभिरुचि तथा दार्शनिक स्पष्टता का मिश्रण था। यह रचना बेहद लोकप्रिय हुई। देकार्त के विचारों ने डॉक्टरों, वकीलों तथा दार्शनिक विचार वाले भद्रपुरुषों जैसे व्यक्तियों के नए वर्ग को आकर्षित किया। दर्शनशास्त्र के इतिहास में देकार्त को प्रथम आधुनिक समीक्षात्मक चिंतक माना जाता है। वह पहला व्यक्ति था जिसने ऐसी वैज्ञानिक प्रणाली की रचना की जो पग-पग पर अरस्तु के सिद्धांतों के विरुद्ध जाती थी। यही उसका महत्त्व था। देकार्त एक प्रतिभावना गणितज्ञ था। विश्लेषिक ज्यामिति का आविष्कार करके उसने विस्तार, गति और आकृति के माध्यम से विश्व का यांत्रिक विवरण प्रस्तुत करने को बढ़ावा दिया। देकार्त ने इस विचार को अस्वीकार कर दिया कि चांद्र और उपचांद्र विश्व के नियमों में भिन्नता है, प्राकृतिक गति सोद्देश्य होती हैं अथवा प्राकृतिक और अप्राकृतिक गति में कोई अंतर होता है। यद्यपि उसने अरस्तु का विरोध किया तथापि उस पर अरस्तु की तर्कपूर्ण प्रणाली एवं संश्लेषण के आदर्श का भारी प्रभाव पड़ा। देकार्त की विश्व-व्यवस्था में विश्व और मानव-शरीर दोनों ही एक यंत्र के समान क्रिया किया करते थे। इस विश्व में ईश्वर का वही स्थान था जो एक अभियंता का होता है। देकार्त ने प्रकृति का एक गणितीय एवं यांत्रिकीय प्रतिरूप प्रस्तुत किया जिसने पश्चिमी यूरोपीय विज्ञान पर गहरा प्रभाव डाला।

रॉयल सोसायटी–बेकन और देकार्त ने गैर-वैज्ञानिकों की नजर में प्रायोगिक विज्ञान को ऊपर उठाया। नए प्राकृतिक दर्शन की मर्मज्ञों में सर्वत्र चर्चा होने लगी। सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से विज्ञान अधिकाधिक संस्थाबद्ध होता चला गया। विद्वानों की अनौपचारिक बैठकें 1645 ई. से आरंभ हुई जिनके परिणामस्वरूप 'लंदन रॉयल सोसायटी' का जन्म

नोट

हुआ। ये साप्ताहिक बैठकें अधिकतर लंदन में ग्रीशम कॉलेज में होती थीं। गृह-युद्ध के दौरान ये बैठकें ऑक्सफोर्ड में होती रहीं। इस मंडली में वैज्ञानिक, गणितज्ञ, व्यापारी, कुलीन एवं पादरी वर्ग के लोग थे। रॉबर्ट बॉयल ने इस मंडली को अदृश्य विद्यालय की संज्ञा दी थी। 1662 में यह मंडली एक राजपत्र द्वारा विधिवत् नियमित कर दी गई तथा इसका नाम प्राकृतिक ज्ञान का संवर्धन करने वाली 'रॉयल सोसायटी ऑफ लंदन' रखा गया। कदाचित् इस मंडली द्वारा व्यापार, जहाजरानी तथा युद्ध-कार्य के क्षेत्र में किए गए योगदान के फलस्वरूप ही इस मंडली को राजकीय अनुमोदन मिला।

अपने प्रारंभिक दिनों में रॉयल सोसायटी ने अपने क्रियाकलापों को बहुत हद तक बेकन के इस आदर्श के अनुरूप ढाला कि ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग होना चाहिए। इसका काम उस समय की वाणिज्यिक, विनिर्माण और कृषि-संबंधी समस्याओं से संबद्ध तकनीकों को सोच निकालना और उनके लिए उपकरण बनाना था। इस सोसायटी ने संसारभर के विभिन्न स्थानों से अद्‌भुत वस्तुएँ एवं जानकारी एकत्रित की, विदेशों में विद्वत् परिषदों से पत्राचार किया और **फ़िलोसोफ़िकल ट्रांजेक्शन्स** (1669) नामक पत्रिका प्रकाशित की। यह पत्रिका विज्ञान से संबंधित नियमित रूप से प्रकाशित होने वाली शुरू की पत्रिकाओं में से एक थी।

अकादमी रॉयल देश साइंसेज–फ्रेंच रॉयल अकादमी की स्थापना लुई चौदहवें द्वारा कोलबर्ट के आग्रह पर 1665-66 पेरिस में की गई। फ्रेंच रॉयल अकादमी का संगठन इस तरह की अन्य कई अकादमियों का मॉडल बना जो जल्दी ही यूरोप में कई स्थानों पर स्थापित की गई। इन अकादमियों की स्थापना से यह स्पष्ट हुआ कि इस बात का अधिकाधिक अनुभव किया जाने लगा था कि वैज्ञानिक प्रगति के लिए सम्मिलित प्रयास की आवश्यकता होगी। इन सोसायटियों में वैज्ञानिक आपस में मिलकर चर्चा करते थे तथा अपने प्रयोग एक-दूसरे को दिखाते थे। इन सोसायटियों और इनके प्रकाशनों के फलस्वरूप वैज्ञानिक आंदोलन में भाग लेने वाले लोगों की संख्या बढ़ गई। इन संस्थाओं में लोगों को मिलकर चर्चा करने और सम्मिलित प्रयोग करने का अवसर मिला। इस प्रकार पेरिस में हुई उपलब्धियों की चर्चा लंदन में और लंदन में प्राप्त सफलताओं की चर्चा पेरिस में होने लगी। इन संस्थाओं के प्रकाशनों से पता लगता है कि इनमें नक्षत्रों से लेकर कीटाणुओं तक–प्रकृति के लगभग सभी पक्षों पर–चर्चा होती थी। विशेष ध्यान खगोलशास्त्र की ओर दिया गया।

टास्क देकार्त ने विश्व के कौन-से दो भाग किए?

बॉयल तथा हुक–रॉबर्ट बॉयल (1627-1691) रॉयल सोसायटी के संस्थापकों में से था। उसने निर्वात एवं गैसीय नियमों के बारे में कार्य किया जिसके फलस्वरूप अगली शताब्दी में भाप के इंजन की खोज हुई। रॉबर्ट हुक (1635-1703) बॉयल का समकालीन और सहकर्मी था। वह रॉयल सोसायटी में प्रयोग प्रबंधक के पद पर नियुक्त था। उसने प्रत्यस्थता का अध्ययन किया और इस नियम की खोज की कि विस्तार बल का समानुपाती होता है। यह भौतिकी का सबसे छोटा नियम है और 'हक का नियम' कहलाता है। उसने संतुलन-चक्र का आविष्कार किया जिसके उपयोग से सही समय बताने वाली घड़ियों तथा क्रोनोमीटर का बनाना संभव हो सका। उसने **माइक्रोग्राफिया** नामक पुस्तक की रचना की जिसमें कोशिकाओं सहित सूक्ष्मदर्शी विश्व का सबसे पहला क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत किया गया है।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक कोपर्निकस, गैलीलियो तथा हार्वे के सिद्धांत पश्चिमी यूरोप के विद्वानों में काफी हद तक सर्वमान्य हो चले थे। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में उनको उपलब्धियाँ हुई किन्तु सबकी दिलचस्पी का केन्द्रबिन्दु अभी भी एक ऐसी सामान्य प्रणाली बनी हुई थी जो ग्रहगति की व्याख्या कर पाएगी। गैलीलियो, केपलर, देकार्त, हुक हिगिनि, हैली तथा रेन जैसे अनेक खगोलविद और गणितज्ञ इसी समस्या के समाधान की खोज में लगे रहे। इसकी परिणति न्यूटन के **प्रिंसिपिया मेथेमेटिशिया** (1685) नामक प्रकाशन में हुई जिसमें उसने सार्वत्रिक गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत को प्रतिपादित और प्रमाणित किया। इस युगप्रवर्तक कार्य में

नोट

उसने भौतिक तथा खगोल-शास्त्र के सभी पूर्ववर्ती खोजकर्ताओं को सम्मिलित किया और अगले 200 वर्षों के लिए वैज्ञानिक खोज के मापदण्ड स्थापित किए और दिशा-निर्देश दिए।

आइजक न्यूटन (1642-1727)–विज्ञान की प्रगति में न्यूटन का योगदान यह था कि उसने एक ऐसी गणितीय प्रणाली की खोज की जिसके द्वारा भौतिकीय सिद्धांतों को परिमाणात्मक रूप से परिकलनीय ऐसे परिणामों में परिवर्तन किया जा सकता था जिनको प्रेक्षण के द्वारा पुष्टि की जा सकती थी, तथा इसके उलट उन प्रेक्षणों एवं उनके परिणामों को भौतिकीय सिद्धांतों में परिवर्तित किया जा सकता था। इसके लिए उसने अत्यणु-कलन (infinitesimal calculus) की गणितीय प्रणाली का सहारा लिया। इस विधि का उपयोग करके किसी भी समय किसी वस्तु की स्थिति को किसी अन्य समय पर उस वस्तु की स्थिति तथा उसके वेग अथवा वेग-परिवर्तन की दर के पारस्परिक संबंधों की जानकारी होने से ज्ञात किया जा सकता था। 'बल का नियम' मालूम हो जाने पर उस वस्तु के पथ की गणना की जा सकती है। जिस रूप में न्यूटन ने कलन का विकास किया उस रूप में उसका उपयोग अनेक यांत्रिक एवं द्रवगतिकीय समस्याओं का समाधान करने में किया जा सकता था और न्यूटन ने इस दिशा में उसका उपयोग किया भी।

प्रिंसिपिया मेथेमेटिसिया में ग्रह-गतियों का न्यूटन द्वारा सुझाया गया हल दिया गया था। उसका मूल उद्देश्य मूल यह दिखाना था कि सार्वत्रिक गुरुत्वाकर्षण किस तरह विश्व-निकाय के अस्त्वि को कायम रख पाता है। न्यूटन की व्याख्या के फलस्वरूप पृथ्वी एवं अंतरिक्ष के सभी जाने-अनजाने तत्त्व एक एकीभूत निकाय का अंग बन गए। इस निकाय के सभी साध्य उन कतिपय भौतिक सिद्धांतों पर पूरी तरह से आधारित थे जिनको स्वयंसिद्धियाँ माना गया था। न्यूटन ने भौतिक ज्ञान का जो संश्लेषण प्रस्तुत किया उससे यह सिद्ध हो गया कि विश्व की प्रक्रिया पूरी तरह से समझी जा सकती है भले ही उसके गणितीय सिद्धांतों को स्पष्ट करने के लिए उपलब्ध प्रयोग एक छोटे से ग्रह पर किए गए हों।

न्यूटन का 'गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत' एवं खगोल-शास्त्र के क्षेत्र में उसके द्वारा किया गया योगदान अरस्तु द्वारा प्रस्तुत विश्व संबंधी चित्र के उस परिवर्तन का अंतिम चरण था जो कोपर्निकस द्वारा आरंभ किया जा चुका था। ग्रह-नक्षत्रों की ऐसी कल्पना, जिसमें उनका संचालन ईश्वर अथवा देवदूतों द्वारा किया जाता था, बदल गई। उसके स्थान पर न्यूटन ने यह प्रतिस्थापित किया कि विश्व का संचालन एक सरल प्राकृतिक नियम के अनुसार होता है जिसके लिए बलों के लगातार प्रयोग की आवश्यकता नहीं है। ईश्वरीय हस्तक्षेप की आवश्यकता केवल इसके सृजन और उसकी गति को आरंभ करने के लिए होती है। न्यूटन की विश्व प्रणाली में ईश्वर का वही स्थान था जो एक सांविधानिक राजा का होता है।

न्यूटन ने केवल भौतिक विज्ञान में विशिष्ट संवर्धन करके ही अपने युग को प्रभावित नहीं किया बल्कि उसका कार्य इस बात का उदाहरण भी बना कि ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में उपयुक्त अनुसंधान कैसे किया जाए। न्यूटन की कार्यप्रणाली यह थी कि प्रत्येक परिघटना में अंतर्भूत सिद्धांतों का विश्लेषण के द्वारा पता लगाया जाए और उनके परिणामों की गणितीय व्याख्या की जाए, और अंत में प्रेक्षण तथा प्रयोग के आधार पर उनकी वैधता सिद्ध की जाए यही प्रायोगिक-गणितीय विधि आधुनिक विज्ञान की नींव है।

न्यूटन द्वारा प्रस्तुत विश्व के प्रतिरूप और उसकी कार्यप्रणाली ने ज्ञान की प्रत्येक शाखा को प्रभावित किया। अठारहवीं शताब्दी के प्राकृतिक एवं सामाजिक वैज्ञानिक भी न्यूटन की तार्किक धारणाओं और उसके इस विश्वास से सहमत थे कि वैज्ञानिक विधि के द्वारा विश्व के रहस्यों की सुलझाया जा सकता है।

प्रकृति और उसके नियम छिपे थे अँधेरी रात में ।

प्रभु ने न्यूटन को भेजा, फैला प्रकाश दिगंत में ।।

नोट

26.6 सारांश (Summary)

हार्वे की खोज का प्राचीन शरीरक्रिया-शास्त्र पर, जिसका श्रेय अभी तक गेलैन को ही था, उसी तरह का क्रान्तिकारी असर पड़ा जिस तरह गैलीलियो और केपलर की खोजों का प्लेटो तथा अरस्तू द्वारा प्रतिपादित खगोलशास्त्र पर पड़ा था। उसने यह बताया कि शरीर एक द्रव-चालित मशीन की तरह है और उसमें रहस्मय आत्मा का कोई निवास नहीं है। उसकी दृष्टि में हृदय का शरीर में वैसा ही शीर्षस्थ और मुख्य स्थान है जैसा कि सूर्य का विश्व में। हार्वे की खोजों का चिकित्साशास्त्र पर कोई तात्कालिक प्रभाव नहीं पड़ा फिर भी उनसे एक तर्कसंगत शरीर-विज्ञान की नींव अवश्य पड़ी।

26.7 शब्दकोश (Keywords)

1. पुनर्जागरण (Renaissance)–नवचेतना
2. दर्शन (Vision)–भविष्य के बारे में कल्पना की गई योजना

26.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. पुनर्जागरण से पहले की स्थिति का वर्णन कीजिए।
2. 'पुनर्जागरण-काल में विज्ञान' पर अपने विचार लिखिए।
3. गैलीलियो के बारे में आप क्या जानते हैं? वर्णन कीजिए।
4. विज्ञान की प्रगति में न्यूटन का क्या योगदान था? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. नीग्रो गणतंत्र	2. प्राचीन यूनान	3. स्पेनी सरकार
4. (क) 1600	5. (क) 1572	6. (घ) 1596

26.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
2. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
3. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
4. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
5. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
6. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
7. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*

नोट

इकाई 27: आधुनिक युद्ध (Modern Warfare)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

27.1 पुनः युद्ध की लपटों में (Relapse into War)

27.2 स्पेन का गृह-युद्ध (Spanish Civil War)

27.3 राष्ट्रों की प्रतिद्वन्द्वात्मक गुटबंदी (Rival Grouping of the Powers)

27.4 जर्मनी द्वारा आक्रमण का प्रारंभ (Germany Begins Aggression)

27.5 युद्ध का आरंभ (Outbreak of War)

27.6 सारांश (Summary)

27.7 शब्दकोश (Keywords)

27.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

27.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- यूरोप की प्रमुख शक्तियों–इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, रूस आदि को जानने में।
- स्पेन का गृह-युद्ध जानने में।
- जर्मनों द्वारा का आक्रमण का प्रारंभ जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

उन्नीसवीं शताब्दी की एक बड़ी विशेषता राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार थी। इसका प्रभाव विभिन्न देशों के आंतरिक विकास पर ही नहीं अपितु विभिन्न देशों के पारस्परिक संबंधों पर भी पड़ा, इसके कारण आस्ट्रिया तथा तुर्की जैसे बहुराष्ट्रिक या बहुजातीय साम्राज्यों के लिए खतरनाक स्थिति उत्पन्न हो गई, उनका अस्तित्व संकटग्रस्त हो गया। इनमें बसने वाली जातीयतायें अपने अधिकारों की तथा अंततोगत्वा अपनी स्वतंत्रता की माँग करने लगीं। ये जातीयतायें अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अन्य देशों से सहायता की अपेक्षा करती थीं तथा ये देश उनकी सहायता करने को तत्पर रहते थे। आस्ट्रिया-हंगरी तथा तुर्की साम्राज्यों के अल्पसंख्यक स्लाव लोग रूस से सहायता की अपेक्षा करते थे तथा रूस में शक्तिशाली सर्व-स्लाववादी आंदोलन विद्यमान था जिसे मध्यमवर्ग तथा राजकीय अधिकारियों का समर्थन प्राप्त था। यह आस्ट्रिया-हंगरी तथा रूस के मध्य तनाव का मुख्य कारण बना।

नोट

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में (प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व) जर्मनी की कूटनीति पर छाया रहा। यूरोपीय राजनीति की बहुत-सी समस्याएँ राष्ट्रीयता की भावना के प्रसार के कारण पैदा हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत के दो दशकों में साम्राज्यवाद के उद्‌भव ने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में गहरी प्रतिस्पर्धा को जन्म दिया तथा ऐसा वातावरण तैयार करने में मदद दी जिसमें युद्ध की सम्भावना निहित थी। 1908 से 1914 के मध्य यूरोप में घटित घटनाक्रमों (बोस्त्रिया संकट, युवा-तुर्क क्रान्ति, बल्गारिया द्वारा स्वतंत्रता की घोषणा) बाल्कन युद्धों आदि ने एक लंबे कोलाहलपूर्ण तथा अत्यन्त विकट यूरोपीय कूटनीतिक संकट को उत्पन्न करने में योग किया, जिसमें सभी बड़े देश महाशक्तियाँ (इंग्लैण्ड, फ्रांस, रूस, आस्ट्रिया-हंगरी, जर्मनी आदि) विस्तृत कूटनीतिक विवादों में उलझती चली गई और महायुद्ध में उतरना उनकी विवशता बन गई।

यूरोप की प्रमुख शक्तियों इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, रूस आदि ने शक्ति-संतुलन के सिद्धांत को अपनी विदेशी नीतियों का आधार बनाया हुआ था। इसके फलस्वरूप गुटबंदी का पथ-प्रशस्त होने लगा। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में यूरोप दो परस्पर विरोधी गुटों में विभाजित हो गया था। इस गुटबंदी में फ्रांस और रूस तथा इंग्लैण्ड एक गुट में, जर्मनी तथा आस्ट्रिया दूसरे गुट में थे। यह गुटबंदी प्रथम विश्वयुद्ध की ओर ले जाने वाली परिस्थितियों का निर्माण करती चली गई और प्रथम विश्वयुद्ध का मुख्य प्रेरक रही।

28 जून, 1914 को पिस्तौल से छूटी दो गोलियों ने कुछ ही सप्ताहों में प्रथम विश्वयुद्ध के दावानल को धधका दिया। प्रत्यक्ष रूप से प्रथम विश्वयुद्ध का कारण बोस्त्रिया के एक छात्र (गेवरीली प्रिंसिप) द्वारा आस्ट्रिया के युवराज आर्कड्यूक फ्रांसिस फर्डीनेण्ड और उसकी पत्नी (सोफिया) की हत्या थी। परन्तु वह हत्या उस माचिस की तीली के समान थी जिसने अग्नि प्रज्वलित करने का तात्कालिक कार्य किया था जबकि विस्फोटक सामग्री का वह ढेर जिसमें आग लग गई, एक शताब्दी से शनैः-शैनः एकत्रित हो रहा था।

उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी का साम्राज्यवाद औद्योगिक क्रान्ति का शिशु था इसलिए इसको आर्थिक साम्राज्यवाद की संज्ञा दी जाती है। आर्थिक साम्राज्यवाद से अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वन्द्विताओं का पथ-प्रशस्त हुआ, परिणामस्वरूप वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि हुई, जिसकी खपत के लिए उन साम्राज्यवादी शक्तियों को नये बाजारों की आवश्यकता अनुभव हुई। उनकी जनसंख्या में वृद्धि हुई जिसको बसाने के लिए वे उपनिवेशों की स्थापना करने के लिए प्रेरित हुए। उनके पास अतिरिक्त पूँजी संचित हो गई जिसे वे विदेशों में लगाने के अवसर ढूँढ़ने लगे। उन्हें कच्चे माल की निरन्तर प्राप्ति के लिए कच्चे माल के उत्पादक प्रदेशों पर आधिपत्य स्थापित करने की आवश्यकता अनुभव हुई। इन कारणों से यूरोपीय देशों ने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अफ्रीका में बड़े-बड़े साम्राज्यों की स्थापना की। दक्षिणी-पूर्वी एशिया में ब्रिटेन, फ्रांस और हॉलैण्ड के विस्तृत साम्राज्य स्थापित हुए। चीन में यूरोपीय महाशक्तियों ने आर्थिक रियायतें और अधिकार प्राप्त कर लिये। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक के प्रारंभ तक विश्वभर में यूरोपीय शक्तियों के साम्राज्यों का जाल फैल गया। ऐसी स्थिति में जब साम्राज्यवादी बन्दरबाँट के लिए नवीन प्रदेशों की प्राप्ति कठिन हो गई, तब साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं के वातावरण में युद्ध अनिवार्य प्रतीत होने लगे।

गुप्त मैत्रियों की पद्धति जो फ्रांस और प्रशा के युद्ध (1870) के पश्चात् विकसित हुई थी। इस पद्धति के कारण यूरोप दो सशस्त्र गुटों में विभाजित हो गया था। ऐसी परिस्थिति में इन दो गुटों से संबंधित किन्हीं भी राज्यों के युद्ध का यूरोप के सारे राज्यों के युद्ध में बदल जाना अनिवार्य हो गया था। प्रथम विश्वयुद्ध जिस विवाद से प्रारंभ हुआ वह मूल रूप से आस्ट्रिया और सर्बिया के मध्य था परन्तु गुप्त मैत्रियों की पद्धति के कारण यूरोप के सभी प्रमुख राज्य युद्ध में सम्मिलित हो गये। 1907 तक यूरोप दो विरोधी गुटों में विभाजित हो गया था– एक ओर जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली थे जो त्रिराष्ट्रीय संघ (Triple Alliance) का गुट कहलाता था और दूसरी ओर फ्रांस, रूस और इंग्लैण्ड थे जो त्रिराष्ट्रीय मैत्री (Triple Intent) का गुट कहलाता था अर्थात् पर दोषारोपण किया ओर फिर आक्रमण कर दिया। रूस ने सर्बिया का पक्ष लिया तथा जर्मनी ने आस्ट्रिया का पक्ष लिया। शनैः-शनैः यूरोप के सभी राज्य उलझते चले गये। बाल्कन में शुरू हुआ युद्ध विश्वयुद्ध बन गया। इस प्रकार पूर्वी समस्या, जिसे इतिहासकार

नोट

मैरियट एक जटिल और विस्फोटक समस्या मानता था, वास्तव में साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद के टकरावों और राष्ट्रों की अनिवार्य विजय का प्रतीक थी। इस प्रथम महायुद्ध में पूर्वी समस्या के मुख्य आधार जलकर खाक हो गये। रूस, तुर्की आस्ट्रिया और जर्मनी के साम्राज्य समाप्त हो गये और अन्त में बाल्कन के राष्ट्रों को स्वतंत्र राष्ट्र की प्रभुसत्ता प्राप्त हो गई। इस तरह सौ वर्षों के पश्चात् पूर्वी समस्या का समाधान हो सका।

एक जर्मन गुट था जो केन्द्रीय राष्ट्रों का गुट कहलाता था और दूसरा फ्रांसीसी गुट था जो मित्र-राष्ट्रों का गुट कहलाता था। इन गुटबन्दियों के कारण बाल्कन क्षेत्र में आस्ट्रिया और सर्बिया का विवाद एक गंभीर अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न बन गया। इन सबसे 1914 तक अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण इतना तनावपूर्ण हो गया कि यूरोप की शान्ति अदृष्ट दुर्घटनाओं की मोहताज बन गयी थी।

प्रथम विश्वयुद्ध के लिए रूस, फ्रांस, सर्बिया, जर्मनी, आस्ट्रिया और इंग्लैण्ड के राजनीतिज्ञ भी उत्तरदायी थे। बीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही यूरोप के लगभग सभी राज्यों के कर्णधार इस पूर्व धारणा के आधार पर अपनी नीतियों का निर्धारण कर रहे थे कि देर-सबेर युद्ध अवश्य होगा। उन्होंने ऐसी स्थिति का सामना करने को तैयार रहने के लिए सैन्यवादी नीति अपनायी। सैनिक आवश्यकताओं के कारण प्रदेश देश के राजनीतिक और सैनिक नेताओं ने कुछ ऐसी बातें कीं, धमकियों और चेतावनियों की ऐसी भाषा का प्रयोग किया, जिनका परिणाम लामबन्दियों और युद्ध की घोषणाओं के रूप में परिलक्षित हुआ।

प्रथम विश्वयुद्ध का तात्कालिक कारण आस्ट्रिया और सर्बिया की प्रतिद्वन्द्विता और वैमनस्यता थी। सर्बिया में स्लाव जाति का बाहुल्य था। आस्ट्रिया के कुछ भागों, विशेष रूप में बोस्त्रिया और हर्जेगोविना में भी अधिकांश जनता ग्लाव जाति की थी। सर्बिया और इन देशों के कुछ स्लाव नेता इन प्रदेशों (बोस्त्रिया और हर्जेगोविना) को सर्बिया में मिलना चाहते थे परन्तु आस्ट्रिया एक बहुजातीय साम्राज्य था तथा उसके कर्णधारों को इस प्रकार के पृथकतावादी आंदोलनों में उसके विघटन की सम्भावना प्रतीत होती थी। वे प्रत्येक कीमत पर इस आंदोलन का दमन करने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे। स्लाव आतंकवादियों ने आस्ट्रिया को आतंकित करने के लिए 'काला हाथ' (Black Hand) का संगठन किया था। इस संगठन ने आस्ट्रिया के युवराज फ्रांसिस फर्डीनेण्ड की हत्या की योजना बनायी। 28 जून, 1914 को बोस्त्रिया की राजधानी सेराजेवो में एक बोस्त्रिया स्लाव छात्र (गेवरीली प्रिंसिप) ने फ्रांसिस फर्डीनेण्ड और उसकी पत्नी सोफिया को गोली मारकर हत्या कर दी। इस हत्याकांड ने आस्ट्रिया को क्रुद्ध कर दिया। आस्ट्रिया के विदेश मंत्री बर्खटोल्ड और प्रधान सेनापति कोन्टराड सर्बिया पर आक्रमण करने के लिए कटिबद्ध हो गये। 6 जुलाई, 1914 को आस्ट्रिया को जर्मनी से एक पत्र प्राप्त हुआ जिसमें उसने आस्ट्रिया की सहायता करने का आश्वासन दिया था। इस परिस्थिति में 20 जुलाई, 1914 को आस्ट्रिया ने सर्बिया को 48 घंटे की चेतावनी (Ultimatum) देते हुए उससे कुछ शर्तों को स्वीकार करने का आग्रह किया। प्रमुख शर्तें थीं–

(*i*) सर्बिया आस्ट्रिया विरोधी सम्पूर्ण प्रचार तत्काल बंद कर दे।

(*ii*) 'काला हाथ' संगठन समाप्त कर दिया जाये।

(*iii*) इस हत्याकांड में सदिग्ध सर्बियन अधिकारियों को गिरफ्तार करके उन पर मुकदमा चलाया जाये।

(*iv*) आस्ट्रिया के अधिकारियों को हत्या के अभियुक्तों के मुकदमे में सर्बिया में जाकर सहयोग करने की अनुमति दी जाये।

सर्बिया सम्भवत: इन शर्तों को स्वीकार कर लेता परन्तु इसी समय उसे रूस के द्वारा एक पत्र में यह आश्वासन प्राप्त हुआ कि, 'रूस किसी भी स्थिति में सर्बिया के विरुद्ध आस्ट्रिया के आक्रमण को देखता नहीं रहेगा'। इससे प्रोत्साहित होकर सर्बिया ने आस्ट्रिया की अन्तिम शर्त को, जो किसी स्वतंत्र राष्ट्र के लिए अपमानजनक प्रतीत होती थी, अस्वीकार कर दिया। अत: 28 जुलाई, 1914 को आस्ट्रिया ने सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

नोट

आस्ट्रिया के द्वारा युद्ध की घोषणा ने जर्मनी को अत्यन्त दुविधापूर्ण स्थिति में डाल दिया। वह युद्ध को स्थानीय बनाना चाहता था परन्तु अन्य महाशक्तियों के युद्ध में भाग लेने की अवस्था में जर्मनी की सफलता श्लीफेन योजना पर निर्भर करती थी। फ्रांस और रूस दोनों सर्बिया के मित्र थे। श्लीफेन योजना की मुख्य बात यह थी कि जर्मनी को फ्रांस और रूस दोनों से एक साथ युद्ध नहीं करने चाहिए अपितु एक-एक को पृथक्-पृथक् पराजित करने के लिए प्रयाण करना चाहिए। इसी समय 30 जुलाई, 1914 को रूस ने सामान्य लामबंदी का आदेश दे दिया। इस पर जर्मनी ने युद्ध की धमकी के साथ रूस को 12 घंटे के अंदर लामबंदी बंद करने की चेतावनी दी। रूस निर्धारित समय के अंदर कोई उत्तर न दे सका। इस पर जर्मनी ने 1 अगस्त, 1914 को सर्बिया और रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार रूस के द्वारा जल्दीबाजी में की गई लामबन्दी ने अन्ततः यूरोपीय युद्ध को अनिवार्य बना दिया। श्लीफेन योजना के अनुसार जर्मनी को रूस से भिड़ने से पहले बेल्जियम से होकर फ्रांस पर आक्रमण करके 6 सप्ताह के अंदर पेरिस पर अधिकार कर लेना था और उसके बाद रूस से मुकाबला करना था। अतः उसने 3 अगस्त, 1914 को फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

इंग्लैण्ड फ्रांस की सहायता करने के लिए गुप्त रूप से वचनबद्ध था परन्तु ब्रिटिश जनता एक बाल्कन समस्या को लेकर युद्ध करने के विरुद्ध थी, इसी समय अपनी सैनिक आवश्यकताओं के कारण जर्मनी ने बेल्जियम की तटस्थता का उल्लंघन करते हुए उस पर आक्रमण कर दिया। इंग्लैण्ड बेल्जियम की तटस्थता की रक्षा का आश्वासन दे चुका था। अतः बेल्जियम पर जर्मनी के आक्रमण ने ब्रिटिश जनता को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने के लिए विवश कर दिया और ब्रिटिश सरकार ने 4 अगस्त, 1914 को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस प्रकार यूरोप अन्ततः युद्धाग्नि में घिर गया।

4 अगस्त, 1914 में प्रारंभ हुआ यह महायुद्ध 11 नवम्बर, 1918 को समाप्त हुआ था। अपनी विशालता, विस्तार, प्रकृति, कार्यक्षेत्र और तकनीक में इस महान युद्ध ने मानव इतिहास के सभी ज्ञात युद्धों को पीछे छोड़ दिया। इस युद्ध में छः यूरोपीय देशों (जर्मनी, आस्ट्रिया एक ओर तथा सर्बिया, रूस, फ्रांस, इंग्लैण्ड दूसरी ओर) के अतिरिक्त शनैः-शनैः विश्व के अधिकांश देश इस युद्ध में सम्मिलित होते चले गये। इससे यह युद्ध एक यूरोपीय युद्ध मात्र न रहकर विश्व के इतिहास का प्रथम विश्वयुद्ध बन गया। यह युद्ध पुराने युद्धों की तरह केवल सैनिकों का युद्ध नहीं था। यह एक ऐसा युद्ध था जिसमें प्रतिपक्षों ने एक-दूसरे के सैन्यबल को ही नहीं अपितु अर्थव्यवस्था को भी क्षति पहुँचाने-की पूर्ण चेष्टा की थी। इस युद्ध में नये-नये साधनों, नई-नई तकनीकों और नये-नये शस्त्रों का प्रयोग किया गया था। इस युद्ध में धन और जन की अपार क्षति हुई थी। इस युद्ध में मृतक सैनिकों की संख्या 200 लाख, मृतक मान लिए गये लापता सैनिकों की संख्या 30 लाख, मृतक असैनिक 130 लाख, घायल 200 लाख, बंदी 30 लाख, युद्ध अनाथ 10 लाख, युद्ध विधवाएँ, 50 लाख, शरणार्थी 100 लाख थे।

इस युद्ध में नवम्बर, 1914 में तुर्की और अक्टूबर, 1915 में बल्गारिया केन्द्रीय शक्तियों के साथ युद्ध में सम्मिलित हुए थे। इटली मित्र-राष्ट्रों के पक्ष में मई, 1915 में युद्ध में सम्मिलित हुआ था। जर्मनी ने मित्र-राष्ट्रों विशेषतः इंग्लैण्ड के समुद्री व्यापार को नष्ट करने का प्रयत्न किया था। 1917 के प्रारंभ में दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुईं जिनका प्रथम विश्वयुद्ध की प्रगति और अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों पर गहरा प्रभाव पड़ा। इनमें से पहली घटना थी। 15 मार्च, 1917 की रूसी क्रान्ति। इस क्रान्ति के कारण रूसी सेनाएँ युद्ध में कोई प्रभावशाली भाग लेने में सर्वथा असमर्थ हो गयीं। रूस (साम्यवादी सरकार) ने जर्मनी के साथ युद्ध-विराम कर लिया और 14 मार्च, 1918 को ब्रेस्ट लिटोवस्क की संधि के द्वारा रूस अन्तिम रूप से युद्ध से पृथक् हो गया।

1917 की दूसरी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी, संयुक्त राज्य अमेरिका का 6 अप्रैल 1917 को मित्र-राष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित होना। 1914 में युद्ध छिड़ने के बाद अमेरिका ने पूर्ण तटस्थता की नीति अपनायी थी परन्तु जर्मनी द्वारा प्रारंभ पनडुब्बी युद्ध ने अमेरिका को क्रुद्ध कर दिया। जर्मनी ने चेतावनी दी थी कि इंग्लैण्ड के पास के समुद्र तट में वह तटस्थ राष्ट्रों के जहाजों को डुबो देगा, इससे अमेरिका में उत्तेजना छा गयी और उसे जर्मनी के

नोट

विरुद्ध युद्ध के लिए प्रेरित होना पड़ा। इसके अतिरिक्त अमेरिकन ऋण जो मित्र-राष्ट्रों को दिया गया था। उसकी अदायगी की समस्या थी। यदि मित्र-राष्ट्र पराजित हो जाते तो अमेरिकन ऋण डूब जाता, अत: अमेरिका ने मित्र-राष्ट्रों के पक्ष में युद्ध में सम्मिलित होने का प्रयत्न किया। अमेरिका का मित्र-राष्ट्रों के पक्ष में युद्ध में सम्मिलित होने का शक्ति संतुलन का सिद्धांत एक अन्य पहलू था। अमेरिका का युद्ध में सम्मिलित होना प्रथम विश्वयुद्ध की सबसे अधिक निर्णयात्मक घटना थी। इससे मित्र-राष्ट्रों का पक्ष धन, जन और सैनिक शक्ति सभी दृष्टियों से केन्द्रीय शक्तियों की तुलना में इतना अधिक शक्तिशाली हो गया कि उसकी विजय निश्चित थी। सितम्बर, 1918 बल्गारिया ने अक्टूबर, 1918 में तुर्की में आत्मसमर्पण कर दिया, 3 नवम्बर 1918 को आस्ट्रिया-हंगरी भी युद्ध से पृथक् हो गया, 4 नवम्बर, 1918 को जर्मनी की नौ-सेना ने विद्रोह कर दिया। जर्मनी में एक क्रान्ति हुई। जर्मन अंतरिम सरकार ने मित्र-राष्ट्रों से युद्ध-विराम की याचना की और फिर 11 नवम्बर, 1918 को ठीक 11 बजे समस्त रणक्षेत्रों में युद्ध विराम की घोषणा कर दी गयी। प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त हो गया।

27.1 पुनः युद्ध की लपटों में (Relapse into War)

मार्च 1937 में नेविल चेम्बरलेन (Neville Chamberlain) ने वित्त-मंत्री (Chancellor of Exchequer) की हैसियत से यह घोषणा की कि प्रतिरक्षा-व्यय की पूर्ति अब केवल कर लगाकर ही नहीं की जाएगी। उसने इस प्रयोजन के लिए चालीस करोड़ पौण्ड का ऋण लेने तथा पाँच वर्ष की अवधि में प्रतिरक्षा पर डेढ़ अरब पौण्ड व्यय करने का प्रस्ताव किया। प्रधानमंत्री बाल्डविन (Baldwin) ने इन प्रस्तावों का समर्थन यह कहकर किया था कि उनका उद्देश्य आक्रमण को रोकना है तथा कुछ वर्षों तक सीमित व्यय करने के बाद जीवन-स्तर या समाजोपयोगी सेवाओं (social services) पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना ही ब्रिटेन प्रतिरक्षा पर यह व्यय कर सकता है। बाल्डविन और विदेश-मंत्री ईडन दोनों ने ही यह स्वीकार करने से इन्कार किया कि ग्रेट ब्रिटेन ने राष्ट्र-संघ छोड़ दिया है। बाल्डविन ने यह आशा प्रकट की कि राष्ट्र-संघ की कार्रवाई के साथ ही साथ "प्रादेशिक समझौते" (regional pacts) भी किये जायेंगे जिनमें कुछ क्षेत्रों के लिए कुछ राष्ट्रों के विरुद्ध गारण्टी दी जाएगी। किन्तु ईडन को यह स्वीकार करना पड़ा कि इस दिशा में बहुत कम प्रगति हो सकी थी और उसने ब्रिटिश शस्त्रीकरण का उसे शान्ति की सर्वोत्तम गारण्टी बताकर समर्थन किया।

उस समय युद्ध का खतरा अनिश्चित था, जर्मनी की पूरी शक्ति फ्रांसीसी "मेजिनी पंक्ति" (French Maginot Line) के सामने प्रतिरक्षा-पंक्ति के निर्माण में लगी हुई थी। इस "जिगफ्रीड पंक्ति" (Siegfried Line) के पूर्ण हो जाने पर जर्मनी एकीकृत शक्ति से पश्चिमी सीमान्त की रक्षा कर सकता था और पूर्व की ओर अपने प्रयत्न केन्द्रित कर सकता था। किन्तु सारा यूरोप, विशेषकर फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन, युद्ध की इस नई रंगभूमि में कब क्या घटित हो जाए, इसके विषय में अनिश्चित थे।

नोट्स इंग्लैण्ड, फ्रांस की सहायता करने के लिए गुप्त रूप से वचनबद्ध था।

27.2 स्पेन का गृह-युद्ध (Spanish Civil War)

1936 के उत्तरार्द्ध की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना एक ऐसे देश में घटी जिसका अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अनेक वर्षों से नगण्य भाग रहा था। स्पेन में 1923 में जो तानाशाही स्थापित हुई थी, वह 1930 में उलट दी गई। अगले वर्ष वहाँ के शासक तेरहवें अलफोन्जो (Alfonso XIII) ने राजगद्दी त्याग दी और एक प्रजातांत्रिक गणतंत्र की स्थापना की

नोट

गई। परन्तु स्पेन में प्रजातंत्रीय परम्परा कभी सुदृढ़ नहीं रही है; 1931 से 1936 तक यह प्रजातंत्र दक्षिणपंथी राजवादियों (royalists) और अन्य प्रतिक्रियावादियों (reactionaries) तथा वामपंथी अराजकतावादियों एवं कम्युनिस्टों के बीच कुछ अनिश्चित संतुलन (precarious balance) पर टिका रहा। राज्य की अर्थव्यवस्था अव्यवस्थित हो गई तथा सार्वजनिक व्यवस्था के लिए प्राय: खतरा उत्पन्न होता रहता था। जुलाई 1936 में स्पेनिश मोरक्को (Morcocco) में स्थित सेना के सेनापति फ्रांको (General Franco), सैनिक विद्रोह की घोषणा करके, एक सेना के साथ, जिसमें मुख्यकर मूरिश (Moorish) सैनिक थे, स्पेन में घुस आया। अधिक विरोध के बिना ही उसने स्पेन के बिल्कुल दक्षिणी भाग पर अधिकार कर लिया और धीरे-धीरे सारा पश्चिमी स्पेन विजय कर लिया। नवम्बर के मध्य तक विद्रोही मेड्रिड के उपनगरों (suburbs of Madrid) तक पहुँच गए; स्पेनिश सरकार हटकर वेलेन्शिया (Valencia) चली गई तथा राजधानी का पतन सन्निकट प्रतीक होने लगा। इस समय से सरकारी सेना का मुकाबला कड़ा होने लगा और वर्ष के अन्त तक तीन सम्भव परिणाम–वामपंथियों की विजय, दक्षिणपंथियों की विजय या उनमें गतिरोध लगभग समान रूप से सम्भव प्रतीत होने लगे।

वैसे अन्य परिस्थितियों में स्पेन का गृह-युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय घटना नहीं बना होता। जिन कारणों से वह अन्तर्राष्ट्रीय घटना बन सका, वे दो प्रकार के थे। एक तो इटली ने जो हाल में अबीसीनिया में विजय प्राप्त कर चुका था, जिससे भूमध्य सागर का सामरिक महत्त्व (strategic importance) सुस्पष्ट हो गया था, पश्चिमी भूमध्य सागर में अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने के अवसर का स्वागत किया। दूसरे, प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से यह विचार जोर पकड़ रहा था कि किसी देशविशेष का आंतरिक संगठन जिस राजनीतिक सिद्धांत पर आधारित हो, उस देश से अन्य देशों में उस सिद्धांत की विजय के लिए प्रोत्साहन तथा सहायता अपेक्षित है। 1927 से पहले सोवियत संघ ने यह नीति अपनाई थी और आगे चलकर अन्य देशों ने भी उसका अनुसरण किया था। जर्मनी ने 1933-34 में आस्ट्रियन नात्सियों को धन और शस्त्रास्त्रों की सहायता दी थी। जर्मनी से भी अधिक सफलतापूर्वक इटली ने आस्ट्रिया में फासिस्ट शासन की स्थापना पर जोर दिया था। 1936 में इटली और जर्मनी ने स्पेन के गृह-युद्ध को फासिज्म और कम्युनिज्म के बीच संघर्ष माना–इस धारणा का कोई विश्वासयोग्य आधार नहीं था और विद्रोहियों की सहायता करना उचित समझा। इस प्रकार के लगभग सभी मामलों में हस्तक्षेप करने वाले देश के राष्ट्रीय हितों और किसी राजनीतिक सिद्धांत के कल्पित हितों में भेद कर पाना कठिन प्रतीत होता है।

क्या आप जानते हैं प्रथम विश्वयुद्ध का तात्कालिक कारण आस्ट्रिया और सर्बिया की प्रतिद्वंद्विता और वैमनस्यता थी।

इसमें संदेह की गुंजाइश कम ही है कि इटली, किसी-न-किसी रूप में, सेनापति फ्रांको द्वारा किए गए विद्रोह में गुप्त सहकारी (privy) था, क्योंकि फ्रेंकों की सेना को मोरक्को से लाने के लिए इटालियन वायुयानों की सहायता प्रारंभ से ही प्राप्त थी। कुछ ही सप्ताहों में स्पेनिश गृह-युद्ध के कारण सारे यूरोप के ही दो शिविरों में बँट जाने की आशंका होने लगी। इटली, जर्मनी और पुर्तगाल खुलेआम विद्रोहियों के प्रति सहानुभूति जताते थे जबकि सोवियत संघ की स्पेन सरकार के साथ सहानुभूति थी। किसी भी कीमत पर तटस्थ बने रहने के लिए उत्सुक ब्रिटिश सरकार ने ग्रेट ब्रिटेन से स्पेन को युद्ध-सामग्री भेजे जाने पर 15 अगस्त को रोक लगा दी और फ्रांस ने भी ब्रिटिश का अनुकरण किया। तत्पश्चात् इन दोनों देशों ने यूरोप के सभी देशों से इस आशय का एक समझौता करने का अनुरोध किया कि वे किसी भी पक्ष को युद्ध-सामग्री नहीं भेजेंगे तथा इस समझौते पर किस प्रकार अमल किया जा रहा है, इसकी देखरेख करने के लिए लन्दन में एक अहस्तक्षेप-समिति (non-intervention committee) गठित की जाएगी। कुछ विलम्ब के पश्चात् जो मुख्यत: पुर्तगाल की आनाकानी के कारण हुई, यह समझौता हो गया। इस समझौते के कारण कुछ सप्ताह तक स्पेन को शस्त्रास्त्र का भेजा जाना रुक गया प्रतीत होता था। किन्तु उसके कुछ

नोट

समय बाद ही स्पेनिश और सोवियत सरकारें समझौते का उल्लंघन करने के लिए इटली, जर्मनी तथा पुर्तगाल की निन्दा करने लग गई। इन आरोपों का उत्तर सोवियत सरकार पर आरोप लगाकर दिया गया जो शीघ्र ही उतने ही सत्य हो गए। अक्टूबर के बाद से इटली और जर्मनी, न्यूनाधिक प्रकट रूप से विद्रोहियों को शस्त्रास्त्र भेज रहे थे तथा सोवियत संघ स्पेन की सरकार को; और जब नवम्बर में मेड्रिड का पतन निकट दिखाई देता था, इटली और जर्मनी ने सेनापति फ्रेंको द्वारा स्थापित सरकार को सरकारी तौर पर मान्यता दे दी। इटालियन और जर्मन सैनिक काफी संख्या में विद्रोहियों के साथ मिलकर लड़ रहे थे। इसी प्रकार स्पेनिश सरकार की ओर से रूसी सैनिक टुकड़ियाँ तथा फासिस्ट-विरोधी इटलीवासी और नात्सी-विरोधी जर्मन लोग तथा अन्य देशों के स्वयंसेवक सैनिक लड़ रहे थे। स्पेनिश गृह-युद्ध ने स्पेन की भूमि पर लड़े जाने वाले यूरोपीय गृह-युद्ध के कई लक्षण धारण कर लिये थे।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. स्लाव आतंकवादियों ने आस्ट्रिया को आतंकित करने के लिए ..... का संगठन किया था।
2. उन्नीसवीं शताब्दी की एक बड़ी विशेषता ..... का प्रसार थी।
3. उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी का साम्राज्यवाद ..... का शिशु था।

27.3 राष्ट्रों की प्रतिद्वन्द्वात्मक गुटबंदी (Rival Grouping of the Powers)

1936 के अन्तिम महीनों की दूसरी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना जर्मनी और जापान के बीच एक समझौता थी। राजनीतिक दृष्टि से यह समझौता फ्रांस-सोवियत समझौते का ही परिणाम और प्रतिरूप (counterpart) था। इसमें आश्चर्य की बात केवल इतनी ही है कि यह समझौता और भी जल्दी नहीं हो सका था। यह उस समय की विशेषता थी कि उसका स्वरूप संश्रय का न होकर कम्युनिज्म को रोकने के लिए परस्पर सहायता-संबंधी समझौते का था।

इस प्रकार 1936 की समाप्ति तक संसार का काफी भाग दो गुटों में बँट चुका था; एक का नेतृत्व जर्मनी, इटली और जापान करते थे तो दूसरे का फ्रांस तथा सोवियत संघ। पहले गुट को कभी-कभी फासिस्ट शक्तियाँ कहा जाता था यद्यपि जापान के लिए इस शब्द का प्रयोग संदिग्ध था। दूसरे गुट को इतनी सरलता से कोई नाम नहीं दिया जा सकता क्योंकि सोवियत संघ ने 1936 में जो संविधान स्वीकार किया था, उसमें यद्यपि प्रजातंत्र के कुछ बाह्य रूपों को स्थान दिया था, तथापि पाश्चात्य प्रजातंत्र के लिए वह उतनी ही विदेशी चीज थी जितनी कम्युनिज्म फ्रांस के लिए। देशों का वर्गीकरण उनके द्वारा अंगीकृत राजनीतिक सिद्धांतों के अनुसार करने का प्रचलित अभ्यास भ्रामक हो गया। इन प्रतिद्वन्द्वात्मक गुटबन्दियों का कारण किसी सामान्य राजनीतिक सिद्धांत में विश्वास नहीं था बल्कि यह तथ्य था कि प्रथम गुट, विभिन्न कारणों से, 1919 में किए गए विश्व की प्रादेशिक व्यवस्था से असंतुष्ट था जबकि दूसरा गुट उसे बनाये रखना चाहता था। मलभूत मतभेद मुख्यत: उन लोगों में था जो विश्व की वस्तुओं के तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय वितरण (international distribution) से संतुष्ट थे और जो उससे असंतुष्ट थे।

कुछ समय तक ब्रिटिश सरकार ने किसी भी गुट में शामिल होने से इन्कार कर दिया और सतर्कतापूर्ण तटस्थता का रुख तब तक अपनाये रखा, जब तक अन्य राष्ट्रों की अशान्तिकारक कार्रवाई के कारण उसे यह रुख त्याग देने के लिए विवश नहीं हो जाना पड़ा। स्पेनिश मोरक्को में जर्मन सेनाएँ जमा होने की अफवाह से 1937 के प्रारंभ में चिन्ता उत्पन्न हो गई। भय इस बात का था कि सेनापति फ्रेंको इस क्षेत्र को सहायता के बदले में सहायता करने वाले को दे सकता था। फ्रांसीसी सरकार ने 1922 के समझौते का सार्वजनिक रूप से स्मरण कराया जिसके अनुसार रिफ-युद्ध (Riff War) में फ्रांसीसी सहायता प्राप्त करने के बाद स्पेन ने सामरिक (strategic) महत्त्व के इस क्षेत्र का स्वत्वान्तरण (alienation) नहीं करने का वचन दिया था। जो भी हो, जर्मनी ने ऐसी किसी महत्त्वाकांक्षा से इन्कार

नोट

किया। सेनापति फ्रेंको ने भी यह घोषणा की कि वह स्पेनिश राज्य-क्षेत्र को अखंड बनाये रखने के लिए कृतसंकल्प है। जैसे-जैसे समय बीतता गया, वैसे-वैसे जर्मनी ने स्पेन में मुख्य कार्य इटली के लिए छोड़ दिया। जर्मनी की सहायता मुख्यत: सामग्री और टैकनीशियनों तक ही सीमित थी जबकि इटली की सेनाएँ पृथक् और स्पष्ट सेना के रूप में लड़ती थी और उनकी सफलताओं का रोम में विजय के रूप में स्वागत किया जाता था। जहाँ तक स्पेनिश सरकार का प्रश्न है, उसकी ओर से लड़ने वाली अन्तर्राष्ट्रीय ब्रिगेड (International Brigade) को स्पष्ट ही किसी देश विशेष का नहीं कहा जा सकता था; किन्तु सामग्री, जिसका अधिकांश भाग सम्भवत: रूस से आता था, अधिकांशत: फ्रांस में से होकर पहुँचती थी।

यूरोप की सामान्य स्थिति पर फ्रांस के एक राजनीतिक संकट का, जो जून 1936 में लियो ब्लुम (Leon Blum) के नेतृत्व में लोक-मोर्चे (Front Populaire) (रेडिकल, सोशलिस्ट और कम्युनिस्टों के गुट) की सरकार बन जाने के कारण और भी गम्भीर हो गया था, और भी गहरा प्रभाव पड़ा था। इस सरकार ने श्रमिकों और मालिकों के संबंधों में परिवर्तन करते हुए तेजी से ऐसी विधियाँ (laws) बनाईं जो धनिक-वर्गों (wealthier classes) को क्रान्तिकारी मालूम होती थीं। इन लोगों में सम्पन्न और सुरक्षित यहूदी व्यक्ति लियो ब्लुम मॉस्को का दलाल माना जाता था। स्पेन में विजय उस पक्ष की हुई जिसका तथाकथित फासिस्ट राष्ट्रों ने पक्ष लिया था। इसका मुख्य कारण यह था कि जर्मनी और इटली ने 'स्पेन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न हो, यह देखने के लिए, वचनबद्ध अन्तर्राष्ट्रीय समिति के सदस्य होते हुए भी' स्पेनिश सरकार का पासा पलट देने के लिए, आवश्यक सीमा तक सामग्री और कुमक द्वारा, उसकी सहायता की थी। किन्तु ब्लुम, स्पेनिश प्रश्न पर उसकी भावनाएँ कुछ भी रही हों, अन्य सभी फ्रांसीसियों की भांति यह सोचता था कि फ्रांस का मुख्य हित ग्रेट ब्रिटेन के साथ कदम मिलाये रखने में है। इधर ब्रिटिश सरकार ने यदि अ-हस्तक्षेप की वास्तविकता बनाये रखने का नहीं, तो कम से कम हस्तक्षेप को व्यापक यूरोपीय युद्ध का रूप धारणा करने से बचाने का तो हर प्रयत्न किया ही। तनाव 1939 के वसन्त तक जारी रहा जबकि गणतंत्र सरकार के गढ़ केटेलोनिया (Catalonia) के पतन के बाद मेड्रिड पर अन्तत: सेनापति फ्रेंको की सेना ने अधिकार कर लिया। इसके बाद फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन दोनों ही की सरकारों ने फ्रेंकों सरकार को विधिवत् मान्यता दे दी।

किन्तु विश्व-स्थिति वैसी ही संकटपूर्ण बनी रही। जिस समय स्पेनिश युद्ध पूरे वेग से चल रहा था, उस समय जापान ने चीन में अपनी कार्रवाई प्रारंभ की जो वस्तुत: आक्रमणात्मक अभियान ही था क्योंकि युद्ध की कोई घोषणा नहीं की गई थी। नवम्बर 1937 में इटली कॉमिण्टर्न-विरोधी समझौते (Anti-Comintern Pact) में शामिल हो गया जो जर्मनी और जापान के बीच किया गया था। इसके परिणामस्वरूप इटली ने 11 दिसम्बर को राष्ट्र-संघ से हट जाने की घोषणा की। म्युनिख में जब स्वयं मुसोलिनी ने हिटलर से समारोहपूर्वक सरकारी भेंट की थी, तब जर्मनी के साथ इटली के सुदृढ़ संबंधों की पुष्टि हो चुकी थी। उसके बदले में 1938 में, रोम में हिटलर का बड़े समारोहपूर्वक स्वागत किया गया। ऐसी कोई भी बात नहीं छूटी जो बर्लिन-रोम धुरी (Berlin-Rome axis) की, कम से कम सिद्धांत रूप में, जिससे जापान भी सम्बद्ध थी, शक्ति की अभिपुष्टि करने के लिए आवश्यक हो। ऐसा प्रतीत होने लगा मानो असंतुष्ट राष्ट्रों की हानि-पूर्ति के लिए बिल्कुल निकट भविष्य में ही कोई कार्रवाई की जाएगी। चेकोस्लोवाकिया के जर्मन तत्व अपने असंतोष की घोषणा पहले ही कर चुके थे और जर्मनी में शामिल होने की इच्छा भी कर चुके थे। सूडेटन जर्मनों का नेता हेनलीन (Henlein) एक यूरोपीय महत्त्व का व्यक्ति बन गया तथा प्रचार-कार्य के लिए ब्रिटेन गया।

कुल मिलाकर 1937 का वर्ष अप्रकट घटनाओं की तैयारी का वर्ष ही था। भूमध्य सागर (Mediterranean sea) में युद्ध का खतरा सबसे अधिक तात्कालिक प्रतीत होता था, जहाँ इटली वर्तमान शक्ति-विभाजन से बहुत अधिक असंतोष प्रकट किया करता था। उसने यह दावा पेश किया कि अबीसीनिया में उसे जो नई प्राप्ति हुई है, उसके कारण वह स्वेज नहर (Suez Canal) के, जिसमें होकर अबीसीनिया को मार्ग जाता है, नियंत्रण में भाग प्राप्त करने का

नोट

अधिकारी हो गया है और यह भी अनुरोध किया कि ट्यूनिस (Tunis) की जनसंख्या में इटालियन लोगों की प्रमुखता से यह स्पष्ट है कि यह उपनिवेश वास्तव में इटली के अधिकार में होना चाहिए। इटली द्वारा ग्रेट ब्रिटेन के विरुद्ध भी, जिसके विराट पुनःशस्त्रीकरण को जर्मनी और इटली दोनों ही के प्रति सक्रिय प्रतिरोध (positive resistance) की नई नीति का सूचक माना जाता था, प्रचण्ड प्रचार होने लगा। ब्रिटिश विदेश-मंत्री ईडन ने जेनेवा में 16 जनवरी 1938 को राष्ट्र-संघ-परिषद् की बैठक में ब्रिटेन की सैनिक तैयारियों को अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा में वृद्धि करने के लिए सहयोग-संबंधी उन सिद्धांतों का सहायक बताया जिन पर राष्ट्र-संघ आधारित था। किन्तु ब्रिटिश संसद (Parliament) की बहस से मालूम होता था कि ब्रिटिश मंत्रिमंडल से मतभेद था और 20 फरवरी को ईडन के त्यागपत्र की सूचना प्रसारित कर दी गई। जर्मन और इटालियन प्रचार-साधन प्रायः ही ईडन को अपने वैध दावों की पूर्ति में बाधक बताकर बार-बार उसकी निन्दा करते रहते थे। ब्रिटिश लोकसभा में अपने त्यागपत्र पर प्रकाश डालते हुए ईडन ने यह स्पष्ट किया कि जब तक इटली शत्रुतापूर्ण प्रचार (hostile propaganda) बंद करने और स्पेन से अपनी सेनाएँ हटा लेने-संबंधी अपने वचन पूरे नहीं कर देता तब तक वह इटली से किसी भी प्रकार की वार्त्ता चलाने का विरोध करता रहेगा। प्रधानमंत्री के रूप में बाल्डविन के उत्तराधिकारी नेविल चेम्बरलेन (Neville Chamberlain) ने ईडन के उत्तराधिकारी लॉर्ड हेलिफेक्स (Lord Halifax) के सहयोगपूर्वक इटली से वार्त्ता चलाने के अपने विचार की घोषणा की ओर 22 फरवरी को चेम्बरलेन ने यह मत प्रकट किया कि छोटे-छोटे देशों में इस विश्वास को बढ़ावा देना गलत होगा कि आक्रमण से उनकी रक्षा राष्ट्र-संघ करेगा। चूँकि लगभग दो वर्ष पूर्व बाल्डविन ने राष्ट्र-संघ को ब्रिटिश नीति का अन्तिम आश्रय (sheet-anchor) घोषित किया था, अतः यह स्पष्ट था कि अब नीति बदल गई थी।

27.4 जर्मनी द्वारा आक्रमण का प्रारंभ (Germany Begins Aggression)

इसी बीच अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा को एक नया खतरा उपस्थित हो गया। स्ट्रेसा (Stresa) में 1935 में हस्ताक्षरित एक समझौते के अधीन ब्रिटेन ने फ्रांस और इटली के साथ आस्ट्रिया की स्वतंत्रता और अखंडता में अपना हित घोषित किया था। उस स्वतंत्रता को अन्य राज्यों पर नात्सी जर्मनी ने जो आक्रमण किए उनमें से प्रथम आक्रमण के कारण इस समय गंभीर खतरा आ उपस्थित हुआ था।

1938 के प्रारंभ में हिटलर ने जर्मनी की सभी सशस्त्र सेनाओं की सर्वोच्च कमान अपने हाथों में ले ली थी। इस प्रकार जो अधिकारी उसकी सामान्य कार्यप्रणाली का विरोध करते थे, उन पर वह अपनी इच्छा लाद सकता था। रिबेनट्रॉप (Ribbentrop), जो अभी तक ग्रेट ब्रिटेन में राजदूत था, न्यूराथ (Neurath) के स्थान पर विदेश-मंत्री बना। इसके बाद से आक्रमणात्मक कार्रवाई प्रारंभ हुई। आस्ट्रियन नात्सियों द्वारा आयोजित अशान्तिपूर्ण प्रदर्शनों के बाद आस्ट्रिया के प्रधानमंत्री शुशनिग (Suhuschnigg) को हिटलर ने भेंट के लिए बेर्खटेसगाडेन (Berchtesgaden) बुलाया जिसमें शुशनिग को एक प्रकार की अन्तिम चेतावनी स्वीकार करनी पड़ी जिसके अनुसार उसे अपनी सरकार में नात्सी प्रतिनिधियों को लेना पड़ा। किन्तु इतने से ही उसकी रक्षा नहीं हुई। 12 मार्च को जर्मन सेनाओं ने विएना में प्रविष्ट होकर उस पर अधिकार कर लिया। इस सेना की एक टुकड़ी तुरन्त ब्रेनर दर्रे (Brenner Pass) पर पहुँची जहाँ इटालियन चौकियों के सैनिकों तथा उसने परस्पर अभिवादन किया। 1934 से इटली के रुख में भारी परिवर्तन हो चुका था। आस्ट्रिया में इस आक्रमण का कोई विरोध नहीं हुआ। सम्भवतः अधिकांश आबादी को आस्ट्रिया का जर्मनी में शामिल कर लिया जाना अच्छा लगा। किन्तु यह स्पष्ट था कि इसके बाद आक्रमण एक अन्य देश में हो सकता था जहाँ उसका तीव्र विरोध होगा। इसका चेकोस्लोवाकिया पर यह परिणाम हुआ कि अब जर्मनी की शक्ति का सामना करने के लिए उसका सीमान्त बहुत बढ़ गया। इस सीमान्त के कुछ भाग की तो, जो कारपेथियन पर्वत के साथ-साथ जर्मनी से लगा हुआ था, किलेबंदी हो रही थी। किन्तु आस्ट्रिया के सामने का शेष भाग खुला हुआ था। उसकी कुल जनसंख्या डेढ़ करोड़ से कम थी। उसमें से लगभग पैंतीस लाख सूडेटन जर्मन थे

नोट

जो सीमान्त के पास सुगठित समूहों के रूप में बसे हुए थे। डेन्यूब की ओर दक्षिण में करीब-करीब दस लाख मेग्यार लोग (Magyars) थे, जो हंगरी से पुन: संयुक्त होने की माँग कर रहे थे। पूर्व में पोलैण्ड टेशेन (Teschen) नामक महत्त्वपूर्ण खनिज प्रदेश का दावा करता था जो मित्र-राष्ट्रों द्वारा लादे गए एक समझौते के अनुसार 1920 में चेक लोगों को मिला था।

इन परिस्थितियों में जर्मनी ने चेक सीमा पर बड़े पैमाने पर युद्धाभिनय (manoeuvers) करने की तैयारियाँ कीं। चेक सरकार ने अपनी कुछ रक्षित सेना (reserves) बुला ली और इसी बीच सूडेटनों से कोई समझौता कर लेने के लिए बड़ी तत्परतापूर्वक प्रयत्न किए। किन्तु चेक सरकार न केवल आंतरिक व्यवस्था बनाये रखने में समर्थ थी अपितु आक्रमण का शक्ति से मुकाबला करने के लए भी तैयार थी। फ्रांस और सोवियत संघ भी उस पर आक्रमण होने की स्थिति में उसकी सहायता करने के लिए वचनबद्ध थे। इस संबंध में कुछ करने का ब्रिटेन का कोई सीधा उत्तरदायित्व नहीं था। किन्तु 24 मार्च को चेम्बरलेन ब्रिटिश लोकसभा में कह चुका था कि यदि इस कारण ब्रिटेन के मित्र फ्रांस को युद्ध में फँसना पड़ा, तो कठोर तथ्यों के सामने औपचारिक घोषणाएँ (formal pronouncements) निर्बल सिद्ध होंगी। इस घोषणा का यह अर्थ लगाया गया कि फ्रांस ने चेकोस्लोवाकिया का साथ दिया तो ब्रिटेन भी इसका साथ अवश्य देगा।

फिर भी, अभी यूरोपीय युद्ध का भय स्पेन में चल रहे युद्ध से ही मुख्यत: संबंधित था, जहाँ गणतंत्रीय सरकार (Republican Government) के अधिकार के बन्दरगाहों में जो ब्रिटिश जहाज माल पहुँचाते थे उन पर विद्रोहियों के वायुयानों द्वारा, जिनके चालक जर्मन या इटालियन बताये जाते थे, बार-बार बमवर्षा की जाती थी; किन्तु दोनों ही पक्षों में विदेशी सेना हटा लेने की एक ब्रिटिश योजना पर चर्चा चल रही थी। मध्य-यूरोप में विपत्ति की बढ़ती हुई आशंका को कम करने के लिए लॉर्ड रन्सिमेन (Lord Runciman) को समझौता कराने वाले एवं सलाहकार के रूप में कार्य करने के लिए प्राग (Prague) (कहने को चेक सरकार के अनुरोध पर) भेजा गया। किन्तु जर्मन सरकार के परामर्श से प्रस्तुत किए गए सूडेटन दावे अधिकाधिक आग्रहपूर्ण होते गए और यद्यपि उन्हें और अधिक रियायतें (concessions) देने का प्रस्ताव किया गया था, तो भी 12 सितम्बर को हिटलर (Hitler) ने न्यूरेम्बर्ग (Nuremberg) में एक विशाल सभा में सूडेटनों को जर्मनी में पुन: शामिल होने की अपनी माँग पर जोर देने की सलाह दी तथा उन्हें जर्मन सेना की सहायता का वचन भी दिया। चूँकि फ्रांस और सोवियत संघ चेक लोगों की सहायता करने के लिए वचनबद्ध थे, इसलिए इससे युद्ध की आशंका उत्पन्न हो गई। अब ब्रिटेन की ओर से चेम्बरलेन ने प्रयत्न करना प्रारम्भ किया। 14 सितम्बर को उसने शान्तिपूर्ण समाधान के लिए स्वयं जर्मनी जाने का प्रस्ताव किया और 15 तारीख की वह वायुयान द्वारा म्युनिख पहुँचा जहाँ से हिटलर से भेंट करने के लिए उसे बेर्खटेसगाडेन ले जाया गया। वहाँ से वह दूसरे ही दिन वायुयान से लन्दन लौट आया। 18 सितम्बर को फ्रांस के प्रधानमंत्री दलादिये (Daladier) और विदेश-मंत्री बॉनेत (Bonnet) भी उसके साथ शामिल हो गए। इसी समय राष्ट्र-संघ-सभा का अधिवेशन चल रहा था और लिट्विनोव ने चेक सरकार और फ्रांस को दिया गया वचन–कि यदि फ्रांस ने चेकोस्लोवकिया की ओर से हस्तक्षेप किया तो चेक लोगों की सहायता करने के लिए सोवियत सरकार अपने सभी साधनों का उपयोग करेगी–सार्वजनिक रूप से दोहराया।

चेम्बरलेन और दलादिये ने मिलकर संयुक्त रूप में चेकोस्लोवाक सरकार के सामने रखने के लिए योजना बनाई थी जिनके अनुसार सूडेटन जर्मन आबादीवाला क्षेत्र जर्मनी को सौंप दिया जाना था। आगे चलकर उसको चेम्बरलेन ने निर्मम किन्तु आवश्यक शल्यक्रिया (surgical operation) बताया था। चेकोस्लोवाक सरकार ने घोषणा की कि फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन के दूनिर्वार दबाव के कारण उसे इस योजना को विवश हो स्वीकार करना पड़ रहा है। चेम्बरलेन राइन पर स्थित गोडेसबर्ग (Godesberg) में हिटलर से दूसरी भेंट के लिए पुन: जर्मनी पहुँचा। इस अवसर पर नात्सी नेता (Fuhrer) ने इतनी चकित करने वाली माँग प्रस्तुत की कि चेम्बरलेन ने उनका एक ज्ञापन (memorandum) प्राग भेज देने के अतिरिक्त और कुछ करने से इन्कार कर दिया। यह निश्चय किया गया कि यदि हिटलर ने चेक प्रदेश में तत्काल कूच कर जाने की धमकी को कार्यान्वित किया, तो फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन हिटलर का

नोट

मुकाबला करने में चेक लोगों की सहायता करेंगे। ब्रिटिश नौसेना को तैयार कर लिया गया और हवाई हमले के विरुद्ध लंदन में जल्दी-जल्दी कदम भी उठाये गए। किन्तु फिर भी चेम्बरलेन ने यह कहते हुए कि जो रियायतें पहले दी जा चुकी हैं उनको देखते हुए ऐसे कोई मतभेद शेष नहीं बचे हैं जिनके कारण युद्ध सम्भव हो सके, पुन: एक सम्मेलन आयोजित करने के लिए मुसोलिनी से अपील की और इस अपील में चेम्बरलेन को सफलता भी मिली। 29 सितम्बर को हिटलर, मुसोलिनी, चेम्बरलेन और दलादिये ने एक सम्मेलन में वे शर्तें तय कीं जो चेक लोगों पर लादी जानी थीं। इन चर्चाओं के समय चेक लोगों या सोवियत संघ का कोई प्रतिनिधि उपस्थित नहीं था। चेक सरकार ने इन शर्तों को मान लिया और अपने आपको क्रुद्ध जनता का सामना कर पाने में असमर्थ पाकर त्यागपत्र दे दिया। चेक सेना (Czech Legion) के एक विख्यात नेता सेनापति सिरोवी (Syrovy) ने शासन का कार्यभार सम्भाला। कुछ दिन बाद बीनिस (Benes) ने भी, जो मसारिक (Masaryk) की मृत्यु के बाद से ही राष्ट्रपति के पद पर था, त्यागपत्र दे दिया और देश त्याग कर दिया। कुछ समय तक तो ऐसा प्रतीत होने लगा मानो चेम्बरलेन की विजय हुई है। वापस लौटने पर उसका बड़े उत्साह से स्वागत किया गया और उसने हिटलर तथा स्वयं उसके द्वारा हस्ताक्षरित वह दस्तावेज अभिमानपूर्वक बताया जिसमें यह घोषणा की गई थी कि दोनों ही के देश मतभेद के सभी सम्भव कारणों को मिटा देने के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं तथा यूरोप की शान्ति में योगदान करना चाहते हैं। दलादिये का भी, यद्यपि उसके पास इस प्रकार का कोई दस्तावेज नहीं था, फ्रांस में उसी प्रकार उत्साहपूर्ण स्वागत किया गया।

चेकोस्लोवाक राज्य का बहुत अधिक संकुचन हो चुका था। पूर्व में पोलैण्ड ने सशस्त्र कार्रवाई की धमकी देकर टेशेन क्षेत्र और उसकी महत्त्वपूर्ण कोयला-खदानों की माँग की जो पूरी कर दी गई। दक्षिण में हंगरी ने एक बड़े क्षेत्र के लिए दावा किया जिसमें दस लाख के लगभग मेग्यार (Magyars) लोग रहते। यह माँग भी विवशतापूर्वक पूरी कर दी गई। स्लोवाकिया ने, जो चेकोस्लोवाक राज्य का सदा ही अशान्त और असंतुष्ट अंग रहा था, स्वायत्त-शासन की माँग की। अन्य प्रदेशों की तुलना में वह एक पिछड़ा हुआ प्रदेश था और प्रशासन-कार्य मुख्यत: चेक अधिकारियों के ही हाथों में था। इसके परिणामस्वरूप ईर्ष्या बढ़ी जिसे जर्मन दलालों ने बड़ी तत्परता से भड़काया। स्लोवाकिया चेक प्रदेशों से, जो अब अत्यधिक अस्त-व्यस्त हो चुके थे, अधिकाधिक पृथक् होता गया। म्यूनिख में लादी गई शर्तों के अनुसार एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग द्वारा, जिसमें जर्मनी के साथ ही साथ ब्रिटेन, फ्रांस, इटली और चेकोस्लोवाकिया के प्रतिनिधि होने थे, चेक क्षेत्र से सूडेटन जिलों को पृथक् करने वाली रेखा निश्चित की जानी थी। किन्तु वास्तव में हुआ यह कि जर्मन सेना आगे बढ़ती गई और उसने जिस क्षेत्र पर मन आया, उसी पर अधिकार कर लिया, जिसमें अनेक ऐसे शहर भी शामिल थे जिनकी आबादी मुख्यत: चेक थी। चेक राज्य के लिए कोई कामचलाऊ प्रशासन-तंत्र स्थापित करने का भी कोई प्रयत्न नहीं किया गया। इसी बीच पोलैण्ड और हंगरी ने अपने दावों की पूर्ति सैनिक अधिकार द्वारा करने का प्रयत्न किया जिसका चेक सेना ने मुकाबला किया। विशेषत: लम्बे और सँकरे चेकोस्लोवाक क्षेत्र के एकदम पूर्वी भाग में स्थित रूथेनिया (Ruthenia) के पिछड़े प्रांत के विषय में विवाद था। हंगरी उसे इसलिए चाहता था कि उसके मिल जाने से पोलैण्ड के साथ उसका सीमान्त मिल जाता। किन्तु जर्मनी की यह इच्छा थी कि रूमानिया की सीमा तक फैला हुआ यह क्षेत्र नाममात्र के लिए स्लोवाकिया के अधीन रहे जो उत्तरोत्तर जर्मनी के नियंत्रण में आता जा रहा था। ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने यह अनुभव कर कि उनकी एक बड़ी राजनयिक पराजय हुई है, अपने पुन: शस्त्रीकरण का कार्य तेजी से आरंभ किया। उधर चेक सरकार के एक के बाद एक प्रमुख बनने वाले किंकर्त्तव्यविमूढ़ राजमर्मज्ञ सभी अवसरों पर जर्मन नीति के अनुरूप बनने की इच्छा व्यक्त कर रहे थे।

किन्तु समर्पण ही पर्याप्त नहीं था। हिटलर ने लगभग ढाई लाख जर्मनों की सुरक्षा के बारे में चिन्ता प्रकट की जो अभी भी चेक शासन में रह रहे थे। 15 मार्च, 1939 को उसने राज्य के राष्ट्रपति बीनिस के उत्तराधिकारी हाचा (Hacha) को बुलाकर और प्रचंड सैनिक कार्रवाई की धमकी देकर उसे बोहेमिया और मोरेविया के पुराने प्रांतों को जर्मनी के संरक्षण में देने तथा उन पर जर्मन सेना द्वारा अधिकार कर लिए जाने पर राजी कर लिया। वास्तव में जर्मन सेनाएँ उस समय से पहले से ही सीमान्त पार कर रही थीं और कुछ चेक नगरों पर उन्होंने अधिकार भी कर लिया

नोट

था। स्लोवाकिया को नाममात्र के लिए स्वतंत्र रहने दिया गया। किन्तु पैंसठ लाख चेक एक बार फिर जर्मन शासन के, जो उस शासन से बहुत भिन्न था और जिसका अनुभव चेक जनता आस्ट्रियन साम्राज्य के अंग के रूप में कर चुकी थी, अधीन कर दिए गए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. ..... के प्रारंभ में हिटलर ने जर्मनी की सभी सशस्त्र सेवाओं की सर्वोच्च कमान अपने हाथों में ले ली थी।

   (क) 1938 (ख) 1838 (ग) 1738 (घ) 1638

5. स्ट्रेसा में ..... में हस्ताक्षरित एक समझौते के अधीन ब्रिटेन ने फ्रांस और इटली के साथ आस्ट्रिया की स्वतंत्रता और अखंडता में अपना हित घोषित किया था।

   (क) 1915 (ख) 1935 (ग) 1945 (घ) 1925

6. ..... में इटली कॉमिण्टर्न-विरोधी समझौते में शामिल हो गया जो जर्मनी और जापान के बीच किया गया था।

   (क) जनवरी, 1937 (ख) फरवरी, 1937 (ग) अक्टूबर, 1937 (घ) नवंबर, 1937

27.5 युद्ध का आरंभ (Outbreak of War)

विजेता के रूप में प्राग में प्रविष्ट होने के तुरन्त बाद ही हिटलर ने लिथुआनिया (Lithuania) की सरकार को एक अन्तिम प्रस्ताव भेजकर मेमल (Memel) और उसके आसपास का जिला सौंप देने की माँग की। 21 मार्च को उस पर अधिकार कर लिया गया और इस बाल्टिक बंदरगाह का पुनः सैन्यीकरण तुरन्त प्रारंभ हो गया। लगभग इसी समय रिबेनट्रॉप ने पोलैण्ड के राजदूत को अन्तिम शर्तें लिखाई जो पोलिश सरकार पर जर्मनी लादना चाहता था। ये शर्तें थीं, डानझिग, जिसका विस्चुला (Vistula) के मुहाने पर अधिकार है, जर्मनी को पुनः लौटा दिया जाए तथा जर्मनी को पोलिश गलियारे में होकर पूर्वी प्रशा से शेष जर्मनी को संयुक्त करने के लिए एक पट्टी दी जाए। पोलैण्ड ने इन आरोपित शर्तों को मानने से इन्कार कर दिया।

फ्रांस पहले से ही पोलैण्ड का मित्र था किन्तु चेम्बरलेन को यह कहने का अधिकार दिया गया था कि वह फ्रांस की ओर से भी यह बात कह सकता है।

कुछ ही दिनों के बाद जर्मनी से पीछे न रहने का निश्चय करते हुए इटली ने तेजी से हमला कर अलबानियन बंदरगाहों पर अधिकार कर लिया और उस देश (अलबानिया) का स्वामी बन बैठा जिसकी स्वतंत्रता की रक्षा करने का भार, विधि की विडम्बना से, उसे ही विशेष रूप से सौंपा गया था। इस प्रकार आक्रमण एक नये क्षेत्र में प्रारंभ हो गया। ग्रेट ब्रिटेन ने अपनी नई नीति का यहाँ तक विस्तार किया कि फ्रांस के साथ मिलकर उसने यूनान और रूमानिया को उसी प्रकार की सहायता की गारण्टी दी जैसी पोलैण्ड को दी गई थी, हालांकि पोलैण्ड ने अपनी महत्ता का अनुभव कर इस गारण्टी को पारस्परिक बना दिया था और आक्रमण की स्थिति में फ्रांस तथा ग्रेट ब्रिटेन की सहायता करने का वचन दिया था। यूगोस्लाविया ने, जिसे सम्भवतः यूनान से कम खतरा नहीं था, घोषणा की कि उसे सहायता की आवश्यकता नहीं है। जर्मनी और इटली दोनों ही के साथ उसके व्यापारिक संबंध बढ़ा रहे थे और चेकोस्लोवाकिया का उदाहरण ध्यान में रखते हुए इस प्रकार की गारण्टी को पर्याप्त संरक्षण मानना सहज नहीं था। किन्तु यूनान में उसके बंदरगाहों के कारण ब्रिटेन की सहायता पहुँच सकती थी। रूमानिया के पास रूस का

नोट

बेसारेबिया (Besarabia) क्षेत्र और बल्गारिया का डोबरूजा (Dobrudja) क्षेत्र तथा हंगरी का ट्रांसिलवानिया क्षेत्र था। इस कारण वह सहायता का कोई भी प्रस्ताव स्वीकार कर सकता था। इसके अतिरिक्त इस समय ब्रिटिश सरकार को तुर्की से एक संधि कर सकने में सफलता मिल गई जिसके अनुसार संधिकर्ताओं में से प्रत्येक ने भूमध्य सागर क्षेत्र में अपने हितों को किसी प्रकार का खतरा उपस्थित होने पर एक-दूसरे की सहायता करने का वचन दिया। इसी प्रकार का एक समझौता तुर्की और फ्रांस के बीच उस समय किया गया था जब अलेक्जांड्रेटा के संजक (Sandjak of Alexandretta) क्षेत्र से संबंधित तुर्की के दावे पूरी तरह संतुष्ट किए जा चुके थे।

ग्रेट ब्रिटेन में इन तैयारियों में और भी वृद्धि उस समय हुई जब 20 अप्रैल को एक विधेयक (Bill) प्रस्तुत किया गया जिसके अनुसार सैनिक आयु (military age) के सभी पुरुषों के लिए सैनिक प्रशिक्षण लेना अनिवार्य किया जाना था। उसके स्वीकार हो जाने पर 19 और 20 वर्ष के बीच की आयुवाले पुरुषों को तुरन्त सेना में भरती होने के लिए आदेश दिया गया। यूरोपीय ढंग पर शान्ति-काल में इस अनिवार्य भर्ती द्वारा सेना (conscript army) का संगठन ग्रेट ब्रिटेन के भावी आक्रमण को रोकने के लिए अपनी पूरी शक्ति का उपयोग करने के निश्चय का सबसे सबल प्रमाण माना गया था। जर्मन सरकार ने ब्रिटेन की इन सारी कार्रवाईयों को इस बात को साक्षी माना कि "ब्रिटिश लोग ब्रिटेन द्वारा युद्ध आरंभ करने को अब असम्भव नहीं मानते बल्कि इसके विपरीत उसे ब्रिटिश नीति की प्रमुख समस्या (capital problem) मानते हैं।" 27 अप्रैल को उसने 1935 के आंग्ल-जर्मन नौसैनिक समझौते को मानने से इन्कार कर दिया जिसके अनुसार जर्मनी ने अपनी नौसेना के 35 प्रतिशत तक ही सीमित रखना स्वीकार कर लिया था। हिटलर ने यह शिकायत की कि ग्रेट ब्रिटेन उस समझौते की अवहेलना कर रहा है। जिस पर स्वयं उसने और चेम्बरलेन ने म्युनिख-सम्मेलन के बाद हस्ताक्षर किए थे तथा जो "दोनों ही देशों की जनता की पुन: एक-दूसरे के विरुद्ध कभी युद्ध न करने की" इच्छा का प्रतीक था और ब्रिटेन अब जर्मनी को घेरने की नीति पर पुन: चलने लगा है।

टास्क 1936 में सोवियत सरकार ने किस पर मुकदमे चलाए थे?

वास्तव में इस नीति का जोरों से अनुसरण किया जा रहा था और इसके लिए पर्याप्त कारण भी था क्योंकि यह तो स्पष्ट ही था कि यदि जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया तो फ्रांस और ब्रिटेन दोनों ही उसे किसी भी प्रकार की सीधी सहायता नहीं दे सकेंगे। उनके द्वारा दी गई गारण्टी का सम्भवत: प्रतिरोधक प्रभाव (deterrent value) ही हो सकता था। यह बात भी उतनी ही स्पष्ट थी कि यदि सोवियत संघ दोनों पश्चिमी प्रजातंत्रों के साथ सहयोग करता, तो एक बड़ी विशाल वायु-सेना सहित एक विशाल सेना आक्रमणकर्ता (aggressor) के अत्यन्त समीप जमा की जा सकती थी। फ्रांस अब भी सोवियत संघ का मित्र था तथा मार्च के बाद से संयुक्त कार्रवाई-संबंधी वार्त्ताएँ मॉस्को में चल रही थीं और उनका परिणाम अनुकूल निकलने का विश्वास भी था, विशेषकर इस घोषणा के बाद कि वार्त्ताओं में भाग लेने के लिए फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन के सैनिक प्रतिनिधि भेजे जा चुके हैं। किन्तु वार्त्ताओं में भ्रमकारी विलम्ब हुआ तथा यह मालूम हुआ कि सोवियत संघ तब तक कोई भी समझौता करने के लिए तैयार नहीं था जब तक कि बाल्टिक राज्यों–लिथुआनिया, लेटविया, इस्टोनिया और फिनलैण्ड की अखंडता की सोवियत गारण्टी भी उसमें शामिल न हो। किन्तु इन देशों ने घोषणा की कि उन्हें ऐसी किसी गारण्टी की आवश्यकता नहीं थी जो उनकी स्वतंत्रता में किसी भी प्रकार की कमी करती हो। उन्होंने जर्मनी के साथ अनाक्रमण-समझौते (non-aggression pacts) करने का प्रस्ताव रखा और किया भी ऐसा ही। पोलैण्ड ने भी अपने क्षेत्र में किन्हीं भी परिस्थितियों में सोवियत सेना को प्रविष्ट होने देने से इन्कार कर दिया। फिर भी चूँकि हिटलर की नीति का प्रमुख उद्देश्य सोवियत संघ जिसका भी समर्थन करे, उसका प्रचण्ड विरोध करना था, अतएव यह आशा करना स्वाभाविक ही था कि सोवियत संघ जर्मनी (Third Reich) की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने के लिए की जाने वाली किसी भी कार्रवाई

नोट

में सहायता पहुँचाएगा। इसी समय एकाएक यह ज्ञात हुआ कि जर्मनी और रूस के बीच एक अनाक्रमण-समझौता करने के लिए रिबेनट्रॉप मॉस्को जा पहुँचा है। इस प्रकार के समझौते पर 23 अगस्त को हस्ताक्षर हो गए। इस समझौते का केवल इतना ही फल नहीं हुआ कि अब पूर्व में जर्मनी का विरोध करने के लिए पोलैण्ड केवल अपने ही साधनों के भरोसे रह गया अपितु इसका परिणाम यह भी हुआ कि जर्मनी को रसद (supply) का एक ऐसा साधन प्राप्त होने का आश्वासन मिल गया जिससे किसी भी समुद्री नाकेबंदी (maritime blockade) का खतरा बहुत कम हो गया।

27.6 सारांश (Summary)

जर्मनी और पोलैण्ड के बीच तत्कालीन विवाद डानझिग और तथाकथित गलियारे से संबंधित था। जो वर्साई की संधि द्वारा जर्मनी से पृथक् कर दिए गए थे। शेष जर्मनी से पूर्वी प्रशा के विभाजन का ही हमेशा विरोध किया जाता रहा था। इसके विपरीत स्वयं हिटलर ने भी प्राय: यह स्वीकार किया था कि पोलैण्ड को समुद्र तक निकास-मार्ग की आवश्यकता है। किन्तु पोलैण्ड ने मछली-व्यवसाय प्रधान ग्राम गिडनिया (Gydnia) में, अपने ही क्षेत्र में, एक नये बंदरगाह का निर्माण कर विस्तुला (Vistula) में व्यापार के लिए एकमात्र बंदरगाह के रूप में डानझिग के एकाधिकार को न केवल समाप्त ही कर दिया था अपितु उसके महत्त्व में भी वास्तव में कमी कर दी थी। व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता और राजनीतिक आदर्शवाद इस प्रश्न के साथ जुड़ गए। किन्तु जर्मनी में डानझिग को शामिल करने की इच्छा वहाँ पर सैन्यशक्ति का ऐसा केन्द्र स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा प्रकट करती थी जिससे उस पर अधिकार करने वाला राष्ट्र पोलैण्ड का समुद्र से संबंध तोड़ सके। गलियारे के आर-पार एक राज्य-क्षेत्रातीत कटिबंध (extra-territorial belt) के लिए किए गए अतिरिक्त दावे को पोलैण्ड ने और अधिक क्षेत्र हथियाने की दिशा में प्रथम कदम कहकर अस्वीकार कर दिया था। इन कारणों से पोल लोगों ने दबने से इन्कार कर दिया और जर्मनी के लिए पोलिश भूमि पर तीन पृथक् मोर्चों पर एक साथ आक्रमण करना रह गया। यह आक्रमण 1 सितम्बर को हुआ। 3 सितम्बर को ग्रेट ब्रिटेन ने युद्ध की घोषणा कर दी और उसके कुछ ही घण्टों बाद फ्रांस ने भी रणभेरी फूँक दी।

27.7 शब्दकोश (Keywords)

1. सामरिक (Strategic)–युद्धनीतिक
2. स्वत्वान्तरण (Alienation)–हस्तांतरण, बिलगाव

27.8 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. प्रत्यक्ष रूप से प्रथम विश्वयुद्ध का कारण क्या था?
2. स्पेन के गृह-युद्ध का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
3. राष्ट्रों की प्रतिद्वंद्वात्मक गुटबंदी का वर्णन कीजिए।
4. 'जर्मनी द्वारा आक्रमण का आरंभ' पर टिप्पणी लिखिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. 'काला हाथ' (Black Hand)
2. राष्ट्रीयता की भावना
3. औद्योगिक क्रान्ति
4. (क) 1938
5. (ख) 1935
6. (घ) नवंबर, 1937

नोट

27.9 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
2. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
3. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
4. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
5. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
6. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
7. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*

नोट

इकाई 28: सर्वांगिक युद्ध
(Total War)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

28.1 द्वितीय महायुद्ध के कारण अथवा उसके लिए उत्तरदायी परिस्थितियाँ (Causes or Circumstances Leading to the II World War)

28.2 द्वितीय महायुद्ध की गतिविधि (Course of the II World War)

28.3 द्वितीय महायुद्ध के परिणाम (Effects of II World War)

28.4 युद्ध अपराध (War Crimes)

28.5 सारांश (Summary)

28.6 शब्दकोश (Keywords)

28.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

28.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- द्वितीय महायुद्ध के कारण जानने में।
- द्वितीय महायुद्ध की गतिविधि को जानने में।
- द्वितीय महायुद्ध के परिणाम जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति सन् 1918–19 में हुई थी और ठीक 20 वर्ष बाद सन् 1939 में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। मार्शल फौच (Foch) ने शान्ति-सम्मेलन के समय ही यह भविष्यवाणी की थी कि यह शान्ति नहीं, 20 साल के लिए युद्धविराम है, वह सच्ची निकली। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त विश्व-शान्ति के प्रयत्न ही अप्रत्यक्ष रूप से द्वितीय महायुद्ध के कारण बन गए। म्यूनिख उपसंधि, जो ब्रिटेन और फ्रांस के लिए अपमानपूर्ण थी, वही शान्ति को स्थायी रखने वाली मानी गई। राष्ट्र-संघ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के प्रयास में असफल रहा और राष्ट्रों द्वारा उसके लक्ष्यों की अवमानना की गई। यूरोप के सभी छोटे-बड़े साम्राज्यवादी राष्ट्र जैसे इंग्लैण्ड, इटली, जर्मनी, रूस, पोलैण्ड अन्तर्राष्ट्रीय न्याय तथा संधि की शर्तों के विपरीत शस्त्रीकरण की विनाशकारी प्रतिद्वंद्विता (Rivalry) में लग गए।

नोट

इन परिस्थितियों का स्वाभाविक परिणाम वह महाविनाशकारी युद्ध था जिसने मानवता को विनाश के गर्त में धकेल दिया। प्रथम महायुद्ध सीमित था, किन्तु द्वितीय महायुद्ध ने संपूर्ण विश्व को अपने घातक परिणामों से प्रभावित किया और इस दृष्टि से यह निश्चय ही एक विश्वयुद्ध था–ऐसा विश्वयुद्ध जिसने विख्यात वैज्ञानिक आइंस्टाइन को यह कहने पर बाध्य कर दिया कि, "तृतीय विश्वयुद्ध के बारे में तो मैं नहीं कह सकता, परंतु चौथा विश्वयुद्ध पाषाण अस्त्रों से लड़ा जाएगा।" स्पष्ट है कि द्वितीय महायुद्ध की भयंकरता ने राजनीतिज्ञों और वैज्ञानिकों के हृदय में इस आतंक की अनुभूति पैदा कर दी कि यदि कहीं तृतीय महायुद्ध हो गया तो संपूर्ण मानव-सभ्यता ही विनष्ट हो जाएगी।

28.1 द्वितीय महायुद्ध के कारण अथवा उसके लिए उत्तरदायी परिस्थितियाँ (Causes or Circumstances Leading to the II World War)

द्वितीय महायुद्ध के लड़े जाने के अनेक कारण थे जिनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं–

1. धुरी राष्ट्रों का युद्ध आरम्भ कराने हेतु उत्तरदायित्व (Resonsibility of the Axis Power for Starting the War)–द्वितीय महायुद्ध का सर्वोपरि प्रमुख कारण जर्मनी का घोर उग्रवादी राष्ट्रवाद (Aggressive Nationalism) था। वर्साय की संधि की अपमानजनक शर्तों ने जर्मनी के राजनीतिक सम्मान और राष्ट्रीय मानस को गंभीर आघात पहुँचाया था। इन शर्तों का उद्देश्य जर्मनी को सदैव के लिए दुर्बल बना देना था। प्रथम महायुद्ध की अपमानजनक पराजय और ऊपर से थोपी गई अपमानजनक वर्साय की संधि ने जर्मन जनता के हृदय में प्रतिशोध (Revenge) तथा उग्र राष्ट्रवाद का संचार कर दिया। जर्मनों ने वर्साय संधि को 'अंतिम' (Final) रूप से कभी स्वीकार नहीं किया। वर्साय संधि द्वारा निश्चित सीमाएँ जर्मनी की राष्ट्रप्रेमी जनता के लिए निराशाजनक थीं क्योंकि उनके द्वारा जर्मनी की अखण्डता किसी प्रकार सुरक्षित नहीं रह सकती थी। उत्तर-पूर्वी यूरोप में पोलिश गलियारे (Polish Corridor) का निर्माण या डैंजिग (Danzig) का जर्मनी से विच्छेद करना सतत शत्रुता का बीज बोना था। जर्मनी का अधिकांश हिस्सा पोलैण्ड में मिलाकर या फ्रांस में सम्मिलित कर द्वेष की आग को प्रज्वलित रखा गया था। जर्मनी और तुर्की से उपनिवेशों (Colonies) का विच्छेद और उन पर मित्र-राष्ट्रों की रक्षा-व्यवस्था विद्वेष की भावना को सतत् सजीव रखने वाला कदम था। वर्साय की संधि द्वारा जर्मनी का अंग-भंग कर दिया था। जर्मनी व अन्य पराजित राष्ट्रों से क्षतिपूर्ति की विशाल राशि की माँग अनाचार और शोषण की पराकाष्ठा थी। विनष्ट जर्मनी से, जहाँ खाने-पीने और जीवनयापन के भी लाले पड़े रहे थे, अरबों और खरबों की संख्या में 'मार्क' (Mark) की स्वर्ण मुद्रा माँगी जाती थी। 'युद्ध-अपराध' (War Crime) की धारा जर्मन राज्य के लिए एक काला धब्बा था जिसको धो डालना प्रत्येक जर्मनवासी अपना उत्तरदायित्व समझता था।

नोट्स द्वितीय महायुद्ध का सर्वोपरि प्रमुख कारण जर्मनी का घोर उग्रवादी राष्ट्रवाद था।

सन् 1920-25 की अवधि के जर्मनी के आर्थिक संकट ने और जर्मनी की पाश्चात्य राष्ट्रों के प्रति इससे पूर्व की नीति ने जर्मनों के हृदय में अपनी सरकार के प्रति विश्वास को हिला दिया। फलस्वरूप जर्मनी में उग्र राष्ट्रवादी विचारधारा तेजी से पनपने लगी और अन्त में विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी (World-wide Economic Depression) के उपरान्त नाजी पार्टी के नेतृत्व में वहाँ अतिवादी उग्रतम राष्ट्रवाद एवं सैनिकवाद का उदय हुआ। नाजी क्रान्ति ने जर्मनी में एक नई आशा का संचार किया और शक्ति ग्रहण करते ही हिटलर ने जर्मनी के लिए आत्मनिर्णय के अधिकार की माँग की। सम्पूर्ण जर्मन राष्ट्र ने 'करो या मरो' (Do or Die) का सिद्धांत अपना लिया। हिटलर का नवीन दृष्टिकोण और प्रचार अभियान युद्ध का प्रमुख कारण बन गए। उसने अपने देशवासियों के हृदय में ये भाव भर दिए कि उसकी संपूर्ण योजनाएँ राष्ट्रीय विकास के लिए हैं। उसने निःशस्त्रीकरण के प्रयासों को तिलाञ्जलि

नोट

दे सैनिकीकरण अनिवार्य कर दिया, ऑस्ट्रिया का अपहरण कर लिया, चेकोस्लोवाकिया को निगल लिया और हिटलर ने जर्मन जनता को विश्वास दिला दिया कि, "देश में उसके समान अधिकार-सम्पन्न या विश्वासपात्र अन्य कोई व्यक्ति कभी नहीं होगा। यह समय चूकने का नहीं है। मेरे समय में युद्ध छिड़ जाना चाहिए।" इसी अर्थ में केटेल्बी (Ketelby) ने द्वितीय महायुद्ध को 'हिटलर का युद्ध' (War of Hitler) कहकर सम्बोधित किया है और कहा है कि, "यह एक व्यक्ति की स्वत: नीति है जो दलीय शक्ति के विश्वास का महान जुआ है।" हिटलर ने उग्र जर्मन राष्ट्रवाद की नीति का अनुसरण कर पोलैण्ड पर आक्रमण करके अन्त में द्वितीय महायुद्ध का भयंकर विस्फोट कर दिया।

क्या आप जानते हैं प्रथम महायुद्ध के उपरांत विश्व-शांति के प्रयत्न ही अप्रत्यक्ष रूप से द्वितीय महायुद्ध के कारण बन गए।

2. अल्पसंख्यक जातियों का असंतोष (Discontent among Minorities)–वर्साय की संधि और उसके साथ ही बाद में होने वाली अन्य संधियों के द्वारा विभिन्न अल्पसंख्यक जातियों का निर्माण हो गया। राष्ट्रपति विल्सन ने शान्ति-संधि का आधार आत्मा-निर्णय (Self-determination) के सिद्धांत को बनाना चाहा किन्तु आर्थिक, सैनिक, सामाजिक और धार्मिक कारणों की वजह से उस सिद्धांत को सभी जगह कठोरतापूर्वक लागू करना सम्भव नहीं था। अनेक स्थानों पर एक-दूसरे की विरोधी अल्पसंख्यक जातियाँ एक ही शासन के अन्तर्गत रह गई। इसके परिणामस्वरूप अनेक राज्यों में अल्पसंख्यक जातियों में भायनक असंतोष उत्पन्न हो गया। हिटलर ने इस असंतोष का लाभ उठाया, उसने पश्चिमी शक्तियों से सौदेबाजी की और 'अल्पसंख्यकों पर कुशासन' के बहाने की आड़ में ऑस्ट्रिया तथा सूडेटन प्रदेश पर बलपूर्वक कब्जा कर लिया और पोलैण्ड पर हमला बोल दिया।

3. दो प्रतिद्वन्द्वी सैनिक खेमों का उदय (Rise of Two Rival Military Camps)–जिस तरह प्रथम महायुद्ध से पहले संपूर्ण विश्व दो विरोधी सैनिक खेमों में विभाजित हो गया था, उसी तरह द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने से पूर्व संपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय संसार दो परस्पर शत्रु सैनिक खेमों में बँट गया। सन् 1937 तक अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में दो शक्तिशाली पक्ष बन गए। एक तरफ जर्मनी इटली और जापान जैसे कभी संतुष्ट न होने वाले राष्ट्रों की रोम-बर्लिन-टोकियो धुरी (Rome-Berlin-Tokyo Axis) बनी तो दूसरी तरफ मित्र-राष्ट्रों के सुदृढ़ संगठन का उदय हुआ। फलत: ज्यों ही ब्रिटेन और फ्रांस ने पोलैण्ड को समर्थन दिया त्यों ही द्वितीय महायुद्ध भड़क उठा।

4. ब्रिटेन और फ्रांस के दृष्टिकोणों में अन्तर (Different Attitudes of Britain and France)–प्रथम महायुद्ध के बाद से ही ब्रिटेन और फ्रांस के मध्य मतभेद पैदा हो गए थे जो दोनों महायुद्धों के बीच की लगभग संपूर्ण अवधिपर्यन्त चलते रहे। ब्रिटेन 'शक्ति-संतुलन' (Balance of Power) की अपनी परंपरागत नीति में विश्वास करता था। न तो वह जर्मनी को एकदम पंगु बनने देना चाहता था और न फ्रांस को एकदम शक्तिशाली। इसके विपरीत फ्रांस स्वयं को हर तरह से सुरक्षित करके यूरोप का सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र बनने का अभिलाषी था। जर्मनी के संबंध में दोनों ही राष्ट्रों के बीच उग्र मतभेद थे। फ्रांस जर्मनी को सदैव के लिए एक दुर्बल और मृतप्राय राष्ट्र के रूप में देखना चाहता था जबकि ब्रिटेन अपने आर्थिक पुनरुत्थान के लिए जर्मनी को आर्थिक दृष्टि से समृद्ध बनाना चाहता था। हिटलर के उदय के बाद भी फ्रांस और ब्रिटेन के मतभेद शान्त नहीं हुए। हिटलर ने राष्ट्र-संघ को ठुकराया और वर्साय-संधि के उपबन्धों की अवहेलना की। फ्रांस ने विरोध का मार्ग अपनाया लेकिन ब्रिटिश सहयोग का अभाव रहा। 19 जून, 1935 को ब्रिटिश जर्मन नौ-सेना समझौता फ्रांस का विरोध होते हुए भी सम्पन्न किया गया। जब सन् 1936 में हिटलर ने लोकार्नो समझौतों को अस्वीकृत किया और राइन प्रदेश का सैन्यीकरण प्रारम्भ किया तो भी ब्रिटेन जर्मनी के प्रति उदारवादी तुष्टिकरण की नीति (Policy of Appeasement) का समर्थक बना रहा। फ्रांस को ब्रिटिश नीति के आगे हार खानी पड़ी। जब नाजी आक्रमण म्यूनिख-वार्ता

नोट

की स्थिति तक पहुँच गया तब अनिच्छा होते हुए भी विवशता के कारण फ्रांस को ब्रिटिश-मत के अनुसार कार्य करना पड़ा।

ब्रिटिश-फ्रेंच मतभेदों ने संपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को गम्भीर रूप से प्रभावित किया। राष्ट्र-संघ इनके खेलों का अखाड़ा बन गया और प्रभावशाली रूप में शान्ति स्थापना का कार्य करने में असफल रहा। इन दो महान राष्ट्रों के मतभेदों का धुरी राष्ट्रों ने पूरा लाभ उठाया। वे स्वयं को अधिकाधिक शक्तिशाली बनाते गए, फ्रांस के सुरक्षा-संगठन को निर्बल करते गए, अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों से मुकरते गए और राष्ट्र-संघ की अवहेलना करने में सफल हुए। इन सब बातों का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि विश्व एक बार फिर पहले से भी अधिक भयंकर महायुद्ध की चपेट में आ गया। ब्रिटेन की तुष्टिकरण की नीति ने हिटलर के दुस्साहस को बढ़ाने में बहुत योग दिया।

5. अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक संकट (World-wide Economic Depression)–सन् 1930 में विश्व में एक महान आर्थिक संकट आया जिसने किसी-न-किसी रूप में प्रत्येक देश की आर्थिक अवस्था पर बुरा प्रभाव डाला। इस आर्थिक संकट के फलस्वरूप राष्ट्रों में नि:शस्त्रीकरण की भावना लुप्तप्राय हो गई, वे शस्त्रों की होड़ में एक-दूसरे से बाजी मार ले जाने को लालायित हो गए और सभी में यह तीव्र आकांक्षा जाग्रत हो गई कि उनका देश शस्त्र और सेना की दृष्टि से अन्य देशों से पिछड़ा न रहे। आर्थिक संकट ने जर्मनी में नाजीवाद के उत्कर्ष में सहायता पहुँचाई, इसमें इटली में फासीवाद को बढ़ावा मिला तथा यूरोप के अनेक राष्ट्रों में साम्यवादी दलों का प्रसार और प्रभाव बढ़ने लगा। इस आर्थिक संकट का लाभ उठाकर ही जापान ने सन् 1931 में मंचूरिया पर चढ़ाई कर दी और सन् 1935 में एबीसीनिया पर इटली का हमला भी इसी आर्थिक संकट का एक अप्रत्यक्ष परिणाम था।

6. राष्ट्रों के विभिन्न स्वार्थ (Conflicting National Interests)–आर्थिक सम्पन्नता की होड़, नए बाजारों की खोज और कच्चे माल को प्राप्त करने की सुविधा ने जिस पारस्परिक संघर्ष को जन्म दिया था, उस संघर्ष का निबटारा प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने पर भी न हो पाया और युद्ध में भाग लेने वाले राष्ट्र अवसर पाकर एक दूसरे संघर्ष की खोज में लग गए। वे ऐसे बहाने ढूँढ़ने लगे जिससे व्यापारिक लाभ केवल उन्हीं देशों को होता रहे। प्रथम महायुद्ध के बाद जर्मनी के उपनिवेश ब्रिटेन, बेल्जियम और फ्रांस में बँट गए जिससे जहाँ इन देशों को कच्चा माल प्राप्त करने की सुविधा बढ़ गई वहाँ जर्मनी आदि देशों को हानि होने लगी। इटली को भी प्रथम महायुद्ध से कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचा था, अत: वह भी जर्मनी की भाँति कच्चे माल के लिए नए उपनिवेश स्थापित करने और विदेशी बाजारों में अपने माल की खपत करने की फिक्र में था। साथ ही वह तेल, लोहा और कोयले की भारी कमी का अनुभव कर रहा था। इन वस्तुओं को सुविधापूर्वक उपलब्ध न कर पाने के कारण इटली की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी नहीं हो सकती थीं। इसी प्रकार जापान भी अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या के निवास के लिए और औद्योगीकरण के लिए तब तक पर्याप्त साधन नहीं जुटा सकता था जब तक वह अपने पड़ोसी अर्द्धविकसित राज्य चीन में विस्तारवाद (Expansionism) की नीति न अपनाए।

एक तरफ तो साम्राज्य-प्रसार संबंधी भावनाओं में कशमकश चल रही थी और दूसरी तरफ आन्तरिक व्यापार की उन्नति के फलस्वरूप अपने तैयार माल की खपत के लिए बाजारों के ढूँढ़ निकालने की तीव्र आवश्यकता विभिन्न राष्ट्रों को उकसा रही थी। सन् 1925 से 1929 के बीच इस दिशा में और साथ ही कच्चे माल को प्राप्त करने में इन राष्ट्रों ने किसी सीमा तक सफलता प्राप्त की। लेकिन सन् 1929-1930 के आर्थिक संकट ने एक नई स्थिति पैदा कर दी जिसके फलस्वरूप प्रत्येक राज्य ने अपने निजी उद्योगों की रक्षा के लिए भारी कर-प्रणाली, व्यापार कर, समुद्री व्यापार पर प्रतिबन्ध, आयात-निर्यात संबंधी नियंत्रण आदि लागू कर दिए। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि सम्पन्न देशों में इतना अधिक माल जमा हो गया कि उसकी खपत की गम्भीर समस्या उठ खड़ी हुई। लेकिन इससे भी अधिक असुविधा उन देशों को हुई जिनके पास कच्चे माल और उपनिवेश दोनों का ही अभाव था। उनके लिए जीवन-मरण का प्रश्न उठ खड़ा हुआ और उनके समक्ष यह प्रश्नचिह्न उपस्थित हो गया कि इसमें कहाँ तक न्याय है कि कुछ देश तो कच्चे माल के सड़कर नष्ट हो जाने से भी चिन्तित न हों जबकि दूसरे देश कच्चे माल के लिए तड़पते रहें और दाने-दाने के लिए मोहताज हों। स्वभावत: समृद्ध देशों का सर्वाधिकार (Monoploy) और विकसित

नोट

स्वामित्व अनेक अल्प-विकसित एवं महायुद्ध में पराजय के कारण साधनहीन हो गए देशों को चूसने लगे। अब उन्हें स्वयं को समृद्ध बनाने एवं समस्याओं के हल करने का एकमात्र उपाय युद्ध ही दिखाई देने लगा। परिणामतः जापान, इटली और जर्मनी आदि धुरी राष्ट्र राजनीतिक दृष्टि से निकट आते चले गए और एक-दूसरे के सहयोग से साम्राज्यवादी आकांक्षाओं की पूर्ति हेतु सचेष्ट हो गए। इस तरह इन राष्ट्रों के विभिन्न स्वार्थ द्वितीय महासमर के अग्रदूत बन गए।

7. राष्ट्रसंघ की निर्बलता (Weakness of the League of Nations): राष्ट्र-संघ की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय शांति की प्राप्ति के लक्ष्य को लेकर हुई थी, किन्तु महाशक्तियों के असहयोगी रुख के कारण और जर्मनी, इटली एवं जापान की घोर उपेक्षा के कारण यह संस्था अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकी। प्रथम तो संघ की स्थापना ही बदनाम वर्साय-संधि के अंतर्गत हुई थी। दूसरे, इसके उदय के साथ ही अमेरिका द्वारा इसे स्वीकार न करना उस पर तुषारापात था। तीसरे, आरंभ से ही पराजित राष्ट्रों को इसकी सदस्यता न देने और रूस को इसका सदस्य बनने के लिए निमंत्रित न करने से अनेक राज्यों के मन में यह भावना बैठ गई थी कि राष्ट्र-संघ विजेताओं का एक गुट है जो अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बनने का ढोंग रचता है और जिसका केवल मात्र उद्देश्य यही है कि वह पेरिस के मनमाने समझौते को कायम रखे। यद्यपि सन् 1925 से 1928 के मध्य किए गए राष्ट्र-संघ के आर्थिक और पुनर्निर्माण के कार्यों से प्रभावित होकर 56 राष्ट्रों ने इसकी सदस्यता स्वीकार कर ली थी, परन्तु यह अभिवृत्ति क्षणिक थी। जब बड़े-बड़े राज्यों के स्वार्थों के प्रश्न राष्ट्र-संघ के उद्देश्यों से टकराए तो पवित्र प्रस्ताव पारित करने और आयोगों की नियुक्ति करने के सिवाय राष्ट्र-संघ कुछ भी न कर सका। राष्ट्र-संघ की शक्ति में तब कुछ वृद्धि हुई थी जब सन् 1925 में जर्मनी ने इसकी सदस्यता ग्रहण की। परन्तु जर्मनी द्वारा हिटलर के उदय के बाद सदस्यता त्याग देने के उपरांत निरंतर निर्बल होता गया। राष्ट्र-संघ की नपुंसकता से प्रोत्साहित होकर फासिस्ट और नाजी शक्तियाँ आक्रामक हो गईं और उन्होंने द्वितीय महायुद्ध का मार्ग प्रशस्त कर दिया। जापान ने अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा में सहयोग देने संबंधी अपने वचनों को ठुकराते हुए सन् 1931 में मंचूरिया पर कब्जा कर लिया और सन् 1937 में चीन पर हमला बोल दिया। लेकिन जापान को रोकने में राष्ट्र-संघ बिल्कुल असमर्थ रहा और जब चीन पर हमले के लिए राष्ट्र-संघ ने जापान के विरुद्ध प्रतिबंध लगाए तो उसने संघ का परित्याग कर दिया। सन् 1935 और 1936 में इटली ने क्रमशः एबीसीनिया और अल्बानिया पर अधिकार कर लिया। यद्यपि राष्ट्र-संघ ने इटली पर आर्थिक प्रतिबंध लगाए परन्तु संघ के सदस्य प्रतिबंधों को प्रभावकारी बनाने के लिए बिल्कुल उत्सुक न थे। राष्ट्र-संघ की दुर्बलता को समझकर इटली ने भी संघ से अपनी सदस्यता समाप्त कर ली। सन् 1936 में जर्मनी ने वर्साय की संधि के उपबंधों को तोड़ा और लोकार्नो समझौतों के प्रति अवज्ञा प्रदर्शित की। उसने राइन लैण्ड का सैन्यीकरण प्रारंभ कर दिया और आस्ट्रिया तथा चेकोस्लोवाकिया पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया; किन्तु तब भी राष्ट्र-संघ मूक दर्शक बना रहा। सन् 1939 में जब रूस ने फिनलैण्ड पर हमला किया तो राष्ट्र-संघ पुनः असहाय सिद्ध हुआ।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को बनाए रखने में राष्ट्र-संघ की असफलता के फलस्वरूप यूरोपीय देशों की संघ के प्रति निष्ठा समाप्त हो गई और शक्ति-संतुलन बनाए रखने के लिए उन्होंने अपने विभिन्न गठबंधन (Pacts) कर लिए यूरोपीय देशों के मध्य एक-दूसरे के विरुद्ध इतने राजनीतिक और सैनिक गठबंधन हुए कि उनसे सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज विषाक्त हो गया और द्वितीय महायुद्ध की आधारभूमि तैयार हो गई। राष्ट्र-संघ अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को बिगड़ने से निम्नांकित कारणों से नहीं रोक सका–(*i*) वह सांविधानिक निर्बलता का शिकार था और उसके पास आर्थिक एवं सैनिक शक्ति का अभाव था; (*ii*) महाशक्तियों का असहयोग था; (*iii*) राष्ट्र-संघ के सिद्धांतों के प्रति सदस्यों में निष्ठा का अभाव था; (*iv*) संघ के प्रति सदस्य-राज्यों के विभिन्न दृष्टिकोण थे और वे संघ को अपनी स्वार्थ-पूर्ति का साधन बनाने पर तुले थे; (*v*) सन् 1930 के आर्थिक संकट ने राष्ट्रवादी शक्तियों को इतनी शक्तिशाली बना दिया था कि उनके द्वारा सामूहिक सुरक्षा और आक्रमण के सामूहिक प्रतिरोध के अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धांतों की उपेक्षा होने लगी; (*vi*) अधिनायकवाद के विकास और 'लहू और लोहे' की नीति में विश्वास रखने वाले हिटलर और मुसोलिनी

नोट

के कार्यों ने 'शान्ति' के सभी प्रयासों का जनाजा निकाल दिया। शूमैन (Schuman) के ये शब्द ठीक हैं कि, "संघ की सफलता के लिए यह आवश्यक था कि सदस्य-राज्यों में इसके सिद्धांतों के प्रति निष्ठा, विवेक और साहस होता किन्तु उनमें इनका सर्वथा अभाव था, अतएव जेनेवा की झील के तट पर एरियाना पार्क में निर्मित उसका भव्य प्रासाद शीघ्र ही उसका सुंदर समाधि-स्थल बन गया।"

8. स्पेन का गृहयुद्ध और धुरी राष्ट्रों द्वारा समर्थन (Spanish Civil War and Support of Axis Powers): जनरल फ्रांको ने सन् 1936 में स्पेन का गृहयुद्ध प्रारंभ कर दिया जिसमें ब्रिटेन और फ्रांस ने तटस्थता अवश्य बरती, लेकिन उनकी आंतरिक सहानुभूति जनरल फ्रांको के साथ ही रही। हिटलर और मुसोलिनो ने फ्रांको को खुलकर सक्रिय सहयोग दिया। इसके फलस्वरूप सन् 1939 में स्पेन की प्रजातांत्रिक सरकार पूरी तरह पराजित हुई और वहाँ फ्रांको की तानाशाही सरकार स्थापित हो गई। फ्रांको की इस विजय से फासिस्ट राष्ट्रों की शक्ति बढ़ गई और वे ब्रिटेन तथा फ्रांस की धमकियों को कोरी गीदड़-भभकी समझने लगे।

9. जर्मनी का पोलैण्ड पर आक्रमण (Invasion of Poland by Germany): उपर्युक्त सब कारणों के फलस्वरूप द्वितीय महायुद्ध के लिए बारूद का महल खड़ा हो चुका था। केवल उसमें चिनगारी लगने की देर थी और यह अचानक पोलैण्ड पर जर्मन आक्रमण से हो गया। 1 सितम्बर, 1939 को हिटलर ने अचानक पोलैण्ड पर आक्रमण किया, ब्रिटेन और फ्रांस ने 3 सितम्बर को जर्मनी को युद्ध बंद करने की चेतावनी दी और इस चेतावनी की उपेक्षा होने पर उन्होंने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने की घोषणा कर दी। शीघ्र ही युद्ध ने विस्तृत महायुद्ध का रूप धारणा कर लिया।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. 1925 में ..... ने राष्ट्र-संघ की सदस्यता ग्रहण की।
2. ..... अंतर्राष्ट्रीय शांति की प्राप्ति के लक्ष्य को लेकर हुई थी।
3. राष्ट्र-संघ की ..... से प्रोत्साहित होकर फासिस्ट और नाजी शक्तियाँ आक्रामक हो गईं।

28.2 द्वितीय महायुद्ध की गतिविधि (Course of the II World War)

द्वितीय महायुद्ध के इतिहास को हम सुविधा की दृष्टि से पाँच चरणों में बाँट सकते हैं–

1. प्रथम अवस्था: 1 सितम्बर, 1939 से 21 जून, 1941 तक, जिसमें जर्मनी ने पोलैण्ड, नार्वे, डेनमार्क, नीदरलैण्ड, बेल्जियम, लक्जमबर्ग, फ्रांस, ब्रिटेन, यूनान तथा क्रेट पर आक्रमण किया।

2. द्वितीय अवस्था: 22 जून, 1941 से 6 दिसम्बर, 1941 तक जिसमें धुरी राष्ट्रों का अफ्रीका पर तथा जर्मनी का रूस पर आक्रमण हुआ।

3. तृतीय अवस्था: 7 दिसम्बर, 1941 से 7 नवम्बर, 1942 तक, जिसमें जापान का पर्लहार्बर पर आक्रमण तथा मित्र-राष्ट्रों के सैन्य-बल का नीदरलैण्ड, ईस्ट इण्डीज तथा उत्तरी काकेशस पर अधिकार हुआ।

4. चतुर्थ अवस्था: 8 नवम्बर, 1942 से 6 मई 1945 तक, जिसके अंतर्गत उत्तरी अफ्रीका पर अमेरिका का आक्रमण तथा जर्मनी का आत्मसमर्पण हुआ।

5. पंचम तथा अन्तिम अवस्था: 7 मई, 1945 से 14 अगस्त, 1945 तक, जिसमें जापान का आत्मसमर्पण हुआ।

1. प्रथम चरण (First Phase): द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रथम चरण 1 सितम्बर, 1939 से आरंभ होता है जब जर्मनी ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया। हिटलर ने अपनी अदम्य सैनिक शक्ति द्वारा विद्युत गति से पोलैण्ड को कुचलने

नोट

की चेष्टा की। कुछ ही दिनों में जर्मन सेना वारसा (Warsaw) तक पहुँच गई। ब्रिटेन और फ्रांस पोलैण्ड की रक्षा के लिए पहले से ही वचनबद्ध हो चुके थे। उन्होंने जर्मनी को अल्टीमेटम दे दिया कि वह पोलैण्ड पर अपना आक्रमण समाप्त कर अपनी फौजों को वापस लौटा ले, लेकिन इसका अभीष्ट परिणाम न निकलने पर ब्रिटेन और फ्रांस दोनों ही ने, 3 सितम्बर को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। यह महायुद्ध का आरंभ था। इसी समय सोवियत रूस ने भी पोलैण्ड पर आक्रमण कर दिया क्योंकि यह यूक्रेन (Ukrain) को स्वतंत्र करके अपने राज्य में मिला लेना चाहता था। यदि पोलैण्ड पूरी तरह जर्मनी के हाथ में चला जाता तो उसके लिए ऐसा करना लगभग असम्भव था। इस घटनाचक्र की स्वाभाविक परिणति वारसा के पतन में हुई और रूस तथा जर्मनी के बीच पोलैण्ड का चौथा विभाजन सम्पन्न हुआ। उसका पश्चिमी भाग जर्मनी में तथा पूर्वी भाग सोवियत रूस में संयुक्त हो गया। पोलैण्ड की सरकार का फिर भी फ्रांस में पुनर्गठन हुआ और युद्ध चलता रहा। हिटलर ने युद्ध बंद कर देने की अपील की क्योंकि उसके अनुसार उसके उद्देश्य की पूर्ति हो गई थी और अब उसकी और कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं थी। हिटलर ब्रिटेन और फ्रांस से इस शर्त पर संधि करने को तत्पर था कि वे उसकी विजयों को मान्यता प्रदान कर दें। लेकिन फ्रांस और ब्रिटेन को अब हिटलर पर विश्वास नहीं रहा था।

पूर्वी पोलैण्ड पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् सोवियत रूस नाजी शक्ति के भय से अपनी सुरक्षा व्यवस्था को पूर्णत: सुदृढ़ कर लेना चाहता था। उसने इसी दृष्टि से इस्टोनिया, लेटविया, लिथुआनिया और फिनलैण्ड से घनिष्ठ संबंध स्थापित करने के प्रयास किए। प्रथम तीनों देशों से उसकी संधियाँ हो गईं लेकिन फिनलैण्ड ने संधि करने से इन्कार कर दिया जिसका प्रत्युत्तर उसे 30 नवम्बर, 1939 की रूसी आक्रमण द्वारा मिला। घमासान युद्ध में फिनलैण्ड पराजित हुआ तो उसका महत्त्वपूर्ण भाग रूस में मिला लिया गया।

इसी मध्य अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति को अपने अनुकूल पाकर रूस ने रूमानिया को वेसारविया वापस करने का अल्टीमेटम (Ultimatum) दिया। विवश होकर बर्लिन और रोम की सलाह पर रूमानिया को सोवियत माँग की पूर्ति करनी पड़ी। इस तरह सोवियत रूस ने सैनिक दृष्टि से उपयोगी सभी क्षेत्रों को अपने अधीन कर लिया।

पोलैण्ड-विजय के पश्चात् हिटलर ने लगभग 8 महीने तक कोई सैनिक कार्यवाही नहीं की। 9 अप्रैल, 1940 तक उसका कोई नया हमला नहीं हुआ। इस बीच वह एक तरफ तो शन्ति के दावे करता रहा व दूसरी ओर घोर सामरिक तैयारियाँ। इस काल को कुछ लोग 'कृत्रिम युद्ध काल' (Period of Phony War) चेम्बरलेन 'गोधूलि-युद्ध' (Twilight War) और जर्मन प्रेस 'गतिहीन-युद्ध' (Sitting War) कह कर पुकारते थे। ब्रिटेन और फ्रांस ने तुर्की के साथ पारस्परिक सहायता करने का समझौता सम्पन्न किया, जापान फासिस्टों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण बना, अमेरिकन लोकतंत्र की रक्षा करने को उद्यत हुआ और यूरोप के कुछ राष्ट्र ऊपरी तौर पर बिल्कुल तटस्थता की नीति के हिमायती बने।

अन्त में हिटलर का मौन भंग हुआ। 9 अप्रैल, 1940 को प्रात:काल डेनमार्क और नार्वे पर जर्मन फौजें चढ़ बैठीं। हिटलर की रणनीति का एक महत्त्वपूर्ण विभाग जासूस-व्यवस्था था। 10 जून को हिटलर ने नार्वे पर अधिकार कर लिया। इसी तरह हिटलर ने डेनमार्क पर भी अपनी पूरी शक्ति से हमला कर दिया। जर्मन वायुसेना की शक्ति के आगे डेनमार्क परास्त हो गया। 10 मई, 1940 को जर्मनी ने लक्जमबर्ग , बेल्जियम और हॉलैण्ड पर धावा बोल दिया। चन्द घण्टों में ही लक्जमबर्ग को ले लिया गया। वायु-युद्ध द्वारा 5 दिन में ही हॉलैण्ड पर कब्जा कर लिया गया और 28 मई को बेल्जियम भी परास्त हो गया। बेल्जियम की सहायतार्थ लाखों की संख्या में जो ब्रिटिश फौजें आई हुई थीं वे पूरी तरह घिर गईं। डंकर्क की लड़ाई में युद्ध का साहसपूर्ण संचालन कर इंग्लैण्ड ने अपनी अधिकांश सेना को बचा लिया।

अपनी सफलताओं से उत्साहित होकर 10 मई को हिटलर ने फ्रांस पर आक्रमण कर दिया। हिटलर फ्रांस को ही सबसे पहले पराजित करना चाहता था, अत: 5 जून, 1940 को उसने फ्रांस के विरुद्ध अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी। फ्रांस की दयनीय स्थिति को देखकर 10 जून, 1940 को इटली ने भी फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर

नोट

दी। 14 जून, 1940 को पेरिस नगर पर जर्मन सेनाओं ने अपना आधिपत्य जमा लिया और फ्रांस के सम्मुख युद्धबंदी का प्रस्ताव रखा। 21 जून, 1940 को फ्रेंच सरकार के प्रतिनिधियों ने जर्मन नेताओं से मुलाकात की।

युद्धविराम के पश्चात् जो संधि हुई उसमें फ्रांस को दो भागों में विभाजित कर दिया गया। कुछ हिस्से जर्मनी के सीधे शासन में चले गए, जबकि शेष पर पेताँ सरकार का शासन स्वीकार किया गया जिसकी राजधानी बीची थी। इटली के साथ ही फ्रांस ने दो दिन बाद युद्ध-विराम समझौता कर लिया।

ब्रिटिश अभियान से निराश होकर हिटलर 'बाल्कन' (Balkans) की ओर बढ़ा क्योंकि इस पर आधिपत्य स्थापित करके वह ईरान और मिस्र की तरफ बढ़ना चाहता था। जर्मनी ब्रिटिश साम्राज्य को छिन्न-भिन्न करने पर कटिबद्ध था। इसलिए 20 अक्टूबर, 1940 को ग्रीस को इस आशय का अल्टीमेटम दिया गया कि वह सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रदेश जर्मनी को सौंप दे। अल्टीमेटम की अवधि मात्र 3 घण्टे की थी। इस अल्पकाल के बीतने के पूर्व ही ग्रीस पर आक्रमण कर दिया गया जिसका भार प्रारंभ में इटली को सौंपा गया। ग्रीस को अन्य राष्ट्रों की सहायता मिली और इटली की फौजें विजय पाने में असफल रहीं। तब हिटलर ने हंगरी, रूमानिया और बल्गारिया को अपने साथ मिलाया। यूगोस्लाविया को भी जर्मन-पक्ष में लाना जरूरी था, लेकिन वहाँ की सरकार ने हिटलर की संधि की शर्तों को ठुकरा दिया जिसके फलस्वरूप 6 अप्रैल, 1941 को यूगोस्लाविया के राजा पीटर (Peter) पर हमला बोल दिया गया और कुछ ही दिनों में उसे परास्त कर दिया गया। अब जर्मन सेना ने ग्रीस पर हमला बोला और अप्रैल के अन्त तक उसे अपने आधिपत्य में कर लिया। जर्मन आक्रमण के भय से ग्रीस का राजा और उसकी सरकार क्रीट (Creat) द्वीप में चली गई, अत: 20 मई, 1941 को जर्मन फौजें क्रीट में भी उतर आईं तथा मई के समाप्त होते-होते क्रीट जर्मनी के अधीन हो गया।

बल्कान पर अपने प्रभुत्व की स्थापना के बाद जर्मन फौजें जनरल रोमेल की अध्यक्षता में अफ्रीका की और मुड़ीं और उसे ब्रिटिश प्रभाव से मुक्त कर दिया गया। सैनिक दृष्टि से सीरिया पर विजय प्राप्त करना बहुत महत्त्वपूर्ण था लेकिन विरोधी पक्ष भी कम चालाक नहीं था। ब्रिटेन ने पेलेस्टाइन की ओर घुसकर सीरिया पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित कर लिया। ब्रिटिश फौजों ने इराक पर आक्रमण करके उसे अपने अधीन किया। ईरान में जर्मनी का प्रभाव बढ़ रहा था, और ब्रिटेन व रूस दोनों ही इस बात से आशंकित थे। अत: ईरान पर ब्रिटेन और रूस दोनों ही के द्वारा आक्रमण किया गया। वहाँ अल-फरूकी की नई सरकार बनी जिसने दोनों राष्ट्रों से संधि कर यह वचन दिया कि ईरान को नाजियों के प्रभाव से मुक्त रखा जाएगा। ब्रिटेन को खनिज तेल देने का भी आश्वासन दिया गया। इस तरह दूसरी बार जर्मनी की प्रगति को ठोकर लगी। पूर्व का रास्ता जर्मनी के लिए एकदम बंद कर दिया गया। यह कार्य ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ।

2. द्वितीय चरण (Second Phase): बल्कान प्रायद्वीप पर आधिपत्य स्थापित करने के पश्चात् जर्मनी के लिए सोवियत रूस पर आक्रमण करना पूर्वपेक्षा अधिक सरल हो गया, यद्यपि दोनों देशों के मध्य सन् 1939 में ही अनाक्रमण समझौता सम्पन्न हो चुका था। इस विषय में पामर और पर्किंग (Palmer and Perkins) का मत है कि इस अनाक्रमण समझौते से हिटलर ने पोलैण्ड के मामले में रूस के हस्तक्षेप तथा अपने लिए पीछे की ओर से सुरक्षा की स्थिति अर्जित की थी ताकि ब्रिटेन और फ्रांस पर हमला करते समय उसे रूस की ओर से कोई भय न रहे, जबकि रूस उस समय स्वयं को सैनिक दृष्टि से सुदृढ़ करने का अवसर चाह रहा था और उसकी यह भी धारणा थी कि जब नाजी जर्मनी और मित्र-राष्ट्र परस्पर संघर्ष से पूर्णत: थक जाएँगे और क्षतिग्रस्त हो चुकेंगे तो यूरोप में सोवियत रूस ही सर्वोच्च शक्ति रह जाएगा।

बल्कान क्षेत्र में रूस और जर्मनी दोनों ही अपने प्रभुत्व के आकांक्षी थे। अत: जब हिटलर ने रूमानिया आदि देशों को अपने कब्जे में लिया, तो रूस को यह बड़ा अनुचित लगा। इसी तरह जब बल्गारिया और यूगोस्लाविया पर हिटलर ने आधिपत्य जमा लिया तो यह स्पष्ट हो गया कि जर्मनी और सोवियत रूस के मध्य अनाक्रमण समझौते के बावजूद संघर्ष अवश्यम्भावी है।

नोट

हिटलर को विश्वास था कि रूस एक कमजोर राष्ट्र है जिसे परास्त करना आसान होगा। अत: 22 जून, 1941 को जर्मन बमवर्षकों ने सोवियत हवाई अड्डों पर भयंकर धावा बोल दिया। एक भारी सैनिक दस्ता लेनिनग्राड (Leningrad) की ओर बढ़ा, दूसरा मास्को की ओर तथा तीसरा कॉकेशस (Cocasus) की दिशा में। ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका तुरन्त रूस की सहायता के लिए दौड़े, परन्तु कुछ कर न पाए। शीघ्र ही यूक्रेनिया जर्मनी के हाथ में चला गया। उसकी उत्तरी सेनाएँ लेनिनग्राड तक पहुँच गईं। जो सेना स्मोलस्क की ओर बढ़ रही थी वह मास्को के निकट थी। इन दोनों ही नगरों पर बड़ा भीषण आक्रमण हो रहा था। हिटलर चाहता था कि सर्दी आने से पहले ही रूस पर कब्जा कर लिया जाए। लेकिन अपने महान् नेता स्टालिन (Stalin) के अधिनायकत्व में रूसी जनता अदम्य साहस के साथ शत्रु का मुकाबला करती रही। रूसी सेनाओं ने नाजी फौजों को पीछे खदेड़ना शुरू कर दिया। उनके युद्ध-कौशल ने जर्मन सेना को अंदर तक खींचकर और फिर जाड़ा शुरू होते ही उस पर भयंकर प्रहार करके उसे असहाय बना दिया। वास्तव में हिटलर की यह भयंकर भूल थी कि पश्चिम के शत्रुओं का पूर्ण विनाश किए बिना ही उसने पूर्व की ओर कदम बढ़ा लिया। इसके अतिरिक्त युद्ध संबंधी उसकी एक बड़ी गलती यह भी थी कि उसने अपनी सेनाओं को केन्द्रित न करके रूस की विस्तृत सीमा में चारों ओर फैला दिया था। अत: उसकी शक्ति छितरी हुई रही और क्षीण हो गई जिसके परिणामस्वरूप रूस के भीषण जाड़े से काँपती जर्मनी सेनाओं पर जब रूसी फौजों ने भयानक आक्रमण करना शुरू किया तो विजय की ओर अग्रसर होने वाला जर्मनी अचानक ही बुरी तरह पराजित हो गया।

3. तृतीय चरण (Third Phase): युद्ध का तृतीय चरण 7 दिसम्बर, 1941 को प्रारंभ हुआ जब जापान ने पर्लहार्बर (Pearl Harbour) पर आक्रमण किया। वास्तव में कुछ समय से अमेरिका के जापान से संबंध शिथिल हो चले थे। सन् 1939 में जापान का चीन पर आक्रमण अमेरिका की नाराजगी का प्रमुख कारण था। नाराज अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने जापान द्वारा चीन पर आक्रमण के कारण जापान के निर्यात पर प्रतिबंध लगा दिया। अमेरिका के इस कदम की टोकियो (Tokyo) में तीव्र प्रतिक्रिया हुई और 27 दिसम्बर, 1940 को जर्मनी के साथ जापान ने 10 वर्ष के लिए सैनिक संधि कर ली और तत्पश्चात् उसने मास्को के साथ अनाक्रमण एवं तटस्थता का समझौता भी सम्पन्न किया। इसके बाद फ्रांस पर दबाव डालकर हिन्दचीन के संबंध में सैनिक समझौते किए। जापान की इन कार्यवाहियों से ब्रिटेन और अमेरिका ने कठोर रुख अपनाया और जापान के साथ अपना मुख्य व्यापार स्थगित कर दिया। इधर जापान में भी सैनिकवादियों का जोर बढ़ रहा था।

जापान ने समझौते के सभी प्रस्तावों के प्रति असहयोग का रुख अपनाया और 7 दिसम्बर, 1941 को अचानक ही पर्लहार्बर पर भयानक नौ-सैनिक हमला कर दिया। जापान के इस आकस्मिक हमले से अमेरिका की लगभग आधी समुद्री शक्ति नष्ट को गई, अत: अब अमेरिका को भी खुले तौर पर लड़ाई के मैदान में उतरना पड़ा। जिस दिन पर्लहार्बर पर आक्रमण किया गया उसी दिन शंघाई, हांगकांग, मलाया और सिंगापुर पर भी बम बरसाए गए। अत: अब युद्ध यूरोप और अफ्रीका तक ही सीमित न रहा प्रत्युत् एशिया, अमेरिका और प्रशान्त महासागर में भी फैल गया।

जापान के आक्रमण की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। लेटिन अमेरिका के नव-राष्ट्रों ने भी अमेरिका की ओर से जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। ग्रेट ब्रिटेन और कनाडा अमेरिका के साथ सम्मिलित हो गए और चीन भी धुरी राष्ट्रों के खिलाफ अखाड़े में उतर आया। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड भी इस युद्ध में शामिल हो गए। ग्रीस, यूगोस्लाविया और फ्रांस की निर्वासित सरकारों ने भी मित्र-राष्ट्रों का साथ दिया। ठीक इसी प्रकार, धुरी राष्ट्रों के मित्र-राज्यों ने भी उनका पक्ष लिया। 11 दिसम्बर को इटली, जर्मनी और जापान–ये तीनों राष्ट्र सामूहिक रूप से युद्ध संचालन के लिए वचनबद्ध हो गए। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्वयुद्ध की लपटों में घिर गया और युद्ध करने वाले दो पक्ष स्पष्ट हो गए। एक ओर थे धुरी राष्ट्र और दूसरी तरफ थे मित्र-राष्ट्र।

जापान ने जिस तीव्रगति से आक्रमण किया, उसी अनुपात में प्रारंभ में उसे सफलता भी प्राप्त हुई। जापान की सेना युद्ध के लिए पूर्ण प्रशिक्षित थी, अत: वह विजय प्राप्त करती रही। 8 महीने तक मित्र-राष्ट्रों की किसी-न-किसी

नोट

स्थान पर निरंतर बड़ी-बड़ी पराजय होती रहीं। जापान हांगकांग, ग्वांम, फिलिपाइन, स्याम, मलाया, सिंगापुर आदि को रौंदता हुआ आगे बढ़ता गया। ब्रिटेन अपनी 70 हजार सेना से भी सिंगापुर की रक्षा न कर सका। जापानियों के युद्ध-कौशल तथा दूरदर्शिता ने ब्रिटेन फौजों के छक्के छुड़ा दिए। इसके उपरांत जापान बर्मा में बढ़ा। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की आजाद हिन्द फौज ने भी जापान का साथ दिया। जापान ने रंगून पर अधिकार करके चीनियों और अंग्रेजों को पीछे खदेड़ दिया।

पूर्वी एशिया में जापान का प्रभुत्व स्थापित हो गया जो इस बात का द्योतक था कि इन प्रदेशों की जनता पुराने साम्राज्यवादी शासकों से मुक्ति पाने की अभिलाषी थी। सम्भवत: इसीलिए जापान इतनी सुगमता से आगे बढ़ सका।

4. चतुर्थ चरण (Fourth Phase): यद्यपि यूरोप में जर्मन फौजों को अभूतपूर्व सफलता मिलती जा रही थी, किन्तु शीघ्र ही उसे मुँह की खानी पड़ी। भूमध्य सागर और पूर्वी अफ्रीका में ब्रिटेन कमजोर पड़ गया था, अत: इटली ने मौका न चूकते हुए ब्रिटिश उपनिवेशों पर हमला बोल दिया। ब्रिटेन और इटली में जो संघर्ष शुरू हुआ, वह अधिकांशत: वायु आक्रमण तक ही सीमित रहा। इटली ब्रिटेन के पूर्वी अफ्रीकी प्रदेशों पर अधिकार करने में सफल हुआ लेकिन इससे उसे कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचा। इसलिए उसने भूमध्य सागर में ब्रिटिश प्रभाव को कम करने के उद्देश्य से इटली की फौजों ने दिसम्बर, 1940 में मिस्र स्थित ब्रिटिश फौजों पर हमला बोल दिया; परन्तु अन्त में मार्च, 1941 में इटली की फौजों को पराजय का सामना करना पड़ा। अप्रैल, 1941 में जनरल रोमेल (Romel) के नेतृत्व में इटली की सेनाओं ने पुन: विजय प्राप्त की। इस तरह का उतार-चढ़ाव अक्तूबर, 1942 तक चलता रहा। लेकिन शीघ्र ही मॉण्टगोमरी (Montgomery) की सेना ने जर्मन फौजों को खदेड़ कर लीबिया से बाहर निकाल दिया और शनै: शैन: रोमेल की सेना को मिस्र छोड़ना पड़ा। मॉण्टगोमरी की फौजों ने जब ट्रिपोली (Tripoli) में प्रवेश किया तो मिस्र की अन्तिम लड़ाई लड़ी गई और रोमेल की सेना भगा दी गई। इस तरह इटली का अफ्रीकी साम्राज्य विनष्ट हो गया।

जब मॉण्टगोमरी की सेना पूर्वी अफ्रीका से धुरी राष्ट्रों को हटाने में व्यस्त थी उस समय पश्चिम की ओर से अमेरिका सेनाध्यक्ष आइजनहोवर (Eisenhover) के सेनापतित्व में अमेरिकी फौजे उनका दमन करने में लगी थीं। अत: नवम्बर, 1942 में आइजनहोवर के नेतृत्व में मित्र-राष्ट्रीय फौजें उत्तरी अफ्रीका में उतारी गई और अन्त में अफ्रीका को जर्मनी के चुंगल से मुक्त कर लिया गया।

14 जनवरी, 1943 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल और अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने कैसाब्लाँका (Casablanca) में एक गुप्त सम्मेलन किया जिसमें सन् 1943 में युद्ध-संचालन के लिए योजना बनाई गई।

10 जुलाई, 1943 को मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं ने सिसली (Sicily) पर आक्रमण किया। शीघ्र ही सिसली पर मित्र-राष्ट्रों का आधिपत्य स्थापित हो गया। 18 जुलाई, 1943 को मित्र-राष्ट्रों ने संगठित रूप से इटली पर धावा बोला। इस समय हिटलर स्वयं बड़ी कठिनाई में फँसा हुआ था, अत: वह मुसोलिनी को तनिक भी सहायता न दे सका। इस समय स्वयं इटली में भी जनमत मुसोलिनी के विरुद्ध हो रहा था क्योंकि युद्ध में अभी तक कहीं भी इटली को संतोषजनक सफलता नहीं मिल सकी थी। 22 जुलाई को फासिस्ट हाई कमाण्ड ने मुसोलिनी से त्यागपत्र माँगा, अगले दिन इटली के सम्राट ने मुसोलिनी को उसके पद से हटा दिया और उसको गिरफ्तार करा लिया। नए प्रधानमंत्री ने आरम्भ में युद्ध जारी रखा, परंतु 3 दिसम्बर, 1943 को उसने आत्मसमर्पण कर दिया। इस पर जर्मनी बीच में कूद पड़ा और मित्र-राष्ट्रों की सेना के आने से पूर्व ही जर्मन सेना इटली में प्रविष्ट हो गई। जर्मन फौजों ने मुसोलिनी को मुक्त कराया। मुसोलिनी जर्मनी पहुँच गया और वहाँ से उसने फिर इटली को अपने प्रभाव में लाने की चेष्टा की लेकिन अब यह सब प्रयास व्यर्थ थे। पासा तेजी से पलटने लगा और मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं ने शनै: शनै: इटली पर आधिपत्य जमा लिया तथा 4 जून, 1944 को रोम (Rome) नाजियों के चुंगल से मुक्त हो गया। इटली की भूमि पर अवशिष्ट जर्मन सेनाएँ युद्ध करती रहीं, पर अन्त में 2 मई, 1945 को उन्होंने हथियार डाल दिया।

नोट

सोवियत रूस के साथ होने वाले संघर्ष में भी जर्मन फौजों को निरन्तर पराजय का मुख देखना पड़ रहा था। सन् 1943 के समाप्त होते-होते रूसी फौजों ने जर्मन आधिपत्य में गए हुए अधिकोष भू-भाग को मुक्त करा लिया। जनवरी, 1944 से रूस का आक्रमण और भी भयानक हो उठा, और बसन्त के समाप्त होते-होते रूसी फौजें जर्मनी तथा उसके पिछलग्गू राष्ट्रों की सरहद के समीप आ गई। जिस साहस के साथ लाल सेना (Red Army) ने जर्मन सेना को पराजित किया, वह विश्व-इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

ब्रिटेन के 400 बमवर्षक वायुयानों ने बर्लिन पर भीषण बमवर्षा की और 30 मई, 1944 को एक हजार वायुयानों से जर्मनी के कोलोन (Colone) नगर को मिट्टी में मिला दिया था। पूरे एक वर्ष तक इसी तरह भयंकर बमवर्षा होती रहीं।

फलत: 1943 के नवम्बर-दिसम्बर में तेहरान (Teheran) में चर्चिल, रूजवेल्ट और स्टालिन के मध्य एक सम्मेलन हुआ जिसमें हिटलर पर चढ़ाई करने की संयुक्त योजना तैयार की गई।

अब जर्मनी का पतन सन्निकट था। 8 मार्च, 1944 को दो हजार अमेरिकी बमवर्षकों ने बर्लिन (Berlin) पर भयंकर अग्नि वर्षा की। 5 जून, 1944 को उसे अन्तिम संघर्ष की चुनौती दे दी गई। फ्रांस के उत्तर-पश्चिमी समुद्र तट पर मित्र-राष्ट्रों की सेनाएँ उतार दी गई। दिसम्बर, 1944 तक 3 लाख से भी अधिक फौजें फ्रांस पहुँच गई। फ्रांस के तटवर्ती जर्मन किलेबन्दी तथा जर्मन फौजों पर भीषण बमवर्षा की गई। उधर स्वतंत्र फ्रांस की सेना भी भीतर से मित्र-राष्ट्रों की सेना को प्रत्येक सम्भव सहायता देने लगी। 15 अगस्त, 1944 को फ्रांस के पूर्व भूमध्य-सागरीय तट पर मित्र-राष्ट्रीय फौजें उतारी गईं। तूलो तथा मारसेलीज (Tulo and Morcellese) के बन्दरगाह पर मित्र-राष्ट्रों का कब्जा हो गया। 23 अगस्त, 1944 को फ्रांस स्थित जर्मन सेनापति से सुलह-वार्ता चालू हुई और 25 अगस्त को जर्मन अधिकृत पेरिस का पतन हो गया। जर्मन फौजों ने फ्रांस में आत्मसमर्पण कर दिया। इसी समय जनरल डिगॉल (De Gaul) अपनी सेना के साथ पेरिस आ पहुँचा। उसका भव्य स्वागत हुआ और उसके नेतृत्व में फ्रांस में अन्तरिम सरकार स्थापित की गई।

फ्रांस को मुक्त कराने के पश्चात् मित्र-राष्ट्रीय फौजें मध्य यूरोप की ओर बढ़ी। स्कैण्डेनेविया, डेनमार्क, हॉलैण्ड आदि अभी तक जर्मनी के अधीन थे और उन्हें मुक्त कराना आवश्यक था। मित्र-राष्ट्रीय फौजों ने अपना लक्ष्य पूरा किया। इधर रूस भी फिनलैण्ड और पोलैण्ड को मुक्त करा रहा था। सन् 1944 के अन्त तक लैटविया, इस्टोनिया और लिथुआनिया के अधिकांश भाग को जर्मन-नियंत्रण से स्वाधीन करा लिया गया। अब रूस ने बल्कान प्रायद्वीप की ओर कदम बढ़ाया। इस प्रायद्वीप के राष्ट्र एक-एक कर रूस से सुलह करने लग गए। रोमानिया, बल्गारिया, यूगोस्लाविया आदि सभी मित्र-राष्ट्रों के पक्ष में हो गए। हंगरी ने रूस का विरोध किया, लेकिन उसे रूसी फौजों ने हराकर आत्मसमर्पण के लिए विवश कर दिया। ग्रीस चेकोस्लोवाकिया भी रूसी फौजों द्वारा जर्मन आधिपत्य से मुक्त करा लिया गए।

5. पंचम चरण (Fifth Phase)–यूरोप में जर्मनी को परास्त करने के पश्चात् मित्र-राष्ट्रों का ध्यान सुदूरपूर्व में जापान को पराजित करने की ओर गया। ब्रिटिश फौजें बर्मा की ओर बढ़ी और जापान से बर्मा को मुक्त कराया गया। तत्पश्चात् मलाया (Malaya) का उद्धार हुआ। फिलिपाइन पर अमेरिकी फौजों ने कब्जा कर लिया और सिंगापुर पुन: ब्रिटिश आधिपत्य में आ गया। अब केवल जापान ही शेष रहा। अत: जनरल मेकार्थर (Mc Arther) के सेनापतित्व में जापान पर भीषण आक्रमण शुरू हुआ जापान की नौ-सेना को भीषण हानि पहुँचाई गई। जापानी बन्दरगाह भयानक बमवर्षा के शिकार बने। चीन के च्याँगकाई शेक ने भी जापान के कब्जे से अपने प्रदेशों को मुक्त कराना आरम्भ किया। मित्र-राष्ट्रों ने जापान से साम्राज्यवादी नीति का परित्याग करने की अपील की। 26 जुलाई, 1945 को अपने पोट्सडम सम्मेलन (Postdam Conference) में मित्र-राष्ट्रों ने जापान से बिना शर्त आत्मसमर्पण की माँग की। जापान द्वारा यह प्रस्ताव ठुकरा दिया गया जिसके परिणामस्वरूप 6 अगस्त, 1945 को जापान के समृद्ध नगर हिरोशिमा (Hiroshima) पर अमेरिका द्वारा पहला अणुबम डाला गया। परंतु जापान फिर भी नहीं झुका। उधर

नोट

रूस ने भी जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी लेकिन जापान विचलित नहीं हुआ। 9 अगस्त, 1945 को अमेरिका ने जापानी नगर नागासाकी (Nagasaki) पर अपना दूसरा अणुबम गिराया। बस यहीं जापान के प्रतिरोध का अन्त था। 14 अगस्त को जापान ने बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया। जापान की तरफ से अस्वीकृति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। पूर्व में जापान की इस पराजय के बाद द्वितीय महायुद्ध की विभीषिका का अन्त हुआ।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. ..... को अमेरिका ने जापानी नगर नागासाकी पर अपना दूसरा अणुबम गिराया था।
   (क) 9 अगस्त, 1945 (ख) 6 अगस्त, 1945
   (ग) 15 अगस्त, 1947 (घ) इनमें से कोई नहीं
5. युद्ध का तृतीय चरण ..... को प्रारंभ हुआ जब जापान ने पर्लहार्बर पर आक्रमण किया।
   (क) 7 जनवरी, 1941 (ख) 7 फरवरी, 1941
   (ग) 7 दिसंबर, 1941 (घ) 7 मार्च, 1941
6. फ्रांस की दयनीय स्थिति देखकर ..... को इटली ने फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।
   (क) 10 जून, 1940 (ख) 10 मई, 1940
   (ग) 10 मार्च, 1940 (घ) 10 जुलाई, 1940

28.3 द्वितीय महायुद्ध के परिणाम (Effects of II World War)

द्वितीय महायुद्ध एक संपूर्ण युद्ध (Total War) था। यह युद्ध इतना व्यापक था कि प्राय: समूचा विश्व इसकी लपेट में था, संयुक्त राज्य अमेरिका पर भी कुछ बमवर्षा हुई और यूरोप, अफ्रीका, एशिया, अटलांटिक सागर, प्रशान्त महासागर आदि सभी क्षेत्रों में भीषण नरसंहार हुआ। इस युद्ध की नीति भी पूर्ववर्ती युद्धों से भिन्न थी। हिटलर के विद्युत-वेगीय (Blizkrieg) युद्ध ने समग्र संसार को चकित कर दिया। जो विजय महीनों और वर्षों में होती थी, वह सप्ताहों और दिनों में हो गई। यह युद्ध राष्ट्रों का ही नहीं अपितु विचारों या सिद्धान्तों का भी युद्ध था। एक ओर हिटलर का नाजीवाद, मुसोलिनी का फासिस्टवाद और जापान का शिन्तोवाद (शिन्तो धर्म) था तो दूसरी ओर लोकतांत्रिक देश थे जिन्होंने मानव स्वतंत्रता की रक्षा के लिए, सभ्यता और संस्कृति की सुरक्षा के लिए इन अधिनायकवादी देशों की चुनौती को स्वीकार किया था। महायुद्ध के समय इन दोनों विचारधाराओं के प्रतिकूल–किन्तु फिर भी अधिनायकवादी तत्व के अधिक अनुकूल एक तीसरी विचारधारा थी–साम्यवाद। परिस्थितियों ने उसे लोकतांत्रिक देशों के साथ लाकर खड़ा कर दिया। साम्यवादी रूस, ब्रिटेन, फ्रांस और संयुक्त राज्य से कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध लड़ा परन्तु दोनों विचारधाराओं में जो आकाश-पाताल का अन्तर था, उसने युद्ध की समाप्ति पर दोनों में पुन: रस्साकशी प्रारम्भ कर दी।

टास्क युद्ध का तृतीय चरण कब प्रारंभ हुआ?

द्वितीय महायुद्ध के बड़े क्रान्तिकारी परिणाम निकले। प्रमुख परिणाम संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किए जा सकते हैं–

1. द्वितीय महायुद्ध इतना विनाशकारी था कि अभी तक इस विनाश का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता है।

नोट

फिर भी, अनुमानत: 2,000 करोड़ रुपये के मूल्य की सम्पत्ति अकेले ब्रिटेन में नष्ट हुई। रूस की राष्ट्रीय सम्पत्ति का 1/4 भाग नष्ट हुआ और फ्रांस, जर्मनी, पोलैण्ड आदि देशों की साम्पत्तिक क्षति का तो अनुमान लगाना भी कठिन है। दोनों पक्षों के लगभग $2\frac{1}{2}$ करोड़ से अधिक सैनिक मारे गए और 1 करोड़ से अधिक घायल हुए। इसके अतिरिक्त करोड़ों असैनिक नागरिकों का जीवन बमवर्षा आदि कारणों से नष्ट हो गया। 1 लाख करोड़ से अधिक रुपयों का व्यय तो केवल मित्र-राष्ट्रों का हुआ और सम्भवत: इससे कम व्यय धुरी राष्ट्रों का भी नहीं हुआ होगा।

2. यूरोपीय देशों के साम्राज्यों में स्वतंत्रता की भावनाएँ जाग्रत हुईं। परिस्थितियों से बाध्य होकर महायुद्ध के बाद ब्रिटिश साम्राज्य ने अपनी नीति में परिवर्तन कर भारत, बर्मा, पाकिस्तान, मलाया, मिस्र आदि देशों को स्वतंत्रता प्रदान की। बाद में अफ्रीकी देशों को भी स्वतंत्रता मिली, लेकिन कुछ देश स्वतंत्र नहीं हो सके। फ्रांसीसी हिन्द चीन में फ्रांसीसी साम्राज्य समाप्त हो गया। कम्बोडिया, लाओस और वियतनाम (दो भागों में) स्वतंत्र हो गए। हॉलैण्ड के उपनिवेश शोंजावा, सुमात्रा, बोर्निया आदि ने हिन्देशिया (Indonesia) नामक संघ-राज्य की स्थापना की और वह भी स्वतंत्र हो गया। जर्मनी, इटली और जापान का साम्राज्य भी अस्त-व्यस्त हो गया। जर्मनी दो भागों में विभक्त हुआ–पश्चिमी जर्मनी और पूर्वी जर्मनी। पश्चिमी जर्मनी मित्र-राष्ट्रों के प्रभाव-क्षेत्र में आया तो पूर्वी जर्मनी रूसी प्रभाव-क्षेत्र में गया। जापान के क्यूराइल (Kuriles) द्वीपों और दक्षिणी शखलिन (Sakhalin) पर रूस ने अधिकार कर लिया, फारमोसा (Formosa) चीन ने ले लिया और कोरिया में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा रूस ने अपने-अपने क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया और उन्हें उचित समय पर स्वतंत्रता प्रदान करने का आश्वासन दिया। जापान को महायुद्ध से पहले जो द्वीप संरक्षण व्यवस्था (Mandate System) के अन्तर्गत दिए गए थे वे संयुक्त राष्ट्र-संघ की देखरेख में न्यास-व्यवस्था के अंतर्गत संयुक्त राज्य को हस्तांतरित कर दिए गए। इस प्रकार 4 मूल द्वीपों और समीपवर्ती छोटे-छोटे द्वीपों पर ही जापान की सम्प्रभुता शेष रह गई। यह सम्प्रभुता भी पूर्ण नहीं थी क्योंकि मित्र-राष्ट्रों की ओर से संयुक्त राज्य का मैकार्थर जापान में सर्वोच्च सेनानायक था जो व्यावाहारिक दृष्टि से वहाँ का अधिनायाक था। इटली भी अपने औपनिवेशिक साम्राज्य से वंचित कर दिया गया–लीबिया, इरीटीरिया और इतालवी सोमालीलैण्ड उसके अधिकार में नहीं रहे। उसने एबीसीनिया और अल्बानिया की स्वतंत्रता और सम्प्रभुता को मान्यता प्रदान कर दी। उत्तर-पश्चिमी सीमा पर फ्रांस को तथा यूगोस्लाविया को कुछ भू-क्षेत्र दिए गए। एड्रियाटिक क्षेत्र में भी कुछ भाग यूगोस्लाविया को मिल गया।

3. विश्व का नेतृत्व ग्रेट ब्रिटेन के हाथ से निकल कर संयुक्त राज्य अमेरिका के हाथों में चला गया और उधर साम्यवादी रूस में विश्व-नेतृत्व की महत्त्वाकांक्षा ने घर कर लिया। युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया कि अब संसार में दो ही महानतम शक्तियाँ हैं–सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका। सोवियत संघ साम्यवादी विचार की विजय का प्रतीक बन गया तथा संयुक्त राज्य अमेरिका लोकतंत्रवादी आकांक्षाओं का। संयुक्त राज्य अमेरिका ही संसार में एकमात्र ऐसा देश था जिसे युद्ध केवल नगण्य हानि पहुँचा सका था। युद्ध न तो उसकी भूमि पर लड़ा गया था और न उसे जन-धन की कोई क्षति पहुँची थी। इसके विपरीत युद्ध के परिणामस्वरूप उसके उद्योगों में लगभग 50 प्रतिशत और खेती में 36 प्रतिशत वृद्धि हुई थी। उसके पास अणु बम का रहस्य था जो उसे संसार में सर्वाधिक शक्ति प्रदान कर रहा था। उसकी मुद्रा स्थिर थी और वह सारे युद्ध-पीड़ित जगत के लिए एक आर्थिक सहारा बन गया था। प्रत्येक देश उसकी सहायता के लिए लालायित था।

4. फ्रांस की स्थिति भी दयनीय थी। जर्मनी के आधिपत्य ने उसे तहस-नहस कर डाला था और उसकी राजनीतिक व आर्थिक स्थिति बहुत चिन्ताजनक हो गई थी। पराजय के कलंक और उसकी लज्जा ने फ्रांस की जनता के नैतिक साहस पर गहरा आघात किया था। चीन, इण्डोचाइना, स्याम, बर्मा आदि ने धन-जन की भारी क्षति सही थी और वे मानव-जाति के इतिहास में सबसे अधिक भयंकर आर्थिक एवं राजनीतिक संकट में फँस गए थे। रूमानिया, बल्गारिया, हंगरी, फिनलैण्ड आदि देशों की सीमाएँ निश्चित कर दी गईं और उन्होंने मानव-अधिकारों तथा मूलभूत स्वतंत्रताओं को प्रदान करने का आश्वासन दिया। बल्गारिया की सीमाओं में वृद्धि हो गई क्योंकि उसे रूमानिया से

नोट

डोबूजा मिल गया। रूमानिया को वेसरेबिया प्रान्त रूस को देना पड़ा। हंगरी ने ट्रांसिलवानिया रूमानिया को लौटा दिया और स्लोवाक क्षेत्र चेकोस्लोवाकिया को देने पड़े। फिनलैण्ड ने कैरेलिन डमरूमध्य तथा पैट्समों प्रान्त रूस को दे दिए।

5. विश्व की अशान्ति को दूर करने के लिए मानव ने अपने हृदय को पुन: टटोला। एक बार फिर लोकतांत्रिक देशों ने शांति की खोज के प्रयास किए और 24 अक्तूबर, 1945 को संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थापना कर दी गई।

6. युद्ध के फलस्वरूप सर्वाधिक लाभ यदि किसी राज्य को पहुँचा या उसकी भूमि का विस्तार हुआ तो वह रूस था। उसके राज्य में आधा पोलैण्ड, इस्टोनिया, लेटविया, लिथुआनिया, फिनलैण्ड का कुछ भाग, रुथेनिया, पूर्वी प्रशा का कुछ भाग आदि मिला दिए गए और रूस का जर्मन-क्षेत्र बर्लिन से एल्ब तक बना दिया गया। रूस अब यूरोप में एक अत्यंत शक्तिशाली राष्ट्र बन गया। केन्द्रीय यूरोप और बल्कान देशों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति रूस के अंतर्गत विलीन हो गई। यहाँ की आंतरिक और विदेश नीति में रूस का प्रभाव बढ़ गया और मुद्रण तथा भाषण की स्वतंत्रता इन प्रदेशों में कहने भर के लिए रह गई। पूर्वी और केन्द्रीय यूरोप में प्रजातंत्रीय व्यवस्था घर न कर सकी क्योंकि प्रथम तो हिटलर ने इन परम्पराओं का लोप कर दिया था और दूसरे रही-सही परम्पराओं का अस्तित्व समाजवादी प्रचार ने समाप्त कर दिया।

28.4 युद्ध अपराध (War Crimes)

फरवरी, 1945 में सम्पन्न हुए याल्टा सम्मेलन (Yalta Conference) में ब्रिटेन, अमेरिका और सोवियत रूस–इन तीन महाशक्तियों ने यह निश्चय किया था कि युद्ध के बाद क्रूरता करने वाले व्यक्तियों के विरुद्ध मुकदमे चलाने के संबंध में आवश्यक कार्यवाही की जाएगी। इसके पहले अक्तूबर, 1943 के मास्को सम्मेलन (Mosco Conference) में यह घोषणा की गई थी कि जर्मनी के साथ विरामसंधि करते समय इस बात का ध्यान रखा जाएगा कि भीषण और अमानवीय क्रूरताएँ करने वाले व्यक्तियों को दण्ड दिया जाए।

उपर्युक्त निश्चयों की क्रियावान्ति करने हेतु एक संयुक्त राष्ट्रीय युद्ध-अपराध आयोग (The United Nations War Crime Commission) की स्थापना की गई जिसका कार्य युद्ध-अपराधियों की सूची तैयार करना था। वास्तव में 'अमानवीय अपराधी' द्वितीय महायुद्ध एक सर्वाधिक भयानक पक्ष था।

28.5 सारांश (Summary)

पूर्वी पोलैण्ड पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् सोवियत रूस नाजी शक्ति के भय से अपनी सुरक्षा व्यवस्था को पूर्णत: सुदृढ़ कर लेना चाहता था। उसने इसी दृष्टि से इस्टोनिया, लेटविया, लिथुआनिया और फिनलैण्ड से घनिष्ठ संबंध स्थापित करने के प्रयास किए। प्रथम तीनों देशों से उसकी संधियाँ हो गईं लेकिन फिनलैण्ड ने संधि करने से इन्कार कर दिया जिसका प्रत्युत्तर उसे 30 नवम्बर, 1939 की रूसी आक्रमण द्वारा मिला। घमासान युद्ध में फिनलैण्ड पराजित हुआ तो उसका महत्त्वपूर्ण भाग रूस में मिला लिया गया।

28.6 शब्दकोश (Keywords)

1. प्रतिद्वंद्विता (Rivalry)–प्रतिस्पर्धा।
2. उत्तरदायित्व (Responsibility)–जवाबदेही, जिम्मेवारी।

28.7 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

नोट

1. द्वितीय महायुद्ध के कारणों पर प्रकाश डालिए।
2. द्वितीय महायुद्ध की गतिविधि को कितने चरणों में बाँट सकते हैं? वर्णन कीजिए।
3. द्वितीय महायुद्ध के परिणाम ज्ञात कीजिए।
4. 'युद्ध अपराध' से क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. जर्मनी
2. राष्ट्र संघ की स्थापना
3. नपुंसकता
4. (क) 9 अगस्त, 1945
5. (ग) 7 दिसंबर, 1941
6. (क) 10 जून, 1940

28.8 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*
2. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
3. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
4. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
5. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
6. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
7. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*

नोट

इकाई 29 : जनांकिकी (Demography)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

29.1 जनांकिकी का अर्थ: क्षेत्र, विषय-सामग्री एवं महत्त्व (Meaning of Demography: Scope, Subject-Matter and Importance)

29.2 जनांकिकी की विषय-सामग्री तथा क्षेत्र (Subject-Matter and Scope of Demography)

29.3 जनांकिकीय विश्लेषण की विधियाँ (Techniques of Demographic Analysis)

29.4 जनांकिकीय विश्लेषण के लिए दो पद्धतियों का प्रयोग आवश्यक (Use of Both the Methods Essential for Demographic Analysis)

29.5 जनांकिकी का अन्य विज्ञानों से संबंध (Relationship of Demography with other Sciences)

29.6 जनांकिकी तथा समाजशास्त्र (Demography and Sociology)

29.7 जनांकिकी तथा भूगोल (Demography and Geography)

29.8 जनांकिकी तथा अर्थशास्त्र (Demography and Economics)

29.9 जनांकिकी एवं मानव-पर्यावरण विज्ञान (Demography and Human Ecology)

29.10 जनांकिकी तथा मानव-विज्ञान (Demography and Anthropology)

29.11 जनांकिकी का महत्त्व (Importance of Demography)

29.12 सारांश (Summary)

29.13 शब्दकोश (Keywords)

29.14 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

29.15 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- जनांकिकी का अर्थ जानने में।
- जनांकिकी विश्लेषण की विधियाँ जानने में।
- जनांकिकी का महत्त्व जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

नोट

जनसंख्या की संरचना का अध्ययन जनांकिकी की विषय-वस्तु के अंतर्गत महत्त्वपूर्ण है। जनसंख्या के आकार के अध्ययन से किसी क्षेत्र विशेष की जनसंख्या के संबंध में हमें केवल सामान्य जानकारी मिलती है किन्तु जनसंख्या की संरचना के अध्ययन से हमें उस क्षेत्र की जनसंख्या संबंधी सभी विशेषताओं की विस्तृत जानकारी प्राप्त हो जाती है। दो स्थानों की जनसंख्या की संरचना में अनेक प्रकार की भिन्नताएँ हो सकती हैं, जैसे आयु, लिंग, जाति, धर्म, निवास आदि के आधार पर भिन्नताएँ। जनसंख्या के आकार का अध्ययन जनसंख्या का समष्टिगत (Macro) चित्र प्रस्तुत करता है, जबकि जनसंख्या की संरचना का अध्ययन व्यष्टिगत (Micro) चित्र प्रस्तुत करता है।

29.1 जनांकिकी का अर्थः क्षेत्र, विषय-सामग्री एवं महत्त्व (Meaning of Demography: Scope, Subject-Matter and Importance)

अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition)

जनांकिकी अन्य विज्ञानों की तुलना में अध्ययन की नई शाखा है। इसका प्रारंभ 1662 ई. में हुआ था। जोन ग्राण्ट (John Graunt) को इसका जनक माना जाता है। इसको वैज्ञानिक आधार प्रदान करने का श्रेय **थॉमस रॉबर्ट माल्थस** (Thomas Robert Malthus) को प्रदान किया जाता है।

Demography शब्द ग्रीक भाषा के दो शब्दों Demo तथा Graphy (Demo = जनता, Graphy = लिखना) से मिलकर बना है जिसका अर्थ है जनता के विषय में लिखना। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग **आशिले गुइलार्ड** (Achille Guillard) ने किया था।

जनसंख्या से संबंधित आंकड़े किसी-न-किसी रूप में अत्यंत प्राचीन काल में भी एकत्रित किए जाते रहे हैं, किन्तु जनसंख्या संबंधी अध्ययन जनगणनाओं (census) तक ही सीमित रहा। आधुनिक युग में इसके अंतर्गत जनसंख्या के आकार, संरचना तथा विवरण का भी अध्ययन किया जाता है। जनांकिकी की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं : **आशिले गुइलार्ड** (Achille Guillard) के अनुसार, "यह (जनांकिकी) जनसंख्या के सामान्य गति और भौतिक, सामाजिक तथा बौद्धिक दशाओं का गणितीय ज्ञान है।"

हाउजर एवं डंकन (Hauser and Duncan) के मतानुसार, "जनांकिकी जनसंख्या के आकार, क्षेत्रीय वितरण तथा संरचना व उसमें परिवर्तन तथा इन परिवर्तनों के तत्व जो कि जन्म-दर, मृत्यु-दर, क्षेत्रीय गतिशीलता तथा सामाजिक गतिशीलता (सामाजिक स्तर में परिवर्तन) है, का अध्ययन करता है।"

हाउजर एवं डंकन ने जनांकिकी के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। जनांकिकी के अंतर्गत हाउजर एवं डंकन ने जनसंख्या के आकार, क्षेत्रीय वितरण तथा संरचना के अध्ययन के साथ-साथ इन परिवर्तनों को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्वों, जैसे जन्म-दर, मृत्यु-दर एवं क्षेत्रीय तथा सामाजिक गतिशीलता का भी समावेश किया है। जनसंख्या की संरचना (Composition of population) के अंतर्गत जनसंख्या की दोनों प्रकार की विशेषताओं (*i*) संख्यात्मक संरचना (Quantitative Composition), जिसके अन्तर्गत जनसंख्या का आकार, आयु के अनुसार जनसंख्या की संरचना (Age-wise composition), लिंगानुसार जनसंख्या की संरचना (Sex-wise Composition), वैवाहिक स्थिति (Marital status), राष्ट्रीयता (Nationality) आदि, तथा (*ii*) गुणात्मक पक्ष (Qualitative aspect) जिसके अंतर्गत शिक्षा, स्वास्थ्य आदि का समावेश किया जाता है। इनमें सामाजिक गतिशीलता (सामाजिक स्तर में परिवर्तन) (Social mobility–change of status) का विशेष रूप से उल्लेख किया है। वास्तव में, जनसंख्या की संरचना में केवल जन्म-दर, मृत्यु-दर तथा क्षेत्रीय गतिशीलता का ही महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है बल्कि सामाजिक स्तर में परिवर्तन; जैसे विवाहित, अविवाहित, विधुर, विधवा, रोजगारी, बेरोजगारी आदि भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तत्व हैं जो कि जनसंख्या के संख्यात्मक तथा गुणात्मक दोनों ही पक्षों को प्रभावित करते हैं।

नोट

लिवासियर (Levasseur): फ्रांसीसी विद्वान **लिवासियर** (Levasseur) के अनुसार, "जनांकिकी, मात्र जनसंख्या का विज्ञान है जो प्रमुखत: जनसंख्या के जन्म, विवाह, मृत्यु तथा गतिशीलता की गति (Movements) को सुनिश्चित करने के साथ ही साथ उन सिद्धांतों की खोज करने का प्रयास भी करता है, जो इन गतियों (Movements) को नियंत्रित करते हैं।"

लिवासियर ने प्रथमत: जनांकिकी की ऐतिहासिक उत्पत्ति को महत्त्व प्रदान किया है, तथा द्वितीयत: उसने इसका जीवन-समंकों (Vital statistics) से निकट संबंध स्थापित करने का प्रयास किया है।

बार्कले (Barclay) के मतानुसार, "जनसंख्या का संख्यात्मक चित्रण (Numerical portrayal) जनांकिकी के नाम से जाना जाता है। इसके अन्तर्गत जनसंख्या को व्यक्तियों के समग्रों (Aggregates of persons) के रूप में कुछ विशिष्ट प्रकार के समंकों के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। जनांकिकी जनसंख्या के समग्रों के व्यवहार से संबंधित है, न कि किसी विशिष्ट व्यक्ति के व्यवहार से।"

जनांकिकी के अंतर्गत जनसंख्या संबंधी विभिन्न समग्रों का अध्ययन किया जाता है जिनको जीवन-समंक (Vital statistics) कहा जाता है। जीवन-समंकों के अंतर्गत जन्म-दर, मृत्यु-दर तथा देशान्तरण का समावेश किया जाता है। वास्तव में, समाज सदा कायम रहने वाली संस्था है, किन्तु इसकी संरचना परिवर्तनशील है। समाज व्यक्तियों के समूह से मिलकर बनता है, जिसके अंतर्गत एक व्यक्ति का जन्म होता है और मृत्यु भी, परन्तु समाज की निरंतरता में किसी भी प्रकार का अंतर नहीं आता है, इसी कारण से बार्कले ने "जनसंख्या के समग्रों के व्यवहार" को महत्त्व प्रदान किया है न कि "किसी विशिष्ट व्यक्ति के व्यवहार" को।

नोट्स जोन ग्राण्ट को जनांकिकी का जनक माना जाता है।

थाम्पसन एवं लेविस (Warren S. Thompson and Lewis), जो कि अमेरिका के सुप्रसिद्ध जनसंख्याशास्त्री हैं, की पुस्तक 'Population Problems' के प्रथम अध्याय 'जनसंख्या अध्ययन का परिचय' में यह स्पष्ट किया है कि जनसंख्या के विभिन्न पक्षों के अध्ययन को जनसंख्या अध्ययन (Population study) कहा जाता है। इनके अनुसार, "इसकी (जनांकिकी की) रुचि केवल वर्तमान जनसंख्या के आकार, संरचना तथा वितरण में ही नहीं, बल्कि समय-समय पर इन पहलुओं में होने वाले परिवर्तनों तथा इन परिवर्तनों के कारण में भी है।"

थाम्पसन व लेविस ने जनांकिकी के अध्ययन के अंतर्गत निम्नलिखित पहलुओं के अध्ययन का समावेश किया है–

1. जनसंख्या के आकार का अध्ययन (The Study of size of Population) किसी विशिष्ट जनसंख्या समूह का आकार क्या है? अर्थात् उसमें कितने व्यक्ति हैं? इस जनसंख्या समूह में कौन-कौन से परिवर्तन हो रहे हैं तथा ये परिवर्तन किस प्रकार इस समूह को प्रभावित कर रहे हैं, का अध्ययन किया जायेगा।

2. जनसंख्या की संरचना का अध्ययन (The Study of composition of Population): इस विशिष्ट जनसंख्या समूह की संरचना का स्वरूप क्या है? अर्थात् इसमें किस प्रकार के व्यक्ति रहते हैं तथा उनमें अन्य समूह के व्यक्तियों से क्या समानता है, का अध्ययन किया जायेगा।

3. जनसंख्या के वितरण का अध्ययन (The Study of distribution of Population): इस विशिष्ट जनसंख्या समूह के वितरण का स्वरूप क्या है? अर्थात् उस क्षेत्र की जनसंख्या का फैलाव कैसा है तथा उसमें कौन-कौन से परिवर्तन हो रहे हैं? जनसंख्या के वितरण के स्वरूप के अतिरिक्त उसमें परिवर्तन के कारणों तथा उसके परिणामों का भी अध्ययन किया जायेगा।

नोट

संक्षेप में, थाम्पसन व लेविस ने जनसंख्या अध्ययन के अंतर्गत जनसंख्या के आकार, संरचना तथा वितरण के अध्ययन के अतिरिक्त उन कारणों की खोज को भी महत्त्व दिया है जो इनको किसी-न-किसी रूप में प्रत्यक्षत: अथवा परोक्षत: प्रभावित करते हैं।

पी.आर. कॉक्स (P.R. Cox) के शब्दों में, "जनांकिकी वह विज्ञान है, जिसमें मानवीय जनसंख्या के अध्ययन में सांख्यिकीय प्रणालियों का प्रयोग किया जाता है तथा यह मुख्यत: जनसंख्या के आकार, वृद्धि तथा ह्रास, जीवित व्यक्तियों की संख्या तथा अनुपात, किसी क्षेत्र विशेष में जन्मे तथा मृत तथा ऐसे प्रकार्यों का माप जैसे प्रजननता, मृत्यु तथा विवाह दर से संबंधित है।" कॉक्स ने जनांकिकी अध्ययन में सांख्यिकीय पद्धतियों के प्रयोग का समर्थन किया है तथा इसके अतिरिक्त उसने जीवन-समंकों के अध्ययन तथा विश्लेषण को भी महत्त्वपूर्ण निरूपित किया है।

स्पैंगलर तथा डंकन (Spengler and Duncan) का मत है कि, "अन्य अनेक विषय (Subjects) की भांति जनांकिकी में विविध विषय (Topics) समाहित हैं, किन्तु वर्तमान समय में इसका क्षेत्र समन्वित ज्ञान के अंतर्गत सीमित है, जो कुल जनसंख्या तथा उसमें परिमार्जन करने वाले तत्वों से संबंधित है। इन तत्वों के अंतर्गत, समुदाय का आकार (Size of communities) जन्म-दर, मृत्यु-दर, आयु-संरचना तथा प्रवास (Migration) का समावेश किया जाता है। स्पैंगलर तथा डंकन के मतानुसार जनांकिकी का विषय-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है, किन्तु वर्तमान समय में इसका संबंध कुल जनसंख्या तथा उसको प्रभावित करने वाले तत्वों से है। जनसंख्या को प्रभावित करने वाले तत्व अनेक हैं, जैसे जन्म-दर, मृत्यु-दर, विवाह तथा प्रवास आदि। इन तत्वों के परिणामस्वरूप अति-जनसंख्या अथवा न्यून-जनसंख्या की समस्याओं को दूर करने के लिए जन्म-नियंत्रण अथवा प्रोत्साहन की नीतियों को अपनाया जाता है स्पैंगलर तथा डंकन इन सभी समस्याओं का अध्ययन जनांकिकी के अंतर्गत करते हैं।"

डोनाल्ड जे. बोग (Donald J. Bogue): बोग अमेरिका के शिकागो विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के अध्यापक हैं एवं इसके अतिरिक्त 'कम्युनिटी तथा फैमिली स्टडी सेण्टर' संचालक हैं। इनकी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'The Principles of Demography' का प्रकाशन सन् 1969 में हुआ था। बोग के अनुसार, "जनांकिकी के क्षेत्र को वर्तमान स्तर (Current Status) तथा कालान्तर में जनसंख्या के आकार, संरचना तथा वितरण में परिवर्तन तथा इन घटनाओं में वैज्ञानिक स्पष्टीकरण के विकास के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।" जनांकिकी के अध्ययन के अंतर्गत बोग ने जनसंख्या के आकार, संरचना एवं वितरण को महत्त्व दिया है। बोग के अनुसार, किसी विशिष्ट समय में इनका एक निश्चित स्तर होता है, किन्तु यह स्तर सदा स्थिर नहीं रहता बल्कि कालांतर में इसमें परिवर्तन होता रहता है, जिनके कारणों का अनुसंधान तथा वैज्ञानिक विश्लेषण एवं स्पष्टीकरण आवश्यक होता है।

बोग ने जनांकिकी के अध्ययन-क्षेत्र को स्पष्ट करते हुए कहा कि, "जनांकिकी को पाँच जनांकिकी प्रक्रियाओं के संख्यात्मक अध्ययन के रूप में भी परिभाषित किया जा सकता है– प्रजननता, मृत्यु, विवाह, प्रवास तथा सामाजिक गतिशीलता (सामाजिक स्तर तथा दशा में परिवर्तन)।" बोग का यह स्पष्ट मत था कि प्रजननता, मृत्यु, विवाह, प्रवास तथा सामाजिक गतिशीलता हर जनसंख्या समूह में विद्यमान होती है तथा वे जनसंख्या के आकार, संरचना तथा वितरण को ही प्रभावित नहीं करता बल्कि इनके अंतर्गत उत्पन्न हुए किसी भी प्रकार के परिवर्तन का कारण भी होती है।

क्या आप जानते हैं जनांकिकी वह विज्ञान है, जिसमें मानवीय जनसंख्या के अध्ययन में सांख्यिकीय प्रणालियों का प्रयोग किया जाता है।

नोट

प्रो. बोग ने जनांकिकी के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा कि, "जनांकिकी मानवीय जनसंख्या के आकार, संरचना तथा स्थान-विषयक वितरण (Spatial distribution) तथा इसके अंतर्गत प्रजननता, मृत्यु, विवाह, देशान्तरण तथा सामाजिक गतिशीलता, इन पाँच प्रक्रियाओं द्वारा समय-समय पर इसमें होने वाली परिवर्तनों का सांख्यिकी तथा गणितीय अध्ययन है। यद्यपि इसके अंतर्गत अनेक प्रक्रियाओं तथा उसके विशुद्ध परिणामों का निरन्तर वर्णनात्मक तथा तुलनात्मक विश्लेषण किया जाता है; किन्तु इसका दीर्घकालीन उद्देश्य उन घटनाओं को जो इसमें समाहित हैं तथा जिनकी तुलना की जाती है, के संबंध में सिद्धांतों का निरूपण करना है।" बोग के मतानुसार जनांकिकी के अंतर्गत जनसंख्या के आकार, संरचना तथा स्थान-विषयक वितरण का अध्ययन किया जाता है। समय-समय पर इसमें परिवर्तन होते हैं, जो पाँच प्रक्रियाओं–प्रजननता, मृत्यु, विवाह, देशान्तरण तथा सामाजिक गतिशीलता का परिणाम होते हैं। जनांकिकी का दीर्घकालीन उद्देश्य विभिन्न घटनाओं के संबंध में सिद्धांतों का निरूपण करना है।

रूस के प्रसिद्ध जनसंख्याशास्त्री **बी.टी. यूर्लेनिस** (B.Ts. Urlanis) के मतानुसार, जनांकिकी वह सामाजिक विज्ञान है। जिसके अंतर्गत जनसंख्या की संरचना, वितरण, आवागमन (Movement) तथा गत्यात्मकता, जो सामाजिक, आर्थिक, जैविक (Biological) तथा भौगोलिक तत्वों, कारणों तथा दशाओं का परिणाम है, से संबंधित उन नियमितताओं का अध्ययन किया जाता है जो अवधारणाओं तथा प्रक्रियाओं से संबंधित हैं। जनांकिकी जनसंख्या सिद्धांतों एवं जनसंख्या नीतियों का विकास करती है तथा देश, कस्बों तथा नगरों, क्षेत्रों तथा विश्व की जनसंख्या भविष्य में होने वाले परिवर्तनों का पूर्वानुमान करती है।

यूर्लेनिस के अनुसार जनांकिकी सामाजिक विज्ञान है जिसके अन्तर्गत निम्नांकित दृष्टिकोणों से अध्ययन किया जाता है–

(*i*) जनसंख्या की संरचना, वितरण, आवागमन तथा गत्यात्मकता।

(*ii*) जनसंख्या संबंधी सिद्धांतों तथा नीतियों का निर्माण।

(*iii*) जनसंख्या में भविष्य में होने वाले परिवर्तनों का पूर्वानुमान।

रूस के जनसंख्याशास्त्री **विक्टर पैट्रोव** (Victor Petrov), जिसने भारत की जनांकिकी दशाओं का विशेष अध्ययन किया है, ने जनांकिकी की अत्यन्त सरल परिभाषा प्रस्तुत की है। उनके अनुसार, "जनांकिकी वह विज्ञान है जो जनसंख्या की संरचना तथा आवागमन का अध्ययन करता है।"

सन् 1966 में मास्को विश्वविद्यालय में हुई एक परिचर्चा में रूस के एक और जनसंख्याशास्त्री **अण्ड्री वोल्कोव** (Andrei Volkov) ने जनांकिकी को परिभाषित करते कहा कि, "जनांकिकी एक स्वतंत्र सामाजिक विज्ञान है जो जनसंख्या पुनरुत्पादन के सामाजिक-ऐतिहासिक कारणों का अध्ययन करता है। जनसंख्या पुनरुत्पादन का हमको विराट् अर्थों में अध्ययन करना चाहिए, केवल जन्म तथा मृत्यु के कारण जनसंख्या के 'प्राकृतिक' पुनरुत्पादन के रूप में नहीं, बल्कि अन्य विविध सामाजिक सूचकों (राष्ट्रीयता, शिक्षा आदि) की संरचना परिवर्तनों के संदर्भ में जो कि मनुष्य की सामाजिक प्राणी होने की चरित्रगत विशेषताएँ जनांकिकी का उद्देश्य केवल उपरोक्त संदर्भ में पुनरुत्पादन प्रक्रिया का अध्ययन मात्र नहीं होने चाहिए बल्कि वे संबंध जिनके माध्यम से सामाजिक प्रणाली जनसंख्या को प्रभावित करती है; विभिन्न संबंध जो जनसंख्या, गत्यात्मकता तथा आर्थिक विकास के मध्य होता है।"

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. जनसंख्या का संख्यात्मक चित्रण ..... के नाम से जाना जाता है।
2. जनांकिकी वह विज्ञान है जो ..... तथा आवागमन का अध्ययन करता है।
3. ..... ने प्रथमत: जनांकिकी की ऐतिहासिक उत्पत्ति का महत्त्व प्रदान किया है।

29.2 जनांकिकी की विषय-सामग्री तथा क्षेत्र (Subject-Matter and Scope of Demography)

नोट

जनांकिकी की विभिन्न परिभाषाओं का अध्ययन करने के पश्चात् जनांकिकी विषय-सामग्री तथा क्षेत्र का निर्धारण करना सरल हो जाता है। उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन से जनांकिकी के संबंध में निम्नांकित तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं–

1. जनांकिकी मनुष्य की वैयक्तिक समस्याओं का अध्ययन नहीं करती है, बल्कि इसके अंतर्गत मानव समुदाय से संबंधित समस्याओं का अध्ययन किया जाता है।

2. मानव समुदाय के अध्ययन में इसके अन्तर्गत गणित एवं सांख्यिकी का प्रयोग किया जाता है। **विक्टर पैट्रोव** (Victor Petrov) के अनसार–"जनांकिकी में सफलता सांख्यिकी सफलता से सीधे आनुपातिक रूप से सम्बद्ध है।"

3. जनांकिकी मानव समुदाय के आकार, संरचना तथा वितरण तथा उससे संबंधित पहलुओं का अध्ययन करती है। जनांकिकी का संबंध अनेक सामाजिक तथा अन्य विज्ञानों से होता है किन्तु इसके अंतर्गत विभिन्न विज्ञानों की अवधारणाओं का अध्ययन नहीं किया जाता है, बल्कि इसमें जनसंख्या तथा उसके पुनरुत्पादन का अध्ययन समग्र (Totality) के रूप में किया जाता है। **विक्टर पैट्रोव** (Victor Petrov) ने इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहा कि, "यह अर्थशास्त्र, इतिहास आदि की अवधारणाओं का अध्ययन नहीं करती है, बल्कि इसमें जनसंख्या तथा उसके पुनरुत्पादन का अध्ययन समग्र (Totality) के रूप में अर्थात् इन समग्रों के परिवर्तन (Movement) के रूप में किया जाता है।"

4. इसके अन्तर्गत जनसंख्या के आकारण, संरचना तथा वितरण से संबंधित विभिन्न तथा उसको प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्वों का अध्ययन किया जाता है। प्रमुख जनांकिकी तत्वों के अंतर्गत (अ) प्रजननता (Fertility), (ब) मृत्यु, (स) शिशु एवं मातृ मृत्यु दरें, (द) विवाह आदि का समावेश किया जाता है। प्रजननता के अंतर्गत विभिन्न दरें, तथा प्रजननता को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्व अध्ययन की विषय-वस्तु है। इसी प्रकार मृत्यु के अंतर्गत विभिन्न मृत्यु-दरों तथा मृत्यु-दरों में परिवर्तन के कारणों का समावेश किया जाता है। शिशु एवं मातृ मृत्यु-दरों का अध्ययन जीवन की विशिष्ट समयावधि से संबंधित होने के कारण विशेष रूप से किया जाता है। मृत प्रसव (Still births) तथा गर्भपात (Abortion) का जनांकिकी अध्ययन में विशेष स्थान है। जनांकिकी के अंतर्गत विवाह तथा विभिन्न वैवाहिक स्थितियों, जैसे विवाहित, अविवाहित, तलाकशुदा, विधवा, विधुर का अध्ययन भी अत्यावश्यक है।

5. जनांकिकी एक गतिशील विज्ञान है। इसके अंतर्गत भूतकाल, वर्तमान तथा भविष्य की सामाजिक अवधारणाओं का अध्ययन किया जाता है। विक्टर पैट्रोव के शब्दों में, "जनांकिकी के दृष्टिक्षेत्र (Field of vision) के अंतर्गत मनुष्य के केवल वर्तमान जीवन का ही नहीं, बल्कि भूतकाल तथा भविष्य की सामाजिक अवधारणा के संबंध में पूर्वानुमान लगाना भी सम्मिलित है।"

6. जनांकिकी के अध्ययन क्षेत्र के अंतर्गत जनसंख्या तथा उसको परिवर्तित करने वाले तत्वों का ही अध्ययन नहीं किया जाता है, बल्कि इन तत्वों के संबंध में निरन्तर खोज भी की जाती है। रूस के जनसंख्याशास्त्री **ए.या. बायरास्की** (A. Ya. Boyarsky) के शब्दों में, "इसके अंतर्गत हम मानव द्वारा विशाल मात्रा में संचयित सामग्री की खोज करते हैं, जो इस पर शोध का आधार प्रदान करता है, जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न नियम, संबंध (Ties) तथा नियमितताएँ उद्घटित होती हैं।"

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर जनांकिकी की विषय-सामग्री को निम्न चार भागों में विभाजित किया जा सकता है: (*i*) जनसंख्या का आकार, (*ii*) जनसंख्या की संरचना, (*iii*) जनसंख्या का वितरण तथा (*iv*) जनसंख्या को प्रभावित करने वाले तत्व।

नोट

1. जनसंख्या का आकार (Size of Population)

जनसंख्या के आकार से तात्पर्य किसी स्थान विशेष में किसी विशिष्ट समय में रहने वाले जनसमुदाय की कुल जनसंख्या से होता है। धरातलीय दृष्टि से जनसंख्या की गणना का कार्य अत्यन्त सरल प्रतीत होता है किन्तु वास्तव में यह अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है। इसके लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि स्थान (Place), व्यक्ति (Person) तथा समय (Time) को उचित रूप से परिभाषित किया जाये। तत्पश्चात् जनगणना (Census), पंजीकरण (Registration) अथवा निदर्शन (Sample) द्वारा जनसंख्या की गणना की जाए।

किसी समय विशेष में किसी स्थान विशेष की जनसंख्या ज्ञात हो जाना ही पर्याप्त नहीं होता है। एक जनसंख्याशास्त्री को यह जानना आवश्यक है कि वर्तमान जनसंख्या में क्या-क्या परिवर्तन हुए हैं? इस प्रकार के अध्ययनों के अंतर्गत हम यह भी जानना चाहते हैं कि वर्तमान जनसंख्या पिछली जनसंख्या से अधिक है अथवा कम तथा भविष्य में जनसंख्या में किस प्रकार के परिवर्तन सम्भावित हैं? परिवर्तन की मात्रा के अतिरिक्त यह भी गणना करना आवश्यक होता है कि परिवर्तन की दर क्या है? यह परिवर्तन की दर पिछली परिवर्तन की दर से अधिक है अथवा कम? परिवर्तन के आधार पर भविष्य में परिवर्तन की दर के संबंध में अनुमान लगाये जा सकते हैं।

जनसंख्या परिवर्तन की मात्रा तथा दर के अतिरिक्त, जनसंख्या परिवर्तन के कारणों की खोज करना भी आवश्यक होता है। जन्म (Natality), मृत्यु (Mortality) तथा प्रवास (Migration) जनसंख्या परिवर्तन के कारण हैं। इनका अध्ययन जनांकिकी प्रक्रिया के अंतर्गत किया जाता है। जनांकिकी की प्रक्रिया के तत्व जैविकीय तत्वों (Biological Phenomena) तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्वों, दोनों को ही जनांकिकी की विषय-सामग्री के अंतर्गत समाविष्ट करते हैं। इसका कारण यह है कि जन्म-दर, मृत्यु-दर तथा प्रवास जैविकीय तत्वों से प्रभावित होते हैं तो दूसरी ओर सामाजिक तथा सांस्कृतिक तत्व भी इनको समान रूप से प्रभावित करते हैं। इसी कारण से यह आवश्यक है कि जनसंख्याशास्त्री जीव वैज्ञानिक एवं समाजशास्त्री होने के साथ ही साथ सांख्यिकी तथा गणित का भी ज्ञाता हो।

2. जनसंख्या की संरचना (Commposition of Population)

जनसंख्या की संरचना का अध्ययन जनांकिकी की विषय-वस्तु के अंतर्गत महत्त्वपूर्ण है। जनसंख्या के आकार के अध्ययन से किसी क्षेत्र विशेष की जनसंख्या के संबंध में हमें केवल सामान्य जानकारी मिलती है किन्तु जनसंख्या की संरचना के अध्ययन से हमें उस क्षेत्र की जनसंख्या संबंधी सभी विशेषताओं की विस्तृत जानकारी प्राप्त हो जाती है। दो स्थानों की जनसंख्या की संरचना में अनेक प्रकार की भिन्नताएँ हो सकती हैं, जैसे आयु, लिंग, जाति, धर्म, निवास आदि के आधार पर भिन्नताएँ। जनसंख्या के आकार का अध्ययन जनसंख्या का समष्टिगत (Macro) चित्र प्रस्तुत करता है, जबकि जनसंख्या की संरचना का अध्ययन व्यष्टिगत (Micro) चित्र प्रस्तुत करता है।

जनसंख्या की संरचना के अंतर्गत जनसंख्या की विभिन्न विशेषताओं का अध्ययन किया जाता है। किसी क्षेत्र विशेष की जनसंख्या प्रजननता, मृत्यु-दर तथा प्रवास द्वारा निर्धारित होती है, किन्तु जब जनसंख्या का अध्ययन तीनों जनांकिकी शक्तियों के आधार पर किया जाता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इन शक्तियों से सभी मनुष्य समान रूप से प्रभावित नहीं होते हैं, बल्कि उनकी विभिन्न विशेषताएँ, जैसे आयु, लिंग, शिक्षा, धर्म, व्यवसाय आदि उन्हें प्रभावित करते हैं। जनसंख्या की संरचना के अंतर्गत जनसंख्या की विभिन्न विशेषताओं का अध्ययन किया जाता है।

जनसंख्या का वर्गीकरण अनेक आधारों पर किया जा सकता है, जैसे–(*i*) आयु संरचना (Age Composition), (*ii*) लिंगानुसार संरचना (Sex Composition), (*iii*) कार्यशील जनसंख्या (Working Population), (*iv*) वैवाहिक स्तर (Marital Status), (*v*) शैक्षणिक स्तर (Educational Standard), (*vi*) धर्मानुसार वर्गीकरण (Religion) आदि। जनांकिकी प्रक्रिया को प्रभावित करने की दृष्टि से जनसंख्याएँ, यथा (*i*) आयु संरचना (Age Composition) तथा (*ii*) लिंगानुसार संरचना (Sex Composition) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

नोट

आयु संरचना के अध्ययन से अनेक तथ्यों के संबंध में जानकारी प्राप्त होती है। यदि किसी समाज में बच्चों की संख्या अधिक है तो उसके अंतर्गत मृत्यु-दर अधिक होगी तथा श्रम-शक्ति (Labour Force) कम होगी। इस प्रकार के समाज में श्रम-शक्ति में यद्यपि अधिक मात्रा में विनियोग करना आवश्यक होगा किन्तु उत्पादन में अपेक्षाकृत उनका योगदान कम होगा। भारत जैसे विकासशील देशों की एक महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि उनकी कुल जनसंख्या में बच्चों की संख्या बहुत अधिक है, जिन पर व्यय भी अधिक मात्रा में करना आवश्यक होता है, किन्तु जहाँ तक उत्पादन में उनके योगदान का प्रश्न है, वह नगण्य ही रहता है।

आयु-संरचना जन्म-दर तथा मृत्यु-दर के निर्धारण को भी प्रभावित करती है। पुनरुत्पादन आयु वर्ग (Reproduction age group) को औरतों की संख्या के द्वारा किसी क्षेत्र विशेष की प्रजनन शक्ति का माप किया जाता है। इसी प्रकार जिस क्षेत्र में वृद्ध व्यक्तियों की संख्या अधिक होती है। वहाँ मृत्यु-दर भी अधिक होगी।

कार्यशील जनसंख्या (Working Population) के अध्ययन की दृष्टि से आयु संरचना का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जिस देश की अधिकांश जनसंख्या 15-60 वर्ष के आयु-समूह में है, वहाँ के श्रमिकों की उत्पादकता अधिक होगी। इसके विपरीत, यदि किसी देश की अधिकांश जनसंख्या 0-15 वर्ष के आयु समूह में है तो वहाँ के श्रमिकों की उत्पादकता कम होगी। जनसंख्या की संरचना से संबंधित कुछ अन्य तत्वों का अध्ययन भी आवश्यक होता है, जैसे वैवाहिक स्तर, ग्रामीण व शहरी जनसंख्या, व्यवसाय, धर्म, शिक्षा आदि। ये सभी तत्व जन्म-दर, मृत्यु-दर तथा प्रवास को प्रभावित करते हैं।

जनसंख्याशास्त्री के लिए केवल जनसंख्या की संरचना का विश्लेषण ही पर्याप्त नहीं होता है, बल्कि उसके लिए संरचना के अंतर्गत होने वाले परिवर्तन, इनके कारण तथा प्रभावों की खोज करना भी आवश्यक होता है। जनसंख्या की संरचना जनांकिकी प्रक्रियाओं को न केवल प्रभावित ही करती है, बल्कि उनके द्वारा प्रभावित भी होती है। **थाम्पसन तथा लेविस** (Thompson and Lewis) के शब्दों में, "जनसंख्या की संरचना तथा उसकी मृत्यु-दर, जन्म-दर एवं शुद्ध प्रवास का संबंध अनुक्रमात्मक (Reciprocal) है, अर्थात् संरचना जनांकिकी प्रक्रियाओं को प्रभावित करती है तथा ये प्रक्रियाएँ संरचनाओं को उम्र तथा लिंग संरचना के माध्यम से प्रभावित करती हैं।"

3. जनसंख्या का वितरण (Distribution of Population)

जनसंख्या का वितरण, जनांकिकी का तीसरा महत्त्वपूर्ण अध्ययन विषय है। इसके अंतर्गत यह खोज की जाती है कि विश्व अथवा किसी क्षेत्र विशेष में लोग कहाँ तक किस प्रकार वितरित हैं एवं इस वितरण के अंतर्गत कौन-कौन से परिवर्तन हो रहे हैं? जनसंख्या संबंधी आँकड़े एकत्रित करने के दो प्रमुख आधार हैं–(1) प्रशासनिक इकाई जैसे राष्ट्र, राज्य, जिला, शहर, कस्बा, गाँव, ब्लॉक आदि, तथा (2) भौगोलिक इकाई, जैसे–महाद्वीप, पर्वतीय प्रदेश, रेगिस्तानी प्रदेश सम्पूर्ण विश्व आदि। विषय के अनुरूप अध्ययन के क्षेत्र का निर्धारण किया जाता है।

थाम्पसन तथा लेविस (Thompson and Lewis) ने विश्व की जनसंख्या के वितरण के अध्ययन की दृष्टि से शहरीकरण तथा औद्योगीकरण के आधार पर निम्न श्रेणियाँ बनायी हैं।

1. उन्नत शहरी तथा औद्योगिक क्षेत्र (Advance Urban Industrial Region)

2. नव-शहरी तथा औद्योगिक क्षेत्र (Newly Urban Industrial Region)

3. शहरी तथा औद्योगिक विकास के पूर्व की स्थिति (Situation prior to Urban and Industrial Development)

उपरोक्त तीनों प्रकार के क्षेत्रों में जनसंख्या के वितरण का क्या स्वरूप है? इस जनसंख्या वितरण के अंतर्गत कौन-कौन से परिवर्तन हो रहे हैं? इन परिवर्तनों के क्या कारण हैं? इनके क्या परिणाम हो सकते हैं, आदि प्रमुख विषय हैं जिन पर विचार करना आवश्यक है।

नोट

अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण से जनसंख्या के वितरण का इतना अधिक महत्त्व नहीं है जितना कि राष्ट्रीय दृष्टिकोण से। जनसंख्या के वितरण को अनेक तत्व प्रभावित करते हैं जिसको निम्न तीन प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है–

1. भौगोलिक तत्व (Geographical factors): इसके अंतर्गत जलवायु, भूमि सुधार, मिट्टी (Soils) तथा अन्य भौतिक साधन एवं स्थान सह-संबंध (Space Relationships);

2. सांस्कृतिक तत्व (Cultural factors): इसके अंतर्गत लोगों की अभिवृत्तियाँ (Attitudes) तथा उद्देश्य, उनकी आर्थिक गतिविधियाँ तथा प्रविधि तथा उनके सामाजिक संगठन का स्वरूप; तथा

3. जनांकिकीय तत्व (Demographic factors): इसके अंतर्गत विभिन्न क्षेत्रों की विभेदपूर्ण जन्म तथा मृत्युदरों एवं प्रवास का समावेश किया जाता है।

जनसंख्या का वितरण अनेक समस्याओं को जन्म देता है, जैसे यातायात समस्या, आवास समस्या, नगरीय बेरोजगारी, अर्द्ध-बेरोजगारी तथा छिपी हुई बेरोजगारी आदि।

एक देश की जनसंख्या के कितने प्रतिशत लोग शहरों में निवास करते हैं तथा कितने प्रतिशत लोग गाँवों में निवास करते हैं, अर्थव्यवस्था के प्राथमिक क्षेत्र (कृषि क्षेत्र), द्वितीयक क्षेत्र (उद्योगों में) तथा तृतीयक क्षेत्र (सेवाओं) में जनसंख्या के वितरण का क्या स्वरूप है? राज्यानुसार जनसंख्या के वितरण की क्या विशेषताएँ हैं आदि महत्त्वपूर्ण विषय हैं जो जनसंख्या के विवरण से संबंधित हैं। किसी राज्य को कितनी मात्रा में आर्थिक अनुदान दिया जाए, किसी राज्य को आय-कर में से कितना भाग प्रदान किया जाए आदि समस्याओं का निपटारा सामान्यत: जनसंख्या के वितरण के आधार पर किया जाता है।

4. जनसंख्या को प्रभावित करने वाले तत्व (Factors Influencing change in population): जनसंख्या में निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं। जनांकिकी प्रवृत्तियों में होने वाले परिवर्तन तथा इन प्रवृत्तियों के आधार पर भविष्य में होने वाली प्रवृत्तियों के संबंध में प्रक्षेपण (Projection) जनांकिकी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है।

जनसंख्या को प्रभावित करने वाले तत्वों में जनांकिकी प्रवृत्तियों के अतिरिक्त वर्तमान युग में अनेक विद्वान सामाजिक गतिशीलता का समावेश करते हैं। इनके मतानुसार सामाजिक गतिशीलता जनसंख्या की संरचना को प्रभावित करती है। इसका कारण यह है कि एक स्थिति से जब दूसरी स्थिति में परिवर्तन होता है तब संरचनात्मक विशेषताओं में परिवर्तन हो जाता है, जैसे वैवाहिक स्थिति के अनुसार एक व्यक्ति जो कि अविवाहित है, विवाहित हो सकता है, इसी प्रकार बेरोजगार व्यक्ति को रोजगार प्राप्त हो सकता है। इस विचारधारा को सोरोकिन (P.A. Sorokin) ने प्रवृत्त किया है। इनके मतानुसार, "सामाजिक गतिशीलता सामाजिक अन्तराल (Social space) में व्यक्तियों का स्थानान्तरण है।"

सोरोकिन के अनुसार सामाजिक गतिशीलता के अनेक महत्त्वपूर्ण तत्व हैं जैसे (1) सामाजिक अन्तराल मानव जनसंख्या का समष्टि (Universe) है। (2) व्यक्ति की सामाजिक स्थिति जनसंख्या के समस्त समूहों के प्रति उसके समस्त संबंधों को दर्शाती है तथा एक विशिष्ट समूह के अन्तर्गत उसके सदस्यों के प्रति संबंधों को अभिव्यक्त करती है। (3) इस सामाजिक समूह (Social universe) में एक व्यक्ति की स्थिति को इन संबंधों के निर्धारण के द्वारा जाना जा सकता है। (4) इस प्रकार के समूहों के योग तथा प्रत्येक समूह के अन्तर्गत स्थितियों के योगों के द्वारा सामाजिक नियामकों (Social co-ordinates) की रचना होती है जो किसी व्यक्ति की सामाजिक स्थिति को परिभाषित करता है।

29.3 जनांकिकी विश्लेषण की विधियाँ (Techniques of Demographic Analysis)

जनांकिकी की विषय-सामग्री जनसंख्या में होने वाले परिवर्तनों की माप है। इसके अंतर्गत जनसंख्या के आकार, उसकी संरचना तथा उसके वितरण का अध्ययन है। ये सभी तत्व प्रावैगिक हैं जिससे इनके अन्तर्गत परिवर्तन की

नोट

प्रक्रिया सदा क्रियाशील रहती है। इस कारण आंकड़ों को निरंतर एकत्रित करना, उनको वगीकृत करना, सम्पादन करना एवं उनके अंतर्गत समय के अनुरूप परिवर्तन करना नितांत आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार एकत्रित आंकड़ों का जिन विधियों के द्वारा विश्लेषण किया जाता है उसे जनांकिकीय विश्लेषण की विधियाँ कहा जाता है।

सामान्यत: जनांकिकी विश्लेषण करने की निम्नलिखित दो विधियाँ हैं–

1. सूक्ष्म जनांकिकीय विश्लेषण (Micro Demographic Analysis): जनांकिकीय विश्लेषण की इस विधि के अंतर्गत जनसंख्या की आंतरिक समस्याओं, विभिन्न घटकों तथा घटनाओं का अध्ययन किया जाता है। किसी विशिष्ट क्षेत्र की जनसंख्या वृद्धि की दर उसका वितरण, जनसंख्या का एक स्थान से दूसरे स्थान को आवागमन आदि विभिन्न समस्याओं का अध्ययन एवं विश्लेषण इसके अंतर्गत किया जाता है। इस प्रकार के विश्लेषण के अंतर्गत जनसंख्या के दोनों ही पक्ष अर्थात् आकारात्मक तथा संरचनात्मक (Size and Composition) आते हैं परन्तु संरचनात्मक पक्ष अध्ययन का प्रमुख विषय होता है।

जनांकिकी विश्लेषण के अंतर्गत किसी विशिष्ट जनसमूह की संरचनात्मक विशेषताओं का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस प्रकार के अध्ययन की दृष्टि से जन-समूह की किसी विशेषता को आधार मानना आवश्यक होता है जैसे जन-समूह की आयु संरचना के अंतर्गत आयु को आधार मान लिया जाता है। इसी प्रकार लिंग संरचना के अंतर्गत लिंग को आधार मान लिया जाता है, आदि। इस प्रकार के सभी वर्गीकरण किसी समय विशेष से संबंधित होते हैं। इस दृष्टि से सूक्ष्म विश्लेषण अर्थव्यवस्था के किसी-न-किसी अंग की जनसंख्या की संरचना का अध्ययन होता है। इस प्रकार के विश्लेषण के द्वारा किसी छोटे क्षेत्र का गहन अध्ययन सम्भव होता है, अत: यह अनुसंधान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

2. समष्टि जनांकिकीय विश्लेषण (Macro Demographic Analysis): सामान्यत: स्थानीय क्षेत्र के जनांकिकीय आंकड़े तथा विभिन्न सूचनाएँ समय-समय पर उपलब्ध हो जाते हैं परन्तु अर्थव्यवस्था के समष्टिगत स्वरूप को ध्यान में रखे बिना वास्तविक जनांकिकीय परिवर्तनों को ज्ञात नहीं किया जा सकता है। अधिकतर जनांकिकीय विश्लेषणों की प्रकृति समष्टिगत होती है, इसी कारण इस प्रकार के विश्लेषणों के अंतर्गत सम्पूर्ण राष्ट्र अथवा उसके विभिन्न स्वतंत्र स्तर; जैसे–राज्य, नगर आदि को इकाई मानकर विश्लेषण किया जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N.O.) ने भी सभी राष्ट्रों ने जनगणना एक ही समय से संबंधित करने का अनुरोध किया था।

जनांकिकी की प्रमुख विषय-वस्तु जनसंख्या का आकार तथा उसमें होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन है। जनसंख्या के आकार की गणना कई प्रकार से की जा सकती है; जैसे–जनगणना, निदर्शन तथा पंजीकरण। विवाह की दर, जन्म-दर, मृत्यु-दर आदि की गणना समष्टि विश्लेषण के द्वारा ही की जा जाती है। जनसंख्या नीति का निर्धारण भी अध्ययन विधि के अंतर्गत विभिन्न देशों के तुलनात्मक अध्ययन किये जाते हैं।

29.4 जनांकिकीय विश्लेषण के लिए दो पद्धतियों का प्रयोग आवश्यक (Use of Both the Methods Essential for Demographic Analysis)

जनांकिकीय विश्लेषण के लिए दोनों ही विश्लेषण पद्धतियाँ–सूक्ष्म तथा समष्टिगत आवश्यक हैं। यदि हम दोनों पद्धतियों में से किसी एक ही पद्धति का प्रयोग करते हैं तो हमें वास्तविक स्थिति का पूर्ण ज्ञान कभी भी नहीं हो सकता है। जनसंख्या अध्ययन के दो पक्ष हैं–(*i*) सामूहिक तथा (*ii*) स्थानीय। समष्टिगत जनांकिकी-विश्लेषण के द्वारा जनसंख्या के आकार, संरचना तथा वितरण के संबंध में ज्ञान प्राप्त होता है। समष्टिगत जनांकिकी विश्लेषण के द्वारा हमें औसत प्राप्त होते हैं, जबकि जनांकिकी अध्ययन में स्थानीय विचलनों का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके अतिरिक्त जनसंख्या पर अनेक तत्वों का प्रभाव पड़ता है।

नोट

जनसंख्या के समष्टिगत अध्ययन के द्वारा हमें केवल धरातलीय जानकारी मिलती है। जनांकिकी के गहन अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि हम अध्ययन क्षेत्र को सीमित कर सूक्ष्म अध्ययन करें।

इस प्रकार जनांकिकी अध्ययन के अंतर्गत दोनों ही विधियों का प्रयोग आवश्यक है। वास्तव में जनांकिकी की समष्टिगत समस्याओं का समाधान समष्टिगत विधि के उपकरणों से तथा सूक्ष्म समस्याओं का समाधान सूक्ष्म विधि के उपकरणों से प्राप्त किया जाना चाहिए। जनांकिकी की समस्याओं के अध्ययन में दोनों विधियों का प्रयोग आवश्यक है।

29.5 जनांकिकी का अन्य विज्ञानों से संबंध (Relationship of Demography with other Sciences)

जनांकिकी अपने विकास के प्रारंभिक चरणों में जनसंख्या के सांख्यिकीय पक्ष का विवेचन करती थी, किन्तु आज यह अनेक विज्ञानों से अत्यन्त घनिष्टता के साथ संबंधित है। रूस के जनसंख्याशास्त्री **डी.डी. वैलेन्टाई** (D.D. Valentei) द्वारा सम्पादित पुस्तक 'The Fundamentals of Population Study' के अनुसार, "जनसंख्या का ज्ञान, जो कि (जनसंख्या) समाज की उत्पादक शक्ति के साथ ही साथ समाज द्वारा निर्मित भौतिक (Material) तथा आध्यात्मिक (Spiritual) मूल्यों का उपभोक्ता है, के लिए अत्यन्त जटिल तथा विविध संबंधों तथा जनसंख्या एवं अर्थव्यवस्था, जनसंख्या तथा प्रकृति और जनसंख्या तथा समाज में निर्भरताओं की व्याख्या तथा विश्लेषण करना आवश्यक है। सामाजिक-आर्थिक, भौगोलिक तथा जाति संबंधी (ethnic) विभेदों के कारण जनसंख्या अध्ययन के असंख्य पहलुओं के कारण यह जटिलता और भी अधिक बढ़ जाती है। इन विभिन्न तथ्यों का सारांश किसी एक विज्ञान के द्वारा सम्भव नहीं है अत: अनेक सामाजिक-आर्थिक तथा प्राकृतिक विज्ञान इनके अध्ययन में संलग्न हैं।" इस दृष्टि से जनांकिकी एक ऐसा विज्ञान है जिसका अन्य अनेक विज्ञानों से अत्यन्त निकट का संबंध है। इस प्रकार जनांकिकी एक अत्यन्त व्यापक विज्ञान है जो अन्य क्षेत्रों के अनुसंधानों के परिणामों का भी प्रयोग करता है।

जीन बोर्गीस-पीकेट (Jean Bourgeous-Pichat) ने जनांकिकी का अन्य विज्ञानों से संबंध स्पष्ट करते हुए अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि "अन्य सभी विज्ञानों में से जनांकिकी एक ऐसा विज्ञान है जिसका काम अन्य विज्ञानों के बिना नहीं चल सकता है। सामान्यत: जीवविज्ञान, समाजशास्त्र तथा मनोविज्ञान का उल्लेख किया जाता है, किन्तु अन्य विषयों का समावेश भी आवश्यक है; राजनीतिक अर्थशास्त्र का उस सीमा तक जब तक कि वह अपने जीवन-काल के अंश में उत्पादक है तथा जीवन-पर्यन्त उपभोक्ता है; मानवजाति विज्ञान (Ethnology) का समावेश इस कारण आवश्यक है क्योंकि मनुष्य प्रकृति के मध्य रहता है, इस कारण वह (मनुष्य) उसके (प्रकृति) साथ सह-जीवन (Symbiosis) व्यतीत करने के लिए बाध्य हो जाता है; तथा दर्शनशास्त्र इस कारण कि जनांकिकी घटनाओं का स्पष्ट सत्ता-मीमांसा विषयक (Ontological) महत्त्व होता है। इसके अतिरिक्त गणित तथा सांख्यिकी है जो जनांकिकी को विश्लेषणात्मक उपकरणों को प्रदान करता है, तथा प्रविधि जो पर्यावरण में सुधार करता है जिससे व्यवहार में परिवर्तन हो जाता है। भूगोल, चिकित्सा-विज्ञान, इतिहास विधि तथा अपराधशास्त्र, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, शैक्षणिक विज्ञान, ये सभी किसी-न-किसी रूप में जनांकिकी का स्पर्श करते हैं। यह कहा जा सकता है कि इनमें से किसी भी विज्ञान में प्रगति का जनांकिकी शोध पर तात्कालिक प्रभाव होता है।"

रूस के ही एक अन्य जनसंख्याशास्त्री विक्टर पैट्रोव (Victor Petrov) ने जनांकिकी का अन्य विज्ञानों से संबंध दर्शाते हुए कहा कि "चूँकि सभी सामाजिक अवधारणाओं का विषय जनसंख्या होता है (अत:) जनांकिकी सभी सामाजिक तथा अन्य विज्ञानों का स्पर्श करती है।"

वर्तमान युग में जनांकिकी का अन्य अनेक सामाजिक तथा अन्य विज्ञानों से घनिष्ट संबंध ही नहीं है बल्कि वह भिन्न सामाजिक तथा अन्य विज्ञान जनांकिकी पर आश्रित हैं। किसी भी विज्ञान को निर्धारित सीमारेखाओं के द्वारा बाँधा

नोट

जा सकना सम्भव नहीं है अत: सभी सामाजिक विज्ञान एक-दूसरे की सीमाओं का उल्लंघन करते रहते हैं। आजकल विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन में अन्तरशास्त्रीय दृष्टिकोण (Interdisciplinary approach) अपनाया जाता है।

29.6 जनांकिकी तथा समाजशास्त्र (Demography and Sociology)

समाजशास्त्र के अंतर्गत हम मानव समाज का अध्ययन करते हैं। समाजशास्त्र में मनुष्य का अध्ययन सामाजिक प्राणी के रूप में किया जाता है। समाजशास्त्र तथा जनांकिकी एक-दूसरे से अत्यन्त घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं। जनांकिकी के अंतर्गत भी मनुष्य का अध्ययन एक वैयक्तिक इकाई के रूप में नहीं बल्कि एक समूह के रूप में किया जाता है। जनांकिकी में जनसंख्या के आकार, वितरण, प्रवास, जन्म-दर, मृत्यु-दर, जनसंख्या वृद्धि दर आदि का अध्ययन किया जाता है। समाजशास्त्र के अंतर्गत भी विभिन्न जनांकिकी विशेषताओं का जैसे जनसंख्या का आकार, वितरण, वृद्धि, आयु वर्गीकरण, लिंग वर्गीकरण आदि का अध्ययन किया जाता है। समाज का निर्माण तो जनसंख्या से ही होता है जिसके अंतर्गत जनसंख्या के विभिन्न जनांकिकी पहलुओं का अध्ययन किया जाता है, किन्तु इसके अन्तर्गत जनांकिकी घटनाओं को केवल आँकड़ों से संबंधित ही नहीं माना जाता है बल्कि वे सामाजिक प्रक्रिया का परिणाम होती हैं। विभिन्न सामाजिक प्रक्रियाओं तथा घटनाओं; जैसे जन्म, मृत्यु, विवाह की आयु, विवाह-पद्धति, तलाक, विभिन्न सामाजिक रीति-रिवाज आदि समाजशास्त्र का महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इन सभी आँकड़ों का जनांकिकी में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। जनांकिकी अध्ययन के समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए **एफ.डब्ल्यू. नोटेस्टाइन** (F.W. Notestein) ने कहा है कि, "जब एक जनसंख्याशास्त्री जन्म-दर के आँकड़ों को व्यक्त करता है, तब उसको यह याद रखना पड़ता है कि प्रत्येक संख्या एक पुत्र अथवा एक पुत्री को अभिव्यक्त करती है, जब वह मृत्यु संबंधी आँकड़ों को व्यक्त करता है तब उसे यह याद रखना पड़ता है कि प्रत्येक संख्या एक दु:खांत घटना को व्यक्त करती है, जब वह प्रवास का अध्ययन करता है तो उसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि इसका संबंध परिवारों के आवागमन से है; जब वह विवाह का अध्ययन करता है तो उसे यह ध्यान रखना पड़ता है कि उसका संबंध मानव-समाज की एक आधारभूत संस्था से है।"

सामान्यत: सभी जनसंख्या संबंधी अध्ययनों की प्रकृति संख्यात्मक है। समाजशास्त्र के अंतर्गत सामाजिक संरचना तथा स्वरूप का अध्ययन किया जाता है जिसको संख्यात्मक रूप में अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता है। जनांकिकी के अंतर्गत समाज का अध्ययन उसके वितरणात्मक दृष्टिकोण से, जैसे आयु के अनुसार वर्गीकरण, विवाह की आयु के अनुसार वर्गीकरण किया जाता है किन्तु समाजशास्त्र के अंतर्गत एकीकरण की अवधारणा; जैसे–'संस्कृति' सामाजिक संरचना आदि के दृष्टिकोण से किया जाता है।

जनसंख्या की सभी समस्याओं का स्वरूप समाजशास्त्रीय है, अत: आवश्यकता इस बात की है कि इन सभी समस्याओं के समाधान के लिए समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाया जाए। प्राय: विश्व के सभी देश प्रजननता नियंत्रण से संबंधित प्रावैधिक ज्ञान की दृष्टि से सम्पन्न हैं। वास्तव में प्रजननता नियंत्रण के लिए प्रावैधिक ज्ञान ही पर्याप्त नहीं है बल्कि इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तन आवश्यक है। सामाजिक व्यवस्था, शिक्षा, स्त्री शिक्षा आदि अनेक तत्व हैं जो कि प्रजननता नियंत्रण को प्रभावित करते हैं। संतान के प्रति जब तक दृष्टिकोण में परिवर्तन न हो तब तक जन्म-दर में गिरावट संभव ही नहीं है।

विभिन्न जनांकिकी शक्तियाँ सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत क्रियाशील होती हैं। प्रजननता विवाह व्यवस्था से संबंधित है। विवाह से संबंधित पहलुओं; जैसे विवाह की अनिवार्यता, विवाह की आयु, विवाह पद्धति, विधवा विवाह, बहुपत्नी तथा बहुपति प्रथा आदि का अध्ययन समाजशास्त्र के अंतर्गत होता है तथा ये सभी पहलू प्रजननता को प्रभावित करते हैं। जनांकिकी विश्लेषण के अंतर्गत यदि हम समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण छोड़ दें तो हमारे निष्कर्ष अवास्तविक होंगे।

नोट

किंग्सले डेविस (Kingsley Davis) के मतानुसार जनांकिकी परिवर्तन प्रतिक्रियात्मक (Reflexive) तथा व्यवहारात्मक (Behavioural) दोनों ही प्रकार के होते हैं। जनांकिकी परिवर्तनों को प्रतिक्रियात्मक इस दृष्टि से कहा जाता है क्योंकि वे सामाजिक व्यवस्था के अन्य तत्वों को प्रभावित करते हैं। ये तत्व पुन: परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रारंभ करने वाले तत्वों को प्रभावित करते हैं। जनांकिकी परिवर्तनों को व्यवहारात्मक इसलिए कहा जाता है क्योंकि वे मनुष्य के निर्णयों से संबंधित होते हैं। उदाहरण के लिए, परिवार के आकार से संबंधित निर्णय।

वास्तव में जनांकिकी तथा समाजशास्त्र दोनों परस्पर संबंधित हैं किन्तु दोनों को एक साथ विज्ञान समझना गलत होगा। दोनों विज्ञानों में अनेक महत्त्वपूर्ण अंतर भी है–

1. जनांकिकी जनसंख्या का सांख्यिकी तथा गणितीय विश्लेषण है जिसके अंतर्गत जनसंख्या का संख्यात्मक अध्ययन किया जाता है, जबकि समाजशास्त्र के अंतर्गत विभिन्न सामाजिक घटनाओं का गुणात्मक अध्ययन किया जाता है।

2. जनांकिकी के अंतर्गत समष्टिगत अवयवों का सूक्ष्म विभाजन कर अध्ययन किया जाता है जैसे आयु संरचना, लिंग, संरचना जबकि समाजशास्त्र के अंतर्गत संगठित करने वाले तत्व जैसे सामाजिक संरचना, संस्कृति, धर्म, जाति आदि का अध्ययन किया जाता है।

3. जनांकिकी अध्ययन समय तथा परिवर्तन के साथ संबंधित होते हैं। भूत तथा वर्तमान के आधार पर जनांकिकी चरों (Variables) का भविष्य के लिए प्रक्षेपण किया जाता है। समाजशास्त्र के अंतर्गत समय तथा परिवर्तनों का विशेष महत्त्व नहीं होता है, इस दृष्टि से इसमें स्थैतिक स्थिति का अध्ययन किया जाता है।

29.7 जनांकिकी तथा भूगोल (Demography and Geography)

भूगोल के अंतर्गत प्राकृतिक सम्पत्ति के स्थान विषयक वितरण तथा जनसंख्या के संबंध का अध्ययन किया जाता है। भूगोल में सामान्यत: भू-आकृतियों का अध्ययन है अर्थात् पहाड़, मैदान, नदी आदि के निर्माण का अध्ययन करता है किन्तु दूसरी ओर यह मनुष्य तथा उसके आर्थिक, भौगोलिक जीवन का सापेक्षिक अध्ययन भी करता है। हाल ही के वर्षों में भूगोल की एक नवीन शाखा जनसंख्या भूगोल (Population Geography) अथवा मानव भूगोल (Human Geography) का विकास हुआ है। जी.टी. ट्रीवर्था (G.T. Trewartha) ने 1953 में अमरीकी भूगोल परिषद में अपने अध्यक्षीय भाषण में जनसंख्या भूगोल की विषय-वस्तु को स्पष्ट किया। उनके अनुसार जनसंख्या भूगोल के अंतर्गत जनसंख्या घनत्व के क्षेत्रीय विभेदों का अध्ययन किया जाता है। **ट्रीवर्था** (Trewartha) के शब्दों में, "जनसंख्या घनत्व तथा जनसंख्या के गुण भूगोल के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि प्रदान करते हैं। जनसंख्या एक ऐसा संदर्भ है जिससे अन्य तत्वों को देखा जा सकता है जिससे वे सभी अकेले-अकेले अथवा सामूहिक रूप से अर्थ तथा महत्त्व प्राप्त करते हैं।"

एडवर्ड ए. एकर्मेन (Edward A. Ackerman) ने जनांकिकी तथा भूगोल के संबंध को स्पष्ट करते हुए अपना मत व्यक्त किया है कि "भूगोल के अंतर्गत कम-से-कम आठ विभिन्न भौतिक जीवीय (Biotic) तथा सांस्कृतिक प्रक्रियाओं के संचालन की खोज की जाती है, भूमि आवृत्त (Mantle) में परिवर्तन, भूमि पर जल, जलवायु, जीवीय प्रक्रियाओं, विशेषत: वनस्पति उगने संबंधी (vegetative), जनांकिकी गतिशीलता, संरचनात्मक विकास, साधनों को परिवर्तित करने की प्रक्रिया का विकास जनांकिकी गतिशीलता इन सभी शक्तियों का हृदय है जो स्थान विषयक प्रभावों को प्रभावित करता है।"एकर्मेन के अनुसार जनसंख्या भूगोल के अंतर्गत (*i*) प्रजननात्मक संबंधों की खोज, (*ii*) स्थान-विषयक वितरण के आनुवंशिक संबंधों की खोज, तथा (*iii*) सह-परिवर्तनीय तत्वों की खोज तथा उनका भौगोलिक अवधारणाओं से संबंध का अध्ययन किया जाता है।

वर्तमान समय में जनसंख्या भूगोल के अंतर्गत अनेक पहलुओं का अध्ययन किया जाता है; जैसे–जनसंख्या का भौगोलिक पर्यावरण के अन्य तत्वों का संबंध, जनसंख्या का स्थानीयकरण तथा विशेषताएँ, जनसंख्या वितरण की स्थान विषयक विशेषताएँ।

नोट

ट्रीवर्था (Trewartha), स्टीजेंगा (Steigenga) आदि भूगोलवेत्ता भौगोलिक क्षेत्रों के आधार पर जनगणना तथा उनकी तुलना को महत्त्व प्रदान करते हैं। वे आज विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों की जन्म-दर, मृत्यु-दर तथा प्रवास का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं।

वर्तमान समय में भूगोल ने अपने परम्परागत परिवेश का परित्याग कर अपने अध्ययन क्षेत्रों को अत्यन्त विस्तृत कर लिया है। अब भूगोल में केवल भूमि की बनावट, नदी, पहाड़, चट्टानों आदि का ही अध्ययन नहीं किया जाता है बल्कि इसमें जनसंख्या का आकार, वितरण, प्रयास, जन्म-दर, मृत्यु-दर आदि सभी महत्त्वपूर्ण जनांकिकी तत्वों का अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार जनांकिकी के संख्यात्मक अध्ययन के अंतर्गत भौगोलिक दशाएँ तथा तथ्यों का अध्ययन किया जाता है। आज सभी विद्वान भौगोलिक अनुसंधान एवं जनांकिकी खोजों में अटूट संबंधों को स्वीकार करते हैं।

29.8 जनांकिकी तथा अर्थशास्त्र (Demography and Economics)

अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जिसके अंतर्गत मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करने में जनांकिकी घटनाओं के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है इसीलिए जनांकिकी अर्थशास्त्र के अत्यन्त निकट है। विभिन्न आर्थिक घटक (Economic Variables) जनांकिकी घटकों (Demographic Variables) को प्रभावित करते हैं तथा जनांकिकी घटक किसी देश के निवासियों की आर्थिक क्रियाओं को प्रभावित करते हैं।

अर्थशास्त्र की अनेक समस्याओं; जैसे–रोजगार का स्तर, प्रतिव्यक्ति आय, बचतें, औद्योगिक स्तर, आवास, यातायात के मूल जनसंख्या है। देश के विकास के स्तर के अनुरूप ये समस्याएँ उस देश की अर्थव्यवस्था को प्रभावित करती हैं। किसी देश की जनसंख्या वहाँ के उपभोग के स्तर, विकास की दर, प्रवास आदि को प्रभावित करती है। इसी प्रकार जनसंख्या, प्रवास आदि तत्व आर्थिक घटकों को भी प्रभावित करते हैं।

जनसंख्या तथा अर्थशास्त्र का दोहरा संबंध है। प्रथमतः जनसंख्या अर्थव्यवस्था को श्रम शक्ति प्रदान करती है जो उत्पादन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। द्वितीयतः, जनसंख्या सभी आर्थिक क्रियाओं का आदि तथा अन्त दोनों ही है। वास्तव में सभी आर्थिक क्रियाओं का उद्देश्य कल्याण में वृद्धि करना है। यदि जनसंख्या में वृद्धि होती है तब उससे देश की आवश्यकताएँ बढ़ जाती हैं जिससे आर्थिक क्रियाओं का स्तरोन्नयन हो जाता है। किन्तु यदि जनसंख्या में गिरावट होती है तो आर्थिक क्रियाएँ अपने पूर्व-स्तर पर कायम नहीं रह सकती हैं। **हेन्सन** (Hansen) के शब्दों में, "विकसित देशों में घटती हुई विनियोग की सम्भावनाओं का प्रमुख कारण जनसंख्या की वृद्धि का रुक जाना तथा बसने के लिए नये क्षेत्रों का पता लगाने की सम्भावनाओं का अंत है।"

इस प्रकार स्पष्टतः जनांकिकी तथा अर्थशास्त्र एक-दूसरे से अभिन्न रूप से संबंधित है क्योंकि जनांकिकी तथा आर्थिक घटक एक-दूसरे को प्रभावित तथा परिवर्तित करते रहते हैं।

29.9 जनांकिकी एवं मानव पर्यावरण-विज्ञान (Demography and Human Ecology)

मानव पर्यावरण विज्ञान जनसंख्याशास्त्री को अनेक अन्वेषणात्मक सिद्धांत तथा अवधारणाएँ प्रदान करता है। **एडम्स** (Adams) ने मानव पर्यावरण विज्ञान को परिभाषित करते हुए लिखा है कि, "मानव-पर्यावरण विज्ञान वह सामान्य विषय है जो अत्यन्त व्यापक दृष्टिकोण से तथा समस्त शाखाओं में विभक्त कर सामान्य रूप से प्रकृति तथा विशिष्ट रूप से मानव-प्रकृति के संबंधों तथा अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन करता है।" मानव-पर्यावरण विज्ञानी अनेक जनांकिकी समस्याओं का अध्ययन करता है तथा वह जनांकिकी प्रविधि का स्वतंत्रता के साथ प्रयोग करता है।

नोट

मानव-पर्यावरणात्मक संरचना जनांकिकी पहलुओं द्वारा निर्धारित ही नहीं होती है बल्कि उनका निर्धारण भी करती है।

मानव-पर्यावरण से संबंधित समस्या के चार प्रमुख तत्व हैं–जनसंख्या, पर्यावरण, प्रविधि तथा संगठन। मानव जनसंख्या अन्य प्राणियों की जनसंख्या से भिन्न है। मानव जनसंख्या पर्यावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करने के अतिरिक्त उसको प्रभावित भी करती है तथा पर्यावरण को परिवर्तित भी करने का प्रयास करती है। वर्तमान समय में मानव पर्यावरण विज्ञानी के लिए आज केवल जनसंख्या का अध्ययन ही पर्याप्त नहीं है बल्कि उसके लिए यह आवश्यक है कि वह जनसंख्या के सामाजिक सांस्कृतिक पक्ष का भी अध्ययन करे।

प्रजननता का अध्ययन तथा जनसंख्या घनत्व का प्रजननता पर प्रभाव जनांकिकी तथा मानव-पर्यावरण विज्ञान दोनों की ही विषय-वस्तु है। इसीलिए मानव-पर्यावरण विज्ञान को 'जैविक-जनांकिकी' भी कहा जाता है। इसी प्रकार, मानव पर्यावरण के अंतर्गत मृत्यु-दर, जीवन-तालिका आदि का अध्ययन किया जाता है, किन्तु जनांकिकी का भी अध्ययन विषय-वस्तु है।

वर्तमान युग के अधिकांश पर्यावरण विज्ञानी माल्थसवादी तथा नव-माल्थसवादी हैं। जनसंख्या वृद्धि एक जैविक प्रक्रिया है किन्तु इसका अध्ययन दोनों के ही अंतर्गत किया जाता है। माल्थस का जनसंख्या सिद्धांत एवं नव-माल्थवादी विचारधाराएँ वास्तव में पर्यावरण संबंधी सिद्धांत हैं इसीलिए इनको जनसंख्या के जैविक सिद्धांतों (Biological Theories of Population) के नाम से भी जाना जाता है। इन सिद्धांतों के अंतर्गत जनसंख्या तथा खाद्यान्न पूर्ति में सह-संबंध स्थापित किया जाता है। खाद्यान्न पूर्ति पर्यावरण पर निर्भर करती है। आज अनेक पर्यावरण विज्ञानी यह आशंका व्यक्त करते हैं कि खाद्यान्न पुनः जनसंख्या वृद्धि की सीमाएँ निर्धारित कर सकता है।

मानव पर्यावरण विज्ञान से यह अपेक्षा तो नहीं की जाती कि वह जनसंख्या के सिद्धांतों का प्रतिपादन करे, किन्तु दोनों के संयोजन से अनेक समस्याओं का निदान प्राप्त किया जा सकता है।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. जनांकिकी का प्रारंभ ..... में हुआ था।

   (क) 1562 (ख) 1662 (ग) 1762 (घ) 1862

5. डोनाल्ड जे. बोग की सुप्रसिद्ध पुस्तक "The Principles of Demography" का प्रकाशन ..... में हुआ था।

   (क) 1969 (ख) 1669 (ग) 1769 (घ) 1869

6. ..... वह विज्ञान है जिसके अंतर्गत मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।

   (क) भूगोल (ख) गणित (ग) नागरिक शास्त्र (घ) अर्थशास्त्र

29.10 जनांकिकी तथा मानव-विज्ञान (Demography and Anthropology)

मानव विज्ञान के अंतर्गत मानव जाति के विकास, विभिन्न जातियों की विशेषताओं, शारीरिक संरचना, मानव के जीव विकासीय तत्वों का अध्ययन किया जाता है। वर्तमान समय में शरीर मानव विज्ञान (Physical Anthropology) जन्म-दर, मृत्यु-दर, विवाह, प्रवास आदि का अध्ययन करता है। ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सल शब्दकोश (Oxford Universal Dictionary) के अनुसार जनांकिकी मानव-विज्ञान की वह शाखा है जिसमें जन्म, मृत्यु, बीमारियों आदि के समंकों का अध्ययन किया जाता है। जनांकिकी के अंतर्गत जनसंख्या के जैविक पक्ष का अध्ययन किया

नोट

जाता है तथा प्रजननता, मृत्यु, प्रवास, आयु संरचना एवं जनसंख्या वितरण का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जाता है। जनांकिकी तथा मानव विज्ञान दोनों के ही अंतर्गत जनसंख्या के वितरण तथा प्रवास का अध्ययन किया जाता है।

दोनों शास्त्रों की अध्ययन सामग्री में बहुत अधिक समानता है; जैसे–ऐसे युगलों से उत्पन्न संतानें जिनके एक ही पूर्वज हैं। भाई-बहनों तथा निकट संबंधियों के विवाह के परिणामस्वरूप उत्पन्न संतानों में अनेक भौतिक दोष होते हैं। इस प्रकार के अध्ययनों में मानव-विज्ञान तथा जनांकिकी दोनों की ही रुचि है। इसी प्रकार अन्तरजातीय तथा अन्तर-धर्म तथा विभिन्न जातीय विवाहों का अध्ययन भी दोनों ही शास्त्रों में किया जाता है। अन्य अनेक जनसंख्या तत्वों जैसे वंशानुक्रमण के गुण तथा आनुवंशिकता के गुणों की तुलनाओं का अध्ययन भी दोनों के अंतर्गत किया जाता है।

वर्तमान समय में जनांकिकी तथा मानव-विज्ञान दोनों ने एक-दूसरे की विषय-सामग्री में रुचि ली है जैसे किसी जाति विशेष की जनांकिकी समस्याएँ, जनसंख्या विकास से संबंधित सिद्धांत। मानव विज्ञान भी प्रजननता, मृत्यु-दर, प्रवास, विवाह आदि का अध्ययन करता है। इस प्रकार दोनों ही शास्त्र एक-दूसरे के अत्यन्त निकट हो गये हैं।

29.11 जनांकिकी का महत्त्व (Importance of Demography)

जनांकिकी का प्रारंभ लगभग सवा तीन सौ वर्ष पूर्व हुआ था। वर्तमान युग में जनांकिकी विकास इस शताब्दी के तीसरे दशक में विश्वव्यापी मंदी के पश्चात् हुआ। इस महान् मंदी के पूर्व प्रतिष्ठित सम्प्रदाय की विचारधाराएँ प्रचलित थीं, जिनके अनुसार अर्थव्यवस्था की सामान्य दशा पूर्ण रोजगार की होती है। उनका यह स्पष्ट मत था कि सामान्य अति-उत्पादन तो सम्भव ही नहीं है। कुछ विशेष परिस्थितियों में यह अवश्य सम्भव है कि किसी क्षेत्र विशेष में अति-उत्पादन हो जाये तथा अन्य किसी क्षेत्र में न्यून उत्पादन। इस प्रकार के असंतुलन को अगली उत्पादन समयावधि में दूर कर दिया जायेगा। थॉमस रॉबर्ट माल्थस (Thomas Robert Malthus) ने अवश्य सामान्य अति-उत्पादन की सम्भावनाएँ व्यक्त की थीं, किन्तु एक लंबे समय तक उसके विचार उपेक्षित रहे।

विश्वव्यापी मंदी के कारण की खोज **लार्ड जे.एम. कीन्स** (J.M. Keynes) ने की थी। कीन्स वे अनुसार मंदी का कारण उपभोग प्रवृत्ति में कमी है। इस समय से जनांकिकी ने जनसंख्या के संरचनात्मक परिवर्तनों का अध्ययन किया जाने लगा।

टास्क जनांकिकी का प्रारंभ कब हुआ था?

द्वितीय विश्वयुद्ध की भीषण बर्बादी के पश्चात् प्रमुख समस्या नियोजित विकास की थी। विश्व के सभी देशों को दो भागों में विभाजित किया गया। **प्रथम,** ऐसे देश जो कि विकसित थे किन्तु युद्ध के कारण क्षतिग्रस्त हो चुके थे। इस प्रकार के देशों में विकास बहुत कठिन नहीं था क्योंकि वहाँ के लोग शिक्षित थे, प्रविधि तथा प्रावैधिक ज्ञान उपलब्ध था अत: थोड़े ही समय में इन अर्थव्यवस्थाओं का पर्याप्त विकास हो गया। विश्वव्यापी मंदी से शिक्षा ग्रहण करते हुए इन्होंने जनांकिकी घटकों; जैसे श्रम शक्ति, जीवन प्रत्याशा, स्वास्थ्य, वितरण आदि का गहन अध्ययन किया। इन देशों में जनसंख्या के प्रति दृष्टिकोण बदल चुका था। अब जनसंख्या साधन न होकर साध्य थी। **द्वितीय,** ऐसे देश थे जहाँ विकास का प्रारंभ हीं नहीं हुआ था अथवा यदि थोड़ा-बहुत विकास हुआ भी था तो वह व्यवस्थित नहीं था। विकास की वास्तविक समस्या ऐसे ही देशों की थी। इन देशों में विकास योजनाओं के परिणामस्वरूप जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि प्रारंभ हो गयी। विकास योजनाओं के कारण स्वास्थ्य सेवाओं में वृद्धि हुई, जिससे लोगों के स्वास्थ्य में सुधार हुआ। इस प्रकार जनसंख्या के गुणात्मक पक्ष में सुधार हुआ। मृत्यु-दर में गिरावट आयी

नोट

किन्तु जन्म-दर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, परिणामस्वरूप जनसंख्या की शुद्ध वृद्धि दर में वृद्धि हुई। देशों में आर्थिक विकास तो हुआ किन्तु उसके प्रभावों को तीव्रगति से बढ़ती हुई जनसंख्या ने सम्भाल लिया। इसके अतिरिक्त, विकसित देशों के सम्पर्क में आने के कारण प्रदर्शन प्रभाव से जनसंख्या की वृद्धि के कारण उपभोक्ता वस्तुओं की माँग में अप्रत्याशित वृद्धि हुई जिससे बचत करने की शक्ति का ह्रास हुआ। परिणामस्वरूप पूँजी निर्माण की दर कम हो गयी जिससे विनियोजन प्रभावित हुए।

29.12 सारांश (Summary)

वर्तमान समय में जनांकिकी देश की व्यावहारिक नीतियों के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान करती है। आज विश्व के विकसित देश जनसंख्या के गुणात्मक पक्ष (Qualitative Aspect) के अध्ययन को महत्त्व प्रदान कर रहे हैं जबकि, विकासशील देश इसके संख्यात्मक पक्ष (Quantitative Aspect) को महत्त्व प्रदान कर रहे हैं।

29.13 शब्दकोश (Keywords)

1. जनांकिकी (Demograply)–जनसांख्यिकी।
2. संरचना (Composition)–रचना, बनावट

29.14 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. जनांकिकी का अर्थ एवं महत्त्व बताइए।
2. जनांकिकीय विश्लेषण की विधियों का उल्लेख कीजिए।
3. 'जनांकिकी तथा समाजशास्त्र' पर टिप्पणी लिखिए।
4. जनांकिकी तथा मानव-विज्ञान को परिभाषित कीजिए।

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. जनांकिकी	2. जनसंख्या की संरचना	3. लिवासियर
4. (ख) 1662	5. (क) 1969	6. (घ) अर्थशास्त्र

29.15 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
2. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
4. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
5. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
6. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
7. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*

नोट

इकाई 30: पर्यावरण-विज्ञान (Ecology)

अनुक्रमणिका (Contents)

उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तावना (Introduction)

30.1 पर्यावरण (Environment)

30.2 विज्ञान और तकनीकी (Science and Technology)

30.3 जनांकिकी एवं मानव पर्यावरण-विज्ञान (Demography and Human Ecology)

30.4 सारांश (Summary)

30.5 शब्दकोश (Keywords)

30.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

30.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे:

- इतिहास के निर्माण में भौगोलिक स्थिति एवं पर्यावरण के योगदान को जानने में।
- विज्ञान और तकनीकी को अलग-अलग अर्थों में प्रयोग करने में।
- गुप्त शासकों के काल में कला और साहित्य के विज्ञान के क्षेत्र में हुई प्रगति को जानने में।

प्रस्तावना (Introduction)

पर्यावरण, विज्ञान और प्रौद्योगिकी भी इतिहास की प्रमुख विषय-वस्तु के रूप में जाने जाते हैं। इतिहास के निर्माण में इन तीनों की विशिष्ट भूमिका के सम्बन्ध में विद्वानों ने वर्णन किया है। इस अध्ययन में तीनों के सन्दर्भ में विस्तृत वर्णन किया जायेगा।

30.1 पर्यावरण (Environment)

इतिहास के निर्माण में भौगोलिक स्थिति और पर्यावरण का महत्त्वपूर्ण योगदान पाया जाता है। भारत में ऊँचे पर्वत, सुन्दर घाटियाँ, मरुस्थल, पठार, बड़े उपजाऊ मैदान, जंगल और विशाल समुद्री किनारे हैं। यहाँ पर जलवायु में अत्यधिक विभिन्नता पायी जाती है। भारत की भौगोलिक स्थिति और इतिहास के निर्माण में हिमालय का भी सदैव से उल्लेखनीय योगदान रहा है। मानव और पर्यावरण एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। व्यक्ति के रहन-सहन, खान-पान और चरित्र निर्माण में भी जलवायु एवं पर्यावरण अत्यधिक सहायक होते हैं। अत: इसमें सन्देह

नोट

का कोई आधार नही कि पर्यावरण मानव के क्रियाकलापों को प्रभावित करता है। उसका बौद्धिक विकास, शारीरिक गठन, श्रम क्षमता भी पर्यावरण और भौगोलिक परिस्थितियों पर ही निर्भर करती है। पर्यावरण के प्रभाव के कारण मंगोलों की विशाल सेनाओं को दिल्ली के सुल्तानों के सम्मुख घुटने टेकने पड़े और राजपूत और मराठे अपने सीमित सैनिक साधनों के बाद भी मध्यकाल में बड़े शासकों को पराजित कर सके।

नोट्स इतिहास के निर्माण में भौगोलिक स्थिति और पर्यावरण का महत्त्वपूर्ण योगदान पाया जाता है।

हिमालय पर्वत ने भारतीय इतिहास को अत्यधिक प्रभावित किया है। उसने उत्तर की ओर से भारत को अखण्ड सुरक्षा प्रदान की है। उत्तर भारत की सभी बड़ी नदियों का उद्‌गम भी इसी पर्वत से है जिसके कारण पंजाब, सिन्धु, गंगा-यमुना दोआब और बंगाल तक का क्षेत्र उर्वर बना और देश समृद्ध हुआ। इस समृद्धि के कारण ही विदेशी आक्रान्ता भारत की ओर आकर्षित हुए थे। पर्वत श्रेणियों के दर्रे उनके आगमन का मार्ग बने तथा इन्हीं के माध्यम से भारतीय संस्कृति का विदेशों में प्रचार सम्भव हो सका। वास्तव में उर्वर भूमि के कारण ही भारत एक कृषि प्रधान देश बना जिसमें पर्यावरण का भी विशेष योगदान है।

राजस्थान के मरुस्थल ने विदेशी आक्रमण को निरन्तर निरुत्साहित किया है। यहाँ की शुष्क जलवायु और कष्टप्रद वातावरण ने भी समय-समय पर विदेशियों को देश में प्रवेश न करने के लिए विवश किया है। दक्षिण भारत में मराठों के उदय और गोरिल्ला युद्ध प्रणाली भी जलवायु और पर्यावरण का ही परिणाम है जिससे भारत के इतिहास को एक नवीन दिशा प्राप्त हुई।

भारत की परिस्थिति प्राचीन समय से लेकर आधुनिक काल तक पर्यावरण के कारण बदलती रही है जिसके कारण हमारा इतिहास उससे व्यापक रूप से प्रभावित रहा है। पर्यावरण की भिन्नता के कारण उत्तर और दक्षिण भारत का संयोजन कभी सम्भव नही हो सका और न ही लम्बे समय तक भारत में राजनीतिक एकता की बनी रही। भिन्न-भिन्न भागों में निवास करने वाले मानव का रहन-सहन और परम्पराएँ व रीति-रिवाज समान न होने के कारण उनमें सामाजिक एकता की स्थापना एक दु:स्वप्न मात्र बन गयी। यह अनेकता मध्यकाल के बाद और आधुनिक भारत के प्रारम्भिक वर्षों तक बनी रही। कालान्तर में अंग्रेजी शासन की स्थापना और राष्ट्रीय भावना की वृद्धि से यहाँ पर एकता की स्थापना सम्भव हो सकी।

अत: स्पष्ट है कि अन्य देशों की भाँति भारत भी अपने भूगोल और पर्यावरण से प्रभावित रहा। भारत के धर्म और अध्यात्मवाद पर भी इसका प्रभाव है। वास्तव में भारत की भौगोलिक परिस्थितियों और पर्यावरण के प्रभाव ने यहाँ के लोगों को श्रमशील बना दिया और विदेशी आक्रमणों का सामना करते हुए भी अपनी संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने में सफल रही।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें (Fill in the blanks):

1. ..... ने भारतीय इतिहास को अत्यधिक प्रभावित किया है।
2. ..... ने विदेशी आक्रमण को निरंतर निरुत्साहित किया है।
3. ..... एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबंधित हैं।

30.2 विज्ञान और तकनीक (Science and Technology)

नोट

सामान्यत: विज्ञान और तकनीकी को अलग-अलग अर्थों में प्रयोग किया जाता है। विज्ञान से तात्पर्य ज्ञान के उस क्रमबद्ध और योजनाबद्ध अध्ययन से है जिसे तर्क, प्रस्तुतीकरण और प्रयोगों द्वारा सिद्ध करते हैं और तकनीकी अर्थ विज्ञान के ज्ञान का उचित प्रस्तुतीकरण है जिससे उत्पादन, वाणिज्य और औद्योगिक क्षेत्र में और जो मानव के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण हो।

भारत में अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होने वाले वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप मशीनी युग का प्रारम्भ हुआ, परन्तु इसका यह तात्पर्य कदाचित् नहीं है कि हमारे देश में इससे पूर्व विज्ञान और तकनीकी से लोगों को कोई लगाव नहीं था। वास्तव में इस काल में जो थोड़ा बहुत आविष्कार हुए भी, उनका कोई लाभ हमारे देशवासियों द्वारा नहीं उठाया जा सका। अत: विज्ञान व तकनीकी से लोग अनभिज्ञ बने रहे।

क्या आप जानते हैं औद्योगिक क्रान्ति की शुरुआत कहाँ से हुई थी?

प्राचीन काल के प्रारम्भ से ही हम विशाल भवनों के निर्माण और मूर्तिकला के श्रेष्ठ नमूनों के आधार पर हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि उस समय निर्माण की तकनीकी निश्चित रूप से विकसित थी जो तत्कालीन मूर्तियों में प्राप्त विविधता से और स्पष्ट हो जाती है। सम्राट अशोक के काल में यान्त्रिकी के विकसित रूप का भी वर्णन उपलब्ध होता है। अशोक के स्तम्भ, स्तूप और गुफाएँ मौर्यकाल की अभियान्त्रिक उपलब्धि का प्रबल साक्ष्य हैं। प्रत्येक स्तम्भ की लम्बाई 50-60 फुट और वजन अनुमानत: 50 टन है जिन्हें बड़ी-बड़ी चट्टानों से काटकर बनाया जाता था। इन भारी-भरकम स्तम्भों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना भी कुशल इंजीनियरों के अभाव में कदाचित् सम्भव नही था। साथ ही चट्टानों को काट कर बनाये गये गुहा-गृह एवं गुफाओं के निर्माण से भी तत्कालीन विज्ञान और तकनीकी के विकासशील रूप का स्पष्ट दिग्दर्शन होता है। इन मौर्यकालीन गुफाएँ और अन्य कलाकृतियों पर पॉलिश भी की जाती थी। यही कारण है कि नागार्जुन और बाराबर की गुफाओं की दीवारें पॉलिश के कारण शीशे के समान चमकती हैं। **डॉ. स्मिथ** ने इस **पॉलिश कला** की अत्यन्त प्रशंसा की है और इसे आधुनिक विज्ञान और तकीनकी की शक्ति से परे पाया है।

गुप्त शासकों के काल में भी कला और साहित्य के विज्ञान के क्षेत्र में भी प्रगति हुई। इस समय का सबसे महान् वैज्ञानिक आर्यभट्ट था जिसने अनेक वैज्ञानिक सिद्धान्तों आविष्कार किया था; जैसे पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है तथा चन्द्रमा की छाया पृथ्वी पर पड़ने से ग्रहण होता है। वर्तमान में जीवन का आधार दशमलव प्रणाली भी आर्यभट्ट का आविष्कार है जो वर्तमान में विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्त स्वीकार किये जाते हैं। आर्यभट्ट के अतिरिक्त चरक, ब्रहागुप्त और धन्वन्तरि भी गुप्तकाल के प्रसिद्ध आयुर्विज्ञानशास्त्री थे।

सर्वप्रथम वैज्ञानिक क्षेत्र में होने वाली प्रगति का प्रभाव भारतीय कृषि पर पड़ा और इस कार्य में विभिन्न मशीनों का प्रयोग किया जाने लगा। अब तक जो कार्य श्रमिकों के द्वारा हाथ से किया जाता था उसे शक्ति-चालित उपकरणों से किये जाने से उत्पादन में वृद्धि हुई और समय की भी बचत हुई। कालान्तर में मशीनों के संचालन हेतु विद्युत का प्रयोग किये जाने से उद्योगों का तीव्र गति से विकास हुआ। कृषि के विकास के कारण परिवहन व्यवस्था में भी सुधार आया और भारत में आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कुछ कारखाने स्थापित हुए।

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

बहु-विकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions):

4. भारत में ..... शताब्दी के उत्तरार्द्ध में होने वाले वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप मशीनी युग का प्रारंभ हुआ।

   (क) अठारहवीं (ख) सोलहवीं (ग) पंद्रहवीं (घ) उन्नीसवीं

नोट

5. ..... के निर्माण में पर्यावरण, विज्ञान और प्रौद्योगिकी की विशिष्ट भूमिका है।

(क) पृथ्वी (ख) इतिहास (ग) मनुष्य (घ) पशु-पक्षी

6. ..... ने भारत की परिवर्तनशीलता और नम जलवायु का अत्यंत सजीव वर्णन अपनी आत्मकथा में किया है।

(क) अकबर (ख) जहाँगीर

(ग) मुगल सम्राट बाबर (घ) औरंगजेब

30.3 जनांकिकी एवं मानव–पर्यावरण विज्ञान (Demogaphy and Human Ecology)

मानव पर्यावरण विज्ञान जनसंख्याशास्त्री को अनेक अन्वेषणात्मक सिद्धान्त तथा अवधारणाएँ प्रदान करता है। **एडम्स** (Adams) ने मानव पर्यावरण विज्ञान को परिभाषित करते हुए लिखा है कि, "मानव-पर्यावरण विज्ञान वह सामान्य विषय है जो अत्यन्त व्यापक दृष्टिकोण से तथा समस्त शाखाओं में विभक्त कर सामान्य रूप से प्रकृति तथा विशिष्ट रूप से मानव–प्रकृति के सम्बन्धों तथा अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन करता है।" मानव-पर्यावरण विज्ञान अनेक जनांकिकी समस्याओं का अध्ययन करता है तथा वह जनांकिकी प्रविधि का स्वतन्त्रता के साथ प्रयोग करता है। मानव-पर्यावरणात्मक संरचना जनांकिकी पहलुओं द्वारा निर्धारित ही नहीं होती बल्कि उनका निर्धारण भी करती है।

टास्क सर्वप्रथम वैज्ञानिक क्षेत्र में होने वाली प्रगति का प्रभाव किस पर पड़ा?

मानव-पर्यावरण से सम्बन्धित समस्या के चार प्रमुख तत्व हैं–जनसंख्या, पर्यावरण, प्रविधि तथा संगठन। मानव जनसंख्या अन्य प्राणियों का जनसंख्या से भिन्न है। मानव जनसंख्या पर्यावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करने के अतिरिक्त उसको प्रभावित भी करती है तथा पर्यावरण को परिवर्तित भी करने का प्रयास करती है। वर्तमान समय में मानव पर्यावरण विज्ञान के लिए आज केवल जनसंख्या का अध्ययन ही पर्याप्त नहीं है बल्कि उसके लिए यह आवश्यक है कि वह जनसंख्या के सामाजिक सांस्कृतिक पक्ष का भी अध्ययन करे।

प्रजननता का अध्यसन तथा जनसंख्या घनत्व का प्रजननता पर प्रभाव जनांकिकी तथा मानव–पर्यावरण विज्ञान दोनों की ही विषय-वस्तु है। इसीलिये मानव-पर्यावरण विज्ञान को 'जैविक-जनांकिकी' भी कहा जाता है। इसी प्रकार मानव पर्यावरण के अन्तर्गत मृत्यु-दर, जीवन-तालिका आदि का अध्ययन किया जाता है, किन्तु जनांकिकी का भी अध्ययन विषय-वस्तु है।

30.4 सारांश (Summary)

वर्तमान युग के अधिकांश पर्यावरण विज्ञानी माल्थसवादी तथा नव-माल्थसवादी हैं। जनसंख्या वृद्धि एक जैविक प्रक्रिया है किन्तु इसका अध्ययन दोनों के ही अन्तर्गत किया जाता है। माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त एवं नव-माल्थसवादी विचारधाराएँ वास्तव में पर्यावरण सम्बन्धी सिद्धान्त हैं इसीलिये इनको जनसंख्या के जैविक सिद्धान्तों (Biological Theories of Population) के नाम से भी जाना जाता है। इन सिद्धान्तों के अन्तर्गत जनसंख्या तथा खाद्यान्न पूर्ति में सह-सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। खाद्यान्न पूर्ति पर्यावरण पर निर्भर करती है। आज अनेक पर्यावरण विज्ञानी यह आशंका व्यक्त करते हैं कि खाद्यान्न पुनः जनसंख्या वृद्धि की सीमाएँ निर्धारित कर सकता है।

मानव पर्यावरण विज्ञान से यह अपेक्षा तो नहीं की जाती कि वह जनसंख्या के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करे, किन्तु दोनों के संयोजन से अनेक समस्याओं का निदान प्राप्त किया जा सकता है।

नोट

30.5 शब्दकोश (Keywords)

1. जैविक (Biological)–जीव-विज्ञान से संबंधित सिद्धांत।
2. सिद्धांत (Thoery)–अध्ययन विषय के आधारभूत सिद्धांत।

30.6 अभ्यास प्रश्न (Review Questions)

1. इतिहास के निर्माण में भौगोलिक स्थिति एवं पर्यावरण के योगदान का वर्णन कीजिए।
2. 'विज्ञान और तकनीक' पर टिप्पणी लिखिए।
3. आर्यभट्ट ने किसका आविष्कार किया है?
4. माल्थस का जनसंख्या सिद्धांत किससे संबंध रखता है?

उत्तर : स्व-मूल्यांकन (Answer: Self Assessment)

1. हिमालय पर्वत
2. राजस्थान के मरुस्थल
3. मानव और पर्यावरण
4. (क) अठारहवीं
5. (ख) इतिहास
6. (ग) मुगल सम्राट बाबर

30.7 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

बुक्स

1. आधुनिक विश्व का इतिहास –*डॉ. धनपति पाण्डेय – एम.एल.बी.डी. डाट कॉम।*
2. विश्व का इतिहास – *मानिक लाल गुप्त – अटलांटिक पब्लिकेशन।*
3. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. राजेश कुमार – अल्फा पब्लिकेशन।*
4. आधुनिक विश्व का इतिहास – *एम.एस. त्यागी, रजनी त्यागी – राधा पब्लिकेशन।*
5. आधुनिक विश्व का इतिहास – *डॉ. दीनानाथ वर्मा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
6. आधुनिक विश्व – *डॉ. बिपिन बिहारी सिन्हा – ज्ञानन्दा प्रकाशन।*
7. समकालीन विश्व इतिहास – *अर्जुन देव इन्दिरा – ओरियन्ट ब्लैक स्वान।*

LOVELY PROFESSIONAL UNIVERSITY
Jalandhar-Delhi G.T. Road (NH-1)
Phagwara, Punjab (India)-144411
For Enquiry: +91-1824-300360
Fax.: +91-1824-506111
Email: odl@lpu.co.in